साहित्यिक निबन्ध

(हिन्दी साहित्य-विषयक ७० मौलिक निबन्धों का संग्रह)

संशोधित द्वादश संस्करण

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त
एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्
भूतपूर्व निदेशक : : क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, रोहतक विश्वविद्यालय, रोहतक
तथा
भूतपूर्व उपकुलपति, हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला
एवं
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

SAHITYIK NIBANDH

Collection of 70 Essays on Hindi Literature

By

. Ganapati Chandra Gupta M. A., Ph.D., D.Litt

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

●

संशोधित एवं परिवर्द्धित
द्वादश संस्करण : १९९३

●

इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : ९०.००

दो शब्द

•

•

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त बड़े अध्यवसायी और प्रखर आलोचक हैं। उनके परिश्रमपूर्वक लिखे हुए निबन्ध इस पुस्तक (साहित्यिक निबन्ध) में संकलित हैं। इन निबन्धों में साहित्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन किया गया है। उन प्रश्नों के प्रति भी पाठक की दृष्टि आकृष्ट की गई है, जो सही उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सर्वत्र उनका गूढ़ अध्ययन और निगूढ़ अभिनिवेश मुखर है। वे गतानुगतिका से ग्रस्त नहीं हैं। जो बात उन्हें ठीक नहीं जँची, उसके प्रति शंका करने में वे हिचके नहीं हैं, भले ही वह बड़े-से-बड़े आचार्यों द्वारा कही गई हो। हिन्दी साहित्य की अनेक जटिल गुत्थियाँ हैं, जिनको अभी भी सुलझाना बाकी है। नई सामग्रियाँ और नये समाधान प्रतिदिन प्रकाश में आते जा रहे हैं। इन सबका धैर्यपूर्वक परीक्षण आवश्यक है। यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि हर उत्तर से हर आदमी सहमत होगा, पर शोधक से ईमानदारी की आशा अवश्य की जानी चाहिए। गणपतिचन्द्रजी में वह पूरी मात्रा में हैं। इन निबन्धों की यह बड़ी भारी विशेषता है। वे समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। विद्वानों ने जो सुझाव दिये हैं, उनका धीरता के साथ परीक्षण करते हैं और अपने पाठक के सामने सब कुछ रख देते हैं। मुझे इन निबन्धों को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरा विश्वास है कि दूसरे पाठक इनसे इसी प्रकार प्रसन्नता प्राप्त करेंगे।

डॉ० गणपतिचन्द्र ने बड़े परिश्रम से इन निबन्धों को लिखा है। वे अभी नवयुवक ही हैं। उनसे मुझे बहुत आशा है। परमात्मा उन्हें दीर्घायुष्य और सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि वे साहित्यिक आलोचना की महत्वपूर्ण सेवा निरन्तर करते रहें।

चंडीगढ़
६-१२-१९६०

– हजारीप्रसाद द्विवेदी

भूमिका

•

•

अब तक मैं कई रूपों में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त की विद्वत्ता और योग्यता का निरीक्षण-परीक्षण कर चुका हूँ और प्रत्येक बार मुझ पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का अच्छा प्रभाव पड़ा है। वे हिन्दी के सफल अनुसंधाता, कुशल अध्यापक और कृती लेखक हैं। अब तक उनकी कई-एक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनमें सर्वप्रमुख है उनका शोध-प्रबन्ध – 'हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी'। प्रस्तुत ग्रन्थ उनके मौलिक साहित्यिक निबन्धों का संकलन है।

ये निबन्ध प्रायः आलोचना के इन तीनों रूपों के अन्तर्गत वर्गीकृत किये जा सकते हैं: सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक और व्यावहारिक। 'साहित्य और उसके तत्त्व', 'रस-सिद्धान्त और उसका महत्त्व' आदि निबन्ध सैद्धान्तिक आलोचना की कोटि में रखे जा सकते हैं। इन निबन्धों में विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों का सारांश तथा उनका विधिवत् विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखक ने कुछ निष्कर्षों की उपलब्धि का प्रयास किया है। उन निष्कर्षों से सर्वत्र सहमति की सम्भावना न रहते हुए भी यह सहज ही कहा जा सकता है कि लेखक की साहित्य-चेतना पर्याप्त व्यापक है और वह उसके मौलिक प्रश्नों को उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में रखकर समझ और समझा सकता है। 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास' 'हिन्दी निबन्ध: स्वरूप और विकास' आदि निबन्ध ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत आ सकते हैं। इनमें विभिन्न साहित्य विधाओं के क्रमिक विकास और उनके मूलभूत तत्त्वों का विशद निरूपण किया गया है। साहित्य-सर्जना के नव्यतम उत्थानों की अवगति लेखक की अध्ययनशीलता और अध्यवसाय का परिचय देती है। तीसरे वर्ग (व्यावहारिक आलोचना) में लेखक द्वारा प्रस्तुत कतिपय कृतियों और कृतिकारों की समीक्षा रखी जा सकती है। इस वर्ग में 'प्रसाद की काव्य-साधना', 'भारतेन्दु की नाट्य-कला' जैसे निबन्ध आयेंगे। ये निबन्ध प्रमुखतः व्याख्यात्मक हैं, परन्तु मूल्यांकन की प्रवृत्ति भी इनमें यत्र-तत्र मिलती है।

निबन्धों की रचना करते समय लेखक के समक्ष हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं का छात्र-वर्ग रहा है, अतः उसे सार-संग्रह की पद्धति का अवलम्बन करना पड़ा।

किन्तु दृष्टिकोण समन्वयात्मक होते हुए भी उसमें स्वतन्त्र चेतना का अभाव नहीं है। वह मताभिमान से मुक्त है और दोष की अपेक्षा गुण का अनुसंधान करना ही उसकी प्रवृत्ति है। साहित्य के प्रति उसका दृष्टिकोण शंकालु का नहीं, जिज्ञासु का ही है। उसका चिंतन प्रौढ़ और अभिव्यक्ति स्वच्छ है। अपने मंतव्य को और अधिक स्पष्टता प्रदान करने के लिये उसने निबन्धों को विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत कर दिया है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत निबन्ध उच्चतर साहित्य के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे। मैं इस उपयोगी ग्रन्थ के लेखक डॉ० गणपतिचन्द्र और प्रकाशक दोनों का साधुवाद करता हूँ और अपनी शुभकामनाओं के साथ इसे जिज्ञासु पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
६-१२-१६५६

—नगेन्द्र

प्राक्कथन

एक दीर्घ प्रतीक्षा के अनन्तर प्रस्तुत पुस्तक का पाँचवाँ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। विगत कुछ वर्षों में पुस्तक अप्रकाशित एवं अप्राप्य रही—इसके अनेक दुःखद एवं कटु कारण हैं, जिन पर यहाँ प्रकाश डालना संभव नहीं। अन्ततः पुस्तक प्रकाशित हो रही है, यही कम प्रसन्नता की बात नहीं।

विगत वर्षों में मेरी कई नयी कृतियाँ प्रकाश में आई हैं—जिनमें 'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'बिहारी सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा'; 'महादेवी : नया मूल्यांकन' आदि उल्लेखनीय हैं। ये कृतियाँ मेरे आलोचक-जीवन की नूतन दिशा की सूचक हैं, अर्थात् इनके रचना-काल में मैं एक विशेष लक्ष्य की ओर अग्रसर रहा हूँ। वह लक्ष्य था—साहित्य-समीक्षा को सुव्यवस्थित, सुस्पष्ट एवं प्रमाणित रूप देने के लिए उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना। वैसे हिन्दी के अनेक पाठकों को यह बात सुनने में एकाएक अटपटी-सी प्रतीत होगी, क्योंकि सामान्यतः यह समझा जाता है कि साहित्य और विज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, अतः साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का अर्थ होगा—साहित्यिकता की हत्या करना। किन्तु यदि गहराई से विचार करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि किसी भी वस्तु का वैज्ञानिक अध्ययन या विवेचन करने का अर्थ उसकी मूल प्रकृति या उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन या विकार उत्पन्न करना नहीं है, अपितु तत्सम्बन्धी ज्ञान को ही अपेक्षाकृत शुद्ध या प्रामाणिक रूप प्रदान करना है। अब तक हम काव्य-शास्त्र एवं साहित्यानुसंधान के माध्यम से साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करते रहे हैं; उसी विवेचन-विश्लेषण को यदि और अधिक वस्तुपरक दृष्टिकोण से प्रामाणिक एवं विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो वह विज्ञान की श्रेणी में आ जाता है। विज्ञान की श्रेणी में केवल भौतिक विज्ञान ही नहीं, भाषा-विज्ञान एवं मनोविज्ञान भी आते हैं तथा इन्हीं के समकक्ष मैंने 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना करते हुए साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। उपर्युक्त रचनाएँ क्रमशः साहित्य-समीक्षा के ही तीन पक्षों—सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक—को प्रस्तुत करती हैं। अतः कहने के लिए ये रचनाएँ अलग-अलग हैं, किन्तु उन सबके मूल में एक ही व्यापक लक्ष्य रहा है।

यद्यपि हिन्दी-जगत् में पाश्चात्य चिन्तकों की अनुगूंज के रूप में आधुनिकता, आधुनिक बोध एवं नूतनता के नारे तो बहुत लगे हैं, किन्तु यथार्थ में वे खोखले एवं अर्थशून्य हैं। आधुनिकता का सर्वप्रथम भेदक लक्षण है—वैज्ञानिकता। मध्यकालीन बोध एवं आधुनिक बोध में व्यावहारिक दृष्टि से जो अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका मूलाधार आज का उन्नत वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसलिए यदि एक शब्द में आधुनिकता की व्याख्या की जाय, तो वह शब्द वैज्ञानिक होगा। वस्तुतः आज धर्म, समाज, संस्कृति, इतिहास, नीति आदि विभिन्न विषयों के आधारभूत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं मत में जो आमूलचूल परिवर्तन हुआ है, उसका मूल कारण दृष्टि का वैज्ञानिक होना ही है। इसीलिए साहित्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-विवेचन की प्रणाली को वैज्ञानिक रूप दिये जाने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए हरबर्ट डिंगल ने पहले उद्घोषित किया था—

"If literature can only be felt, then let us feel it. Do not let us write about it or give reasons why one poem inspires deeper or better feeling than another. If once criticism is allowed to exist there is no justification for not allowing it to become as thoroughly scientfic as its nature makes it possible."

यहाँ उन्होंने उन आलोचकों को चुनौती दी है, जिनका तर्क है कि साहित्य अनुभूति की वस्तु है, अतः उसकी समीक्षा वैज्ञानिक नहीं हो सकती। यदि साहित्य केवल अनुभूति का ही विषय है, तो फिर हम उसका विवेचन विश्लेपण एवं मूल्यांकन क्यों करते हैं? या तो हम ऐसा करना बन्द करें या फिर इस विवेचन-विश्लेपण को यथासंभव वैज्ञानिक रूप न दिये जाने में क्या तुक है!

उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति के प्रयास में इस बीच कुछ नये सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है, जिनमें आकर्पण-शक्ति सिद्धान्त विशेप रूप से उल्लेखनीय है। काव्य या साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति क्या है – यह प्रश्न भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों के बीच शताब्दियों से विवाद का विषय रहा है। आकर्पण शक्ति सिद्धान्त इन सभी विवादों का एक समन्वित, संतुलित एवं विज्ञान-सम्मत समाधान प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भी हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल, काल-विभाजन, विभिन्न काव्य-परंपराओं के उद्गम-स्रोतों आदि के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण करते हुए अनेक नये मतों की स्थापना की गयी है। मैंने चेष्टा की है कि प्रस्तुत संस्करण के माध्यम से इसके पाठकों को भी इन नये सिद्धान्तों एवं मतों का थोड़ा परिचय प्राप्त हो जाय—इसके लिए अनेक निबन्धों में संशोधन-परिवर्द्धन करने के साथ-साथ पन्द्रह नये निबन्ध भी और बढ़ा दिये गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग नयी स्थापनाओं को स्वीकार कर लें, फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से उन पर विचार किया जायगा—इतनी आशा तो मैं विद्वान् पाठकों से कर ही सकता हूँ।

अन्त में मैं प्रथम संस्करण के भूमिका-लेखक श्रद्धेय आचार्य डॉ० नगेन्द्र के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मेरे आलोचक को शैशव काल में ही अपना पुनीत आशीर्वाद देकर उसके बल, उत्साह एवं आत्म-विश्वास में अभिवृद्धि की। साथ ही पुस्तक के सम्बन्ध में 'दो शब्द' लिखकर श्रद्धेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी मुझे उपकृत किया है। कई बार उनका यह वाक्य—'जो बात उन्हें ठीक नहीं जँची, उसके प्रति शंका करने में वे हिचके नहीं हैं, भले ही वह बड़े-से-बड़े आचार्य द्वारा कही गयी हो'—मेरे मन में परस्पर विरोधी भाव उत्पन्न करता रहा है। कई बार लगा, कहीं उनका यह 'आचार्य' शब्द स्वयं अपने लिए ही प्रयुक्त न हो, क्योंकि अनेक निबन्धों में मैंने उनके मतों पर भी शंका प्रकट करने की धृष्टता की है। आचार्य द्विवेदी के ही विभाग में कार्य करता हुआ, उन्हीं के विचारों और मतों की अवहेलना उन्हीं के समक्ष करूँ—ऐसी स्वतंत्रता आचार्य द्विवेदी जैसे महान् एवं उदार विभागाध्यक्ष के ही राज्य में संभव है। आज जबकि उनसे बहुत दूर हूँ; अतीत के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि यह मेरा परम सौभाग्य था कि उनकी छत्र-छाया में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। कदाचित् यह उन्हीं का प्रभाव है कि मैं अब अनुभव करने लगा हूँ कि आलोचक का कार्य अधिक कटु, कठोर एवं धृष्ट हुए बिना भी चल सकता है। फिर भी आलोचक यदि आलोचना के साथ न्याय करना चाहता है तो उसे थोड़ा-बहुत स्पष्टवादी बनना ही पड़ता है।

अन्त में मैं यह नया संस्करण विद्वानों, समीक्षकों एवं अध्येताओं की सेवा में नूतन उत्साह, नये विश्वास एवं नयी आशाओं के साथ प्रस्तुत करता हूँ और साथ ही 'लोकभारती प्रकाशन' के संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अनेक अड़चनों का सामना करते हुए भी पुस्तक को सुन्दर एवं शुद्ध रूप में प्रकाशित किया है।

शिमला
१-१-१९७१

—गणपतिचन्द्र गुप्त

नवम संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

'साहित्यिक निबन्ध' का नवम संस्करण विद्वान् पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, तब से इसकी लोकप्रियता दिनों दिन निरन्तर बढ़ती रही है—यह तथ्य पुस्तक की उपादेयता का परिचायक माना जा सकता है। प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अनन्तर लेखक की अनेक पुस्तकें—'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन' 'महादेवी : नया मूल्यांकन' आदि—प्रकाशित हुई हैं। इनमें लेखक ने कतिपय नूतन सिद्धान्त एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जिनका संकेत प्रस्तुत पुस्तक के भी कई निबन्धों में उपलब्ध होगा। इस दृष्टि से साहित्य की आत्मा, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल, काल-विभाजन, प्रेमाख्यान-काव्य—परम्परादि विषयों से सम्बन्धित निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत संस्करण में नये निबन्ध जोड़ने के साथ-साथ अन्य निबन्धों की सामग्री को भी अद्यतन रूप देने की चेष्टा की गयी है। आशा है कि इस रूप में यह पाठकों के लिए और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

१५-८-८७

—गणपतिचन्द्र गुप्त

अनुक्रम

• भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त

• हिन्दी-साहित्य का विकास

• हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ

• हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएं

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त

: एक :

साहित्य : स्वरूप-विवेचन

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के रचयिताओं ने लिखा है—"साहित्य = सहित + यत् प्रत्यय, साहित्य का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् 'साथ होना'। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम 'साहित्य' है।" यह व्याख्या किसी व्याकरणाचार्य के मस्तिष्क को भले ही सन्तुष्ट कर दे, किन्तु एक सामान्य विद्यार्थी की जिज्ञासा इससे शान्त नहीं होती। यह तो ठीक है कि 'साहित्य' से 'सहभाव' ध्वनित होता है किन्तु सहभाव किसका ? यह सहभाव शब्द और अर्थ का ही हो, ऐसा संकेत इस शब्द में कहीं नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने 'साहित्य' में से 'सहित' (अर्थात् स = हित + हित के साथ) को पृथक करते हुए हित-कारक रचना को 'साहित्य' बताया है; किन्तु यह व्याख्या भी सर्वांश में सत्य सिद्ध नहीं होती। एक अच्छे सुन्दर चिकने पत्र पर रंग-बिरंगे शब्दों में मुद्रित वह रचना भी जिसकी एक ओर 'अशोक-चक्र' तथा दूसरी ओर बैंक का नाम, गवर्नर के हस्ताक्षर, देय राशि व क्रम-संख्या आदि अंकित हैं, किसी दरिद्र-नारायण के भक्त के लिए कम हितकारक नहीं होती, किन्तु इसी से क्या हम इसे 'साहित्य' की संज्ञा दे सकते हैं ! वस्तुतः इन व्याख्याओं का अर्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं है, किसी प्रकार खींच-तानकर प्रचलित अर्थ के साथ 'साहित्य' शब्द की संगति बैठाने का प्रयत्न किया गया है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति का रहस्य जानने के लिए इसके इतिहास पर दृष्टि-पात करना उचित होगा। कहा जाता है कि 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में सातवीं-आठवीं शती से हुआ है। इससे पहले संस्कृत में 'साहित्य' के स्थान पर 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। भामह, राजशेखर, कुन्तक प्रभृति आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य बताया,[1] तथा इसी प्रसंग में उन्होंने 'सहितौ', 'सहभाव' आदि का उल्लेख किया, पर आगे चलकर 'शब्द और अर्थ के सहभाव (साहित्य)' के स्थान पर केवल सहभाव (साहित्य) ही रह गया। जिस प्रकार 'रेलवे-ट्रेन' में से अब केवल 'रेल' या 'ट्रेन' ही प्रयुक्त होते हैं, शेष दो शब्द प्रायः छोड़ दिये जाते हैं, वैसे ही 'शब्द और अर्थ का साहित्य' के स्थान पर केवल 'साहित्य' का ही प्रयोग चल पड़ा। वस्तुतः भाषा-विज्ञान के अनुसार प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति के कारण शब्दों का प्रचलन, प्रयोग एवं अर्थ-विकास इस प्रकार

---

1. द्रष्टव्य—'साहित्य विज्ञान' : प्रथम खण्ड, पृष्ठ १६-२०

प्रायः होता रहता है; अतः 'साहित्य' शब्द का यह प्रयोग भी इसी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

यह भी भाषा-विज्ञान का नियम है कि जब एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होने लगता है तो उनमें से किसी एक का अर्थ संकुचित या परिवर्तित हो जाता है। जब संस्कृत में भी 'काव्य' और 'साहित्य' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा तो आगे चलकर काव्य का अर्थ संकुचित हो गया, वह केवल कविता तक सीमित रह गया जबकि 'साहित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में—कविता, नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि सभी विधाओं (मुख्यतः गद्यात्मक रचनाओं) के लिए होने लग गया। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का परवर्ती एवं उत्तराधिकारी होते हुए भी आज अपने पूर्वज से अधिक समृद्ध, व्यापक एवं विकसित है।

आधुनिक युग में 'साहित्य' शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति दो अर्थों में होता है—व्यापक अर्थ में वह समस्त लिखित एवं मौखिक रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है जबकि संकुचित अर्थ में वह 'काव्य' के पर्याय के रूप में गृहीत होता है। दूसरे शब्दों में एक ओर वह समस्त प्रकार के ग्रन्थ-समूह को सूचित करता है तो दूसरी ओर वह एक विशेष कोटि की रचनाओं तक ही सीमित है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए एक को 'ज्ञान का साहित्य' कहा है तो दूसरे वर्ग की रचनाओं को 'भावना या शक्ति का साहित्य' की संज्ञा दी है। प्रसिद्ध विद्वान् डी क्विनसी (De Quincey) ने दोनों की तुलना करते हुए लिखा है कि जहाँ ज्ञान के साहित्य का लक्ष्य सिखाना होता है वहाँ भावना के साहित्य का लक्ष्य भावनाओं को जागृत करना होता है; एक में तथ्यों और उपदेशों की प्रधानता होती है जबकि दूसरे में कला और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। प्रस्तुत लेख में हमारा विवेच्य भावना का साहित्य ही है जो कि गद्य और पद्य में लिखी हुई सभी प्रकार की कलापूर्ण रचनाओं—कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि—से सम्बन्धित है।

परिभाषा : भारतीय दृष्टि से

साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए हमारे अनेक प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों ने साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ निश्चित की हैं जिनमें से कुछ यहाँ विचारणीय हैं। आचार्य भामह (छठी-सातवीं शती) ने अपने 'काव्यालंकार' में लिखा था—**'शब्द और अर्थ मिलाकर काव्य (साहित्य) होता है'** तो दंडी के विचार से **'इष्ट अर्थ से विभूषित शब्द समूह ही काव्य-शरीर है।'** इसी प्रकार आचार्य वामन **'गुण तथा अलंकार से संस्कारित शब्दार्थ'** को साहित्य मानते हैं तो राजशेखर के विचारानुसार, **'गुण से युक्त वाक्य ही काव्य है।'** आचार्य कुन्तक ने किंचित विस्तार से परिभाषा करते हुए लिखा—**"शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है, जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने संतुलित हों कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक हो।"** आगे चलकर मम्मट (११वीं शती) ने **'दोष-रहित गुणों से मंडित शब्दार्थ को चाहे वह कहीं-कहीं अलंकार शून्य हो'** काव्य माना है तो दूसरी ओर आचार्य विश्वनाथ (१४वीं

शती) **'रसात्मक वाक्य'** को तथा पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) ने **'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द'** को काव्य या साहित्य माना है।

वस्तुतः ये सब परिभाषाएँ विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत हैं जिससे वे एकांगी एवं अपूर्ण सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए भामह ने शब्द और अर्थ के मेल को साहित्य माना—पर शब्द और अर्थ का मेल तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में होता है क्योंकि निरर्थक शब्दों का उच्चारण या तो कोई अबोध शिशु करता है या प्रलाप करने वाला पागल! क्या साहित्येतर रचनाओं में शब्द और अर्थ का साहचर्य नहीं होगा! ऐसी स्थिति में केवल शब्दार्थ के साहचर्य को ही 'साहित्य' बताना उचित नहीं। हाँ, इससे एक विशेषता का पता अवश्य लगता है कि साहित्य में शब्द + अर्थ अर्थात् भाषा का प्रयोग होता है, बिना भाषा के कोई भी साहित्य नहीं रचा जा सकता।

दंडी, वामन, राजशेखर, कुन्तक, मम्मट प्रभृति ने शब्दार्थ या भाषा के अतिरिक्त इष्ट अर्थ, गुण, अलंकार, मनोहर विन्यास, दोष-रहित आदि विशेषताओं का परिगणन किया—सच पूछें तो ये सारी विशेषताएँ एक ही बात की सूचक हैं, साहित्य में सौन्दर्य या आकर्षण होता है। गुण, अलंकार, रीति आदि सबका लक्ष्य साहित्य में सौन्दर्य या आकर्षण-शक्ति उत्पन्न करना है; इसी शक्ति के कारण साहित्य के शब्दार्थ में इष्ट या प्रिय अथवा रोचक प्रतीत होते हैं। सामान्य भाषा और साहित्य के शब्दार्थ में यही अन्तर है—सामान्य प्रयोगों में सर्वत्र ही आकर्षण नहीं होता जबकि साहित्य में सर्वत्र आकर्षण होता है। अतः इन सारी विशेषताओं का समाहार एक शब्द में करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य में आकर्षण होता है।

आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने क्रमशः रसात्मकता और रमणीयता को साहित्य का आधार माना है, पर प्रश्न है कि इन विशेषताओं का पता कैसे चले? किसी भी रचना में रसात्मकता और रमणीयता के अस्तित्व का ज्ञान उसके आस्वादन से ही हो सकता है—जिसे रचना के आस्वादन से रस या आनन्द की अनुभूति होती है उसी में रसात्मकता और रमणीयता स्वीकार की जाती है। अस्तु, आनंद की अनुभूति साहित्य की तीसरी विशेषता है। साहित्य की इन तीनों ही विशेषताओं का समन्वय करते हुए 'साहित्य-विज्ञान' में साहित्य की सामान्य परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की गयी है—"साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य पाठक को आनन्द की अनुभूति होती है।" हमारे विचार से यह परिभाषा साहित्य की सामान्य परिभाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से कुछ यहाँ उल्लेखनीय हैं। आचार्य अरस्तू ने 'शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत अनुकृति को काव्य' या साहित्य की संज्ञा दी है। सिडनी के विचार से 'काव्य या साहित्य वह अनुकरणा-

त्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनंद प्रदान करना है।' कालरिज के अनुसार 'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रसन्नता प्रदान करना होता है।' शेली के विचार से 'काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा-जोखा है।' हडसन ने भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति को काव्य माना है। इस प्रकार अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनसे काव्य या साहित्य को समझना कठिन है। वस्तुतः ये परिभाषाएँ अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने काव्य या साहित्य क्या है, इसका उत्तर देने के स्थान पर काव्य और कवि, काव्य या पाठक, तथा काव्य और जीवन के सम्बन्ध को सूचित किया है जिससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। वस्तुतः ये साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं पक्षों को सूचित करती हैं किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की एक सर्वाङ्गीण परिभाषा के रूप में स्वीकार करना कठिन है। अस्तु, हमारे विचार से जो परिभाषा पीछे प्रस्तुत की जा चुकी है, वह इन सभी परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक निर्दोष एवं व्यापक है। फिर भी साहित्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए केवल परिभाषा का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है, उसके विभिन्न लक्षणों एवं तत्त्वों का बोध भी अपेक्षित है, अतः आगे इन्हीं की चर्चा की जायगी।

साहित्य के भेदक लक्षण

साहित्यिक और असाहित्यिक कृतियों के अंतर को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के तीन भेदक लक्षण किए जा सकते हैं—(१) स्थायित्व (२) व्यक्तित्व का प्रतिफलन और (३) रागात्मकता। साहित्य और असाहित्य (दर्शन, विज्ञान आदि) में सबसे पहला अन्तर स्थायित्व का होता है। जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में एक ही विषय पर एक पुस्तक के स्थान पर दूसरी पुस्तक आने पर पहली का स्थान गौण हो जाता है या एक का स्थान दूसरी ग्रहण कर लेती है, पर साहित्य में ऐसा नहीं होता जिससे साहित्य की प्रत्येक कृति का महत्त्व स्थायी बना रहता है। साहित्य में इस स्थायित्व का मूल कारण यह है कि उसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव मिश्रित रहता है जिससे उसी विषय पर दूसरे व्यक्ति की रचना पहली रचना की स्थानापन्न नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए भगवान राम के चरित्र को लेकर तुलसी, केशव एवं मैथिलीशरण गुप्त—तीनों ने प्रबन्ध काव्य लिखे पर फिर भी तीनों का स्थान सुरक्षित है, क्योंकि उन सबमें उनके अपने-अपने रचयिताओं के व्यक्तित्व का प्रभाव अंकित है, जबकि गणित, भूगोल, कानून आदि साहित्येतर विषयों की कृतियों में ऐसा नहीं होता।

अस्तु, जहाँ विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं में विषय-सापेक्ष तथ्यों का प्रतिपादन होता है जबकि साहित्यिक रचनाओं में व्यक्ति-सापेक्ष भावनाओं और विचारों का—यही कारण है कि एक व्यक्ति की काव्य-रचना का महत्त्व उसी विषय पर लिखी गई दूसरे व्यक्ति की रचना के पश्चात् भी अक्षुण्ण रहता है।

साहित्य का दूसरा लक्षण 'व्यक्तित्व का प्रतिफलन' है। व्यक्तित्व क्या है? आजकल कुछ लोग शरीर की लम्बाई, चौड़ाई और बाह्य वेश-भूषा को ही व्यक्तित्व

समझने की भूल करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल शारीरिक विशेषताएँ भी व्यक्तित्व के एक अंग हैं किन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तित्व के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उसकी विचार-धारा, उसका ज्ञान-कोष, उसकी अनुभूतियाँ, उसका चरित्र, उसकी वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति, उसकी रुचि और उसके व्यवहार आदि के समन्वित रूप को लिया जाता है। साहित्य पर रचयिता के व्यक्तित्व के प्रभाव की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए हम दो उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए, हम चार वैज्ञानिकों को गुलाब के फूल के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए प्रेरित करें और इसके पश्चात् उनके लेखों की परस्पर तुलना करें तो पता चलेगा कि चारों ने लगभग एक-जैसे ही तथ्यों का प्रतिपादन किया है। गुलाब के फूल में कौन-कौन से तत्त्व हैं? उसका विकास किस तरह होता है? उसका रंग-रूप और उसकी आकृति में क्या विशेषताएँ हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर चारों वैज्ञानिक प्रायः एक-जैसा ही देंगे। किन्तु यदि चार कवि इसी गुलाब के फूल के सम्बन्ध में कविताएँ लिखें तो चारों की रचनाओं में परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर होगा। एक, जो प्रणय-लोक का पथिक है, उस गुलाब के फूल में अपनी प्रिया के रूप-वैभव का दर्शन कर सकता है। दूसरा अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण उसी गुलाब के फूल की क्षणिक प्रफुल्लता के आधार पर संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन कर सकता है। तीसरा कवि जो यदि स्वभाव से मन-मौजी है तो गुलाब के फूल की ही भाँति मुस्कराते और हँसते हुए जीवन व्यतीत करने का सन्देश दे सकता है। चौथा कवि उसी गुलाब के फूल को गरीबों का खून चूसकर लाल होनेवाले पूंजी-पतियों का प्रतीक बता सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक कवि की रचना में उसकी विचारधारा, अनुभूति आदि वैयक्तिक विशिष्टताओं के कारण परस्पर गहरा अन्तर आ जाता है। इसी अन्तर को व्यक्तित्व का प्रतिफलन कहते हैं जिसके कारण साहित्यिक रचनाएँ अमर हो जाती हैं।

साहित्य का तीसरा प्रमुख लक्षण उसकी 'रागात्मकता' को बताया गया है। साहित्य में निर्जीव और शुष्क तथ्यों का वर्णन नहीं होता, अपितु भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाशन होता है। जहाँ विज्ञान के तथ्य हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करके रह जाते हैं, वहाँ साहित्य में चित्रित भावनाएँ हमारे हृदय को भी आंदोलित करती हैं। अपनी भावोत्पादिनी क्षमता के कारण ही साहित्य 'साहित्य' की संज्ञा प्राप्त करता है।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य को सम्यक् रूप से समझने के लिए उसके लक्षणों के साथ-साथ उसके प्रमुख तत्त्वों की जानकारी भी अपेक्षित है। साहित्य के मुख्यतः चार तत्त्व निर्धारित किए गए हैं—(१) भाव, (२) कल्पना, (३) बुद्धि और (४) शैली। साहित्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व 'भाव' ही है—यही उसकी आत्मा है। जैसा कि पीछे बताया गया है, साहित्य का सर्वप्रमुख लक्षण रागात्मकता है जिसके लिए भावों का चित्रण अपेक्षित है।

स्थूल घटनाओं और विस्तृत इतिवृत्त के निरूपण की अपेक्षा साहित्य में सूक्ष्म भावनाओं का अधिक महत्त्व है। दूसरे, साहित्य का लक्ष्य पाठक की ज्ञान-वृद्धि करना नहीं, अपितु उसके हृदय को भावनाओं से आप्लावित कर देना होता है, इस लक्ष्य की पूर्ति भावों के चित्रण के द्वारा सम्पन्न होती है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य की इस आत्मा—भाव तत्त्व—को आज से दो सहस्र वर्षों पूर्व ही पहचान लिया था। आदि आचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से साहित्य का लक्ष्य भावानुभूति को घोषित करते हुए भावनाओं का वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। उन्होंने भावों के दो वर्ग किए हैं—संचारी और स्थायी। आगे चलकर भोजराज, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भारत के भाव-सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढ़ाया। कहना न होगा कि भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया भावों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त संगत एवं शुद्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी भाव की दो कोटियाँ हैं—(१) इमोशन (Emotion) और (२) सेंटीमेंट (Sentiment)। इमोशन और सेंटीमेंट क्रमशः संचारीभाव और स्थायीभाव से गहरा साम्य रखते हैं। भाव के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने तीन अंगों का विवेचन किया है—आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी इन्हें स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हम अपने प्रबन्ध 'साहित्य-विज्ञान' में कर चुके हैं।

साहित्य का दूसरा तत्त्व कल्पना है। साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पना-शक्ति के प्रयोग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक साधारण-से-साधारण घटना को भी कवि कल्पना के रंग में रँगकर ऐसा भव्य रूप प्रदान कर देता है कि वह हमारे हृदय को बलात् आकर्षित कर लेता है। उदाहरण के लिए, हम एक समाचार-पत्र में पढ़ते हैं कि जर्मनी का एक जहाज डूब गया जिसमें चार सौ व्यक्ति सवार थे। इस समाचार को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में थोड़ी हलचल भले ही हो जाय, किन्तु उसका इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम शोक में अभिभूत होकर आंसू बहाने लग जायें। किन्तु जब कवि उसी घटना को कल्पना के द्वारा चित्रित करके हमारे सामने प्रस्तुत करेगा तो चार सौ व्यक्ति तो क्या एक व्यक्ति के भी डूबने की घटना हमारे हृदय में करुणा की शत-शत धाराएँ उद्वेलित कर सकती है। वह हमें बतायेगा कि उस डूबनेवाले जहाज में कौन-कौन व्यक्ति बैठे हुए थे, उनके हृदय में अपने प्रिय-जनों के मिलन की उत्कंठा किस प्रकार उद्वेलित हो रही थी; वे स्वदेश-गमन के भिन्न-भिन्न स्वप्नों को सँजोए हुए जा रहे थे, उधर घर पर उनकी असहाय वृद्धा माँ, या चिरवियोगिनी पत्नी, या दर्शनों की लालसा से अधीर छोटे-छोटे भोले बालक किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जब जहाज डूबने लगा तो उस पर बैठे हुए प्राणियों की क्या दशा हो गई थी—किस प्रकार क्षण-क्षण में पुरुष नारियों की चिन्ता, महिलाओं की चीत्कार-पुकार और बच्चों का करुण-रोदन बढ़ता जा रहा था! जीवन के अन्तिम क्षणों को सिर की तरफ़ आगे बढ़ता देखकर उन गौ-रांग नारियों का हृदय किस प्रकार भीर-विह्वल होकर हाहाकार कर उठा था और

फिर उनके डूब जाने के समाचार को सुनकर चिर-प्रतीक्षा में लीन उनके प्रियजनों की क्या दशा हो गई थी—इन सबका चित्रण करता हुआ एक सच्चा कवि इस छोटी-सी घटना का ऐसा वर्णन कर सकता है कि हमारा हृदय पिघलकर आँसुओं की धारा में बहने लगे। वस्तुतः कवि अपनी कल्पना के बल पर दूसरों के दुःख-सुख और दूसरों की अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर देता है कि वह हमारा दुःख सुख बन जाय। परोक्ष की घटना को वह प्रत्यक्ष रूप में, अतीत की घटना को वर्तमान में और सूक्ष्म भाव को स्थूल रूप में प्रस्तुत कर देता है। इसका श्रेय उसकी कल्पना-शक्ति को ही है।

काव्य में सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि भी कल्पना के द्वारा ही की जाती है। न जाने हमारे कितने कवियों ने नारी की सूक्ष्म छवि के अंकन में अपनी अद्भुत कल्पना का परिचय दिया है। सुन्दरियों के सामान्य रूप-वैभव को उन्होंने चन्द्र की ज्योत्स्ना, दामिनी की चमक, रजनी की शीतलता, ओस की तरलता, पुष्प की प्रफुल्लता आदि से समन्वित करके अलौकिकता प्रदान कर दी है। यही नहीं, संसार के असंख्य निर्जीव पदार्थों और प्रकृति के अगणित चेतनाविहीन रूपों को भी कवि की कल्पना ने सजीवता और चेतना प्रदान कर दी है। धरती की गोद में कल-कल प्रवाहिनी सरिता को कालिदास की कल्पना ने एक ऐसी मद-विह्वला रमणी का रूप प्रदान कर दिया जिसके अगाध जल रूपी नितम्बों से लहरों के रूप में उद्वेलित वस्त्र बार-बार खिसका जा रहा था! नदी की चंचल तरंगों को उसने कामिनी के उन चंचल कटाक्षों का रूप प्रदान कर दिया जो वह अपने किसी प्रिय की ओर निक्षेप कर रही हो! अमरुकशतक के रचयिता ने युवती-बालाओं के द्वारा किए गए अपमान की मीठी घूंट में ही स्वर्ग के अमृत की कल्पना करके अपने हृदयागार को तृप्त कर लिया। भर्तृहरि की कल्पना नारी के उरोज-द्वय में एक ऐसी दुर्गम घाटी की रचना कर लेती है, जहाँ स्मर-रूपी तस्कर विराजमान है और जो मनरूपी पथिकों का सर्वस्व लूट लेता है! मैथिल कवि विद्यापति चंदन-चर्चित पयोधरों में अपने इष्टदेव शिव की कल्पना करके ही कृतकृत्य हो जाते हैं! प्रेम-पन्थ के परिचायक पद्मावतकार की कल्पना-रानी तो निर्जीव तोपों को भी मद-विह्वल गज-गामिनियों का रूप प्रदान करके उन्हें युवकों का प्राण ले लेनेवाली शक्ति से युक्त कर देती है! और आगे चलकर केशव, बिहारी, पद्माकर, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत और महादेवी की कल्पना जो चमत्कार दिखाती है उसका तो कहना ही क्या! वस्तुतः प्रत्येक युग और प्रत्येक भाषा का साहित्य कल्पना-शक्ति की अपूर्व-क्षमता, अद्भुत वैभव और अलौकिक चमत्कार की कहानियों से भरा पड़ा है। वेदान्त-वादियों के यहाँ जो स्थान 'माया' का है वही साहित्य में 'कल्पना' का है, अन्तर केवल इतना ही है कि उसकी माया सत् को असत्, में सूक्ष्म को स्थूल में और अलौकिक को लौकिक में परिवर्तित कर देती है जब कि साहित्यकार की कल्पना असत् को सत् में, स्थूल को सूक्ष्म में तथा लौकिक को अलौकिक में परिवर्तित कर देने की विशेष शक्ति से भी विभूषित है!

साहित्य-जगत् का सम्राट् 'भाव' और 'कल्पना' उसकी दासी है। किन्तु कभी-

कभी जब कल्पना भाव से भी आगे बढ़कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन स्वतंत्र रूप में करने लगती है तो साहित्य का वैभव नष्ट हो जाता है। भाव-शून्य कल्पना साहित्य को कोरा चमत्कार बना देती है। बिहारी जैसे कवि जब इस तथ्य को भूलकर कल्पना का अत्यधिक आश्रय ग्रहण करने लगते हैं तो कहीं काव्यात्मकता नष्ट हो जाती है। अतः साहित्य में कल्पना का उपयोग भावनाओं के चित्रण और विकास के लिए ही होना चाहिए, अन्यथा वह महत्त्वहीन हो जाती है।

साहित्य का तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि का सम्बन्ध तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों से है। साहित्य में किसी-न-किसी मात्रा में तथ्यों, विचारों और सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इनके अभाव में कोरी भावनाओं का स्पन्दन दुःखी का चीत्कार बन जायेगी तथा बुद्धिशून्य कोरी कल्पना में और पागल के प्रलाप में कोई अंतर शेष नहीं रह जायगा। अन्ततः साहित्य में वस्तुओं और घटनाओं का चित्रण उनके उचित रूप में ही किया जाता है। कथा-वस्तु की सूक्ष्म रेखाओं के निर्माण के लिए, घटनाओं की शृंखला को मिलाने के लिए और कार्य के अनुरूप फल दिखाने के लिए प्रत्येक प्रबन्धकार, कहानीकार और उपन्यासकार को बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भावनाओं की सुदृढ़ ईंटों को वह विचारों के गारे से जोड़ कर काव्य भवन का निर्माण करता है। अतः न्यूनाधिक मात्रा में साहित्य में बुद्धितत्त्व भी सर्वत्र विद्यमान रहता है।

कुछ साहित्यकार तो निजी विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से ही साहित्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य में विचारों को कहाँ तक स्थान देना चाहिए। हमारे विचार से विचारों या सिद्धान्तों आदि का अभिधा शैली में वर्णन न होकर उनकी सूक्ष्म रूप में व्यंजना होनी चाहिए। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्दजी कहीं भी यह नहीं लिखते कि दहेज-प्रथा या वृद्ध-विवाह बुरा है, किन्तु उस उपन्यास के पढ़ने से ये विचार स्वतः ही पाठक के हृदय में उत्पन्न हो जाते हैं। विचारों का चित्रण उसी सीमा तक होना चाहिए, जहाँ तक वे रचना के भाव-सौन्दर्य में बाधक न हों। साहित्य की आत्मा या उसका प्राण भाव है, अतः उसे किसी भी स्थिति में ठेस नहीं लगनी चाहिए। भाव-शून्य विचारों का वर्णन साहित्य की संज्ञा से वंचित करके उसे दर्शन, नीति-शास्त्र या उपदेश-ग्रन्थ का रूप दे देता है।

साहित्य के चौथे तत्त्व 'शैली' को लीजिए। कवि या साहित्यकार जिस भाषा, जिस रूप और जिस ढंग से अपने भावों, विचारों या अनुभूति को व्यक्त करता है, वही शैली है। शैली के अन्तर्गत भाषा, शब्द-चयन, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का प्रयोग, वाक्य-रूप आदि का समावेश किया जाता है। साहित्य के प्रारम्भिक तीन तत्त्व यदि उसके प्राण हैं तो शैली उसका शरीर है। जैसे बिना शरीर के प्राण नहीं टिक सकते, वैसे ही बिना भाषा आदि के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि साहित्य का भाव-पक्ष उत्कृष्ट हो तो साधारण या दोष-पूर्ण शैली

से भी काम चल सकता है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट साहित्य वह है जिसका भाव-पक्ष और शैली-पक्ष (या कला-पक्ष) दोनों प्रौढ़ हों। किन्तु जब कविगण कवि केशव की भाँति शैली को ही सजाने में इतने अधिक लीन हो जाते हैं कि वे भाव-पक्ष को सर्वथा भुला बैठते हैं तो काव्यत्व का हनन हो जाता है। हमारे कुछ आचार्यों—जैसे वामन, कुन्तक, भामह आदि—ने भी शैलीगत गुणों को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया था। फिर भी उनके द्वारा शैली सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हुई, जिनका महत्त्व कम नहीं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से माना है।

इस प्रकार साहित्य के प्रमुख लक्षणों एवं उसके तत्त्वों की व्याख्या के अनन्तर हम कह सकते हैं जिस प्रकार ईश्वर के अनेक रूप एवं अनेक नाम हैं; उसी प्रकार साहित्य भी नाना रूपों और नाना संज्ञाओं से विभूषित है। उपर्युक्त लक्षणों और तत्त्वों का ज्ञान भी साहित्य के स्वरूप को आंशिक रूप में ही समझने में सहायता देता है; उसकी आत्मा का तो पूर्ण साक्षात्कार तभी सम्भव है जबकि हमारे हृदय में भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाश हो, हमारे मस्तिष्क में गंभीर अध्ययन की ज्योति हो और हमारे व्यक्तित्व में साधना का बल हो। अस्तु, साहित्य क्या है और कैसा है—इसका उत्तर और अधिक विस्तार से देने की अपेक्षा हम उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का परामर्श देते हुए कबीर के उन शब्दों का प्रयोग करेंगे, जो उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त किए थे—

"पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान !
कहिये कूँ सोभा नहीं, देख्याँ ही परमान ।"

●

: दो :

साहित्य और व्यक्तित्व

साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है—इस तथ्य को प्रायः स्वीकार किया जाता है, फिर भी इन दोनों के सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व' का अर्थ निश्चित कर लेना चाहिए। 'व्यक्तित्व' सामान्य अर्थ में 'व्यक्ति' का भाववाचक रूप है, अतः यह व्यक्ति से सम्बन्धित सभी विशेषताओं एवं गुण-दोषों के लिए प्रयुक्त होता है। साहित्य के क्षेत्र में यह आंग्ल 'पर्सनैल्टी (Personality) के पर्याय के रूप में प्रचलित है। अंग्रेजी के 'पर्सनैल्टी' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के 'पर्सोना' (Persona) से मानी जाती है जिसका मूल अर्थ था—नाटक में लगाये जानेवाले नकली चेहरे, पर आगे चलकर इसका प्रयोग मूल पात्रों या अनुकार्यों के अर्थ में होने लगा। आधुनिक युग में 'पर्सनैल्टी' के अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से लेकर उसकी वेश-भूषा तक की सभी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है; किन्तु साहित्य में साहित्यकार के शारीरिक रूप-रंग या उसकी वेश-भूषा का स्थान नगण्य होता है, अतः हमें यह देखना है साहित्य के संदर्भ में व्यक्तित्व से क्या आशय है?

इस प्रसंग में आधुनिक मनोविज्ञान से भी सहायता ली जा सकती है। मनोविज्ञान के आचार्यों ने व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विवेचना अपने-अपने ढंग से की है जिससे कोई एक सामान्य निष्कर्ष उपलब्ध नहीं होता। यथा—आचार्य मैक्डूगल ने 'व्यक्तित्व' की परिभाषा करते हुए लिखा है—'व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की पारस्परिक घनिष्ठ क्रिया-प्रतिक्रियाओं की समन्वित इकाई व्यक्तित्व है।' तो [illegible] महोदय के विचार से 'व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का प्रकाशन है।' इसी प्रकार [illegible] ने 'विशेष परिस्थिति में व्यक्ति के विशेष व्यवहार' को तथा [illegible] ने व्यक्ति की समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को व्यक्तित्व माना है। इस प्रकार इन विद्वानों ने समस्त मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों, आन्तरिक जीवन, बाह्य व्यवहार एवं विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर बल दिया है जबकि मार्टन प्रिन्स ने व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए व्यक्ति की समस्त जन्मजात शारीरिक प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं, आकांक्षाओं, [illegible] प्रवृत्तियों, अनुभव-जन्य विभिन्न मानसिक दशाओं एवं प्रवृत्तियों के कुल योग को व्यक्तित्व माना है। इन मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रवृत्तियों को व्यक्तित्व के अन्तर्गत ले लिया है,

किन्तु इससे शारीरिक पक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है। हमारे विचार में व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति की सभी विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का समावेश करते हुए उसे चार पक्षों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है—१. शारीरिक पक्ष, २. बौद्धिक पक्ष, ३. भावात्मक पक्ष और ४. चारित्रिक एवं व्यावहारिक पक्ष। साहित्य का सम्बन्ध वैसे तो इन सभी पक्षों से न्यूनाधिक मात्रा में होता है, किन्तु बौद्धिक एवं भावात्मक पक्ष से विशेष रूप में होता है क्योंकि साहित्य के माध्यम से व्यक्ति अपनी बौद्धिक वृत्तियों एवं भावात्मक प्रवृत्तियों—जीवन-दृष्टि, विचार-धारा, भावनाओं, अनुभूतियों आदि—की अभिव्यक्ति करता है। अतः साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार के बौद्धिक एवं भावात्मक पक्षों के अध्ययन पर ही अधिक बल दिया जाता है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण

सामान्य व्यक्तियों की भाँति साहित्यकार के व्यक्तित्व का भी निर्माण एका-एक नहीं होता, अपितु वह अनेक तत्त्वों के आधार पर क्रमशः विकसित होता है। इन तत्त्वों में से तीन तत्त्व प्रमुख हैं—वंश-परम्परा, वातावरण (परिस्थितियाँ) और द्वन्द्व। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व मूलतः उसकी वंश-परम्परा—उसके माता-पिता एवं उनके पूर्वजों के व्यक्तित्व का निश्चित अंश होता है, अतः उसके रक्त के प्रत्येक कण में और उसके मस्तिष्क के प्रत्येक अणु में किसी न किसी मात्रा में उसके पूर्वजों का प्रभाव सदा विद्यमान रहता है; किन्तु इस प्रभाव की मात्रा वातावरण या परि-स्थितियों के अनुसार सदा घटती-बढ़ती रहती है। व्यक्ति को जैसा पारिवारिक, सामाजिक, प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय वातावरण तथा तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का सम्पर्क प्राप्त होता है, उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व ढल जाता है; पर इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि वह वंश-परम्परा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वस्तुतः वंश-परम्परा से प्राप्त तत्त्व वातावरण के अनुसार नया रूप ग्रहण करते हुए भी मूलतः वे अपरिवर्तित रहते हैं। जैसे एक पीतल के टुकड़े को आप थाली, लोटा, गिलास, चम्मच आदि में से चाहे जो रूप दे दें, फिर भी पीतल ही रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व भी आन्तरिक रूप मे परम्परा के शाश्वत तत्त्वों से अनुस्यूत रहता है, बाह्यरूप से भले ही उसमें कितना अन्तर क्यों न आ जाय। परम्परा और वातावरण के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व द्वन्द्व है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण व विकास में योग देता है। व्यक्ति को जैसी परिस्थितियों से द्वन्द्व करना पड़ता है उसी के अनु-रूप उसका व्यक्तित्व अपनी दिशा या मार्ग खोज लेता है। अस्तु, व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी पूर्व परम्परा, उसके वातावरण एवं उसके मानसिक एवं बाह्य द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम होता है तथा यह बात साहित्यकारों पर भी सर्वांश में लागू होती है। ऐसी स्थिति में साहित्य में भी साहित्यकार के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अर्थ है, उसकी पूर्व परम्पराओं, वातावरण एवं द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभि-व्यक्ति। साहित्य के प्रसंग में 'परम्परा' शब्द का अर्थ और अधिक व्यापक रूप में लेते हुए इसके अन्तर्गत न केवल साहित्यकार की पूर्व वंश-परम्परा को, अपितु उसे

प्रभावित करनेवाली पूर्ववर्ती सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं को भी समाविष्ट किया जा सकता है।

साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन

साहित्य के चार तत्त्व माने जाते हैं—विचार, भाव, कल्पना और शैली। साहित्यकार का व्यक्तित्व इन चारों ही तत्त्वों के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। सबसे पूर्व विचार को लीजिए—साहित्यकार जिस सामग्री से अपनी रचना का स्थूल ढाँचा और उसकी विषय-वस्तु का संगठन करता है, वह बहुत कुछ उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक, पौराणिक या सामान्य ज्ञान पर आश्रित होती है जिसे हम विचार का एक रूप मान सकते हैं। इसके अनन्तर वह विभिन्न घटनाओं के आयोजन व विभिन्न पात्रों के चित्रण एवं उनके वार्तालाप के रूप में जिस दृष्टि एवं सामग्री का उपयोग करता है, वह भी उसके बौद्धिक पक्ष से सम्बद्ध होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में वह अपनी जीवन-दृष्टि, सामाजिक विचार-धारा, राजनैतिक मान्यता, दार्शनिक या धार्मिक आस्था-अनास्था की भी अभिव्यक्ति यत्र-तत्र करता है तथा कहीं किसी विचार धारा का समर्थन एवं कहीं किसी का खंडन करता है। इन सबके पीछे उसके व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष—उसका अपना दृष्टिकोण, ज्ञान, अनुभव एवं चिन्तन—ही छिपा रहता है तथा इस प्रकार साहित्य के समस्त बौद्धिक तत्त्व रचयिता के बौद्धिक पक्ष की अभिव्यक्ति के सूचक सिद्ध होते हैं।

साहित्यकार चाहे किसी पात्र की भावनाओं एवं अनुभूतियों का चित्रण एवं अभिव्यंजन करे, उनमें भी उसके निजी व्यक्तित्व की छाप विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, वह जिन भावनाओं को अपने साहित्य में प्रमुखता देता है, वे वस्तुतः उसके व्यक्तित्व एवं जीवन की ही प्रमुख भावनाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास के साहित्य में भक्ति की भावना का, बिहारी के काव्य में प्रणय भावना का, मैथिलीशरण के काव्य में राष्ट्रीयता की भावना का अथवा नये कवियों में निराशा की-प्रवृत्ति का प्रमुख होना इस बात का परिचायक है कि इनके व्यक्तित्व में इन्हीं की प्रमुखता है। एक ही भावना को अनेक कवि व्यक्त करते हैं, पर फिर भी उनमें उनके व्यक्तित्व के भेद के अनुसार अन्तर रहता है। जायसी, बिहारी, प्रसाद आदि कवियों ने प्रणय-भावना का अंकन अपने-अपने काव्य में किया, फिर भी इन सबमें प्रणय का स्वरूप एक जैसा नहीं मिलता, जायसी के प्रेम में औदात्य अधिक है, बिहारी में मांसलता एवं रसिकता की प्रधानता है तो प्रसाद में भावना की कोमलता और स्निग्धता अधिक है। अस्तु, कवि की भावाभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में उसके व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष—उसकी मूल प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, अनुभूतियों आदि के सम्मिलित रूप का प्रतिनिधित्व करती है; यह दूसरी बात है कि कई बार उसकी अभिव्यक्ति में स्वानुभूतियों के स्थान पर आरोपित या दूसरों से उधार ली हुई अनुभूतियों भी व्यक्त हो जाती हैं, पर उस स्थिति में भी इससे उसकी वैयक्तिक रुचि एवं प्रवृत्ति की दिशा का स्वाभाविक परिचय अवश्य प्राप्त होता है।

विचार और भाव की ही भांति कल्पना का भी साहित्य के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह ठीक कल्पना का तथ्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, अतः उसका कवि के व्यक्तित्व से भी घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, पर फिर भी सभी व्यक्ति समान परिस्थितियों में एक जैसी कल्पनाएँ नहीं करते। इसका कारण यह है कि कल्पनाएँ व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति, उसके अनुभवों एवं मानसिक बिम्बों तथा उसकी भावी आकांक्षाओं पर निर्भर होती हैं, अतः व्यक्तियों की कल्पनाओं में पारस्परिक अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। अस्तु, साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त कल्पना अप्रत्यक्ष रूप से कृतिकार की ही मूल प्रवृत्तियों, अनुभवों एवं उसकी आकांक्षाओं की द्योतक होती है।

साहित्य के चौथे तत्त्व शैली के साथ तो व्यक्तित्व का और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। पश्चिम में तो अनेक विद्वानों ने साहित्यकार की शैली को ही उसका व्यक्तित्व घोषित किया है। गेटे के विचार में लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची अनुकृति है, तो चेस्टरफील्ड ने शैली को उसके विचारों की पोशाक माना है। बफन महोदय ने शैली को उसकी प्रकृति का अंग बताया है, तो मिडल्टन मरी महोदय ने उसे लेखक के भावात्मक दृष्टिकोण पर आधारित स्वीकार किया है। इधर बीसवीं शती के कुछ चिंतकों ने शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषक जुंग ने व्यक्तित्व के मुख्यत, दो भेद किए हैं—अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी। इनके भी चार-चार अवान्तर भेद और किए गए हैं—१. चिंतन प्रधान, २. अनुभूति प्रधान, ३. संवेदना प्रधान और ४. सहजानुभूति प्रधान। इस प्रकार व्यक्तित्व के कुल आठ भेद हो जाते हैं जिनके आधार पर अंग्रेजी विद्वान् हरबर्ट रीड ने अपने ग्रन्थ 'इंगलिश-प्रोज स्टायल' में साहित्य के रूपों और शैली के भेदों को आठ वर्गों में विभक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि किस प्रकार साहित्य रूप-विधान एवं शैलीगत गुणों में साहित्यकार का व्यक्तित्व अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार एफ० एल० ल्यूकस ने भी अपने शैली-विषयक ग्रन्थ 'स्टायल' में प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति का जैसा व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार होगा, वैसा ही रूप उसकी शैली का होगा। जो व्यक्ति अशिष्ट एवं चिड़चिड़े होते हैं, उनकी शैली में भी वैसा ही रूखापन या चिड़चिड़ापन होगा जबकि सहृदय, उदार, निष्कपट एवं विनोदी स्वभाव के व्यक्तियों की शैली में सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता होगी। वस्तुतः शैली के विभिन्न गुण-दोष तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ मूलतः साहित्यकार के व्यक्ति के ही विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इतना अवश्य है कि कई बार हम व्यक्तित्व के बाह्य रूप को जैसा देखते हैं, वैसा ही उसका आन्तरिक रूप नहीं होता—यथा, बाहर से वह सरल और उदार दिखाई देता हुआ भी भीतर से कुटिल एवं स्वार्थी हो सकता है—ऐसी स्थिति में साहित्य को उसके बाह्य व्यक्तित्व की अपेक्षा आंतरिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध मानना उचित होगा। सच तो यह है कि व्यक्ति का आंतरिक व्यक्तित्व लोक-व्यवहार की अपेक्षा उसकी साहित्यिक रचनाओं में भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है; अतः साहित्य में व्यक्त व्यक्तित्व को ही व्यक्ति के वास्तविक रूप

का प्रतिनिधि मानना अधिक संगत होगा। हो सकता है, कोई साहित्यकार जान-बूझकर अपने वास्तविक व्यक्तित्व को छिपाता हुआ अपनी रचना में काल्पनिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रयास करे, किन्तु उस स्थिति में उसका साहित्य आत्मानुभूति से शून्य तथा काल्पनिकता एवं कृत्रिमता के भार से युक्त हो जायगा। ऐसे साहित्य को सच्चे साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता, अतः यह बात प्रत्येक रचना पर लागू होती है कि यदि वह सचमुच में साहित्यिक है तो उसमें रचयिता के व्यक्तित्व की भी प्रयत्क्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति अवश्य होगी। इस प्रकार साहित्य और साहित्यकार के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना सिद्ध होती है।

व्यक्तिवादी आन्दोलन और साहित्य

साहित्य के प्रारम्भिक विवेचकों ने प्रायः साहित्यकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा की है। प्लेटो और अरस्तू ने कला और साहित्य को प्रकृति या भौतिक जगत् की अनुकृति मानते हुए कलाकार एवं साहित्यकार के व्यक्तित्व को गौण कर दिया था। पर पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में कदाचित् लोंजाइनस पहले चिन्तक थे जिन्होंने साहित्य के पीछे साहित्यकार के व्यक्तित्व को देखने का प्रयास किया; वे साहित्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व या गुण औदात्य (Sublime) को तथा औदात्य का मूल स्रोत साहित्यकार के व्यक्तित्व को मानते थे। उनके शब्दों में—'साहित्यकार के आत्मतत्त्व की महानता का प्रतिबिम्ब ही साहित्य का औदात्य है। सच्चा वाग्वैदग्ध्य उन्हीं में पाया जा सकता है, जिनकी चेतना व्यापक और उदार हो। जो लोग जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्यों और संकीर्ण स्वार्थों के पीछे पड़े रहते हैं, वे मानवता के लिए स्थायी महत्त्व की रचना नहीं दे पाते। यह बिल्कुल स्वभाविक है कि जिनके मस्तिष्क महान् विचारों से परिपूर्ण होते हैं, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत होते हैं।" इस प्रकार लोंजाइनस ने साहित्यकार के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से उसकी रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए व्यक्तिपरक विचारधारा का प्रवर्तन किया; किन्तु साथ ही उन्होंने वस्तु का भी महत्त्व न्यून नहीं किया।

लोंजाइनस के उपर्युक्त मत के बावजूद प्राचीन एवं मध्य युगों में साहित्यकार के व्यक्तित्व को अपेक्षित महत्त्व प्राप्त न हो सका। इसका मूल कारण यह है कि इन युगों में जन-साधारण की अपेक्षा देवी-देवताओं एवं राजा-महाराजाओं को, सामान्य जीवन वृत्त एवं स्वाभाविक घटनाओं की अपेक्षा अलौकिक एवं आश्चर्यजनक वृत्तान्त को और व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अधिक महत्त्व प्राप्त था। ऐसी स्थिति में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का अविकसित रह जाना स्वभाविक था।

आधुनिक युग में प्रजातंत्रीय विचारों के उदय के साथ-साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का विकास हुआ। सत्तहवीं-अठाहरवीं शती के अनेक राजनैतिक चिन्तकों ने प्रजातंत्रीय विचारों का प्रतिपादन किया जिनमें माण्टेस्क्यू (१६८६,१७५५), वाल्टेयर (१६६४-१७७८), रूसो (१७१२-१७७८) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने सिद्ध किया कि प्रत्येक व्यक्ति समान है, राजा और प्रजा के व्यक्तित्व में

मूलतः कोई अन्तर नहीं है; यह धारणा गलत है कि राजा किसी दैवी शक्ति या विशेष प्राकृतिक अधिकार से सम्पन्न होता है; स्वतंत्रता एवं समानता प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार है। इन विचारों के प्रचार के फल-स्वरूप इंगलैंड, अमरीका, फ्रान्स आदि देशों में अनेक राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं जिनसे प्रजातंत्रीय शासन-पद्धतियों की स्थापना हुई। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्तियाँ एवं पूँजीवाद के विकास ने भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने में योग दिया। मनोविज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में भी व्यक्तिवादी विचार-धाराओं की स्थापना हुई। फ्रायड, एडलर, जुंग प्रभृति मनोविश्लेषकों ने मानसिक प्रवृत्तियों का संबंध व्यक्ति की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं, हीन-भावना आदि से स्थापित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्तिवाद का पोषण किया। दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद व्यक्तिवाद के चरम रूप को प्रस्तुत करता है। यह समाज एवं राष्ट्र के परम्परागत नियमों एवं पूर्व-धारणाओं तथा सिद्धान्तों को व्यक्ति के लिए आवश्यक एवं आरोपित मानता है। व्यक्ति का अस्तित्व प्रमुख है, उसकी व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त एवं नियम गौण हैं—अस्तित्व की इस धारणा ने व्यक्तिवाद को एक अतिवाद की चरमसीमा तक पहुँचा दिया है, जहाँ वह सभी सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक मूल्यों एवं राष्ट्रीय परंपराओं से विरक्त होकर उच्छृङ्खल विलासिता एवं सीमित अहं में केन्द्रित हो जाता है। यह स्थिति निश्चय ही व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है।

उपर्युक्त राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का कला और साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है। कला के क्षेत्र में प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावाद एवं अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा हुई जिन्होंने कला और साहित्य के क्षेत्र में किसी इतर महापुरुष की गाथाओं के वर्णन की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूतियों की सहज-व्यंजना को श्रेयस्कर घोषित किया। जहाँ इससे पूर्व कवि या कलाकार किसी सामाजिक स्थिति का चित्रण समाज की दृष्टि से करता था, वहाँ अब वह अपनी दृष्टि से समाज की व्याख्या प्रस्तुत करने लगा। वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी काव्य चाहे अंग्रेजी का हो या हिन्दी का—वह मूलतः व्यक्ति की भावनाओं को वैयक्तिक शैली में व्यक्त करता है। वस्तु की दृष्टि से वह व्यक्तिवाद है तो शैली की दृष्टि से अभिव्यक्तिवाद।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में व्यक्तिवाद अपने स्वस्थ एवं संतुलित रूप में ही है, अतः उसकी बात समाज की समझ में आती है; उसकी अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों के साथ सामाजिक सहानुभूति भी स्थापित हो जाती है; यही कारण है कि उसका साधारणीकरण हो जाता है। पर आगे चलकर उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादियों एवं बीसवीं शती के बिम्बवादियों, दादावादियों एवं अतियथार्थवादी (Surrealists) कलाकारों ने व्यक्तिवाद को उसकी चरम अधोगति तक पहुँचा दिया। जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उच्छृङ्खलता का पर्याय बन गया है। इनकी काव्य वस्तु अस्वाभाविक एवं अशोभनीय होती है तो कथन-शैली अस्पष्ट एवं विचित्र। अतः इन आन्दोलनों के उन्नायकों ने सिद्ध कर दिया कि कोई वस्तु अपने अतिवादी रूप में विकृत हो जाती है—व्यक्ति भी आज अपने विकृत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त सारी चर्चा पाश्चात्य कला और साहित्य को ध्यान में रखकर ही की गयी है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की चर्चा अलग से करना अनावश्यक है। हिन्दी का साहित्यकार अब पाश्चात्य कलाकार का ही अनुयायी एवं अनुकर्ता बन गया है—जिस प्रकार वहाँ क्रमशः स्वच्छन्दतावाद के बाद प्रतीक एवं बिम्बों के प्रयोग को लेकर प्रयोगवाद एवं नयी कविता (New verse) का आविर्भाव हुआ है, लगभग उसी प्रकार हिन्दी में छायावाद के बाद प्रयोगवाद नयी कविता आदि का आगमन हुआ है, फलतः पाश्चात्य साहित्य की सभी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का अंधानुसरण स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में देखा जा सकता है। सन् १९४७ में हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, किन्तु आर्थिक एवं मानसिक दृष्टि से अब भी हम पश्चिम के दास हैं। इसी का परिणाम है कि आज हमारे साहित्य में जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें शब्द हमारे हैं, किन्तु उनकी आत्मा विदेशी है—कदाचित् इसीलिए उनका अर्थ समझना कई बार कठिन हो जाता है।

अस्तु, हमारे विचार में साहित्य में व्यक्ति का स्थान उसी सीमा तक है जहाँ तक वह रचना के समाजीकरण अथवा साधारणीकरण में बाधक सिद्ध नहीं होता क्योंकि साहित्य का मूल लक्ष्य व्यक्ति की धारणाओं, अनुभूतियों एवं कल्पनाओं का समाजीकरण (साधारणीकरण) करना होता है। जहाँ साहित्यकार की वैयक्तिकता उसकी अनुभूतियों के समाजीकरण में बाधक सिद्ध होती है, वहाँ वह गुण के स्थान पर दोष बन जाती है। हलुए में बादाम उसके गुण व स्वाद की अभिवृद्धि के लिए डाले जाते हैं, किन्तु यदि वे खाने वाले के गले में अटकने लग जायँ तो बेकार हैं, इसीलिए उन्हें काटकर डाला जाता है। सच्चा साहित्यकार भी अपनी वैयक्तिकता को पिघलाकर उसे समाजीकृत रूप में ही प्रस्तुत करता है, अन्यथा उनमें और सामान्य वक्ता में कोई अन्तर न रहेगा। वैयक्तिकता न्यूनाधिक मात्रा में सभी के पास है, पर उसे समाजीकृत सभी नहीं कर पाते—सामान्य व्यक्ति और साहित्यकार में यही अन्तर है। भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण एवं पाश्चात्य विद्वानों ने संप्रेषण की चर्चा करते हुए इसी समाजीकरण या निर्वैयक्तीकरण की ओर संकेत किया है। वस्तुतः साहित्यकार काव्य के माध्यम से वैयक्तिकता को समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निर्वैयक्तिकता में परिणत करता है—इसीलिए उसका शोक केवल अपना शोक नहीं रह जाता, अपितु वह सारे समाज का शोक—करुण रस—बन जाता है। अतः हम कह सकते है कि वैयक्तिकता यदि साहित्य की आधार-वस्तु है तो निर्वैयक्तिकता उसका लक्ष्य है। वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता में परिणत करना ही कला है, काव्य है और जादू है जो सबको मुग्ध कर लेता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए साहित्य में व्यक्ति को एक सीमित एवं संतुलित रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए; व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के नाम पर थोथे आत्म-प्रदर्शन, छिछले अहं, मिथ्या अभिमान एवं निजी कुण्ठाओं को असाधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करना—साहित्य की मूल प्रकृति एवं प्रवृत्ति के प्रतिकूल है, अतः इससे बचना होगा।

: तीन :

साहित्य की आत्मा

साहित्य[1] का वह आधारभूत तत्त्व या गुण कौन-सा है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके अभाव में किसी भी रचना को 'साहित्य' नहीं कहा जा सकता ? यह प्रश्न साहित्य-चर्चा के आदिकाल से लेकर आज तक विभिन्न शब्दों में प्रस्तुत किया जा चुका है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इसी प्रश्न को 'काव्य की आत्मा' के रूप में उठाते हुए उस मूल तत्त्व के अनुसंधान का प्रयत्न किया, जो प्रत्येक साहित्यिक रचना के लिए अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुंच सके, अपितु वे अलग-अलग निष्कर्षों पर पहुँचे जिनके आधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र में छह संप्रदायों या वादों की स्थापना हुई—१. रस, २. अलंकार, ३. रीति, ४. ध्वनि, ५. वक्रोक्ति, और ६ औचित्य। इनमें से हम किस मत को ग्रहण करें—इसका निर्णय करने के लिए प्रत्येक पर अलग-अलग विचार किए जाने की अपेक्षा है।

१. रस सिद्धान्त—इससे पूर्व कि काव्यात्मा के रूप में रस के औचित्य पर विचार किया जाय, यह समझ लेना आवश्यक है कि 'रस' क्या है। आचार्य भरत मुनि के अनुसार साहित्यिक रचनाओं में प्रस्तुत या व्यक्त स्थायी भाव का आस्वाद ही रस है। परवर्ती आचार्यों ने भी प्रायः काव्य के आस्वाद को रस माना है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे आनन्द या काव्यानन्द का भी पर्यायवाची बताया गया है। पर यह आस्वाद या आनन्द विशुद्ध काव्यगत तत्व न होकर काव्य और पाठक के सम्पर्क का परिणाम सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में आस्वाद या आनन्द की प्रक्रिया पाठक के मन में सम्पादित होती है, अतः आनन्दतत्व को काव्य का परिणाम या फल तो माना जा सकता है, किन्तु स्वयं काव्य की आत्मा नहीं। काव्य की आत्मा का निवास काव्य में ही होना चाहिए जबकि रस का उद्बोधन पाठक के हृदय में होता है। इस संबंध में डा० नगेन्द्र ने भी विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा है—'रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है।' ऐसी स्थिति में इसको काव्य की आत्मा न मानकर उसका परिणाम या फल ही मानना अधिक उचित होगा।

---

१. इस लेख में हमने 'साहित्य' और 'काव्य' को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य का वह तत्त्व कौन-सा है जिसके कारण पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति होती है ! इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्थायी भाव ही वह प्रमुख तत्त्व है जिसे रस का मूलाधार माना गया है। पर स्थायी भाव अपने-आपमें रसानुभूति में समर्थ नहीं है। एक तो काव्य में उसका प्रस्तुतीकरण प्रत्यक्ष में न होकर अप्रत्यक्ष में होता है, क्योंकि स्थायी भावों का नामोल्लेख काव्य का दोष माना जाता है। वस्तुतः स्थायी भाव के नामोल्लेख के स्थान पर उसकी व्यंजना अपेक्षित है। पर स्थायी भाव की व्यंजना ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त नहीं है। लौकिक जीवन एवं लोक-व्यवहार में भी स्थायी भाव की व्यंजना रात-दिन देखी जाती है—एक वृद्धा को अपने युवा पुत्र की मृत्यु पर शोक की व्यंजना करते या किसी भयानक दृश्य के उपस्थित हो जाने पर जनता को भयभीत होते देखा जाता है—किन्तु वहाँ तो रस या आनन्द की अनुभूति नहीं होती। अतः स्थायी भाव की व्यंजना को ही रस का मूलाधार मानना कठिन है। फिर भी यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यहाँ एक-विवाद और उपस्थित होगा—स्थायी भाव को आत्मा माना जाय या व्यंजना को ? ध्वनि-वादी कहेगा कि महत्त्व स्थायी भाव का नहीं, व्यंजना या ध्वनि का है। सच पूछा जाय तो काव्य में स्थायी भाव की तो प्रत्यक्ष सत्ता रहती ही नहीं जबकि व्यंजना का व्यापार प्रत्यक्ष होता है, अतः स्थायी भाव की अपेक्षा व्यंजना का ही महत्त्व अधिक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में व्यंजना को ही काव्य की आत्मा क्यों न मान लिया जाय ? ध्वनि-वादियों ने व्यंजना को ही ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे काव्य की आत्मा घोषित किया है—अतः इस प्रश्न पर आगे ध्वनि के प्रसंग में विचार किया जायगा; यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस काव्यगत आत्मा का कार्य परिणाम या उसकी देन है, वह स्वयं काव्यात्मा के पद का अधिकारी नहीं है।

२. **अलंकार संप्रदाय**—अलंकार-संप्रदाय के आचार्यों के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है। प्रश्न उठता है—स्वयं 'अलंकार' क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य दंडी ने कहा है—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' अर्थात् 'काव्य के शोभा-कारक धर्म अलंकार' कहे जाते हैं। भामह, उद्भट्, वामन, रुद्रट आदि आदि ने भी अलंकार को चारुत्व, सौन्दर्य या शोभा का हेतु या साधक माना है। अतः कहना चाहिए कि अलंकार वह तत्त्व है जिससे काव्य में शोभा, चारुत्व या सौन्दर्य का संचार होता है, ऐसी स्थिति में चारुत्व या सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा क्यों न माना जाय ? सौन्दर्य साध्य है, अलंकार साधन अतः काव्य में सौन्दर्य की अपेक्षा अलंकार की सत्ता गौण ही सिद्ध होती है। कुछ आचार्यों ने "सौन्दर्यमलंकारः" कहते हुए सौन्दर्य या अलंकार को एक दूसरे का पर्यायवाची भी घोषित किया है, किन्तु वह ठीक नहीं है। एक तो प्रत्येक अलंकार सौन्दर्य का कारण सिद्ध नहीं होता। कई बार अलंकार का प्रयोग सौन्दर्य के स्थान पर असौन्दर्य का भी कारण सिद्ध होता है। जैसा कि केशव की 'रामचन्द्रिका' में कई स्थलों पर हुआ है। दूसरे, अलंकारों को ही सौन्दर्य मान लेने पर सहज सौंदर्य की सत्ता लुप्त हो जाती है। तीसरे, सौन्दर्य केवल अलंकार से ही नहीं, वक्रोक्ति,

ध्वनि आदि अन्य साधनों से भी सम्भव है। अतः अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मान लेना भाषा के साथ बलात्कार होगा। अस्तु, अलंकारवादियों की मान्यताओं का सारांश यही है कि अलंकारों से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा यह सौन्दर्य ही पाठक को आह्लाद की अनुभूति प्रदान करता है—जिसे रसवादियों के अनुसार रसानुभूति भी कहा जा सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार अलंकार काव्य के साधन, सौंदर्य काव्य की आत्मा तथा आह्लाद या रस काव्य का फल सिद्ध होता है जिसे तालिका रूप मे इस प्रकार किया जा सकता है—

काव्य के साधन		**काव्य की आत्मा**		**काव्य का फल**
अलंकार	→	सौन्दर्य	→	रस

३ **रीति सम्प्रदाय** इस सम्प्रदाय के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है। विशेष प्रकार की पद-रचना को ही रीति (विशिष्ट पद-रचना रीति) बताया गया है। वह 'विशेष' क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् गुणों से युक्त होना ही विशेषता है। दूसरे शब्दों में गुणों से युक्त रचना-पद्धति रीति है। गुणों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य वामन ने कहा है—'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले धर्म ही गुण हैं। ऐसी स्थिति में गुण काव्यगत, शोभा या सौन्दर्य के साधन मात्र सिद्ध होते हैं जिन्हें साध्य से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यहाँ भी वही स्थिति है जो कि अलंकार के क्षेत्र में थी। अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य-सौन्दर्य का कारण माना है जब कि रीतिवादियों ने गुणों—माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि को। पर यह विवाद अनावश्यक है, सौन्दर्य पर न तो अलंकारों का ही एकाधिकार स्वीकार किया जा सकता है और न ही गुणों का। अलंकार एवं गुणों के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो कि सौदर्य-सृष्टि में सहायक हो सकें। फिर यदि अलंकार गुणों के स्थान पर किसी तीसरे प्रकार के साधन से भी सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है तो उसे भी तिरस्कृत नही किया जा सकता। अतः इस विश्लेषण के अनुसार काव्य की आत्मा के रूप में तो सौंदर्य को ही स्वीकार करना होगा—अलंकार एवं रीति तो उसके विभिन्न साधनों में से कुछ हैं।

४. **ध्वनि सम्प्रदाय**—ध्वनि-सिद्धान्त की भी स्थिति अलंकार और रीति से भिन्न नही है। ध्वनियों ने एक ओर तो व्यंजना को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए व्यंग्यार्थ को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है, पर दूसरी ओर व्यंग्यार्थ के साथ सौंदर्य की भी शर्त लगाई है। जिस व्यंग्यार्थ से चारुत्व या सौदर्य का प्रकाशन होता है उसी को ध्वनि के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। 'ध्वनि' की परिभाषा करते हुए 'ध्वन्यालोक' में कहा गया है—"जो चारुत्व अन्य उक्ति से प्रकाशित नही किया जा सकता उसी को प्रकाशित करनेवाला व्यंजना-व्यापार-युक्त शब्द (वाक्य) ही ध्वनि कहलाता है।" यहाँ स्पष्ट ही चारुत्व के प्रकाशन एवं व्यंजना-व्यापार—दोनों को ध्वनि के आधारभूत तत्वों के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनमें से प्रथम साध्य है तथा द्वितीय उसका साधन। अतः हम 'चारुत्व' या सौंदर्य को ही काव्य की आत्मा क्यों न

मानें ? आगे चलकर अन्य प्रसंगों में भी 'ध्वन्यालोक' के रचयिता ने काव्य के विभिन्न साधनों एवं अंगों को चारुत्व एवं सौंदर्य के हेतु के रूप में उल्लिखित किया है। अतः ध्वनि सिद्धान्त भी सौंदर्य को ही काव्य का सर्वोपरि तत्त्व स्वीकार करता हुआ अप्रत्यक्ष रूप में उसे काव्य की आत्मा मान लेता है।

५. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय—आचार्य कुन्तक ने वक्रता या वैचित्र्य से युक्त उक्ति ही 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित काव्य-सौंदर्य (कवि-कर्म-कौशलजन्य शोभा या चारुता) के पर्यायवाची के रूप में भी उल्लिखित किया। वस्तुतः कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्रता, वैचित्र्य, चारुत्व एवं सौंदर्य का उल्लेख एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के प्रसंग में भी वक्रता के विभिन्न प्रकारों का लक्ष्य सौंदर्य का प्रस्फुटन ही माना है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप में सुन्दर अर्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानते हुए कहा है—'काव्य में वही अर्थ कहा जाता है जो अपने स्वभाव से ही सुन्दर और सहृदयों को आनंद देनेवाला हो।' यदि वक्रोक्ति के स्थान पर कोई सहजोक्ति या स्वभावोक्ति भी सौंदर्ययुक्त हो तो कुन्तक उसे काव्यत्व से युक्त मानने में कोई संकोच नहीं करते। अतः कहना चाहिए कि वक्रोक्ति भी अन्ततः काव्य-सौंदर्य के विभिन्न अंगों में से एक अंग है, उसकी वक्रता सौंदर्य-सृष्टि का ही एक प्रकार है। आचार्य कुन्तक वक्रता को अपने-आपमें सौंदर्य मानते हैं, किन्तु हम उसे सौंदर्योत्पत्ति के अनेक साधनों में से एक साधन मात्र मान सकते हैं, क्योंकि वक्रता सर्वत्र ही सौंदर्य में परिणत नहीं होती। इस प्रकार वक्रोक्ति-संप्रदाय के अनुसार भी काव्य की आत्मा के रूप में सौंदर्य को स्वीकृति देते हुए वक्रोक्ति को उसका एक अंग माना जा सकता है।

६. औचित्य-सम्प्रदाय—इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य का प्रयास करते हुए औचित्य सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने अलंकार, रीति, गुण आदि विभिन्न तत्त्वों के उचित प्रयोग—औचित्य—को ही काव्य की आत्मा सिद्ध किया, किन्तु यह उनके ही कथन से प्रमाणित हो जाता है कि औचित्य अपने-आपमें साध्य नही हैं, अपितु वह भी काव्य-सौंदर्य का साधन है। यहाँ उनके कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

"अलंकार तभी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब कि उनका विन्यास उचित स्थान पर हो।"

"औचित्य के बिना न अलंकार रुचिरता देते हैं न गुण।"

"प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलंकार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्य भारती इस प्रकार शोभित होती है, जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अन्ततः औचित्य काव्यगत शोभा, रुचिरता या सौंदर्य का ही संयोजक तत्व है। पर केवल औचित्य से ही—सौंदर्य के अभाव में—कोई उक्ति काव्यात्मक नहीं हो जाती; जैसे—'राम दशरथ के पुत्र थे' या 'दो और दो चार होते हैं' में पूरा औचित्य है, किन्तु ये काव्यात्मक नहीं हैं। अतः काव्य का प्रमुख तत्त्व तो सौन्दर्य ही है, औचित्य उसके अनेक सहायकों में से एक है।

इस प्रकार विभिन्न भारतीय मतों के निरीक्षण-परीक्षण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य में सौन्दर्योत्पत्ति के विभिन्न साधन एवं उपादान हैं--काव्य की आत्मा के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य की आत्मा सौन्दर्य है जिसे भारतीय आचार्यों ने शोभा, रुचिरता, चारुत्व, आदि पर्यायवाचियों के माध्यम से स्वीकृति प्रदान की है। रस इसी काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति है; जिसे आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र की शब्दावली में "Aesthetic Experience' या 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जा सकता है। संक्षेप में—

काव्य के विभिन्न साधन	**काव्य की आत्मा**	**काव्य का फल**
अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि,	सौन्दर्य	रस या
वक्रोक्ति, औचित्य आदि	(शोभा, चारुता, रुचिरता)	सौन्दर्यानुभूति

'सौन्दर्य क्या है ?—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि विभिन्न भारतीय मत अप्रत्यक्ष रूप में सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, किन्तु इससे एक नया प्रश्न उपस्थित होता है कि सौन्दर्य क्या है ? पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र के आचार्यों ने भी न केवल काव्य, अपितु सभी ललित कलाओं के प्रमुख तत्व के रूप में सौन्दर्य को मान्यता प्रदान की है, किन्तु सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में वे भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये हैं। फिर भी यदि सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाय तो एक बात स्पष्ट है कि सौन्दर्य किसी भी वस्तु का वह गुण है, जो हमें आकर्षित करता है। विभिन्न वस्तुओं के आकर्षण व विकर्षण की क्षमता को ही व्यावहारिक क्षेत्र में सौन्दर्य एवं असौन्दर्य का नाम दिया जाता है। 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग भी हम अभिधात्मक एवं लक्षणात्मक संकीर्ण एवं व्यापक—अर्थों में करते हैं। अपने अभिधात्मक या संकीर्ण अर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध किसी भी वस्तु के बाह्य आकार रूप एवं रंग आदि ऐसे स्थूल गुणों से है जिनका बोध केवल चक्षुओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगन्ध एवं दुर्गन्ध का अनुभव केवल घ्राणेन्द्रिय से ही किया जा सकता है, उसी प्रकार सुन्दर एवं असुन्दर का निर्णय चक्षुरिन्द्रिय से किया जा सकता है। इस प्रकार अभिधात्मक अर्थ में सौन्दर्य वस्तु के उस गुण का नाम है, जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को आकर्षित करता है। नेत्रों के इसी आकर्षण को कवियों ने बार-बार सौन्दर्य-लोलुपता कहा है। लाक्षणिक या व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तुओं के केवल बाह्य रूप-रंग से ही नहीं है, अपितु उसकी उन सूक्ष्म विशेषताओं से भी है जिनका अनुभव चक्षुरिन्द्रिय की सहायता के बिना भी किया जा सकता है। यथा—'वह बहुत सुन्दर गाती है !' गीत की मधुरता का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, चक्षुओं से नहीं, फिर भी यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है। काव्य-कला के क्षेत्र में भी सौन्दर्य का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक रूप में किया गया है। काव्य-कला के क्षेत्र में भी सौन्दर्य का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक रूप में होता है क्योंकि काव्यगत वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष न देखकर कल्पना के माध्यम से ही देखते हैं। इस प्रकार व्यापक अर्थ में सौन्दर्य, आकर्षण-शक्ति का ही दूसरा नाम है।

किसी भी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति का वाह्य रूप-रंग, स्थूल चेष्टाएँ, उनकी कोई भी आन्तरिक विशेषता जो हमारी इन्द्रियों को मन या बुद्धि को आकर्षित कर ले—सौन्दर्य है। अस्तु, सौन्दर्य—आकर्षित करने की क्षमता या आकर्षण-शक्ति ही है।

आकर्षण शक्ति सिद्धांत – उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति सौन्दर्य या आकर्षण-शक्ति है। वस्तुतः साहित्य के प्रसंग में सौन्दर्य का प्रयोग अभिधात्मक अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में ही होता है, अतः अपने विवेचन को अधिक स्पष्ट, एवं प्रामाणिक बनाने के लिए 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग अधिक संगत है। समय-समय पर भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यकार एवं आलोचक साहित्य-चर्चा के प्रसंग में 'आकर्षण' एवं 'आकर्षण-शक्ति' का उल्लेख भी प्रायः करते रहे हैं जिससे उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। भारती० आचार्यों में भामह,[1] दंडी[2] रुय्यक,[3] रामचन्द्रशुक्ल,[4] डा० श्यामसुन्दरदास,[5] डाय गुनाबराय,[6] डा०हजारी प्रसाद द्विवेदी,[7] डा० नगेन्द्र[8] सुमित्रानन्दन,[9] प्रभृति ने तथा, पाश्चात्य लेखकों में लोंजाइनस,[10] होरेस,[11] दमित्रियस,[12] क्विण्टिलियन,[13]

---

१. "शब्द-रचना की चतुराई जितनी 'चित्ताकर्षक होती है उतनी अर्थालंकार नहीं।' (भामह)।

२. "विषय वस्तु की रूप-संपत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य रसिकों के चित्त को 'आकृष्ट' कर लेता है।" (दंडी)

३. "···वाक्य का अर्थभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवन है, यही पक्ष सहृदय पुरुषों का 'आकर्षण' है।" (रुय्यक)

४. "इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत 'आकर्षित' करता था।" (रामचन्द्र शुक्ल)

५ 'अलंकार का प्रयोजन अंग विशेष को अधिक 'आकर्षक' बना देता है···।' (डाक्टर श्यामसुन्दरदास)

६. 'कबीर के प्रति रवीन्द्रनाथ के 'आकर्षण' के कई कारण थे···" (डा० गुलाब राय)

७. "···प्रसाद के नाटकों के 'आकर्षण तत्व हैं।" (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)

८. "···काव्य में घटना हमको निश्चय ही 'आकृष्ट' करती है।···किन्तु इस 'आकर्षण का रहस्य घटना की क्रिया प्रतिक्रिया में न होकर उसमें निहित मानव तत्व एवं भाव में होता है।" (डा० नगेन्द्र)

९. "···कविता की भाषा का प्रमाण राग है। 'राग' का अर्थ है 'आकर्षण': यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं।" (सुमित्रानन्दन पंत)

१०. 'पाठक कुछ तो घटनाओं के चयन से 'आकर्षित' होता है और कुछ उनके पारस्परिक संघटन कौशल से।' (लोंजाइनस)

११. 'कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं, वे 'आकर्षक' भी होनी चाहिए--उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच लें।" (होरेस)

१२ "प्रायः विषय वस्तु 'आकर्षणहीन' और विकर्षक होती है, किन्तु लेखक उसे अपनी चारुता का स्पर्श प्रदान करता है।" (दमित्रियस)

१३. "अलंकारों की सबसे बड़ी शक्ति अभिभाषण को 'आकर्षण' युक्त बना देना है।" (क्विण्टिलियन)

पोप, कोलरिज, मैथ्यू आर्नल्ड, अलेक्जेंडर आदि ने साहित्य-विवेचन के प्रसंग में आकर्षण शक्ति का उल्लेख करते हुए इसके अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है, पर यह विचित्र बात है कि अब तक किसी ने न तो इस काव्य-गत आकर्षण-शक्ति के रहस्य को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया और न ही 'आकर्षण-शक्ति' जैसा सिद्धान्त स्थापित किया। बिना किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त के ही आकर्षण-शक्ति की चर्चा होना इस बात का प्रमाण है कि यह एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक तत्त्व है जिसे बिना किसी प्रचार के मान्यता प्राप्त है। पर साहित्य की मूल शक्ति को और अधिक स्पष्टता एवं गंभीरता से समझने के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर इसे सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप दिया जा सकता है। वस्तुतः 'साहित्य-विज्ञान' में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने ऐसा ही करने का प्रयास किया है—यहाँ उसी के आधार पर संक्षेप में इस सिद्धान्त का परिचय दिया जाता है।

आकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक आधार—अब तक साहित्य के जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी थी, वे मूलतः दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित थे, क्योंकि प्राचीन युग में दर्शन को ही प्रमाण माना जाता था, किन्तु आधुनिक युग विज्ञान का है, अतः इस युग में किसी भी सिद्धान्त को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उसे दर्शन के स्थान पर विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित किए जाने की आवश्यकता है। आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त भी आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों में दो आधारभूत तत्त्वों का अस्तित्व है—द्रव्य (matter) और शक्ति (Energy)। ये दोनों तत्त्व भी मूलतः एक हैं क्योंकि समस्त द्रव्य का रूपान्तर शक्ति में तथा शक्ति का रूपान्तर द्रव्य में होता रहता है। अस्तु; मूलतत्त्व शक्ति ही है। यह शक्ति ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है तथा समय-समय पर विभिन्न तत्त्वों, एवं पदार्थों के रूप में अपना रूपान्तर करती रहती है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त शक्ति को न तो घटाया जा सकता है, न बढ़ाया जा सकता है और न ही उसे नष्ट किया जा सकता है—अतः यह अनन्त, अक्षय और अमर है। इस शक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। इसी को हम 'जागृत' एवं 'सुप्त' रूप कह सकते हैं। जब भी शक्ति जागृत एवं सक्रिय होती है तो यह एक साथ दो रूपों में कार्य करती है—आकर्षण एवं विकर्षण। एक दिशा का विकर्षण ही दूसरी दिशा में आकर्षण है, अतः संक्षेप में शक्ति के इसी सक्रिय रूपों को आकर्षण शक्ति भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

ब्रह्माण्ड में व्याप्त यह आकर्षण-शक्ति अलग-अलग क्षेत्रों, स्तरों व माध्यमों में अलग-अलग रूपों में कार्य करती है जिससे इस एक शक्ति को अनेक नाम दिये जाते हैं—यथा-गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक-शक्ति, विद्युत्-शक्ति, आणविक शक्ति, यौनाकर्षण-शक्ति, मानसिक शक्ति आदि। क्षेत्र और माध्यम का अन्तर होते हुए भी ये सभी शक्तियाँ मूलतः एक हैं इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान ने स्वीकार किया है क्योंकि एक रूप का परिवर्तन दूसरे रूप में होना संभव है। दूसरे, ये सभी शक्तियाँ आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है तथा इनकी प्रवृत्तियाँ समान हैं। हमने भौतिक

विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर शक्ति के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद आकर्षण-शक्ति की आठ ऐसी प्रवृत्तियों का अनुसंधान किया है जो शक्ति के प्रायः सभी रूपों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होती हैं। वे ये हैं – (१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है। (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें धनात्मक (Positive), ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) तत्त्वों की संज्ञा दी जा सकती है। (३) शक्ति के धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर आकर्षण रहता है – जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। (४) शक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—जागृत एवं सुपुप्त। जागृत अवस्था में शक्ति कार्य करती है और सुपुप्त में निष्क्रिय हो जाती है। शक्ति के जब धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर संतुलन या साम्य रहता है तो शक्ति निष्क्रिय रहती है जबकि इस सन्तुलन के भंग हो जाने पर शक्ति जागृत एवं सक्रिय हो जाती है। (५) सक्रिय हो जाने के बाद शक्ति चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती हैं—संपर्क-स्थापना या संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति। (६) आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है, एक स्तर पर कार्य करने वाला रूप दूसरे स्तर के लिए प्रायः अनुपयोगी हो जाता है। (७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आवर्तन-परिवर्तन के रूप में आगे बढ़ती है। (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से सन्तुलन की ओर अग्रसर होने का रहता है।

आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की शक्ति में भी उपलब्ध होती हैं—इसका स्पष्टीकरण 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' में विस्तार से किया गया है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति—जैसा कि पीछे कहा गया है, साहित्य की आकर्षण-शक्ति विश्व में व्याप्त शक्ति का ही एक रूप हैं। शक्ति के अन्य रूपों से वह क्षेत्र, स्तर एवं माध्यम की दृष्टि से ही पृथक् है, किन्तु उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ वे ही हैं जो सामान्य रूप में शक्ति में अन्य रूपों में मिलती है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विभिन्न भौतिक पदार्थों से उनमें निहित शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी विभिन्न मानसिक तत्त्वों की शक्ति को जगा कर उसे एक ऐसा माध्यम या रूप प्रदान करता है जिसे हम साहित्य कहते हैं। साहित्यकार का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है तथा उसका माध्यम भाषा का होता है अतः उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त सूक्ष्म एवं अदृश्य होती है। कलाकार के मन में जो कुछ घटित होता है, उसे हम रसायन-शाला के प्रयोगो की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख पाते, पर उसकी आन्तरिक प्रक्रिया बहुत-कुछ शक्ति के बाह्य एवं स्थूल रूपों के अनुरूप ही होती है।

साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त द्रव्य को भी मुख्यतः तीन तत्त्वों में विभक्त किया जाता है—(१) भाव (२) विचार (३) कल्पना। ये तत्त्व क्रमशः, धनात्मक, ऋणात्मक एवं उभयात्मक कोटि के कहे जा सकते हैं। साहित्य की आकर्षण-शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों का सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कल्पना-

शक्ति का आश्रय भी अपेक्षित है। भावों और विचारों का सम्पर्क तो सामान्य जीवन में भी रहता है, किन्तु कला और साहित्य में कल्पना की शक्ति सर्वाधिक सक्रिय रहती है जिससे कटु भाव और शुष्क विचार भी आकर्षण बन जाते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि साहित्य में कोरे भाव, कोरे विचार या कोरी कल्पना-शक्ति से आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति सम्भव नहीं, अपितु इनमें से एक का दूसरे के साथ सम्पर्क एवं सहयोग अपेक्षित है क्योंकि आकर्षण-शक्ति की यह प्रकृति है कि वह विरोधी तत्वों के सम्पर्क से ही उद्दीप्त होती है। उदाहरण के लिए काले रंग और पीले रंग में या सफेद और नीले में परस्पर विरोध है, अतः चित्रकार इन विरोधी रंगों के सम्पर्क से ही आकर्षण की उद्दीप्ति करता है। यही बात साहित्य की शक्ति पर लागू होती है।

सभी रचनाओं में भाव, विचार और कल्पना की मात्रा समान नहीं होती, किसी में भाव की प्रमुखता होती है तो किसी में विचार की और किसी में कल्पना की तथा शेष दो तत्त्व गौण रूप में होते हैं। इस भेद के कारण साहित्य की आकर्षण शक्ति के भी तीन भेद हो जाते हैं भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण और कल्पनात्मक आकर्षण (या रूपात्मक आकर्षण)। यहाँ क्रमशः तीनों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

(क) भावात्मक आकर्षण—

वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छवि
    वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनंद-निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की,
    सुधि सब भाँतिन सों बेसुध करति है।

—घनानन्द

या—

राति न सुहात, ना सुहात परभात आली,
    जब मन लागि जात, काहू निरमोही सों।

—पद्माकर

(ख) बौद्धिक आकर्षण—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पै परत निसान॥

या—

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय।

(ग) कलात्मक आकर्षण—

माली आवत देखि के कलियां करें पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये काल्हि हमारी बार॥

—कबीर

या—

मृग-मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,

रुद्ध हृदय के पट लता कर,
गर्वित कहता "मैं मधु हूँ मुझसे
क्या पतझड़ का नाता ॥

—महादेवी

उपर्युक्त अंशों में क्रमशः भाव, विचार एवं कल्पना की प्रधानता के कारण आकर्षण की उद्दीप्ति हुई है। साहित्य की विषय-वस्तु में इन तीन तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता के कारण उसकी भाषा-शक्ति में भी अन्तर आ जाता है। जब विचार की प्रमुखता होती है तो वह रचना अभिधात्मक, भाव की प्रमुखता होने पर लाक्षणिक तथा कल्पना की प्रमुखता होने पर व्यंग्यात्मक हो जाती है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति साहित्यकार और पाठक के मन में क्रमशः चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है—(१) संयोजन (२) संप्रेषण (३) द्रवण और (४) अभिव्यक्ति। आकर्षण-शक्ति के कारण ही कवि और पाठक की सर्वप्रथम विषय-वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है जिससे उनका विषय के साथ सम्पर्क-स्थापन या संयोजन होता है, तदनन्तर विषय के साथ तादात्म्य स्थापित होता है जिसे संप्रेषण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। संप्रेषण के अनन्तर क्रमशः द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं जिनके द्वारा साहित्यकार एवं पाठक की अन्तश्चेतना द्रवित होकर व्यक्त होने लगती है। साहित्यकार में यह अभिव्यक्ति जहाँ रचना के रूप में होती है, वहाँ पाठक में हर्ष, उल्लास एवं आनन्द की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस प्रकार ये चारों प्रक्रियाएँ क्रमशः पहले साहित्यकार के मन में तथा फिर पाठक के मन में सम्पादित होती हैं। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यशास्त्र का साधारण करण, तादात्म्य विवेचन, सम्प्रेषण, अभिव्यंजना आदि की क्रियाएँ इन्हीं चारों प्रक्रियाओं के विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार साहित्य की साहित्यिकता का मूल आधार साहित्यकार द्वारा उद्दीप्त आकर्षण-शक्ति ही है। अन्य सिद्धान्तों के साथ भी इस सिद्धान्त का मेल हो जाता है। रस वस्तुतः आकर्षण की ही व्यापक एवं गंभीर अनुभूति है तो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि आकर्षण की उद्दीप्ति के ही विभिन्न साधन हैं। वस्तुतः यही आकर्षण-शक्ति काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति है। पाश्चात्य आचार्य होरेस ने ठीक कहा था—"काव्य का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं है, वह आकर्षक भी होना चाहिए—उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच सके।"

: चार :

साहित्य में कल्पना और बिम्ब

प्राचीन युग में साहित्य-मीमांसकों का ध्यान कल्पना-शक्ति की ओर बहुत कम गया था जिससे वे काव्य-सर्जन की प्रक्रिया की यथोचित मीमांसा में असफल रहे। एक वर्ग ने यदि कवि की रचना-शक्ति को अनुकरण की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करते हुए उसे मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करनेवाला घोषित कर दिया, तो दूसरे वर्ग ने काव्य-सृजन की प्रक्रिया को किसी दिव्य शक्ति या दैवी प्रेरणा पर आधारित मानकर कवि को ईश्वर का प्रतिनिधि सिद्ध कर दिया। वस्तुतः ये दोनों ही मत अतिवादी थे तथा वास्तविकता से दूर थे, जबकि काव्य-प्रतिभा न तो शुद्ध अनुकृति पर आधारित है, न ही उसमें कोई दैवी शक्ति है। वस्तुतः उसका मूलाधार कवि की उस मानसिक शक्ति में निहित है, जो कि अप्रत्यक्ष में, प्रत्यक्ष को, अतीत को वर्तमान में स्थूल को सूक्ष्म में और असुन्दर को सुन्दर में परिणत कर देने की क्षमता से युक्त है। इसी शक्ति को मनोविज्ञान में 'कल्पना' के नाम से पुकारा जाता है। यह कल्पना न तो शिक्षा-दीक्षा एवं पूर्वाभ्यास पर आधारित है और न इसके पीछे किसी दैवी शक्ति का हाथ है—वस्तुतः यह मानव की एक प्राकृतिक मानसिक शक्ति है, जो कि न्यूनाधिक मात्रा में सभी में होती है; किन्तु कवि में यह अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में होती है, इसी से वह काव्य-रचना में सफल होता है।

कल्पना : स्वरूप मीमांसा—कल्पना एक मानसिक तत्त्व है, अतः उसके सम्बन्ध में साहित्यिक दृष्टि से विचार करने से पूर्व मनोविज्ञान के आधार पर उसका स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए। सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता मैक्डूगल महोदय ने कल्पना की परिभाषा करते हुए कहा है—'अप्रत्यक्ष वस्तुओं से सम्बन्धित चिन्तन-मनन ही कल्पना है।' *वुडवर्थ महोदय के विचारानुसार कल्पना 'एक मानसिक कौशल है।'* एक अन्य लेखक ने कल्पना की परिभाषा करते हुए लिखा है—'कल्पना अपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है, जो कि पूर्व-अनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है।' इसी प्रकार जे० पी० सार्त्र ने अपने कल्पना-सम्बन्धी ग्रन्थ में इसके चार प्रमुख लक्षण बताये हैं—(१) उसका सम्बन्ध चेतना से होता है। (२) उसमें अर्द्ध निरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। (३) उसका आलम्बन शून्य या सत्ताहीन होता है। (४) वह स्वच्छन्द होती है। इन परिभाषाओं एवं लक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जो व्यक्ति के पूर्व-अनुभवों के

आधार पर अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म एवं नूतन वस्तुओं या विचारों का आविष्कार, निर्माण या पुनर्निर्माण करती है। अतीत के अनुभव हमारे मन में बिम्ब रूप में संचित होते हैं, उन्हीं बिम्बों का परस्पर जोड़-तोड़ करके वह नये रूपों का निर्माण करती है। यद्यपि कल्पना इच्छा-प्रेरित होती है, पर बुद्धि का अंकुश वह बहुत कम स्वीकार करती है—यह दूसरी बात है कि वह अपने पीछे बुद्धि को भी ले चले—इसलिए वह स्वच्छन्द कही जा सकती है। जब कल्पना बुद्धि के ही नेतृत्व एवं नियंत्रण में कार्य करने लगती है तो उसी स्थिति में उसे कल्पना न कहकर चिन्तन या मौलिक चिन्तन कहा जाता है। जब वही कल्पना भावानुभूतियों से प्रेरित होकर भाषा के माध्यम से कार्य करती है तो वह उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियों के सर्जन में सक्षम होती है। इस प्रकार कल्पना ही वह मूल शक्ति है, जो जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में नूतन विचारों, नयी वस्तुओं एवं नये क्रिया-कलापों का आविष्कार करती है।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किए हैं। मूलतः कल्पना के दो भेद माने जाते हैं—(१) ग्रहणात्मक (Receptive) और (२) सर्जनात्मक (Creative)। ग्रहणात्मक कल्पना से हम अप्रत्यक्ष वस्तु के वर्णन के आधार पर उसका बोध प्राप्त करते हैं, जबकि सर्जनात्मक कल्पना द्वारा स्वयं नयी वस्तु का निर्माण करते हैं। सर्जनात्मक कल्पना के भी दो भेद किए गये हैं—(१) व्यवहारोन्मुख (Pragmatic) और (२) सौन्दर्योन्मुख। इनमें से प्रथम का उपयोग जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में, नयी योजनाओं के निर्माण में एवं नूतन विचारों व सिद्धान्तों की स्थापना में होता है, जबकि दूसरी—सौन्दर्योन्मुख—का उपयोग कलाकृतियों के और दिवा-स्वप्नों के निर्माण में होता है। वस्तुतः साहित्य-रचयिता का सम्बन्ध कल्पना के इसी दूसरे भेद से है।

साहित्य में कल्पना-शक्ति—साहित्य में कल्पना-शक्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा का श्रेय सबसे अधिक स्वच्छन्दतावादी कवियों को है। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के प्रवर्त्तकों ने परम्परागत अनुकृति-सिद्धान्त के स्थान पर कल्पना-शक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए उसे काव्य का सर्वोपरि तत्व घोषित किया। एस० टी० कोलरिज ने अपने ग्रन्थ *'बायग्राफिया लिट्रेरिया'* (*साहित्य की जीवन-कथा*) में कल्पना-शक्ति का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपना निर्णय इन शब्दों में दिया—Finally, good sense is the body of poetic genius, fancy its drapery, motion its life and imagination the soul that is everywhere and in each, and forms all into one graceful and intelligent whole," अर्थात् 'अन्ततोगत्वा, विवेक-शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, अनुमान शक्ति उसका वस्त्र, भावावेग उसका जीवन है तथा कल्पना-शक्ति ही वह आत्मा है, जो कि (प्रत्येक काव्य में) सर्वत्र होती है तथा समस्त तत्वों को एक सुन्दर एवं बोध-गम्य रूप प्रदान कर देती है।'

साहित्य में कल्पना-शक्ति कई कार्य करती है, जिन्हें मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण। साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री या वस्तु का उपयोग अपनी रचना में करता है, वह प्रायः उसके अवचेतन एवं अचेतन मन में विभिन्न अनुभूतियों, संस्कारों, बिम्बों एवं धारणाओं के रूप में विद्यमान रहती है जिसे स्मृति एवं कल्पना की सहायता से चेतन स्तर पर लाया जाता है। पर स्मृतियाँ वस्तु को मूलरूप में ही पुनरुत्पादित करती हैं जिससे उसमें रूपगत नवीनता एवं साहित्यिक आकर्षण का आविर्भाव नहीं हो पाता, जबकि कल्पना उसे नूतन एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत करती है। इसलिए कल्पना द्वारा प्रस्तुत विषय ही काव्यात्मक शक्ति से युक्त हो पाता है। (२) कल्पना का दूसरा कार्य—द्रव्य या विषय-वस्तु का विस्तार करना है। इसी से वस्तु विस्तृत, स्पष्ट एवं अनुभूतिगम्य रूप प्राप्त करती है। (३) नये द्रव्य का आविर्भाव या नयी वस्तु की कल्पना करना भी कल्पना-शक्ति का तीसरा कार्य है। इसी से साहित्यकार नयी घटनाओं एवं नूतन पात्रों की सृष्टि करता है। (४) द्रव्य या विषय-वस्तु को अनुभूतिगम्य बनाना कल्पना का चौथा कार्य है। कल्पना अपनी वस्तु को बिम्बों या सजीव चित्रों के रूप में प्रस्तुत करती है, इससे वे सहज ही पाठक के लिए अनुभूति-गम्य हो जाते हैं। (५) देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति—यह कल्पना का पाँचवाँ या अन्तिम कार्य है। दैनिक में हम अपने अनुभव दूसरे व्यक्तियों को सुनाते हैं, पर फिर भी वे सामान्य श्रोता को आकर्षित नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि वहाँ हमारा अनुभव देश-काल की सीमाओं में बँधा हुआ तथा वैयक्तिकता से ग्रस्त होता है जिससे उसका साधारणीकरण या समाजीकरण नहीं हो पाता जबकि कला में वस्तु के पूर्ण प्रभावोत्पादक एवं सम्यक् आस्वादन के लिए उसका साधारणी-करण अपेक्षित है। वस्तुतः वस्तु का वैयक्तिक व देश-काल की सीमाओं से मुक्त हो जाना ही साधारणीकरण है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री इन सीमाओं से मुक्त हो जाती है—अतः वह काव्य के साधारणीकरण में योग देती है। भारतीय आचार्यों के अनुसार साधारणीकरण ही काव्य की वह प्रक्रिया है, जो काव्यास्वादन के चरम लक्ष्य की पूर्ति का साधन है इस दृष्टि से कल्पना के इस कार्य का महत्व बहुत अधिक है।

कल्पना और बिम्ब— कल्पना साहित्य में कई प्रकार के कार्य करती है, उनमें एक कार्य सूक्ष्म विचार को स्थूल बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करने का भी है। यद्यपि स्वच्छन्द-तावादी कवियों ने कल्पना को ही सर्वाधिक महत्व दिया था, किन्तु परवर्ती युग में कल्पना की अपेक्षा बिम्ब को अधिक महत्व दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शती के उत्त-रार्द्ध में अंग्रेजी कविता में अनेक ऐसे आन्दोलनों का प्रवर्तन हुआ जिन्होंने बिम्ब-

१. कल्पना के इन क्रिया-व्यापारों के स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य 'साहित्य विज्ञान' का द्वितीय खण्ड—'साहित्य के तत्व।'

विधान को ही कवि-कर्म का लक्ष्य घोषित करते हुए उसका घोर समर्थन किया। वस्तुतः विम्ब-विधान के समर्थकों ने एक प्रकार से 'विम्बवाद' की ही स्थापना करते हुए बिम्ब की ऐसी विस्तृत एवं व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार काव्य का सब-कुछ विम्ब में ही समाविष्ट हो जाता है। वस्तुतः काव्य-शास्त्रियों की यह दुर्बलता सदा से रही है कि वे एक सिद्धांत को इतना विस्तार दे देते हैं कि वह अपनी मूल सीमाओं से भी आगे बढ़कर विकृत हो जाता है। यही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया और यही बिम्बवादी कर रहे हैं। अस्तु, हमारे विचार में बिम्ब-विधान श्रेयस्कर होते हुए भी बिम्बवाद की कट्टर एवं अंध-धारणाएँ ग्राह्य नहीं हैं। यहाँ हम बिम्ब सिद्धांत को उसके सीमित एवं संतुलित रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके पक्षों का परिचय देने का प्रयास करेंगे।

'बिम्ब' क्या है?—शाब्दिक दृष्टि से 'विम्ब' (image) का अर्थ है—प्रतिमा, आकृति, रूप, चित्र आदि। मनोविज्ञान के अनुसार जब हम इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत् की विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं. तो उनका प्रतिबिम्ब या चित्र हमारे मन में अंकित हो जाता है तथा ये प्रतिविम्ब ही समय-समय पर हमारी वासना, संस्कार, स्मृति, भावना, आदि को जागृत करने का कार्य करते हैं। ये बिम्ब एक प्रकार से वंचित अनुभूतियों के रूप में हमारे अवचेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, पर समय-समय पर स्मृति एवं कल्पना की सहायता से पुनः हमारे चेतन स्तर पर उदित होकर हमें भाँति-भाँति के बोध प्रदान करते हैं। कवि या कलाकार इन्हीं विम्बों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है, जिन्हें ग्रहण करते हुए पाठक या दर्शक सामाजिक विषय का बोध प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में विम्ब ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रतिविम्ब है, जो कि मन में अंकित हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से विम्ब की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। सी० डी० लेविस महोदय ने विम्ब के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन करते हुए कहा है—काव्यात्मक विम्ब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्र है, जिसका किसी न किसी प्रकार के ऐन्द्रिक गुण से सम्पर्क हो।'[1] राबिन स्कैल्टन के विचारानुसार 'विम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।[2] इसी प्रकार डा० नगेन्द्र के मत से 'काव्य-विम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानव-छवि है, जिसमें मूल भाव की प्रेरणा रहती है।'

काव्य-विम्ब या काव्यगत विम्ब के स्वरूप के सम्यक् बोध के लिए उसके पाँच लक्षणों पर भी विचार किया जा सकता है। काव्य-विम्ब का पहला लक्षण है—चित्रात्मकता। इससे आशय यह कि जिस प्रकार चित्र में वस्तु का प्रतिविम्ब होता है, उसी प्रकार विम्ब में भी उसका ऐसा प्रतिविम्ब होता है जो पाठक के मन में उस वस्तु

---

१. बिम्ब सिद्धान्त के परिचय के लिये द्रष्टव्य - डा० नगेन्द्र कृत 'काव्य बिम्ब'।

की अनुभूति जगा सके। दूसरा लक्षण शब्दात्मकता है—अर्थात् काव्य में बिम्ब चित्र की भाँति रेखाओं में नहीं, अपितु शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। तीसरा लक्षण ऐन्द्रिकता है—जिसका अर्थ है कि वह चित्र केवल स्थूल वस्तु का ही प्रतिबिम्ब न हो, अपितु उसका सम्बन्ध ऐन्द्रियबोध से भी होना चाहिए या यों कहिए कि उसमें हमारी इन्द्रियों को गुदगुदा देने की क्षमता होनी चाहिए। चौथा लक्षण भावोत्पादकता है अर्थात् काव्य-बिम्ब में भावोत्पादन की क्षमता का होना अनिवार्य है। पाँचवें लक्षण के अनुसार उसमें आरोपण का अभाव होना चाहिए अर्थात् वह अलंकारों की भाँति मूल वस्तु पर ऊपर से या बाहर से आरोपित नहीं होना चाहिए, उसका वस्तु से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए, अन्यथा बिम्ब और अलंकार में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

काव्य-बिम्ब के विभिन्न आचार्यों ने भेदोपभेद भी किए हैं तथा पश्चिम के कुछ विद्वानों ने तो इसे इतना विस्तार दे दिया है कि उसमें काव्य की प्रत्येक वस्तु बिम्ब में ही आ जाती है। हिन्दी के विद्वानों ने भी प्रायः उन्हीं का अनुसरण किया है जो ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद का विषय यह है कि क्या बिम्ब चाक्षुष अनुभूति से ही सम्बद्ध है अथवा अन्य इन्द्रियों से भी। पश्चिम के अनेक मीमांसकों ने बिम्ब का सम्बन्ध प्रायः सभी प्रकार की ऐन्द्रियानुभूतियों से माना है, पर हमारे विचार में यह मान्यता बिम्ब के मूल स्वरूप के प्रतिकूल है। एक ओर वे बिम्ब को वस्तु का प्रतिरूप या चित्र मानते हैं, तो दूसरी ओर उसे श्रवणेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय से भी सम्बन्धित मानते हैं—यह परस्पर-विरोधी वस्तु है। गुलाब के फूल का बिम्ब हमारे मन में अंकित हो सकता है, पर उसकी सुगन्ध का चित्र कैसे सम्भव है? गानेवाली का इमेज हमारे मन में उभर सकता है, पर उसके स्वर-माधुर्य का प्रभाव बिम्ब रूप में कैसे अंकित हो सकता है? वस्तुतः जहाँ चाक्षुष अनुभूतियाँ बिम्ब रूप में अंकित होती हैं, वहाँ घ्राणेन्द्रियों एवं श्रवणेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सूक्ष्म एवं अगोचर गुणों की अनुभूतियाँ हमारे मन में 'संस्कार' रूप में ही विद्यमान रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गन्ध एवं ध्वनि का बिम्ब नहीं, संस्कार मात्र अंकित होता है, क्योंकि इनका बिम्ब या चित्र सम्भव ही नहीं। ऐसी स्थिति में गंध या ध्वनि के चित्र (बिम्ब) की बात करना या तो 'बिम्ब' शब्द का अनर्थ अथवा भाषा के साथ खिलवाड़ करना है। यदि बिम्ब के अन्तर्गत हम सभी अनुभूतियों को लेना चाहते हैं तो फिर हमें बिम्ब की परिभाषा में से 'चित्र', 'मूर्त्त', 'रूप', 'प्रतिबिम्ब' 'मूर्त्ति', आदि शब्दों को निकाल देना चाहिए। परिभाषा को ज्यों का त्यों रखते हुए भी बिम्ब से सभी अनुभूतियों को सम्बद्ध कर देना सर्वथा अवैज्ञानिक एवं असंगत प्रयोग है।

और यदि बिम्ब की परिभाषा को बदलते हुए प्रत्येक प्रकार के विचार, भाव या अनुभूति के अगोचर रूप के वर्णन को ही हम 'बिम्ब' संज्ञा देने लगें, तो फिर कविता में ही क्यों, हमारे मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को बिम्ब सिद्ध किया जा सकता है।

अस्तु, साहित्याचार्यों से हमारा निवेदन है कि शास्त्र-मीमांसा के समय भावुकता से नहीं, बौद्धिकता से काम लें तो अपने विवेचन के साथ अधिक न्याय करेंगे।

अतः बिम्ब के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत विभिन्न इन्द्रियों के आधार पर उन्हें घ्राणपरक, स्वादपरक, ध्वनिपरक, चाक्षुष आदि भेदों में विभाजित करना हमें मान्य हैं, क्योंकि विम्ब अपने-अपने सही अर्थ में केवल चाक्षुष होता है—अन्य भेद भ्रामक हैं। इनके अतिरिक्त भी विम्ब के अनेक भेद किए गये हैं; यथा—'सरल बिम्ब', 'तात्कालिक ब्रिम्व', 'विशृंखलिक विम्ब'' 'प्रतिमाशून्य विम्ब (Abstract Image)' रूपकात्मक विम्ब', 'आलंकारिक विम्ब', 'प्रतीकात्मक बिम्ब' आदि। ये भेद न केवल अनावश्यक हैं अपितु कहीं-कहीं तो विम्ब के मूल स्वरूप के प्रतिकूल भी हैं। यथा 'प्रतिमा-शून्य बिम्ब' लीजिए; यह ऐसा है जैसा कि कोई कहे कि 'मधुरताशून्य मिठाई' या 'लावण्यशून्य लवण'। जब बिम्ब का लक्षण ही प्रतिमायुक्त होना है तो उनका एक भेद प्रतिमाशून्य मानना स्वतोव्याघात दोष का उदाहरण प्रस्तुत करना है। इसी प्रकार विम्बों को रूपकों और अलंकारों से सम्बद्ध करके भी विम्ब, रूपक, अलंकार आदि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की सीमाओं के पार्थक्य को मिटाकर उन्हें घुला-मिला देने का प्रयास मात्र है।

बिम्ब और अलंकार—यद्यपि कुछ अलंकारों में बिम्बात्मकता का एवं कुछ विम्बों में आलंकारिकता का गुण दृष्टिगोचर होता है, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। विम्ब-योजना का लक्ष्य जहाँ केवल वस्तु के रूप-रंग को ही गोचर रूप में प्रस्तुत करते हुए उसको ऐन्द्रिक बोध प्रदान करना होता है, जबकि अलंकार का लक्ष्य प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का सादृश्य या वैषम्य प्रदर्शित करते हुए बौद्धिक चमत्कार उत्पन्न करना भी होता है। दूसरे, बिम्ब जहाँ केवल प्रस्तुत या उपमेय का ही बोध प्रदान करता है; वहाँ अलंकार में प्रस्तुत या उपमान का भी संयोग होता है। तीसरे, बिम्ब मूलतः स्वभावोक्ति पर आधारित होता है, जबकि अलंकार का आधार अतिशयोक्ति या अत्युक्ति या अत्युक्तिपूर्ण कथन होता है। दूसरे शब्दों में जहाँ बिम्ब वस्तु के प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है वहाँ अलंकार अप्रत्यक्ष का अन्य विषय के सहयोग से यह कार्य संपादित करता है—अतः इन दोनों के इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए दोनों को पृथक् सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण करना उचित होगा।

विम्ब और प्रतीक—विम्बवादियों ने 'प्रतीकात्मक बिम्ब' तथा प्रतीकवादियों ने 'बिम्बात्मक प्रतीक' जैसे भेदों की कल्पना करके एक दूसरे के क्षेत्र में अनुचित अधिकार करने का प्रयास किया है। वस्तुतः विम्ब और प्रतीक में गहरा अन्तर है—(१) बिम्ब में विषय-वस्तु का बोध प्रत्यक्ष एवं अभिधा में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि प्रतीक के मूल में लक्षणा एवं व्यंजना कार्य करती है। (२) बिम्ब में शब्दावली सदा एकार्थक होती है, जबकि प्रतीक में शब्दों के कम से कम दो अर्थ होते हैं—मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' में दीपक प्रतीक है, जिसके दो अर्थ हैं—दिया और जीवन। (३) बिम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है, जबकि प्रतीक वक्रता के द्वारा आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः

बिम्ब और प्रतीक प्रत्येक स्थिति में भिन्न कोटि के तत्त्वों पर आधारित सिद्धान्त सिद्ध होते हैं।

बिम्ब विधान की प्रक्रिया—डा० नगेन्द्र ने बिम्ब-रचना की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसके तीन सोपान निर्धारित किए हैं—(१) अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण (२) साधारणीकरण और (३) शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति। इन प्रक्रियाओं द्वारा कवि की सर्जन-प्रक्रिया का भी पता चलता है। कवि या साहित्यकार किसी भी अनुभूति के व्यावहारिक भोग के समय काव्य का सर्जन करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि उस समय वह अनुभूति में इतना तल्लीन रहता है कि उसमें ऊपर उठकर उसे तटस्थ रूप में नहीं देख पाता। जब आगे चलकर कवि की अनुभूति संस्कार-रूप में अवशिष्ट रहती है तो उसी स्थिति में वह उसे निर्वैयक्तिक रूप में प्रस्तुत कर पाता है। इस निर्वैयक्तीकरण की ही अगली अवस्था साधारणीकरण है—अर्थात् कवि की अनुभूति सबकी अनुभूति बनने योग्य हो जाती है। तीसरी स्थिति है—शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति। कवि की साधारणीकृत अनुभूति शब्दों में व्यक्त होती है। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने इन तीनों स्थितियों का विवेचन अत्यन्त मौलिक एवं सूक्ष्म रूप में किया है, पर एक स्थल पर हम उनसे सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं—लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूप-रेखाओं में रंग भरकर'''(कवि) बिम्ब को पूर्णता प्रदान करता है।' हमारे विचार में यह बात वक्रोक्ति एवं प्रतीक योजना पर तो लागू होती है, पर बिम्ब-योजना पर नहीं, क्योंकि बिम्ब के मूल में स्वाभावोक्ति एवं अभिधा-शक्ति ही कार्य करती है। सम्भवत: उन्होंने भी पाश्चात्य बिम्बवादियों की भाँति बिम्ब को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया है जिसके अनुसार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि सभी बिम्ब में आ जाते हैं। फिर भी यदि डा० नगेन्द्र बिम्ब और प्रतीक को भिन्न-भिन्न मानते हैं तो हमारा निवेदन है कि वे अपनी उपर्युक्त धारणा पर पुनर्विचार करें।

बिम्ब का काव्यात्मक मूल्य—जिस प्रकार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि का लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य या आकर्षण उत्पन्न करना है, उसी प्रकार बिम्ब-योजना का भी लक्ष्य यही है। बिम्ब-योजना में मूल वस्तु को ही इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जिससे वह हमारी कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करती हुई अनुभूतिगम्य हो सके। जहाँ बिम्ब-योजना से इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात् न तो वह हमारी कल्पना-शक्ति को ही उत्तेजित करती है और न ही भावानुभूति प्रदान करती है—वहाँ वह काव्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है। बिम्ब-योजना में यह शक्ति उसी स्थिति में आती है, जबकि एक तो वह भावानुभूति से प्रेरित हो तथा दूसरे, बिम्ब अपने आपमें पूर्ण हो। भावानुभूति से शून्य बिंब तथा खंडित बिंब काव्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि नहीं करते, यथा—बिहारी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥

यहाँ विरहिणी नायिका का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थूल

दृष्टि से बिम्ब के सभी बाह्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, पर फिर भी अनुभूति की यथार्थता के अभाव में वह काव्यात्मक दृष्टि से आकर्षण-शून्य है। दूसरी ओर यहाँ सफल बिम्ब-योजना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) भौंह उँचै आँचर उलटि, मौरि-मौरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, डीठि-डीठि सौं जोरि॥
(ख) बेंदी भाल, तमोल मुख, सीस सिलसिले बार।
दृग आंजे राजे खरी, बेई सहज सिंगार॥

यहाँ दोनों दोहों में अनुभूतिपूर्ण बिंब-योजना उपलब्ध होती है। वस्तुतः कल्पना यदि बिम्ब की उत्पादिका है तो अनुभूति उसकी संगिनी है—उसके अभाव से बिम्ब आकर्षणशून्य सिद्ध होता है। इसलिए कॉलरिज ने लिखा था—"Images however beautiful···do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by predominant passion; or by associated thoughts or images awakened by that passion अर्थात् बिम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों···वे अपने आपमें कवित्व के प्रमाण नहीं हैं। वे कवि की मौलिक प्रतिभा को उसी सीमा तक प्रमाणित करते हैं, जहाँ तक वे पूर्ववर्ती भावावेग के प्राबल्य से अनुप्राणित होते हैं या फिर तत्सम्बन्धित किसी विशेष विचार या भावावेग की अनुभूति को जगाते हैं। ऐसी स्थिति में बिम्ब को काव्य में भावानुभूति व्यंजना का एक माध्यम या साधन ही मानना उचित होगा, साध्य से परे साधन का कोई स्वतंत्र महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी, दुर्भाग्य से अनेक आधुनिक कवि शुष्क विचारों या दूरारूढ़ कल्पना के बल पर अनुभूतिशून्य बिम्बों के निर्माण में लगे हुए हैं, उनके बिम्ब काव्यानुभूति में सहयोग देने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो रहे हैं, फिर भी वे अपनी बिम्ब-योजना का गुण-गान करते नहीं अघाते। वस्तुतः बिम्ब-योजना की सफलता इसी में है कि वह स्व-प्रेरित एवं अनुभूति से अनुप्राणित हो, काव्य-वस्तु में वह ऊपर से आरोपित या चेष्टा-पूर्वक कल्पित प्रतीत न हो, अन्यथा यह काव्यत्व के लिए घातक सिद्ध होती है। ऐसे ही बिम्ब विधान की भर्त्सना करते हुए सी० डी लेविस ने उसे 'खण्डित', 'मृत' एवं 'निरर्थक' विशेषणों से भूषित किया है।

बिम्ब-विधान और रस सिद्धान्त- यदि बिम्ब-विधान पर रस सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो वह काव्य में स्थायी भाव के चित्रण का ही माध्यम सिद्ध होता है। स्थायी भाव एवं अन्य भावों का काव्य में उल्लेख एक प्रकार का काव्य-दोष माना जाता है, क्योंकि भावों का उल्लेख अनुभूति में सहायक सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि हम कहें कि 'परशुराम को लक्ष्मण पर क्रोध आ गया' तो यहाँ क्रोध की कोई अनुभूति नहीं होती, अतः क्रोध को अनुभाव एवं संचारी भावों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। बिम्ब-सिद्धान्त की शब्दावली में इसी बात को दोहराया जाय तो कहा जा सकता है कि काव्य में क्रोध का नामोल्लेख नहीं, अपितु उसका बिम्ब-विधान होना चाहिए। वस्तुतः स्थायी भाव एवं रस के विभिन्न अवयव—आलम्बन, आश्रय,

उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि—नाटक में तो साकार रूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर काव्य में तो उनका बिम्ब ही प्रस्तुत किया जाता है। बिहारी ने नायिका के हावों एवं अनुभावों को बिम्ब रूप में ही प्रस्तुत किया है, इस क्षेत्र में यही उनकी सफलता का रहस्य है।

रस और बिम्ब के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता का दूसरा प्रमाण यह है कि स्वयं बिम्बवादी आचार्यों ने भी बिम्ब को भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। कल्पना-सिद्धांत के घोर समर्थक कॉलरिज से लेकर काव्यात्मक बिम्ब के व्याख्याता सी० डी० लेविस तक विभिन्न आचार्यों ने बिम्ब और भाव के सहयोग को आवश्यक माना है। लेविस महोदय के अनुसार तो काव्यात्मक बिम्ब का लक्षण ही यही है कि वह भावावेग से अनुप्राणित हो। हिन्दी में रस-सिद्धांत के समर्थक आचार्य डा० नगेन्द्र द्वारा ही बिम्ब सिद्धांत की सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचना होना भी यही सिद्ध करता है कि ये सिद्धांत परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम यह कह सकते हैं कि काव्य में भावानुभूति का बिम्ब-रूप में प्रस्तुतीकरण ही रस-निष्पत्ति का आधार है? शायद यह प्रश्न उन व्यक्तियों को जो कि या तो भरत, दंडी, भामह की बात को ही वेद वाक्य मानते हैं या फिर पश्चिम के किसी भी सिद्धांत की तुलना में भारत के प्रत्येक विचार को अग्राह्य एवं निन्दनीय मानते हैं, अरुचिकर प्रतीत होगा। फिर भी यदि हम अपने चिन्तन को सन्तुलित एवं सर्वांगीण रूप देना चाहते हैं तो इस प्रकार के प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

●

: पाँच :

काव्य की मूल प्रेरणा और उसका प्रयोजन

साहित्य या काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन क्या है इन प्रश्नों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है, किन्तु फिर भी इनका कोई एक स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह है कि अधिकांश विद्वानों ने 'प्रेरणा' शब्द को ठीक अर्थ में ग्रहण नहीं किया, प्रायः उन्होंने 'प्रेरणा' और 'प्रयोजन को एक ही अर्थ में लेकर 'प्रेरणा' सम्बन्धी विवेचन को प्रयोजन सम्बन्धी बातों में उलझा दिया है। 'प्रेरणा' का सम्बन्ध उस व्यक्ति वस्तु, घटना या दृश्य से है, जो कवि को काव्य-विशेष की रचना में प्रवृत्त करता है, जबकि प्रयोजन से तात्पर्य काव्य-रचना के उद्देश्य या उससे प्राप्त होने वाले लाभ से है। 'प्रेरणा' से सम्बन्धित विषय की स्थिति काव्य-रचना से पूर्व रहती है; जबकि 'प्रयोजन' से सम्बन्ध रखने वाला पदार्थ काव्य-रचना के अनन्तर उपलब्ध होता है। कई बार प्रेरणा और प्रयोजन एकाकार भी हो जाते हैं। जब कवि का प्रेरणा-स्रोत कोई और न होकर उसकी रचना से होने वाले लाभ का विचार ही होता है तो वहाँ काव्य रचना का प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन—दोनों एक ही माने जाएँगे किन्तु इस विशेष परिस्थिति को छोड़कर अन्यत्र हमें इन दोनों के पारस्परिक अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि काव्य-प्रेरणा पर विचार करते समय कवियों, आलोचकों, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिकों की परस्पर-विरोधी बातों को बिना किसी क्रम या विश्लेषण के एकत्र-संकलित कर दिया गया है, इससे यह प्रश्न सुलझने के स्थान पर अधिक उलझता गया। तीसरे, कवियों और साहित्यकारों की व्यक्तिगत रुचि और देश के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोत में अन्तर आ जाता है। किंतु इसका भी हमारे विवेचकों ने विशेष ध्यान नहीं रखा। चौथे, काव्य के विभिन्न रूपों और उनकी शैली के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोतों में परस्पर अन्तर आ जाता है, अतः कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न प्रकार की रचनाओं के पीछे सर्वत्र एक जैसा ही प्रेरक तत्व ढूँढ़ना उचित नहीं, जबकि इस प्रश्न पर विचार करने वाले विद्वानों ने प्रायः इस तथ्य की उपेक्षा की है। अस्तु, काव्य की मूल प्रेरणाओं पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए हमें उपर्युक्त चारों असावधानियों से बचकर चलना चाहिए।

सबसे पूर्व हमें अपने कवियों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। आदिकवि वाल्मीकि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा क्रौंच-वध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। एकाकी पक्षी की शोक-विह्वल दशा देखकर कवि का हृदय

शोकानुभूति से उद्वेलित हो उठा और उनके मुँह से अनायास ही दो पंक्तियों का श्लोक उच्चरित हो गया। इस साक्ष्य के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं (१) प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। (२) शोकानुभूतियों से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों निष्कर्षों में से किसे अधिक महत्व दें। घटना को या अनुभूति को ? 'घटना' के अभाव में 'अनुभूति' का उद्रेक नहीं होता और बिना अनुभूति के उद्रेक के, घटना प्रभाव-शून्य सिद्ध होती है, अतः दोनों का ही महत्व है। जीवन में घटनाएँ तो बहुत कम होती हैं; किन्तु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करतीं कि जिससे काव्य-रचना की प्रेरणा मिले। इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्य-रचना की प्रेरणा प्रदान करती है।

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का प्रेरणा-स्रोत स्वयं कवि का प्रिया-विरह बतया जाता है, अतः यहाँ भी उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन होता है। गाथासप्तशतीकार ने अपने काव्य के आरम्भ में ही रसिक जनों को काम की शिक्षा देना अपनी काव्य-रचना का निमित्त माना है, जिसे हम प्रेरणा न कहकर 'उद्देश्य' मानना उचित समझते हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव ने भी हरिस्मरण और विलास-कला का औत्सुक्य शान्त करना अपने काव्य का लक्ष्य माना है, यह भी काव्य-प्रेरणा का कारण न होकर उसका प्रयोजन या लक्ष्य ही है।

हिन्दी के कवियों में विद्यापति का बहुत ऊँचा स्थान है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने रस-पूर्ण गीतों की रचना राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी की प्रेरणा से की थी और इस तथ्य का प्रमाण उनके गीतों की अंतिम पंक्ति में मिल भी जाता है—वे प्रायः अपने गीतों के अन्त में राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का प्रभाव भी उनसे सम्बन्धित कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकता है।

भक्ति-काल के कवियों का मूल प्रेरणा-स्रोत सामान्यतः उनके इष्टदेव का स्वरूप एवं चरित्र ही रहा है, किन्तु फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। तुलसी के लिए तो 'एक भरोसा, एक बल' और 'एक आस' उनका आराध्य देव ही रहा, किन्तु सूरदास की कविता-बाला को दैन्य और ग्लानि की पंकिल-भूमि में से निकालकर सौंदर्य, शृंगार और प्रेम की वाटिका में उपस्थित करने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य को ही है। प्रेम-दीवानी मीरा के गीतों का उद्गम स्रोत उनकी हृदय की प्रणय-वेदना का अजस्र प्रवाही स्रोत ही रहा है—"घायल की पीड़ा घायल जाणे" के स्वरों में घायल हृदय की छटपटाहट ही व्यंजित है ! जिस प्रकार पत्थर, लकड़ी या धातु पर चोट मारने से स्वतः ही एक ध्वनि निकल पड़ती है, कुछ वैसे ही विरह की चोट से कबीर, जायसी और मीरा के गान शत-शत स्वरों में फूट पड़े ! इन भक्त-कवियों में कुछ ऐसे भी है जिन्हें काव्य-प्रेरणा अपने मित्रों से प्राप्त हुई। नन्ददास ने

: पाँच :

काव्य की मूल प्रेरणा और उसका प्रयोजन

साहित्य या काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन क्या है — इन प्रश्नों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है, किन्तु फिर भी इनका कोई एक स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह है कि अधिकांश विद्वानों ने 'प्रेरणा' शब्द को ठीक अर्थ में ग्रहण नहीं किया, प्रायः उन्होंने 'प्रेरणा' और 'प्रयोजन को एक ही अर्थ में लेकर 'प्रेरणा' सम्बन्धी विवेचन को प्रयोजन सम्बन्धी बातों में उलझा दिया है। 'प्रेरणा' का सम्बन्ध उस व्यक्ति वस्तु, घटना या दृश्य से है, जो कवि को काव्य-विशेष की रचना में प्रवृत्त करता है, जबकि प्रयोजन से तात्पर्य काव्य-रचना के उद्देश्य या उससे प्राप्त होने वाले लाभ से है। 'प्रेरणा' से सम्बन्धित विषय की स्थिति काव्य-रचना से पूर्व रहती है; जबकि 'प्रयोजन' से सम्बन्ध रखने वाला पदार्थ काव्य-रचना के अनन्तर उपलब्ध होता है। कई बार प्रेरणा और प्रयोजन एकाकार भी हो जाते हैं। जब कवि का प्रेरणा-स्रोत कोई और न होकर उसकी रचना से होने वाले लाभ का विचार ही होता है तो वहाँ काव्य रचना का प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन—दोनों एक ही माने जाएँगे किन्तु इस विशेष परिस्थिति को छोड़कर अन्यत्र हमें इन दोनों के पारस्परिक अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि काव्य-प्रेरणा पर विचार करते समय कवियों, आलोचकों, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिकों की परस्पर-विरोधी बातों को बिना किसी क्रम या विश्लेषण के एकत्र-संकलित कर दिया गया है, इससे यह प्रश्न सुलझने के स्थान पर अधिक उलझता गया। तीसरे, कवियों और साहित्यकारों की व्यक्तिगत रुचि और देश के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोत में अन्तर आ जाता है। किंतु इसका भी हमारे विवेचकों ने विशेष ध्यान नहीं रखा। चौथे, काव्य के विभिन्न रूपों और उनकी शैली के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोतों में परस्पर अन्तर आ जाता है, अतः कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न प्रकार की रचनाओं के पीछे सर्वत्र एक जैसा ही प्रेरक तत्त्व ढूँढ़ना उचित नहीं, जबकि इस प्रश्न पर विचार करने वाले विद्वानों ने प्रायः इस तथ्य की उपेक्षा की है। अस्तु, काव्य की मूल प्रेरणाओं पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए हमें उपर्युक्त चारों असावधानियों से बचकर चलना चाहिए।

सबसे पूर्व हमें अपने कवियों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। आदिकवि वाल्मीकि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा क्रौंच-वध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। एकाकी पक्षी की शोक-विह्वल दशा देखकर कवि का हृदय

शोकानुभूति से उद्वेलित हो उठा और उनके मुंह से अनायास ही दो पंक्तियों का श्लोक उच्चरित हो गया। इस साक्ष्य के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं (१) प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। (२) शोकानुभूतियों से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों निष्कर्षों में से किसे अधिक महत्व दें। घटना को या अनुभूति को ? 'घटना' के अभाव में 'अनुभूति' का उद्रेक नहीं होता और बिना अनुभूति के उद्रेक के घटना प्रभाव-शून्य सिद्ध होती है, अतः दोनों का ही महत्व है। जीवन में घटनाएं तो बहुत कम होती हैं; किन्तु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करतीं कि जिससे काव्य-रचना की प्रेरणा मिले। इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्य-रचना की प्रेरणा प्रदान करती है।

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का प्रेरणा-स्रोत स्वयं कवि का प्रिया-विरह बतया जाता है, अतः यहाँ भी उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन होता है। गाथासप्तशतीकार ने अपने काव्य के आरम्भ में ही रसिक जनों को काम की शिक्षा देना अपनी काव्य-रचना का निमित्त माना है, जिसे हम प्रेरणा न कहकर 'उद्देश्य' मानना उचित समझते हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव ने भी हरिस्मरण और विलास-कला का औत्सुक्य शान्त करना अपने काव्य का लक्ष्य माना है, यह भी काव्य-प्रेरणा का कारण न होकर उसका प्रयोजन या लक्ष्य ही है।

हिन्दी के कवियों में विद्यापति का बहुत ऊँचा स्थान है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने रस-पूर्ण गीतों की रचना राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी की प्रेरणा से की थी और इस तथ्य का प्रमाण उनके गीतों की अंतिम पंक्ति में मिल भी जाता है—वे प्रायः अपने गीतों के अन्त में राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का प्रभाव भी उनसे सम्बन्धित कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकता है।

भक्ति-काल के कवियों का मूल प्रेरणा-स्रोत सामान्यतः उनके इष्टदेव का स्वरूप एवं चरित्र ही रहा है, किन्तु फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। तुलसी के लिए तो 'एक भरोसा, एक बल' और 'एक आस' उनका आराध्य देव ही रहा, किन्तु सूरदास की कविता-बाला को दैन्य और ग्लानि की पंकिल-भूमि में से निकालकर सौंदर्य, शृंगार और प्रेम की वाटिका में उपस्थित करने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य को ही है। प्रेम-दीवानी मीरा के गीतों का उद्गम स्रोत उनकी हृदय की प्रणय-वेदना का अजस्र प्रवाही स्रोत ही रहा है—"घायल की पीड़ा घायल जाणें" के स्वरों में घायल हृदय की छटपटाहट ही व्यंजित है ! जिस प्रकार पत्थर, लकड़ी या धातु पर चोट मारने से स्वतः ही एक ध्वनि निकल पड़ती है, कुछ वैसे ही विरह की चोट से कबीर, जायसी और मीरा के गान शत-शत स्वरों में फूट पड़े ! इन भक्त-कवियों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काव्य-प्रेरणा अपने मित्रों से प्राप्त हुई। नन्ददास ने

'रस-मंजरी की रचना का ऐसा ही कारण बताया है। इस प्रकार भक्त-कवियों के काव्य के आधार पर ये चार काव्य-प्रेरणाएँ सिद्ध होती हैं—(१) इष्टदेव या आराध्य का स्वरूप व चरित्र, (२) आचार्य या गुरु का निर्देशन, (३) भक्ति-भाव और प्रणय-वेदना' की अनुभूति और (४) मित्रों की जिज्ञासा।

रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य केशवदास ने 'कवि-प्रिया' की रचना अपनी प्रिय शिष्या प्रवीणराय पातुर की शिक्षा के लिए तथा 'रसिक-प्रिया' की रसिकों के लिए (रसिकन को रसिक प्रिया कीन्हीं केशवदास) की है। इन्हें काव्य-प्रेरणा न कहकर काव्य प्रयोजन के अन्तर्गत लेना चाहिए। किन्तु अधिकांश रीति-काल के मूल में आश्रय-दाता की शिक्षा, उसकी प्रसन्नता या उसके मनोरंजन का विचार ही प्रेरणा का कार्य करता रहा है, अतः इसे भी प्रेरणा का एक स्रोत मानना उचित होगा। किन्तु रीतिमुक्त शृंगारी कवियों ने अपनी प्रणयानुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की, जैसा कि घनानन्द ने लिखा है—'लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत!''

भारतेन्दु-युग के कवि प्रायः अपने समाज और राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं। भारतेन्दु जी की अनेक रचनाओं में देश की अधोगति का क्षोभ ही विभिन्न भावनाओं के रूप में व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार द्विवेदी-युग का साहित्यकार भी समाजसुधार और राष्ट्रोत्थान की लहर से प्रेरित दिखाई देता है। इस युग के महापुरुषों—दयानन्द, रवीन्द्र और गांधी का प्रभाव भी अनेक रचनाओं के मूल में प्रेरक शक्ति का कार्य करता रहा है। विश्व-कवि रवीन्द्र के उर्मिला सम्बन्धी लेख से 'साकेतकार' को प्रेरणा मिलने की बात सर्वविदित है।

छायावादी कवियों ने अपने प्रेरणा स्रोत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है, अतः उनके सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता से विचार किया जा सकता है। प्रसाद जी की प्रेरणा का स्रोत प्रायः वह लौकिक या अलौकिक आलम्बन रहा है, जो ''आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर भाग गया।' श्रीसुमित्रानन्दन पन्त ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा कूर्मांचल के प्राकृतिक वातावरण से मिली है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने विरहवेदना को भी काव्य-रचना का मूल कारण बताया है—

> **वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान!**
> **निकलकर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान!!**

इस प्रकार पंत जी ने प्रकृति के सौन्दर्य और लौकिक प्रणय दोनों को ही काव्य-रचना का प्रेरक स्वीकार किया है। महादेवी जी के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति दुःखवाद ही है और इस दुःखवाद का मूल-स्रोत है—

> **इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का!**
> **साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का!!**

अतः उनके काव्य का स्रोत उनकी हृदयगत पीड़ा है और उस पीड़ा का

स्रोत किसी अलौकिक की प्रेम-भरी चितवन है। दूसरे शब्दों में अलौकिक प्रणय ही महादेवी जी के भव्य उद्गारों का मूल स्रोत है।

प्रगतिवादी कवियों का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवनदर्शन, सामाजिक विषमता, शोषक वर्ग की विलासिता और शोषित वर्ग की दीनता आदि में ढूँढा जा सकता है। इसीलिए इलाहाबाद की सड़क पर मध्याह्न में पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन या गाँवों के अर्धनग्न मनुष्यों पर कविता लिखी गई। नवीनतम प्रयोगवादी कविता में तो अनियंत्रित काम-चेतना और असभ्य अहंकार ही प्रेरक के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में तथा विभिन्न वर्गों के कवियों में काव्य प्रेरणा के मूलाधार भी भिन्न-भिन्न रहे हैं। इन्हें हम मुख्यतः निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बाह्य प्रकृति और जगत् के किसी दृश्य, घटना, परिस्थिति या अवस्था का प्रभाव। (२) किसी अन्य व्यक्ति, आश्रयदाता, गुरु, आचार्य या मित्र की प्रेरणा। (३) किसी विचार या जीवन-दर्शन का प्रभाव। (४) लौकिक या अलौकिक प्रणय, विरह या शोक की अनुभूति। वस्तुतः प्रथम तीन वर्ग के उपादान भी उसी स्थिति में प्रभावित करते हैं, जबकि वे कवि की अनुभूति के विषय बन जाते हैं, अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रकृति, जगत्, व्यक्ति आदि के सम्पर्क से उत्पन्न किसी विचार या भाव की अनुभूति ही काव्य-प्रेरणा की मूल स्रोत है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारी सभी अनुभूतियाँ काव्य-प्रेरणा का रूप क्यों नहीं ग्रहण करतीं? इसका उत्तर होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति काव्य-प्रेरणा नहीं बन सकती—जिस व्यक्ति में काव्य-रचना की प्रतिभा और शक्ति होगी, उसी की अनुभूतियाँ काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकती हैं। साथ ही अनुभूतियों की सघनता एवं मार्मिकता का परिणाम भी महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ विशेष समय की कुछ विशेष मार्मिक अनुभूतियाँ ही कवि के हृदय को काव्य-रचना के लिए प्रेरित कर पाती हैं, सभी अनुभूतियाँ नहीं।

विभिन्न विद्वानों का मत

अनेक पाश्चात्य और पूर्वी विद्वानों ने भी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने दैवी प्रेरणा को ही काव्य-प्रेरणा माना है। उनका विचार था कि जब ईश्वर जगत् के मनुष्यों से बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करता है। संभवतः इस विचार से कवियों और उनकी कविता के गौरव में अभिवृद्धि होती है, किन्तु इससे काव्य-प्रेरणा सम्बन्धी प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। यदि सभी कविताओं के पीछे दैवी प्रेरणा होती तो काव्य के क्षेत्र में अनेक अश्लील, अपवित्र एवं कामुकतापूर्ण दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते और न ही कविता के नाम पर तुकबन्दियाँ तैयार होतीं। सुकरात के शिष्य प्लेटो और प्रशिष्य अरस्तू ने अनुकरण की वृत्ति को काव्य-प्रेरणा का आधार बताया है। संभवतः नाटक के मूल में तो अनुकरण की प्रवृत्ति स्वीकार की जा सकती है, किन्तु काव्य के अन्य रूपों—कविता, कहानी, उपन्यास

आदि के क्षेत्र में ऐसा मानना उचित नहीं है। अनुकरण किसी प्रस्तुत वस्तु, रूप या ध्वनि का ही किया जाता है; जबकि काव्य-कृतियों का निर्माण सर्वथा मौलिक रूप में होता है, अतः इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने सौन्दर्य, प्रेम और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृति को काव्य-रचना का मूल कारण बताया है। अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे महोदय ने भी आत्माभिव्यंजना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। भारतीय विद्वानों में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत करना चाहता है। ···हृदय-जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है, इसलिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का वेग है।"

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक एवं विद्वान् श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—"काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना करते समय लिखा था—स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमति-मंजुलमातनोति।' यहाँ 'स्वान्तःसुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उत्पादन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि को बताया है। साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।"

डॉ० गुलाबराय जी ने आत्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक तत्त्व मानते हुए स्पष्ट किया है—"भारतीय दृष्टि से आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है।···ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं।"

इस प्रकार विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने आत्माभिव्यंजना, अनुभूति और आत्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक माना है। ये तीनों शब्द भी स्थूल से परस्पर अन्तर रखते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अनुभूति से ही आत्माभिव्यक्ति होती है—जब अनुभूति ही नहीं तो अभिव्यक्ति किसकी होगी— तथा भावानुभूति और आत्माभिव्यक्ति से ही हृदय का विस्तार होता है, अतः यह तीनों मत एक ही प्रक्रिया—भावानुभूति के पोषक हैं।

मनोविश्लेषकों के मत

पश्चिम के विभिन्न मनोविश्लेषकों ने काव्य प्रेरणा के सम्बन्ध में अनेक मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। फ्रायड ने अतृप्त काम वासना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। हमारी कुंठाएँ और दबी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। फ्रायड के शिष्य एडलर ने हीनता की भावना को काव्य-प्रेरणा का स्रोत माना है। उनके विचार से मानव अपने अभावों और न्यूनताओं की पूर्ति साहित्य के द्वारा करता है। युंग के विचारानुसार मानव की सम्पूर्ण

क्रियाओं का उद्देश्य अपने अस्तित्व की रक्षा ही है। साहित्य भी मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। वस्तुतः इन विद्वानों ने साहित्य को एकांगी एवं संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए अपने मत स्थापित किए हैं। यदि हम उनकी मान्यताओं को व्यापक रूप में ग्रहण करें तो उनके निष्कर्ष ठीक अर्थ के द्योतक हो सकते हैं। फ्रायड जिसे 'अतृप्त वासनाओं की तृप्ति' कहता है, उसे ही यदि 'अव्यक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति' कहा जाय या एडलर की 'हीन भावना' की पूर्ति के स्थान पर 'संकुचित भावना का विस्तार' अथवा युंग के 'आत्म-रक्षा' में आत्मा का अर्थ 'सूक्ष्म भाव-लोक' से लिया जाय तो इनकी व्याख्याएँ किसी सीमा तक संगत सिद्ध हो सकती हैं।

काव्य के विभिन्न रूप और काव्य-प्रेरणा

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार विभिन्न कवियों के काव्य प्रेरणा के स्थूल आधारों में परस्पर अन्तर होता है, वैसे ही काव्य-रूप के मूल प्रेरक भौतिक आधारों में भी भेद होता है। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य मुख्यतः चरित्र नायक के गुण-गान की प्रेरणा से प्रेरित होता है, वैसे ही मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य में रचयिता की स्वानुभूतियों की प्रेरणा अधिक सशक्त होती है। उपन्यास और कहानी में लेखक के अन्तर्जगत् की अपेक्षा बाह्य-जगत् के प्रभाव की प्रेरणा अधिक होती है जबकि निबन्ध और आलोचना में निजी विचारों की व्यंजना का लक्ष्य प्रमुख होता है। अस्तु, व्यक्ति और विषय के अनुसार काव्य प्रेरणा के असंख्य स्थूल आधार ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप में सभी में भावानुभूति का कोई न कोई अंश अवश्य विद्यमान होता है। भावना ही काव्य की शक्ति है, और इस शक्ति की प्रेरणा के बिना कोई भी वाक्य, विचार या तर्क गतिशील होकर काव्य का रूप धारण नहीं कर सकता। अतः हमारे विचार से किसी भी प्रकार की भावानुभूति कवि को अभिव्यक्ति की प्रेरणा दे सकती है और उसकी यह अभिव्यक्ति ही कविता का रूप धारण कर लेती है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य की प्रेरणा पर विचार कर लेने के अनन्तर हम काव्य के प्रयोजन के प्रश्न को लेते हैं। इस प्रश्न पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है कवि काव्य की रचना क्यों करता है और पाठक काव्य का अनुशीलन किसलिए करता है? प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इन दोनों पक्षों को घुला-मिला दिया है जो उचित नहीं। कवि और पाठक दोनों के काव्य प्रयोजन में थोड़ा-बहुत अन्तर होना अनिवार्य है; अतः हम यहाँ पहले कवि के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट ने अपने ग्रन्थ में काव्य-निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे॥

— काव्य-प्रकाश १/२

अर्थात् यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का नाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देने के लिए काव्य ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) हैं।

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर काव्य के निम्नांकित प्रयोजन स्वीकार किए जा सकते हैं :—

१. **यश-प्राप्ति**—प्रायः कविगण यश-प्राप्ति के उद्देश्य से ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं।[1] कुछ महान् कवि ऐसे भी हो सकते हैं जिनका उद्देश्य भले ही प्रारम्भ में यश-प्राप्ति न रहा हो, किन्तु काव्य-रचना के अनन्तर वे अपनी रचना की प्रशंसा अवश्य चाहते हैं। महाकवि जायसी ने अपने काव्य 'पद्मावत' के सम्बन्ध में लिखा है, "औ मैं जानि कवित्त अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।' महाकवि तुलसीदास जी ने यद्यपि 'स्वांतःसुखाय' की घोषणा की है, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि 'जो प्रबन्ध बुद्ध नहिं आदरहीं। जो स्रम वादि बालकवि करहीं।' इसके अतिरिक्त 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' से भी यही ध्वनित होता है कि इस महाकवि का भी हृदय यश की इच्छा से सर्वथा शून्य नहीं था। अस्तु, जैसा कि अंग्रेजी में कहा जाता है—**Fame is the last infirmity of noble minds.** (प्रसिद्धि बड़े आदमियों की सबसे अंतिम कमजोरी है), यह बात कवियों और साहित्यकारों पर भी लागू होती है।

२. **अर्थ-प्राप्ति**—काव्य का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोजन अर्थ या धन है। मध्यकाल के अधिकांश दरबारी कवियों ने धन-प्राप्ति के उद्देश्य से ही अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में काव्य लिखे हैं। बिहारी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक स्वर्ण मुद्रा दिये जाने का वचन दिया गया था। आधुनिक युग में भी अनेक कवियों पर यह बात लागू होती है।

३. **व्यवहार ज्ञान**—बहुत से कवि अपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों या पुत्रादि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य-रचना करते हैं।

४. **लोक-हित**—अपने युग और समाज को अनिष्ट से बचाने के लिए भी काव्य-रचना की जाती है। 'कुरुक्षेत्र' के रचयिता दिनकर ने अपने काव्य में विश्व को युद्ध के अनिष्ट से बचाने के लिए ही शांति का संदेश दिया है।

५. **आत्म-शांति**—काव्य-रचना के अनन्तर कई बार कवियों को अपूर्व शांति एवं आनन्द का अनुभव होता है, अतः इसे भी काव्य का एक प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है।

६. **कान्ता-सम्मित उपदेश**—अपने उपदेश, विचार या सिद्धान्त को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए भी काव्य का माध्यम अपनाया जाता है। कबीर, नानक आदि सन्त कवियों ने अपने विचारों का प्रकाशन इसीलिए कविता के माध्यम से किया है। महाकवि बिहारी ने भी विभिन्न अवसरों पर अपने आश्रयदाताओं को उपदेश देने के लिए कुछ दोहों की रचना की थी, जैसे -

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखु विहंग विचार।
बाज पराये पानि परि, तू न विहंगनु मार॥

कहते हैं कि जब महाराज जयसिंह औरंगजेब के आदेश पर महाराजा शिवाजी से युद्ध की तैयारी कर रहे थे, तब बिहारी ने यह दोहा उन्हें सुनाया था। संभवतः इसी के प्रभाव से महाराज ने शिवाजी और औरंगजेब में संधि करवाने का प्रयत्न किया था।

मम्मट के अतिरिक्त हमारे अनेक आचार्यों और कवियों ने भी काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। साहित्य दर्पणकार ने काव्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दाता स्वीकार किया है। महाकवि तुलसीदास ने अपना प्रयोजन 'स्वान्तः सुखाय' ही माना है, किन्तु अन्य कवियों के लिए वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब रहँहि होई॥"

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि भिखारीदास ने काव्य के अनेक प्रयोजन स्वीकार किए हैं—"कुछ सूर और तुलसी की भाँति काव्य साधना के रूप में तपस्याओं का फल प्राप्त करते हैं; कुछ केशव और भूषण की भाँति धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, कुछ को रसखान और रहीम की भाँति केवल यश से ही प्रयोजन होता है। दास के विचार से कविता की चर्चा बुद्धिमान को सभी स्थानों पर सुखदायी सिद्ध होती है।" आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरणगुप्त ने कला का व्यापक प्रयोजन समाजहित स्वीकार करते हुए कहा—मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।" इस प्रकार हमारे कवियों ने कला का प्रयोजन केवल स्वार्थ-साधन तक ही सीमित न मानकर परमार्थ और लोक हित की साधना को स्वीकार किया है।

आधुनिक हिन्दी आलोचकों के विचार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—'प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।" वे कविता से केवल मनोरंजन के उद्देश्य का विरोध करते हुए लिखते हैं—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय, तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।" वस्तुतः कविता आचार्य शुक्ल के विचार में एक दिव्य अनुभूति प्रदान करनेवाली शक्ति है, अतः कवि का लक्ष्य भी वे पाठक के हृदय का विस्तार करना मानते हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में भिखारीदास का यह छन्द है—
एक लहैं तपपुंजन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु संपति केशव भूषण ज्यों वर वीर बड़ाई॥
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुधि वसन्त को सुख दे सब ठाईं॥

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य का लक्ष्य मनुष्य जाति का हित करना मानते हैं। वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति बताया है। उनके शब्दों में —"···हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्य खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहा है।···काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भावना अथवा पलायन से भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा। उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी।" डा० नगेन्द्र ने अपने एक लेख में साहित्य का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति स्वीकार किया है। आचार्य गुलाबरायजी ने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए लिखा है —"भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार ही में आत्मा की पूर्णता है। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ आधार-शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध, लोक-हित सभी आत्म-हित के नीचे या ऊँचे रूप हैं।···इन सब प्रयोजनों में वही उत्तम है, जो आत्मा की व्यापक से-व्यापक और अधिक से अधिक सम्पन्न अनुभूति में सहायक हो। इसी से लोक-हित का मान है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मम्मट से लेकर आचार्य गुलाबराय तक विभिन्न विद्वानों और कवियों ने 'काव्य प्रयोजन' के सम्बन्ध में विभिन्न बातें कही हैं। इन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक, जिन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए, इस प्रश्न पर विचार किया है कि कवि काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है? दूसरे, वे जिन्होंने आदर्शवादी दृष्टिकोण से यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य प्रयोजन क्या होना चाहिए? आचार्य मम्मट, भिखारीदास, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने किसी आदर्श को थोपने के प्रयत्न से बचते हुए यथार्थ दृष्टि से विचार किया है, जबकि अन्य विचारकों ने कविता के महान् प्रयोजन का दिग्दर्शन आदर्शवादी दृष्टिकोण से कराया है। कवि का प्रयोजन क्या होता है और क्या होना चाहिए—ये दो अलग अलग प्रश्न हैं। पहले प्रश्न के उत्तर में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हो सकेंगे, किन्तु दूसरे के सम्बन्ध में ऐसी आशा नहीं की जा सकती। प्रत्येक पाठक और आलोचक अपने दृष्टिकोण को ही सर्वोपरि रखेगा। एक समाज-सुधारक पाठक कवि से यह आशा करेगा कि वह सुधारवादी दृष्टिकोण से काव्य में प्रवृत्त हो, एक रसिक मनोविनोद के प्रयोजन का समर्थन करेगा, तो एक साम्यवादी सामाजिक क्रान्ति का प्रयोजन अपनाने का परामर्श देगा। इसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय एवं राजनीतिक दलों का संचालक व्यक्ति कवियों को अपनी-अपनी आवश्य-

कता के अनुरूप परामर्श दे सकते हैं—अतः हमारे दृष्टिकोण से हमारा विवेच्य विषय "काव्य प्रयोजन क्या है?" है "क्या होना चाहिए?" नहीं। पहले प्रश्न का भी अन्तिम निर्णय करने से पूर्व हम पाश्चात्य आलोचकों के मन्तव्यों पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मन्तव्य

पाश्चात्य देशों में काव्य को एक कला मानते हुए प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकाश में आये हैं, जिनमें कुछ ये हैं—(१) कला कला के लिए (२) कला जीवन के लिए (३) कला जीवन से पलायन के लिए (४) कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए (५) कला सेवा के लिए (६) कला आत्मानुभूति के लिए (७) कला आनन्द के लिए (८) कला विनोद के लिए (९) कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त।

'कला के लिए कला' इस मत के प्रवर्तक एवं समर्थकों में श्री ए० सी० ब्रेडले, आस्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगार्न आदि प्रमुख हैं। इनके विचार से कला का या कलाकार का मात्र लक्ष्य कला या सौन्दर्य की सृष्टि करना मात्र होता है, अतः कलाकार से नीति, धर्म या उपदेशों के प्रतिपादन की आशा करना अनुचित है। श्री जे० ई० स्पिनगार्न महोदय के शब्दों में—We have done with all moral judgment of art. Some said that poetry was meant to instruct, some merely to please, some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression, that its aim is complete when expression is complete, that beauty has its own excuse for being." अर्थात् कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करने की परंपरा को हमने समाप्त कर दिया है। कुछ कहते थे कि कविता का उद्देश्य शिक्षा देना है, कुछ केवल प्रसन्नता प्रदान करना उसका लक्ष्य मानते थे और कुछ दोनों पर ही बल देते थे। किन्तु रोमांटिक समीक्षा पद्धति ने सबसे पूर्व यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कला का लक्ष्य केवल अभिव्यक्ति है—अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। सौंदर्य स्वयं ही अपना साध्य है, उसकी उपयोगिता का कोई कारण ढूंढ़ना अनावश्यक है।" इस प्रकार इस मत के अनुयायियों ने कलाकार या कवि को समस्त बाह्य बंधनों से मुक्ति प्रदान कर दी। कला का सर्वप्रथम लक्ष्य कला माना जा सकता है, किन्तु फिर भी उसका सम्बन्ध कुछ अन्य बातों से भी है। एक कलाकार जब किसी कलाकृति का निर्माण कर लेता है तो उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है, फिर भी वह अपनी रचना को प्रकाशक के पास भेजता है—ऐसा क्यों? कवि या लेखक अपनी रचना को अपने ही तक सीमित क्यों नहीं रखते? अवश्य ही इसमें यश प्राप्ति, धन-प्राप्ति या और कुछ प्राप्ति का विचार रहता है—अतः कला का प्रयोजन कला भले ही रहे, किन्तु कलाकार का प्रयोजन उससे थोड़ा भिन्न अवश्य होता है। उदाहरण के लिए एक सड़क का लक्ष्य दिल्ली हो सकता है; किन्तु उस सड़क पर चलनेवाले पथिक का लक्ष्य कोरा दिल्ली न होकर 'वह कार्य होता है जो दिल्ली में ही सम्पन्न' हो सकता है।

अस्तु, 'कला कला के लिए'' का अर्थ ''कलाकार कला के लिए'' नहीं है। हमारा प्रश्न कलाकार के प्रयोजन से सम्बन्धित है, जिसका उत्तर यहाँ नहीं मिलता।

दूसरा मत 'कला जीवन के लिए' की घोषणा करता है। प्रश्न है जीवन किसका ? लेखक का या पाठक का ? जीवन का सम्बन्ध एक ओर रोटी, आवास और वस्त्र से भी है—जोकि धन के माध्यम से प्राप्त होते हैं—तो दूसरी ओर उच्चकोटि के विचारों, भावनाओं और सौन्दर्य से भी है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इस सारे की आड़ में कविता का लक्ष्य नैतिकता, उपयोगिता आदि सिद्ध किया है। पर प्रश्न है कि समाज को नीति की शिक्षा देने से स्वयं कवि को क्या मिलना है। वह समाज को शिक्षा देने का कार्य किस उद्देश्य से या किस प्रयोजन से करे ? फिर क्या जीवन में कोरी नैतिकता ही सब कुछ है - सौन्दर्य का क्या कोई मूल्य नहीं है ? इन प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर इस मत के समर्थक नहीं दे पाते। वस्तुतः स्वयं 'जीवन' शब्द ही इतना व्यापक है कि इसका जो चाहे अर्थ किया जा सकता है।

'कला को जीवन से पलायन के निमित्त' का अर्थ भी स्पष्ट है। जीवन से पलायन का अर्थ है मृत्यु का आलिंगन करना। भला, जो मृत्यु का आलिंगन करना चाहता है, वह कविता क्यों लिखेगा ? वस्तुतः इस मत के प्रचारक 'जीवन' का अर्थ जीवन की कठिनाइयाँ'' करते हैं। उनके विचार से जो लोग संसार की विषमताओं और कर्कशताओं का सामना नहीं कर पाते, वे काव्य उपवन में शरण लेते हैं या दूसरे शब्दों में अपने दुःख को भुलाने के लिए काव्य-रचना करते हैं। इस मत के समर्थन में विभिन्न कवियों के काव्यों से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत भी जा सकती हैं, जैसे

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे-धीरे !
जिस निर्जन में सागर-लहरी, अम्बर के कानों में गहरी !
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ! —प्रसाद

\+ \+ \+

मन मेरा खोजा करता है, क्षण भर की वह ठौर !
छिपा लूं अपना शीश जहां पर है वह वक्षस्थल कहां ? —बच्चन

यह ठीक है उपर्युक्त पंक्तियों में 'पलायन' की कल्पना मिलती है, किन्तु इसी को काव्य रचना का निमित्त मानना अनुचित है। कवि के हृदय में अनेक कल्पनाएं एवं भावनाएँ समय समय पर उद्वेलित होती रहती हैं, अतः उन्हें ही काव्य-प्रयोजन मानना उचित नहीं। एक कवि स्वर्ग प्राप्ति की आकांक्षा व्यक्त करता है, दूसरा वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है और तीसरा गरीबों का चित्रण करता है इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे क्रमशः स्वर्ग-प्राप्ति के लिए या युद्ध करने के लिए अथवा गरीब बनने के लिए काव्य-रचना करते हैं। और फिर सभी रचनाओं में पलायन की भावनाओं का चित्रण नहीं होता—अतः समस्त कवियों का प्रयोजन पलायनवाद मान लेना सर्वथा अनुचित है।

कुछ अन्य विद्वान् उपर्युक्त मत से सर्वथा विरोधी बात कहते हैं कि 'कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए' है। यहाँ भी शब्दों का अनर्थ किया गया है। हमारा जीवन में प्रवेश तो उसी दिन हो जाता है, जिस दिन हम माता के उदर से जन्म लेते हैं—अतः यह जीवन का अर्थ है जीवन का सौन्दर्य या जीवन का रहस्य। आलोचकों की बुद्धि का चमत्कार देखिए कि वे एक ही कवि में पलायनवाद और जीवन में प्रवृत्ति दोनों को सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं। ऊपर हमने वे पंक्तियाँ उद्धृत की थीं; जिनके आधार पर प्रसाद को पलायनवादी सिद्ध किया गया है। अब वे पंक्तियाँ देखिए जिन्हें प्रवृत्ति-मूलक बताया गया है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।

ये शब्द कामायनी की श्रद्धा के हैं, इनका प्रसाद के काव्य-प्रयोजन से क्या सम्बन्ध है—यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन ढूंढ़ने लगें तो अकेली कामायनी के आधार पर प्रसाद के दस-बीस से अधिक काव्य-प्रयोजन सिद्ध किए जा सकते हैं - जैसे—प्रलय करना, नई सृष्टि का निर्माण करना, यज्ञ करना, जीव-हिंसा का समर्थन और विरोध करना आदि-आदि। वस्तुतः जीवन से पलायन या जीवन में प्रवेश—दोनों के ही लिए कविता लिखने की अपेक्षा नहीं होती; हाँ, पाठक भले ही काव्य की छाया में बैठकर दुःख को भूल सकता है या जीवन के निगूढ़ रहस्य को समझ सकता है।

'कला सेवा के अर्थ'—की व्याख्या करते हुए आचार्य गुलाबराय जी ने लिखा है—"अस्पतालों में मरीजों को कविता सुनाना, संगीत सुनाना यह कला का सेवा-पक्ष ही है।" हमारी आचार्य जी के प्रति पूरी श्रद्धा है, किन्तु फिर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि मरीजों के लिए काव्य-रचना की जाती है। कम-से-कम हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो अभी तक किसी ऐसे कवि का नाम नहीं आता। कदाचित् यह बात आचार्य जी ने विदेशी विद्वानों के मत के आधार पर ही लिखी हो। सम्भव है; वहाँ ऐसे भी कलाकार हों जो मरीजों के लिए ही काव्य-साधना करते हों। हाँ, वैसे कवि अवश्य मिलते हैं जो कला-साधना करते-करते स्वयं मरीज बन जाते हैं।

'कला आत्मानुभूति के लिए' और कला आनन्द के लिए' इन दोनों विचारों में परस्पर इतना साम्य है कि दोनों को एक ही कहा जा सकता है। कलाकार को आनन्द की अनुभूति तो होती ही है, पर उससे भिन्न भी उसका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है, अन्यथा वह अपनी रचना को किसी अन्य के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता। जो लोग 'मनोविनोद के लिए' कला मानते हैं, उनकी बात भी इससे मिलती-जुलती है। हमारे विचार से आत्मानुभूति, आनन्द, मनोविनोद आदि का सम्बन्ध कलाकार की अपेक्षा पाठक या द्रष्टा से अधिक है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि अनेक कवि 'सृजन की अदम्य आवश्यकता' से प्रेरित होकर ही काव्य-रचना करते हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं होता।

उपर्युक्त मंतव्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनमें हमारे प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के मत एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित हैं, जिनमें आंशिक सत्य है। हमारे विचार से सभी कवियों का काव्य-प्रयोजन एक जैसा ही नहीं होता। कुछ सृजन की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ यश, धन तथा मान-मर्यादा की प्राप्ति के लिए तथा कुछ अपने आराध्य देव या आश्रयदाता की संतुष्टि के निमित्त, तो कुछ अपने मत, विचार या सिद्धान्तों के प्रचार के प्रयोजन से काव्य-रचना करते हैं। आचार्य मम्मट की उक्ति में इन सभी तथ्यों का संकेत मिल जाता है, अतः हम उनके मत का ही समर्थन करना उचित समझते हैं।

पाठक के दृष्टिकोण से

दूसरा प्रश्न है—पाठक काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है? इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं—(१) आनन्द-प्राप्ति के लिए, (२) अपने ज्ञान में अभिवृद्धि के लिए। हमारे विचार से पाठक काव्य में उस विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति के लिए ही प्रवृत्त होता है, जो किसी अन्य साधन से उपलब्ध नहीं होती। कुछ लोग पाठक का लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि भी मान सकते है, किन्तु यह लक्ष्य गौण ही होगा। ज्ञान-वृद्धि के लिए काव्य की अपेक्षा इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, नीति-शास्त्र आदि के ग्रन्थ अधिक उपयोगी होंगे, अतः इन्हें छोड़कर काव्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता नहीं। हाँ, जो लोग साहित्य सम्बन्धी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के लिए काव्यानुशीलन करते हैं, उन पर अवश्य यह बात लागू होती है।

●

: ५ :

कला कला के लिए

सूक्ष्म-सत्ता (परमात्मा) के विभिन्न दार्शनिकों ने मुख्यतः तीन लक्षण स्वीकार किए हैं—सत्, चित् और आनन्द। मनुष्य उसी सूक्ष्म सत्ता का व्यक्त रूप माना गया है। मनुष्य का भी सूक्ष्म-जीवन तीन बातों पर आधारित रहता है – ज्ञान, भावनाऔर क्रिया। इसमें ज्ञान का संबंध सत् से है, क्रिया का चित् से और भावना का आनन्द से। अतः परमात्मा के अनुरूप ही मानव-जीवन में इन तीनों तत्वों की प्रमुखता है। आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक भी मानव-जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों—ज्ञान, क्रिया और भावना (to know, to will, to feel) की ही प्रमुखता स्वीकार करते हैं। मानव-जीवन से संबंधित विभिन्न विषय इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों से प्रेरित हैं। ज्ञान की प्रवृत्ति ने विज्ञान और दर्शन को, क्रिया की प्रवृत्ति ने धर्म और व्यवसाय को और भावना की प्रवृत्ति ने साहित्य और कला को जन्म दिया। यद्यपि विज्ञान व्यवसाय और कला तीनों का संबंध मानव-जीवन से है, फिर भी तीनों के लक्ष्य में परस्पर गहरा अन्तर सिद्ध होता है, जहाँ विज्ञान का लक्ष्य सत्यं है, व्यवसाय का शिवं, वहाँ कला का सुन्दरम् है। इनमें से यदि कोई भी विषय अपने लक्ष्य को भूलकर अन्यत्र दृष्टिपात करने लगेगा तो उससे वह तो पथ-भ्रष्ट हो ही जावेगा, साथ ही जीवन में भी विकृति उत्पन्न कर देगा। यदि एक वैज्ञानिक किसी सुन्दर पुरुष के टुकड़े-टुकड़े करके उनके मूल तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करने के स्थान पर यदि वह उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर कविता लिखने लग जाय तो वैज्ञानिक न रहकर कवि बन जायगा। इसी प्रकार शिवं का रक्षक न्यायाधीश यदि किसी अभियुक्ता बाला के अधिकारों को भूलकर उसके सौन्दर्य पर ही मुग्ध होने लगेगा तो वह भी अपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार सौन्दर्य-साधना में रत कलाकार जब अपने मूल लक्ष्य को भूलकर सत्यं और शिवं की ओर आकर्षित होने लगेगा तो वह अपनी कला को कला के स्थान पर दर्शन या नीति-शास्त्र का रूप दे देगा। अस्तु, जीवन की सफलता इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य और क्षेत्र को ही प्रमुखता दे। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कर्त्तव्य-क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो इससे उसका महत्त्व तो नष्ट हो ही जायगा, संसार में भी बड़ी अव्यवस्था और विकृति आ जायगी। जल का गुण शीतलता है और अग्नि का उष्णता, उनका धर्म इसी बात में है कि दोनों अपने-अपने गुणों को बनाए रखें। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार के अनेक विद्वान् जो एकांगी

दृष्टिकोण से ही सभी वस्तुओं को देखने के अभ्यस्त हैं, एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु में ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। उसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि साहित्य और कला में विज्ञान, दर्शन और नीतिशास्त्र के तत्त्वों की आशा की जाती है। विभिन्न विद्वानों के विचार से जीवन में केवल सौन्दर्य से काम नहीं चल सकता, उपयोगिता की दृष्टि से भी सौन्दर्य का विशेष महत्त्व नहीं है, अत वे चाहते हैं कि कला सौन्दर्य के साथ साथ कुछ ऐसी उपयोगी बातों या नैतिकता की भी शिक्षा दे जिससे कि जीवन क उन्नति हो। इसी दृष्टिकोण के समर्थन और विरोध को लेकर विचारकों के दो पक्ष ह गये हैं, एक उनका जो कला का चरम लक्ष्य सौन्दर्य मानते हैं, इनका नारा है—"कल कला के लिए," और दूसरा, उनका जो कला का चरम लक्ष्य नैतिकता की शिक्षा देन मानते हुए कहते हैं—"कला जीवन के लिए।" अतः इन दोनों पक्षों के विचार अध्ययन के अनन्तर ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

कला जीवन के लिए—सुश्री महादेवी वर्मा ने जीवन तथा कला में आदर्श क महत्त्व बताते हुए लिखा है—

"...आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर, उसे बिखरे यथार्थ भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतन को मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डि भावना को अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देत है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रंगों, अनन्त रूपों में नहीं उतर सकता तब शरद के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है...।"

विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में 'आदर्शवाद' शब्द का प्रयोग विभिन्न विशिष्ट धारणाओं एवं मान्यताओं के अर्थ में किया जाता है। दर्शन के क्षेत्र में आदर्श वाद भौतिकवाद का विरोधी है। "भौतिकवादी भौतिक द्रव्य को सत्य मानता है और मन अथवा चेतना को उसका उपजात एवं अनुगामी। इसके ठीक विपरीत दार्शनिक आदर्शवादी मन अथवा चेतना को परम सत्य एवं परम तत्त्व और भौतिक द्रव्य को उससे उद्भूत मानता है। उसकी मान्यता यह है कि परम तत्व मन जैसा चेतन है।' (हिन्दी साहित्य कोष : पृष्ठ ८५)। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद को अध्या त्मवाद का पर्यायवाची कहा जा सकता है। किन्तु देश और काल के भेद से इसके स्वरूप में परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता भी सदा रही है।

सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) के क्षेत्र में भी विचारकों का एक ऐसा समुदाय रहा है जो 'आदर्शवादी' कहा जा सकता है। इस वर्ग में वे चिन्तक आते हैं जो वस्तु का सौन्दर्य उसके भौतिक तत्त्वों में न मानकर या तो उसकी उपयोगिता में मानते हैं अथवा द्रष्टा की दृष्टि में मानते हैं। सुकरात, प्लेटो, हरबर्ट, स्पिनोज़ा आदि विचारक इसी श्रेणी में आते हैं। सुकरात ने उपयोगिता को ही सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हुए एक स्थान पर लिखा था—"A dung basket if it answers its en

may be a beautiful thing while a golden shield not well for use, is ugly thing" अर्थात् एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती है, जब कि चमचमाती हुई स्वर्ण-जटित ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने प्रत्यक्ष संसार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी एक अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित माना है। हमारी आत्मा सौन्दर्य की खोज में भटकती रहती है, किन्तु सौन्दर्य के सच्चे स्वरूप का आस्वादन करना कोई सरल कार्य नहीं। उसके विचारानुसार विभिन्न शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य-बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है, फिर भी वह तर्क से शून्य होती है। सौन्दर्य तर्क-गम्य नहीं अनुभूति-गम्य है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में आई० ए० रिचर्ड्स ने भी सौन्दर्य की व्याख्या आदर्शवादी दृष्टिकोण से करते हुए कहा कि हमारी भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। किसी वस्तु को देखकर जब हमारी भावनाओं में एकाग्रता या तन्मयता आ जाती है तो हम तृप्ति का अनुभव करते हैं और हम उस वस्तु को भूल से सुन्दर कह बैठते हैं, जबकि वास्तव में सौन्दर्य हमारी इस मानसिक तृप्ति की देन है। इस प्रकार आदर्शवादी दार्शनिकों की ही भाँति आदर्शवादी सौन्दर्य शास्त्रियों ने भी भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को, स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता को, और यथार्थ की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व दिया है।

साहित्य के क्षेत्र में आदर्शवाद का प्रयोग किसी एक वर्ग या एक काव्य-धारा के लिए नहीं होता—जैसा कि कुछ अन्य वादों के सम्बन्ध में होता है—अपितु व्यापक रूप में उसका प्रयोग एक विशिष्ट दृष्टिकोण के लिए होता है। वस्तुतः इसका प्रयोग 'यथार्थवाद' के विरोध में किया जाता है। काव्य में विषय-वस्तु का चित्रण वास्तविक रूप में करना यथार्थवाद कहलाता है, जबकि उसे वास्तविक से ऊपर उठाकर प्रस्तुत करना आदर्शवाद है। यथार्थवाद जहाँ 'क्या है ?' का उत्तर देता है, वहाँ आदर्शवाद यह बताता है कि 'क्या होना चाहिए ?' यथार्थवादी मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण करके उसके पतन को चित्रित करता है, जबकि आदर्शवादी उसकी उदात्त प्रवृत्तियों को उभार करके उसे उत्थान की ओर अग्रसर करता है ! यथार्थवादी समाज की समस्याओं को नग्न रूप में प्रस्तुत करके ही चुप हो जाता है, जबकि आदर्शवादी उनका समाधान भी करने का प्रयत्न करता है। यथार्थवादी ईश्वर, पाप-पुण्य; भाग्य एवं पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता, जबकि आदर्शवादी इन सबमें विश्वास करता है यथार्थवादी की दृष्टि धरती पर रहती है, जबकि आदर्शवादी आसमान की ओर ताकता है। यथार्थवादी को केवल वर्तमान से प्रेम होता है, जबकि आदर्शवादी अतीत के गौरव और भविष्य की कल्पनाओं में डूबा रहता है। यथार्थवादी काव्य की रचना का अन्त प्रायः निराशा, वेदना, पराजय एवं दु:ख में होता है। जबकि आदर्शवादी के काव्य में नए

जीवन के मधुर स्वप्नों, भावी सफलता की आशाओं, पाप पर पुण्य की विजय का चित्रण होता है। प्रश्न है ऐसे सुन्दर, मधुर, दिव्य एवं अलौकिक आदर्शवाद में कौन से दोष हैं जिनसे सभी कलाकार या सभी पाठक इसे पसन्द नहीं कर पाते ?

इसका सीधा सा कारण यह है कि वह कल्पना के गगन में उड़ान भरता है, जबकि हमारा वास्तविक जीवन यथार्थ की ठोस भूमि पर आधारित है। वह हमें कल का आश्वासन देता है जबकि हम आज की पीड़ा से घायल हो रहे हैं। वह हमारी रोटी की आवश्यकता के उत्तर में संगीत की मीठी रागिनी सुनाता है। आदर्शवाद की अति सूक्ष्मता, अति काल्पनिकता और अलौकिकता से ही ऊबकर लोग यथार्थवाद की शरण लेते हैं।

दूसरा प्रश्न है कि जब आदर्शवाद इतना बुरा है तो इसमें कौन से गुण हैं जिनसे कुछ लोग इसका समर्थन करना उचित समझते हैं ? इसका उत्तर यही है कि यथार्थवाद हमारा शरीर है तो आदर्शवाद हमारी आत्मा है। यदि हमारे जीवन के लिए रोटी, कपड़े और मकान की आवश्यकता सर्व-प्रमुख है, तो मीठी कल्पनाओं, मधुर स्वप्नों एवं उच्च आदर्शों के बिना भी जीवन नहीं रह सकता। संसार की वाटिका में यदि हम यथार्थ के काँटों को देखते रहें, तो भय है कि कहीं हम निराश होकर आत्महत्या ही न कर लें; अतः उसके आदर्श के फूलों को भी देखना नितान्त आवश्यक है। अतः जीवन और साहित्य—दोनों में यथार्थ और आदर्श का उचित संतुलन आवश्यक है। जैसा कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है—'आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का वाहक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अतः उनकी अन्योन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुख होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।''

कला कला के लिए

कला का उद्देश्य विशुद्ध कला या सौन्दर्य को माननेवाले विद्वानों में क्रोचे, आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर, जे० ई० स्पिनगार्न आदि प्रमुख हैं। क्रोचे का मत 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ मानी हैं—एक विचारात्मक या सैद्धान्तिक (Theoretic) और दूसरी व्यावहारिक (Practical)। इस विचारात्मक या सैद्धान्तिक प्रवृत्ति के भी दो उपभेद हैं, एक स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), और दूसरी तर्क की क्रिया (Logic) से उत्पन्न। व्यावहारिक प्रवृत्तियों के भी क्रोचे ने दो भेद किए हैं—आर्थिक और नैतिक। इस प्रकार ये चार प्रवृत्तियाँ निश्चित हुईं—(१) स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), (२) तर्क की क्रिया से उत्पन्न (Logic), (३) आर्थिक (Economic) और (४) नैतिक (Ethical)। कला का

विक रूप में अभिव्यक्त कर देता है, तो वही कला का रूप धारण कर लेती है। अतः अभिव्यक्ति की पूर्णता ही कला की पूर्णता है। अभिव्यक्ति ही उसका सौन्दर्य है। इस प्रकार क्रोचे विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण के द्वारा कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानता है। यदि कलाकार अनैतिक तत्वों की अभिव्यंजना करता है, तो यह दोष स्वयं कलाकार का नहीं है, अपितु उस समाज का है जिसके वातावरण के प्रभाव से उसने ऐसी अनुभूति ग्रहण की। अतः जो आलोचक कला में नैतिकता देखना चाहते हैं, वे पहले समाज के वातावरण में नैतिकता को प्रतिष्ठित करें।

श्री आस्कर वाइल्ड और स्पिनगार्न महोदय ने भी कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानते हुए "कला कला के लिए" का समर्थन किया है। आस्कर वाइल्ड ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है—"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् है।" जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दों में—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।"

श्री ब्रेडले महोदय ने भी "कला कला के लिए" मत का समर्थन करते हुए कहा है कि कला को सौन्दर्य के माप-दण्ड से ही नापना चाहिए। हाँ, अनैतिकतापूर्ण रचनाओं को नागरिकों की दृष्टि से प्रकाशित न भी किया जाय तो कोई बात नहीं। ब्रेडले ने बतलाया है कि रोसिटी (Rosseti) ने अपनी एक कविता को जिसे मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भय से प्रकाश में नहीं आने दिया। इस सम्बन्ध में ब्रेडले महोदय का कहना था कि उसका यह निर्णय नागरिक की दृष्टि से था, कलाकार की हैसियत से नहीं।

आधुनिक मनोविश्लेषकों में भी अनेक ने कलावाद का समर्थन किया है। फ्रायड ने काव्य को अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में काव्य में कामुकता और अश्लीलता का आ जाना स्वाभाविक है। इस धारणा से साहित्यकारों को नग्न दृश्यों के चित्रण की छूट मिल गई। वे कला के आवरण में अपने कुत्सित मन की गन्दगी को प्रस्तुत करने लगे हैं। यदि क्रोचे ने स्वाभाविक अभिव्यक्ति को काव्य का लक्षण माना था, तो फ्रायडवादी अश्लील अभिव्यक्ति को ही अपना साध्य मानने लगे हैं।

वस्तुतः क्रोचे, स्पिनगार्न, ब्रेडले, फ्रायड आदि सभी कलावाद के समर्थकों के विचार अतिवादी हैं। सर्वप्रथम क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य मानकर एक बड़ी भारी भ्रान्ति का प्रचार किया। प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी-बहुत अनुभूति की मात्रा तो होती ही है और वह किसी-न-किसी रूप में उसे अभिव्यक्त भी करता है, किंतु प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक भावाभिव्यक्ति काव्य का रूप धारण नहीं करती। जब दो व्यक्ति परस्पर झगड़ते हैं तो उनकी उक्तियों में क्रोध की सफल अभिव्यक्ति होती है, पर क्या उसे हम काव्य की संज्ञा दे सकते हैं? अभिव्यक्ति काव्य का साधन है, साध्य नहीं। दूसरे

व्यक्ति का चरित्र भी उसकी विकसित भावनाओं पर आधारित होता है, अतः चारित्रिक वृत्तियों—नैतिकता आदि—का हमारी भावनाओं से गहरा सम्बन्ध होता है तथा काव्य की भी मूलाधार भावनाएँ होती हैं। इस दृष्टि से नैतिकता और काव्यात्मकता—दोनों का प्रेरणास्रोत एक ही है। अतः कला को नैतिकता से सर्वथा पृथक् मानना उचित नहीं।

यह ठीक है कि कला का सर्वोपरि गुण उसका सौन्दर्य है, किन्तु यह सौन्दर्य यदि नैतिकता से शून्य होगा तो उससे प्रभाव में न्यूनता आयेगी। स्वयं सौन्दर्य को सौन्दर्य बनाए रखने के लिए भी नैतिकता की प्रधान रूप में न सही, गौण रूप में आवश्यकता है। जैसा कि हमने प्रारम्भ से प्रतिपादित किया था कि सौन्दर्य का लक्ष्य हमारे जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु जो तत्त्व ऐसा करने में समर्थ न हो, उसे सौन्दर्य की उपाधि से कैसे विभूषित कर सकते हैं?

महात्मा टालस्टाय ने भी कला का मानदण्ड नैतिकता को सिद्ध करते हुए लिखा है—"In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to the whole society nd it is this relgious conception that decides the value of the feelings transmitted by art." अर्थात् "प्रत्येक युग में तथा प्रत्येक समाज में क्या अच्छा है क्या बुरा यह कला द्वारा प्रतिपादित भावनाओं के मूल में निर्धारित किया जाता है।"

आधुनिक युगीन पाश्चात्य विद्वानों में रस्किन ने कला में नैतिकता का समर्थन दृढ़तापूर्वक किया। रस्किन महोदय ने सौन्दर्य का सम्वन्ध आध्यात्मिकता से स्थापित करते हुए बताया है कि हमारी सौन्दर्यानुभूति हमारी इन्द्रियों, या हमारी मानसिक शक्तियों पर आधारित नहीं है, अपितु उसका सम्वन्ध हमारी आस्तिक भावनाओं से है। साथ ही उसका यह भी विश्वास है कि सच्चरित व्यक्ति ही उच्च कोटि की कला का सृजन और आस्वादन कर सकता है। इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड, रिचर्ड्स आदि विद्वानों ने भी नैतिकता का समर्थन किया है।

जहाँ कलावादियों ने सौन्दर्य को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उससे नैतिकता अस्वय हो जाती है तो नैतिकता को इतना बढ़ावा भी दिया है कि उससे सौन्दर्य का दम घुट जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण

हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस संबंध में एक सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कला का लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति या आनन्द प्रदान करना है। स्थूल दृष्टि से रस-सिद्धान्त पाश्चात्य कलावाद के निकट प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों ही कलाओं का लक्ष्य सौदर्य या आनन्दानुभूति स्वीकार किया गया है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होगा। पाश्चात्य कलावाद में जहां स्वयं रचयिता का आनन्द ही साध्य है, वहाँ रस-सिद्धांत में

सामाजिक या पाठक का। इस स्थिति में कला समाज विरोधी रूप धारण नहीं कर सकती। यदि कला नैतिकता का विरोध करेगी, तो वह सामाजिक के हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ सिद्ध होगी। यही कारण है कि हमारे यहाँ कवियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए 'रसाभास' जैसे विशेषणों का आविष्कार किया गया है।

रस-सिद्धांत के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी कला का मानदण्ड तो सौंदर्य को ही रखा है, किन्तु वे उसका लक्ष्य सामाजिक की तृप्ति ही मानते है। वस्तु, भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कला स्वतन्त्र रहती हुई भी नैतिकता के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करती रही है, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं मिलता। हाँ, जब-जब समाज के दृष्टिकोण में भी नैतिकता सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। नायिका-भेद के अन्तर्गत परकीया को भी स्थान दिया जाना इसी तथ्य का द्योतक है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण में अवश्य पाश्चात्य के प्रभाव के कारण थोड़ी अतिवादिता आ गई। जहाँ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कला में नीति को ढूँढ़ना पाप समझते हैं। उनके शब्दों में—"उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के भी मन्दिर को कलुषित करना है।' यदि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त एक ओर लिखते हैं "**मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।**" तो दूसरी ओर महाकवि दिनकर जी का विचार है—"मैं यह मानता हूँ कि वसन्त का गुलाब और कवि के स्वप्न अपने में पूर्ण होते हैं, वे किसी को कुछ सिखाने के लिए नहीं होते!" हमारे विचार से काव्य में कला का मूल लक्ष्य तो सौंदर्य ही होना चाहिए, किन्तु उसमें अनैतिक तत्त्वों का ऐसा मिश्रण न हो कि वह समाज को क्षति पहुँचाने लगे। हाँ, यदि उसकी कलात्मकता को ठेस पहुँचाए बिना कुछ उपयोगी तत्त्वों का भी समावेश किया जा सके तो यह उसका विशेष गुण होगा। कला के क्षेत्र में सौंदर्य को नष्ट कर देनेवाली अति नैतिकता और नैतिकता को ठेस पहुँचानेवाली सुन्दरता—ये दोनों ही त्याज्य हैं। यदि एक मिष्ठान-विक्रेता अपने मिष्ठान्न में ऐसी गुणकारी वस्तुएँ मिलाता है जिनसे उसका स्वाद ही बिगड़ जाता है या उसके स्वाद को बढ़ाने के लिए ऐसी वस्तुएँ मिलाता है कि खानेवाले को तुरंत हैजा हो जाता है—तो दोनों ही स्थितियों में उसकी मिठाई हमें स्वीकार्य नहीं होगी। सौंदर्य के नाम पर कला को समाज-विरोधी रूप देना ऐसा ही है, जैसा स्वाद की वृद्धि के लिए हैजा फैलानेवाली मिठाई का निर्माण करना। वस्तुतः कला में सौंदर्य और नैतिकता का संतुलित एवं समन्वित रूप ही श्रेयस्कर है। कला जीवन-साध्य है तथा जीवन कला-साध्य। कला जीवन से दूर कोई एकान्तमयी कोरी कल्पना नहीं और न जीवन कला से दूर कोई जड़ पदार्थ है। कला और जीवन दोनों समाज सापेक्ष हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उत्कृष्ट कला में दोनों का समन्वित रूप ही दृष्टि-गोचर होता है अतः कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है–'सौंदर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति और मंगल-मूर्ति ही सौंदर्य का पूर्ण स्वरूप है।'

:: सात ::

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? इस छोटे से प्रश्न को लेकर आज तक विश्व के न जाने कितने विद्वानों दार्शनिकों और आचार्यों ने विचार किया है किन्तु फिर भी इसका कोई एक सर्व-सम्मत उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। प्रसिद्ध विचारक सुकरात ने कविता की व्याख्या करते हुए इसे दैवी प्रेरणा से प्रेरित सन्देश का रूप दिया है। उनके विचार से जब ईश्वर हमसे बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने शब्दों को व्यक्त कर देता है। कवि के सहज स्वाभाविक उद्‌गार दैवी उद्‌गार हैं। निःसन्देह सुकरात की इस व्याख्या से कविता और रचयिताओं के महत्व में पर्याप्त अभिवृद्धि होती है, किन्तु इससे कविता के यथार्थ रूप का बोध नहीं होता। सभी कवियों के उद्‌गार किसी दिव्य सन्देश को व्यक्त करते हैं—इसे स्वीकार करना उचित नहीं।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने कविता को अत्यन्त हेय एवं घृणापूर्ण दृष्टिकोण से देखा। उसकी धारणाओं का मूलाधार अनुकृति का सिद्धान्त है। यह समस्त स्थूल जगत् किसी अलौकिक सूक्ष्म जगत् की प्रतिच्छाया मात्र है, अतः वह तो मिथ्या है ही, जबकि कविगण अपनी कविताओं में इस मिथ्या जगत के मिथ्या पदार्थों की भी मिथ्या अनुकृतियाँ अंकित करते हैं। इस प्रकार कविता में मिथ्या की मात्रा द्विगुणित हो जाती है। दूसरे, कवि या साहित्यकार हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि न करके हमारी वासनाओं इच्छाओं एवं भावनाओं को आन्दोलित करते हैं जिससे हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में दुर्बलता, अशक्तता एवं अनियमितता आती है। इन आक्षेपों के आधार पर प्लेटो ने अपने देशवासियों को कविता का वहिष्कार कर देने का परामर्श दिया था। उनके शब्दों में —"We should expel poetry from the city such being her nature. In case she should accuse us of brutality and boorishness,···let us state that if the pleasure producing poetry and imitation have any arguments to show that she is in her right place in a well-governed city, we shall be very glad to receive her back again". (Greek Literary Criticism, page 87) अर्थात् "कविता की मूल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसे अपने राज्य में से निकाल देना चाहिए। यदि वह हम पर निर्दयता या अन्याय का आरोप लगाये तो हमें

उसे बता देना चाहिए कि हमारे इस सुव्यवस्थित राज्य में उसे तभी स्थान मिल सकता है, जब वह अपने आपको निर्दोष एवं उपयोगी सिद्ध करे।" वस्तुतः प्लेटो ने कविता के केवल असुन्दर पक्ष को ही एकांगी दृष्टिकोण से देखा, इसी से उनका कविता सम्बन्धी विवेचन ऊहात्मक एवं दोषपूर्ण हो गया है।

अरस्तू ने कविता का विवेचन यथार्थवादी शैली में करते हुए एक ओर जहाँ सुकरात की दिव्य प्रेरणा की बात का खंडन किया है, वहीं दूसरी ओर प्लेटो के आक्षेपों का भी निराकरण किया। काव्य-प्रेरणा के उसने दो कारण बताये—"एक तो मनुष्य में स्वभाव से ही अनुकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है तथा दूसरे, अनुकरणात्मक रचनाओं से हमें आनन्द की उपलब्धि होती है।' प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी कविता का मूल रूप अनुकृति को ही माना है किन्तु इसे उन्होंने दोष के स्थान पर उसका गुण माना है। यद्यपि वे तथ्य जिनका अनुकरण काव्य में किया जाता है, अपने आपमें शोकपूर्ण होते हैं, किन्तु फिर भी उनके कलागत स्वरूप से हमें आनन्द ही प्राप्त होता है। कविता से आनन्द क्यों प्राप्त होता है ? अरस्तू की शब्दावली में कह सकते है कि कोई नई बात सीखना किसी नई वस्तु को समझना अपने-आप में सबसे बड़ी प्रसन्नता है। जब हम किसी चित्र को देखकर उसका अर्थ समझते है तो हमें उससे प्रसन्नता का अनुभव होता है। कविता की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने उसे 'छन्दोबद्ध अनुकृति' बताया है।

यद्यपि अरस्तू ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार-परम्परा को आगे बढ़ाया है, किन्तु कविता के सम्बन्ध में उनके निष्कर्ष भी भ्रान्ति-शून्य नहीं हैं। एक तो कविता को अनुकृति मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। अनुकृति स्थूल पदार्थों, प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापारों एवं वास्तविक तथ्यों की ही की जा सकती है, जबकि कविता में सूक्ष्म भाव-नाओं एवं काल्पनिक घटनाओं का चित्रण होता है। दूसरे, काव्य-जन्य आनन्दों को वस्तुओं और तथ्यों के ज्ञान-जन्य आनन्द के तुल्य बताना भी भ्रामक है। वास्तव में इन यूनानी दार्शनिकों का ध्यान कविता के सर्वप्रमुख तत्त्व—भाव की ओर नहीं गया। उनकी दृष्टि कविता के स्थूल अवयवों एवं उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रही, अतः उनकी विवेचना के आधार पर कविता के स्वरूप का सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण

कविता क्या है—इसी प्रश्न को भारतीय आचार्यों ने दूसरे शब्दों—'काव्य की आत्मा क्या है ?'—उठाया था। सम्भवतः शाब्दिक दृष्टि से दोनों प्रश्न परस्पर भिन्न प्रतीत हों, किन्तु अर्थ और लक्ष्य की दृष्टि से दोनों में गहरी समानता है। पहले प्रश्न में कविता के समग्र रूप के सम्बन्ध में पूछा गया है, जबकि दूसरे में उसके सर्वप्रमुख तत्त्व पर ही बल दिया गया है—अतः दूसरा प्रश्न पहले का ही पूरक है। जब हमें काव्य की आत्मा का ज्ञान हो जायगा, तो उसके शेष अंगों तथा पूरे स्वरूप का निर्णय करना हमारे लिए कठिन नहीं रहेगा। अतः काव्य की आत्मा सम्बन्धी वादविवाद का अध्ययन इस प्रसंग में उपयोगी ही सिद्ध होगा।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में हमारे यहाँ छः प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं—रस सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि थे। यद्यपि उन्होंने काव्य की आत्मा-संबंधी वाद-विवाद में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, किंतु उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से काव्य का उद्देश्य पाठक को रसानुभूति प्रदान करना बताया है। काव्य की वह शक्ति जिससे रस की निष्पत्ति होती है, वही काव्य की आत्मा है। काव्य में यह शक्ति भावनाओं के चित्रण द्वारा उत्पन्न होती है। अतः रस-सिद्धान्त के अनुयायी भाव, भावनाओं और उनसे सम्बन्धित विभिन्न अंगों—विभाव, अनुभावादि को ही काव्य का प्राण मानते हैं। प्रक्षेप में रस-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा उसकी भावोत्पादिनी शक्ति है। ध्यान रहे, भावानाओं का वर्णन इस ढंग से भी किया जा सकता है कि पाठक उससे जरा भी प्रभावित न हो, ऐसी स्थिति में वह वर्णन काव्य का रूप धारण नहीं कर सकेगा। इसीलिए रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने कोरे भाव के स्थान पर रस (=भावोत्पादिनी शक्ति) को महत्त्व दिया है।

अलंकार संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा उसका सौन्दर्य है। इस संप्रदाय के उन्नायकों में भामह, दंडी और रुद्रट का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता हैं। इनके विचारानुसार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि अलंकारों के प्रयोग से ही होती है, अतः वे अलंकार को ही काव्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व मानते हैं। यद्यपि इन्होंने अलंकार को वहुत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु फिर भी उससे काव्य के मूल रूप का स्पष्टीकरण नहीं होता। रस का संबंध जहाँ काव्य की मूल विषय-वस्तु से है, वहाँ अलंकार केवल उसके कथन के प्रकार से सम्वन्ध रखता है। दूसरे, रस में एक आवश्यक शर्त यह है कि काव्य से पाठक को आनन्द की उपलब्धि हो, जवकि अलंकार सम्प्रदाय इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। अस्तु, कोरी आलंकारिकता काव्य की मूल आत्मा न होकर उसका वाह्य उपकरण मात्र है; वह साधन ही है, साध्य नहीं।

'रीति-संप्रदाय' के प्रवर्त्तक वामन ने 'विशिष्ट-पद-रचना' या रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हुए काव्य-रचना की विभिन्न शैलियों को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व घोषित किया है। इसी प्रकार 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने शैली की वक्रता या असाधारणता को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने काव्य का महत्त्व उसकी व्यंजना-शक्ति के वैभव को प्रदान किया। वस्तुतः अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—ये चारों सम्प्रदाय काव्य की आत्मा की अपेक्षा उसके अन्य अंगों की व्याख्या अधिक करते हैं। रस को यदि काव्य की आत्मा या प्राण कहा जा सकता है तो ये चारों उसके शरीर के विभिन्न अंग व तत्त्व माने जा सकते हैं। औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को ही काव्य की आत्मा माना है। अतः हम सभी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की आत्मा या उसका सर्वप्रथम तत्त्व रस या भावोत्पादिनी शक्ति (संक्षेप में—भाव-तत्त्व) ही है।

काव्य की आत्मा का निर्णय हो जाने के अनन्तर हम उसके बाह्य रूप पर भी विचार कर सकते हैं। काव्य के भी अनेक रूप एवं भेद मिलते हैं, जिनमें से एक 'कविता' भी है। सबसे पूर्व काव्य के तीन भेद है—गद्यवद्ध, पद्यवद्ध एवं चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित)। पद्यवद्ध काव्य को ही कविता कहते हैं। इनके भी अनेक रूप हैं—प्रबंध काव्य, मुक्तक-काव्य और गीति काव्य। प्रबन्ध काव्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दीर्घ कथा चलती रहती है। मुक्तक काव्य के छन्द एक दूसरे से विशृंख-लित रहते हैं। गीति-काव्य में संगीतात्मकता का समावेश होता है। अस्तु, रूप-आकार आदि की दृष्टि से प्रबन्ध, मुक्तक एवं गीति में परस्पर अन्तर है, किन्तु ये सभी पद्यवद्ध होते हैं—अतः रस यदि कविता की आत्मा है तो पद्यबद्धता या छन्दो-वद्धता उसका शरीर है, ध्वनि उसका रूप-रंग है, अलंकार उसके आभूषण हैं, वक्रोक्ति उसकी वाणी का माधुर्य है और रीति उसके व्यवहार की कमनीयता है।

कविता के विभिन्न लक्षण

कविता के इस समग्र रूप को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाओं और लक्षणों के संकीर्ण वृत्त से बांधने का प्रयत्न किया है। काव्य-प्रकाश के रचयिता मम्मट के शब्दों में अलंकार हो या न हो, दोषरहित, गुण रहित, शब्द और अर्थमयी रचना काव्य है (तद्दोषौ शब्दर्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि)। आचार्य विश्वनाथ के विचारानुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—है। पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य बताते हुए लिखा है—"रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दः काव्यम्।" वस्तुतः यहाँ 'काव्य' शब्द को साहित्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, अतः इन परिभाषाओं से कविता के लक्षण स्पष्ट नहीं होते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कविता को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए लिखा है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" (चिन्तामणि, भाग १)। यह लक्षण केवल कविता पर ही नहीं, काव्य के अन्य रूपों पर भी लागू होता है, अतः इससे भी कविता के स्वरूप का बोध स्पष्ट रूप में नहीं होता।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विशुद्ध कविता के लक्षणों को ध्यान में रखकर उसकी परिभाषा की है, अतः उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू की परिभाषा पर पीछे विचार किया जा चुका है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को मूलतः जीवन की आलोचना बताया है—"**Poetry is at boottom a criticism of life.**" —किन्तु यह लक्षण तो दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास और आत्मकथाओं में भी मिलता है, अतः इसे कविता का लक्षण बताना, कविता का उपहास करना है। महाकवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को शांति के समय स्मरण की गई उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक बताया है—"**poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility.**"

इन शब्दों से कविता की उत्पत्ति और उसके मूल तत्त्व 'भाव' मर तो प्रकाश पड़ता है, किन्तु उसके अन्य लक्षणों का पता इनसे नहीं चलता। उसी युग के अन्य महाकवि कालरिज ने कविता को उत्तमोत्तम क्रम-विधान—"poetry, the best words in the best order" बताकर उसकी प्रशंसा-मात्र की है, जो उपन्यास पर भी लागू हो सकती है। कारलायल (Carlyle) ने कविता को संगीतमय विचार घोषित करके उसके भाव-पक्ष की उपेक्षा कर दी है—"poetry, we will call musical thought. डा० जानसन (Dr Jonhson) के शब्दों में कविता सत्य और आनन्द के सम्मिश्रण की वह कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है—Poetry is the art of uniting pleasure with truth of callng imagination to the help of reason." वस्तुत: ये लक्षण साहित्य की प्रत्येक रचना में किसी-न-किसी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, अत: इसे विशुद्ध कविता की परिभाषा नहीं कहते। हडसन ने कविना की परिभाषा करते हुए उसे कल्पना और भावना के द्वारा जीवन की व्याख्या करनेवाली बताया है— Poetry is interpretation of life through imagination and emotion." इस परिभाषा से कविता के भाव-पक्ष का ही बोध होता है, उसके शैली-पक्ष की चर्चा उसमें नहीं है।

हमारी दृष्टि में ये सभी परिभाषाएं महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु कविता के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का परिचय उनमें से किसी भी एक से नहीं मिलता। किसी में भाव-पक्ष गौण है तो किसी में कला-पक्ष। डा० सूर्यकान्त ने एक स्थान पर कविता के दो लक्षण निर्धारित किए हैं—भावों को तरंगित करने की शक्ति और पद्यबद्धता। भले ही आज के युग में कविता गद्यात्मक होती जा रही है। (और साथ में वह उतनी ही प्रभावशून्य होती जा रही है,) किन्तु फिर भी उसका पद्य, छन्द या लय में से कोई न कोई बन्धन तो उसे स्वीकार करना ही पड़ता हैं। अत: इन दो प्रमुख लक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कविता, पद्य-छन्द या लय में बंधे हुए ऐसे शब्दों की निधि है जो हमारी भावनाओं को तरंगित करके हमें रसानुभूति प्रदान कर सके।

कविता के तत्व

सामान्यरूप से तो कविता में भी वे ही चार तत्व—भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली—पाए जाते हैं, जिनकी चर्चा हमने लेख—'साहित्य और उसके तत्व' में की है। यहाँ हम कविता सम्बन्धी कुछ विशेष बातों की ही व्याख्या करेंगे।

जैसा कि पीछे कहा गया है, कविता के मुख्यत: तीन रूप प्रचलित हैं—प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक और गीति। तात्विक दृष्टि से इन तीनों रूपों में परस्पर गहरा अन्तर है। प्रबन्धकाव्य और मुक्तक में गीतिकाव्य की अपेक्षा ये तत्व अधिक होते हैं—(१) कथावस्तु (२) पात्रों का चरित्र-चित्रण। (३) विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में वर्णन। (४) विभिन्न समस्याओं, विचारधाराओं एवं जीवन-दर्शन की व्यंजना। मुक्तक काव्य में विविधता के स्थान पर एकरूपता होती है; अत: उसमें किसी एक

प्रसंग, एक दृश्य या एक भाव-दशा का ही अंकन प्रमुख रूप में होता है। दूसरे, मुक्तक कार की शैली में संक्षिप्तता एवं व्यंजना अपेक्षित होती है। गीतिकाव्य के ये पाँच लक्षण स्वीकार किये गये हैं—(१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिकता, (४) संक्षिप्तता और शैली की कोमलता। वस्तुतः प्रबन्धकाव्य तो अपनी इतिवृत्तात्मकता, एवं विचारात्मकता के कारण गद्य-काव्य के बहुत समीप पहुँच जाता है, कविता का सच्चा रूप और कवि की सच्ची भावात्मकता की परीक्षा गीति-काव्य में ही होती है। भावोद्गार' या 'भावोच्छ्वास' के रूप में उच्छ्वासित होने वाली कविता का दर्शन गीतिकाव्य में ही होता है।

कविता और साहित्य के अन्य रूप

कविता के इन तीनों रूपों की तुलना साहित्य के अन्य रूपों से भी जा सकती है। जिस प्रकार पद्य के तीन रूप—प्रबन्ध, मुक्तक और गीतिकाव्य हैं, वैसे ही गद्य के तीन रूप—उपन्यास, कहानी और एकांकी हैं। प्रबन्धकाव्य और उपन्यास में परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों में ही कथावस्तु का संघटन, पात्रों का चरित्र-चित्रण, विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में अंकन तथा विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है। अतः यह कहना कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है, बहुत कुछ ठीक जँचता है। फिर भी दोनों की प्रकृति में थोड़ा अन्तर होता है। महाकाव्य में उपन्यास की अपेक्षा अधिक रागात्मकता, अधिक आदर्शवादिता एवं अधिक संगीतात्मकता होती है। जैसा साम्य प्रबन्धकाव्य और उपन्यास में मिलता है, वैसा कहानी और मुक्तक काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। मुक्तक का क्षेत्र कहानी की अपेक्षा बहुत ही सीमित होता है; कहानी में वस्तु, पात्र, एवं संवाद की आयोजना किसी-न-किसी अंश में अवश्य रहती है, किन्तु मुक्तक-काव्य में प्रायः किसी एक परि-स्थिति, एक भाव-दशा या एक विचार का ही चित्रण होता है। छोटे भावात्मक पत्र या भावात्मक गद्यकाव्य गीतिकाव्य की शैली के निकट पड़ते हैं, पर दोनों में प्रभाव की दृष्टि से गहरा अन्तर होता है। गीतिकाव्य की स्वर-लहरियों में एक ही भाव की गूँज आदि से अन्त तक सुनाई देती है, जबकि गद्य-काव्य और पत्रों में अनेक भावों और अनेक विचारों के लिए स्थान होता है। वस्तुतः गद्य के क्षेत्र में ऐसी विधा अभी तक प्रचलित नहीं हुई, जो मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य की तुलना में रखी जा सके। हाँ, छोटी छोटी टिप्पणियाँ और भावात्मक गद्यांशों का विकास इस रूप में किया जा सकता है।

कविता का महत्व

कविता का महत्त्व पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। एक ओर अग्निपुराण का रचयिता काव्य-रचयिता को ब्रह्म के समकक्ष महत्त्व प्रदान करता है तो दूसरी ओर शेक्सपीयर कवि को एक नूतन सृष्टि का रच-यिता घोषित करता है. देखिए—

अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

—व्यास

The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes and gives to airy nothings
A local habitation and a name.

—Shakespeare

वस्तुतः भावनाओं को आन्दोलित करने की जो शक्ति कविता में है, वह साहित्य के किसी अन्य रूप में नहीं मिलती। आधुनिक युग में बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ मानवीय जीवन में रागात्मक तत्त्वों का ह्रास होता जा रहा है, अतः कुछ विद्वानों के मत में कविता का महत्त्व भी न्यून होता जा रहा है, किन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है। जिस वस्तु का जितना अधिक अभाव होगा, उतनी ही उसके मूल्य में अभिवृद्धि होगी—इस नियम के अनुसार भावी युग की बौद्धिक शुष्कता से पीड़ित मानवता को काव्य-उपवन की शीतल हरियाली और भी अधिक अपेक्षित होगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों कवियों के लिए काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए नए आवरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।" अतः कविता का महत्त्व भविष्य में अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। हाँ, इतना भय अवश्य है कि कहीं कृत्रिम कवियों के बौद्धिक क्रिया कलापों के फेर में पड़ कर स्वयं कविता का रूप ही विकृत न हो जाय, जैसा कि आजकल हो रहा है।

: आठ :

नाटक : स्वरूप और रूपतत्व

विभिन्न विद्वानों ने 'नाटक' या 'नाट्य' शब्द की व्याख्या करते हुए इसकी व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से सिद्ध की है, जबकि 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी है। वेबर और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्', 'नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' (नाचना) धातु से बिगड़ कर बनी हैं। किन्तु ऋग्वेद में 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुओं का प्रयोग मिलता है। अतः 'नट्' को विकृत रूप मानना उचित नहीं। धनंजय ने अपने 'दश-रूपक' में 'नृत' नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि नृत्त ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित होता है। हमारे विचार से नृत्त और नृत्य में विशेष अन्तर नहीं है—इन दोनों में ही ताल-लय और भाव का आश्रय लिया जाता है, जबकि नट, नाट्य और नाटक में अनुकरण व अभिनय की प्रमुखता होती है। नृत्य नाट्य का एक अंग हो सकता है, किन्तु नाट्य नृत्य का नहीं; स्पष्टतः ही 'नाटक' 'नृत्य' से अधिक व्यापक अर्थ को सूचित करता है।

'नाटक' के पर्यायवाची के रूप में 'रूपक' का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। नाटक में मूल पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं आदि का अनुकरण मात्र अपेक्षित है, जबकि रूपक में इसके साथ-साथ मूल पात्रों के रूप का आरोपण भी आवश्यक है। 'नाटक' शब्द में गति एवं क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है, जबकि रूपक में स्थूल रूप—वेश-भूषा—आदि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने 'रूपक' को अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसके अठारह भेद किए हैं जिनमें से एक भेद नाटक भी है।

नाटक के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा भारतीय विद्वानों की धारणा से किंचित भिन्न है। अंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची 'ड्रामा' (Drama) शब्द है। आइवर ब्राउन ने 'ड्रामा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसका संबंध यूनानी के एक शब्द-विशेष से स्थापित किया है जिसका अर्थ होता है—'कृत' या 'किया हुआ।' इसी को हम 'कार्य' कह सकते हैं। वस्तुतः पाश्चात्य नाटकों में 'कार्य' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, किन्तु भारतीय नाटकों में 'अभिनय-कला' या 'रस' को प्रमुखता दी जाती

है। इसी दृष्टिकोण-भेद के कारण दोनों के स्वरूप, लक्षण एवं तत्त्वों में अन्तर मिलता है।

नाटक के लक्षण

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने नाटक के विभिन्न लक्षणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में लिखा है **"योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वितः। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।"** अर्थात् जिसमें स्वभाव से ही लोक का सुख-दुःख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी की व्याख्या करते हुए लिखा है—**"प्रत्यक्ष कल्पानुध्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्योलोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थोनाट्यम्"** अर्थात् नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि प्रदान करता है। महिम भट्ट का मत है कि अनुभाव-विभावादि के वर्णन से जब रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते हैं और जब काव्य को गीतादि से रंजित एवं अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो वह नाटक का स्वभाव धारण कर लेता है। रामचन्द्र ने अपने 'नाट्य-दर्पण' में नाटक के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, जो प्रसिद्ध आद्य (पौराणिक एवं ऐतिहासिक) राज-चरित पर आधारित हो, जो धर्म, काम एवं अर्थ का फलदाता हो और जो अंक आय. (पंच अर्थ प्रकृति), दशा (पंचावस्था) से समन्वित हो, उसे नाटक कहा जाता है।

नाटक के लक्षणों का और भी अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण आचार्य विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' में लिखा है—'नाटक' का वृत्त (कथा) प्रसिद्ध हो; उसमें पाँचों संधियों का समन्वय होना चाहिए। उनमें विलास, समृद्धि आदि गुणों तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होते हैं। पुराणादि से प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है। शृंगार या वीर इनमें से कोई एक रस प्रधान होता है—अन्य सब रस अंगभूत रहते हैं। इसे निर्वहण संधि में अत्यन्त अद्भुत (कौतूहलवर्द्धक) बनना चाहिए। इनमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में रत रहने चाहिए तथा गौ के पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए।" (साहित्य-दर्पण' : शालिग्रामकृत भाष्य, पृष्ठ १७०-१७१)

नाटक के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करते समय सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे आचार्यों ने 'ख्यात वृत्त' पर इतना अधिक बल क्यों दिया है? इसका उत्तर स्पष्ट है। नाटक की रचना उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को ही नहीं, निम्न वर्ग के अशिक्षित जन-समुदाय को भी ध्यान में रखकर की जाती है, अतः 'ख्यात-वृत्त' होने पर वे उसे अधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते हैं। दूसरे कल्पित

आख्यानों के नये-नये पात्रों के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गम्भीरता से नहीं हो सकता जितना कि ख्यात नायकों—राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, अशोक, प्रताप आदि—से हो सकता है। रसानुभूति में हमारे पूर्व-संस्कार एवं प्रारम्भिक धारणाओं का भी गहरा योग होता है। महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का संचार हमारे हृदय में हो जाता है, वह किसी कल्पित 'चन्द्रसिंह' या 'भानुप्रताप' के दर्शन से नहीं होता। कल्पित पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ अंश देख लेने के अनन्तर आगे चलकर होता है; फलतः हमारी अनुभूति में पूर्ण सघनता आने में अधिक देर लग जाती है। भारतीय आचार्यों ने रस-निष्पत्ति को उद्देश्य मानते हुए नाटक के लक्षणों का प्रतिपादन किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने 'कार्य' को महत्त्व देते हुए संघर्ष, संकलन-त्रय, दुखान्त, सुखान्त आदि लक्षणों को प्रमुखता दी है।

नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के पाँच तत्त्व निर्धारित किए हैं—(१) वस्तु (२) पात्र, (३) रस, (४) अभिनय और (५) वृत्ति। पाश्चात्य आलोचक सामान्यतः ये ६ तत्त्व—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य स्वीकार करते हैं। प्रथम दो तत्त्व तो भारतीय एवं अभारतीय विद्वानों में समान रूप से प्रचलित हैं ही, शेष तत्त्वों में भी किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ अभिनय के उपभेदों में 'वाचिक अभिनय' का उल्लेख किया गया है। जिसे हम पाश्चात्य विद्वानों के 'कथोपकथन' का पर्याय मान सकते हैं। अभिनय के भेदोपभेदों में वेश-भूषा एवं क्रिया-कलापों की स्वाभाविकता पर बल दिया गया है जिसमें 'देश-काल' के धर्म का पालन हो जाता है। भारतीय नाटकों का रस ही उद्देश्य है अतः पाश्चात्य 'उद्देश्य' तत्त्व का समाहार भारतीय नाटकों के रस में तथा 'शैली' का समाहार 'वृत्ति' में किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वों में पाश्चात्य तत्त्वों का समाहार हो जाता है, किन्तु पाश्चात्य तत्त्वों में भारतीय तत्त्वों का समन्वय नहीं हो पाता। नाटक में ही नहीं, काव्य के प्रत्येक अंग में भावतत्त्व की प्रमुखता होती है, अतः भावानुभूति या रस-तत्त्व का नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु पाश्चात्य आलोचकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार अभिनय भी 'नाटक' को 'नाटक' बनाता है, किन्तु इसका यूरोपीय विद्वानों ने उल्लेख नहीं किया। पाश्चात्य विद्वान् जो ६ तत्त्व नाटक में गिनाते हैं, वे ही उपन्यास और कहानी में भी गिना देते हैं—इसका तात्पर्य है नाटक, उपन्यास और कहानी में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों के द्वारा किया गया तात्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामणिक है तथा वह नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है, अतः हम यहाँ भारतीय दृष्टिकोण को प्रमुख रूप से ग्रहण करते हुए विभिन्न तत्त्वों का परिचय देंगे।

१. वस्तु—नाटक की वस्तु या कथावस्तु (Plot) के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। नाटक के प्रमुख फल के भोक्ता

को अधिकारी या नायक कहते हैं, अतः उससे सम्बन्धित कथा को, जो कि नाटक की प्रमुख कथा होती है, आधिकारिक कहते हैं। गौण पात्रों से सम्बन्धित प्रसंगवश उपस्थित कहानी को प्रासंगिक कहते हैं। नाटक में प्रासंगिक कथाओं का समावेश प्रमुख या आधिकारिक कथा की आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त या उसे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि 'रामचरित नाटक' लिया जाय तो उसमें वालि-सुग्रीव सम्बन्धी प्रकरण प्रासंगिक रूप में ही ग्रहण किया जायगा।

प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी। पताका मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती है, जबकि प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। कथावस्तु के आधार की दृष्टि से भी तीन भेद किये गये हैं - (१) प्रख्यात, जिसका आधार इतिहास, पुराण या लोक-आख्यान होता है। (२) उत्पाद्य, जो नाटककार के द्वारा कल्पित होता है। (३) मिश्र, जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण, किया जाता है।

कथावस्तु को क्रमशः नाटक में या रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, जिसे सम्यक् रूप से ग्रहण करने के लिए पाँच अवस्थाओं में बाँटा जाता है—(१) प्रारंभ—इसमें कथानक का आरम्भिक भाग आता है, जिससे नायक की इच्छा या उसके प्रमुख उद्देश्य का पता चलता है। (२) प्रयत्न—इसमें नायक के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त किये गये प्रयत्नों का चित्रण होता है। (३) प्राप्तयाशा—इस अंश में नायक का उत्कर्ष होने लगता है, उसके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती हैं जिनसे उनकी फल-प्राप्ति की आशा होने लगती है। (४) नियताप्ति—इसमें नायक की फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। और (५) फलागम—इसमें नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटक की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—(१) प्रारम्भ, (२) विकास (३) चरम सीमा, (४) उतार और (५) अन्त या समाप्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवस्थाओं का यह विश्लेषण भारतीय आचार्यों के विवेचन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

कथानक की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के विकास का पता उसकी कुछ प्रमुख घटनाओं से चलता है जिन्हें 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। कथा-वस्तु की अवस्थाओं के अनुसार इसकी भी संख्या ५ मानी जाती है—बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। प्रत्येक अवस्था और अर्थ-प्रकृति में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है जिनकी संख्या भी ५ मानी गई है—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्ष, और ५. निर्वहण या उपसंहार। निम्नांकित तालिका द्वारा अर्थ-प्रकृति, अवस्था एवं संधियों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्टता पूर्वक ग्रहण किया जा सकता है—

अर्थ-प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१. बीज	प्रारम्भ	मुख
२. बिंदु	प्रयत्न	प्रतिमुख
३. पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४. प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श (अवमर्ष)

नाटक में सारी कथावस्तु को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन होता है, अतः उसके कुछ अंश की केवल सूचना ही किसी प्रकार दे दी जाती है। इस सूच्य वस्तु की सूचना देनेवाले साधनों को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। ये भी पाँच प्रकार के बताये गये हैं - (१) विष्कम्भक—नाटक के आरम्भ में या दो अंकों के बीच में दो गौण पात्रों के वार्तालाप द्वारा जब सूचना दी जाती है उसे विष्कम्भक कहते हैं। (२) चूलिका—पर्दे के पीछे से दी जानेवाली सूचना को चूलिका कहा जाता है। (३) अंकास्य अंक के अन्त में जहाँ बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा अगले अंक की कथा की सूचना दिलाई जाती है उसे अंकास्य कहते हैं। (४) अंकावतार—जहाँ पर पहले अंक के पात्र ही बाहर जाकर फिर लौट आते हैं, उसे अंकावतार कहते हैं। (५) प्रवेशक—नवागन्तुक निम्नकोटि के पात्र द्वारा दी जानेवाली सूचना को 'प्रवेशक' कहते है।

इस प्रकार कथावस्तु, उपर्युक्त भेदोपभेदों, विभिन्न अंगों व साधनों के सूक्ष्म विश्लेषण से भारतीय आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। आधुनिक विद्वान् इन शास्त्रीय भेदोपभेदों के पचड़े से बचने के लिये प्रायः अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, संधियों व 'अर्थोपक्षेपक' को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

२. पात्र—भारतीय आचार्यों ने नाटक के पात्रों को नायक, नायिका, प्रतिनायक, पीठमर्द, विदूषक, दूतिका आदि वर्गों में विभाजित किया है। नाटक के प्रधान पात्र को ही नेता कहते हैं। 'नेता' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'ले चलना', जो कथा को फल की ओर ले जाता है, वही नेता होता है। फल-प्राप्ति नायक को ही होनी चाहिए। कई बार नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक कौन है? आचार्य गुलाबरायजी के शब्दों में—"नायक जानने का यही साधन है कि हम देखें कि कथा का फल किसके साथ लगा हुआ है। श्रोता, द्रष्टा या पाठक जिसके उत्थान या पतन में अधिक-से-अधिक रुचि रखते हैं। फल हमेशा मूर्त नहीं होता। प्रतिज्ञा का पूर्ण होना भी एक प्रकार का फल होता है।"

चारित्रिक दृष्टि से नायक के चार प्रमुख भेद किये गये हैं—(१) धीरोदात्त (२) धीर-ललित, (३) धीर-प्रशांत और (४) धीरोद्धत। धीरोदात्त सर्वोत्कृष्ट श्रेणीका व्यक्ति होता है। उसका चरित्र उदार होता है। उसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता और आत्म-गौरव के साथ विनय और निरभिमानिता रहती है। इसके उदाहरण रामचन्द्र हैं। धीर-ललित कोमल स्वभाव का होता है तथा इसमें रसिकता एवं कला-प्रेम का उन्मेष अधिक पाया जाता है। शृङ्गार रस-प्रधान नाटकों का नायक धीर-ललित ही होता है। धीर-प्रशांत संतोषी, विनम्र एवं शांत स्वभाव का होता है। कुटिल, नीतिज्ञ, कपटी एवं प्रचण्ड व्यक्तित्व वाले नायक को धीरोद्धत की कोटि में रखा जाता है। नायक का यह वर्गीकरण आधुनिक परिस्थितियों एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से कहाँ तक उचित है, इस सम्बन्ध में गवेषणा की अपेक्षा है।

नायिका के भेदोपभेदों को भी संस्कृत व हिन्दी के आचार्यों ने पर्याप्त विस्तार दिया है। विशेषतः शृंगार रस के नाटकों में ही नायिका को अधिक महत्व दिया जाता है। अतः शृंगार व प्रेम की परिस्थितियों, अवस्थाओं व भाव-दशाओं के दृष्टिकोण से

नायिका के सहस्राधिक भेद किये हैं। सबसे पूर्व सामाजिक स्थिति के आधार पर नायिका के तीन भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या किये जाते हैं। इनके भी प्रत्येक के नायिका की अवस्था के अनुसार तीन-तीन अवान्तर भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा किये गये हैं; इनके भी अनेक अवान्तर भेद किये गये हैं। इसके अतिरिक्त नायिका की परिस्थितियों के अनुसार भी स्वाधीन-पतिका, वासक-सज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषित-पतिका; आगत-पतिका आदि भेद किये गये हैं। नायिका-भेद प्रारम्भ में काम-शास्त्र और नाट्य-शास्त्र का विषय था, किन्तु आगे चलकर यह काव्य-शास्त्र और काव्य-रचना का आधार बन गया, जिससे इसका भेदोपभेदों में पर्याप्त विस्तार हुआ।

नायक की सहायता करनेवाले प्रमुख पात्र को 'पीठमर्द' तथा उसका विरोध करनेवाले को प्रतिनायक कहते हैं। संस्कृत के नाटकों में एक विशेष-पात्र हास्य-रस की सृष्टि के लिए भी रखा जाता था जिसे 'विदूषक' कहा जाता है। वह प्रायः नायक का कोई मुँह-लगा अन्तरंग मित्र होता था तथा अपनी मूर्खतापूर्ण उक्तियों द्वारा हास्य-रस का संचार करता था। कभी-कभी विदूषक नायक की गंभीर परिस्थिति में सहायता करके श्रद्धा का पात्र भी बन जाता है।

पाश्चात्य नाटकों में भी पात्रों के चरित्र-चित्रण को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रायः पात्रों का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक एक जैसा दिखाया जाता था, जबकि आधुनिक नाटकों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण करते हुए उनके चरित्र का उत्थान या पतन दिखाया जाता है। नाटक में पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के मुख्यतः तीन साधन हैं—(१) कथोपकथन द्वारा, (२) स्वगत कथन द्वारा और (३) क्रिया-कलापों द्वारा। इसके अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, विभिन्न चेष्टाओं आदि से भी उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों का पता चलता है।

२. रस—भारतीय काव्य-शास्त्र में साहित्य के सभी अंगों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को रसानुभूति प्रदान करना है। आदि आचार्य भरतमुनि ने भी नाट्य-रचना का लक्ष्य 'रस-निष्पत्ति' स्वीकार करते हुए रस-सिद्धान्त पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। उन्होंने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। रस-सिद्धान्त का आधार मानसिक क्रियाएँ व भावोत्पत्ति सम्बन्धी सूक्ष्म ज्ञान है, अतः उसका मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान-शास्त्र के विद्वान् आर० एस० वुडवर्थ महोदय ने भावोत्पत्ति के सम्बन्ध में चार बातें विचारणीय निश्चित की हैं—(१) भाव; (२) भाव को प्रेरित करनेवाला व्यक्ति या पदार्थ, (३) भावोत्तेजित होने वाले व्यक्ति के अंग-प्रत्यंगों की अवस्था और (४) बाह्य परिस्थितियाँ जो भाव को उद्दीप्त करती हैं। इन्हें हम क्रमशः भाव, आलंबन-विभाव, अनुभाव और उद्दीपन-विभाव कह सकते हैं। श्री शैण्ड और मैक्डूगल महोदय ने भाव के दो भेदों का प्रतिपादन किया है, इमोशन और सेंटीमेंट। भारतीय आचार्यों ने भी भावों का वर्गीकरण संचारी भाव और स्थायी भाव के रूप में किया है जो क्रमशः इमोशन और सेंटीमेंट से गहरा साम्य रखते हैं। वस्तुतः रस-सिद्धान्त मनोविज्ञान के गूढ़ तत्त्वों एवं सूक्ष्म

ज्ञान के आधार पर आश्रित है, किन्तु डा० राकेश गुप्त जैसे विद्वान् ने इसे भली प्रकार न समझ सकने के कारण इस पर अनेक आक्षेप प्रस्तुत किये हैं जो भ्रान्त धारणाओं पर आधारित हैं।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को लेकर भी भारतीय आचार्यों ने इसकी सूक्ष्म मीमांसा की है तथा अनेक नये-नये विचार प्रस्तुत किये हैं। इस क्षेत्र में सर्वश्री भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, धनंजय, जगन्नाथ, श्यामसुन्दर दास, रामचंद्र शुक्ल, नगेन्द्र, गुलाबराय आदि के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि यहां इन सब विद्वानों के मतमतान्तर पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं, किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि अभिनेताओं के कुशल अभिनय के कारण दर्शकगण नाट्यरचना के मूल भाव में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं कि वे अपने-पराये का भेद भूल जाते हैं। उनका नाटककार एवं उनके द्वारा चित्रित पात्रों की आत्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है। इस प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते है। साधारणीकरण द्वारा एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्दानुभूति का दूसरा नाम 'रस' है।

रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के भी अनेक सूक्ष्म भेदोपभेद किये है। भाव या स्थायी भाव मुख्यत. नौ माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इन्हीसे क्रमशः इन नौ रसों की उत्पत्ति मानी गई है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। नाटक के लिए रस को अनुपयुक्त माना गया है। विभाव के दो भेद है—आलम्बन और उद्दीपन। अनुभावों के भी अनेक उपभेद किये गये हैं—जैसे शारीरिक, मानसिक और सात्विक। ये सात्विक अनुभाव आठ माने गये हैं—स्तम्भ, स्वेद, प्रलय, रोमांच, वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ जाना), वेपथु (कांपना), अश्रु और वैवर्ण्य (स्वर का बदल जाना)। संचारी भावो की संख्या ३३ निर्धारित की गई है, किन्तु इससे अधिक भी हो सकती है।

४. **अभिनय**—साहित्य की दूसरी विधाओं और नाटकों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ अन्य विधाओं की रचना पठन या श्रवण के उद्देश्य से होती है, वहाँ नाटक की रचना दर्शन के निमित्त होती है। नाटक श्रव्य या पाठ्य नही अपितु दृश्य काव्य है, और उसे 'दृश्य काव्य' में परिणत करनेवाला प्रमुख तत्व अभिनय है। अतः कहना न होगा कि यह नाटक का कार्य महत्वपूर्ण तत्व है।

नाटक खेलनेवाले पात्र या अभिनेता रंगमंच पर उपस्थित होकर जो रूप परिवर्तन, चेष्टाएँ वार्तालाप, कार्य आदि करते है, वह सब 'अभिनय' के अंतर्गत लिया जाता है। अभिनय को चार प्रकार का माना गया है, आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक के भी अनेक भेद किये गये हैं—शरीर, मुखज और चेष्टाकृत। आंगिक अभिनय मे अंगों के संचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार निश्चित किये गये हैं। प्रत्येक रस के अंगों का संचालन उसी के अनुकूल होता है। अभिनय में पात्रों के संभाषण आदि का विवेचन किया जाता है। भरतमुनि ने पात्रों के स्तर एवं उनकी शिक्षा के

अनुकूल भाषा में संभाषण की आयोजना का समर्थन किया है। आहार्य के अंतर्गत पात्रों के रूप, आकृति, वेश-भूषा आभूषणादि पर विचार किया जाता है। नाट्य-शास्त्र में विभिन्न वर्गों के आहार्य सम्बन्धी अभिनय की विस्तृत विवेचना की गई है। यहाँ तक कि उन्होंने भिन्न भिन्न स्थिति के लोगों के बालों और मूँछों की सजावट की भी विधि दी है, जैसे विदूषक को गंजा दिखाना चाहिए, बच्चों की तीन चोटियाँ होनी चाहिए; नौकरों की लम्बी चोटियाँ, आदि आदि।

सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, अश्रु आदि की चर्चा की जाती है। अभिनय में सबसे अधिक कठिन सात्त्विक अभिनय है। आजकल फिल्मों के क्षेत्र में अश्रु आदि के लिए अनेक कृत्रिम विधियों का प्रयोग किया जाता है।

५. **वृत्तियाँ**—कुछ विद्वान् वृत्ति और शैली को समान अर्थ में ग्रहण करते हैं जो ठीक नहीं है। शैली का सम्बन्ध मुख्यत: नाट्य-वस्तु के बहिरंग—उसकी भाषा आदि से है; जबकि वृत्ति उसकी मूल प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। वृत्तियाँ चार बताई गई हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी में श्रृंगार, हास्य, गीत और नृत्य का बाहुल्य रहता है। सात्त्वती में शौर्य, दान, दया आदि वीरोचित कार्यों का निरूपण रहता है। आरभटी में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष घात-प्रतिघात आदि का निरूपण रहता है। भारती वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित मानी गई हैं। आधुनिक नाटकों और फिल्मों का भी इन वृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रेम और रोमांस सम्बन्धी; समाज-सुधार एवं देश-प्रेम सम्बन्धी, जासूसी एवं रहस्यात्मक और मारकाट सम्बन्धी चल-चित्रों को क्रमश: कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती में रखा जा सकता है।

नाटक के विभिन्न तत्त्वों का उपर्युक्त विवेचन मुख्यत. प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के आधार पर किया गया है। आधुनिक युग में पाश्चात्य नाटककारों—इब्सन, बर्नार्ड शॉ—आदि के प्रभाव से भारतीय नाटकों के स्वरूप में पर्याप्त विकास हुआ है। अब नाटकों में ऐतिहासिक या ख्यात वृत्त के स्थान पर कल्पित आख्यानों को स्थान दिया जाता है। दूसरे, नाटक का नायक कोई महापुरुष या उच्चवर्ग का व्यक्ति हो, यह भी आवश्यक नहीं। तीसरे, व्यक्ति या व्यक्ति के प्रति द्वेष की अपेक्षा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाता है। चौथे, बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक या मानसिक संघर्ष को प्रधानता दी जाती है। पाँचवें, गीतों और स्वगत-कथनों को प्राय: हटा दिया गया है। वस्तुत: आधुनिक नाटक चम्पू (पद्य-गद्य) न रहकर विशुद्ध गद्य की श्रेणी में आ गया है।

यद्यपि नाटक का प्राचीन स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो गया है या यों कहिए कि विकसित हो गया है, किन्तु चल-चित्रों के रूप में उसने एक ऐसा नवीन रूप प्राप्त किया है, जो साहित्य के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक लोकप्रिय है। विश्व स्वयं एक अद्‌भुत नाटक है और नाटक उसका भी एक नाटक है। अत: इसका रूप भले ही देश-काल के अनुसार परिवर्तित होता रहे, किन्तु इसका आकर्षण सदैव ज्यों का त्यों बना रहेगा।

: नौ :

रस-सिद्धांत और निष्पत्ति

'रस' शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से सम्बन्धित है। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'रस' शब्द का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए होता है। खाद्य-पदार्थों और फलों के क्षेत्रों में रस मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है। संगीत के क्षेत्र में कर्णेन्द्रिय द्वारा प्राप्त 'आनन्द' का नाम 'रस' है। चिकित्सा के क्षेत्र में परमात्मा को ही रस या रस को ही परमात्मा घोषित किया गया है—"रसो वै सः" अर्थात् रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्दानुभूति को ही रस की संज्ञा दी गई है। अस्तु, काव्यानन्द ही रस है।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाट्य शास्त्र में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया है। भरतमुनि का समय अनुमानतः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के निकट माना जाता है। भरत से पूर्व भी रस-सिद्धान्त के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। स्वयं भरत से अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर संकेत करते हुए लिखा—"एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।" फिर भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण भरत को ही आदि आचार्य माना गया है। भरतमुनि के कार्य को अनेक परवर्ती आचार्यों—भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोज-राज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने आगे बढ़ाया। आगे चलकर हिन्दी के कवियों और आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त का महत्त्व स्वीकार किया है। आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः लगभग बीस शताब्दियों से भारत में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रूप से रही है। यद्यपि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने रस के विरोध में नये-नये सम्प्रदायों की स्थापना करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिली और अन्त में उन्हें भी किसी-न-किसी रूप में रस का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा।

भावों का वर्गीकरण

रस-सिद्धान्त के समर्थक काव्य का लक्ष्य पाठक को आनन्दानुभूति प्रदान करना स्वीकार करते हैं। इस काव्य-जन्य आनन्द का ही दूसरा नाम 'रस' है। यह आनन्दानुभूति या रसानुभूति पाठक की भावनाओं के उद्वेलन के द्वारा सम्पन्न होती

हैं। अतः काव्य में भी ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वह पाठक की भावनाओं का उद्वेलन कर सके। यह क्षमता तभी आती है जबकि काव्य में विभिन्न भावों; भावनाओं एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों का चित्रण सुचारु रूप में हुआ हो। अतः रस-सिद्धान्त एक ओर तो काव्य के सर्वप्रमुख तत्त्व के रूप में भावों को स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर वह भावों के विभिन्न रूपों और उनके विभिन्न अंगों की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम भावों का दो रूपों मे वर्गीकरण किया जाता है—(१) स्थायी भाव और (१) संचारी भाव। स्थायी भाव धीरे-धीरे विकसित होता है—दीर्घकाल तक हृदय में स्थित रहता है जबकि संचारी भाव विद्युत की भाँति एकाएक प्रकाशित होकर कुछ ही क्षणों के अनन्तर लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रेम, घृणा, उत्साह आदि स्थायी भाव हैं जबकि रोष, हर्ष, भय आदि परिस्थितियों के अनुसार संचारी रूप में प्रकट होते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भी भावों के दो रूप हैं—(१) इमोशन (Emotion) और (२) सेंटीमेंट (Sentiment) ये दोनों क्रमशः हमारे संचारी भाव और स्थायी भाव के ही पर्यायवाची हैं। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिकों के द्वारा कहा गया है कि इमोशन भावानुभाव की प्रवृत्ति मात्र है या यों कहिये कि भाव की उत्तेजित अवस्था मात्र (Emotion is a moved or stirred up state of feeling) है, जबकि सेंटीमेंट वह भावात्मक प्रवृत्ति है जो किसी आलम्बन-विशेष से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित ढंग से विकसित होती है। (A sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the idea of someobject—McDougall) श्री मैक्डूगल महोदय ने अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलोजी' में इस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है—"प्रत्येक सेंटीमेंट के पीछे उसके उद्भव का पूरा इतिहास होता है। यह धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अधिक गम्भीर और शक्तिशाली होता जाता है। जब कोई इमोशन विषय बार-बार आलंबन-विशेष के कारण उद्दीप्त होता है तब वह दृढ़ और जटिल होता जाता है और उसकी मूल अवस्था निर्मित हो जाती है। सेंटीमेंट के उदाहरण प्रेम और घृणा हैं।" हमारे आचार्यों ने स्थायी भाव और संचारी भाव का अंतर बताते हुए इसी से मिलती-जुलती बात कही है। रस-गंगाधरकार ने लिखा है—"स्थायी भाव चित्त में चिरकाल तक वासनारूप से स्थित रहता हुआ आलम्बन से सम्बद्ध रहता है। वह विरोधी संचारी भावों से विच्छिन्न नहीं होता तथा आश्रय के हृदय में जीवन के दीर्घ भाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्तवृत्ति।"

डा० नगेन्द्र ने 'सेन्टीमेंट' का अनुवाद 'मनोवृत्ति' करते हुए रस-सिद्धान्त के 'स्थायी भाव' से सेन्टीमेंट या मनोवृत्ति में सूक्ष्म अन्तर बताया है—(१) मनोवृत्ति (Sentiment) एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं

हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, स्वयं मनोवृत्ति का नहीं। परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह बात नहीं है (२) मनोवृत्ति (Sentiment) सदैव ही मनोविकार (Emotion) की आवृत्ति बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है, हर्ष की आवृत्ति करते रहिये पर वह रति नहीं बन पायेगा। (३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है परन्तु स्थायी भाव विचारमूलक नहीं, प्रवृत्तिमूलक है। डा० नगेन्द्र के ये निष्कर्ष हमें स्वीकार्य प्रतीत नहीं होते। एक तो उन्होंने 'सेन्टीमेंट' का अनुवाद 'मनोवृत्ति' करके उसके रूप के सम्बन्ध में भ्रांति उत्पन्न कर दी है। 'सेन्टीमेंट' हमारे 'भावना' शब्द का समानार्थक है। मनोवृत्ति मानसिक प्रवृत्ति मात्र होती है, उसमें भावात्मकता कम होती है जबकि भावना में भावात्मकता का अंश अधिक होता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने सेन्टीमेंट की जो व्याख्या की है, वे भावना से साम्य रखती हैं। दूसरे; डा० नगेन्द्र ने जो विशेषताएँ सेन्टीमेंट की बताई हैं वे सब स्थायी भाव में भी मिलती हैं तथा जो न्यूनताएँ स्थायी भाव में ढूंढ़ी गई हैं, वे सेन्टीमेंट में भी विद्यमान हैं। हर्ष की आवृत्ति करते रहने से यदि रति स्थायी भाव का विकास नहीं होता तो यह भी सत्य है कि हर्ष की आवृत्ति से प्रेम सेन्टीमेंट का भी विकास नहीं होता। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस-सिद्धान्त के आचार्यों द्वारा स्थायी और संचारी का वर्गीकरण आधुनिक मनोविज्ञान के भी अनुकूल है।

रस के विभिन्न अवयव

भावोद्वेलन के लिए आवश्यक तत्वों की विवेचना करते हुए भरतमुनि ने भावनाओं से संबंधित मुख्यतः तीन अवयवों—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की चर्चा की है। विभाव क्या है? वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, विभाव कहलाते हैं। विभाव के भी दो भेद माने गये हैं—आलंबन और उद्दीपन। मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु, दृश्य या किसी परिस्थिति विशेष की कल्पना द्वारा ही होती है, इसी प्रमुख कारण को आलम्बन कहते हैं। जैसे सिंह को देखकर हमारे हृदय में भय उत्पन्न होता है, अतः यहाँ 'सिंह' आलम्बन है। किन्तु बाह्य कारण का प्रभाव भी मनुष्य पर परिस्थितियों के अनुसार ही पड़ता है। यदि हम सिंह को पिंजरे में बन्द देखते हैं, या हम हवाई जहाज में बैठे हुए ऊपर से सिंह को देखते हैं तो हमारे हृदय में भय का संचार नहीं होता—अतः भावोद्दीपन के लिए परिस्थितियों की अनुकूलता भी अपेक्षित है। इसी को 'उद्दीपन' कहा गया है। आलम्बन यदि आग लगाने वाला अंगारा है तो उद्दीपन अनुकूल हवा की भाँति उसे बढ़ाने में योग देता है। जिस प्रकार वर्षा के बीच आग बुझ जाती है, ठीक वैसे ही 'उद्दीपन' की प्रतिकूलता में 'आलम्बन' का प्रभाव भी नष्ट हो सकता है। श्मशान भूमि में रमणी की मनोरम छवि को देखकर भी रति का विकास नहीं होता।

जिस व्यक्ति के हृदय में आलम्बन और उद्दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उसे 'आश्रय' कहा जाता है। हृदयगत भावों के उद्वेलन से आश्रय की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है; जैसे क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना, शोक में चीखना, आँसू बहाना आदि। इस परिवर्तन के द्योतक चिह्नों को 'अनुभाव' की संज्ञा दी गई है। हृदयस्थ भावों की व्यंजना अनुभावों के माध्यम से होती है। भावनाओं का रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है जिनका वर्णन काव्य में नहीं किया जा सकता, अतः काव्य में अनुभावों की व्यंजना आवश्यक मानी गई है।

एक ही स्थायी भाव के बीच-बीच में परिस्थितिवश अनेक भावों का भी संचार होता रहता है। उदाहरण के लिए प्रेम (स्थायी भाव) के क्षेत्र में प्रिय के मिलन पर 'हर्ष', उसके वियोग पर 'दुःख', उसकी उपेक्षा पर 'क्षोभ', अहित की आशंका पर 'चिंता' आदि भावों की अनुभूति होती है—इन्हें संचारी कहा जाता है। 'संचारी भाव' स्थायी भाव के विकास में सहायक होते हैं, किन्तु यदि उनकी आयोजना प्रतिकूल रूप में हो तो वे बाधक भी सिद्ध हो सकते हैं। काव्य में स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए उसके अनुकूल संचारियों की ही आयोजना की जाती है।

इस प्रकार स्थायी भाव आश्रय के हृदय में आलम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है। जब काव्यगत स्थायी भाव की अनुभूति पाठक को होती है तो वही 'रसानुभूति' या 'रस-निष्पत्ति' कहलाती है।

रस निष्पत्ति की प्रतिक्रिया

काव्य के अध्ययन से पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति किस प्रकार होती है— यह प्रश्न भी रस-सिद्धान्त के आचार्यों में गहरे वाद-विवाद का विषय रहा है। आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में इस विषय पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए लिखा था —"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या अपने-अपने दृष्टि से करते हुए अनेक मत स्थापित किये हैं। इन आचार्यों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राचीन और (२) अर्वाचीन। प्राचीन आचार्यों में भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त तथा अर्वाचीन आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, नगेन्द्र एवं गुलाबराय प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं। इनके मन्तव्यों पर यहाँ क्रमशः प्रकाश डाला जाता है।

भट्ट-लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट-लोल्लट ने भरतमुनि के द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों—'संयोग' और 'निष्पत्ति' —की व्याख्या मौलिक रूप से करते हुए बताया कि 'संयोग' का तात्पर्य यहाँ सम्बन्ध या मेल है तथा निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' है। उनके मतानुसार विभावों से रस की उत्पत्ति होती है, संचारियों से पुष्टि तथा अनुभावों से अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार से रस-सामग्री का रस से तीन प्रकार का सम्बन्ध हुआ : रस और विभावों में

उत्पाद्य-उत्पादक, रस और संचारियों में पोष्यापोषक तथा रस और अनुभावों में गम्य-गमक सम्बन्ध होता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए हम दही की लस्सी का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। दही, पानी, बर्फ और चीनी आदि को मिलाकर तथा मथकर लस्सी तैयार की जाती है। दही मूल उपादान है जिससे लस्सी तैयार होती है; पानी, बर्फ और चीनी से वह बढ़ती है या पुष्ट होती है और मन्थन-क्रिया से उत्पन्न झाग यह सूचित करते हैं कि अब लस्सी तैयार हो गयी। इस उदाहरण को रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर लागू करते हुए कहा जा सकता है कि दही विभाव है, जिसका लस्सी रूप से उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध है; पानी, बर्फ चीनी आदि संचारी हैं, जिनका लस्सी रूप से पोष्य-पोषक सम्बन्ध है तथा झाग अनुभाव हैं जो लस्सी-रूपी रस को व्यक्त या सूचित करते हैं। यद्यपि विद्वानों ने भट्ट-लोल्लट के मत को 'उत्पत्तिवाद' का नाम दिया है, किन्तु यह नाम भ्रामक है क्योंकि 'निष्पत्ति' के अन्तर्गत लोल्लट ने केवल उत्पत्ति को ही नहीं, पुष्टि और अभिव्यक्ति को भी स्थान दिया है।

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी समस्या है—मूल भाव और नट में क्या सम्बन्ध है? रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाटक की दृष्टि से हुआ था, अतः इस समस्या पर भी विचार करना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट ने कई प्रश्नों पर विचार किया—रस की स्थिति किसके हृदय में होती है? क्या नट या अभिनेता भी इस रस का अनुभव करते हैं? सामाजिक या दर्शक अभिनेता के कृत्रिम प्रदर्शन से किस प्रकार प्रभावित होते हैं? उनके विचारानुसार मूल भाव या स्थायी भाव की स्थिति तो मूल पात्र में ही रहती है, किन्तु अभिनेता मूल ऐतिहासिक पात्रों का अनुकरण करते हैं तथा सामाजिक या दर्शक अभिनेताओं पर मूल पात्रों का आरोपण करके रस का अनुभव प्राप्त करते हैं, लोल्लट के इन निष्कर्षों में स्थूल दृष्टि से अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं। प्रथम तो ऐतिहासिक पात्र अभिनेताओं के सामने प्रस्तुत नहीं होते, अतः ऐसी स्थिति में वे मूल पात्रों का अनुकरण किस प्रकार कर सकते हैं, जैसे राम का अभिनय करने वाले अभिनेता के सामने स्वयं राम प्रस्तुत नहीं होते, अतः वह उनका अनुकरण किस प्रकार करता है। दूसरे, कृत्रिम प्रदर्शन या मिथ्या आरोप के द्वारा रस की प्रतीति कैसे संभव है? जब हम रस्सी को साँप समझते हैं तो हमें भय की अनुभूति नहीं होती है, किन्तु जान-बूझकर रस्सी पर साँप का आरोपण करने से भय की अनुभूति नहीं होती—अतः नाटक में भी कृत्रिम आरोप से रसानुभूति किस प्रकार संभव है?

हमारे विचार से उपर्युक्त आक्षेपों का निराकरण किया जा सकता है। यह ठीक है कि मूल पात्र अभिनेताओं के सम्मुख उपस्थित नहीं होते किन्तु वे कल्पना के द्वारा उनका अनुकरण करते हैं। वे मूल पात्रों का साक्षात्कार कवि के माध्यम से करते हैं। कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त एवं शकुन्तला के जिस रूप का

चित्रण किया है उसी रूप का अभिनय अभिनेता करते हैं। दूसरा आक्षेप है—मिथ्या आरोप से भावनाओं की अनुभूति नहीं होती है, यह भी ठीक नहीं है। चित्रपट पर हम अनेक अभिनेत्रियों को भिखारिन, विधवा या वेश्या का अभिनय करते देखते हैं। हम उन अभिनेत्रियों का वास्तविक नाम—नरगिस, वैजयन्तीमाला नूतन आदि भी जानते हैं, किन्तु फिर भी हमें रसानुभूति होती है। हम जानबूझ कर उस अभिनेत्री को थोड़ी देर के लिए उसके कृत्रिम रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यह एक तथ्य है कि हम अभिनेताओं के मूल नाम, रूप एवं स्थिति को जानते हुए भी रजतपट पर उन्हें भिन्न नाम, रूप एवं स्थिति में ग्रहण करके रसानुभूति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः रसानुभूति का कारण प्रत्यक्ष या वास्तविक रूप न होकर, मिथ्या रूप-विधान ही है। हम सड़क पर वास्तविक भिखारी को देखकर तो उसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं, सच्चे चोर को घर में घुसते देखकर शोर मचाते हैं या प्रत्यक्ष दुर्घटना को देखकर खेद प्रकट करते हैं, किन्तु रंगमंच के भिखारी, चोर या किसी असुन्दर दृश्य को देखकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। कई बार छोटे बच्चे या नये दर्शक रंगमंच की अवास्तविक वस्तु को भी वास्तविक समझ बैठते हैं। ऐसी स्थिति में वे वीभत्स और भयानक दृश्यों से आनन्द अनुभव नहीं कर पाते। रंगमंच के कृत्रिम सिंह को वास्तविक सिंह समझ लेने वाले बच्चे नाट्यशाला से चले जाने का आग्रह करने लगते हैं। अस्तु, भट्ट-लोल्लट का 'आरोपवाद' वास्तविकता पर आधारित है।

यद्यपि परवर्ती आचार्यों और आलोचकों ने भट्टलोल्लट के मत की तीव्र आलोचना की है, किन्तु फिर भी उनका महत्व कम नहीं है। भट्टलोल्लट ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवाद का श्रीगणेश किया। दूसरे, उन्होंने रस-सामग्री का विश्लेषण करते हुए उसके विभिन्न अवयवों—विभाव, अनुभाव, संचारी—का क्रमिक महत्व निश्चित किया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में उन्होंने विभावों, अनुभावों और संचारियों का योगदान स्पष्ट किया, निष्पत्ति की क्रिया के तीन रूपों—उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति—की कल्पना करके इसे सहज बोधगम्य बनाया। भावानुभूति के तीन संस्कारों—मूलपात्रों की अनुभूति, अभिनेताओं की अनुभूति और सामाजिक की अनुभूति—के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर का भी निर्देश सबसे पूर्व भट्टलोल्लट के द्वारा ही हुआ। रसानुभूति का आधा प्रत्यक्ष रूप, विधान के स्थान पर मिथ्या रूप के आरोपण को स्वीकार करके उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि भट्टलोल्लट का मत पूर्ण न होते हुए भी महत्वपूर्ण है।

शंकुक का अनुमितिवाद

श्री शंकुक ने आचार्य लोल्लट के मत के विरोध में अपने अनुमितिवाद की स्थापना की। वे 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' तथा संयोग, का अर्थ 'अनुमान' मानते हैं। रस सामग्री—विभाव, अनुभाव, संचारी—के आधार पर पाठक या दर्शक रस का अनुमान करता है। स्थायी भाव और रस का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा

सकता—उनका अनुमान मात्र ही रस-सामग्री से किया जा सकता है। अस्तु, रस की 'निष्पत्ति' नहीं, अनुमिति या प्रतीति मात्र होती है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमान तो बुद्धि की प्रक्रिया है जबकि रस का सम्बन्ध भावनाओं से है, अतः अनुमान के द्वारा रसानुभूति किस प्रकार सम्भव है? इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि शंकुक के द्वारा प्रयुक्त 'अनुमिति' शब्द ठीक उसी अर्थ का द्योतक नहीं है, जो हिन्दी का 'अनुमान' शब्द देता है। शंकुक का 'अनुमिति' या 'अनुमान' न्याय-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ 'अनुमान' से बहुत अधिक व्यापक है। इस अर्थ को समझने के लिए हमें न्याय-शास्त्र की थोड़ी जानकारी प्राप्त करना चाहिए।

न्याय-शास्त्र के अनुसार ज्ञान के चार साधन माने गये हैं—(१) प्रत्यक्षप्रमाण, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द। इस अनुमान (ज्ञान-प्राप्ति के साधन) के भी तीन प्रकार माने गये हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। जहाँ प्रत्यक्ष कारण को देखकर अप्रत्यक्ष कार्य की कल्पना की जाती है वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है; जैसे—बादलों को देखकर वर्षा का ज्ञान। जब प्रत्यक्ष कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का अनुमान किया जाता है तो उसे शेषवत् कहते हैं। जहाँ सामान्य अनुभव के आधार पर अप्रत्यक्ष कारण या कार्य का अनुमान किया जाता है उसे 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं; जैसे प्रतिवर्ष सावन में वर्षा होती है, अतः सावन के महीने में वर्षा का अनुमान करना। काव्य-शास्त्र के अनुसार विभाव पूर्ववत् अनुमान है। अनुभाव शेषवत् और अनुमान और संचारी सामान्यतोदृष्टि अनुमान है। वस्तुतः न्याय-शास्त्र में ज्ञान और अनुमान दोनों ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं, जो क्रमशः अनुभूति और अनुभव के अर्थ से भी समन्वित हैं। शंकुक की 'अनुमिति' को प्रचलित अर्थ के अनुसार 'अनुभूति' कहना अधिक उचित है। सामान्य अर्थ में इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को अनुभव कहते हैं, जबकि न्याय-शास्त्र में उसे ज्ञान ही कहते हैं। यही बात अनुमान और अनुभव पर लागू होती है।

इस प्रकार शंकुक ने न्याय-शास्त्र के आधार पर रस-निष्पत्ति की व्याख्या की है। नट और सामाजिक के संबंध को स्पष्ट करते हुए उसने 'चित्र-तुरंग-न्याय' का उदाहरण दिया, अर्थात् जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखकर घोड़े की अनुमिति या अनुभूति होती है, उसी प्रकार अभिनेताओं के अभिनय से मूल पात्रों की प्रतीति होती है। भट्ट-लोल्लट की भाँति शंकुक भी मूल भाव की स्थिति ऐतिहासिक या काव्यगत पात्रों में ही मानता है तथा नट में भावानुभूति का निषेध दोनों ने ही किया है। सामाजिक की अनुभूति और मूल पात्रों की अनुभूति से अन्तर दोनों ही स्वीकार करते हैं, किन्तु शंकुक रस की उत्पत्ति न मानकर केवल अनुमिति मानता है। वस्तुतः शंकुक की देन इस क्षेत्र में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो बात भट्ट-लोल्लट ने सीधे शब्दों में कही थी उसी को न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में शंकुक ने उलझा दिया। जो न्यूनताएँ लोल्लट के मत में थीं वे शंकुक के मत में भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। इन दोनों ही

विद्वानों ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया कि मूल पात्रों के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति या अनुमिति से सामाजिक को आनन्द की अनुभूति क्यों होती है? इस प्रश्न पर आगे चलकर भट्टनायक ने विचार किया।

भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक ने 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक' सम्बन्ध (या भावना) तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ भक्ति या भोग करते हुए अपने मत की स्थापना की। पूर्ववर्ती व्याख्याओं— भट्ट-लोल्लट और शंकुक—ने रस-निष्पत्ति की व्याख्या केवल नाटक की दृष्टि से की थी जबकि भट्टनायक ने इस पर सामान्य काव्य की दृष्टि से विचार किया। उनके विचारानुसार काव्य का रूप शब्दात्मक है। शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियाएँ हैं—अभिधा, भावकत्व (भावना) और भोजकत्व (भोग)। अभिधा के द्वारा हम शब्द के सामान्य अर्थ को ग्रहण करेंगे। वह अर्थ हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करेगा किन्तु भावकत्व शक्ति के द्वारा उस अर्थ की अनुभूति हमारे हृदय को होगी। कवि की भाषा में मूर्तिमत्ता, रूपात्मकता या बिम्ब की प्रधानता होती है जिससे वह हमें केवल वस्तु का ज्ञान ही प्रदान नहीं करती—उसका चित्र भी उपस्थित कर देती है; वह हमारी बुद्धि को ही नहीं, कल्पना-शक्ति को भी जागृत कर देती है। भाषा की इस प्रक्रिया को भावकत्व का नाम दिया है। भावकत्व की जिस प्रक्रिया के कारण पाठक को काव्यगत विषय की अनुभूति प्राप्त होती है उसी का दूसरा नाम 'साधारणीकरण' कर दिया गया है। साधारणीकरण में भावकत्व की शक्ति की दोहरी प्रक्रिया होती है—एक ओर तो वह विषय-वस्तु को 'पर' से मुक्त करती तथा दूसरी ओर वह पाठक के 'स्व' को विगलित करती है। काव्य में चित्रित शकुन्तला का प्रेम किसी अन्य का प्रेम नहीं रह जाता तथा दूसरी ओर हम अपने स्वार्थ की भूमि से ऊपर उठ जाते हैं; इस प्रकार पाठक का हृदय और काव्य-वस्तु दोनों मिलकर उसी प्रकार एकाकार हो जाते हैं जिस प्रकार नमक पानी में घुल जाता है। यदि पानी जमा हुआ हो तो वह नमक को नहीं घुला सकता और यदि नमक भी पत्थर की तरह कठोर हो तो भी घुल नहीं पाता। भावकत्व की प्रक्रिया के कारण काव्यवस्तु में द्रवणशीलता और पाठक के हृदय में तरलता दोनों का संचार एक ही साथ होता है।

प्रश्न है साधारणीकरण या काव्य की विषय-वस्तु के साथ तादात्म्य के कारण पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने दर्शन के आधार पर दिया है। भारतीय दर्शन के अनुसार हमारे तीन गुण हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। जब हमारे हृदय में सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है तो हमें आनन्द की अनुभूति होती है, रजोगुण के कारण ही ब्रह्म या परम सत्ता को सदैव आनन्द की अनुभूति होती रहती है, किन्तु हमारी आत्मा माया के बन्धन में पड़कर रजोगुण से युक्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप हममें अपने-पराये की भेद-भावना उत्पन्न होती है। यही भावना समस्त दुःखों का मूल है। काव्य के द्वारा हम अपने-पराये की भावना से मुक्त होते हैं—या यों कहिए कि साधारणीकरण के कारण

हमारी आत्मा से रजोगुण लुप्त हो जाता है तथा सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जिससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस दार्शनिक भाषा से हटकर सीधे-सादे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्यगत विषय की अनुभूति से हमारे हृदय का विस्तार होता है जिससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में यही 'हृदय की मुक्त अवस्था' होती है।

इस प्रकार भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति के प्रश्न पर सर्वथा मौलिक ढंग से प्रकाश डालते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। उनके द्वारा काव्य की भावोत्पादिनी शक्ति—भावकत्व तथा साधारणीकरण—की खोज एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।[1]

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खण्डन करते हुए अपने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की।[2] एक तो उन्होंने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' की प्रक्रिया को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि भट्टनायक ने इनकी कल्पना किसी शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर नहीं की थी। दूसरे उन्होंने सिद्ध किया कि रति आदि स्थायी भाव पाठकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं, उनके ही 'विभाव' आदि के संयोग से—काव्य के श्रवण या दर्शन से व्यंजना-वृत्ति के अलौकिक विभाजन व्यवहार द्वारा रसानुभव होता है। उनके विचारानुसार 'संयोग का अर्थ व्यंजना और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है। मानव-हृदय में भावानुभूति की क्षमता स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान है, अतः 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना अनावश्यक है। इसी प्रकार रसानुभूति का आधार व्यंजन शक्ति है। अतः 'भोजकत्व' की कल्पना आवश्यक नहीं। काव्यों के पढ़ने से भावनाओं की उत्पत्ति या निष्पत्ति नहीं होती, अपितु वे केवल व्यक्त होती हैं, अतः भाव पहले से ही हमारे हृदय में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार अभिनव-गुप्त के मतानुसार काव्य हमारी भावोत्तेजना या भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है, नये भावों की सृष्टि नहीं करता।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः अभिनवगुप्त के मत को ही स्वीकार किया है किन्तु कुछ विद्वानों ने उसमें यत्र-तत्र संशोधन भी किए हैं। धनंजय ने 'व्यंजना-शक्ति' के स्थान पर 'तात्पर्य' वृत्ति का प्रयोग किया है। नाट्य-दर्पण के रचयिता रामचन्द्र गुणकर ने चमत्कार को रसानुभूति का कारण बताया है। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के भी पराक्रम से चमत्कृत होकर, कुछ क्षणों के लिए हम निज हानि के विचार को भूल जाते हैं, और 'वाह !' वाह' कह बैठते हैं, ठीक इसी प्रकार काव्यजन्य चमत्कार के कारण हमारा हृदय एक विशिष्ट अनुभूति से आन्दोलित हो उठता है; संक्षेप में यही रामचन्द्र गुणकर का मत है। किन्तु इनका मत परवर्ती विद्वानों द्वारा अधिक मान्य नहीं हुआ। आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने भी इसकी व्याख्या मौलिक ढंग से की है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

१—२ स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य—'रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन'।

आधुनिक विद्वानों के मंतव्य

हिन्दी के अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी साधारणीकरण और रसानुभूति का स्पष्टीकरण किया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने साधारणीकरण की अवस्था को योग की उस मधुमती-भूमिका के समान बताया जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क-वितर्क से शून्य होकर आनन्दानुभूति में लीन हो जाता है। उनके शब्दों में—"मधुमती-भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों का भेद अनुभव करना ही वितर्क है।" इस पार्थक्यानुभाव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती-भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है।" (साहित्यालोचन, पृष्ठ २८०-२८२)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं; अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है। अतः उस आलम्बन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते; बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं···इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।" (चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २४६-२४७)। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल का मत भट्टनायक के मत से सर्वथा मिलता-जुलता है, अतः इसकी विस्तृत चर्चा अपेक्षित नहीं।

डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है। एक ही पात्र विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किन्तु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा जिसका कवि ने चित्रण किया है। कवि चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि वह चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर मिटने वाला दिखाकर उसके प्रति

पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। अतः काव्य के माध्यम से कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।

हमारे विचार से कवि से हमारा तादात्म्य होता है। कवि जिस वस्तु को जिस भावात्मक दृष्टिकोण से देखता है, उसी वस्तु को हम भी उसी दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। इसका अर्थ हुआ उस वस्तु का साधारणीकरण हो जाता है तथा कवि के दृष्टिकोण के साथ हमारे दृष्टिकोण का तादात्म्य हो जाता है। अतः कहना चाहिए कि कवि के साथ हमारा तादात्म्य और काव्य का साधारणीकरण होता है। इस दृष्टि से भट्टनायक, अभिनवगुप्त, आचार्य शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र के मत में मूलतः कोई गहरा भेद नहीं है। अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस साधारणीकरण की क्रिया को स्वीकार किया है। श्री ए० आई० मैन्डर महोदय लिखते हैं—"Empathy connotes state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen." अर्थात् भाव-तादात्म्य या तदनुभूति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक शंका करना अनावश्यक है।

रस-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त और रस-निष्पत्ति सम्बन्धी मत मनोविज्ञान पर आधारित हैं, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि डा० राकेश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध—'Psycholgical Studies in Ras'—में आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इस पर अनेक आक्षेप आरोपित किए हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—(१) स्थायी भाव और संचारी भाव मनोविज्ञान की दृष्टि से एक ही हैं, अतः इनमें अन्तर मानना अनुचित है। (२) आचार्यों द्वारा परिगणित संचारियों में से दस भाव कोटि में नहीं आते। (३) विभावों की भावों से उत्पत्ति मानना अनुचित है। (४) अनुभावों की सूची दोषपूर्ण और अपूर्ण है। (५) रस-दोषों में से नामोल्लेख आदि को दोष मानना अनुचित है। (६) रस और सामान्य भावावेग में अन्तर मानना अनुचित है। (७) शोकपूर्ण काव्यों से आनन्द की अनुभूति नहीं होती। (८) काव्यास्वादन का मूल कारण रस-प्रक्रिया नहीं, काव्य-रुचि है।

इनमें से कुछ विषयों पर प्रारम्भ में विचार किया जा चुका है। स्थायी भाव और संचारी भाव में वही अन्तर है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इमोशन और सेन्टीमेन्ट में है, किन्तु डा० राकेश ने इन दोनों को भी एक ही सिद्ध करने का साहस किया है। उनका तर्क है—"सेन्टीमेन्ट एक मानसिक प्रवृत्ति मात्र है, भाव-जागृति की दशा नहीं। अतः जब भी सेन्टीमेन्ट विकसित होकर भाव-जागृति की दशा में

परिणत होता है तो वह 'सेन्टीमेन्ट' न रहकर 'इमोशन' बन जाता है।" यह तर्क भ्रान्तिमूलक है। जब एक प्रेमिका का हृदय प्रेमी के मिलन पर हर्ष-विभोर हो जाता है तो क्या यह कहा जायगा कि यहाँ प्रेम सेन्टीमेन्ट न रहकर 'हर्ष'—इमोशन ही रह गया ? और यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो भी दोनों के भेद को नहीं भुलाया जा सकता। दूध दही में परिणत हो जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूध और दही—दोनों एक ही हैं। वस्तुतः डा० राकेश के आक्षेप ऐसे ही निराधार तर्कों पर आधारित हैं, जिनका निराकरण हम अपने शोध-प्रबन्ध—'हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि विहारी'—में विस्तार से कर चुके हैं। अतः इस सम्बन्ध में हम यहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० राकेश के आक्षेपों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

रस सिद्धान्त का महत्त्व

मनोविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, समाज, राजनीति, साहित्य आदि की दृष्टि से भी रस-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीनों गुणों – सत्, चित् और आनन्द—से युक्त होती है। किन्तु जीव का आनन्द गुण तिरोहित होता है; काव्य और कलाओं के द्वारा इसी आनन्द को जागृत किया जाता है। रस-सिद्धान्त भी काव्य का यही लक्ष्य —आनन्दानुभूति—स्वीकार करता है। अद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा माया के आवरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का अनुभव करती है, जबकि मूलतः सभी रूप एक ही परम-सत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस आवरण को भूलकर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है।"

पाश्चात्य काव्यवादियों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य कवि या लेखक का निजी आनन्द घोषित किया है जिससे उनकी रचनाएँ समाज-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण होने लगीं, किन्तु रस-सिद्धान्त काव्य के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण स्थापित करता है जिससे काव्य समाज-विरोधिता से दूर रहता है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कलाओं का लक्ष्य स्वयं कलाकार का आनन्द नहीं—सामाजिक का आनन्द है। ऐसी स्थिति में कोई भी कला सामाजिक की रुचि, मान्यता और इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं हो सकती। यदि कोई कवि अपने काव्य में समाज विरोधी तत्त्वों का समावेश करने का साहस कर बैठता है तो रस-सिद्धान्त का अनुयायी उसे 'रसाभास' की संज्ञा देकर उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता से युक्त है।

रस-सिद्धान्त कवि-कर्म को भी उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाता है। कवि-कर्म या काव्य-निर्माण की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) कवि द्वारा विषय की अनुभूति, (२) कवि द्वारा अभिव्यक्ति और (३) पाठक के द्वारा रसास्वादन। पाश्चात्य विद्वानों में जहाँ क्रोचे जैसे विद्वान् अनुभूति को तथा फ्रायड आदि अभिव्यक्ति को ही काव्य-रचना का सारा महत्त्व प्रदान कर देते हैं, वहाँ रस-सिद्धान्त के आचार्य

पाठकों की रसानुभूति को ही सर्वाधिक महत्व देते हुए कवि-कर्म को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाने पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त रस-सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में बाह्य-सौन्दर्य—अक्षर-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा, उक्ति-वैचित्र्य आदि—के स्थान पर सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है।

रस-सिद्धान्त जीवन के सुन्दर और कुरूप सभी पक्षों को काव्य में स्थान देने का पक्षपाती है। इसके अनुसार केवल शृंगार, वीर, करुण में ही नहीं, वीभत्स, भयानक, रौद्र आदि में भी रसानुभूति की क्षमता है। यही कारण है कि रस-सिद्धान्त गांधी-वादियों की करुणा और साम्यवादियों की घृणा—दोनों को काव्य में स्थान देने की सामर्थ्य रखता है। विश्व की किसी भी विचार-धारा से रस-सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है—यदि उन विचारों की व्यंजना भावात्मक शैली में की जाय।

रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ रस-सिद्धान्त में कुछ न्यूनताएँ भी विद्यमान हैं। एक तो इसमें पाठक के ही दृष्टिकोण का—काव्य के भोग-पक्ष का—ही विश्लेषण अधिक हुआ है कवि या काव्य के सर्जन-पक्ष की उपेक्षा हुई। दूसरे, इसकी प्रतिष्ठा अभी तक शास्त्रीय आलोचना के रूप में ही अधिक है, इसे व्यावहारिक रूप देने की ओर आवश्यकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; डा० नगेन्द्र, डा० गुलाबराय, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित द्वारा इस क्षेत्र में जो कार्य किया गया है, उसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। तीसरे, रस-सिद्धान्त मूलतः नाटक के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया था, साहित्य के अन्य रूपों की दृष्टि से भी इसका विकास अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर भी इसकी शुद्ध रूप में मीमांसा होनी चाहिए।[१] यदि इन न्यूनताओं को दूर किया जा सके तो रस-सिद्धान्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। देश और विदेश के सभी प्रमुख विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि काव्य का सर्वप्रमुख तत्व भाव के कारण ही काव्य का रूप धारण करता है। रस-सिद्धान्त सीधे भाव-तत्व को विभिन्न मत-वादों के चक्कर से बचाता हुआ उसकी मूल आत्मा की रक्षा करता है। युग और देश के अनुसार समीक्षा के मानदण्ड बदलते रहते हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त एक ऐसा मानदण्ड है, जो सभी युगों और सभी देशों की काव्य-रचनाओं की समीक्षा का आधार सफलतापूर्वक बन सकता है। अस्तु, जब तक साहित्य का सम्बन्ध मानवीय भावनाओं से रहेगा तब तक रस-सिद्धान्त का महत्त्व अक्षुण्ण है।

---

१. इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास लेखक के 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन' में किया गया है।

: दस :

अलंकार-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ है—'सुशोभित करनेवाला' या वह 'जिससे सुशोभित हुआ जाता है'। इन दोनों अर्थों में परस्पर थोड़ा अन्तर है—पहला अर्थ जहाँ अलंकार को कर्ता या विधायक सूचित करता है, वहाँ दूसरे अर्थ से यह साधन-मात्र रह जाता है। काव्यशास्त्र में 'अलंकार' इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वामन आदि ने अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए सौन्दर्य के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है, वहाँ वह काव्य को सुशोभित करनेवाला माना गया है, किन्तु जहाँ वह संकुचित अर्थ में—विशिष्ट कथन-शैलियों के रूप में प्रयुक्त हुआ है; वहाँ वह काव्य-सौन्दर्य का साधन-मात्र रह गया है। यहाँ भी हम इसका प्रयोग दूसरे अर्थ में ही कर रहे हैं।

अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में रस के अतिरिक्त शेष सम्प्रदायों में सबसे पुराना अलंकार-सम्प्रदाय ही है। वैसे तो स्वयं भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में चार अलंकारों—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक—की विवेचना की है किन्तु उन्होंने इन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया। अलंकारों को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए पृथक् रूप में अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना करने का श्रेय 'काव्यालंकार' के रचयिता भामह (छठी शताब्दी) को ही प्राप्त है। भरत और भामह के बीच में राम शर्मा, मेघाविन, राजमित्र आदि विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने अलंकारों की चर्चा की थी, किन्तु उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इन विद्वानों के नाम केवल भामह के ही 'काव्यालंकार' में आये हैं। ऐसी स्थिति में अलंकार-सम्प्रदाय से प्रवर्त्तक भामह ही माने जाते हैं।

भामह का काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभाजित है जिसमें क्रमशः काव्य-शरीर-निर्णय, अलंकृति-निर्णय, दोष-निर्णय, न्याय-निर्णय और शब्दशुद्धि पर विचार किया गया है। भामह ने वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल मानते हुए उनकी संख्या ३८ निर्धारित की है। भामह के परवर्ती दण्डी (सातवीं शताब्दी) ने 'काव्यादर्श' लिखकर अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने भामह के अलंकार-विवेचन में संशोधन करते हुए अलंकारों की संख्या ३५ तक ही सीमित रक्खी, किन्तु 'काव्यालंकार सार-संग्रह के रचयिता उद्भट (नवीं शती) ने भामह का

ही समर्थन करते हुए तथा कुछ नये अलंकार जोड़कर इस संख्या को ४१ तक पहुँचा दिया। लगभग इसी समय रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की जिसमें उन्होंने एक ओर तो अलंकारों का वर्गीकरण किया तथा दूसरी ओर उनकी संख्या ५० से भी अधिक निश्चित की, इतना ही नहीं, उन्होंने अलंकार-सम्प्रदाय की अनेक परंपरागत भ्रान्तियों का भी निराकरण किया। जैसे कि उनसे पूर्व अनेक अलंकारवादियों ने रस, भाव आदि को भी अलंकार मानने की भूल की थी, जबकि रुद्रट ने इसका स्पष्ट विरोध किया। आगे चलकर अनेक आचार्यों ने अलंकारों का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया जिनमें मम्मट (काव्य प्रकाश : ११वीं शती), रुय्यक (अलंकार-सर्वस्व : १२वीं), जयदेव (चन्द्रालोक : १३वीं), विद्याधर (एकावली : १३-१४वीं शती), विश्वनाथ (साहित्य-दर्पण : १४वीं शती), केशव मिश्र (अलंकार शेखर : १६वीं शती), अप्पय दीक्षित (कुवलयानन्द : १४वीं शती), आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से मम्मट और विश्वनाथ को छोड़कर शेष सभी अलंकारवादी थे, जो कि अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे, जबकि मम्मट ध्वनि को व विश्वनाथ रस को मानते थे। रुद्रट-परवर्ती युग में अलंकार के क्षेत्र में संख्या-वृद्धि की ही मुख्य प्रवृत्ति रही—जिसके फलस्वरूप, 'कुवलयानन्द' तक पहुँचते पहुँचते उनकी संख्या लगभग सवा सौ हो गई।

संस्कृत की यह परंपरा आगे हिन्दी में भी अबाध रूप से चलती रही है। प्रारंभ में मध्यकालीन कवियों ने ब्रजभाषा पद्य में शताधिक अलंकार संबन्धी ग्रन्थ लिखे, जिनका मौलिकता या नवीनता की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, एक प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों के ही छायानुवाद मात्र हैं। आधुनिक युग में मुरारीदीन, भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि ने खड़ीबोली गद्य में अलंकारों का विवेचन किया। नवीनता इनमें भी नहीं है, किन्तु फिर भी लक्षणों एवं उदाहरणों की स्पष्टता की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक स्तुत्य कार्य डा० नगेन्द्र का है जिन्होंने संक्षेप में आधुनिक दृष्टिकोण से इनका पुनर्मूल्यांकन करते हुए पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर इनकी उपयोगिता प्रदर्शित की है। डा० ओमप्रकाश ने भी 'हिन्दी अलंकार साहित्य' के रूप में हिन्दी के अलंकार-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार-विवेचन की परंपरा भामह से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही है—हाँ, उसका महत्त्व अवश्य सर्वदा एक सा नहीं रहा है।

अलंकार : परिभाषा एवं स्वरूप

यद्यपि हमने आरंभ में 'अलंकार' शब्द की विवेचना कर दी है, किन्तु अलंकारों के स्वरूप को सम्यक रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं है। सौन्दर्य के उपादान एवं साधन के रूप में अनेक तत्वों का प्रयोग हो सकता है, किन्तु वे सभी 'अलंकार' के क्षेत्र में नहीं आते। अलंकार का सामान्य अर्थ है—आभूषण। आभूषण जिस प्रकार शरीर के अंग नहीं हैं, ऊपर से धारण किए जानेवाले पदार्थ

हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी अलंकार मूल विषय-वस्तु के अंग न होकर उसकी शैली से सम्बन्धित तत्व हैं। संक्षेप में हमारे विचार से अलंकार कथ्य न होकर कथन-शैली के विशिष्ट प्रकार मात्र हैं। किन्तु अलंकारवादी ऐसा नहीं मानते। उनकी धारणाएँ इस प्रकार हैं—

(क) भामह—"काव्य के रूपक आदि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना भूषण के नहीं सजता।"

(ख) दंडी—"काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों को अलंकार कहते हैं।"

(ग) जयदेव –"जो अलंकार-शून्य शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य अग्नि में भी अनुष्णता को स्वीकार करें।" अर्थात् उष्णता का जो सम्बन्ध अग्नि से है, वही अलंकार का काव्य से है।

उपर्युक्त उक्तियों में अलंकार को काव्य का स्थिर एवं अनिवार्य तत्व माना गया है जबकि वामन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृत्ति आचार्यों ने इसका खंडन किया है। साथ ही इन उक्तियों से अलंकार के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण नहीं होता। आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारों के स्वरूप की स्पष्ट रूप में मीमांसा करते हुए लिखा है—"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली वस्तुओं को सामने करना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।"

अलंकार और अलंकार्य का अन्तर

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने साहित्य में अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अन्तर माना है। उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन-शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार बताया है। जैसे 'मुख-चन्द्र' में 'मुख' अलंकार्य है जबकि 'चन्द्र' अलंकार है। किन्तु आधुनिक युग के अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस धारणा का खंडन करते हैं। क्रोचे का कहना है कि अलंकार और अलंकार्य में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं। उनका तर्क है—"**One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain. separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it or it does form part of it, a-nd is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.**"

अर्थात् यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का समावेश कैसे हो सकता है। बाहर से ? तब तो फिर वह सदा ही उक्ति से पृथक् रहेगा। यदि भीतर से, तो उस दशा में वह या तो उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जायगा। उस स्थिति में वह उक्ति का

ही अंग बनकर उससे सर्वथा अभिन्न हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चे काव्य में वस्तु और अलंकार मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उन्हें अलग-अलग कर देने पर काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर भी वस्तु और अलंकार का भेद मिटाया नहीं जा सकता। पानी में लाल रंग घुलकर एकाकार हो जाता है, किन्तु इसी से हम यह नहीं कह सकते कि पानी और लाल रंग—दोनों एक ही होते हैं। अतः क्रोचे का तर्क हमें निस्सार प्रतीत होता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, भारतीय आचार्यों ने अलंकारों के शताधिक भेद किए हैं, जिन्हें स्थूल रूप में ६-७ श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन श्रेणियों के सम्बन्ध में भी आचार्यों में परस्पर थोड़ा मतभेद रहा है। जहाँ रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—ये चार श्रेणियाँ मानीं, वहाँ रुय्यक ने निम्नांकित ७ श्रेणियाँ निश्चित की हैं—(१) सादृश्य गर्भ, (२) विरोध मूलक, (३) शृंखलाबद्ध, (४) तर्क न्याय मूल, (५) वाक्य न्याय मूल, (६) लोक-न्याय मूल, (७) गूढ़ार्थ प्रतीति मूल। परवर्ती विद्वानों ने भी प्रायः इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है, अतः इसका यहाँ संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी सिद्ध होगा।

(१) **सादृश्य गर्भ**—इसमें वस्तु और अलंकार के उपमेय और उपमान के गुणधर्म आदि में किसी न किसी प्रकार से सादृश्य दिखाकर मूल भाव के प्रभाव की अभिवृद्धि की जाती है। इस वर्ग में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आते हैं, जिनकी संख्या पं० रामदहिन मिश्र ने २८ मानी है।

(२) **विरोध मूल**—इसमें वस्तु और अलंकार के गुण-धर्मों में वैषम्य या विरोध की प्रमुखता रहती है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषयोक्ति आदि १२ अलंकार गिने जाते हैं।

(३) **शृंखलाबद्ध**—इनमें विषय-वस्तु को क्रम या शृङ्खला के रूप में प्रस्तुत करके सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार कमरे में बिखरी हुई वस्तुओं को एक क्रम से सजा देने पर उनकी शोभा बढ़ जाती है, वैसे ही शृङ्खलाबद्ध अलंकारों से काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। इसमें कारणमाला, एकावली आदि अलंकार आते हैं।

(४) **तर्क-न्याय मूल**—न्यायशास्त्री तर्क-अनुमानादि के द्वारा उक्ति को प्रभावशाली बनाया जाता है।

(५) **वाक्य-न्याय मूल**—जिससे तर्कपूर्ण सामान्य उक्ति या वाक्य के द्वारा वस्तु को प्रभावशाली बनाया जाय।

(६) **लोकन्याय मूल**—इसमें लोक-व्यवहार (या नीति) के तत्वों के द्वारा उक्ति में प्रभाव उत्पन्न किया जाय।

(७) **गूढ़ार्थ-प्रतीति मूल**—इसमें मुख्यतः व्यंजना-शक्ति का वैभव रहता है।

इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है—"उपर्युक्त कोई भी कारण सर्वथा संगत नहीं है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक

है तो वाक्य न्याय आदि में स्वयं अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चलता है। उसका आधार शैली की सीमा को लाँघकर वस्तु तक ही नहीं, वरन् न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक फैल गया है। स्वाभावतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।"

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि अलंकारों का उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्णतः संतोषजनक तो नहीं है, किन्तु वह उतना अनर्गल भी नहीं है। 'न्याय' शब्द के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् इन अलंकारों का सम्बन्ध न्यायशास्त्र या दर्शनशास्त्र से होगा, जब कि वास्तविकता यह नहीं है। न्यायशास्त्र के एक भाग में तर्क-विद्या सम्बन्धी विवेचन है। यह एक तथ्य है कि कोई बात जब तर्क-संगत ढंग से कही जाती है तो वह प्रायः प्रभावशाली हो जाती है, इसी से न्याय व तर्क सम्बन्धी कुछ तत्वों को भी आचार्यों ने अलंकारों में स्थान दे दिया है जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अनुचित नहीं है। इस प्रकार लोक-व्यवहार सम्बन्धी कुछ बातें भी कई बार वाणी की साज-सज्जा में उपयोगी होती हैं। अतः इन सबको अपनाकर अलंकारवादियों ने एक प्रकार से कथन-शैली की समृद्धि एवं वैभवशालिता के ही मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

अलंकारों के भेद

मुख्यतः अलंकारों के दो भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में अलंकार का सौन्दर्य केवल किसी शब्द-विशेष की ध्वनि और अर्थ पर आश्रित होता है, जो उस शब्द को बदल देने पर लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत अर्थालंकारों का सम्बन्ध पूरे वाक्य के अर्थ से होता है। शब्दालंकारों के अनेक उपभेद किए गए हैं, जैसे—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि। अनुप्रास में किसी वर्ण या अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है। वस्तुतः अनुप्रास का सौन्दर्य आवृत्ति पर ही आश्रित है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) **लपट से झट रूख जले-जले,**
नव नदी घट सूख चले-चले।

(ख) **तरणि के ही संग तरल तरंग से,**

(ग) **रस सिंगार सज्जन किये कंजनु भंजनु बैन।**
अंजन रंजन हू बिना खंजन भंजनु नैन॥

अनुप्रास से ही मिलता-जुलता यमक है। इसमें निरर्थक या भिन्नार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति होती है, जैसे—

सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है।

यहाँ 'कारण' और 'कारण' की आवृत्ति में यमक है।

वक्रोक्ति में किसी बात का अर्थ काकु या श्लेष से बदल दिया जाता है।

जैसे—

मैंने कहा, 'प्रिये जाओ मत, बैठो।'
वह भोली समझी कि 'जाओ, मत बैठो।'

'श्लेष अलंकार में एक ही शब्द को दो या उससे अधिक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। यथा—'पानी गये न ऊबरै, मोती, मानस, चून।' यहाँ पानी के क्रमशः तीन अर्थ हैं—कान्ति, प्रतिष्ठा और जल। इसी प्रकार शब्दालंकारों के और भी अनेक भेद हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

अब अर्थालंकारों को लीजिए। जैसा कि हमने पीछे बताया है, अर्थालंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा उनकी कुल संख्या शताधिक है। यहाँ केवल कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकारों का ही सोदाहरण परिचय दिया जाता है—

(क) उपमा—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अलंकार है। कुछ आचार्यों ने तो केवल इसे ही अलंकार माना है, शेष सबको उपमा के भेदों में गिना है। उपमा में वर्ण्य वस्तु का सादृश्य किसी अन्य वस्तु से बताया जाता है। इसके सामान्यतः चार अंग माने जाते हैं—(१) उपमेय अर्थात् वर्ण्य वस्तु। (२) उपमान, जिससे सादृश्य बताया जाता है। (३) धर्म—दोनों वस्तुओं का सामान्य गुण। (४) वाचक—वह शब्द जिससे दोनों की तुलना का बोध होता है। जहाँ ये चारों अवयव विद्यमान हों उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं अन्यथा उसे उपमा ही कहते हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तापस-बाला सी गंगा कल,
शशि मुख से दीपित मृदु कर-तल।
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।

यहाँ गंगा उपमेय है, तापस-बाला उपमान है, कल (सौन्दर्य) सामान्य गुण धर्म है। तथा 'सी' वाचक शब्द है। अस्तु, यह पूर्णोपमा है। उपमा के कतिपय अन्य उदाहरण—

(१) कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई।

(२) पड़ी थी बिजली सी विकराल।
लपेटे थे घन जैसे बाल॥
कौन छेड़े ये काले साँप!
अवनिपति उठे अचानक काँप!!

(ख) रूपक—इसमें उपमेय और उपमान का केवल सादृश्य ही नहीं दिखाया जाता, अपितु दोनों को एक ही बना दिया जाता है या यों कहिए कि उपमेय को उपमान का ही रूप दे दिया जाता है: जैसे—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी!!

यहाँ अम्बर को पनघट का, तारों को घट का तथा ऊषा को नागरी का रूप दे दिया गया है। इसके भी भेद होते हैं। जहाँ रूपक उपर्युक्त उदाहरण की भाँति समस्त

अवयवों के साथ हो तो उसे सावयव रूपक कहते हैं, किन्तु जहां सब अवयव न हों उसे निरवयव रूपक कहते हैं। निरवयव रूपक का उदाहरण देखिए –

जो चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।

जहाँ चिता को 'व्याली' का रूप तो दे दिया गया है, किन्तु व्याली के विभिन्न अवयवों का चित्रण यहाँ नहीं किया गया।

(ग) **उत्प्रेक्षा**—उत्प्रेक्षा की स्थिति उपमा और रूपक के बीच की है। इसमें न तो उपमा की भाँति उपमेय और उपमान का केवल सादृश्य बताया जाता है और न ही रूपक की भाँति दोनों को एकाकार कर दिया जाता है। इसमें केवल उपमान की सम्भावना या कल्पनामात्र की जाती है। देखिए—

उपमा—मुख चाँद सा सुन्दर है।

रूपक – मुख-चन्द्र के सौन्दर्य का क्या कहना !

उत्प्रेक्षा—मुख मानों चाँद है।

उत्प्रेक्षा के भी अनेक भेद किए गए हैं। जैसे, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा आदि। इनमें क्रमशः विषय-वस्तु, कारण या परिणाम के सादृश्य की कल्पना की जाती है। जैसे

(१) **वस्तूत्प्रेक्षा—इसके अनन्तर अंक में रक्खे हुए सुस्नेह से,**
शोभित हुई इस भांति वह निर्जीव पति के देह से,
मानो निदाघारम्भ में संतप्त आतप जाल से,
छादित हुई विपिन स्थली नव पतित किंशुकशाल से,

—मैथिलीशरण

(२) भेदकातिशयोक्ति—अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
यह चितवनि और कछू जेहि बस होत सुजान॥
—बिहारी

(३) असम्बन्धातिशयोक्ति—औषधालय भी अयोध्या में बने तो थे सही
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं
—रा० च० उपाध्याय

(४) कारणातिशयोक्ति—मैं कब ही तोलने का करती उपचार,
स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज-लता फँसाकर नर-तरु से,
झूले सी झोंके खाती हूँ।
—प्रसाद

(ङ) दीपक—इसमें उपमेय और उपमान दोनों के एक से गुणों का आख्यान होता है। जैसे—

काहू के कहू घटाये घटै नाहिं,
सागर और गुन आगर प्रानी।

(च) प्रतिवस्तूपमा—इसमें भी दीपक की भांति उपमेय और उपमान के समान गुणों की चर्चा होती है, किन्तु दीपक में दोनों के लिए एक से ही शब्दों का प्रयोग होता है जबकि इसमें अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है। देखिए—

सिंह सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी?
क्या पर-नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी।

(छ) व्यतिरेक—जहाँ उपमेय को उपमान से भी अधिक उत्कृष्ट बताया जाय, उसे व्यतिरेक कहा जाता है। उदाहरण—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है किन्तु वहाँ सुर-सरिता कहाँ? सरयू कहाँ?
वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवों को तारती।

(ज) समासोक्ति—इसमें प्रस्तुत वर्णन के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ ध्वनित किया जाता है, जैसे चाँदनी के सम्बन्ध में कविवर पन्त की निम्नांकित पंक्तियाँ—

जग के दुःख दैन्य-शयन पर यह रुग्णा बाला;
रे कब से जाग रही वह आँसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल देह लता कुम्हलाई।
विवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई॥

(झ) व्याज-स्तुति—जहाँ स्तुति के रूप में निन्दा या निन्दा के रूप में स्तुति की जाय। उदाहरण—'आप तो बहुत बड़े बलवान हैं, यह बच्चा भी आपसे डरता है।'

(ञ) विरोधाभास—जहाँ मूलतः विरोध न होते हुए भी विरोध का आभास हो। उदाहरण—

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन।

(ट) काव्यलिंग—जहाँ कारण बताकर कोई बात सिद्ध की जाय। जैसे—

श्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

इसके अतिरिक्त अलंकारों के और अनेक भेद हैं जिनकी चर्चा यहाँ स्थानाभाव से सम्भव नहीं।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्व

प्रायः यह कहा जाता है कि अलंकारों के प्रयोग से भाषा में कृत्रिमता आती है; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि अलंकार न केवल काव्य-भाषा के लिए अपितु लोक-व्यवहार की सामान्य भाषा के लिए भी आवश्यक है। इतना ही नहीं, असभ्य से असभ्य या सर्वथा निरक्षर भट्टाचार्य की वाणी में भी हमें अलंकारों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। जब सामान्य लड़ाई-झगड़ों में अशिक्षित लोग परस्पर गालियाँ देते हैं या अपने शत्रु को कहते हैं, "तुम्हें पीस डालूँगा" या तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा" तो वहाँ अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि का ही प्रयोग समझना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग करने वाला निश्चित रूप से जानता है कि वह जो कुछ कह रहा है, वैसा वह कर नहीं सकेगा, फिर भी वह ऐसा कहता है—क्यों? वस्तुतः वह अपने क्रोध की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए ही ऐसा करता है। इसी प्रकार अन्य भावों—प्रेम, वात्सल्य, घृणा आदि में भी भाषा का प्रयोग अलंकारमय रूप में करते हैं। वास्तव में, भावोद्वेलित हृदय से जो शब्द स्फुरित होते हैं, उनकी न केवल शब्दावली और अर्थ में भिन्नता आ जाती है, अपितु उस समय वक्ता के लहजे, उच्चारण तथा उसकी मुखाकृति आदि में भी विकार आ जाता है। यही विचार सुन्दर भावों या सुन्दर प्रसंगों से सम्बद्ध होकर उसी प्रकार आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बन जाता है, जिस प्रकार रमणी की प्रत्येक चेष्टा हाव का सौन्दर्य प्राप्त कर लेती है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावों की प्रेरणा से उच्चरित भाषा में विकृत या अलंकृति का आना सर्वथा स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, यदि कोई व्यक्ति क्रोध या प्रेम व्यक्त करते समय भी अपनी बात सामान्य ढंग से ही सामान्य लहजे में कहता है, वह अस्वाभाविक होगा तथा उसके क्रोध या प्रेम पर सन्देह होने लगेगा। सच्चे कवि भावाभिव्यक्ति से प्रेरित होकर सहज स्वाभाविक रूप में ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं, या यों कहना चाहिए कि उनसे प्रयोग हो जाता है। किन्तु कई बार चमत्कारवादी कवि बिना भाव की प्रेरणा से ही चेष्टापूर्वक अपनी भाषा को अलंकृत करने का प्रयास करते हैं—ऐसी स्थिति में अवश्य ही उनकी भाषा कृत्रिम एवं अस्वाभाविक हो जाती है, जो स्तुत्य नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि अलंकार स्वतः ही भाषा में आ जाते हैं तो फिर उनकी विवेचना एवं शिक्षा से क्या लाभ ? क्या कवियों को अलंकार की शिक्षा देने से उनकी भाषा कृत्रिम नहीं हो जाएगी ? इसके उत्तर के लिए हमें थोड़ी गंभीरता से विचार करना चाहिए। यह एक तथ्य है कि हम अपने भावों की अभिव्यक्ति भी उसी माध्यम से सफलतापूर्वक एवम् स्वाभाविकता के साथ कर सकते हैं जिसे हमने पहले से अर्जित कर रखा है। भाषा का जो रूप एवं स्तर हम सीख लेते हैं, भावाभिव्यक्ति के समय भी वही प्रयुक्त होता है। जहाँ एक असंस्कृत व्यक्ति अपना क्रोध व्यक्त करने के लिए किसी का पिता या बहनोई बन जाना आवश्यक समझता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति जो कि सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत है, केवल 'दुष्ट' कहकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। अतः भाषा एवं व्यवहार के जिस स्तर के हम अभ्यस्त हो जाते हैं, वही हमारे लिए सामान्य एवं स्वाभाविक बन जाता है। यही बात अलंकारों पर लागू होती है। जिसने पहले से अलंकारों का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त एवं अभ्यास कर लिया हो, वह भावाभिव्यक्ति के समय भी उनका प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप में कर सकेगा, जैसे कि एक अभ्यस्त टाइपिस्ट दूसरों से बात करता हुआ भी सहज-स्वाभाविक रूप में अपनी गति बनाए रखता है या एक अच्छा साइकिल चलानेवाला साथी से बातें करता हुआ भी पूरी रफ्तार के साथ दौड़ सकता है। किन्तु जो आग लगने पर कुआँ खोदते हैं—वे पानी का इच्छित उपयोग नहीं कर पाते, हमारे विचार से अलंकारों के प्रयोग के लिए भावों की प्रेरणा के साथ-साथ उनका पूर्व-अभ्यास अपेक्षित है। यह अभ्यास पूर्व-कवियों की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से भी किया जा सकता है।

अब पाठक की दृष्टि से भी अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार किया जा सकता है। भारतीय आचार्यों ने अलंकारों का निरूपण करते हुए मुख्यतः आवृत्ति, सादृश्य, अतिशयोक्ति, वक्रोक्तिक्रम आदि को ही आधार बनाया है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों में आवृत्ति का ही सौन्दर्य होता है। जो ध्वनि सामान्यतः उपेक्षणीय होती है, वही बार-बार की आवृत्ति से सुन्दर एवं आकर्षक बन जाती है। उदाहरण के लिए, चर्र-चर्र करनेवाला खिलौना या 'सी ई ई' करनेवाली सीटी के प्रति बच्चे इतने आकर्षित हो जाते हैं कि वे मीठी गोलियों को ठुकराकर भी इन्हें लेना पसन्द करेंगे। खिलौने या सीटी में आवृत्ति का जो सौन्दर्य है उसी का विकसित रूप अनुप्रासादि में मिलता है।

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक आदि का मूलाधार सादृश्य है। प्रश्न है, केवल सादृश्य से उक्ति में सौन्दर्य की सृष्टि कैसे होती है ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि कोरे सादृश्य से सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, हम कहें कि 'उर्मिला सीता सी सुन्दर हैं' या 'काजल कोयले सा काला है' तो इससे उक्ति में कोई आकर्षण नहीं आ पाएगा। वस्तुतः सादृश्यमूलक अलंकारों में भी हीन वस्तु को किसी अन्य महत्वपूर्ण वस्तु के सदृश बताकर ही उसके महत्त्व में अभिवृद्धि की जाती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ सामान्य सौन्दर्य-प्रसाधनों

का उदाहरण दे सकते हैं। नेत्र पहले से काले होते हैं अतः उनमें काजल लगाया जाता है। जबकि लाल ओठों की लालिमा की अतिरंजना के लिए लिपस्टिक लगाया जाता है। कल्पना कीजिए यदि इस क्रम को उलट दिया जाय—यानी काजल ओठों पर तथा लाली आँखों में लगा ली जाय तो क्या होगा ? वस्तुतः वहाँ 'सादृश्य' का लोप हो जायगा। ठीक इसी प्रकार अलंकारों में सादृश्य और अतिरंजना—दोनों का समन्वय होना चाहिए।

शृंखलामूलक अलंकारों में 'क्रम' का सौन्दर्य होता है जबकि तर्क-न्याय-मूलक तथा लोक-न्याय-मूलक आदि में औचित्य का। कोई भी वस्तु ठीक क्रम से या उचित ढंग से प्रस्तुत होने पर सुन्दर लगती है। कमरे की बिखरी हुई पुस्तकों को क्रम से लगा दीजिए—देखिए उससे कमरे की कितनी शोभा बढ़ जाती है ! अस्तु, हम कह सकते हैं कि अलंकारों के उपर्युक्त आधार सर्वथा मनोवैज्ञानिक हैं, बाकी यदि कोई अनुचित रूप से उनका प्रयोग करे तो इसमें अलंकारों का क्या दोष !

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते हैं कि अलंकारों का निश्चित रूप से काव्य में महत्त्व है। उनसे भावों की स्पष्ट एवं उचित रूप में अभिव्यक्ति और उक्ति के प्रभाव में वृद्धि होती है तथा वे श्रोता के मन को आकर्षित एवं आन्दोलित करते हैं। किन्तु यह सब कुछ तभी होता है जबकि उनके पीछे भावों की प्रेरणा हो। अलंकार के लिए अलंकार का प्रयोग सफल नहीं होता। इसके अनिरिक्त, जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, अलंकारों के प्रयोग के लिए पूर्वाभ्यास की भी अपेक्षा है। प्रायः यह कहा जाता है कि आज का युग अलंकारों का युग नहीं है। अतः काव्य से भी अलंकारों का बहिष्कार होना चाहिए—किन्तु इस तर्क का आधार ही खोखला है। क्या सचमुच ही आज का युग अलंकार का युग नहीं है ? क्या आज विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों—विभिन्न फैशन के वस्त्राभूषणों, रंग-बिरंगे पाउडर, लिपस्टिक आदि का प्रयोग नहीं होता ? वस्तुतः अलंकारों आ रूप बदल गया है किन्तु अलंकार की मूल भावना आज भी मनुष्यों में ज्यों की त्यों विद्यमान है।

अलंकारों की प्रशंसा में साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्ततः अलंकार अलंकार ही हैं। अलंकार के लिए हम अपने नाखून तो कटवा सकते हैं किन्तु यदि कोई अँगुलियाँ कटाने के लिए कहे तो हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में, अलंकार काव्य की आत्मा नहीं हैं काव्य का शरीर भी नहीं, वे केवल उसके बाह्य पक्ष को सुसज्जित करने के साधन मात्र हैं। अलंकारों से कुरूप को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता, केवल सुन्दर के ही सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है, ठीक वैसे ही यदि कवि के पास अनुभूतियों का संचित कोष है तो अलंकार भी उसकी वैभव-वृद्धि में योग दे सकते हैं, अन्यथा कोरे आलंकारों की पूंजी से कोई व्यक्ति कवि नहीं बन सकता।

:: ग्यारह ::

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

'रीति' के अर्थ पर विचार करते हुए आचार्य बल्देव उपाध्याय ने लिखा है—"रीति" शब्द रीङ् धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से बनता है। अतः रीति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—मार्ग। पन्थ, वीथि, गति, प्रस्थान—सब रीति के पर्यायवाची शब्द हैं।" काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी 'रीति' का प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक काव्य-रचना की सामान्य पद्धति, शैली आदि के अर्थ में तथा दूसरा, संस्कृति के एक सम्प्रदाय-विशेष के अर्थ में। यह सम्प्रदाय है, आचार्य वामन (९वीं शती) द्वारा प्रवर्तित रीति-सम्प्रदाय। यहाँ इस सम्प्रदाय विशेष के ही सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना हमारा लक्ष्य है।

'रीति' की परम्परा

यद्यपि रीति को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को ही प्राप्त है, किन्तु यह उनका सर्वथा नूतन सिद्धान्त नहीं है। उनसे पूर्व भी अनेक आचार्यों ने रीति की विवेचना विभिन्न रूपों में की थी, जिसका लाभ निश्चित ही वामन ने उठाया। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में रीति से मिलते-जुलते शब्द 'प्रवृत्ति' का प्रयोग करते हुए इसके चार भेदों की व्याख्या की है। प्रत्येक देश के रहन-सहन और आचार-विचार में एक दूसरे से थोड़ा-बहुत अन्तर होता है—अतः इसी आधार पर भरत ने 'प्रवृत्ति' के भेद निश्चित किए थे। यदि आधुनिक शब्दावली में कहें तो भरत की प्रवृत्ति स्थानीय (Local colours) को सूचित करती है। उन्होंने चारों भेदों का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर किया है—आवन्ती, दाक्षिणात्य, औद्र, मागधी और पांचाली। सही बात तो यह है कि भरत के इस प्रवृत्ति सम्बन्धी विवेचन का सम्बन्ध नाटक के बाह्य उपकरणों—वेश-भूषादि से ही अधिक है, काव्य के आधारभूत तत्त्वों से कम। फिर भी इसका इतना महत्त्व अवश्य है कि परवर्ती आचार्यों में से भी अनेक ने भौगोलिक आधार पर वर्गीकरण की परम्परा को अपनाया है।

'प्रवृत्ति' के अतिरिक्त आचार्य भरत ने नाटक में प्रयुक्त होनेवाले काव्य के गुण-दोषों एवं लक्षणों की विशद व्याख्या की है। रीति-सिद्धान्त के आधारभूत प्रायः सभी तत्त्व भरत के इन गुण-दोषों एवं लक्षणों के अन्तर्गत मिल जाते हैं। अतः कहना चाहिए कि रीति की परम्परा आचार्य भरत से ही प्रवर्तित हो जाती है।

भामह (छठी शती) ने अपने काव्यालंकार में 'वैदर्भ' और 'गौड़' नाम से दो 'मार्गों' का उल्लेख किया है जिन्हें हम रीति के ही पर्यायवाची मान सकते हैं। यह वर्गीकरण स्वयं भामह का किया हुआ है। अतः किसी ऐसे अज्ञात व्यक्ति द्वारा कृत माना जा सकता है, जो भरत और भामह के बीच के समय में हुआ हो। खैर, भामह की विवेचना से इतना स्पष्ट है कि उस युग में एक ओर तो इन 'मार्गों' का महत्त्व बहुत अधिक था जबकि दूसरी ओर स्वयं भामह ने इनको हेय दृष्टि से देखते हुए अलंकार-विहीन वैदर्भ एवं गौड़—दोनों मार्गों को ही उपेक्षणीय बताया है। उनके शब्दों में—'यदि वैदर्भी में भी पुष्टार्थता न हो, वक्रोक्ति का अभाव हो, केवल प्रसादयुक्त कोमल शब्दों की सत्ता हो तो वह केवल गान की भाँति हो सकती है—काव्यत्व उसमें कहाँ ?" भामह के अनन्तर दंडी ने भी 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' का ही प्रयोग करते हुए उसके उपर्युक्त दो भेदों की विवेचना की है। किन्तु उनका दृष्टिकोण इनके प्रति भामह की अपेक्षा अधिक सम्मानपूर्ण है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल वैदर्भ मार्ग को उत्तम तथा गौड़ को निकृष्ट माना है, अपितु इनके आधार-भूत गुणों की भी व्याख्या की है। उनके विचार से वैदर्भ में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, समाधि, कान्ति ये दस गुण होते हैं, जबकि इनके विपरीत गुणोंवाला मार्ग गौड़ होता है। इस प्रकार वैदर्भ में सब गुणों का संग्रह होता है जबकि गौड़ में सब दोषों का।

वामन ने अपने 'काव्यालंकार-सूत्र' में रीति को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि उसे काव्य की आत्मा तक घोषित कर बैठे। रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि 'विशिष्टपद-रचना रीति' अर्थात् विशेष प्रकार की शब्द-रचना ही रीति है। वह विशेष प्रकार या शब्द-रचना की वह विशेषता क्या है, जिससे रीति का सम्पादन होता है ? उसका उत्तर है—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् गुण का होना ही विशेषता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि वामन काव्य का आधार रीति को तथा रीति का आधार गुण को मानते है—अतः 'गुण' ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व सिद्ध होता है। वामन के द्वारा प्रस्तुत गुणों की सूची भी बहुत कुछ भरत एवं दंडी की सूची से ही मिलती-जुलती है, अतः इसे वामन की मौलिक देन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, वामन ने एक तो 'मार्ग' के स्थान पर 'रीति' नाम का प्रचलन किया और दूसरे उसके भेदों में भी वृद्धि की—वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त उन्होंने एक तीसरे भेद 'पांचाली' की और कल्पना की—इसे हम अवश्य उनकी मौलिकता मान सकते हैं।

वामन के परवर्ती आचार्यों ने भी रीति का थोड़ा-बहुत विवेचन करते हुए इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों के अतिरिक्त एक चौथे भेद—'लाटी' की कल्पना की। साथ ही उन्होंने रीतियों के एक सामान्य आधार की भी उद्भावना की। उनके विचार से समास ही रीति का निर्णायक आधार है—जहाँ समास बिलकुल न हो वह वैदर्भी, जहाँ लघु हो वह पांचाली और जहाँ मध्य समास व

दीर्घ समास हो, वे क्रमशः लाटी व गौड़ी रीति मानी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त किस रस में कौन सी रीति प्रयुक्त होनी चाहिए इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, जैसे शृंगार, करुण आदि में वैदर्भी और पांचाली या रौद्र में गौड़ी प्रयुक्त होनी चाहिए।

राजशेखर (६वीं शती) ने प्रवृत्ति, वृत्ति एवं रीति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए पूर्व-विवेचन को अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इनके पारस्परिक अन्तर उनके शब्दों में इस प्रकार हैं—"वेष-विन्यास क्रमः प्रवृत्ति, विलास-विन्यासक्रमो वृत्तिः, वचन-विन्यास क्रमो रीतिः" अर्थात् वेष-विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास-विन्यास का प्रकार वृत्ति तथा वचन-विन्यास का प्रकार रीति है। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति का सम्बन्ध वेशभूषादि से है, वृत्ति का क्रिया-कलाप-व्यवहार आदि से तथा रीति का भाषा एवं बोल-चाल आदि से। राजशेखर का यह स्पष्टीकरण निश्चित रूप से ही स्तुत्य है। रीति के भेदों के अन्तर्गत राजशेखर ने रुद्रट के लाटी को स्वीकार नहीं किया—उन्होंने वैदर्भी, पांचाली एवं गौड़ी को ही मान्यता देते हुए उनका विवेचन किया है।

दसवीं शती के आचार्य कुन्तक ने रीति के इतिहास में एक बड़ा भारी परिवर्तन किया। अब तक रीति का सम्बन्ध प्रदेश विशेष से माना जाता रहा था, जबकि कुन्तक ने इसे कवि-स्वभाव से सम्बन्धित सिद्ध किया। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने रीति के विभिन्न भेदों का नामकरण भी नये ढंग से किया—सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति), विचित्र मार्ग (गौड़ी) और मध्यम मार्ग (पांचाली)। कुन्तक का यह प्रयास बहुत सुन्दर था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसकी उपेक्षा की, जिससे यह नामकरण प्रचलित न हो सका।

भोजराज (११वीं शती) ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी के अतिरिक्त दो और नये भेदों—आवन्ति और माग्धवी—की सृष्टि करके उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी, किन्तु परवर्ती विद्वान् वामन के तीन भेदों को मानते रहे। आनन्द-वर्द्धन ने रीति का प्रयोग वक्ता, कथ्य, विषय, एवं रस के औचित्य के अनुसार ही करने का परामर्श दिया। इस प्रकार रीति विवेचन की परम्परा ११-१२वीं शती तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुन्तक, राजशेखर, भोज आदि आचार्य रीति-सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में रीति-विवेचन को स्थान दिया। इतना ही नहीं, 'नैषध चरित' के रचयिता श्रीहर्ष ने तो परम सुन्दरी दमयन्ती को ही रीति-विशेष का रूप दे डाला—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ॥
इत स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।

३—११६ ।

अर्थात् हे वैदर्भी (दमयन्ती)! तू सचमुच धन्य है जिसने अपने उदार गुणों से नैषध को आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका की इससे बढ़कर स्तुति क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी अधिक तरल (चंचल) बना दे।

इससे प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक रीति-सिद्धान्त पक्षी-विपक्षियों के द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु परवर्ती युग में रस, ध्वनि और अलंकार के आगे यह गौण हो गया। यही कारण है कि हिन्दी के शताधिक कवि-आचार्यों (रीतिकालीन) में से कुछ ने ही रीति का उल्लेख किया है। केशव ने तो रीति के स्थान पर भरत की चार वृत्तियों को ही ले लिया है जबकि चिन्तामणि ने कुन्तक का अनुकरण करते हुए इसे कवि-स्वभाव से सम्बन्धित रूप में ग्रहण किया है। कुलपति, देव और दास ने भी रीति का उल्लेख अत्यन्त मितव्ययिता-पूर्वक किया तथा उन्होंने वामन के दृष्टिकोण की प्रायः उपेक्षा की है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यों ने इस सिद्धान्त को प्रायः ठुकरा दिया।

रीति-सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण

रीति-सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करने से पूर्व हमें उसका काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण समझ लेना चाहिए। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम अधिकरण में ही काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रयोजन आदि का विवेचन किया है जिसके आधार पर हम उनके दृष्टिकोण से अवगत हो सकते हैं। सबसे पहला प्रश्न है—काव्य क्या है? वामन की दृष्टि से इसका उत्तर है—'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते।' अर्थात् यह काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। यदि वामन के इस लक्षण की उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निरूपित लक्षणों से तुलना करें तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उनका लक्षण कितना अधिक व्यापक है। जहाँ भामह केवल 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होता है—कहकर रह जाते हैं, वहाँ वामन गुण तथा अलंकारों से संस्कृति की भी बात कहते हैं। प्रत्येक सार्थक शब्द काव्य नहीं हो सकता, कुछ विशेष गुणों वाले शब्द ही मिलकर काव्य रूप धारण कर सकते हैं। अतः स्पष्ट ही वामन के द्वारा गुण और अलंकारों की बात कहा जाना, अधिक उचित होता है। अस्तु, यदि उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करें तो उससे वामन की निम्नांकित मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है :—

(क) काव्य में शब्द और अर्थ के संस्कृत या परिष्कृत रूप का प्रयोग होता है या यों कहिए कि काव्य में परिष्कृत भाषा का प्रयोग होता है।

(ख) भाषा में यह परिष्कार गुण और अलंकारों के द्वारा आता है।

(ग) वामन शब्द और अर्थ दोनों के परिष्कार की बात कहते हैं—इससे स्पष्ट है कि वे काव्य के दोनों पक्षों—ध्वनि और अर्थ—दोनों को महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते हैं, जैसे कि क्या भाषा में परिष्कार केवल गुण और अलंकार से ही आ सकता है, अन्य साधनों से नहीं? या क्या काव्य केवल

परिष्कृत या सुसज्जित भाषा में ही रचित हो सकता है अन्यथा नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि वामन के दृष्टिकोण से गुण और अलंकार ही काव्य के आधारभूत तत्त्व हैं, अतः यदि वे केवल इन्हें ही भाषा के परिष्कार का साधन मानें तो स्वाभाविक ही है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी जहाँ तक वामन के दृष्टिकोण की बात है, वे केवल परिष्कृत भाषा में ही रचित काव्य को काव्य मानेंगे। वामन की यह मान्यता कहाँ तक तर्क-संगत है, इस पर हम आगे वामन के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करते समय विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि वामन के अनुसार गुण और अलंकार ही दो ऐसे तत्त्व हैं जिनसे परिष्कृत-सुसज्जित होकर भाषा काव्य का रूप धारण करती है।

काव्य के सम्बन्ध में उसके लक्षण के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी आत्मा क्या है ? अर्थात् वह कौन-सा आधारभूत तत्त्व है जिसके कारण काव्य, काव्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में काव्य काव्यत्व से हीन हो जाता है ? यह प्रश्न भारतीय आचार्यों में पर्याप्त वाद-विवाद का विषय रहा है। आचार्य वामन ने इसके उत्तर में 'रीति' को काव्य की आत्मा बताया। किन्तु सही बात तो यह है कि उनके द्वारा विवेचित 'रीति' अपने आपमें साध्य न होकर काव्य के सौन्दर्य की साधन मात्र है। वामन ने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि "काव्यं ग्राह्यम-लंकारात् सौन्दर्यमलंकारः।" (प्रथम अधिकरण १-२) अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य। इस प्रकार सौन्दर्य ही काव्य का मुख्य तत्व है तथा दोषों का परित्याग, गुण और अलंकारों का प्रयोग—ये सब तो सौन्दर्य-सृष्टि के साधन मात्र हैं। दोषों के त्याग और गुण व अलंकारों के ग्रहण का सामान्य नाम ही 'रीति' है—अतः कहना चाहिए कि रीति तो काव्य-सौन्दर्य का साधन मात्र है। जिस प्रकार मनुष्य वायु, जल, भोजन आदि के द्वारा जीवन धारण करता है, किन्तु फिर भी इन्हें मनुष्य का प्राण या उसकी आत्मा नहीं माना जा सकता, ठीक वैसे ही काव्य में सौन्दर्य रूपी जीवन के लिए रीति को उसका साधन ही माना जा सकता है; साध्य नहीं। अस्तु, वामन ने एक ओर रीति को काव्य की आत्मा घोषित करके तथा दूसरी ओर सौन्दर्य को ही उसका साध्य मान करके दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनसे उनके दृष्टिकोण की अस्पष्टता प्रकट होती है।

इस प्रकार काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी वामन ने अपना मत अस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है—"सुन्दर काव्य प्रीति का और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट और अदृष्ट फलवाला होता है।" डा० नगेन्द्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—"वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं—दृष्ट प्रयोजन प्रीति-आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः

कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है।" निस्संदेह डा० नगेन्द्र की इस व्याख्या से वामन का पक्ष बहुत सबल हो जाता है, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किसी अन्य व्यक्ति की रचना से पाठक को कीर्ति किस प्रकार मिल सकती है ? हमारे विचार से वामन ने अपना मत केवल कवि के दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है, क्योंकि उसे काव्य-रचना करते समय आनन्द प्राप्त होता है तथा उसके पश्चात् कीर्ति मिलती है। काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख के अनन्तर वामन ने यह भी लिखा है—"काव्य-रचना की प्रतिष्ठा यश की प्राप्ति की सरणि मानी जाती है। अतः कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को 'काव्यालंकार सूत्र' का अर्थ भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए।" (प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, सूत्र पाँचवाँ) इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि वामन ने कवि के दृष्टिकोण से ही काव्य-प्रयोजन पर विचार किया था, पाठक के दृष्टिकोण से नहीं।

अस्तु, आचार्य वामन के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत करें तो कह सकते हैं—(१) काव्य की रचना गुणों और अलंकारों से परिष्कृत एवं सज्जित भाषा में होनी चाहिए। (२) गुणों और अलंकारों से ही काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है, यह सौन्दर्य या सौन्दर्य उत्पन्न करने की विधि (रीति) ही काव्य की आत्मा है। (३) सौन्दर्य के कारण ही पाठक काव्य को पसन्द करता है तथा उसी से कवि को आनन्द व कीर्ति की उपलब्धि होती है। एक शब्द में, सौन्दर्य ही वामन के सारे दृष्टिकोण एवं उनकी समस्त मान्यताओं का मूलाधार है। वामन का विवेचन सर्वथा दोष-शून्य एवं तर्क-संगत चाहे न हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने कला के प्रति सच्चे सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को अपना कर उसके साथ न्याय करने का पूरा प्रयत्न किया है।

'रीति' के आधारभूत तत्त्व

जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्यवादी था, अतः उन्होंने उन सब गुणों को जिनसे काव्य सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है, रीति के आधारभूत तत्वों के रूप में संकलित किया है। किन्तु यदि किसी वस्तु में गुणों के साथ-साथ दोष भी विद्यमान हों तथा उसमें उचित साज-सज्जा का अभाव हो तो वहाँ गुण भी प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए वामन ने एक ओर यह स्पष्ट किया है कि सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है, तो दूसरी ओर उन्होंने अपने ग्रन्थ में गुण, दोष और अलंकार का निरूपण विस्तार से अलग-अलग अध्यायों में किया। प्रायः हिन्दी के अनेक विद्वान्-रीति-सिद्धान्त की चर्चा करते समय केवल गुणों तक ही अपना विषय सीमित रखते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि दोष और अलंकार भी इस सिद्धान्त

में महत्त्वपूर्ण अंग है। अस्तु, हम यहाँ इन तीनों का ही क्रमशः विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करेंगे।

(१) गुण

यद्यपि गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का श्रेय वामन को ही है, किन्तु इनकी कल्पना उन्होंने अपने मस्तिष्क से नहीं की। उनसे पूर्व अनेक आचार्य इनकी चर्चा कर चुके थे। आचार्य भरत ने दोषों के विपर्यय रूप ऐसे तत्त्वों को, जो काव्य-शैली को समृद्ध करते हैं, गुण माना था। इन गुणों की गणना भी उन्होंने इस प्रकार की थी—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. पद-सौकुमार्य, ८. अर्थ-व्यक्ति, ९. उदारता एवं १०. कान्ति। आगे चलकर दण्डी ने भी दस गुणों की विस्तृत विवेचना की है किन्तु उनका कोई सामान्य लक्षण निर्धारित नहीं किया। वस्तुतः गुणों का लक्षण स्पष्ट भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया। उनके विचार से 'काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं'—(काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः)। स्पष्ट ही यह लक्षण इतना व्यापक है कि इसके अनुसार वे सारे तत्त्व जिससे कि काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है, गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर वामन को इसी से संतोष नहीं हुआ, उन्होंने उन्हें काव्य के स्थायी तत्त्व घोषित कर दिया अर्थात् जहाँ काव्य है वहाँ गुण अवश्य है और जहाँ गुण नहीं, वहाँ काव्य भी नहीं। ऐसी स्थिति में गुणों की गणना सम्भव नहीं थी, किन्तु वामन ने उनकी संख्या बीस निश्चित कर दी—दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण। वस्तुतः ये बीस गुण आचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित दस गुण ही हैं, वामन ने केवल शब्द और अर्थ का भेद करके उनकी संख्या द्विगुणित कर दी। कहना न होगा कि वामन के परवर्ती विद्वानों ने भी इस संख्या-विस्तार में अपनी रुचि प्रदर्शित की है, जैसे कि भोजराज ने गुणों की संख्या ७२ तक पहुँचा दी। किन्तु यह संख्या वृद्धि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, अतः हम अपना विवेचन वामन तक ही सीमित रखेंगे। वामन द्वारा निरूपित गुणों का परिचय संक्षेप में स्वयं उन्हीं के दृष्टिकोण से इस प्रकार दिया जा सकता है—

(क) शब्द-गुण

१. **ओज**—'गाढ़बन्धत्वमोजः' अर्थात् रचना की गाढ़ता या गाढ़बन्धत्व 'ओज' गुण कहलाता है। दण्डी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि जब वाक्यों में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है तो ओज गुण का उदय होता है। हमारे विचार से वामन का भी अभिप्राय संश्लिष्ट शब्द-रचना से ही था।

२. **प्रसाद**—'शैथिल्यं प्रसादः' अर्थात् रचना की शिथिलता ही प्रासाद गुण है।

३. **श्लेष**—'मसृणत्वं श्लेषः' अर्थात् मसृणत्व या कोमलता को श्लेष कहते हैं।

४. **समता**—'मार्गाभेदः समता' अर्थात् मार्ग का अभेद या शैली की एक-रूपता समता गुण है।

५. **समाधि**—'आरोहाऽवरोहक्रमः समाधिः' अर्थात् (शैली में) उतारचढ़ाव ही समाधि है।

६. **माधुर्य**—'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' शब्दों की पृथकता ही माधुर्य गुण है।

७. **सौकुमार्यम्**—'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' अर्थात् कठोरता का अभाव ही सौकुमार्य है।

८. **उदारता**—'विकटत्वमुदारता' अर्थात् रचना शैली की विकटता ही उदारता कहलाती है।

९. **अर्थ-व्यक्ति**—'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' अर्थात् वह गुण जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, अर्थ-व्यक्ति कहलाता है।

१०. **कान्ति**—'औज्ज्वल्यं कान्तिः' अर्थात् रचना-शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम ही कान्ति है।

शब्द-गुणों की उपर्युक्त सूची बड़ी विचित्र-सी है। पहले हम देखते हैं कि वामन ने रचना के गम्भीर बन्धत्व को ओज गुण माना है तो आगे उसके सर्वथा विरोधी गुण—रचना की शिथिलता को भी उसने प्रसाद गुण मान लिया है। एक ओर वे शैली की एकरूपता को समता गुण मानते हैं तो दूसरी ओर वे शैली के उतार-चढ़ाव को भी गुण मान लेते हैं। इसके अतिरिक्त कई गुण ऐसे भी हैं जिनके नाम और अर्थ में परस्पर संगति नहीं बैठती—उदाहरण के लिए श्लेष, माधुर्य, उदारता आदि गुण ऐसे ही हैं। वस्तुतः स्वयं वामन को भी इन असंगतियों का थोड़ा आभास हो गया था, अतः उन्होंने प्रथम असंगति के निराकरण का प्रयास भी किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

(ख) अर्थ-गुण

जिन दस शब्द-गुणों की चर्चा अभी हमने की है, वे ही दस अर्थ-गुण भी हैं—उनकी संख्या और नाम में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है। जहाँ शब्द-गुणों में रचना के प्रगाढ़ बन्धन को ओज कहा गया है, वहाँ अर्थ-गुणों में अर्थ की प्रौढ़ता को ओज गुण माना गया है—"अर्थस्य प्रौढ़िरोजः" इसी प्रकार अर्थ की विमलता को प्रसाद, क्रमिक घटना को श्लेष, अर्थ की सुगमता को क्षमता; अर्थ के दर्शन को समाधि, उक्ति-वैचित्र्य को माधुर्य, अर्थ की सुकुमारता को सौकुमार्य, अग्राम्यत्व को उदारता, वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता को अर्थ-व्यक्ति तथा रस की दीप्ति को कान्ति गुण कहते हैं। कहना न होगा कि शब्द-गुणों की ही भाँति अर्थ-गुणों में से भी अनेक अस्पष्ट एवं असंगत हैं। फिर यह भी विचित्र-सा है कि अर्थ-गुणों को शब्द-गुणों से कोई साम्य न होते हुए भी उन्हें वे ही नाम दिये गये हैं जो कि शब्दगुणों के लिए निर्धारित थे—क्या वामन के शब्द-कोष में नये नामों का भी अभाव था? फिर क्या उन्होंने अपने इन गुणों के छोटे-छोटे प्यालों में परम्परागत काव्य शास्त्र के बड़े-बड़े उदधियों को समेट लेने का दुःसाहस किया है—कहाँ रस-सिद्धांत के विभिन्न अंगों, अवयवों भेदों में उपभेदों का विशाल सागर और कहाँ वामन का यह नन्हा सा 'कान्ति' गुण। दोनों में पहाड़ और तिल का अन्तर है किन्तु वामन ने यह समझ लिया कि रस-दीप्ति को कान्ति गुण बता देने से

ही समस्त रस-सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व हो जाएगा। खैर, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि अन्ततः वामन रस-सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सके—उसे उन्हें किसी न किसी रूप में अपनाना ही पड़ा।

(२) दोष

रीति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार दोष है। जब तक कोई भी रचना दोष-शून्य नहीं होगी तब तक उसमें गुणों का समन्वय भी सौन्दर्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, अतः साहित्यकारों के लिए दोषों का ज्ञान भी उतना ही अपेक्षित है जितना गुणों का। काव्यगत दोषों की चर्चा वामन से पूर्व भरत, भामह और दंडी भी कर चुके थे किन्तु उनकी कोई सामान्य परिभाषा किसी ने नहीं दी। वामन के अनुसार दोष की परिभाषा है—"गुणविपर्ययात्मानो दोष." अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है या यों कहिए कि जो गुण का उल्टा है वही दोष है।

दोषों की संख्या के सम्बन्ध में भी विभिन्न आचार्यों में प्रायः मतभेद रहा है। आचार्य भरत ने दस दोष माने थे—१. गूढ़ार्थ (क्लिष्ट अर्थ), २. अर्थान्तर (अवर्ण्य का वर्णन), ३. अर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ५. एकार्थ (एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग), ६. अभिप्लुतार्थ (विभिन्न अर्थों में अन्विति का अभाव), न्यायादपेत (तर्क-रहित) ८. विषम (छन्दोभंग), ९. विसन्धि (सन्धि का अभाव), १०. शब्दहीन (हीन शब्द का प्रयोग)। आगे चलकर भामह ने इनकी संख्या २१ तथा दंडी ने दस मानी है, जबकि वामन ने इन्हें चार भेदों—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष में वर्गीकृत करते हुए इनकी संख्या बीस मानी है। उनके द्वारा निरूपित दोषों की सूची इस प्रकार है—

(क) पांच पद-दोष—१. असाधु (व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द का प्रयोग), २. कष्ट (कर्ण-कटु शब्द), ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत (अप्रचलित शब्द का (प्रयोग), ५. अनर्थक (निरर्थक)।

(ख) पांच पदार्थ-दोष—१. अन्यार्थ—जहाँ शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग हो, २. नेयार्थ—जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, ३. गूढ़ार्थ—अप्रसिद्धार्थ, ४. अश्लील, ५. क्लिष्ट—जहाँ अर्थ अत्यन्त दूरारूढ़ हो।

(ग) तीन वाक्य दोष—१. भिन्न वृत्ति, २. यतिभ्रष्ट, ३. विसंधि।

(घ) सात वाक्यार्थ-दोष—१. व्यर्थ—पूर्वापर विरोधी, २. एकार्थ—जिसमें एक ही अर्थ की आवृत्ति हो, ३. संदिग्ध, ४. अप्रयुक्त, ५. अपक्रम—जहाँ अर्थ में क्रम न हो, ६. अलोक—जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध—जिसका अर्थ कला और शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।

यद्यपि वामन ने दोष-विवेचन में भी विचार की प्रवृत्ति का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी उसमें उनको पर्याप्त सफलता मिली है। उनका वर्गीकरण और विवेचन पर्याप्त स्पष्ट, संगत एवं महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह हमारी दृष्टि में उनका दोष-दर्शन अधिक गुणवान् है जबकि उनका गुण-विवेचन सर्वथा दोष-पूर्ण है।

(३) अलंकार

गुण और दोष के अनन्तर अब हम रीति के तीसरे महत्त्वपूर्ण अंग अलंकार को लेते हैं। यहाँ एक शंका का निराकरण कर देना चाहिए—वह यह है कि क्या वामन अलंकार को भी मान्यता देते थे? यदि ऐसा था तो फिर रीति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय से पृथक् कैसे माना जा सकता है? इन शंकाओं के सम्बन्ध में हमारा समाधान यह है कि वामन अपने सिद्धान्त को नवीन एवं स्वतन्त्र घोषित करते हुए भी अलंकार की उपेक्षा नहीं कर सके। यही नहीं, उन्होंने एक स्थान पर तो अलंकार को व्यापक अर्थ में—सौन्दर्य के अर्थ में—ग्रहण करते हुए उसे ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मान लिया—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात। सौन्दर्यमलंकारः।" किन्तु साथ ही ये अलंकार को उसके संकुचित अर्थ में भी ग्रहण करते हैं। इसीलिए वे लिखते हैं कि काव्य में सौन्दर्य दोषों के अभाव व गुण और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वामन चाहे अलंकारवादी न हों, किन्तु अलंकार के महत्त्व को वे अवश्य स्वीकार करते थे। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि वे अलंकारों को उतना ही महत्त्व देते थे जितना कि स्वयं अलंकारवादी भामह, दण्डी आदि देते थे—नहीं, यह बात नहीं है। जब अलंकारवादी अलंकार को काव्य का स्थायी, नित्य व आवश्यक अंग मानते हैं, वहाँ वामन उनका काव्य से अनित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में (यदि वह पहले से हो तो) केवल अभिवृद्धि कर सकते हैं। सौन्दर्य को उत्पन्न करने की शक्ति तो वामन के विचार से गुणों में ही है, अतः निश्चित रूप से रीति-सम्प्रदाय में अलंकारों का स्थान गुणों के अनन्तर ही है—वे उनसे हीन माने जाते हैं। यहाँ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जैसा व्यवहार वामन ने अलंकारों के साथ किया है, लगभग वैसा ही अलंकारवादियों ने गुणों के साथ किया है, अर्थात् ये गुणों को मानते हैं किन्तु उन्हें अलंकारों से हीन समझते हैं। खैर, यह इन दोनों का आपस का झगड़ा है—हम बीच में क्यों पड़ें!

अर्थकारों के विवेचन में वामन ने प्रायः पूर्वागत परम्परा का ही अनुसरण किया है—यह दूसरी बात है कि उसकी संख्या में परिवर्तन करके तथा उनके नये वर्गीकरण के द्वारा उन्होंने अपनी किंचित् मौलिकता का भी परिचय दिया है। पहले उन्होंने सब अलंकारों को दो वर्गों में विभाजित किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में उन्होंने केवल यमक और अनुप्रास को ही मान्यता दी है—शेष को इन्हीं के भेदों के रूप में स्थान दिया है। अर्थालंकार में से उन्होंने उपमा को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए इसका विवेचन अलग पूरे अध्याय में किया है तथा अगले अध्याय में लगभग २८-२९ अर्थालंकारों का ही उपमा के विभिन्न रूपों में निरूपण किया है। वस्तुतः वामन का अलंकार-सम्बन्धी विवेचन भी पर्याप्त तर्क-संगत एवं प्रौढ़ है।

रीति के प्रकार

जैसा कि हमने आरम्भ में उल्लेख किया था, आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी और (३) पांचाली। वैदर्भी के सम्बन्ध में उनकी

धारणा है—"समग्रगुणा वैदर्भी" अर्थात् जिसमें सारे गुण हों वह वैदर्भी है। गौड़ी में केवल ओज और कान्ति—ये दो गुण ही होते हैं तथा इसी प्रकार पांचाली में भी माधुर्य और सौकुमार्य ये दो गुण रहते हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या के आधार पर वामन ने वैदर्भी को ही माधुर्य बताया है, शेष दो तो उपेक्षणीय हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो रचना सभी गुणों से सम्पन्न हो, वही—वैदर्भी—ही काव्य है, शेष का कोई महत्व नहीं। ऐसी स्थिति में इस वर्गीकरण का लाभ ही क्या है। फिर कोई रचना ऐसी भी हो सकती है जिसमें दो के स्थान पर चार या आठ गुण हों—उन्हें रीतिवादी कहां स्थान देंगे। वस्तुतः वामन के इस वर्गीकरण में अनेक असंगतियां एवं दोष विद्यमान हैं जिन पर आगे इस सम्प्रदाय के महत्त्व पर विचार करते समय प्रकाश डाला जायगा।

उपर्युक्त वर्गीकरण के नामकरण के सम्बन्ध में भी एक शंका उठ सकती है कि इन रीतियों का विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों—विदर्भ, गौड़, पांचाल—से क्या सम्बन्ध है। इसका समाधान करते हुए स्वयं वामन ने लिखा है—'यह बात नहीं है कि (कि रीतियों का देश-विशेष से सम्बन्ध हो।) देश-विशेष से 'द्रव्य-गुण' या काव्य-गुणों की उत्पत्ति नहीं होती है और न इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रखे गए हैं। अपितु जिन-जिन देशों के लोगों ने जिस-जिस प्रकार की रचना-शैलियों का आविष्कार किया है, उन्हीं के आधार पर इनका नामकरण किया गया है। फिर भी देशों का काव्य-शैलियों से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि इस प्रकार वामन ने समाधान करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके कथन में स्वतोव्यापात दोष होने के कारण उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि आगे चलकर कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के स्थानों पर क्रमशः सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की कल्पना की जो अधिक तर्कसंगत है।

रीति और अन्य भारतीय सम्प्रदाय

यदि अन्य भारतीय काव्य-सम्प्रदायों से तुलना की दृष्टि से रीति-सिद्धान्त पर विचार करें तो इतना महत्व उनकी अपेक्षा न्यून ही सिद्ध होता है। जहां रस सिद्धान्त काव्य में भावात्मकता को प्रश्रय देता हुआ उसे एक अत्यन्त गम्भीर एवं उदात्त स्वरूप प्रदान करता है, वहां रीति-सम्प्रदाय काव्य के केवल बाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। रीति-सिद्धान्त में जिन गुणों को आधार बनाया गया था, वे भी रस-सिद्धान्तों आचार्य भरत से ही उधार लिये हुए थे—किन्तु इस थोड़ी-सी पूंजी के बल पर ही काव्य-शास्त्र का पूरा भवन खड़ा करना बहुत कठिन था। इसी प्रकार अलंकार सम्प्रदाय के भी ऋण से वामन मुक्त नहीं कहे जा सकते। गुणों की अपेक्षा अलंकारों को हीन सिद्ध करने का जो प्रयास वामन ने किया, उसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर भी वामन शैली-पक्ष को ही महत्त्व देने के कारण रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अलंकार सिद्धान्त के अधिक समीप पड़ते हैं। वक्रोक्ति और ध्वनि की अपेक्षा भी रीति का क्षेत्र अधिक संकीर्ण है। जहां कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयय से लेकर उसके दीर्घतम रूप की व्याख्या अत्यन्त स्पष्टता से की है, वहां वामन की सारी शक्ति गुणों के स्पष्ट विवेचन एवं अलंकार

एवं दोषों के संग्रह में ही लग गई है फिर भी विशुद्ध सौन्दर्यवादी होने के नाते उनका आधारभूत दृष्टिकोण कुन्तक के दृष्टिकोण से बहुत कुछ मिलता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय की तुलना में भी रीति-सम्प्रदाय अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस, अलंकार आदि को सम्मानपूर्वक अपना कर अपने गौरव को स्थायी बनाने क प्रयास किया, जब कि रीति के प्रवर्तक ने रस और अलंकार को हेय स्थान देने का प्रयत्न किया। वस्तुतः ध्वनि मत की सूक्ष्मता एवं व्यापकता के साथ रीति की कोई तुलना नहीं।

रीति और पाश्चात्य शैली

भारीय रीति की भाँति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी शैली की विवेचना बराबर होती रही है। यद्यपि अब शैली का अर्थ रीति से भिन्न हो गया है किन्तु प्राचीन युग में दोनों का विवेचन एवं वर्गीकरण जिस ढंग से हुआ है उसमें परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रसिद्ध ग्रीक आचार्य प्लेटो ने शैली के तीन भेद किए थे—(१) सहज सरल, (२) विचित्र; (३) मिश्र। कहना न होगा कि यह वर्गीकरण रीति के भेदों से बहुत मिलता-जुलता है। इसी प्रकार अरस्तू ने शैली के दो मूल गुण बताए थे—स्पष्टता और औचित्य। साथ ही उन्होंने एक अन्य स्थान पर शैली के चार दोषों का भी आख्यान किया—(१) समासों का अधिक प्रयोग, (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग। अरस्तू के ये दोष भारतीय आचार्यों के दोष-निरूपण के अनुकूल ही हैं।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त और भी अनेक पाश्चात्य आचार्यों ने शैली का विवेचन रीति से मिलता-जुलता किया है। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के रोमन विद्वान् सिसरो ने शैली के आधारभूत तत्त्वों के अन्तर्गत इन चार गुणों की गणना की है—(१) उपयुक्त शब्द-चयन, (२) स्पष्टता, (३) सामंजस्यपूर्ण पद-रचना और (४) वर्णगुम्फन अर्थात् स्वर और व्यंजनों की मधुर योजना। आगे चलकर डयोनीसियस ने भी शैली के तीन प्रमुख गुणों—शुद्धता, स्पष्टता और समास तथा अनेक गौण गुणों—सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा आदि आख्यान करते हुए उसके तीन भेद किए हैं—कठिनोदात्त, मसृण या सज्जित और मिश्र। क्विन्टीलियन ने भारतीय आचार्यों की भाँति शैलियों का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर किया, जैसे—ऐंटिक, एशियाटिक और रहोडियन। पं० बलदेव उपाध्याय ने तीनों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के समकक्ष रक्खा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली सम्बन्धी प्राचीन पाश्चात्य विवेचन भारतीय रीति के सर्वथा अनुकूल है; किन्तु आधुनिक युग तक आते-आते पाश्चात्य विद्वानों के शैली-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आ गया। उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ड्सवर्थ तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने सहज-स्वाभाविक शैली के पक्ष में प्रचार किया तथा चेष्टापूर्वक प्रयुक्त शैली को साहित्य के लिए अनुपयुक्त सिद्ध

किया। दूसरी ओर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद ने भी सहज-स्वाभाविक अभिव्यंजना को ही काव्य के लिए वांछनीय सिद्ध किया। वस्तुतः उनके विचार से तो शैली की पृथक् सत्ता मानना अनुचित है। पेटर और रैले ने भी शैली का सम्बन्ध मस्तिष्क और आत्मा से बताते हुए उसे रचयिता के व्यक्ति का अविच्छेद्य अंग माना। इस प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में शैली व्यक्ति-सापेक्ष हो गई—अर्थात् हर व्यक्ति की अपनी शैली होती है—इस तथ्य को मान लिया गया। ऐसी स्थिति में शैली का सामान्य रूप निश्चित करना स्वतः ही अनावश्यक हो गया। यद्यपि भारतीय विद्वानों में से भी अनेक ने शैली को व्यक्ति-सापेक्ष माना है, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य गुणों की उपेक्षा नहीं की। वस्तुतः, आज की शैली सम्बन्धी मान्यताओं से रीति के निम्नांकित भेद मिलते हैं—

(१) रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं जबकि शैली का कोई निश्चित रूप या भेद निर्धारित करना कठिन है।

(२) रीति विषय-सापेक्ष है जबकि शैली व्यक्ति-सापेक्ष।

(३) रीति में पाठक या सामाजिक की दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त है जबकि शैली में कवि या रचयिता की दृष्टि को।

(४) रीति के लिए अध्ययन, अभ्यास एवं प्रयत्न अपेक्षित है जबकि शैली सहज-स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।

(५) रीति परम्परा की प्रतीक है जबकि शैली स्वच्छन्दता की।

रीति-सम्प्रदाय का महत्व

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अब हम अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन कर सकते हैं। सबसे पहले तो हमें यह देखना है कि रीति-सिद्धान्त ने भारतीय काव्य-शास्त्र को क्या कुछ नया दिया? क्या वामन के ग्रन्थ के कारण काव्य की आत्मा सम्बन्धी समस्या के समाधान में कोई सहायता मिली? इन प्रश्नों के उत्तर में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वामन ने जो कुछ दिया वह उनका अपना नहीं है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, उनके सिद्धान्त मुख्यतः गुण, दोष और अलंकारों पर आधारित हैं और ये तीनों ही पूर्व विद्वानों द्वारा विवेचित हैं। उनका गुण-दोषों का विवेचन तो बहुत कुछ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है जबकि अलंकार सम्बन्धी सारी सामग्री भामह और दण्डी से ली हुई है। इस क्षेत्र में वामन की मौलिकता यह है कि एक तो उन्होंने गुण और दोषों का शब्द और अर्थ आदि के आधार पर अलग-अलग वर्गीकरण किया तथा दूसरे, उन्होंने गुणों को अलंकार से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया। किन्तु उनका गुणों का विवेचन इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनके प्रयास को सफल नहीं माना जा सकता।

रीतियों का वर्गीकरण भी वामन का सर्वथा अपना नहीं है। जैसाकि आरम्भ में कहा जा चुका है, वामन से पूर्व भी वैदर्भी एवं गौड़ी मार्ग का भेद प्रचलित हो

चुका था, अतः उसमें एक नया भेद और बढ़ा देना कोई अधिक महत्त्व की बात नहीं है। हाँ, रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने का साहस अवश्य ही अपने आप में अद्भुत है। पर यहाँ भी वे बड़ी दुविधा में पड़ गए— एक ओर वे सौन्दर्य को ही काव्य का प्रमुख गुण घोषित कर बैठे तो दूसरी ओर वे रीति को उसकी आत्मा मान बैठे। काव्य में सौन्दर्य ही साध्य होता है, रीति तत्त्व तो उसका साधन मात्र है, किन्तु साधन को साध्य से भी अधिक महत्त्व दे डाला। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न रीतियों का क्षेत्र-विभाजन भी भली भाँति नहीं किया—वैदर्भी को दस गुणोंवाली तथा शेष को दो-दो गुणोंवाली घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जहाँ दो से लेकर नौ तक गुण हों; उन्हें कौन-सी रीति में स्थान दिया जाय इसका निर्णय करना असम्भव है। दूसरे, वैदर्भी के दस गुणों में भी परस्पर विरोध है (जैसे— ओज और माधुर्य), ऐसी स्थिति में उन सबको एक स्थान पर कैसे एकत्रित किया जा सकता है? साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वामन ने जिन गुणों की गणना की है, केवल उन्हीं के आधार पर किसी रचना में काव्यत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए विज्ञान की पुस्तक भी सरल स्पष्ट एवं गम्भीर शैली में लिखी जा सकती है, किन्तु इसी से उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वामन का गुण-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त असंगत, अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक है। यदि वामन को कहीं सफलता मिली भी है तो वह उनके ग्रंथ के अलंकार एवं दोष सम्बन्धी अंग हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त को समझने-समझाने की बात है, वामन उसमें पर्याप्त कुशल हैं, किन्तु ज्योंही वे कुछ नया कहने का प्रयास करते है, वहीं वे अस्पष्ट एवं दुविधा-ग्रस्त हो जाते हैं।

अस्तु, आचार्य वामन के प्रति हमारी पूरी श्रद्धा होते हुए भी हम उनकी देन को बहुत बड़ी न मानने के लिए विवश हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उन्होने एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का साहस किया—अल्प शक्ति के बल पर ही महान् कार्य करने का प्रयास किया। उनकी रीति काव्य की आत्मा भले ही न बन पाए, किन्तु उसका काव्य से कोई-न-कोई सम्बन्ध तो है ही। कम-से-कम जो लोग शैली पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, उनके लिए तो वामन का मत चेतावनी देने के लिए पर्याप्त है। अतः डा० नगेन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—"वाणी के बिना अर्थ गूंगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय की मिठास देकर भी रसना नहीं दी।...इस दृष्टि से शैली तत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्य-शास्त्र का निःसंदेह उपकार ही किया है।"

: बारह :

ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ आनन्दवर्धन द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' है किन्तु स्वयं आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर लिखा है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः" जिससे पता लगता है कि ध्वनि की परम्परा उनसे पहले भी रही है। फिर भी आनन्दवर्धन से पूर्व का कोई ग्रंथ न मिलने के कारण ध्वनि की प्रतिष्ठा एवं उसकी परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का सम्बन्ध व्यंजना-शक्ति से है—अतः ध्वनि-सिद्धान्त को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित होगा।

शब्द-शक्तियाँ

भारतीय शास्त्रों में भाषा का अर्थ सूचित करने की क्षमता को शक्ति या वृत्ति के नाम से पुकारा गया है। इन शक्तियों की गणना विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है, जिनसे उनकी कुल संख्या ६-७ तक पहुँच जाती है—जैसे, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य, रसना, भावना, भोग आदि। इनमें से प्रथम तीन शब्द-शक्तियाँ हैं, चतुर्थ का सम्बन्ध शब्द से न होकर वाक्य से है तथा तीन काव्य की ही विशिष्ट शक्तियाँ हैं जो अर्थ के भावन या रसास्वादन में योग देती हैं। ध्वनि का सम्बन्ध मुख्यतः शक्तियों से ही है—अतः यहाँ केवल शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना—का ही विवेचन क्रमशः किया जायगा।

(क) **अभिधा**—शब्द की जिस शक्ति के कारण उसका साक्षात्संकेतित अर्थ सूचित होता है; या यों कहिए कि उसका सामान्य सर्वप्रचलित या उससे सीधा संबंध रखनेवाला अर्थ प्रकट होता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए—मकान, कुर्सी, मनुष्य, गधा आदि के उच्चारण मात्र से जो अर्थ-बोध होता है, वही अभिधात्मक अर्थ है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि इस अभिधात्मक अर्थ को बनानेवाला कौन है? इसके उत्तर में विद्वानों ने विभिन्न बातें कही हैं। प्रसिद्ध भारतीय नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के मत से परम्परागत सामान्य शब्दों का अर्थ ईश्वर ने निश्चित किया है जबकि शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्द शास्त्रकारों द्वारा गढ़े हुए

ध्वनि का अस्तित्व

क्या गुण, अलंकार आदि से पृथक ध्वनि नाम का भी कोई अलग तत्त्व होता है—यह शंका भी अनेक बार अनेक विद्वानों द्वारा उठाई गयी है। इतना ही नहीं, ध्वनि के विरोधियों ने तो ध्वनि के मूलाधार व्यंग्यार्थ तक के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है। ध्वनि- विरोधियों के मुख्यतः ये चार वितर्क हैं—(१) व्यंजना की अभिधा से पृथक् सत्ता नहीं हैं। (२) व्यंजना की लक्षणा से पृथक् सत्ता नहीं है। (३) प्रतीयमान अर्थ या तथाकथित व्यंग्यार्थ अनुमान से ग्रहण होता है, अतः व्यंजना और ध्वनि को मानने की आवश्यकता नहीं। (४) ध्वनि का समन्वय समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में किया जा सकता है। इनमें से अनेक आक्षेपों का खंडन स्वयं ध्वन्यालोककार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कर चुके हैं। हम यहाँ पर पुनः संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम अभिधावादियों को ले सकते हैं। इनके भी पाँच वर्ग हैं—(१) अभिहितान्वयवादी, (२) अन्विताभिधानवादी, (३) निमित्तवादी, (४) दीर्घतराभिधाव्यापारवादी, (५) तात्पर्यवादी। अभिहितान्वयवादियों के मत से काव्य में प्रयुक्त शब्द सबसे पहले अपने-अपने अभिधेय अर्थ को सूचित करते हैं, तदनन्तर वे परस्पर मिलकर पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट करते हैं, जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थ को ये तात्पर्यार्थ का ही अगला रूप मानते है, उससे पृथक् नहीं मानते हैं। निस्संदेह, इस वर्ग के विद्वानों का यह तर्क बहुत कमजोर है। वे व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ का अगला रूप मानकर न केवल दोनों का पार्थक्य स्वीकार कर लेते हैं, अपितु यह भी मान लेते हैं कि व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ से अधिक विकसित होता है।

अन्विताभिधानवादियों के अनुसार भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से पृथक् नही है—वह शब्दों के अन्वित अर्थ से ही प्रकट होता है। इस वर्ग के विद्वान् अभिधा पर इतना बल देते हैं कि वे तात्पर्य-शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते।

तीसरा वर्ग निमित्तवादियों का है, जिसके विचार से प्रतीयमान अर्थ के निमित्त शब्द ही हैं—शब्द और प्रतीयमान अर्थ में कारण-कार्य सम्बन्ध है। अस्तु वे व्यंग्यार्थ का निमित्त शब्द एवं अभिधा शक्ति को मानते हुए व्यंजना की कल्पना को आवश्यक मानते हैं। इस मत का खंडन भी आगे चलकर मम्मट ने सफलतापूर्वक कर दिया है।

चौथा वर्ग दीर्घतराभिधाव्यापारवादियों का है: इस मत के अनुसार किसी भी शब्द और वाक्य से जितने भी अर्थ प्रतीत होते हैं; उन सभी में अभिधा शक्ति का ही कार्य होता है। अभिधा शक्ति किसी एक ही अर्थ को प्रकट करके क्षीण नहीं हो जाती, अपितु वह अन्य अर्थों की भी प्रतीति करती रहती है। अभिधा के इस दीर्घतर व्यापार को तीर या वाण के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब एक तीर किसी के शरीरमें लगता है तो वह उस व्यक्ति के कवच को विद्ध करता है, हृदय में घुसता है और उसके प्राण ले लेता है। अब बताइए कि तीनों कार्य अकेले तीर की शक्ति से ही हुए या किन्हीं अन्य शक्तियों से? यदि इसका उत्तर

'अकेले तीर की शक्ति से ही' है, तो फिर यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि वाक्य से प्रकट होने वाले वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ आदि सभी अकेली अभिधा की ही देन हैं।

इस मत के प्रवर्तक भट्टलोल्लट का एक अन्य तर्क यह है कि शब्द का अर्थ वही है जिसकी प्रतीति के लिए उसका प्रयोग किया गया हो। यदि कोई शब्द या वाक्य भिन्न अर्थ सूचित करता है तो अवश्य ही वहाँ वक्ता ने उसे भिन्नार्थ में प्रयोग किया होगा तथा ऐसी स्थिति में उस भिन्नार्थ को ही वाच्यार्थ मानना चाहिए। अस्तु, इस दृष्टिकोण से व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्टलोल्लट के उपर्युक्त दोनों तर्क ही उनकी गहरी सूझ-बूझ एवं प्रबल तर्क-शक्ति को सूचित करते हैं किन्तु इनका खंडन भी किया जा सकता है। पहले तर्क में उन्होंने एक ही तीर के द्वारा होने वाले कार्यों की तुलना विभिन्न अर्थों से की—किन्तु सादृश्य की दृष्टि से यह तुलना ठीक नहीं बैठती। वाच्यार्थ में उतना ही अन्तर नहीं है जितना कि हृदय में तीर लगने पर प्राणान्त हो जाने में हैं। हमारे विचार से यदि तीर का उदाहरण दिया ही जाय तो वह इस प्रकार होना चाहिए—शत्रु का तीर सेनापति को लगता है, उससे सेनापति घायल हो जाता है। सेनापति के घायल हो जाने के कारण सारी सेना भाग जाती है, पराजित हो जाती है। अस्तु, तीर लगने में और सेना के पराजित होने में जितना अन्तर है, लगभग उतना ही अन्तर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार तीर लगने का परिणाम होते हुए भी सेना की पराजय को उससे अभिन्न नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी एक नहीं कहा जा सकता।

दूसरे तर्क के सम्बन्ध में निवेदन है कि प्रत्येक वक्ता शब्दों का प्रयोग सदा वाच्यार्थ में ही नहीं करता, वह जान-बूझकर कई बार उन्हें व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त करता है। जो सिद्धि उसे व्यंग्यार्थ से उपलब्ध होती है, वह उसे वाच्यार्थ से नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है। कविवर बिहारी ने जो बात 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' के माध्यम से व्यंग्यपूर्वक कही थी, वही यदि वाच्यार्थ में कह दी गई होती तो उन्हें अपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिलती। अस्तु, यह एक भ्रान्त धारणा है कि जान-बूझकर व्यंग्य का प्रयोग किए जाने पर वह 'वाच्यार्थ' या वाच्यार्थ की कोटि का हो जाता है।

अभिधावादियों में पाँचवाँ वर्ग तात्पर्य-शक्ति को मानता है। धनंजय के अनुज धनिक ने व्यंजना के स्थल पर तात्पर्य-शक्ति का समर्थन करते हुए लिखा था—"व्यंग्यार्थ वस्तुतः तात्पर्य ही है। प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं है। अतः उसे व्यंजना द्वारा प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता न उसका व्यंजक काव्य ही ध्वनि है। तात्पर्य तो वस्तुतः जहाँ तक कार्य होता है वहाँ तक फैला रहता है। तात्पर्य को तराजू पर तोलकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह इतना ही है, यहीं तक है इससे अधिक नहीं। निस्संदेह विद्वान व्याख्याता की मौलिकता प्रशंसनीय है, किन्तु

यदि वे अर्थ का सारा कार्य-भार अकेले तात्पर्य के कन्धे पर न डालकर उसका कुछ भाग व्यंग्य को भी सौंप देते तो सचमुच तात्पर्य और व्यंग्य—दोनों के साथ ही अधिक न्याय होता।

अभी तक हम अभिधावादियों से ही जूझते रहे हैं, किन्तु इनसे भी एक अधिक सबल दल—लक्षणावादियों का हमारे सामने और विद्यमान है। इतना ही नहीं, उधर अनुमानवादी महिम भट्ट तो इस प्रकार प्रचंड हो रहे हैं, मानों वे ध्वनि को बिल्कुल धराशायी करके ही छोड़ेंगे। खैर सबसे पहले हम लक्षणावादियों से ही बात करते हैं। उनकी प्रमुख दलील है—'जिस प्रकार मुख्यार्थ की संगति न बैठने पर उपचार से लक्ष्यार्थ का ग्रहण होता है, ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ की संगति बैठने पर ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, अतः क्यों न प्रतीयमान अर्थ को लक्ष्यार्थ का एक भेद मान लिया जाय ?" इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि व्यंग्यार्थ सदा लक्षणा के माध्यम से ही प्राप्त नहीं होता, उसकी उपलब्धि सीधे वाच्यार्थ से भी हो सकती है। जहाँ लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के निष्क्रिय हो जाने पर ही काम करता है, वहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सक्रियता की दशा में भी अपने कार्य में संलग्न हो जाता है। यों कहना चाहिए कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ की हिंसा करके ही आगे बढ़ता है जबकि व्यंग्यार्थ पूरा अहिंसक होता है। ऐसी स्थिति में भला दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

ध्वनि के सबसे बड़े विरोधी आचार्य महिम भट्ट ने तो इसके विरोध में पूरा एक ग्रंथ—व्यक्ति-विवेक—ही लिख डाला। इसमें उन्होंने ध्वनि की परिभाषा, उसके भेदोपभेदों आदि का खंडन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ध्वनि वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं है, अतः उन्होंने ध्वनि के स्थान पर 'काव्यानुमिति' नाम प्रस्तावित किया। उनके विचार से अर्थ के केवल दो ही प्रकार हैं—वाच्य तथा अनुमेय। वाच्य अर्थ से अनुमित अन्य अर्थ हेतु से जिसकी अनुमिति हो, वही अनुमेय है। इसी को ध्वनिवादियों ने व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ कहा है। इस प्रकार महिम जिस तत्व का खंडन करना चाहते थे, उसी को उन्होंने दूसरा नाम देकर स्वीकार कर लिया है। अतः ध्वनि को चाहे 'ध्वनि' कहा जाय या 'काव्यानुमिति', इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। हाँ, ध्वनि के विरोध में एक प्रबल युक्ति और है। वह यह कि क्या ध्वनि को समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में समन्वित नहीं किया जा सकता ? इस युक्ति पर भी आनन्दवर्धनाचार्य विचार कर चुके हैं और इन अलंकारों से ध्वनि की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक तो इनमें ध्वनि की भाँति व्यंग्यार्थ की प्रमुखता प्राप्त नहीं होती, दूसरे ध्वनि का क्षेत्र अलंकारों से अधिक व्यापक है, अतः ध्वनि में भले ही अलंकारों का समन्वय किया जा सके, किन्तु अलंकारों में ध्वनि को अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यहाँ आनन्दवर्धन के मत में थोड़ी दुर्बलता है। यह ठीक है कि जिन अलंकारों से उन्होंने ध्वनि की तुलना की है, वे ध्वनि से थोड़े भिन्न हैं, किन्तु यदि उन्हें कोई साम्य रखने वाला अलंकार मिल भी जाता तो क्या वे उसे

ध्वनि का पर्याय स्वीकार कर लें ? और सही बात तो यह है कि एक ऐसा अलंकार विद्यमान भी है—वह 'अन्योक्ति' है। अन्योक्ति में भी व्यंग्योक्ति की ही भाँति दो अर्थ होते हैं तथा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रमुख होता है। उदाहरण के लिए बिहारी के इस दोहे को लीजिए—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बंध्यो आगे कौन हवाल॥

उपर्युक्त दोहा यदि अलंकारवादियों की दृष्टि से अन्योक्ति है तो ध्वनिवादियों की दृष्टि से व्यंग्योक्ति या ध्वनि है—अतः कहना चाहिए कि ध्वनि भी एक विशेष प्रकार का अलंकार ही है, किन्तु उसे ध्वनिवादियों ने अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान कर दिया है। यहाँ हमारा लक्ष्य केवल ध्वनि-सिद्धान्त का परिचय देना ही है, उसका खंडन करना नहीं, अतः इस सम्बन्ध में हम अधिक विचार अन्यत्र करेंगे।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निश्चित रूप से अन्तर है, इसे स्पष्ट करने के लिए हमारे आचार्यों ने अनेक स्पष्ट आधार निश्चित किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) **बोद्धा के अनुसार**—वाच्यार्थ की प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जब कि व्यंग्यार्थ कुछ व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

(ख) **स्वरूप**—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भी प्रायः अन्तर होता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि 'आप तो बहुत दुबले हैं' तो इसका व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बिल्कुल उलटा होगा।

(ग) **संख्या** वाच्यार्थ प्रायः एक ही होता है जब कि व्यंग्यार्थ अनेक हो जाते हैं।

(घ) **निमित्त**—वाच्यार्थ केवल शब्द-ज्ञान से ही समझ में आ सकता है जबकि व्यंग्यार्थ को समझने के लिए प्रतिभा एवं बुद्धि भी अपेक्षित है।

(ङ) **काल**—वाच्यार्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है जब कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति उसके अनन्तर होती है।

(च) **कार्य**—वाच्यार्थ से केवल विषय का ज्ञान होता है जब कि व्यंग्यार्थ आनन्द या चमत्कार भी उत्पन्न करता है।

(छ) **आश्रय**—वाच्यार्थ केवल शब्दों पर आश्रित रहता है जब कि व्यंग्यार्थ शब्द, अर्थ, वक्ता के लहजे, प्रसंग आदि पर निर्भर होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निश्चित रूप से अंतर है, अतः दोनों का पार्थक्य ही मानना उचित है।

काव्यत्व का अधिवास कहाँ ?

ध्वनि के सम्बन्ध में यह भी एक विवाद प्रचलित है कि काव्यत्व का अधिवास उसके किस पक्ष में है :—वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इन्दौर वाले भाषण में कहा था—"वाच्यार्थ के अयोग्य और

अनुपन्न होने पर योग्य और उपपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है—'वाच्यार्थ में', चाहे वह योग्य हो या उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।" आगे उन्होंने 'साकेत' से उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया—"आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ। मैं अपने को आप मिटाकर आकर उनको लाऊँ।"—इसका वाच्यार्थ बहुत अत्युक्त, व्याहृत तथा बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला आप ही मिट जायगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या! पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहृत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"

पं० रामदहिन मिश्र ने आचार्य शुक्ल के इस मत का खंडन करते हुए शास्त्रीय आधार पर काव्यत्व का अधिवास व्यंग्यार्थ में ही सिद्ध किया है। इसी मत का समर्थन करते हुए डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है—"किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? उस वाक्य का वाच्यार्थ जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है? अथवा व्यंग्यार्थ जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव रमणीयता रहती है?...इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रतिजन्य व्यग्रता में ही है जो व्यंग्य है।" आगे चलकर उन्होंने और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहृत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं; एक तो उर्मिला को 'अत्यन्त औत्सुक्य है' यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा, वाच्यार्थ हो गया। औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे, जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं, उसका एक साधन मात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"

इस प्रकार यह विवाद एक साधारण बात से गम्भीर विषय बन गया है। इसके सम्बन्ध में हम दोनों ही आचार्यों के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए अपनी धारणा इस प्रकार निवेदित कर देना चाहते हैं—

(क) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से काव्यत्व का अधिवास कहाँ है? यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि यह पूछना कि प्राण धड़ में रहते हैं या सिर में? वस्तुतः जब तक सिर और धड़ संयुक्त रहते हैं तब तक ही दोनों में प्राण रहते हैं, दोनों को पृथक

कर देने पर दोनों ही प्राण-हीन हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब तक वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में समन्वित है या व्यंग्यार्थ से आवृत है तब तक ही ध्वनि में काव्य-तत्त्व की सत्ता रहती है।

(ख) ध्वनि की परिभाषा एवं उसके लिए पाँच अर्थों के अनुसार व्यंग्यार्थ से सम्बन्धित शब्द, अर्थ (वाच्यार्थ), व्यंग्यार्थ, व्यंजना शक्ति, व्यंजित वस्तु, अलंकार रस आदि ये सब 'ध्वनि' संज्ञा से ही अभिभाषित होने योग्य हैं। अतः व्यंग्यार्थ जैसी निधि का स्वामी वाच्यार्थ भी सामान्य दरिद्र वाच्यार्थ ही नहीं रहता, अपितु वह ध्वनि नामधारी वैभवशालियों की ही पंक्ति में आ विराजता है।

(ग) यदि किसी ध्वनि-काव्य के दो अनुवाद तैयार करवाए जायें, एक में केवल उसका वाच्यार्थ हो तथा दूसरे में उसका केवल व्यंग्यार्थ हो तो इस स्थिति में अवश्य ही काव्य-रसिक पहले अनुवाद को ही पसंद करेंगे; जैसे बिहारी के 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु,' वाले दोहे के दोनों प्रकार के अनुवाद देखिए—

१—अनुवाद (केवल वाच्यार्थ)

इस कली में न तो अभी पराग है, न ही मधुर मधु, और न ही यह पूरी तरह खिल ही पाई है। हे भ्रमर ! तू अभी से इसके वशीभूत हो गया, न जाने आगे क्या हाल होगा ?

२—अनुवाद (केवल व्यंग्यार्थ)

राजा जयसिंह से बिहारी कह रहे हैं कि तुम्हारी यह नवेली वधू अभी तो अल्प-वयस्क ही है; इसमें सौन्दर्य, यौवन एवं अनुराग का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाया है फिर भी तुम इसके वशीभूत हो रहे हो तो फिर न जाने आगे क्या हाल होगा ?

निस्सन्देह यहाँ दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला ही अधिक आकर्षक है, और इसका कारण डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में दूसरे अर्थ का वाच्यार्थ में परिणत हो जाना है। यही तो बेचारे व्यंग्यार्थ की सबसे बड़ी दुर्बलता है—वह वाच्यार्थ के बिना जीवित नहीं रह पाता, जबकि वाच्यार्थ उसी के बल पर ऐश्वर्य एवं सम्मान का भागी होता है। अस्तु, आचार्य शुक्ल ने दुर्बल क्षणों में नहीं—अपितु सोच-समझकर व्यंग्यार्थ की इस दुर्बलता का लाभ उठाया है। बाकी, 'व्यंग्यार्थ-समन्वित वाच्यार्थ' का ही नाम ध्वनि है। अतः दोनों के सह-अस्तित्व में ही सौन्दर्य की सत्ता मानी जा सकती है, किसी एक में नहीं।

ध्वनि के भेद

ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद किए जाते हैं—(१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला। जैसा कि इनके नाम से ही प्रतीत होता है, अभिधामूला में सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है, जबकि लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसके भी अनेक उपभेद हैं। अभिधामूला के दो उपभेद—(१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। जहाँ वाच्यार्थ के साथ-साथ

ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है—दोनों के बीच में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। जैसे—"अरे। यह तो यहाँ रुपये का दो छटांक मिलता है।" इसका व्यंग्यार्थ है कि यहाँ महंगाई बहुत है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीत हो जाता है, जैसे—

माली आवत देख के कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुनि लिए कालि हमारी बार॥

यहाँ माली के स्थान पर काल या मृत्यु सम्बन्धी जिस अर्थ का बोध होता है, वही व्यंग्यार्थ है। यह वाच्यार्थ की अनुभूति के किंचित् बाद प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दो भेदों के भी अनेक भेद और किए गए हैं। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के छः प्रकार—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत तथा संलक्ष्यक्रम के तीन भेद—शब्द शक्त्युद्भव, अर्थ-शक्त्युद्भव और शब्दार्थोभय-शक्त्युद्भव किये गये हैं, जिसका सोदाहरण विवेचन पं० रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्य-दर्पण' में किया है। हम यहाँ इन्हें अधिक महत्वपूर्ण न समझकर छोड़ रहे हैं।

अब लक्षणामूला ध्वनि के भेदों को लीजिए। सर्वप्रथम इसके दो भेद—(१) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं (२) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य—किये गये हैं। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि लक्षणा में मूल वाच्यार्थ की उपेक्षा होती है, किन्तु उस उपेक्षा की भी दो कोटियाँ हैं—एक जहाँ थोड़ी उपेक्षा हो जाती है, दूसरी जहाँ बिल्कुल हो जाती है। लक्षणामूला ध्वनि के ये दोनों भेद क्रमशः इन्हीं दो कोटियों पर आश्रित हैं। अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ थोड़ा-सा अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है, जैसे—"राखी नजी पर कलाई नहीं है।" यहाँ 'कलाई' का व्यंग्यार्थ भाई की कलाई या वह भाई जिसको राखी बाँधी जा सके। स्पष्ट है कि यहाँ 'कलाई' का अर्थ संक्रमित हो गया है। इसके विपरीत 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' में वाच्यार्थ का बिल्कुल तिरस्कार हो जाता है; "पेट में तो चूहे कूद रहे हैं।" यहाँ व्यंग्यार्थ में 'चूहे' शब्द का अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है।

अभिधामूला की भाँति लक्षणामूला के भी अनेक उपभेद और होते हैं जिनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। हम अपने लेख में इन सबको स्थान देना अनावश्यक समझते हैं। हाँ, एक अन्य प्रकार से ध्वनि काव्य का और वर्गीकरण किया गया है, जो उल्लेखनीय है। इस वर्गीकरण के अनुसार ध्वनि के तीन भेद होते हैं—(१) रस ध्वनि, (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तु ध्वनि। इन तीनों में क्रमशः रस, अलंकार और वस्तु (तथ्य या विषय) की व्यंजना होती है तथा इनमें रस ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस को अपने यहाँ सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का महत्व

जैसे कि हमने अभी कहा है, ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस को सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया, किन्तु फिर भी यह विचारणीय है कि रस और

ध्वनि में से किसका अधिक महत्व है ? क्या ध्वनि इतनी व्यापक है कि रस उसमें समा जाय ? हमारे विचार से ऐसा नहीं है । रस यदि साध्य है तो ध्वनि उसकी साधिका मात्र है । रस का सम्बन्ध काव्य के आधारभूत तत्वों से है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति प्रणाली है । यह ठीक है कि यह अभिव्यक्ति प्रणाली रसानुभूति के लिए सहायक सिद्ध होती है किन्तु फिर भी उसे आधारभूत तत्वों के समान महत्व नहीं दिया जा सकता । फिर यदि प्रतीयमान अर्थवाली धारणा को उसके मूल अर्थ में लिया जाये तो कवि को अपनी सारी बात ऐसी भाषा से कहना पड़ेगी, जहां दोहरे अर्थ हों । यह ध्यान रहे कि ध्वनि-सम्प्रदाय वालों ने रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि आदि के भेद बना करके अपनी इस दोहरे अर्थ वाली धारणा में थोड़ा संशोधन कर लिया, किन्तु फिर भी ध्वनि का मूल लक्ष्य तो प्रतीयमान अर्थ ही है । इसके अतिरिक्त ध्वनि-सम्प्रदाय अपने आपमें एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं है, अन्ततः वह रस और अलंकार सम्प्रदाय को आधार बनाकर ही आगे बढ़ सका ।

ध्वनि सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों की भाँति कई त्रुटियाँ और असंगतियाँ भी हैं । एक ओर ध्वनिकार प्रतीमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तो दूसरी ओर ध्वनि के पाँच अर्थों में प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य अवयव भी सम्मिलित कर लिये गये हैं । प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता, और शून्यता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम एवं अधम घोषित कर देना भी ध्वनिवादियों का अतिवाद है । सही बात तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ भी चारुत्व या सौन्दर्य के हेतुओं में से एक है—यदि किसी अन्य हेतु से काव्य में चारुत्व आ जाता है तो काव्य मानने में क्या आपत्ति है ? हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वस्तुतः काव्य की आत्मा वह चारुत्व या सौन्दर्य ही है जिसका उल्लेख बार-बार ध्वन्यालोककार द्वारा हुआ है तथा ध्वनि, अलंकार, रीति आदि ये सब उसी चारुत्व की उपलब्धि के साधन मात्र हैं । हाँ, इतना अवश्य है कि ध्वनि का स्थान साधनों में महत्वपूर्ण है ।

: तेरह :

वक्रोक्ति सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

वक्रोक्ति का अर्थ है वह उक्ति जिसमें वक्रता हो; वक्रता का शाब्दिक अर्थ है, टेढ़ापन, आसामान्य विचित्र आदि। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रता का अर्थ 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न' अर्थात् आसामन्य या विचित्र ही किया है। अस्तु, वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की आत्मा है। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुन्तक ने लगभग दसवीं शताब्दी में अपने नये मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्तिजीवितम्' की रचना की। इस ग्रंथ में प्रतिपादित आधारभूत सिद्धान्त चाहे हमें स्वीकार्य हो या न हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य कुन्तक में पर्याप्त प्रतिभा एवं नूतन विवेचन की क्षमता थी। यद्यपि परवर्ती विद्वानों ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अपेक्षित महत्व प्रदान नहीं किया किन्तु फिर भी हमारे विचार में मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से इसकी देन ध्वनि-सम्प्रदाय से कम नहीं है।

वक्रोक्ति की परम्परा

यद्यपि वक्रोक्ति का पूर्ण भाग्योदय दसवीं शताब्दी में कुन्तक के द्वारा ही हुआ, किन्तु इससे पूर्व भी उसका जन्म एवं विकास हो चुका था। वस्तुतः वक्रोक्ति का इतिहास भी उतना ही पुरना है जितना कि स्वयं अलंकार-शास्त्र का है। भामह (छठी शती) ने अपने 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसे सब अलंकारों की जननी माना है। उनके विचारानुसार वक्रोक्ति के अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता सम्मिलित है। यह वक्रोक्ति ही इष्ट (अर्थ) और वाणी (शब्द) की मूल अलंकार है—या यों कहिए कि अलंकार की मूल आधार है। साथ ही उन्होंने इसे अतिशयोक्ति का ही पर्यायवाची माना है। यह ध्यान रहे कि भामह अतिशयोक्ति को भी सभी अलंकारों की जननी मानते हैं। इस प्रकार भामह वक्रोक्ति को काव्यत्व का आधारभूत तत्व मान लेते हैं।

आगे चलकर दंडी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से पृथक् मानते हुए इसे भामह की भांति विभिन्न अलंकारों का मूलाधार माना है। किन्तु वामन ने इसे एक विशिष्ट अलंकार मात्र मानकर इसके क्षेत्र को संकुचित कर दिया। वामन के परवर्ती रुद्रट तो वक्रोक्ति के और भी अधिक विरोधी निकले— उन्होंने इसका स्वरूप इतना अधिक

संकीर्ण कर दिया कि वह केवल एक शब्दालंकार मात्र रह गई। इस प्रकार भामह से लेकर रुद्रट तक वक्रोक्ति के क्रमिक ह्रास की पूरी एक शृंखला चलती रही है। यह आश्चर्य की बात है कि इस वैभव वंचिता वक्रोक्ति को ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इतना अधिक सम्मान प्रदान किया कि एक बार ही में अपनी समस्त खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः पा सकने में समर्थ हुई। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा—

सैषा। सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः, कोऽलंकारोऽनया विना।[1]

अर्थात् यह सब यही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार है ही क्या?

सम्भवतः आनन्दवर्द्धन की इस प्रशंसा के कारण ही कुन्तक को इतना बल मिला कि वे ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर सके। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण आनन्दवर्द्धन से पर्याप्त व्यापक है। किन्तु परवर्ती आचार्यों और विद्वानों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया; उसका व्यापक रूप उन्हें मान्य नहीं हो सका।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धान्तों को समझने से पूर्व पूर्व उसके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से परिचित हो जाना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही अपनी काव्य सम्बन्धी अनेक धारणाओं को व्यक्त किया है। सबसे पूर्व वे 'काव्य' शब्द की विवेचना करते हुए बताते हैं—कविः कर्म काव्यम्' अर्थात् कवि का कर्म ही काव्य है। यहाँ प्रश्न उठता है—कवि किसे कहते हैं? कुन्तक इस सम्बन्ध में मौन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कवि' शब्द की व्याख्या करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। खैर, आगे चलकर वे काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

अर्थात्—काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो वे काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देते हैं; दूसरे वे प्रत्येक रचना के लिए 'आह्लाद-कारिणी' होना आवश्यक मानते हैं। डा० नगेन्द्र ने कुन्तक की इन्हीं मान्यताओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

---

१. यह उक्ति मूलतः भामह की है जिसे आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

(१) आचार्य कुन्तक के विचार से काव्य में वस्तु-तत्त्व एवं माध्यम या अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों का तादात्म्य होता है।

(२) काव्य का वस्तु-तत्त्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गये हों।

(३) काव्य की अभिव्यंजना-शैली असाधारण या अद्वितीय होती है।

(४) अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, केवल वाह्य भूषण मात्र नहीं।

(५) काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आश्रित है—दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

(६) काव्य की कसौटी काव्य मर्मज्ञों का मनःप्रसादन है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट है कि कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी या सौन्दर्यवादी था। किन्तु आधुनिक कलावादियों की भाँति वह एकांगी नहीं था। आधुनिक कलावादी केवल अपने मनःप्रसादन को ही काव्य की कसौटी मानता है जबकि कुन्तक विद्वान् पाठकों की अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं—इसी अन्तर के कारण कुन्तक संकीर्ण व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते हैं।

वक्रोक्ति : स्वरूप और भेद

जैसा कि हमने आरम्भ में कहा था; आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया था। सर्वप्रथम तो उन्होंने उसकी परिभाषा ही अत्यन्त व्यापक रूप में की; दूसरे, उसके भेदोपभेद का निरूपण इतने विस्तार से किया कि उसमें वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कल्पना तक काव्य के सभी अंगों का सन्निवेश हो जाता है। कुन्तक द्वारा की गई वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार है—

उभावेतावलङ्कार्यो तयोः पुनरलंकृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते ॥—१।१०

अर्थात् 'यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते हैं तथा विदग्धतापूर्ण कथन रूपी वक्रोक्ति ही उन दोनों की अलंकार होती है।'

यहाँ अलंकार का अर्थ व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए 'सौन्दर्य' समझना चाहिए। उद्धृत पंक्तियों में वक्रोक्ति को न केवल शब्द से या अर्थ से—अपितु दोनों से सम्बद्ध माना गया है। वह मूल वस्तु न होकर उसकी साज-सज्जा होती है; उसमें कथन-शैली का समस्त चारुत्व समन्वित हो जाता है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। यहाँ हम प्रत्येक की अलग-अलग विवेचना करें।

१. वर्ण विन्यास-वक्रता—कुन्तक के शब्दों में "जिसमें एक या दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार ग्रथित होते हैं, वह वर्ण-विन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण-

रचना की वक्रता कही जाती है।" यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन से है। वस्तुतः व्यंजनों की इस आवृत्ति को अलंकार-सम्प्रदाय के शब्दों में अनुप्रास का नाम दिया जा सकता है। इस वर्ण-विन्यास-वक्रता के भी तीन प्रकार माने गये हैं—(१) वर्गान्त से युक्त स्पर्श अर्थात् क से लेकर म तक के व्यंजनों का ङ, ञ, ण, न, म आदि से योग। (२) तलनादयः —अर्थात् त, न, न आदि द्वित्व रूप में बार-बार आवृत्त हों, (३) उपर्युक्त दोनों भेदों के अतिरिक्त तीसरा भेद यह है जहाँ 'र' का बार-बार प्रयोग हो। वस्तुतः ये भेद भी रीति-गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि—के समन्वय की दृष्टि से किए गए प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' के और भी अनेक उपभेद किये गए हैं जिससे सभी प्रकार के अनुप्रासों, वृत्तियों, यमकों आदि का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। साथ ही आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध भी निश्चित किये हैं। जैसे—एक तो वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिये। वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए अत्यन्त चेष्टा करना या असुन्दर वर्णों का प्रयोग उचित नहीं है। तीसरे, उसमें नवीन सौन्दर्य होना चाहिए। चौथे, प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। पाँचवें, वह श्रुति-सुखद भी होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रता का उसी सीमा तक ही समर्थन किया है, जहाँ तक कि वह काव्य के सहज स्वभाविक सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध हो—कृत्रिम रूप में प्रयुक्त वक्रोक्ति का समर्थन वे नहीं करते।

२. **पद-पूर्वार्ध वक्रता**—शब्द के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता या यों कहिए कि मूल धातु से सम्बन्धित वक्रता को ही पद-पूर्वार्ध-वक्रता कहते हैं। इसके भी आठ भेद हैं: १. रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४ विशेषण-वक्रता, ५. संवृत्ति-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंग-वैचित्र्य-वक्रता, ८. क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ किया जाता है :

(१) **रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता**—जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर किसी शब्द के रूढ़ या वाच्य अर्थ को इस प्रकार परिवर्तित कर दे जिससे उक्ति में सौन्दर्य आ जाय, उसे रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। जैसे —

(क) तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं जब रवि-कर सों विकसाहिं॥
(ख) सीता हरण तात जनि कहहु पिता सन जाई।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आई॥

उपर्युक्त अंशों में क्रमशः 'कमल' और 'राम' रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता के उदाहरण हैं।

(२) **पर्याय-वक्रता**—एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं किन्तु कवि उनमें से किसी एक को चुनकर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है—इसी को पर्याय-वक्रता कहते हैं। जैसे—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।'

यहाँ यदि 'अवला' स्थान पर उसका दूसरा पर्यायवाची 'नारी' रख दिया जाय तो उसका मूल सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। अस्तु पर्यायवाची का कवि द्वारा ऐसा चुनाव ही पर्याय-वक्रता का उदाहरण है।

(३) **उपचार वक्रता**—'उपचार' शब्द का अर्थ है—"अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता या एकता, जैसे, 'मुख रूपी चन्द्र'।" जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता को ही उपचार कहते हैं। अमूर्त पर मूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप, तथा रूपकादि अलंकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। एक उदाहरण—

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर,
केवल प्रशान्ति को रहा चीर।

यहाँ 'तीर' और 'चीर' उपचार-वक्रता के उदाहरण हैं क्योंकि झींगुर का स्वर मूलतः भिन्न होता हुआ भी यहाँ चीरने वाले तीर से अभिन्न प्रतीत हो रहा है।

(४) **विशेषण-वक्रता**—जहाँ विशेषणों की विचित्रता या वक्रता के कारण काव्य में सौन्दर्य हो, उसे विशेषण-वक्रता कहते हैं। उदाहरण—

सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित-पद नमित-पलक—दृग-पात।

(५) **संवृत्ति-वक्रता**—जहाँ सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण या गोपन करके वक्रता उत्पन्न की जाती है। जैसे—

वह चितवनि औरे कछु जिहि वस होत सुजान!'
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाम!'

(६) **वृत्ति-वक्रता**—यहाँ वृत्ति से अभिप्राय व्याकरण के समास, तद्धित आदि से है। इनसे सम्बन्धित वक्रता को ही वृत्ति-वक्रता कहते हैं—जैसे—

को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर

यहाँ वृषभानुजा में समास की वक्रता है।

(७) **लिंग वैचित्र्यवक्रता**—वह वक्रता लिंग-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होती है, यथा—

(क) कामायनी में श्रद्धा के लिए—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ सुकुमार!

(ख) पंत की निम्नांकित पंक्ति में—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान।

भौरे का सामान्यतः पुल्लिंग में प्रयोग होता है, जबकि यहाँ उसे स्त्री-लिंग में प्रयुक्त किया गया है जो कि वात्सल्यवर्द्धक है।

(८) क्रिया वैचित्र्य-वक्रता—क्रिया सम्बन्धी विचित्रता। इसके अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उन्नत वक्षों में आलिङ्गन-सुख लहरों सा तिरता
परिहै मनो रूप मद धरि धवं।
आनन से छलकी परें आँखें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-पूर्वार्ध वक्रता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें लक्षण और शब्द-सम्बन्धी विचित्रता के अधिकांश प्रकार समन्वित हो जाते हैं।

३. पद-परार्ध-वक्रता — इसका सम्बन्ध शब्द के उत्तरार्द्ध अंश या प्रत्यय आदि से है। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं, किन्तु यहाँ केवल कुछ उदाहरण देकर ही आगे बढ़ जायेंगे—

पिय सों कहहु संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
विकम्पित मृदु पुलकित गात।

यहाँ 'संदेसड़ा' और 'विकम्पित' में क्रमशः 'ड़ा' और 'वि' के प्रयोग के कारण जो सौन्दर्य आ गया है वह पद-परार्ध-वक्रता का उदाहरण है।

४. वाक्य-वक्रता—यहाँ वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। स्वयं वक्रोक्तिकार के शब्दों में—"वस्तु का उत्कर्ष-युक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।" यह लक्षण जरा अस्पष्ट है, स्पष्ट शब्दों में कहें तो जहां किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का अर्थ सौन्दर्य उत्पन्न हो, उसे वाक्य-वक्रता कहते हैं। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं—जिनमें मुख्य दो हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) अर्थालंकार। दोनों के क्रमशः दो उदाहरण—

(१) मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हों,
तोहीं जसुमति कब जायो।

(२) उषा सुनहले तीर बरसती,
जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।

वस्तुतः वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत प्रमुख अर्थालंकारों का समवेश हो जाता है।

५. प्रकरण-वक्रता—प्रकरण-वक्रता की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती। हमारे विचार से प्रसंगगत वक्रता ही प्रकरण-वक्रता मानी जानी चाहिए। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

(क) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना।
(ख) प्रसंग की मौलिकता।
(ग) पूर्व-प्रचलित प्रसंग में संशोधन।
(च) रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन।
(ङ) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना।

(च) प्रसंगों का पूर्वापर क्रम से अन्वय।

विस्तार-भय से यहाँ इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया जायगा, वैसे नाम से इनका अर्थ स्पष्ट है।

६. **प्रबन्ध-वक्रता**—इसके अन्तर्गत प्रवन्ध-काव्य, महाकाव्य, नाटक (उपन्यास) आदि का सौन्दर्य आता है। इसके भी ६ भेद बताये गये हैं : (१) मूल-रस, परिवर्तन-ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि जिससे उसका मूलभाव और रस परिवर्तित हो जाय। (२) नाटक के चरित्र में संशोधन। (३) कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे। (४) नायक द्वारा मुख्य फल के साथ साथ अनेक फलों की प्राप्ति। (५) प्रबन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचक। (६) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य वैविध्य।

वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि कुन्तक ने उसे इतना व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया था कि जिससे वह काव्य के सभी अवयवों एवं क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सके। वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक के सभी कवि-व्यापार वक्रोक्ति के इस व्यापक स्वरूप के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्य से परवर्ती विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया। आगे चलकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र रह गई जिसके दो भेद माने गये—(१) काकु वक्रोक्ति एवं (२) श्लेप वक्रोक्ति। काकु में स्वर के उतार-चढ़ाव या बोलने के लहजे के द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। जैसे—

मैंने कहा—प्रिये जाओ मत, बैठो !
वह भोली समझी कि जाओ, मत बैठो !

श्लेप-वक्रोक्ति में शब्द के अन्य अर्थ को ग्रहण करके अर्थ बदल दिया जाता है। यथा—"अरे **घनश्याम** हो तो यहाँ क्या काम, जाकर वर्षा करो।" वस्तुतः वक्रोक्ति का यह संकुचित स्वरूप कुन्तक की मान्यता के सर्वथा विपरीत है। यह संकुचित रूप उसे काव्य की आत्मा तो क्या, उसके शरीर की एक अँगुली बनने लायक भी नहीं छोड़ता।

वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद

एक बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही विलायती उत्थान बताया था। तब से ही इन दोनों का नाम साथ-साथ लेने की एक परम्परा बन गई है, किन्तु वस्तुतः दोनों में गहरा भेद है। अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है जबकि कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से असम्बद्ध नहीं मानते। दूसरे, क्रोचे उक्ति की सहज स्वाभाविकता में काव्य का सौन्दर्य मानते हैं, जबकि कुन्तक वक्रता या विचित्रता को ही सौन्दर्य का मूल आधार बताते हैं। तीसरे, क्रोचे मानसिक अभिव्यंजना को ही प्रमुख मानते हैं, बाह्य अभिव्यक्ति उनके लिए गौण है, इसके विपरीत कुन्तक बाह्य अभिव्यक्ति—शाब्दिक अभिव्यक्ति की ही चर्चा करते हैं, क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की वे कल्पना ही नहीं करते। चौथे, क्रोचे कला

कला को अविभाज्य मानते हैं। कुन्तक ने उसके विभिन्न भेदोपभेदों का निरूपण किया है। पांचवें, क्रोचे केवल कवि की आत्म-तुष्टि को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं जबकि कुन्तक इसके स्थान पर सहृदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करना लक्ष्य मानते हैं।। वस्तुतः इस प्रकार अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति-सिद्धान्त में गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होता है, किन्तु डा० नगेन्द्र ने कई ऐसे बिन्दु भी ढूंढ़े है जहाँ दोनों में साम्य हो जाता है। जैसे—

(क) दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण-तत्व मानते हैं।

(ख) दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्व को प्रमुखता दी है।

(ग) दोनों ही मूलतः उक्ति को अखंड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भांति कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।

(घ) दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्य-अभिव्यंजना में श्रेणियाँ नहीं मानते।

यद्यपि डा० नगेन्द्र ने अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर दोनों में थोड़ा साम्य खोज निकाला है, किन्तु यह साम्य भी केवल शाब्दिक है, ऊपरी है—अर्थ की दृष्टि से भीतर प्रवेश किया जाय तो वहाँ भी दोनों मे गहरा वैषम्य दृष्टिगोचर होगा। उदाहरण के लिए इसी निष्कर्ष को लीजिए कि दोनो ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राण-तत्व मानते है। अभिव्यंजना से सामान्यतः काव्य के माध्यम या शैली का तात्पर्य लिया जाता है किन्तु क्रोचे के लिए अनुभूति वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व ही नहीं है जबकि कुन्तक शैली की वक्रता को ही काव्यत्व का सारा श्रेय दे डालते हैं। अतः कुन्तक और क्रोचे के अभिव्यंजना सम्बन्धी दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसी प्रकार उक्ति की अखंडता के सम्बन्ध में भी दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध है। क्रोचे वस्तुतः उसे अखंडता मानते हैं जबकि कुन्तक वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद परार्ध वक्रता आदि के भेदों का निरूपण करके उसे खंड-खंड रूप में देखते है। अस्तु, जैसा कि आगे चलकर डा० नगेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है, यही कहना उचित है कि दोनों के सिद्धान्तों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।

उपसंहार

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के उपर्युक्त पर्यालोचन के अनन्तर हम अंत में कह सकते हैं कि इसके सिद्धान्त अधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सके, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है। वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्वप्रचलित सिद्धांतों का समन्वय किसी न किसी मात्रा मे हो जाता है। कुन्तक की 'वर्ण-विन्यास वक्रता' में रीति के गुणों का 'पद पूर्वार्ध-वक्रता' और 'पदपरार्ध-वक्रता' में शब्दालंकारों का, 'वाक्य-वक्रता' में अर्थालंकारों का, 'प्रकरण-वक्रता' में ध्वनि का और 'प्रबन्ध वक्रता' में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। वस्तुतः वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक का समस्त कवि-कौशल एवं काव्य-सौंदर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो

जाता है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इतना व्यापक होते हुए भी यह सिद्धांत युग की मान्यता प्राप्त करने में सफल क्यों न हो सका? हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक तो सिद्धांत इतनी देर से आया कि इससे पूर्व रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि विद्वानों के हृदय में स्थान बना चुके थे। अब लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि वे किसी नव-आविष्कृत सिद्धान्त को समझने का कष्ट करते। दूसरे, यह सिद्धान्त शैली-पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता जैसी कि रस-सिद्धान्त करता है। वस्तुतः जिन पक्षों की वक्रोक्ति-सिद्धान्त व्याख्या करता है उन्हीं की व्याख्या रीति, अलंकार, ध्वनि से भी हो जाती है। तीसरे, इसका विवेचन तथा भेदोपभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से यह लोक-प्रिय नहीं हो सका। किन्तु यदि हम 'लोक-प्रियता' को ही किसी सिद्धान्त की कसौटी न मानें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त आचार्य कुन्तक की अद्भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिन्तन के समन्वय से उद्भूत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से यदि इसे रीति, अलंकार और ध्वनि सिद्धान्त से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बता दिया जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा—हाँ, रस-सिद्धान्त से अवश्य यह हलका पड़ता है। अस्तु, प्राचीन आचार्यों के शब्दों में पुनः कहा जा सकता है—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति···कोऽलंकारोऽनया विना" (यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है···कौन-सा सौन्दर्य है जो इसके बिना हो।)

:: चौदह ::

औचित्य-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में पांच प्रमुख सम्प्रदाय--रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति--प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्त्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका। इतना ही नहीं, अनेक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण 'काव्य की आत्मा' सम्बन्धी विवाद सुलझाने के स्थान पर और अधिक उलझ गया था—रस, अलंकार रीति आदि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने मत को प्रमुखता देते थे तथा दूसरे के मत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य अध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किस मत को माने और किसको नहीं। ठीक इसी समय आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की स्थापना करके इस विवाद को सुलझाने में गहरा योग दिया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, अलंकार आदि सभी का महत्त्व है, किन्तु उसी अवस्था में जबकि ये सब औचित्य से समन्वित हों। औचित्य के अभाव में ये सभी तत्त्व व्यर्थ हैं। इस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय इन सबके लिए उचित समन्वय का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ।

औचित्य की पूर्व-परम्परा

यद्यपि 'औचित्य' की एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्थापना करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है, किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक आचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे। भरत ने नाट्य-शास्त्र में औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा—'जो लोक-सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक-स्वभाव से हुआ है, अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है।' आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो, उसी के अनुरूप उसकी भाषा, वेश, चरित्र आदि होने चाहिए—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।

अर्थात् 'वय के अनुरूप वेष होना चाहिए, वेष के अनुरूप गति, गति के अनु-

रूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।' इस प्रकार आचार्य भरत ने स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया है — इतना अवश्य है कि उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

आगे चलकर दंडी ने भी यह संकेत किया कि काव्य में औचित्य का स्थान है। उपमा के प्रसंग में उन्होंने बताया कि यदि सहृदयों को उद्वेग न हो, तो उपमान और उपमेय के लिंग-वचन आदि में परस्पर भेद होना भी कोई दोष नहीं है। वस्तुतः भामह, दंडी, वामन, रुद्रट आदि का दोष-विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है। किन्तु औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम आनन्दवर्धन आते हैं। उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किए—(१) रसौचित्य, (२) अलंकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) संघटनौचित्य, (५) प्रबन्धौचित्य, (६) रीति-औचित्य। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) **रसौचित्य**—इसका सम्बन्ध रस से है। काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब ही सम्भव है जबकि उसमें रसौचित्य हो। रसौचित्य के लिए आनन्द वर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं—(क) शब्द और उसके अर्थ का नियोजन औचित्यपूर्ण हो (ख) व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो (ग) प्रबन्धकाव्य में संधि, घटना आदि का प्रयोग रसनानुकूल हो (घ) विरोधी रस के अंगों का वर्णन न हो (ङ) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तार न हो कि उससे मुख्य रस ही दब जाय (च) अंगरस और अंगीरस का सम्बन्ध आपस में ठीक अनुपात में हो (छ) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता हो (ज) प्रबन्ध-काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर हो (झ) विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा की जाय। हमारे विचार से इनमें से कुछ भेद तो अनावश्यक हैं। चौथे भेद (घ) में जो बात कही गई है, लगभग उसी को अगले तीन भेदों (ङ, च, छ,) में दोहराया गया है। इसी प्रकार के अन्य भेदों में से भी अनेक को निकाला जा सकता है। रसौचित्य के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तब ही उससे रस-निष्पत्ति हो सकेगी।

(२) **अलंकारौचित्य**—इसके भी पाँच भेद बताये गये हैं—(क) अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो (ख) अलंकार लाने के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए (ग) अलंकार भावों की पुष्टि में योग देने वाले होने चाहिए (घ) उनका स्थान काव्य में गौण होना चाहिए, मुख्य नहीं (ङ) यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरे चमत्कार के लिए प्रयुक्त न हों।

(३) **गुणौचित्य**— काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के अनुकूल होना चाहिए। जैसे—ओज का वीर रस में, माधुर्य का शृंगार और करुण में।

(४) **संघटनौचित्य**—संघटना या रचना का उद्देश्य रस है, अतः उसमें विभिन्न तत्त्वों का नियोजन रस के अनुकूल होना चाहिए। इसमें भी विचार नियामक हैं—

(क) संघटना रसानुकूल हो।

(ख) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार उसकी योजना हो।

(ग) प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल हो।

(घ) काव्य की प्रकृति के अनुकूल हो।

(५) **प्रबन्धौचित्य**—प्रबन्धगत औचित्य के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नांकित नियम निर्धारित किए हैं—(क) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में रसानुपात रहना चाहिए। (ख) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिए। (ग) जो घटनाएँ काव्य के मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध होती हों उन्हें परिवर्तित कर देना चाहिए। (घ) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगीरस की दृष्टि से करना चाहिए। (ङ) वर्णन विषय से दूर न जाना चाहिए। (च) अंग-घटना का विस्तार इतना न किया जाय कि वह, अंगी बन जाय। (छ) प्रकृत रस के अनुकूल ही घटनाओं का चयन होना चाहिए। (ज) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिए।

(६) **रीति-औचित्य**—रीति का प्रयोग भी उचित रूप से यानी वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने औचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया था। उनके अनन्तर कुन्तक एवं महिम भट्ट ने भी इसका उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में अपने ग्रंथों में किया। कुन्तक ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा—"जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता या श्रोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो वह औचित्य है।" दूसरे शब्दों में किसी वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन ही औचित्य है। महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' में औचित्य के दो भेद माने हैं—शब्दौचित्य और अर्थौचित्य। इस प्रकार औचित्य की परम्परा चली आ रही थी, कि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार' लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया।

औचित्य का लक्षण

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा—"जो उसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं—उसका भाव औचित्य है।" इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए डा० मनोहर गौड़ ने लिखा है—"काव्य में भी संयोजन-क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में अनेकत्र अनेकदा दृष्ट एवं अनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे सामंजस्य संयोजन किया जाता है। इस सामंजस्य के सदृश्य अथवा संतुलन को ही औचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गौ के लिए असदृश्य और ऊँट के लिए सदृश है। अधिक

भूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिए उचित एवं नागरिक के लिए अनुचित है। इस प्रकार औचित्य एक विधेयात्मक तत्त्व सिद्ध होता है। यही समस्त सौन्दर्य का मूल है।" हमारे विचार से औचित्य को आधुनिक शब्दावली में 'स्वाभाविकता' कहना अधिक उचित होगा। काव्य में घटनाओं और पात्रों के आयोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह प्रेषणीय हो पाता है। अस्तु, स्वाभाविकता ही औचित्य है।

औचित्य के अंग

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए औचित्य के २८ अंग या (भेद) निर्धारित किए हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन; (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सार-संग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद और (२८) काव्य के अन्य विविध अंग। इन २८ तत्त्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नांकित चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) **शब्द**—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात।

(ख) **काव्यशास्त्रीय तत्त्व**—प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सार-संग्रह, तत्त्व, आशीर्वाद, काव्य के अन्य अंग।

(ग) **चरित्र संबंधी**—व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम।

(घ) **परिस्थिति संबंधी**—काल, देश, कुल, अवस्था।

उपर्युक्त अंगों के पर्यालोचन से पता चलता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषय-वस्तु और उसकी शैली—दोनों में ही औचित्य का विधान किया है।

औचित्य-अनौचित्य के कुछ उदाहरण

आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक रूप से समझने के लिए हम यहाँ उनके द्वारा विवेचित औचित्य के कुछ उदाहरणों का अवलोकन कर सकते हैं। पद-औचित्य की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं—"सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है, जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक। जैसे—'हे देव ! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गए।' इस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों से सुनकर भोली गुर्जर-नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है।यहाँ 'भोली' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है।" इसके विपरीत किसी अनुचित शब्द के प्रयोग से जिस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को ठेस पहुँचती है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए एक उदाहरण दिया गया है—'सौंदर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया; महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया। यह बेचारी भी योग्य पति के

अभाव में दुखी है। विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था। इसकी विवेचना करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है, वह किसी प्रकार के अर्थौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। उसके विचार से यहाँ 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग उचित था।

अलंकार-औचित्य के सम्बन्ध में आचार्यवर ने स्पष्ट किया है कि प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिए "अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भाँति इधर ही आ रहे हैं लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। अतः वे प्रेमी प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निर्वासित साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।" यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा शृंगार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है। अतः यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है। इसी प्रकार रसौचित्य की व्याख्या करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं—"औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को अंकुरित कर देता है।···मधुर, तिक्त, आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शृंगार आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है।" अस्तु, आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है—अलंकार, गुण, रस आदि का ऐसा आयोजन जो काव्यत्व के विरुद्ध पड़ता है, उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।

क्षेमेन्द्र-परवर्ती आचार्य

क्षेमेन्द्र-परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने 'औचित्य' की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राण तत्त्व स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण भी दोष या गुण बन सकता है—अतः उसके आधार पर गुण दोषों की ही परीक्षा की जा सकती है। इससे अधिक उसका महत्व नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में औचित्यकी चर्चा गौण रूप से की है। उन्होंने यह बताया है कि पूर्वकवियों का अनुकरण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे गुण दोषों तक ही सीमित रक्खा। हाँ, आधुनिक युग के कतिपय आचार्यों ने अवश्य ही इसकी प्रशंसा की है। साहित्याचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है —"सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय अलंकारियों की संसार के आलोचना-शास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्य के महत्व का पर्याप्त परिपोषक है।' इस सम्बन्ध में हम अपना मत लेख का उपसंहार करते समय व्यक्त करेंगे।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और औचित्य

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी औचित्य पर पर्याप्त विचार हुआ है।

प्रसिद्ध यवनाचार्य अरस्तू ने अपने 'पोइटिक्स' में चार प्रकार के औचित्य की मीमांसा की है—(१) घटनौचित्य; (२) रूपकौचित्य, (३) विशेषणौचित्य, (४) विषयौचित्य। घटनौचित्य के सम्बन्ध में उनका विचार है कि साहित्य में वर्णित घटना जगत् से सम्बद्ध और स्वाभाविक होनी चाहिए। दूसरे, प्रासंगिक घटना मुख्य घटना से उचित रूप में सम्बन्धित होनी चाहिए। रूपकौचित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि गद्य को प्रभावशाली एवं सुन्दर बनाने के लिए ही उनका प्रयोग करना चाहिए। रूपक-प्रयोग में इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि वस्तु का उत्कर्ष दिखाने के लिए उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहिए तथा अपकर्ष दिखाने के लिए हीन गुणों वाले विशेषण। साथ ही उपमान और उपमेय में जाति, गुण, धर्म आदि का भी साम्य अपेक्षित है। विशेषणौचित्य में विशेषण का लक्ष्य वर्ण्य विषय के भावार्थ को पुष्ट करना होता है। विषयौचित्य के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाव यदि उदात्त है तो भाषा क्षुद्र या अशक्त नहीं होनी चाहिए। अरस्तू ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'रेटारिक्स' में भी औचित्य (**Propriety**) की विशद रूप में विवेचना की है। इसमें शैली सम्बन्धी विभिन्न गुणों एवं तत्त्वों के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है।

लौंजाइनस (२१३—२७६ ई०) ने अपने उदात्त-तत्त्व सम्बन्धी ग्रंथ (**On the sublime**) में दो प्रकार के औचित्य—अलंकारौचित्य एवं शब्दौचित्य—की विवेचना की है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि अलंकारों और शब्दों के उचित प्रयोग से ही काव्य के प्राण-तत्त्व— उदात्त तत्त्व की सिद्धि होती है।

आगे चलकर एक अन्य पाश्चात्य आचार्य होरेस ने अपने 'काव्य-कला' संबंधी प्रबन्ध में कवियों के लिए तीन उपदेश दिए हैं, जिनमें एक 'काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना है।" इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि यदि ऐतिहासिक कथा को लेकर काव्य-रचना की जाय तो उसके पात्रों का स्वभाव परम्परा के अनुसार ही दिखाना उचित है। इसके अतिरिक्त अभिनय आदि में भावानुरूपता एवं स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाना चाहिए, छन्दों के औचित्य के संबंध में उनकी सम्मति है कि जिस प्रकार का विषय हो, उसी के अनुकूल छन्द का चुनाव करना चाहिए।

आगे चलकर यूरोप के क्लासीकल युग में औचित्य की पूरी-पूरी मान्यता रही। इसी मार्ग के अनुयायी कवि तथा आलोचकों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में अनुशासन की मान्यता वर्तमान थी; शास्त्र तथा लोक—दोनों का ही अनुशासन कला में उन्होंने माना था। लोक का अनुशासन औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने काव्य के प्रेरणा तत्त्व जिस प्रकार जीवन से लिये थे, उसी प्रकार क्लासीकल समीक्षकों ने भी काव्यलोचन का आदर्श लोक को माना है। लोक के उदात्त, शिष्ट रूप को आदर्श बताया है। यही औचित्य की मूल भावना है।" (डा० मनोहरलाल गौड़)

अठारहवीं शती के महाकवि पोप ने भी औचित्य पर बड़ा बल दिया है।

उन्होंने अपने समीक्षा सम्बन्धी पद्यात्मक लेख में भावानुकूल वर्ण-योजना पर विचार करते हुए लिखा है—

It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense,
Soft is the strain when zephyr gently blows,
And the smooth steam in smoother number flows,
But when loud surges lash the sounding shore,
The hoarse rough verse should like a torrent roar,

अर्थात् कविता में केवल उद्वेगकारी वर्ण-कटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वर्ण, भाव की प्रतिध्वनि के रूप में होना चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मंद-मंद प्रवाही निर्झर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचंड झंझा-वात का थपेड़ा खाकर भीषण ऊर्मियाँ किनारों से टकराती हैं, तब ओजस्वी पद्य भी तुमुल प्रवाह की भांति घोर गंभीर गर्जना करता है।' कहना न होगा कि पोप का यह निर्देश भारतीय आचार्यों के पदौचित्य एवं गुणौचित्य के ही अनुकूल है। वस्तुतः औचित्य को भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है।

उपसंहार

अन्त में औचित्य सम्प्रदाय के महत्त्व के सम्बन्ध में हम निजी दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। जहाँ तक उसकी उपलब्धियों का सम्बन्ध है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई। एक ओर तो इससे अलंकारवादियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की अति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में योग मिला, दूसरी ओर काव्य में स्वाभाविकता को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा। क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य के बढ़ाने में सहायता तो देता ही नहीं, अपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है। यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाओं को देखें तो पता चलेगा कि इस युग का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकारयोजना से आच्छादित होकर सौन्दर्यविहीन; शुष्क एवं जटिल हो गया था। औचित्यवाद ने इसका घोर बहिष्कार करके परवर्ती युग की काव्य-रचनाओं को – भले ही ये संस्कृत भाषा की न होकर अन्य भाषा की हों— नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

क्षेमेन्द्र का औचित्य या स्वाभाविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओं के भी अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहाँ आधुनिक युग का साहित्यकार साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त कर देने में उसकी स्वाभाविकता मानता है, वहाँ क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों का पालन करते हुए यथार्थ चित्रण में स्वाभाविकता मानते हैं। किन्तु यह अन्तर भी युग के दृष्टिकोण के अनुकूल ही है। उस युग का पाठक

सामाजिक प्राचीन नियमों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अतः उसका पालन उस युग के साहित्यकार के लिए अपेक्षित था, जबकि आज का दृष्टिकोण बदल गया है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि क्या औचित्य को काव्य का जीवन या प्राण, माना जा सकता है ? क्या औचित्य अपने-आपमें इतना समर्थ है कि वह काव्य में सौन्दर्यतत्त्व की प्रतिष्ठा कर सके ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें निषेधात्मक ही देना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि औचित्य से काव्य में मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है, उसके अभाव में सौन्दर्य नहीं रहता—कुरूपता में परिणत हो सकता है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वह मूल सौन्दर्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता। औचित्य में अपने-आपमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सके। उदाहरण के लिए विज्ञान, दर्शन एवं इतिहास की पुस्तकें भी औचित्य से युक्त होती हैं—भाषा, शैली एवं विचार आदि में से किसी का भी अनौचित्य वहाँ स्वीकार नहीं होता, किन्तु फिर भी उनमें वह सौन्दर्य नहीं आ पाता जो कि काव्य में उपलब्ध होता है। यह ठीक है कई बार औचित्य या स्वाभाविकता के कारण ही कोई उक्ति सुन्दर बन जाती है; किन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वहाँ भी उसके सौन्दर्य के मूल में औचित्य के साथ-साथ कोई अन्य तत्त्व भी मिश्रित होगा। उदाहरण के लिए सूरदास के बाल-वर्णन की प्रशंसा में कई बार उसकी स्वाभाविकता की चर्चा की जाती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल स्वाभाविक या उचित होने के कारण ही वह सुन्दर है। वस्तुतः सूर के बाल-वर्णन में भावात्मकता का पुट ही सौन्दर्य का मूल कारण है, स्वाभाविकता तो उस मूल कारण की एक विशेषता मात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत भावव्यंजना काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक नहीं होगी; किन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि भावनाशून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन भी दंडी द्वारा कथित 'वार्ता' मात्र रह जायगा, काव्य की संज्ञा उसे नहीं दी जा सकेगी।

अस्तु, कहना चाहिए कि औचित्य वह तत्त्व है जो कविता-कामिनी के मुख-चंद्र को निखारकर निष्कलंक, अम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किन्तु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। प्रयोगवादी शब्दावली में कहें तो वह अधिक से अधिक 'लक्स की टिकिया' है, 'सौन्दर्य की पुड़िया' उसे नहीं कह सकते। या बिहारी के शब्दों में—

'वह चितवनि औरै कछु, जिहि बस होत सुजान।,'

: पन्द्रह :

प्लेटो का आदर्शवाद

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदिस्रोत यूनान रहा है। यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य-चिन्तकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा से चार-पाँच शताब्दियाँ पूर्व किया था, उन्हीं की अनुगूंज परवर्ती युग में यूरोप के विभिन्न विचारकों की शब्दावली में सुनाई देती है। यूनान के गौरवशाली चिन्तकों एवं महान् दार्शनिकों मे सुकरात के शिष्य प्लेटो (४२८ ई० पू —३४७ ई० पू०) का नाम सर्वोपरि है। प्लेटो मूलतः दार्शनिक एवं आचार्य थे—उन्होंने ई० पू० ३८८ में अपनी जन्मभूमि एथेन्स में एक विद्यालय की भी स्थापना की थी तथा अपने अंतिम समय तक उसी में अध्यापन कार्य करते रहे। विद्यालय की स्थापना से पूर्व वे विदेश-भ्रमण के लिए चले गये थे। लगभग ग्यारह वर्ष तक उन्होंने एशिया माइनर से लेकर इटली तक विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। कदाचित यही कारण है कि हम प्लेटो में पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों से भिन्न, सर्वथा नूतन एवं मौलिक विचारों का उन्मेष देखते हैं। वैसे वे पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों—मुख्यतः पाइथोगोरस एवं सुकरात के भी पर्याप्त ऋणी हैं। फिर भी प्लेटो का दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतन्त्र एवं मौलिक दिखाई पड़ता है जिसका प्रकटीकरण उनके द्वारा रचित विभिन्न दार्शनिक एवं राजनीतिक ग्रन्थों में हुआ। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'दि रिपब्लिक' (गणराज्य), 'दि स्टेट्समैन' (राजनेता), 'दि लॉज' (विधि) आदि उल्लेखनीय हैं।

प्लेटो के साहित्यिक विचार उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं, अतः उनकी साहित्य-सम्बन्धी धाराओं के विवेचन से पूर्व उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों को समझ लेना आवश्यक है।

प्लेटो के दार्शनिक विचार—दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या अन्तिम सत्य की खोज करना होता है, पर अन्तिम सत्य के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं—एक, जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को—जिसे परमात्मा का भी नाम दिया जाता है—अंतिम सत्य या शाश्वत तत्त्व मानते है, जबकि दूसरे वर्ग में वे आते है, जो इस स्थूल एवं भौतिक जगत् को ही सृष्टि का आधारभूत तत्व एवं सत्व मानते हैं। इन्हें क्रमशः आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है। प्लेटो प्रथम वर्ग में आते

हैं। वे मानते थे कि इस भौतिक जगत् के पीछे किसी सूक्ष्म, शाश्वत एवं अलौकिक जगत् का आधार है या यों कहिए कि यह जगत् किसी आध्यात्मिक लोक की प्रतिच्छाया है, अतः यह जगत् और इसके पदार्थ मिथ्या हैं, जबकि उनका वास्तविक रूप विचार (Ideas) रूप में अध्यात्म-लोक में विद्यमान है। इस सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों (Ideas) के अनुसार हुआ—अतः विचार ही मूल तत्त्व है जबकि वस्तु मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार इस संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी विचाररूप में अलौकिक जगत् में विद्यमान हैं। सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तनशील एवं नाशवान् हैं, अतः वे मिथ्या हैं जबकि अलौकिक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण—सत्य है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्त्व (Idea) को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्त्ववाद या आदर्शवाद (Idealism) कहा जाता है। ध्यान रहे अंग्रेजी का 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) शब्द भी 'आइडिया' (विचार) से बना है—जो इस तथ्य का सूचक है कि यह वाद पदार्थों की अपेक्षा उनके विचार को अधिक महत्त्व देता है। आगे चलकर यही 'आदर्शवाद'—आध्यात्मिक विचारों, नैतिक सिद्धान्तों एवं उच्च कोटि के मानव-मूल्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। अस्तु, प्लेटो भारतीय अद्वैतवादियों की भाँति जगत् को मिथ्या और विचाररूपी ब्रह्म को सत्य मानता था—उसकी इस धारणा का प्रभाव उसके राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पड़ा, जिसे आगे स्पष्ट किया जायगा।

राजनीतिक विचार—प्लेटो के समय यूनान की राजनीति अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में थी। स्वयं प्लेटो के नगर में प्रजातंत्रीय व्यवस्था थी, पर वह भी अत्यन्त शोचनीय स्थिति में पहुँच गयी थी। प्रजातंत्र में जब शक्ति कुछ अदूरदर्शी, स्वार्थी, विलासी धनलोलुपों के हाथ में चली जाती है तो वह मूर्खों का शासन सिद्ध होता है। एथेन्स के इस मूर्ख-शासन ने ही प्लेटो के गुरु सुकरात के प्राण ले लिये थे जिसकी प्रतिक्रिया प्लेटो के मन में भी अत्यन्त तीव्र रूप में हुई थी। कदाचित् इसीलिए वह एक ऐसी शासन-प्रणाली का आविष्कार करने के लिए लालायित थे, जिसमें सत्य के पुजारियों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो। यह तभी संभव है जबकि शासन की सत्ता किसी सत्यवेत्ता विद्वान् एवं सदाचारी कर्मनिष्ठ व्यक्ति के हाथ में रहे। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने एक ऐसे 'गणराज्य' की कल्पना की जिसका शासक कोई महान् दार्शनिक आचार्य या महात्मा होगा। अपने ग्रन्थ 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने विस्तार से एक ऐसी योजना-पद्धति का प्रतिपादन किया है जिससे इस प्रकार के शासन का चयन हो सके। उसके विचारानुसार विद्यालयों में ही इस प्रकार के चयन की प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना चाहिए। सात से लेकर बीस वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों में से जो सर्वोच्च स्तर के सिद्ध हों, उन्हें सैनिक के रूप में चुना जाना चाहिए। इन सैनिकों को भी विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए और उनमें से जो उच्च स्तर के सिद्ध

हों, उन्हें शासक वर्ग में से लिया जाना चाहिए। इस शासक वर्ग को भी विशेष शिक्षा-दीक्षा देकर उसमें से भी जो सर्वोच्च स्तर का सिद्ध हो, उसे राजा या प्रमुख शासक चुना जाना चाहिए। इस प्रकार प्लेटो के स्वप्नों का शासक न केवल दर्शन, विज्ञान एवं शासन-पद्धति में पारंगत होगा, अपितु वह अपने वैयक्तिक एवं चारित्रिक गुणों की दृष्टि से भी सम्पन्न होगा। सम्भव है, सत्ता-प्राप्ति के अनन्तर वह शासक भी स्वार्थी एवं लोभी होकर प्रजा के साथ अन्याय करने लगे—इस सम्भावना को समाप्त करने के लिए प्लेटो ने उसके लिए व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति एवं परिवार का निषेध किया। प्लेटो का आदर्श शासक अपने उचित उपयोग के लिए राज्य की सम्पत्ति को काम में ले सकेगा तथा सीमित एवं अस्थायी रूप से किसी स्त्री से यौन-सम्पर्क भी स्थापित कर सकेगा, किन्तु वह विवाह करके अपना अलग घर कभी नहीं बसाएगा। सच पूछें, तो अधिकांश शासकों या मंत्रियों को प्रायः उनके बेटे-बेटियां ही अधिक बदनाम करते हैं या यों कहिए कि सन्तान-प्रेम के कारण ही कई बार शासकगण नियमों की अवहेलना कर देते हैं अथवा पक्षपात और सिफारिश का आश्रय ग्रहण करते हैं जिससे शासन में भ्रष्टाचार का बीज-वपन होता है। प्लेटो इस यथार्थ से भली-भांति परिचित थे—इसीलिए उन्होंने शासक के निजी परिवार एवं सम्पत्ति का सर्वथा निषेध किया है।

प्लेटो का लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का था जिसमें सत्य, न्याय, धर्म और सदाचार की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सके। उसके लिए एक ओर शासक में इन सबकी प्रतिष्ठा आवश्यक है, तो दूसरी ओर राज्य की सारी व्यवस्था एवं उसका वातावरण भी उसके अनुकूल होना चाहिए। इस व्यवस्था और वातावरण को अनुकूल या प्रतिकूल बनाने में कला और साहित्य क्या योग दे सकते हैं—इसी दृष्टिकोण से प्लेटो ने इन पर विचार किया है। वस्तुतः कला और साहित्य पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष दृष्टि से विचार करना उनका लक्ष्य नहीं था, अपितु आदर्श गणराज्य की सहयोगिनी शक्तियों के रूप में ही इनकी आलोचना की गयी है, कदाचित् इसीलिए वे इनके साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण—प्लेटो के लिए साहित्य का महत्त्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके आदर्श गण-राज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय और सदाचार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला और साहित्य से असीम आनन्द प्राप्त होता है—इस तथ्य को प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, किन्तु वे ऐसे आनन्द को जो उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति में बाधक सिद्ध हो, कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कला और साहित्य की कसौटी उनके लिए सौन्दर्य या आनन्द न होकर उपयोगिता थी। इतना ही नहीं, स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है। 'एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती हो, अन्यथा एक स्वर्णजटित चमचमाती हुई ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से महत्वशून्य हो।' संक्षेप में उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही साहित्य पर

विचार किया। दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोत्तेजक एवं भावोद्वेलन-प्रधान था —अतः सामाजिक हित को दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता था; फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध मोर्चा लगाते हुए उस पर अनेक आक्षेप आरोपित किए, जिन पर आगे क्रमशः विचार किया जायगा।

पहला आक्षेप : मिथ्यात्व—प्लेटो ने अपने पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति सिद्ध किया। उनके विचारानुसार साहित्यकार जिन वस्तुओं या व्यक्तियों अथवा क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, वे पहले से ही भौतिक जगत् में विद्यमान हैं—जिनकी अनुकृति वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। पर यह अनुकृति भी दो प्रकार की हो सकती है—एक कुर्सी को देखकर कुर्सी बनाना अनुकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना है। यह दूसरे प्रकार की अनुकृति एक प्रकार की मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति है तथा चित्रकार, कवि और कथाकार भी ऐसी मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करते हैं। और इससे भी बुरा यह है कि वे जिन वस्तुओं की अनुकृति प्रस्तुत करते हैं वे स्वयं मिथ्या हैं, क्योंकि उनका सत्य रूप तो केवल विचार (**Idea**) रूप में अलौकिक जगत् में ही है। ऐसी स्थिति में कलाकार की स्थिति उस नकलची की सी हो जाती है, जो नकल भी झूठ की कर रहा हो। कल्पना कीजिए, परीक्षा-भवन में एक परीक्षार्थी किसी दूसरे परीक्षार्थी की नकल कर रहा है, और उस नकल में भी एक तो वह बहुत सी अशुद्धियाँ कर रहा है, दूसरे जिस उत्तर की वह नकल कर रहा है, वह भी अपने-आप में गलत हो ! ऐसी स्थिति में वह परीक्षार्थी एक नहीं—तीन प्रकार की गलतियाँ कर रहा है; नकल करना, गलत नकल करना और वस्तु की नकल करना ! प्लेटो के विचार से साहित्यकार की भी स्थिति ऐसी ही है ! वह मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह सत्य से तिगुना दूर है या यों कहिए कि वह तिगुने झूठ का आविष्कार है—अतः वह प्रशंसनीय नहीं दंडनीय है।

दूसरा आक्षेप : अमौलिकता एवं अज्ञानता—कवि या चित्रकार वस्तुतः कृति नहीं, अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है, अतः उस पर दूसरा आरोप अमौलिकता एवं अज्ञानता का आरोपित किया जा सकता है। एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची अनुकृति द्वारा जूतों की जोड़ी बनाता है, तो हम उसे अमौलिक तो कह सकते हैं किन्तु अज्ञानी नहीं, क्योंकि वह जब तक जूता बनाने के सारे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनुकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। पर चित्रकार या कवि पर यह बात लागू नहीं होती ! चाहे उन्हें इस बात का भी पता न हो कि जूते में जो चमड़ा लगता है, वह कहाँ से आता है या उसमें गाय की खाल का उपयोग होता है या बकरी की खाल का—पर फिर भी वे उसका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर सकते हैं ! ऐसी स्थिति में कवि का ज्ञान मोची के ज्ञान से भी कम होता है ! फिर मोची के बनाये जूतों को तो पहनकर आप सड़क पर चल सकते हैं, काँटों से बच सकते हैं, सर्दी-गरमी से बच सकते हैं, पर क्या चित्रकार या कवि के द्वारा प्रतिबिम्बित जूतों से ऐसा कर सकते हैं ? उनका क्या उपयोग है ! उपयोग न सही, उनसे तो यह भी;

पता नहीं चलता कि जूते कैसे बनाये जाते हैं, या कहाँ मिलते हैं ! इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तो कवि या चित्रकार का महत्त्व मोची या बढ़ई जितना भी नहीं है ! प्लेटो के शब्दों में—'एक चित्रकार मोची, बढ़ई या अन्य कारीगर की कला से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी उनके कार्यों को इस प्रकार चित्रित कर देगा कि उससे सरल प्रकृति के लोगों अथवा बच्चों के मन में उसके वास्तविक कारीगर होने का भ्रम उत्पन्न हो जाएगा !' इस प्रकार कवि न केवल स्वयं अज्ञानी है, अपितु वह अज्ञान के प्रसार में भी योग देता है !

तीसरा आक्षेप : अनुपयोगिता—कवि या साहित्यकार अनुकृति के बल पर जो रचना प्रस्तुत करता है, वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती, अतः प्लेटो के विचार से कलात्मक रचनाएँ समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी हैं। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो उसकी यथातथ्य जानकारी प्राप्त हो सकती है और न ही उनसे हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और तो और उनसे शिक्षा-उपदेश भी प्राप्त नहीं होता ! इसलिए प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा है कि वे सिद्ध करें कि कविता की समाज के लिए क्या उपयोगिता है। कवियों में सर्वश्रेष्ठ उस युग में होमर माना जाता था तथा प्लेटो भी उसका कम सम्मान नहीं करता था, फिर भी उसकी महानता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए उसने कहा—"हमें होमर से यह पूछना है···क्या Asclepius की भाँति उसने कभी रोगियों को रोग-मुक्त किया है अथवा अपने पीछे अपने द्वारा वर्णित भेषज विद्या तथा अन्य कलाओं की किसी परम्परा को छोड़ा है ?···युद्ध सम्बन्धी विभिन्न व्यूह-रचनाओं, राजनीति-शिक्षण-विधि आदि जो उनकी कविताओं के सच्चे और श्रेष्ठतम विषय हैं—इसके बारे में हम उससे क्या कोई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ? उसे सम्बोधित करते हुए हम कह सकते हैं—'मित्रवर होमर ! यदि तुम इस विवेचन में सक्षम हो कि किन प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्ति निजी और सार्वजनिक जीवन में उच्चतर और हेय बनता है तो हमें बताओ कि तुम्हारी सहायता से किस राज्य ने श्रेष्ठ शासन का लाभ उठाया है ? लकेदेमान की श्रेष्ठ व्यवस्था लाइसरगुस के कारण है तथा इसी तरह और भी कई छोटे-बड़े नगर दूसरों के द्वारा लाभान्वित हुए हैं, पर क्या कोई यह कहता है कि तुम एक श्रेष्ठ विधायक रहे हो और तुम्हारे द्वारा किसी (राज्य) का हित सधा है !··· क्या कोई ऐसा युद्ध है, जो उसके द्वारा अथवा उसकी सलाह मान कर लड़ा गया हो ?···परन्तु होमर ने यदि सार्वजनिक सेवा का कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया तो भी व्यक्तिगत रूप से क्या वह किसी का शिक्षक या मार्ग-दर्शक रहा है ?···यदि होमर वास्तव में मनुष्य जाति के शिक्षण और उन्नयन में समर्थ हुआ होता—यदि वह मात्र अनुकर्त्ता न होकर ज्ञाता होता तो उसके पद-चिह्नों पर चलने वाले अनेकानेक शिष्य होते, जो उसकी परम्परा को आगे बढ़ाते और उसको अपने सम्मान और प्यार का पात्र बनाते !" (ग्रीक-साहित्य-शास्त्र : पृष्ठ २२-२३)

इस प्रकार प्लेटो होमर जैसे कवि की अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है, जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोग-मुक्त कर सके, या युद्धों का ज्ञान प्रदान

कर सके अथवा राज्य की शासन-प्रणाली में कोई सुधार कर सके। दूसरे शब्दों में वह कवि में कवि के नहीं, अपितु चिकित्सक, योद्धा, नेता या अध्यापक के गुणों की खोज करता है! उसका यह प्रयास वैसा ही है जैसा कि कोई किसी फिल्म-अभिनेत्री से पूछे कि तुम्हें कमीज में बटन टाँकने आते हैं या नहीं—और उसके 'ना' कहने पर उसे सर्वथा घटिया और बदसूरत करार दे दे!

कवि : दुर्बलता एवं अनाचार का पोषक—प्लेटो के विचार से कवि न केवल अनुपयोगी एवं महत्त्वशून्य है, अपितु वह समाज में दुर्बलता एवं अनाचार के पोषण करने का भी अपराध करता है। प्लेटो के विचार से किसी भी समाज और राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की प्रतिष्ठा तभी संभव है जबकि उसके सभी व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं भावनाओं पर पूरा नियंत्रण रखते हुए विवेक-बुद्धि एवं नीति-ज्ञान के अनुसार चलें। इसके विपरीत कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्तियों की वासनाओं एवं भावनाओं को उद्वेलित कर देता है—ऐसी स्थिति में उसकी भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं और बुद्धि का अंकुश ढीला पड़ जाता है। यह स्थिति व्यक्ति को न केवल दुर्बल एवं अशक्त बनाती है, अपितु उसे कुमार्ग की ओर भी अग्रसर करती है! यह ठीक है कि कविता से आनन्द मिलता है—इसे प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, पर ऐसे आनन्द से क्या लाभ जो हममें दुर्बलता एवं दुराचार की प्रवृत्ति का संचार करे! इसीलिए उनकी स्पष्ट घोषणा है कि यदि हम राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की रक्षा करना चाहते हैं तो कविता का बहिष्कार करना होगा! कवियों को राज्य से निकाल देना होगा। उन्हें राज्य में वापस आने की भी छूट दी जा सकती है, बशर्ते कि वे यह सिद्ध कर सकें कि कविता न केवल आनन्ददायक है, अपितु राज्य और मानव-समाज के लिए हितकर भी है। पर ध्यान रहे वह कवियों को अपनी वकालत कविता में नहीं, अपितु गद्य में ही करने की अनुमति देता है, क्योंकि उसे भय है कि कविता में बोलने की छूट दी गयी, तो कदाचित् वे हमें फुसला लेने में सफल हो जायँ!

आक्षेपों पर पुनर्विचार—इस प्रकार प्लेटो अपनी घोर आदर्शवादिता के कारण कविता का पूर्णतः बहिष्कार कर देता है, किन्तु यदि उसके आक्षेपों पर पुनर्विचार किया जाय तो वे एकांगी एवं निरर्थक सिद्ध होंगे। सबसे पहले मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति की ही बात लीजिए—प्लेटो के विचार से प्रत्यक्ष या तत्त्व (Idea) सत्य है, पदार्थ या वस्तु मिथ्या है; इस दृष्टि से कवि सत्य का विज्ञापक सिद्ध होता है, क्योंकि वह वस्तु को विचार में पुनः रूपान्तरित कर देता है। वह व्यक्ति, नगर, उपवन, भवन आदि स्थूल पदार्थों को पदार्थ-रूप में नहीं, अपितु विचार-रूप में परिणत कर देता है। दूसरे शब्दों में यदि अध्यात्मलोक का विचार-जगत् चिरन्तन, शाश्वत एवं सत्य है तथा भौतिक लोक नाशवान् एवं मिथ्या है, तो कवि भौतिक लोक के नाशवान् पदार्थों को पुनः वैचारिक सत्ता में परिणत करता हुआ उन्हें शाश्वत रूप प्रदान कर देता है। कवि जिन वस्तुओं एवं पात्रों की रचना करता है, वे अमर होते हैं, अतः कहना चाहिए कि वह मिथ्या जगत् को सत्य में पुनः परिणत कर देता है। गणित का

नियम है कि दो निषेधात्मक तथ्य एक विधेयात्मक तथ्य में परिणत हो जाते हैं (Two negatives make one positive)—नियम के अनुसार भी 'मिथ्या अनुकृति = सत्यकृति' कही जा सकती है। अतः उसका पहला आक्षेप भ्रामक एवं असंगत सिद्ध होता है।

दूसरे आक्षेप के अनुसार कवि अमौलिक एवं अज्ञानी है, क्योंकि वह सांसारिक वस्तुओं के अनुसार ही वर्णन करता है तथा उन वस्तुओं का शास्त्रीय (technical) ज्ञान भी उसे नहीं होता। उदाहरण के लिए जूता बनाने की कला से अभिज्ञ न होते हुए भी वह जूतों का वर्णन अपनी रचना में कर देता है अतः वह अज्ञानी है। पर प्लेटो महोदय भूल गये कि यदि वह जूता बनाने की कला भी जानता होता, तो उससे उसकी रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि कविता में इसका कोई उपयोग होना कठिन था और यदि वह अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए इसका उपयोग चेष्टापूर्वक करता भी, तो उससे उसकी रचना कविता न बनकर शास्त्र बन जाती। वस्तुतः इस विद्या का ज्ञान मोचियों के लिए ही अपेक्षित है—कवियों के लिए नहीं। कला और शास्त्र के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, अतः कलाकार से शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा करना अनुचित है।

तीसरे और चौथे आक्षेपों के अनुसार कविता अनुपयोगी, दुर्बलता की पोषक एवं अनाचार की प्रचारक है, इसलिये वह त्याज्य है। यहाँ हम सबसे पहले यही पूछते हैं कि 'उपयोगिता' क्या है? किसी वस्तु को उपयोगी बताने की कसौटी क्या है? क्या रोटी, वस्त्र और मकान उपयोगी हैं? यदि हैं तो क्यों? इनके उत्तर में कदाचित् कहा जाय कि ये पदार्थ व्यक्ति के जीवन की रक्षा करते हैं—पर प्लेटो के विचार से तो व्यक्ति का जीवन भी नाशवान है और ये वस्तुएँ भी नाशवान् हैं, अतः सब मिथ्या हैं। जब सब जीवन जगत् मिथ्या ही है तो उन्हें बचाने का अर्थ होगा मिथ्या की रक्षा करना और सत्य को नष्ट करना!

शायद उपयोगिता की कसौटी यह बताई जाय कि जो वस्तु मानव-समाज को सुख पहुँचाती है, वह उपयोगी है। पर सुख की क्या कसौटी है? एक व्यक्ति किसी के बाग से चुराकर आम खाता है—उससे उसे सुख मिलता है, तो क्या हम कहेंगे कि चुराकर आम खाना उपयोगी है? कदाचित् यहाँ कहा जाय कि चोरी करना अनैतिकता है इसलिए उचित नहीं। दूसरे शब्दों में, ऐसा कार्य जो अनैतिक न होते हुए भी किसी को या समूह को सुख पहुँचाये, तो उपयोगी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कविता को देखा जाय तो वह भी कम उपयोगी सिद्ध न होगी। कविता के लिये अनैतिकता का होना आवश्यक नहीं है—वह सारे समाज को आनन्द पहुँचाती है, अतः उसे उपयोगी कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो जहाँ दूसरी वस्तुएँ अप्रत्यक्ष रूप से निम्नकोटि का सुख (ऐन्द्रिक आनन्द) पहुँचाती हैं वहाँ कविता उच्च कोटि का बौद्धिक आनन्द प्रत्यक्ष रूप में पहुँचाती है।

यह कहना भी अनुचित है कि भावनाएँ सदा व्यक्ति को दुर्बल एवं कुमार्गी ही बनाती हैं। यदि युद्ध-भूमि में प्राणों का बलिदान करने वाले सिपाही में राष्ट्र-प्रेम एवं

कर्त्तव्य-परायणता की भावना न हो तो वह क्यों आत्म-त्याग करेगा? कोरी बुद्धि एवं शुष्क विचार हमें किसी भी भले-बुरे कार्य से विमुख तो कर सकते है, पर किसी भी महान् कार्य में प्रवृत्त नहीं कर पाते। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब तक हमारे विचार, चाहे वे कितने ही उच्च एवं उदात्त क्यों न हों, हमारी भावनाओं के अंग नहीं बन जाते या यों कहिए कि वे भावानुभूति में परिणत नहीं हो जाते, तब तक उन्हें क्रियान्वित करना कठिन होता है। मानसिक प्रवृत्तियों का क्रम यह है—बुद्धि > भावना > क्रिया। यदि हम अपने जीवन से भावना को बिल्कुल निकाल दें—यद्यपि यह असंभव है—तो हम सर्वथा गतिहीन एवं कर्मशून्य हो जाएँगें। अतः प्लेटो का यह सन्देह अनावश्यक था कि कविता के कारण होने वाले प्रत्येक भावोद्वेलन से व्यक्ति दुर्बल एवं दुराचारी बनता है। हाँ, निम्न कोटि की वासना-प्रधान कुछ कविताओं पर भले ही यह बात लागू होती हो।

कविता प्रत्यक्ष रूप में नीति-नियमों एवं सदाचार की शिक्षा नहीं देती, पर अप्रत्यक्ष रूप में यह जैसा गंभीर प्रभाव उत्पन्न करती है, वैसा किसी अन्य साधन से संभव नहीं। इसीलिए अनेक बार दार्शनिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारों के प्रतिपादन के लिए कविता का माध्यम अपनाया गया है। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु जैसे कवियों ने वैचारिक क्रांति में जो सफलता प्राप्त की, उसका श्रेय उनकी काव्य-कला को ही है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों ने काव्य को 'क्रान्तिसम्मित उपदेश' मानकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि कविता नीति और सदाचार की शिक्षा भी अप्रत्यक्ष

ऐसी स्थिति में कविता सचमुच अपने उच्च सिंहासन से लुढ़ककर बाजार की गंदी गलियों में-- कूड़े के ढेर पर आसीन हो जाती है! दुर्भाग्य से प्लेटो भी ऐसे ही वातावरण में जी रहा था। और यह सच है कि जब-जब कविता वासना से उन्मत्त, क्षुद्र व्यक्तियों अथवा प्रतिभा-शून्य नपुंसकों के हाथों में पड़ जाती है; तब-तब वह कला प्रदर्शन के स्थान पर नग्न होकर भोंडा नाच करने अथवा अस्पष्ट, बेसुरे एवं कर्कश स्वर में गाने के लिए विवश होती है! ऐसी स्थिति में समाज कविता को उपेक्षित या निर्वासित कर देने के लिए भी प्रस्तुत हो तो स्वाभाविक है।

कविता की बुराई करते हुए भी उसकी प्रकृति एवं प्रक्रिया के बारे में प्लेटो ने जो संकेत दिये थे, वे अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो उसने कविता को अनुकृति बताकर काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, जो परवर्ती युग में विकसित होकर काव्य-समीक्षा का आधार बना। दूसरे, उसने काव्यानुभूति का स्वरूप आनन्ददायक एवं उसका आधार भावोद्वेलन को स्वीकार करते हुए आस्वादान-प्रक्रिया के आधारभूत सूत्रों की स्थापना की। इस दृष्टि से प्लेटो की स्थापनाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के बहुत निकट पड़ती है, क्योंकि दोनों ही काव्यानुभूति को भावोद्वेलन के द्वारा आनन्दानुभूति की उपलब्धि मानते हैं। फिर भी अपने दृष्टिकोण की एकांगिता एवं अपने युग के काव्य की दूषित प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण वह कविता को निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टि से नहीं देख सका। सच पूछा जाय तो वह मूलतः काव्य-मीमांसक नहीं, दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ था, उसका सर्वोच्च लक्ष्य अपने सपनों के आदर्श गणराज्य की प्रतिष्ठा करना था—ऐसी स्थिति में उनके हाथों यदि कविता का अपमान हुआ तो क्या आश्चर्य! साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जब-जब कवि अपने उदात्त लक्ष्य से च्युत होकर वासना के कर्दम में लिप्त होता है, तब-तब उसकी वही गति होती है, जो प्लेटो के द्वारा हुई! ऐसी स्थिति में किसे दोष दिया जाय!

: सोलह :

अरस्तू के काव्य-सिद्धांत

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान् अरस्तू (३७४ ई० पू०—३२२ ई० पू०) का स्थान इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें यदि पाश्चात्य विद्याओं का आदि आचार्य भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। वे एक ओर प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे तो दूसरी ओर विश्व-विजेता सिकन्दर महान् के गुरु होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने अपने जीवन में लगभग चार सौ ग्रन्थों की रचना की जिनमें तर्क-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक विषयों की सार-गर्भित विवेचना मिलती है। उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार "काव्य-शास्त्र" (Poetics) एवं "भाषण-शास्त्र" (Rhetorics) में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनके प्रमुख काव्य-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

अनुकृति सिद्धान्त

अरस्तू का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनुकृति-सिद्धान्त' है। वे अनुकृति को ही विभिन्न कलाओं—जिनमें काव्य-कला भी सम्मिलित है—का मूलाधार मानते हैं। यदि भारतीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अरस्तू के विचार से काव्य की आत्मा 'अनुकृति' है। उन्होंने इस अनुकृति के माध्यम, विषय और विधान का विस्तार से विचार किया है। यद्यपि सभी कलाओं का मूल तत्त्व अनुकृति ही है, किन्तु उन सबके माध्यम आदि के पारस्परिक अन्तर के कारण ही वे एक दूसरी से पृथक् की जाती हैं, अतः काव्य के विशिष्ट अध्ययन के लिए उसके माध्यम आदि का ज्ञान अपेक्षित है।

(१) **काव्य में अनुकृति का माध्यम**—जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में केवल लय का, उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्य-कला में अनुकृति के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है। यह भाषा गद्य या पद्य—दोनों में किसी भी रूप में प्रयुक्त हो सकती है। सामान्यतः लोग इस अनुकृति के तत्व को भूलकर केवल छन्द को ही कविता का प्रमुख लक्षण मान लेते हैं, किन्तु अरस्तू ने इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"'it is the way with people to talk on 'poet' to the name of a metre, and talk of elegiac-poets,

and elegiac thinking that they call them poets not by reason of the imitative nature of their work but indiscriminately by reason of the metre of their writing. Even if a theory of medicine or physical philosophy be put forth in a metrical form it is usual to describe the writer in this way....' अर्थात् 'प्रायः लोग 'छन्द' के साथ 'कवि' शब्द इस तरह जोड़ देते हैं, और शोक-गीति-रचयिताओं की चर्चा इस प्रकार करते हैं मानों वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही आधार पर, निर्विवेक रूप से कविपद के अधिकारी हों। यदि चिकित्सा-शास्त्र या भौतिक-दर्शन का कोई भी सिद्धान्त छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो उसके भी प्रस्तुत-कर्ता को प्रथानुसार कवि कहा जायगा।' वस्तुतः अरस्तू के विचार में साहित्य को भौतिक-शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्त्व छन्द नहीं अपितु 'अनुकृति' है तथा उस अनुकृति के लिए छन्द ही माध्यम हो—ऐसा आवश्यक नहीं. भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माध्यम बन सकता है।

(२) **अनुकरण के विषय**—काव्य के क्रिया-कलापों की अनुकृति प्रस्तुत होती है और इन क्रिया-कलापों के प्रतिनिधि होते हैं—मनुष्य। इन मनुष्यों को भी दो वर्गों में बांटा जा सकता है—अच्छे और बुरे। यह विभाजन मुख्यतः नैतिक आचरण पर आधारित है तथा नैतिक आचरण के विभेदक लक्षण हैं—सद्वृत्ति और दुर्वृत्ति। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के कार्य प्रस्तुत होते हैं या हीनतर या फिर यथावत रूप में। यह भेद चित्रकारी, नृत्य, संगीत आदि में भी मिलता है। काव्य के त्रासदी और कामदी—दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है, जबकि त्रासदी का लक्ष्य है भव्यतर चित्रण करना। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्य में मानवीय क्रिया-कलापों का अनुकरण होता है।

(३) **अनुकृति की विधि**—काव्य के विभिन्न रूपों में अनुकृत विषय एवं उसके माध्यम की समानता होते हुए भी उनमें परस्पर विधि या शैली का अन्तर विद्यमान रहता है। अरस्तू ने सामान्यतः तीन शैलियों का उल्लेख किया है—(१) जहां कवि कहीं अपने विषय का वर्णन करता है तथा कहीं अपने पात्रों के मुंह से कुछ कहलवा देता है। उदाहरण के लिए होमर का काव्य देखा जा सकता है। (२) प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे। (३) कवि स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करे। अरस्तू के इस वर्गीकरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि पहली शैली प्रबन्धात्मक है, जिसमें कवि तथा विभिन्न पात्र प्रसंगानुसार कुछ कह सकते हैं। दूसरी आत्माभिव्यंजनात्मक है, जिसमें स्वयं कवि या कोई एक पात्र ही आदि से लेकर अन्त तक सारी विषय-वस्तु प्रस्तुत करता है। तीसरी नाट्य शैली है, जिसमें सभी पात्र वक्ता हो सकते हैं, जबकि कवि को मौन हो जाना पड़ता है।

(४) **काव्य में अनुकृति का महत्व**—अरस्तू ने अनुकृति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया है कि उनके विचार से काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति ही है। वे काव्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि कविता सामान्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है। इसमें से पहला कारण है—मानव की सहज स्वाभाविक अनुकरण की प्रवृत्ति। "अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में शैशवावस्था से ही विद्यमान रहती है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि वह जीवधारियों में सबसे अधिक अनुकरणशील होता है तथा आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है।" कविता की उत्पत्ति के दूसरे कारण के रूप में उसने सामंजस्य और लय की प्रवृत्ति का आख्यान किया है।

काव्य-सृष्टि के साथ-साथ काव्यास्वादन का रहस्य भी मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति में ही निहित है। अरस्तू के विचार से—"अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति को देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।" यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुकृति को देखकर हमें प्रसन्नता क्यों होती है? इनका उत्तर देते हुए अरस्तू ने बताया है कि ज्ञान के अर्जन से प्रत्येक व्यक्ति को प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। "अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उससे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुओं का अर्थ-ग्रहण करता हुआ सोचता है—"अरे, यह तो वह व्यक्ति है·· "

उपर्युक्त मान्यता के विपरीत कई बार हम यह भी देखते हैं कि जिस वस्तु को हमने पहले नहीं देखा, उसे भी देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि कलाजन्य आनन्द अनुकृति-जन्य आनन्द ही है। अरस्तू भी इसे स्वीकार करता हुआ कहता है कि "यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा—वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"

अनुकृति-सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा

अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त की परवर्ती विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। सबसे पूर्व तो अनेक विद्वानों ने अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त 'मीमेसिस' (**Mimesis**) शब्द की ही मीमांसा की। यद्यपि यह शब्द अरस्तू का अपना आविष्कार नहीं था, तथा यूनानी भाषा में यह बहुत पूर्व से प्रचलित था। काव्य के क्षेत्र में इसका प्रयोग अरस्तू से पूर्व प्लेटो भी कर चुके थे, किन्तु फिर भी आलोचकों का विचार है कि अरस्तू ने इसका प्रयोग प्लेटो से अधिक सूक्ष्म अर्थ में किया था। बूचर महोदय के विचारानुसार 'अनुकृति' का अर्थ सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन नहीं है। कलाकृति में मूल का पुनरुत्पादन नहीं होता,

अपितु जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है वैसा उत्पादन होता है। प्रो० गिलबर्ट मरे ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए बताया कि 'अनुकरण' शब्द में 'करण' या 'सृजन' विद्यमान है, अतः अनुकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। स्कॉट जेम्स ने अनुकरण को कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्यायवाची माना है। अस्तु, विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार 'अनुकरण' का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है, किन्तु हमारे विचार से 'अनुकरण' शब्द अपने-आपमें इतना स्पष्ट है कि स्पष्टीकरण का बहाना बनाकर वे विद्वान् अपनी-अपनी मान्यताओं को अरस्तू पर थोपने का प्रयत्न करते रहे हैं। यही कारण है कि इनके द्वारा नई व्याख्याएँ ही अधिक हुई हैं, स्पष्टीकरण नहीं।

अरस्तू के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके अनुकृति सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा करने का सफल प्रयास किया है। एक ओर उन्होंने 'मीमेसिस' (अनुकरण) शब्द की आवश्यकता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है— "मीमेसिस" का अर्थ 'इमीटेशन' के अर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी अन्तर्भाव हो सके, अतएव यह आक्षेप असंगत नहीं हो सकता कि अरस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं किया। जो अर्थ उन्होंने अनुकरण शब्द में भरना चाहा है, वह उसकी सामर्थ्य के बाहर है।'—तो दूसरी ओर उन्होंने उनके अर्थ-तत्त्व का अनुसंधान करते हुए कहा—"परन्तु शब्द को लेकर विवाद करना अधिक सार्थक नहीं होगा—विवेच्य विषय तो अर्थ है। यह सिद्ध है कि अनुकरण का अर्थ यथार्थ-मात्र नहीं है—वह पुनः सर्जन का पर्याय है और उसमें भाव-तत्व तथा कल्पना-तत्त्व का यथेष्ट अन्तर्भाव है, उसमें सर्जना और सर्जना के आनन्द की अस्वीकृति कदापि नहीं है।"

विरेचन सिद्धान्त

अरस्तू का कला सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त—विरेचन सिद्धान्त है। 'विरेचन' का अर्थ है, विचारों का निष्कासन या शुद्धि। मूलतः इस शब्द का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र से है, जिसमें रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि को विरेचन कहते हैं। अरस्तू से पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था, किन्तु साहित्य पर इसे लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला और काव्य पर यह आक्षेप लगाया था कि इससे हमारी दूषित वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एवं पुष्ट होती हैं—सम्भवतः इसी का खण्डन करने के लिए अरस्तू ने प्रतिपादित किया कि कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है—अतः वे समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं। संगीत के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा—"संगीत सुनते समय हम कार्य और आवेग को अभिव्यक्त करनेवाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं और न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति हाल

की दशा में आ जाते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से —ऐसे रागों के प्रभाव से, जो कि रहस्यात्मक आवेश को उद्‌बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति —प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदनशक्ति के अनुसार प्रायः सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।" (अरस्तू का काव्य-शास्त्र : भूमिका, पृ० ८६) इसी प्रकार त्रासदी के प्रसंग में भी अरस्तू ने लिखा कि करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि अरस्तू कलाओं का लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन मानते हैं।

अरस्तू-परवर्ती विद्वानों ने 'विरेचन' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके विभिन्न अर्थ किए हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अर्थ-परक अर्थ, (२) नीति-परक-अर्थ, (३) कला-परक-अर्थ। अर्थ-परक-अर्थ के अनुसार विरेचन का अर्थ है—वाह्य विकारों की उत्तेजना और उसके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शांति। नीति-परक-अर्थ है—मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का समन्वय या मन की शान्ति और परिष्कृति। विरेचन सिद्धान्त की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार से कलाजन्य आनन्द भी विरेचन की परिधि में आता है तो कुछ इसे अस्वीकार भी करते हैं। उनके विचार से 'विरेचन' केवल अभावात्मक (विकारों का अभाव मात्र) क्रिया है, परितोष या आनन्द का भाव उसकी सीमा से वाहर है किन्तु प्रो० बूचर ने इस प्रकार के तर्कों का खंडन करते हुए बताया है कि विरेचन के दो पक्ष हैं—एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन और तत्पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मनः-शान्ति उसका अभावात्मक पक्ष है, इसके उपरान्त कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। डा०नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए बूचर की मान्यता को अस्वीकार करते हुए लिखा है—"हमारा मत है कि विरेचन में कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है—समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय नहीं है, व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है। 'विरेचन' शब्द से मन की वह विशदता ही अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने, "अन्तर्वृत्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विरेचन' की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। हमारी दृष्टि में इस मतभेद का मूल कारण यह है कि विरेचन एक अपूर्ण एवं सीमित सिद्धान्त है, जो केवल दुखान्त रचनाओं पर ही लागू

होता है, किन्तु अरस्तू के व्याख्याता इसे परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। काव्य और कलाओं द्वारा हमारी सभी प्रकार की भावनाओं की उद्दीप्ति और अभिव्यक्ति होती है जबकि विरेचन का सम्बन्ध केवल 'विकृत' या 'अशुद्ध' भावनाओं से ही है। अशुद्ध एवं कलुषित भावों के रेचन से मन के आनन्द प्राप्त करने की बात मानी जा सकती है, किन्तु पवित्र एवं शुद्ध भावों के रेचन के संबंध में क्या कहा जायगा। अवश्य ही इस प्रसंग में विरेचन की बात नहीं कही जा सकती। अस्तु, इस एकांगी सिद्धान्त को सर्वांगीण रूप देना उचित प्रतीत नहीं होता।

विरेचन-सिद्धान्त और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की तुलना भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद से भी की जा सकती है, क्योंकि दोनों आचार्य काव्यानन्द या रसास्वादन के मूल में वासनाओं के रेचन या उनकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि काव्य के माध्यम से पाठक की हृदयस्थित वासनाओं की उद्दीप्ति एवं अभिव्यक्ति होती हैं—उनका यह 'अभिव्यक्ति', शब्द यहाँ अरस्तू के रेचन का समानार्थक माना जा सकता है। इस दृष्टि से दोनों सिद्धान्त एक ही है किन्तु उनमें परस्पर थोड़ा अंतर भी है। जहाँ अरस्तू महोदय केवल दूषित वासनाओं के ही रेचन की बात कहते हैं, वहाँ अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। वे सभी प्रकार की वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात स्वीकार करते हैं। दूसरे अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त मुख्यतः करुणा एवं त्रास भाव की दृष्टि से प्रतिपादित है, जबकि अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद सभी भावों पर लागू होता है। अस्तु, इस थोड़े से अन्तर के होते हुए भी इन दोनों को पर्याप्त निकट माना जा सकता है।

काव्य-रूपों का विवेचन

अरस्तू ने विभिन्न काव्य-रूपों की भी विस्तार में मीमांसा करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही है। उन्होंने मुख्यतः काव्य के पाँच रूप माने हैं—(१) महाकाव्य, (२) त्रासदी, (३) कामदी, (४) रौद्र स्तोत्र, (५) गीत काव्य। इनमें से उन्होंने प्रथम तीन को ही महत्त्वपूर्ण माना है, शेष की चर्चा गौण रूप से की है। महाकाव्य को उन्होंने 'उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति' मानते हुए उसकी अनेक विशेषताएँ बताई है, जिनमें से कुछ ये है—(१) महाकाव्य काव्य का एक भेद है। (२) इसमें एक ही समय में घटित होनेवाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। (३) इसमें उच्चकोटि के पात्रों का चित्रण होता है। (४) इसका आकार विपुल होता है। (५) इनमें एक ही छन्द का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने महाकाव्य के चार मूल तत्वों पर प्रकाश डाला है—कथावस्तु, चरित्र, विचार-तत्त्व और पदावली। महाकाव्य के कथानक में सामान्यतः ये विशेषताएँ होती हैं—(क) वह प्रख्यात होता है। (ख) उसका क्षेत्र विस्तृत होता है। (ग) महाकाव्य का कथानक विस्तृत होते हुए

भी किसी एक विशेष कार्य या घटना से सुसम्बद्ध होना चाहिए। (घ) उसमें पूर्वापर क्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल आदि के गुण भी होने चाहिए।

महाकाव्य के पात्रों के सम्बन्ध में अरस्तू की सम्मति यह है कि उनका भद्र, वैभवशाली, यशस्वी, कुलीन, सहज मानव-गुणों से विभूषित, एवं उदात्त होना अपेक्षित है। इसी प्रकार उन्होंने उसकी शैली में गरिमा और प्रसाद की आवश्यकता बताई है। अस्तु, वस्तु, पात्र, शैली सभी की दृष्टि से महाकाव्य एक आदर्श रचना होती है। अरस्तू की यह धारणा भारतीय आचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' की भूमिका में सिद्ध किया है—कथानक की ऐतिहासिकता, क्षेत्र की व्यापकता, कार्य की एकता, प्रबन्ध की सुव्यवस्था आदि की दृष्टि से अरस्तू एवं भारतीय आचार्यों के महाकाव्य, सम्बन्धी लक्षण परस्पर अभिन्न है। हाँ इतना अवश्य है कि अरस्तू की दृष्टि महाकाव्य के बाह्य तत्त्वों पर ही अधिक रही—वे उसके भावतत्त्व व सूक्ष्मता तक नहीं पहुँच सके जबकि भारतीय विद्वानों ने ऐसा किया है।

नाटक के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने उसके मुख्यतः दो भेद निर्धारित किए हैं—(१) त्रासदी और (२) कामदी। इन दोनों का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। त्रासदी (**Tragedy**) की परिभाषा करते हुए उन्होंने बताया है कि इसमें किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति होती है। इसका माध्यम विभिन्न रूपों में प्रयुक्त अलंकार भाषा होती है। यह वर्णनात्मक न होकर अभिनयात्मक होती है तथा इसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है। त्रासदी के मुख्यतः ये छः अंग माने गए हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से भी कथानक, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्त्व अनुकरण के विषय हैं जबकि दृश्य-विधान माध्यम है और पद-रचना तथा गीत उसकी शैली है।

कामदी (**Comedy**) को अरस्तू ने त्रासदी से हलकी मानते हुए लिखा है कि कामदी का लक्ष्य मनुष्य के हीन रूप का चित्रण करना होता है जबकि त्रासदी में उसका भव्य रूप प्रस्तुत किया जाता है। कामदी का मूल भाव भी हास्य होता है। उसकी विषय-वस्तु के आधार के रूप में किसी ऐसे दोष या चारित्रिक विकृति को ग्रहण किया जाता है, जो कि दर्शकों के मन में हास्य का संचार कर सके। अतः दोष अधिक गम्भीर नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह हास्य की सृष्टि न करके किसी ऐसे गम्भीर भाव की उद्दीप्ति कर देगा, जो कि कामदी के अनुकूल न हो। इन भेदों के अतिरिक्त तात्विक दृष्टि से कामदी और त्रासदी में कोई गहरा अन्तर नहीं है।

उपसंहार

ऊपर विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अरस्तू के प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अन्त में हम कह सकते हैं कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू के सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार्य न होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ उनका अनुकृति-

सिद्धान्त कला की मूलभूत प्रकृति का परिचय देता है, वहाँ विरेचन से पाठक की आनन्दानुभूति का रहस्य प्रकट होता है। किन्तु साथ ही इनसे कला व काव्य के सम्बन्ध में भ्रांति का प्रचार होता है। अनुकृति-सिद्धान्त कला की सर्जनता व मौलिकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है, तो विरेचन सिद्धान्त उसे मन एवं विकारों की शुद्धि करनेवाला सिद्ध कर देता है। ये दोनों ही सिद्धान्त कला को अभावात्मक रूप दे देते हैं। यदि पहले से कोई वस्तु विद्यमान न हो तो कलाकार अनुकृति किसकी करेगा—और पाठक के मन में पहले से मन या विकार न हों तो कला किसका विरेचन करेगी! खैर, अरस्तू ने जिस युग के लिए ये सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे, उस युग के लिए ठीक थे, किन्तु आज इन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करना कठिन है! हमारे विचार में अरस्तू के 'अनुकृति' के स्थान पर 'अनुभूति' और 'विरेचन' के स्थान पर 'अभिव्यक्ति' को रखना आधुनिक मान्यताओं के अधिक अनुकूल होगा। वैसे कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने अरस्तू के इन शब्दों को इस तरह से खींचने का प्रयास किया है कि इनका अर्थ क्रमशः अनुभूति और अभिव्यक्ति हो जाय। अरस्तू के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके विचारों को नये सौन्दर्य से विभूषित करते हुए लिखा है—"वह अनुकृति नहीं है...परन्तु यह तो अरस्तू भी नहीं कहते। पहले तो 'अनुकृति' शब्द के विषय में भी विद्वानों को यह आपत्ति है कि अरस्तू के 'मीमेसिस' शब्द का अर्थ अनुकरण नहीं है, परन्तु यदि इस शब्द को सदोष मान भी लिया जाये, तो भी उनका आशय तो साधु है। यह निर्विवाद है कि वे काव्य को वस्तु का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण या पुनः सृजन ही मानते हैं, स्थूल प्रतिरूपण नहीं।" अतः हमें मानना चाहिए कि अरस्तू के सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से भले ही दोषपूर्ण हों—उनका आशय तो ठीक ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि अरस्तू का 'साधु आशय' अरस्तू के ही शब्दों में अभिव्यक्त हो पाता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि आज यह शंका की जा सकती है कि कहीं यह साधु आश्रय, स्वयं अरस्तू का न होकर उनके साधु व्याख्याताओं का ही न हो।

:: सत्रह ::

लोंजाइनस का औदात्य विवेचन

यूनान के साहित्य-चिन्तकों की परम्परा में लोंजाइनस (Longinus) का गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी एक छोटी-रचना उपलब्ध है—On the Sublime ('औदात्य' पर विचार) जो कि अनेक शताब्दियों तक अज्ञात एवं अप्रकाशित रही। आधुनिक काल के विद्वानों को इसके अस्तित्व का पता सर्वप्रथम १५५४ ई० में चला तथा तदनन्तर १६५२ में इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ जिससे इसका प्रचलन योरप के विभिन्न भागों में हुआ। स्वयं लोंजाइनस के जीवन-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, कुछ उन्हें पहली शताब्दी का कोई अप्रसिद्ध लेखक मानते हैं, तो दूसरे उन्हें तीसरी शताब्दी के सुप्रसिद्ध लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि महारानी जेनोबिया का मन्त्री था तथा जिसने अपनी स्वामि-भक्ति की प्रेरणा से आत्मोत्सर्ग कर दिया था। हमारे विचार से लोंजाइनस का उदात्त चरित्र उन्हें 'औदात्य' ग्रन्थ का रचयिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, अतः हम भी उन्हें तीसरी शताब्दी के महान् लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करें तो अनुचित न होगा।

'औदात्य' स्वरूप-मीमांसा—'औदात्य' (Sublime) ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य औदात्य सिद्धान्त ही है जिसकी विवेचना विस्तार से की गई है। सबसे पहला प्रश्न उठता है—औदात्य क्या है। इसका समाधान करते हुए लोंजाइनस ने अनेक बातें कही हैं—(१) औदात्य अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता का नाम है...। (२) अभिव्यक्ति की यह उच्चता (उदात्तता) श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, वरन् उसे पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। (३) किसी वस्तु पर विश्वास करें या नहीं, यह अपने वश में है, पर औदात्य अपनी प्रबल एवं दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को अनायास ही बहा ले जाता है। (४) किसी भी सर्जना के शिल्प; उसकी सुस्पष्ट व्याख्या और तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो अंशों से नहीं, अपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्प-विधान से धीरे-धीरे होता है, जबकि उदात्त विचार यदि अवसर के अनुकूल हो तो एकाएक विद्युत की भांति चमककर समूची विषय-वस्तु को प्रकाशित कर देता है तथा वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक क्षण में ही प्रकट कर देता है।

यदि उपर्युक्त कथनों का विश्लेषण करें तो औदात्य के अनेक लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(क) औदात्य को अभिव्यक्ति की उच्चता से सम्बन्धित किया गया है,

इसका अर्थ है कि वह शैली का कोई विशेष गुण है। (ख) दूसरे उद्धरण से ज्ञात होता है कि औदात्य तर्क का समाधान नहीं करता, अपितु वह श्रोता को अभिभूत कर लेता है, इसका तात्पर्य हुआ कि वह बौद्धिक तत्त्व न होकर भावोत्पादक गुण है, क्योंकि इसी स्थिति में वह श्रोता को बहा सकेगा। (ग) तीसरे कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि औदात्य श्रोता को बलात् बहा ले जाता है अर्थात् वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है। (घ) चौथे कथन के अनुसार औदात्य एक ऐसा विचार है, जो कि अवसरानुकूल हो रचना में एकाएक चमत्कार की भाँति स्फुरित होता है।

सच पूछें तो ये लक्षण परस्पर-विरोधी दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि एक स्थान पर औदात्य को शैली का गुण कहा गया है, तो दूसरे स्थान पर उसे भावावेग एवं तीसरे पर उसे चामत्कारिक विचार बताया गया है। ऐसी स्थिति में औदात्य को शैली से सम्बन्धित मानें या भाव अथवा विचार से? इसका उत्तर जैसा कि लोंजाइनस की अन्य स्थापनाओं से स्पष्ट होता है, यही है कि औदात्य एक भाव भी है, विचार भी और शैली भी! औदात्य को यहाँ इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है कि उसकी सत्ता रचना के वस्तु पक्ष से लेकर शैली पक्ष तक—सर्वत्र व्यापक दिखाई देती है। इतना ही नहीं, लोंजाइनस के विचार से तो यह केवल कला का ही नहीं कलाकार का भी गुण है—जब कलाकार के व्यक्तित्व में औदात्य होता है तो वह उदात्त विषय, उदात्त भाव एवं उदात्त विचारों को अपनाता है, परिणामस्वरूप उसकी शैली में भी औदात्य का संचार हो जाता है तथा अन्त में यही औदात्य अपने सुसमन्वित रूप में प्रकट होकर श्रोता या पाठक की आत्मा को झंकृत कर देता है—जिसे हम 'चमत्कार' या 'आनन्द' कहते हैं। इस धारणा का यही स्पष्टीकरण परवर्ती विवेचन से होता है।

औदात्य का मूल आधार—औदात्य का मूल आधार क्या है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर ही आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से किया जा सकता है? वह सहज है या अभ्यास पर निर्भर है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है। उसके विचार से औदात्य न तो सर्वथा प्रतिभा-सापेक्ष्य है और न ही पूर्णतः अभ्यास-सापेक्ष्य है। वे औदात्य की मूल प्रेरक शक्ति प्रतिभा को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि नियमों के ज्ञान एवं अभ्यास के द्वारा प्रतिभ ज्ञान का नियमन अपेक्षित है। जिस प्रकार मूल भावों को यदि सर्वथा स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वे व्यक्ति को भटकाकर सर्वनाश की ओर ले जा सकते हैं, अतः उन पर बुद्धि का नियंत्रण अपेक्षित है, उसी प्रकार औदात्य के लिए भी प्रतिभा के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि अलंकारों या शब्दाडम्बर के ज्ञान से औदात्य की उपलब्धि हो सकती है। वस्तुतः औदात्य का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रवृत्ति नहीं है, अपितु उसके पीछे संपूर्ण व्यक्तित्व की झलक होती है। केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से हलका छिछोरा हो सकता है, उसकी वासनाएँ अपरिष्कृत एवं

प्रवृत्तियाँ क्षुद्र भी हो सकती हैं—ऐसी स्थिति में सबसे औदात्य की आशा कैसे की जा सकती है ! इसी प्रकार एक सुपठित विद्वान् महान् शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी स्वार्थी, अहंवादी एवं दंभी हो सकता है, अतः उससे भी औदात्य सर्जना संभव नहीं। वस्तुतः औदात्य का स्रष्टा तो उदात्त व्यक्तित्व ही हो सकता है। एक महान् प्रतिभाशाली, उच्च विद्वान् एवं यशस्वी चरित्रवान् व्यक्ति ही उदात्त का उद्घोषक हो सकता है। लोंजाइनस के शब्दों में—*Sublimity is, so to say, the image of greatness* **of soul .....true eloquence can be found only in those whose spirit is generous and aspiring. For those whose whole lives are wasted in paltry and liberal thoughts and habits cannot possibly produce any work worthy of the lasting reverence of mankind. It is only** *natural that their words be full of sublimity whose thoughts are* **full of majesty."** अर्थात् 'औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।...सच्चा औदात्य केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। जिनका सारा जीवन तुच्छ एवं संकीर्ण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है, वे सम्भवतः कभी भी मानवता के लिए कोई स्थायी महत्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नहीं होते। सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण हैं, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं।'

इस प्रकार औदात्य का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, केवल अध्ययन और केवल भाषाभ्यास से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से है। लोंजाइनस की यह धारणा उन्हें साहित्य-चिन्तन की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी प्रमाणित करती है। इससे पूर्व कदाचित् किसी भी अन्य आलोचक ने साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था जितना कि यहाँ किया गया है। इस दृष्टि से उन्हें साहित्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का मूल प्रवर्तक कहा जा सकता है।

औदात्य के पांच स्रोत—यद्यपि औदात्य का मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्व की ही महानता में निहित है, फिर भी स्पष्टता के लिए वस्तुगत दृष्टि से औदात्य के पांच ऐसे स्रोतों की भी स्थापना की गई है जिनके द्वारा किसी भी कृति में औदात्य का संचार होता है। वे पांच स्रोत क्रमशः ये हैं।

(१) उदात्त विचार—काव्यगत औदात्य के स्रोतों के अन्तर्गत सर्वप्रथम उदात्त विचार (grandeur of thought) को लिया गया है। यहाँ यही उदात्त व्यक्तित्व या महान् आत्माओं का प्रतिबिम्ब होता है, अतः इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। व्यक्ति में औदात्य नैसर्गिक ही होता है, पर फिर भी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों से उसका सम्यक् विकास या पोषण सम्भव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त विचार महान् व्यक्तियों की वाणी से स्वतः ध्वनित होते हैं, अतः इसके लिए किसी विशेष बाह्य प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। जिस लेखक या वक्ता

का निजी व्यक्तित्व उदात्त होगा, वह स्वतः ही उदात्त विषयों, महान् कार्यों एवं महापुरुषों के चित्रण में रुचि लेता हुआ उनका चित्रण उदात्त रूपों में कर सकेगा। महापुरुषों एवं महान् क्रिया-कलापों के सम्यक् चित्रण के लिए उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तादात्म्य केवल उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा सम्भव है, जो स्वयं उदात्त व्यक्तित्व के धनी हों। इसका उदाहरण 'ईलियद' के रचयिता होमर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से दिया जा सकता है। होमर की महान धारणाएँ ही उनकी रचनाओं में उस महानता का संचार कर पायी हैं, जिसे दूसरे शब्द में 'औदात्य' कहा गया है।

(२) भावों का उदात्त रूप में चित्रण—काव्यगत औदात्य का दूसरा स्रोत उदात्त भावों का चित्रण है। लोंजाइनस से पूर्व कतिपय लेखकों ने या तो भाव और औदात्य की पृथकता को स्वीकार नहीं किया या फिर उन्होंने भावावेग को औदात्य में बाधक माना है। पर लोंजाइनस ने इस मत का तीव्र रूप में खंडन करते हुए भावावेग को औदात्य का सहायक माना है। "मेरे विचार में जो आवेग उन्माद उत्साह एवं उद्दामता से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।" (ग्रीक साहित्य-शास्त्र, पृ० १६१)

भावावेग की अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों के अन्तर्गत लोंजाइनस ने सर्वाधिक महत्व परिस्थितियों (भारतीय शब्दावली में आलम्बन एवं उद्दीपन के संयोग) को दिया है। उपयुक्त परिस्थितियों का चयन एवं उनका सम्यक् रूप में संघटन ही भावावेग का जनक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भावों के चित्रण में विस्तारण एवं बिम्ब-विधान से भी सहायता ली जा सकती है।

(३) अलंकार नियोजन—औदात्य का तीसरा स्रोत अलंकारों का नियोजन है। अलंकारों के सम्बन्ध में लोंजाइनस का विचार है कि उनके सम्यक् प्रयोग से औदात्य की सिद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रसंग में उन्होंने अलंकारों के विभिन्न भेदों का भी निरूपण किया है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—१. शपथोक्ति २. प्रश्नालंकार ३. विपर्यय ४. व्यतिक्रम ५. पुनरावृत्ति ६. प्रत्यक्षीकरण ७. संचयन ८. सार ९. रूपपरिवर्तन १०. पर्यायोक्ति ११. रूपक १२. उपमा आदि। (विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—'ग्रीक साहित्य-शास्त्र')

लोंजाइनस के मतानुसार अलंकारों का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चले। दूसरे शब्दों में, अलंकार भावावेग की प्रेरणा से सहज स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होने चाहिए, उसी स्थिति में वे प्रभावशाली एवं औदात्य के उत्पादक सिद्ध होते हैं।

(४) उत्कृष्ट भाषा—औदात्य का चतुर्थ स्रोत उत्कृष्ट भाषा है। यह तथ्य है कि उपयुक्त एवं प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को आकर्षित करती हुई उसे भावाभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दावली, जिसमें भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा,

ओज, शक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों की अभिव्यक्ति हो, प्रत्येक वक्ता या लेखक के लिए स्पृहणीय है। 'सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का आलोक करते हैं, किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि गरिमामयी भाषा ही प्रत्येक अवसर के अनुकूल है, क्योंकि छोटी-मोटी बातों को भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुँह पर पूरे आकारवाला मुखौटा लगा देने के समान है।'

उत्कृष्ट भाषा की विभिन्न विशेषताओं के अन्तर्गत सुन्दर शब्दावली के अतिरिक्त ओज, प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमाओं एवं अत्युक्तियों का उचित प्रयोग आदि को स्थान दिया गया है। वस्तुतः भाषा के विभिन्न गुणों की उपयोगिता औदात्य की सृष्टि में है—यदि उसके ये गुण इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं तो स्वीकार्य हैं, अन्यथा नहीं।

(५) **गरिमामय रचना-विधान**—औदात्य का पाँचवाँ स्रोत गरिमामय रचना-विधान है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सामंजस्य (**Harmony**) को स्थान दिया गया है। सामंजस्य का एक प्रकार शब्दों को विशेष क्रम में व्यवस्थित करता है। सामंजस्य में एक ऐसी शक्ति होती है जिससे कि वह न केवल श्रोता को प्रसन्नता प्रदान करता है, अपितु एक सीमा तक वह उसे द्रवित करके वहा भी ले जाता है। बाँसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंजस्य भी हमारे मन से विभिन्न भावों को उद्वेलित करता हुआ औदात्य की अनुभूति प्रदान करता है। विभिन्न छन्दों का आविष्कार सामंजस्य की स्थापना के लिए ही हुआ है।

इस प्रकार किसी भी रचना में औदात्य की सृष्टि उदात्त विचार, उदात्त भावावेग, सम्यक् अलंकार-नियोजन, उत्कृष्ट भाषा एवं रचनागत सामंजस्य के द्वारा ही होती है। पर ये सभी तो साधन मात्र हैं—इनका साध्य तो केवल औदात्य ही है, अतः इनकी सफलता एवं महत्ता उसी सीमा तक है, जहाँ तक वे साध्य की उपलब्धि में सफल सिद्ध होते हैं।

औदात्य के बाधक तत्व—औदात्य के साधक तत्वों की भाँति उसके बाधक तत्त्व भी हैं, जिन्हें 'दोष' कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मुख्यतः भाषा की अव्यवस्था, प्रवाह-शून्यता, विषय से अधिक लय की प्रमुखता, उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता, अस्पष्टता, आडम्बरपूर्ण शैली, अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्य पदों का प्रयोग, कर्णकटु भाषा, विषयानुरूप शब्दावली का अभाव आदि दोषों को लिया गया है। इन दोषों से रचना का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

लोंजाइनस : पुनर्मूल्यांकन—भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए लोंजाइनस के विचारों का पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो हमारे विचार में उसकी निम्नांकित उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ स्वीकार की जा सकती हैं।

(क) उपलब्धियाँ—जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, ग्रीक साहित्य-चिन्तन-परम्परा में लोंजाइनस पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने काव्य-वस्तु एवं काव्य-गरिमा का सम्बन्ध रचयिता के व्यक्तित्व से स्थापित करते हुए उसे महत्त्व प्रदान किया।

उनसे पूर्व अरस्तू ने अनुकृति सिद्धान्त द्वारा प्रकृति को ही काव्य का आधार स्रोत मानते हुए कवि के निजी व्यक्तित्व को सर्वथा उपेक्षित एवं तिरोहित कर दिया था। अनुकृति सिद्धान्त के अनुसार कला प्रकृति की अनुकृति है, इसका तात्पर्य है कि कला का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य की ही अनुकृति-मात्र है, ऐसी स्थिति में कलाकार का क्या योगदान है? केवल अनुकृति प्रस्तुत कर देना तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। लोंजाइनस ने अनुकृति सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा करते हुए कवि के व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं रचना की मौलिकता का प्रतिपादन किया, जो उसकी नूतन दृष्टि का प्रमाण है। वस्तुतः जहाँ प्लेटो घोर आदर्शवादी था, अरस्तू वस्तुवादी या यथार्थवादी, वहाँ लोंजाइनस स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) था। पाश्चात्य परम्परा में कवि व्यक्तित्व को महत्व प्रदान करने के कारण ही लोंजाइनस को पहला रोमांटिक आलोचक माना जाता है जो ठीक ही है।

दूसरे, औदात्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भी सर्वप्रथम लोंजाइनस द्वारा हुई। आगे चलकर विभिन्न पाश्चात्य आलोचकों एवं कला-मीमांसकों ने कला के दो प्रमुख तत्त्वों के अन्तर्गत सौन्दर्य एवं औदात्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है, तथा काण्ट, हीगल, कैरिट, सैतायन प्रभृति सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इनकी विस्तार से मीमांसा की है। वस्तुतः आधुनिक कला-समीक्षा में अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त की अपेक्षा औदात्य को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है।

तीसरे, लोंजाइनस का दृष्टिकोण जितना गम्भीर है, उनका विवेचन-विश्लेषण भी उतना ही सूक्ष्म एवं व्यापक है। वे औदात्य को एक व्यापक रूप प्रदान करते हैं कि उसके अन्तर्गत कवि का व्यक्तित्व विचार-तत्त्व, भाव-तत्त्व, शैली का अलंकरण, शब्दचयन, रचना के गुण-दोष आदि सभी प्रमुख तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं। वे रचना की सर्जन-प्रक्रिया से लेकर उसकी आस्वादन-प्रक्रिया तक की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या सर्वथा नूतन, मौलिक एवं प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि लोंजाइनस महान् चिन्तक एवं व्याख्याता थे।

भारतीय दृष्टि से लोंजाइनस का भावावेगों को महत्त्व देते हुए अलंकार, गुण-दोष आदि की मीमांसा करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि लोंजाइनस ने मूलतः औदात्य को लक्ष्य माना है, पर भावावेगों के उद्वेलन एवं तज्जन्य आनन्द की बात भी उन्होंने स्थान-स्थान पर की है जो भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। इसी प्रकार उनका रीति विवेचन भी भारतीय अलंकार एवं रीति सिद्धान्त के अनुकूल है।

(ख) सीमाएँ—जहाँ औदात्य की व्यापक रूप में प्रतिष्ठा करते हुए लोंजाइनस ने उसका सम्बन्ध विचार, भाव, शैली आदि सभी पक्षों से स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वहाँ उनकी यह सीमा भी है कि ऐसा करते समय उन्होंने औदात्य के मूल क्षेत्र को भुला दिया है। औदात्य का मूल अर्थ है—उच्च विचार या ऐसी भावनाएँ जो त्याग, आत्मबलिदान या परोपकार की प्रेरक हों। इस दृष्टि से औदात्य एक

चारित्रिक या नैतिक तत्त्व है, उसका कला से 'सीधा सम्बन्ध नहीं है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों में या महात्मा गाँधी के जीवन-चरित्र में पर्याप्त मात्रा में औदात्य के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि वे कलात्मक सौन्दर्य से युक्त हों। कला का प्राथमिक गुण सौन्दर्य है, औदात्य उसका अतिरिक्त गुण है। फिर कला या काव्य में औदात्य को स्थान औदात्य के कारण नहीं, अपितु उसके काव्य-सौन्दर्य के कारण ही मिलता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए कबीर की निम्नांकित उक्ति को लीजिए—

माली आवत देखि कै कलियाँ करें पुकार।
फूले-फूले चुनि लिए कालि हमारी बार।

यहाँ जिस उदात्त विचार की अभिव्यक्ति की गई है, वह अपने कलात्मक सौन्दर्य के कारण ही स्वीकार्य है, अन्यथा नहीं। यदि कोई अभिधा में लिख दे— 'हम सबको मरना है अतः संसार का मोह छोड़ो'—तो यह वाक्य काव्य की कोटि में नहीं आयेगा, यद्यपि इसमें औदात्य है।

वस्तुतः औदात्य केवल शान्त रसात्मक काव्य का ही प्रमुख गुण है, अन्य प्रकार के काव्य में उसका होना आवश्यक नहीं है। औदात्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने में, उसे अधिक गम्भीरता प्रदान करने में सहायक तो सिद्ध हो सकता है, पर वह उसका स्थानापन्न या जनक नहीं बन सकता। औदात्य की इस दुर्बलता को जान हुए लौंजाइनस ने इसका सम्बन्ध भाव, अलंकार, गुण आदि से स्थापित कर दिय पर यह सम्बन्ध अस्वाभाविक एवं असंगत है। अलंकार, वस्तुतः औदात्य नहीं, सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द के स्रोत हैं, अन्यथा रीतिकाल के शृङ्गारी कवि का परकीयावर्णन औदात्यशून्य होता हुआ भी हमें प्रभावित नहीं करता। लगता लौंजाइनस महोदय ने औदात्य का विस्तार करते-करते उसके मूल रूप को ही बद डाला - वह उनके निबन्ध में, 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची बन गया। अस्तु, हम औदात के इस व्यापक रूप को जो कि आरोपित एवं अनुपयुक्त है— अस्वीकार करते हुए भं उसे महानता के आधार रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कला और काव्य का मू गुण तो सौन्दर्य या आकर्षण ही है, पर यदि उनमें साथ ही औदात्य भी हो तो व कला से महान् कला और काव्य से महान् काव्य बन जाता है, इसमें कोई सन्दे नहीं।

: अठारह :

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजना के प्रवर्तक क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०) का जन्म इटली में हुआ था। वे न केवल एक कला-मीमांसक अपितु एक गम्भीर तत्ववेत्ता दार्शनिक भी थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौन्दर्य-शास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-दर्शन आदि अनेक विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। सन् १९०० में उन्होंने एक गोष्ठी में एक लेख—'**Fundamental thesis of an aesthetic as science of expression and general linguistics**' पढ़ा था। यही लेख उनके अभिव्यंजनावादी विचारों का मूलाधार बना। आगे चलकर उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लेख और लिखे तथा एक लेख 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी दिया—इन सबसे उनकी प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। उनका कला-सम्बन्धी सर्व-प्रमुख ग्रन्थ 'एस्थेटिक' (सौन्दर्य-शास्त्र) के नाम से प्रकाशित हुआ, जो अब विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है।

क्रोचे का आधारभूत दर्शन

क्रोचे के विचार प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल से प्रभावित हैं, किन्तु उसने उनका अन्धानुकरण नहीं किया। जहाँ वह एक ओर हीगल का अनुयायी है, वहाँ दूसरी ओर वह उनका कठोर आलोचक भी है। हीगल ने पक्ष और विपक्ष के समन्वित रूप को ही सत्य मानते हुए एक नवीन दर्शन-पद्धति का आविष्कार किया था। अपनी इसी पद्धति के अनुसार हीगल ने कला को पक्ष, धर्म को विपक्ष और दर्शन को दोनों का समन्वित पक्ष माना है। क्रोचे ने हीगल की मूल-पद्धति का तो समर्थन किया, किन्तु कला के सम्बन्ध में उसके प्रयोग को उसने त्रुटिपूर्ण बताया। उसके मत से धर्म को कला का विपक्षी या विरोधी मानना अनुचित है।

हीगल ने आत्मा की भी त्रयात्मक स्थिति निर्धारित करते हुए उसकी तीन प्रवृत्तियाँ मानी थीं—(१) ज्ञानात्मक प्रवृत्ति (पक्ष),(२) व्यावहारिक प्रवृत्ति (विपक्ष) और (३) आध्यात्मिक प्रवृत्ति (समन्वय)। क्रोचे ने इसके स्थान पर केवल दो ही मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानीं—ज्ञानात्मक और व्यावहारिक। इनमें भी प्रत्येक के उन्होंने दो-दो भेद किये—ज्ञानात्मक के दो भेद (१) सहजानुभूति और (२) विचारात्मक क्रिया। व्यावहारिक प्रवृत्ति के दो भेद—(१) आर्थिक या निजी योग-क्षेम से सम्बद्ध

और (२) नैतिक। इस प्रकार क्रोचे के मत से सभी प्रवृत्तियों को उपर्युक्त चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कला और काव्य का सम्बन्ध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति—सहजानुभूति से है। अतः आगे इसी पर विशेष रूप से विचार किया जायेगा।

सहजानुभूति

सहजानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए क्रोचे ने 'नेति-नेति' के मार्ग को अपनाते हुए उसे बौद्धिक ज्ञान, प्रत्यक्षीकरण, संवेदना आदि से भिन्न बताया है। सहजानुभूति और बौद्धिक ज्ञान की पृथकता का प्रतिपादन करते हुए वह लिखते हैं "पहली बात जो मस्तिष्क में अच्छी तरह बिठा लेनी चाहिए, वह यह है कि सहजानुभूत ज्ञान को किसी स्वामी की आवश्यकता नहीं होती। उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आँखें उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफी तेज हैं।" क्रोचे इस बात को स्वीकार करता है कि कई बार सहजानुभूति में भी बौद्धिक ज्ञान समन्वित हो जाता है, या बौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है, किन्तु फिर भी वह दोनों है, या बौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है, किन्तु फिर भी वह दोनों को एक नहीं मानता।

सहजानुभूति और प्रत्यक्ष-बोध के अन्तर को स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने बताया है कि सहजानुभूति में यथार्थ और अयथार्थ का भेद नहीं होता जबकि प्रत्यक्ष-बोध में ऐसा होता है। इसी प्रकार सहजानुभूति ऐन्द्रिक संवेदनों से भी भिन्न है। सहजानुभूति साहचर्य या स्मृति व संस्कारों से भी भिन्न है। इस प्रकार सहजानुभूति को एक अच्छी पहेली बना देने के बाद क्रोचे ने अपने पाठकों पर दया करते हुए अन्त में रहस्योद्घाटन किया है कि सहजानुभूति अभिव्यंजना है। सामान्यतः सहजानुभूति और अभिव्यंजना—दो पृथक-पृथक क्रियाएँ प्रतीत होती हैं, किन्तु क्रोचे महोदय ऐसा नहीं मानते। उनके शब्दों में—"सहजानुभूति की क्रिया उसी अंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। यदि इस उक्ति में विरोधाभास प्रतीत हो तो इसका कारण यह है कि साधारणतः 'अभिव्यंजना' का प्रयोग एक अत्यन्त सीमित अर्थ में किया गया है। इसे प्रायः 'शाब्दिक अभिव्यंजना' तक ही सीमित रखा जाता है। किन्तु अशाब्दिक अभिव्यंजनाएं भी होती हैं, जैसे रेखा, रंग और ध्वनि की अभिव्यंजनाएँ। इन सब तक हमारी मान्यता का विस्तार होना चाहिए।...व्यक्ति का प्रकाशन चित्र, शब्द, संगीत या अन्य किसी भी रूप में क्यों न हो, सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढूंढ़ ही लेती है; वस्तुतः अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है।" इन पंक्तियों को पढ़कर सामान्यतः अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—एक ओर तो यह कहा गया है कि सहजानुभूति और अभिव्यंजना अभिन्न हैं, दूसरी ओर प्रतिपादित किया गया है कि सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढूंढ़ लेती है, जिसका तात्पर्य है कि ढूंढ़नेवाला और जिसे ढूंढ़ा जाता है दोनों भिन्न हैं। प्रश्न है जब तक सहजानुभूति उस रूप को नहीं ढूंढ़ पाती, तब तक उसे

क्या कहेंगे ? वस्तुतः सहजानुभूति और अभिव्यंजना को लेकर क्रोचे ने यहाँ परस्पर विरोधी बातें कही हैं। क्रोचे अधिक से अधिक यह कहता था कि सहजानुभूति अनुभूति की प्रारम्भिक अवस्था है जबकि अभिव्यंजना उसकी अन्तिम दशा, किन्तु उसने दोनों को सर्वथा अभिन्न घोषित करके अपनी बात को अविश्वसनीय रूप दे डाला। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि एक ही वस्तु के दो रूपों को भी अभिन्न नहीं कह सकते—दूध और दही एक ही वस्तु के दो रूप है, फिर भी दही को दूध कहना भ्रमोत्पादक ही सिद्ध होगा। क्रोचे का प्रयास भी लगभग ऐसा ही है।

सहजानुभूति और कला

अभी हम एक पहेली भली-भाँति सुलझा ही नहीं पाये थे कि एक दूसरी पहेली और प्रस्तुत हो गई है। पहले हमने बताया था कि सहजानुभूति अभिव्यंजना होती है—यहाँ इस धारणा पर प्रकाश डाला जायगा कि सहजानुभूति कला होती है। क्रोचे के विचार से प्रत्येक सहजानुभूति अभिव्यंजना है, और प्रत्येक अभिव्यंजना कला है, अतः यदि प्रत्येक सहजानुभूति को कला कह दिया जाय तो यह तनिक भी अनुचित नहीं होगा। शायद कुछ लोग कहना चाहेंगे कि "प्रत्येक सहजानुभूति नहीं, कुछ विशिष्ट प्रकार की ही सहजानुभूति कला होती है" किन्तु क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में हमें यह सोचना पड़ेगा कि कदाचित सहजानुभूति का सम्बन्ध केवल कलाकार से ही होता होगा, पर यह बात भी क्रोचे के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं। वह कवि मे और साधारण व्यक्ति में गुण या प्रतिभा का कोई अन्तर नहीं मानता। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति और कलाकार में—दोनों में सहजानुभूति होती है। किन्तु दोनों की ही सहजानुभूति की मात्रा में अन्तर होता है। कलाकार की सहजानुभूति अधिक व्यापक एवं विस्तृत होती है—किन्तु इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति का कोई महत्व ही नहीं है। जिस प्रकार जीव-शास्त्री के लिये चाहे मेंढक का शरीर हो या आदमी का—दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, वैसे ही क्रोचे के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सहजानुभूति का महत्व है। वह लिखता है—किसी को यह जानकर अचरज नहीं होता कि पत्थर का एक टुकड़ा जिन रासायनिक तत्वों मे निर्मित है, वे ही एक उन्नत पर्वत में भी विद्यमान हैं। छोटे-छोटे जानवरों और बड़े-बड़े जानवरों की शरीर क्रिया भी एक ही होती है और न ही पत्थरों के लिए पर्वतों से भिन्न, कोई विशिष्ट रासायनिक सिद्धान्त होता है। उसी प्रकार यह बात भी सम्भव नहीं कि छोटी सहजानुभूति का एक शास्त्र हो और बड़ी सहजानुभूति का कोई अन्य, या एक शास्त्र सामान्य सहजानुभूति का हो और दूसरा कलात्मक सहजानुभूति का हो। सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, जो सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का है।

कला के सम्बन्ध में प्रचलित इस प्राचीन विचार का कि कला प्रकृति की अनुकृति है क्रोचे खण्डन करता है। उसके शब्दों में—"यदि प्रकृति की अनुकृति से यह समझा जाय कि कला प्राकृतिक वस्तुओं की यांत्रिक प्रतिकृतियाँ, लगभग पूर्ण प्रति-

लिपियाँ उपस्थित करती है और उनके समक्ष उसी प्रकार का भाव उद्वेलन होता है जैसा कि प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा, तो निःसंदेह यह स्थापना गलत है। मोम की रंगीन पुतलियाँ जो जीवन की नकल करती हैं, जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं, सौन्दर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं।" अस्तु, उसके विचार से प्रकृति की अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है—अर्थात् प्रकृति के स्वरूप का जो बिम्ब हमारे मस्तिष्क में सहजानुभूति के रूप में उदित होता है, वही कला है।

कला में विषय और शैली की अभिन्नता

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक ही मानता है; सहजानुभूति और अभिव्यंजना—दोनों उसके लिए एक हैं, अतः इसी आधार पर वह कला की विषय-वस्तु और उसकी शैली को भी अभिन्न घोषित करता है। उसकी मान्यता है कि जब कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें वह नया कुछ भी नहीं जोड़ता—शैली के द्वारा वह विषय को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु विषय ही शैली के रूप में अवतरित होता है। विषय और शैली में कोई अन्तर नहीं है, इसे स्पष्ट करते हुए उसने एक उदाहरण दिया है—"...**Like water put into filter; which appears the same and yet different on the other side**" अर्थात् जैसे फिल्टर में से पानी छानने पर, किंचित् अन्तर के साथ वही पुनः प्रकट होता है, ठीक वैसे ही अभिव्यक्त विषय (अर्थात् विषय = शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है।

कला की अखण्डता

क्रोचे जिस प्रकार विषय और शैली में अभिन्नता मानता है, वैसे ही कला के अन्य तत्त्वों एवं विभिन्न अंगों में भी वह एकता का ही प्रतिपादन करता है। उसके विचार से कला-कृति का विभिन्न तत्त्वों या विभिन्न अंगों के रूप में विश्लेषण करना सर्वथा अनुचित है; "कलाकृति को हम खण्डों में, कविता को दृश्यों, उपाख्यान, उपमाओं व वाक्यों में, एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठभूमि, पुरोभूमि आदि में विभक्त करते हैं—यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है, इस प्रकार वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देता है, जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों, मांस-पेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देना है।" इसी प्रकार वह कला की विभिन्न श्रेणियों व कोटियों के निर्धारण का भी विरोध करता है। उसके विचार से जैसे सौन्दर्य की कोटियाँ नहीं हो सकतीं वैसे ही कला की भी कोटियाँ नहीं हो सकतीं।

कलाकार के साधन

कला-सृजन की प्रक्रिया या विश्लेषण करते हुए क्रोचे कलाकार के लिए चार साधन अपेक्षित मानते हैं। सर्वप्रथम तो उसके पास सजग इच्छा-शक्ति होनी चाहिए, जिससे कि वह सदैव कला-सृजन के लिए प्रस्तुत रहे। दूसरे, उसे कला के माध्यम का

ज्ञान होना चाहिए—कला-सृजन के विभिन्न साधनों के उपयोग के ज्ञान एवं अभ्यास के अभाव में कला की सृष्टि में बाधा उपस्थित हो जायगी। तीसरे, कला-सृजन के आरम्भ में कलाकार के लिए चिंतन अपेक्षित है। जब उसे एकाएक किसी कलात्मक विचार की अनुभूति होती है तो वह उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। वह कई प्रकार से अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है। अन्त में एकाएक मार्ग खुल जाता है और अभिव्यक्ति का प्रवाह चल पड़ता है। इसी से कलाकार को कला-सम्बन्धी आनंद की अनुभूति होती है। चौथे, कलाकार में पर्याप्त कल्पना-शक्ति होनी चाहिए जिससे कि वह कलात्मक बिम्बों की आयोजना कर सके।

सामाजिक के लिए अपेक्षित क्षमताएँ

कलाकार की भाँति, सामाजिक के लिए कुछ क्षमताएँ अपेक्षित हैं। क्रोचे के विचार से सामाजिक को कला का आस्वाद प्राप्त करने के लिए एक तो कलाकार के दृष्टिकोण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए जिससे कि वह कला-कृति के माध्यम से कलाकार द्वारा अनुभूत कलात्मक बिम्बों को पुनः अनुभूत कर सके। इसके लिए उसे जल्दबाजी, सुस्ती, उत्तेजना, बौद्धिक मान्यताओं, व्यक्तिगत सद्भावनाओं से मुक्त होकर कला का अध्ययन या मनन करना चाहिए।

सामाजिक जिस शक्ति से कला के सौन्दर्यात्मक बिम्बों का पुनः उत्पादन करता है उसे 'रुचि' कहते हैं। यह रुचि कलाकार की प्रतिभा का ही दूसरा नाम है। सामाजिक कलाकार के स्तर तक उठ पाने में और उसकी आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने में जितना अधिक सफल हो सकेगा, उतना ही वह कला का अधिक आस्वादन कर सकेगा। वस्तुतः उसके विचार से कलात्मक आस्वादन की चरमावस्था के समय सामाजिक और कलाकार के बीच आत्मिक तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

क्रोचे के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह कला-सृजन और कला-आस्वादन की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं मानता। दोनों क्रियाएं एक ही क्रिया के दो रूप हैं, या यों कहिए कि जिस मार्ग पर चलकर कलाकार जिस मंजिल पर पहुँचता है; उसी मंजिल पर सामाजिक भी उसी मार्ग से पहुँचता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि कलाकार की क्षमताएँ अधिक होती हैं, अतः वह नेतृत्व करता है, जबकि सामाजिक कलाकार का अनुकरण करता है। यह अन्तर भी हम अपनी ओर से बता रहे हैं, क्रोचे शायद इसे भी न मानता रहा हो।

सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति

क्रोचे के विचार से सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में गहरा अन्तर है। सामान्य अनुभूति के मुख्य दो रूप हैं—(१) सुख और (२) दुःख। सुख दुःख का सम्बन्ध हमारी चार मूलभूत प्रवृत्तियों में से आर्थिक-व्यावहारिक से है जबकि कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से है। अतः सामान्य अनुभूति का क्षेत्र ही कला से पृथक् सिद्ध होता है—ऐसी स्थिति में उसे कलाजन्य अनुभूति के समकक्ष कैसे रखा

जा सकता है। फिर भी क्रोचे सामान्य प्रसन्नता और कलाजन्य आनन्द में गुणों का नहीं—मात्रा का अन्तर मानता है। नाटक के नायक को विभिन्न परिस्थितियों में देखकर हम हँसते हैं, आँसू बहाते हैं। और आनन्द अनुभव करते हैं—किन्तु हमारा यह हँसना, आँसू बहाना या आनन्द सामान्य सुख-दुःख से हलका होता है। सामान्य जीवन के सुख-दुःख वास्तविक एवं गम्भीर होते हैं जब कि कलाजन्य सुख-दुःख अवास्तविक—काल्पनिक—एवं ऊपरी होते हैं। अस्तु, क्रोचे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कलाजन्य अनुभूति सामान्य अनुभूति से भिन्न होती है।

क्रोचे के विचारों पर पुनर्विचार

क्रोचे के विभिन्न विचारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अब हम निजी दृष्टिकोण से उसकी विवेचना कर सकते हैं। क्रोचे की धारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला तीनों पर्यायवाची हैं।

२—कला में विषय और शैली की अभिन्नता रहती है।

३—कला का तात्त्विक या आंशिक विश्लेषण करना कला की हत्या करना है।

४—कला सृजन की प्रक्रिया और कला-आस्वादान की प्रक्रिया मूलतः एक ही है।

५—सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में मात्रा का अन्तर है।

उपर्युक्त धारणाओं के औचित्य पर क्रमशः विचार करते हुए हम सर्वप्रथम सहजानुभूति, अभिव्यंजना एवं कला की एकता पर विचार करते हैं। क्रोचे की तर्क-पद्धति की यह विशेषता है कि वह किन्हीं दो तत्त्वों या पदार्थों की किसी एक समानता के आधार पर ही दोनों को अभिन्न घोषित कर देता है। उदाहरण के लिए यदि हम क्रोचे की तर्क-पद्धति का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गाय, भैंस और कौआ तीनों एक ही हैं—कैसे? देखिए—गाय और भैंस दोनों दूध देती हैं, अतः यह निश्चित हुआ गाय = भैंस = कौआ। ठीक ऐसा ही फार्मूला यह है; सहजानुभूति = अभिव्यंजना = कला। एक इटालियन विद्वान् ने क्रोचे के इस फार्मूले की भर्त्सना करते हुए लिखा था कि क्रोचे को कला के समानार्थक शब्द ढूँढने का इतना चाव था कि वह उचित और अनुचित को भी भूल जाता था। उक्त विद्वान् की यह उक्ति हमें भी ठीक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार कला में विषय और शैली की अभिन्नता की बात है। एक ही विषय को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी जा सकती हैं, किन्तु उनकी शैली में अन्तर रहेगा। तुलसी ने राम के ही जीवन-चरित्र को लेकर 'रामचरित मानस' और 'कवितावली' की रचना की, किन्तु क्या दोनों में अन्तर नहीं है? यह ठीक है कि सदैव विषय के अनुरूप ही शैली का प्रयोग करना पड़ता है तथा दोनों में परस्पर गहरे समन्वय की अपेक्षा होती है किन्तु केवल इसी आधार पर दोनों को एक नहीं

कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो काव्य के विभिन्न रूपों के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द—उपन्यास, नाटक, गीति आदि निरर्थक हो जाते तथा इन सबकी शैली में कोई अन्तर न होता, विषय का ही अन्तर होता। किन्तु-स्थिति यह नहीं है, अतः क्रोचे की मान्यता को स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता।

क्रोचे का यह विचार कि कला का सात्विक या आंगिक रूप में विश्लेषण करने से वह प्राण-शून्य हो जाती है—डरावना होता हुआ भी सत्य नहीं है। यह विचार वस्तुतः एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा पर आश्रित है। किसी रचना का तात्विक विवेचन या विश्लेषण करने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके सचमुच टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। यह बात ऐसी है, जैसी कि चिकित्सा-विज्ञान की कक्षा में प्राध्यापक के यह कहने पर कि, "मानव-शरीर को हम अनेक तत्त्वों में बाँट सकते हैं—रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी···" कोई विद्यार्थी कहे कि —"नहीं साहब, ऐसा मत कीजिए, रक्त, मांस, हड्डी को अलग-अलग कर देंगे तो शरीर जीवित कैसे रहेगा।" जब हम 'गोदान या 'कामायनी' के विभिन्न तत्त्वों की विवेचना करते हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम कैंची लेकर पुस्तक के तत्त्वों को अलग-अलग कर देते हैं, अपितु केवल विवेचन-सुविधा के लिए ही अलग-अलग तत्त्वों की मीमांसा मौखिक रूप से की जाती है। जिस प्रकार 'आई स्पेशलिस्ट' को एक आँख दिखाने से वह आँख शरीर से अलग नहीं हो जाती, ठीक वैसे ही कला के विभिन्न अंगों की विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा करने से वे अंग कला से पृथक् नहीं हो जाते। अतः क्रोचे को यह केवल वहम था कि कला के विश्लेषण से उसकी मृत्यु हो जाती है। हाँ, यदि कला और कलाहीनता में भेद न कर सकने वाले किसी दार्शनिक के हाथ में वह पड़ जाय तब अवश्य ऐसा हो सकता है।

कला-सृजन की प्रक्रिया और कलास्वादन की प्रक्रिया को एक बताना भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भोजन पकाना और भोजन खाना—दोनों एक ही हों। साथ ही कवि की प्रतिभा को पाठक की रुचि का पर्याय बताना भी बिल्कुल विचित्र-सा लगता है। हमारी शेक्सपीयर के नाटकों में रुचि है, तो इसका तात्पर्य है कि हममें शेक्सपीयर बनने की प्रतिभा है, और यदि किसी को जैनेन्द्र के उपन्यास पसन्द है तो इसका मतलब है कि वह भी जैनेन्द्र जैसा उपन्यासकार बन सकता है। खैर, इसमें क्रोचे का दोष नहीं है; उसकी शैली ही ऐसी है, जिसे वह विषय से पृथक् नहीं कर पाता; फिर भी इस प्रसंग में उसने एक बात अवश्य महत्त्वपूर्ण कही है—वह यह कि पाठक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है। यह तथ्य रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण के भी अनुकूल है।

सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति के अन्तर के सम्बन्ध में क्रोचे ने परस्पर-विरोधी बातें कही है। एक ओर यदि उसने दोनों का क्षेत्र भिन्न माना है, तो दूसरी ओर उसने उनमें अन्तर गुणों का नहीं, मात्रा का माना है। कलाजन्य अनुभूति

को उसने लौकिक अनुभूति से हलका माना है। ऐसी स्थिति में हमारे लौकिक सुख-दुःख का हलका रूप कलाजन्य अनुभूति के समकक्ष सिद्ध होता है, जो ठीक नहीं।

अस्तु, इस प्रकार से क्रोचे का अभिव्यंजनावाद विचारों की दृष्टि से विशुद्ध अभिव्यंजनावाद है। वह अपनी बात को इस ढंग से कहता है कि पाठक पढ़कर चौंकता है, सोचता है, उलझता है और अन्त में वह जब तक स्वयं को या क्रोचे को अति बुद्धिमान नहीं मान लेता तब तक वह सुलझ नहीं पाता। क्रोचे की बेतुकी बातों से चिढ़कर एक बार 'Making of Literature' के रचयिता जेम्स महोदय ने लिखा था the artist about whom he is philosophizing exists no where but in his own mind"—अर्थात् जिस कलाकार (या कला ?) की क्रोचे व्याख्या कर रहा है, उसका निवास उसके दिमाग में ही है और कहीं नहीं !! क्रोचे के समकालीन और भी अनेक विद्वानों ने उसकी भर्त्सना की, किन्तु इससे उसका हित ही हुआ—क्योंकि 'बदनाम हुए तो क्या नाम नहीं हुआ !' और सचमुच यदि क्रोचे इससे थोड़ी भी भिन्न शैली अपनाता तो शायद उसका व्यापक प्रचार नहीं हो पाता।

क्रोचे की उपर्युक्त असंगतियों एवं त्रुटियों के बावजूद इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उसके प्रभाव के कारण कला और साहित्य को दार्शनिकता, बौद्धिकता, नैतिकता एवं उपयोगिता के नियन्त्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के बाह्य एवं आरोपित चामत्कारिक तत्त्वों की अपेक्षा अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति को बल मिला। अतः कला का लक्ष्य केवल कला या सौन्दर्य माननेवालों की दृष्टि से क्रोचे का महत्व अत्यधिक है—ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है।

o

: उन्नीस :

आई० ए० रिचर्ड्‌स के काव्य-सिद्धान्त

आधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में डॉ० आई० ए० रिचर्ड्‌स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में नूतन दृष्टिकोण का परिचय देते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। डॉ० रिचर्ड्‌स ने पहले मनोविज्ञान एवं अर्थविज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया था, अतः साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मनोविज्ञान व अर्थ-विज्ञान को अपनी स्थापनाओं से आधार के रूप में ग्रहण किया। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारे मन में पहले ही मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा होती है, या यों कहिए कि हम किसी पूर्व निश्चित मानदंड के आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। हम किसी वस्तु को अच्छी कह देते हैं और किसी को बुरी। प्रश्न है कि इस 'अच्छे होने' या 'बुरे होने' का मूलाधार क्या है? रिचर्ड्‌स ने इसी समस्या को उठाते हुए बताया है कि प्रायः लोग नैतिक दृष्टि से ही अच्छे बुरे का निर्णय कर डालते है, किन्तु स्वयं नैतिक दृष्टि का मूलाधार क्या है—इस पर किसी ने स्पष्ट रूप में विचार नहीं किया। अतः सबसे पहले 'अच्छे' और 'बुरे' की धारणा का मनोविज्ञान के आधार पर सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

डॉ० रिचर्ड्‌स के विचार से हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से है। जो वस्तु हमारे उद्वेगों को संतुष्ट करती है, उसी को सामान्यतः मूल्यवान् कहा जाता है। ये उद्वेग (Impulses) भी दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रवृत्ति-मूलक और (२) निवृत्ति-मूलक। उदाहरण के लिए प्रथम में आकांक्षाएँ आती हैं तो दूसरे वर्ग में घृणा, निर्वेद आदि को ले सकते हैं। इन उद्वेगों में परस्पर संघर्ष भी हो सकता है। सम्भव है, किसी एक उद्वेग की तुष्टि से दूसरे उद्वेग को ठेस पहुँचे। यदि हम अपना कीमती पेन किसी को दान कर दें तो हमारी उदारता की भावना तो तुष्ट होगी, किन्तु साथ ही हमारी अधिकार की भावना को ठेस भी लग सकती हैं। ऐसी स्थिति में हमारा प्रयास यह होता है कि हम अपने उद्वेगों को इस प्रकार शांत करें कि जिससे दूसरे उद्वेगों से विरोध न हो। इस लक्ष्य की पूर्ति

तभी हो सकती है, जबकि हम प्रमुख उद्वेगों को अधिक महत्त्व देते हुए गौण उद्वेगों की उपेक्षा करें। प्रश्न है—प्रमुख उद्वेग कौन से है और क्यों? जिन उद्वेगों की सन्तुष्टि करने पर अधिकाधिक उद्वेग तुष्ट होते हों तथा कम से कम उद्वेगों का विरोध होता हो, वही प्रमुख उद्वेग हैं। इन्हीं को अर्थशास्त्रियों ने मूलभूत आवश्यकताओं का नाम दिया है।

प्रेरणाओं की संतुष्टि में न केवल व्यक्ति की अपनी प्रवृत्तियां अपितु अन्य व्यक्तियों की प्रेरणाएँ भी बाधक बन सकती हैं। इससे व्यक्तियों में विरोध एवं संघर्ष का आरम्भ होता है। इसी विरोध एवं संघर्ष से बचने के लिए समाज में ऐसे नीति-नियमों का विकास हुआ है जिनमें बिना विरोध के ही अधिक से अधिक व्यक्तियों की संतुष्टि हो सके या उनका आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। अस्तु वह नियम जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों को बिना किसी पारस्परिक विरोध के उनकी प्रमुख प्रेरणाओं को तुष्ट करने का विधान करता है— वही सबसे अच्छा नियम है, उसी को हम नैतिक नियम कहते हैं। संक्षेप में 'नैतिकता' अच्छा या 'मूल्यवान्' का अर्थ है जो 'प्रेरणाओं की तुष्टि में सर्वाधिक सहायक हो।' स्वयं रिचर्ड्स से शब्दों में **Anything is valuable which will satisfy an appetency with our involving the frustration of some equal or more unimportant appetency in other words the only reason which can be given for not satisfying desire is that more important desires will thereby be thwarted: Thus morals become purely prudential and ethical codes merely the expression of the most general sceheme of expediency to which an individual or a race has attained,' (Principles of Literary Criticism Page 48)** अर्थात् कोई भी वस्तु जो किसी एक इच्छा को इस प्रकार शान्त करती है कि उसके समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा का अवरोध नहीं होता—मूल्यवान हैं। यहाँ दूसरे शब्दों में किसी इच्छा को यदि तुष्ट नहीं करने दिया जाता तो उसका केवल यही आधार हो सकता है कि वैसा करने से उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ कुण्ठित हो जाएगी। इसी प्रकार व्यक्ति या जाति के द्वारा अनुमोदित (इच्छा-पूर्ति की) प्राथमिकता पर आधारित सामान्य योजना की ही अभिव्यक्ति नैतिकता या नियमों के रूप में होती है।

मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य

मूल्य के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है—इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इसी सिद्धान्त को डा० रिचर्ड्स साहित्य पर भी लागू करते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सीधे नैतिकता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते है। इस सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को अधिक ध्यान से समझना होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनके विचार से समाज और धर्म के

सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं, अन्धविश्वासों आदि के पीछे मूलतः वही इच्छाओं की तुष्टि का लक्ष्य होता है। किन्तु फिर भी इनका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं आदि को सर्वत्र महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। यद्यपि प्रारम्भ में इनका विकास समाज की किसी अवस्था एवं परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार होता है, किन्तु समय के साथ-साथ वे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। ऐसी स्थिति में उन नियमों एवं प्रथाओं को भी बदल जाना चाहिए, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। परिस्थितियाँ जिस तेजी से बदलती हैं, उस तेजी से हमारे नैतिक आदर्श एवं नियम नहीं बदलते। परिणाम यह होता है कि हम युग से पिछड़ जाते हैं, हमारी आन्तरिक एवं बाह्य व्यवस्था में व्याघात तथा हमारे जीवन में असंतोष उत्पन्न होता है।

समाज को अव्यवस्था एवं असंतोष की इस प्रचण्ड आग से बचाने के लिए परम्परागत आदर्शों एवं मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्तन की गहरी आवश्यकता का अनुभव होता है। यह परिवर्तन कैसे संभव है? इसका उत्तर है 'अन्य (महान्) व्यक्तियों के मस्तिष्क (या विचारों) के प्रभाव से।'' कला और साहित्य के द्वारा ऐसे प्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं जिससे कि हम अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य समाज की मान्यताओं के संशोधन में योग देता है। उसके शब्दों में—''कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिर स्थायी बना देना होता है, जिन्हें वह सबसे अधिक मूल्यवान समझता है। ''कलाकार वह बिन्दु है, जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में—क्रम सामंजस्य लक्षित होता है जो अधिकांश लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर अन्तर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है।''

(पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा पृ० २६३)

प्रेषणीयता का सिद्धान्त

रिचर्ड्स का काव्य सम्बन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (a theory of communication) है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने बताया है, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक आधार एवं प्रेषणीयता—दोनों को आधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पूर्व हो चुका था, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं था। इसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यात्मक बातें प्रचलित थीं। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि प्रेषणीयता में कवि की अनुभूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे कि एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेब में चला जाता है। रिचर्ड्स ने इन धारणाओं का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में—*All that occurs is that, under certain conditions; separate minds have closely similar*

experiences,' अर्थात् प्रेपणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेप परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। यहां यह ध्यान देने की वात है कि रिचर्ड्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है—उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जव किसी वातावरण-विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेपणीयता कहते हैं। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेपणीयता है।

प्रेपणीयता के आधारभूत तथ्यों की मीमांसा करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने इसका श्रेय मुख्यतः कवि की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त और भी वहुत से कारण हैं। सामान्यतः (विपय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं अनुभूतियों की समानता आदि के कारण भी प्रेपणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जटिल विषयों में सफल प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक है कि सम्वन्धित व्यक्तियों के अतीत-कालीन संचित अनुभव (या कहिए—संस्कार) वहुत कुछ एक से हों। साथ ही किसी एक विषय की प्रेषणीयता पर इस वात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि रिचर्ड्स के विचार से विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निवन्धों में भावोद्दीप्ति का समन्वय नहीं होना चाहिए, अन्यथा वे अस्पष्ट हो जायेंगे।

कला के लिए प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी कला को प्रेषणीय वनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाय, क्योंकि कला में स्वाभाविकता का गुण तभी सम्भव है; जव कि कलाकार उसमें किसी प्रकार का वाह्य प्रयत्न न करे। अतः रिचर्ड्स महोदय ने एक ओर तो यह माना है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेप प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सही वात तो यह है कि यदि कलाकार तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः ही आ जायगी।" कलाकार जितना अधिक सामान्य रूप से कार्य करेगा, अपनी अनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतीकरण में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे।"

प्रेपणीयता का सिद्धान्त कला के इस महत्व की ओर भी संकेत करता है कि उसमें मानव जाति के अतीतकालीन अनुभव संचित हैं या यों कहिए कि "हमारे अतीतकालीन अनुभव के मूल्यांकन सम्वन्धी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है।" अतः कलाओं का महत्व कभी न्यून नहीं हो सकता।

काव्य की भाषा

काव्य में प्रेषणीयता का माध्यम मुख्यत. भाषा है, अतः रिचर्ड्स महोदय ने इसका भी सूक्ष्म विवेचन किया है। भाषा का उपयोग मुख्यतः अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Practical Criticism", में अर्थ के चार भेद किए हैं—(१) वाच्यार्थ (Sense), (२) भाव (feeling), (३) वक्ता की वाणीगत चेष्टा (tone), और (४) अभिप्राय (Intention)। इन चारों की क्रमशः रिचर्ड्स के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि सेन्स अर्थात् वाच्यार्थ में किसी वस्तु विशेष या किसी विषय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है। हम किसी वस्तु की सूचना इसलिए देते हैं कि उसके हमारे किसी न किसी भाव से सम्बन्ध होते हैं। केवल गणित जैसे कुछ विषयों को अपवाद-स्वरूप छोड़कर यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रयोग ही भावों की प्रेरणा से होता है। टोन या लहजे के द्वारा हमारा श्रोता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त होता है। किसी से सम्मानपूर्वक बात करते समय हमारा लहजा विनम्रता पूर्ण होगा तो किसी को डाँटते समय वह दूसरे रूप में होगा। रिचर्ड्स के शब्दों में "The tone of his utterance reflects awareness of this relation," अर्थात् उद्गारों का लहजा (वक्ता और श्रोता के पारस्परिक) सम्बन्ध का सूचक है। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा भेद अभिप्राय (Intention) है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति किसी प्रयोजन से कुछ कहता है, अतः इसका भी भाषा से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

भाषा से सामान्यत. उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ ही सूचित होते हैं, किन्तु विषय एवं परिस्थिति भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप—वाच्यार्थ (Sense) का अधिक प्रयोग होता है तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की अतिशयता होती है। फिर भी ये अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं—वे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी अधिक महत्ता होती है कि वहाँ वाच्यार्थ या सूक्ष्म तथ्य गौण हो जाते हैं। वहाँ तथ्य साधन होते हैं साध्य नहीं, अतः जो लोग केवल तथ्यों अथवा विचारों के आधार पर ही कविता का मूल्यांकन करते हैं, वे काव्य के साथ न्याय नहीं करते। ऐसे आलोचकों का विरोध करते हुए डॉ० रिचर्ड्स लिखते हैं—"The statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake. Hence to challenge their truth or to question whether they deserve serious attention as statements claiming their truth, is to mistake their function. The point is that many, if not most, of the statements in poetry are there as a means to the manipulation and expression of feelings and attitudes not as contribution to any body of doctrine of any type whatever." (Practical Criticism, page 148) अर्थात्

जब कविता में किसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति होती है तो वहाँ के भावों के प्रभाव के लिए होती हैं न कि स्वयं अपने के लिए। अतः उनकी सत्यता को ललकारना या उन्हें सत्य के प्रतिपादक मानकर उनकी गम्भीरता पर विचार करना, उनके मूल कार्य को गलत रूप देना। मूल बिन्दु यह है कि यदि अधिकतम नहीं तो अधिकांश विचार काव्य में भावों और दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति के निमित्त होते हैं—किसी सिद्धांत विशेष के प्रतिपादक के रूप में नहीं— वह सिद्धान्त चाहे कैसा ही क्यों न हो।"

अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप माने हैं- प्रथम, जहाँ अर्थ ही भाव का बोधक हो। द्वितीय, जहाँ अर्थ भाव की अनुभूति का सूचक हो। तृतीय, जहाँ प्रसंग-विशेष के कारण ही अर्थ हो पाया, फिर भी इससे अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्टता पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया

काव्यास्वादन या काव्य-प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेपण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे ६ अवस्थाओं में बाँटा है—(१) मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण, (२) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित विम्बों का ग्रहण, (३) स्वतन्त्र विम्बों का ग्रहण, (४) विभिन्न वस्तुओं का बोध, (५) भावानुभूति, (६) दृष्टिकोण से सामंजस्य।

इनमें से प्रत्येक अवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने बताया है कि सर्वप्रथम काव्य के पठन से उसके अक्षरों की छपाई, स्पष्टता शुद्धता आदि का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मुद्रित अक्षरों के ऐन्द्रियक बोध में कविता के वाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष का पर्याप्त महत्त्व होता है। विम्बों की स्वतन्त्र कल्पना के सम्बन्ध में उन्होंने एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है। उनके विचार से किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही बिम्ब उत्पन्न नहीं होंगे। सम्भव है कि एक पंक्ति को पढ़कर पचास पाठकों के मन में पचास प्रकार की मूर्तियाँ उदित हों। अतः काव्य में मूर्तिविधान का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। डॉ० रिचर्ड्स के विचार से मूर्ति-विधानजन्य अनुभूति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वे हैं, जिनके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। वे तत्त्व भाव-सम्बन्धी हैं।

विभिन्न शब्दों के अर्थ-बोध एवं विम्ब-ग्रहण से हमें काव्य की सूच्य वस्तु का या उसके अर्थ का बोध होता है। शिक्षा और अभ्यास के कारण ही हम सूच्य वस्तु का बोध कर पाते हैं। सूच्य वस्तु के वोध के फलस्वरूप भावों और भावात्मक दृष्टिकोणों में (attitudes) की अनुभूति होती है। काव्यानुभूति के अन्तिम तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग ये ही हैं। डॉ० रिचर्ड्स लिखते हैं—"Emotions are primarily signs of attitudes and owe their prominence in the

theory of art to this. For it is the attitudes evoked which are the all important parts of any experience Upon the texture and form of the attitudes involved its value depends." (Principles of Literary Criticism page 132) अर्थात् भाव दृष्टिकोण के चिह्न हैं तथा इसी कारण उनका कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों में बहुत महत्त्व है। किसी की अनुभूति का महत्त्व उसमें जागृत होनेवाले दृष्टिकोणों पर निर्भर है। दृष्टिकोणों के आयोजन और उनका रूप ही उनके मूल्यांकन का आधार है।" यहाँ 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग वस्तुतः भावना (Sentiment) के अर्थ में किया गया है, जिसे भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'स्थायी-भाव' कह सकते हैं। 'इमोशन' और 'एटीच्यूड' के बीच रिचर्ड्स ने वही सम्बन्ध माना है, जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है। अतः स्थायी भाव की उद्दीप्ति को ही काव्य का लक्ष्य मानना रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। किन्तु स्वयं स्थायी भाव की उद्दीप्ति का लक्ष्य क्या है—इसके उत्तर के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों एवं रिचर्ड्स के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय आचार्य रस या आनन्द की निष्पत्ति को ही लक्ष्य मानते हैं, जबकि रिचर्ड्स इसे सर्वथा गौण मानते हैं। उनके विचार में "It is not the intensity of the conscious experience, its thrill, its pleasure or its poignancy which gives its value, but the organisation of its impluses for freedom and fullness of life." अर्थात् अनुभूति की गहराई या इसकी उत्तेजना या इससे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता या इससे प्राप्त होने वाली वेदना—आदि पर इसका (काव्यानुभूति का) मूल्य निर्भर नहीं है। अपितु, इससे सम्पन्न होनेवाली आवेगों की व्यवस्था, जिससे कि जीवन में मुक्तावस्था एवं परिपूर्णता आती है, ही (मूल्य का) आधार है।

अस्तु, रिचर्ड्स महोदय काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे स्थायी आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। प्रसन्नता या आनन्द को काव्य का उद्देश्य मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्व

'रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का संक्षेप में अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उनकी अपने दृष्टिकोण से समीक्षा कर सकते हैं। सबसे पूर्व उनके मूल्य के मनोवैज्ञानिक आधार सम्बन्धी सिद्धान्त को ही लीजिए। उन्होंने किसी भी वस्तु या कार्य के मूल्य का आधार हमारी प्रमुख प्रेरणाओं, इच्छाओं या प्रवृत्तियों की तुष्टि को ही माना है। इस तुष्टि के लिए यह अपेक्षित है कि हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों में परस्पर ऐसा समन्वय हो कि जिससे एक की तुष्टि से दूसरों का विरोध न हो। साहित्य का मूल्यांकन वे इसी आधार पर करते हैं। कहने के लिए इसे रिचर्ड्स की बहुत बड़ी देन माना जा सकता है, किन्तु इसमें शब्दावली की जितनी नवीनता है, उतनी विचारों की नवीनता नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति ही सुख है, आनन्द है—यह तथ्य प्राचीन युग से ही हमें ज्ञात है, जिसे रिचर्ड्स ने नये शब्दों में प्रस्तुत किया है। किन्तु अपने इस सिद्धान्त को काव्य पर लागू करते समय वे यह स्पष्ट नहीं कर

पाये कि काव्य में "प्रमुख प्रवृत्तियों की व्यवस्था" की पहचान क्या है। सामान्यतः किसी भी काव्य के अध्ययन से दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं—एक जो उसके पढ़ने के साथ-साथ प्रसन्नतादायक प्रभाव, दूसरे, वे प्रभाव जो हमारे विचारों का परिष्कार करते हुए हमारे व्यक्तित्व के स्थायी अंग बन जाते हैं। रिचर्ड्स महोदय इनमें से प्रथम को गौण मानकर द्वितीय को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य से प्राप्त होने वाले तात्कालिक आनन्द के स्थान पर दृष्टिकोण के स्थायी परिष्कार को महत्त्व प्रदान करने का प्रयास नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसे व्यावहारिक समीक्षा का रूप कैसे दिया जाय, इस पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के स्वतन्त्र महत्त्व की दृष्टि से प्रतिपादित है, किन्तु इसका वे मूल्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर ऐसी संगति नहीं दिठाई जा सकी जिससे कि यह कहा जा सके कि ये दोनों एक ही व्यक्ति या एक दृष्टिकोण की देने हैं। मूल्य के मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त में जहाँ वे काव्य के वस्तु पक्ष को अधिक महत्ता प्रदान करते है, वहाँ प्रेषणीयता में उसके शैली-पक्ष को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है - अतः इन दोनों सिद्धान्तों में हमें सामंजस्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

काव्य की भाषा को उन्होंने अर्थ की दृष्टि से चार भेदों—वाच्यार्थ, भाव, चेष्टा (लहजा) और अभिप्राय में बाँटा है, किन्तु यह विभाजन वैज्ञानिक एवं सुसंगत नहीं है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है, आगे चलकर वे प्रतिपादित करते हैं कि हम अपनी 'बात का अभिप्राय' से कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'भाव की प्रेरणा' और 'बात का अभिप्राय' दोनों अलग-अलग नहीं माने जा सकते। वाणीगत चेष्टा (tone) को उन्होंने वक्ता और श्रोता के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित माना है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सामान्यतः एक ही वक्ता एक ही श्रोता से विभिन्न अवसरों पर विभिन्न लहजों में बात कर सकता है, जबकि उसका सम्बन्ध वही रहता है। पिता अपने पुत्र को कभी प्यार से कोमल स्वर में पुचकारता है तो कभी क्रोध में जोर से डाँटता भी है। यहाँ दोनों का सम्बन्ध वही है, किन्तु वक्ता की मनोदशा या भावदशा के परिणामस्वरूप ही उसका लहजा परिवर्तित हो जाता है। अतः लहजे (tone) का आधार सम्बन्ध न होकर भाव-दशा है। सही बात तो यह है कि रिचर्ड्स के भाव, लहजा और अभिप्राय—अर्थ के तीन भेद, भेद न होकर एक दूसरे के अंग हैं। अर्थो के इस वर्गीकरण की अपेक्षा भारतीय आचार्यो का वर्गीकरण—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना सम्बन्धी—अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है। किन्तु रिचर्ड्स महोदय इस वर्गीकरण से परिचित न होने के कारण लाभ नहीं उठा सके।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण में भी डॉ० रिचर्ड्स को अधिक सफलता नहीं मिली। उनके द्वारा ६ अवस्थाओं का निरूपण अत्यधिक जटिल एवं दुर्बोध है। फिर भी इतना अवश्य है कि उनके इस निरूपण में तथ्यों की वास्तविकता मिलती है। पहले हम किसी रचना में शब्दों को पढ़ते हैं, उनका अर्थ ग्रहण करते हैं,

उस अर्थ से सम्बन्धित वस्तु की कल्पना उदित होती है, उस कल्पना से संचारीभाव की अनुभूति होती है और उन संचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि या उद्दीप्ति होती है—इन्हीं तथ्यों को रिचर्ड्स ने ऐसे ऐसे शीर्षकों में प्रस्तुत किया है, जो कि नए पाठक को विचित्र से लगते हैं। जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, काव्यास्वादन की प्रक्रिया रस-सिद्धान्त की मान्यताओं से मिलती-जुलती है। किन्तु रस-सिद्धान्त में भाव की उद्दीप्ति के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है, जबकि रिचर्ड्स संचारी भावों और स्थायीभाव दोनों के लिए ही 'उद्दीप्ति' की ही बात कहते हैं। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स की यह भी एक विचित्र कल्पना है कि काव्य से प्राप्त होने वाला तात्कालिक आनन्द सर्वथा गौण है। यह मान्यता स्वयं उनके प्रेषणीयता के सिद्धान्त के ही विपरीत पड़ती है। प्रेषणीयता का प्रमुख लक्षण प्राप्त होने वाला आनन्द ही है। इस लक्षण के बिना प्रेषणीयता का निर्णय करना कठिन है, किन्तु रिचर्ड्स इसी लक्षण की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। साथ ही प्रवृत्तियों की तुष्टि का भी बोध रस-दशा या आनन्द की निष्पत्ति से ही होता है—किन्तु उन्होंने काव्य से पड़ने वाले स्थायी संस्कारों के आगे इस रस-दशा को हेय एवं उपेक्षणीय घोषित करके कला के लिए एक ऐसा मानदंड प्रस्तुत किया है, जो कि अव्यावहारिक है। अस्तु, हमारे विचार से रिचर्ड्स के सिद्धान्त भाषा की दृष्टि से मौलिक, विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक होते हुए भी परस्पर सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित नहीं हैं। वे अपने सभी सिद्धान्तों को लक्ष्य के किसी एक सूत्र में भली-भाँति गूँथकर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सके। उनकी आधारभूत धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु उनकी व्याख्या करते-करते वे उनसे बहुत दूर निकल जाते हैं। फिर भी उन्होंने अपने युग के विद्वानों एवं कलाकारों का ध्यान कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर आकर्षित किया है तथा उनके दृष्टिकोण को पर्याप्त प्रभावित भी किया है। सम्भवतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य का एक ऐसा मानदंड खोजने का प्रयास किया, जो भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र के आधार-भूत तत्त्वों से समन्वित हो। यह प्रयास यद्यपि पूर्णतः सफल नहीं हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। अतः निश्चित ही आधुनिक युग के साहित्य-चिन्तकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

०

हिन्दी-साहित्य का विकास

(काव्य-धाराओं एवं काव्य-रूपों के विकास सम्बन्धी निबन्ध)

हिन्दी-साहित्य का विकास

(काव्य-धाराओं एवं काव्य-रूपों के विकास सम्बन्धी निबन्ध)

:: बीस ::

हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल

हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में अब तक विभिन्न इतिहास-कारों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उनमें से अधिकांश—प्रायः सभी, असंगत एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं। हिन्दी के प्रथम इति-हास-लेखक गार्सां द तासी ने तो इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया था, उनके अनन्तर इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' (८०३ ई०) में किसी पुरानी अनुश्रुति के आधार पर सातवीं शताब्दी के पुष्य नामक कवि को हिन्दी का पहला कवि घोषित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में इसी समय हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव माना। किन्तु परवर्ती अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि इस नाम के किसी कवि के अस्तित्व का कोई प्रमाण या उसकी कोई रचना प्राप्य नहीं है, ऐसी स्थिति में उसे हिन्दी का आदि कवि कैसे माना जा सकता है ? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में अनुमान किया है कि यह पुष्य संभवतः अपभ्रंश का प्रसिद्ध कवि पुष्यदंत ही है, जिसका आविर्भाव नवीं शती में हुआ था। हमारे विचार से यह अनु-मान ठीक है किन्तु यदि ऐसा न भी हो तो भी हिन्दी के किसी पुष्य का कोई अस्तित्व अब स्वीकार्य नहीं है, अतः उसके आधार पर हिन्दी के आविर्भाव-काल का निर्णय करना ठीक नहीं। पर दुर्भाग्य से हिन्दी-साहित्य के परवर्ती इतिहासकार भी जिनमें सर जार्ज ग्रियर्सन एवं मिश्रबन्धु का नाम उल्लेखनीय है, इस पुष्य सम्बन्धी भ्रान्ति में पड़ जाने के कारण हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव सातवीं शती में ही मानने को विवश हो गये। वैसे पुष्य के अस्तित्व की संदिग्धता का पता इन्हें था, क्योंकि ग्रिय-र्सन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'यह (पुष्य कवि) प्राचीनतम भाषा कवि है, जिसका कोई उल्लेख मुझे देशी लेखक की कृतियों में नहीं मिला है। 'शिवसिंह सरोज' का कथन है कि यह ७१३ ई० में उपस्थित था और 'भाषा की जड़' यही कवि है। इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि इसका नाम पुण्य या पुष्प था अथवा पुंड था।...यदि भाषा से अभिप्राय प्राकृत के पश्चात्कालीन भाषा रूप से है, तब तो यह पूर्ण-रूपेण अस्वाभाविक वक्तव्य प्रतीत होता है। मुझे तो टाड में सरोज के इस कथन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। टाड में किसी पुष्प का उल्लेख अवश्य है पर यह एक उत्कीर्ण लेख का रचयिता है...पर यह उत्कीर्ण लेख किस भाषा में लिखा गया

था, टाड में मुझे इसका कोई उल्लेख नहीं मिला।'—इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के एक कवि के रूप में पुष्य को मान्यता देना ग्रियर्सन को अस्वीकार्य था, किन्तु फिर भी कई बार जो लीक पड़ जाती है, उससे हटना परवर्ती चिन्तकों के लिए असम्भव हो जाता है।

परवर्ती युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२८ ई०) में पुष्य को कोई स्थान नहीं दिया तथा उन्होंने आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में भी परम्परागत धारणा में संशोधन करते हुए सम्वत् १०५० से हिन्दी साहित्य के आदि काल का आरम्भ माना। यद्यपि शुक्लोत्तर इतिहास लेखकों ने प्रायः इसी मत को स्वीकार किया है तथा आज भी सर्वाधिक मान्यता इसी को प्राप्त है, किन्तु यदि हम आचार्य शुक्ल के निर्णय की पुनर्परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि वह भी उतना ही निराधार एवं असंगत है जितना कि उससे पूर्व प्रचलित मत था। आचार्य शुक्ल का यह निर्णय मुख्यतः दो धारणाओं पर आधारित है—एक, अपभ्रंश हिन्दी का ही एक रूप है, जिसे उनके शब्दों में 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' कहा जा सकता है। अपभ्रंश को हिन्दी मान लेने पर उसका आविर्भाव-काल सातवीं शताब्दी ही सिद्ध हो जाता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए वे लिखते हैं—''अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योग-मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।' ऐसी स्थिति में उन्हें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी सातवीं शताब्दी से ही मान लेना चाहिए था, किन्तु उनकी दूसरी धारणा इसके विपरीत पड़ती थी। वह दूसरी धारणा यह थी कि अपभ्रंश का प्रारंभिक साहित्य—१०५० विक्रमी तक का साहित्य—उनकी दृष्टि से सांप्रदायिक साहित्य मात्र था, उसे विशुद्ध काव्य-कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इस निष्कर्ष को उन्होंने बार-बार दोहराया है, कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है यथा, :

(क) "सिद्धों में सरह सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है।"

(ख) "उनकी (सिद्धों और योगियों की) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।'

(ग) "मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"

यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० का

निर्णय यों ही 'मुंज और भोज के समय' के आधार पर एकाएक कर लिया—मानों मुंज और भोज हिन्दी के कोई कवि हों—किसी निश्चित साहित्यिक आधार पर नहीं किया। वस्तुतः हिन्दी का पहला कवि किसे माना जाय, इस प्रश्न को शुक्लजी बड़ी चतुराई से टाल गये हैं। मुंज और भोज का हिन्दी-साहित्य से क्या सम्बन्ध था, उनके समय को ही यहाँ आधार क्यों बनाया गया, इस सम्बन्ध में भी आचार्य शुक्ल मौन हैं। अतः यह निर्णय अपने-आप में बहुत-कुछ अस्पष्ट है, या यों कहिए कि उसका आधारभूत कारण स्पष्ट नहीं। किन्तु इससे भी अधिक प्रतिकूल स्थिति तो यह है कि आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में जिन दो धारणाओं को 'आधार' रूप में ग्रहण किया था, वे भी अब बिल्कुल अमान्य हो गई हैं। अब न तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या 'प्राकृताभास हिन्दी' कहा जा सकता है और न ही अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों की रचनाओं को केवल सांप्रदायिक शिक्षा मात्र कहकर काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत किया जा सकता है। यदि अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानते हैं तो निश्चित ही हमें सरह पाद को हिन्दी के पहले कवि के रूप में स्वीकार करते हुए हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल सातवी शती से मानना होगा तथा अपभ्रंश के सभी कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा। वस्तुतः भाषा-वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं व्यावहारिक—सभी दृष्टियों से अब अपभ्रंश की हिन्दी से भिन्नता सिद्ध हो गई है। वैसे राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य कतिपय विद्वान् आज से कुछ वर्षों पूर्व तक अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानने का समर्थन करते रहे हैं, किन्तु इस मत को मान्यता देने में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी की जननी अपभ्रंश को भी हिन्दी कहें तो फिर अपभ्रंश की जननी प्राकृत एवं प्राकृत की जननी पूर्ववर्ती भाषाओं को भी हिन्दी कहने में क्या आपत्ति है? इस दृष्टिकोण को अपनाने पर तो सभी पूर्ववर्ती भाषाओं को हिन्दी में स्थान दिया जा सकता है जो उचित नहीं होगा। दूसरे, अपभ्रंश से केवल हिन्दी का ही नहीं, उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं—पंजाबी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उड़िया, असमी आदि—का भी सम्बन्ध है। ये सभी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण हिन्दी की बहिनें लगती हैं, यदि अपभ्रंश और हिन्दी को अभिन्न मान लिया जाय तो इन सबकी जननी हिन्दी सिद्ध हो जायगी, कदाचित् यह स्थिति हिन्दी वालों को मान्य हो भी सके, किन्तु अन्य भाषा-भाषी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। वस्तुतः अपभ्रंश पर जितना अधिकार हिन्दी का है उतना ही पंजाबी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं का भी है, अतः उस पर हिन्दी का एकाधिकार सिद्ध करना अनाधिकार चेष्टा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त रूप में तो अपभ्रंश को हिन्दी से अभिन्न घोषित कर दिया, पर व्यवहार-रूप में वे भी इसकी यथार्थता में सन्देह करते थे, कदाचित् इसी का परिणाम है कि उन्होंने अपभ्रंश और हिन्दी काव्य का परिचय अलग-अलग अध्यायों में दिया है। जहाँ वे आदिकाल के प्रकरण संख्या २ का शीर्षक 'अपभ्रंश काल' रखते हैं, वहाँ उन्होंने प्रकरण संख्या ३ का शीर्षक 'देशभाषा काव्य' रखा है। इन दोनों में क्या अन्तर है? तथा क्या दोनों ही हिन्दी से ही सम्बन्धित हैं या नहीं;—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया; यह

था, टाड में मुझे इसका कोई उल्लेख नहीं मिला।'—इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के एक कवि के रूप में पुष्य को मान्यता देना ग्रियर्सन को अस्वीकार्य था, किन्तु फिर भी कई बार जो लीक पड़ जाती है, उससे हटना परवर्ती चिन्तकों के लिए असम्भव हो जाता है।

परवर्ती युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२८ ई०) में पुष्य को कोई स्थान नहीं दिया तथा उन्होंने आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में भी परम्परागत धारणा में संशोधन करते हुए सम्वत् १०५० से हिन्दी साहित्य के आदि काल का आरम्भ माना। यद्यपि शुक्लोत्तर इतिहास लेखकों ने प्रायः इसी मत को स्वीकार किया है तथा आज भी सर्वाधिक मान्यता इसी को प्राप्त है, किन्तु यदि हम आचार्य शुक्ल के निर्णय की पुनर्परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि वह भी उतना ही निराधार एवं असंगत है जितना कि उससे पूर्व प्रचलित मत था। आचार्य शुक्ल का यह निर्णय मुख्यतः दो धारणाओं पर आधारित है—एक, अपभ्रंश हिन्दी का ही एक रूप है, जिसे उनके शब्दों में 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' कहा जा सकता है। अपभ्रंश को हिन्दी मान लेने पर उसका आविर्भाव-काल सातवीं शताब्दी ही सिद्ध हो जाता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए वे लिखते हैं—''अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योग-मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।' ऐसी स्थिति में उन्हें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी सातवीं शताब्दी से ही मान लेना चाहिए था, किन्तु उनकी दूसरी धारणा इसके विपरीत पड़ती थी। वह दूसरी धारणा यह थी कि अपभ्रंश का प्रारंभिक साहित्य—१०५० विक्रमी तक का साहित्य—उनकी दृष्टि से सांप्रदायिक साहित्य मात्र था, उसे विशुद्ध काव्य-कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इस निष्कर्ष को उन्होंने बार-बार दोहराया है, कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है यथा, :

(क) ''सिद्धों में सरह सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है।''

(ख) ''उनकी (सिद्धों और योगियों की) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।'

(ग) ''मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।''

यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० का

निर्णय यों ही 'मुंज और भोज के समय' के आधार पर एकाएक कर लिया—मानों मुंज और भोज हिन्दी के कोई कवि हों—किसी निश्चित साहित्यिक आधार पर नहीं किया। वस्तुतः हिन्दी का पहला कवि किसे माना जाय, इस प्रश्न को शुक्लजी बड़ी चतुराई से टाल गये हैं। मुंज और भोज का हिन्दी-साहित्य से क्या सम्बन्ध था, उनके समय को ही यहाँ आधार क्यों बताया गया, इस सम्बन्ध में भी आचार्य शुक्ल मौन हैं। अतः यह निर्णय अपने-आप में बहुत-कुछ अस्पष्ट है, या यों कहिए कि उसका आधारभूत कारण स्पष्ट नहीं। किन्तु इससे भी अधिक प्रतिकूल स्थिति तो यह है कि आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में जिन दो धारणाओं को 'आधार' रूप में ग्रहण किया था, वे भी अब बिल्कुल अमान्य हो गई हैं। अब न तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या 'प्राकृताभास हिन्दी' कहा जा सकता है और न ही अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों की रचनाओं को केवल सांप्रदायिक शिक्षा मात्र कहकर काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत किया जा सकता है। यदि अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानते हैं तो निश्चित ही हमें सरह पाद को हिन्दी के पहले कवि के रूप में स्वीकार करते हुए हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल सातवीं शती से मानना होगा तथा अपभ्रंश के सभी कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा। वस्तुतः भाषा-वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं व्यावहारिक—सभी दृष्टियों से अब अपभ्रंश की हिन्दी से भिन्नता सिद्ध हो गई है। वैसे राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य कतिपय विद्वान् आज से कुछ वर्षों पूर्व तक अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानने का समर्थन करते रहे हैं, किन्तु इस मत को मान्यता देने में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी की जननी अपभ्रंश को भी हिन्दी कहें तो फिर अपभ्रंश की जननी प्राकृत एवं प्राकृत की जननी पूर्ववर्ती भाषाओं को भी हिन्दी कहने में क्या आपत्ति है? इस दृष्टिकोण को अपनाने पर तो सभी पूर्ववर्ती भाषाओं को हिन्दी में स्थान दिया जा सकता है जो उचित नहीं होगा। दूसरे, अपभ्रंश से केवल हिन्दी का ही नहीं, उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं—पंजाबी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उड़िया, असमी आदि—का भी सम्बन्ध है। ये सभी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण हिन्दी की बहिनें लगती हैं, यदि अपभ्रंश और हिन्दी को अभिन्न मान लिया जाय तो इन सबकी जननी हिन्दी सिद्ध हो जायगी, कदाचित् यह स्थिति हिन्दी वालों को मान्य हो भी सके, किन्तु अन्य भाषा-भाषी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। वस्तुतः अपभ्रंश पर जितना अधिकार हिन्दी का है उतना ही पंजाबी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं का भी है, अतः इस पर हिन्दी का एकाधिकार सिद्ध करना अनाधिकार चेष्टा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त रूप में तो अपभ्रंश को हिन्दी से अभिन्न घोषित कर दिया, पर व्यवहार-रूप में वे भी इसकी यथार्थता में सन्देह करते थे, कदाचित् इसी का परिणाम है कि उन्होंने अपभ्रंश और हिन्दी काव्य का परिचय अलग-अलग अध्यायों में दिया है। जहाँ वे आदिकाल के प्रकरण संख्या २ का शीर्षक 'अपभ्रंश काल' रखते हैं, वहाँ उन्होंने प्रकरण संख्या ३ का शीर्षक 'देशभाषा काव्य' रखा है। इन दोनों में क्या अन्तर है? तथा क्या दोनों ही हिन्दी से ही सम्बन्धित हैं या नहीं;—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, यह

उन्होंने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि "इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि हम अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी से अलग कर दें तो शुक्ल जी के इस आदिकाल के पास केवल संदिग्ध सामग्री शेष रह जायगी जिसके आधार पर किया गया निर्णय भी संदिग्ध एवं अवास्तविक सिद्ध होगा। वस्तुतः आज यही स्थिति है। आचार्य शुक्ल के द्वारा कथित हिन्दी की आदिकालीन रचनाओं में से अब कुछ अपभ्रंश की सिद्ध हो गई हैं, कुछ अस्तित्वविहीन प्रमाणित हुई हैं और कुछ बहुत बाद की रचित हैं। अस्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन धारणाओं एवं तथ्यों के आधार पर हिन्दी-साहित्य का आरम्भ संवत् १०५० से माना था, वे सभी अब अस्पष्ट, असंगत, संदिग्ध एवं अमान्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसी स्थिति में अब उसी निर्णय को मानते रहना अपनी रूढ़िवादिता का परिचय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आचार्य शुक्ल के अनन्तर डा० रामकुमार वर्मा एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु जहाँ तक उपर्युक्त प्रश्न का सम्बन्ध है, ये विद्वान् भी कोई स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त उत्तर नहीं दे पाये हैं। डा० रामकुमार वर्मा एक ओर तो हिन्दी को अपभ्रंश से विकसित उससे भिन्न भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं—'अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ' इससे स्पष्ट है कि वे हिन्दी भाषा का सूत्रपात अपभ्रंश के साहित्यिक मरण के बाद दसवीं शताब्दी में मानते हैं, पर दूसरी ओर वे हिन्दी-साहित्य के विकास काल को 'संधिकाल' कहते हुए, उसकी काल-सीमा ७५०-१२०० रखते हैं और अपभ्रंश के सारे साहित्य को हिन्दी-साहित्य में स्थान दे देते हैं। वे ऐसा अनजान में नहीं, अपितु बहुत सोच-समझ कर करते हैं। वे लिखते हैं—'अर्ध-मागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए हैं। इस प्रकार इसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।' डा० वर्मा का यह विचित्र निर्णय अनेक शंकाओं को जन्म देता है—एक तो उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'छाप' से उनका क्या आशय है। अपभ्रंश में हिन्दी भाषा का पूर्वरूप मिलना संभव है, यदि इसी को 'छाप' कहते हैं तो इस स्थिति में न केवल अपभ्रंश, अपितु प्राकृत और संस्कृत पर भी हिन्दी की छाप मानी जा सकती है। वस्तुतः छाप पूर्ववर्ती की परवर्ती पर पड़ती है, न कि परवर्ती की पूर्ववर्ती पर, अतः दसवीं शती में उत्पन्न होनेवाली हिन्दी की छाप सातवीं शताब्दी की अपभ्रंश पर मानना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। दूसरे, पहले भाषा का उद्भव होता है तदनन्तर उसमें साहित्य-रचना होती है, जबकि डा० वर्मा के अनुसार हिन्दी-साहित्य का

आविर्भाव-काल (७वीं शती) हिन्दी भाषा के उद्भव-काल (१०वीं शती) से तीन शताब्दी पूर्व पड़ता है। वस्तुतः डा० वर्मा के प्रति पूरी श्रद्धा होते हुए भी उनके निष्कर्षों को स्वीकार करना हमारे लिए बहुत कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों के पीछे डा० वर्मा के उस कवि-हृदय की प्रेरणा है, जो अपभ्रंश काव्य की सौन्दर्य-श्री किसी न किसी प्रकार हिन्दी के अधिकार-क्षेत्र में ले आने के लिए विवश हो गयी होगी। किन्तु इतिहास को शुद्ध एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए इस प्रकार के लोभों का संवरण किए बिना काम नहीं चलता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास-लेखन के समय अपभ्रंश और हिन्दी की भिन्नता को पूरी तरह ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप में घोषित किया है कि भाषा-शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों भाषाएं एक नहीं हैं। उनके विचारानुसार हिन्दी का विकास आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित उस ग्राम्य अपभ्रंश से हुआ, जिसमें रासक, डोम्बिका, आदि लिखे जाते थे। यह विकास कब हुआ—इसका स्पष्ट निर्णय तो वे नहीं देते, पर उनके शब्दों में 'यही भाषा (हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित ग्राम्य अपभ्रंश) ही आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।' यदि हम 'आगे चलकर' का तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो इस दृष्टि से हिन्दी का आविर्भाव आचार्य हेमचन्द्र (१०८८—११७२ ई०) के सौ साल बाद लगभग १३वीं शताब्दी में सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी-साहित्य का अविर्भाव-काल तो इसके और भी बाद में माना जाना चाहिए था, पर यह विचित्र बात है कि वे भी यहाँ पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए आदिकाल की प्रारम्भिक सीमा १००० ई० ही मान लेते हैं। ऐसा उन्होंने कदाचित् पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रति अति सौजन्य एवं सहिष्णुता की प्रवृत्ति के कारण ही किया है, अन्यथा वे स्पष्ट रूप से मानते हैं कि चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी का कोई साहित्य नहीं मिलता। उनके शब्दों में—'दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है।' यहाँ 'भाषा की दृष्टि' से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि कदाचित् अन्य दृष्टियों से यह साहित्य हिन्दी का होगा, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। किसी भी साहित्य को हिन्दी का साहित्य कहलाने के लिए उसका भाषा की दृष्टि से हिन्दी का होना अनिवार्य है, अन्यथा कालिदास और रवीन्द्रनाथ को भी हिन्दी का कहा जा सकता है। आदिकाल सम्बन्धी अध्याय की अन्तिम पंक्ति—इसमें 'भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं' तथा भक्तिकाल सम्बन्धी अध्याय के आरम्भ में उनके द्वारा प्रयुक्त यह उपशीर्षक 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ'—ये दोनों तथ्य भी यह ध्वनित करते हैं कि आचार्य द्विवेदी वास्तव में तो हिन्दी-साहित्य का अस्तित्व चौदहवीं शताब्दी पूर्व नहीं मानते, किन्तु उनकी इस ध्वनिवादी शैली के कारण सामान्य पाठक वास्तविक हिन्दी-साहित्य और अवास्तविक हिन्दी-साहित्य के भेद को स्पष्ट रूप में ग्रहण नहीं कर पाता।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में किये गये अब तक के प्रयास मुख्यतः तीन प्रकार की भ्रान्तियों एवं असंगतियों पर आधारित हैं। एक तो अधिकांश विद्वान् अपभ्रंश और हिन्दी के भेद को

ध्यान में नहीं रख सके, कुछ ने सिद्धान्त रूप में तो दोनों को अलग माना, किन्तु व्यवहार में दोनों के साहित्य को घुला-मिलाकर एक कर दिया। दूसरे, वे हिन्दी भाषा के उद्भव-काल एवं उसके साहित्य के आविर्भाव-काल में संगति नहीं बनाए रख सके, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने साहित्य का आविर्भाव भाषा के उद्भव से भी पूर्व माना। तीसरे, अनेक विद्वानों ने संदिग्ध, अप्रामाणिक परवर्ती एवं अस्तित्वहीन रचनाओं को हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं के रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में उनके निष्कर्षों में असंगति एवं अनौचित्य का आ जाना स्वाभाविक था। अस्तु, इस सम्बन्ध में किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिए हमें सबसे पहले उपर्युक्त तीनों विषयों—हिन्दी का क्षेत्र, उसका उद्भव-काल एवं उसकी प्रथम प्रामाणिक रचना—पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना चाहिए, तथा उसी से उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर ही प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में अपना निर्णय देना चाहिए। आगे हम ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी : अर्थ एवं क्षेत्र

हिन्दी भाषा के क्षेत्र में किन-किन भाषाओं एवं उपभाषाओं को स्थान देना चाहिए—इस सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर प्रारम्भिक इतिहासकारों ने जहाँ अपभ्रंश को भी 'प्राकृताभास हिन्दी' या "पुरानी हिन्दी" कहकर उसे हिन्दी का ही एक रूप मान लिया, वहाँ नवीनतम दृष्टिकोण के अनुसार हिन्दी की एक उपभाषा 'खड़ी बोली' तक ही हिन्दी को सीमित रखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। इस पारस्परिक विरोध का मूल कारण यह है कि हिन्दी का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें अनेक भाषाओं, उपभाषाओं एवं बोलियों को स्थान प्राप्त है। इतना ही नहीं, समय और परिस्थितियों के अनुसार उसमें कभी कोई भाषा प्रमुखता प्राप्त करती है तो कभी कोई तथा इसके साथ ही उसकी सीमाएँ भी बदलती रही हैं। उसके विकास का इतिहास देखें तो यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी का नामकरण उसके आविर्भाव से भी बहुत पहले हो गया था। पाँचवीं-छठी शताब्दी में अरब-फारस के लोग जहाँ 'भारत' को 'हिन्द' कहते थे, वहाँ वे यहाँ की सभी भाषाओं को सामान्य रूप में 'जबाने हिन्दी' (हिन्दी भाषा) के नाम से पुकारते हुए उसके अन्तर्गत संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि को सम्मिलित करते थे। इस बात का प्रमाण यह है कि छठी शती ईस्वी में बादशाह नौशेरवाँ के दरबारी कवि ने 'पंचतन्त्र' का अनुवाद करते हुए इसे 'ज़बाने हिन्द' का ग्रन्थ कहा है; जबकि यह वस्तुतः संस्कृत का है। इसी प्रकार अल्बेरुनी (११वीं शती), फारसी कवि औफी (१३वीं शती), अमीर खुसरो (१३-१४वीं शती) आदि मुस्लिम लेखकों ने भी 'हिन्दी' का प्रयोग भारत की सभी भाषाओं के लिए किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में 'हिन्दी' का अर्थ भारत की किसी एक विशिष्ट भाषा से न होकर सामान्य रूप से भारत की सभी सामान्य भाषाओं से था। जैसा कि डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने स्पष्ट किया है, इस स्थिति में 'हिन्दी' एक सामूहिक नाम था।

आगे चलकर चौदहवी-पन्द्रहवी शती से लेकर अठारहवी शती तक भारत में विभिन्न नयी भाषाओं का उदय एवं विकास हो गया, तथा उन्होंने प्रान्तीय आधार पर नये-नये नाम ग्रहण किए, फिर भी भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य रूप में हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तान आदि नामों का प्रयोग होता रहा। उदाहरण के लिए बाबर ने एक स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' का तथा जायसी ने 'हिन्दवी' नाम का प्रयोग किया है। फिर भी इस बीच के युग में हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी नामों का प्रचार कम रहा, इसके स्थान पर विभिन्न भाषाओं को अलग-अलग प्रान्तीय नामों से ही पुकारा जाता रहा।

उन्नीसवीं शती में अंग्रेजों एवं मुसलमान लेखकों द्वारा पुनः हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी नामों के प्रयोग में वृद्धि होने लगी। उदाहरण के लिए 'अनुराग बाँसुरी' के रचयिता नूर मोहम्मद (१८वीं शती) ने अवधी भाषा के लिए तथा इंशाअल्ला खाँ (१९वीं शती) ने 'रानी केतकी की कहानी' की व्रज मिश्रित खड़ी बोली के लिए तथा अनेक अंग्रेज लेखकों ने खड़ी बोली के लिए 'हिन्दुस्तानी' एवं 'हिन्दी' का प्रयोग किया। इस प्रकार पुनः 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग व्यापक स्तर पर होने लग गया। वस्तुतः आज स्थिति यह है कि हिन्दी कोई एक भाषा नहीं है, वह राष्ट्र की एक ऐसी सामान्य भाषा है; जिसके विभिन्न रूप विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न वर्गों में पाये जाते हैं। राष्ट्र की कुछ भाषाएं भिन्न लिपियों में आबद्ध होकर या भिन्न साहित्य के रूप में सीमित होकर स्वतन्त्र हो गयी हैं; जबकि शेष सभी भाषाएँ— राजस्थानी, व्रज, अवधी, खड़ी बोली, मैथिली, आदि तथा उनसे सम्बद्ध, बोलियां हिन्दी में आती हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी भारत की केन्द्रीय एवं राष्ट्रीय भाषा है। जिस प्रकार भारत का नक्शा और उसकी सीमाएँ समय-समय पर राजनीतिक कारणों से बदलती रही हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय भाषा हिन्दी की भी सीमाएं समय-समय पर बदलती रही हैं—किसी समय वह सारे भारत का प्रतिनिधित्व करती थी, तो अब वह केवल उन भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो सहर्ष उसमें सम्मिलित हैं। अन्यथा हिन्दी का पंजाबी और गुजराती से भी उतना ही सम्बन्ध है, जितना राजस्थानी से है, (सही पूछा जाय तो राजस्थानी तथा पश्चिमी हिन्दी पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट पड़ती हैं) या अवधी और मैथिली से उसका उतना ही सम्बन्ध है जितना कि असमी और बँगला से है। अस्तु, हमारे विचार से आज भी हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है, अपितु भारत की अनेक भाषाओं के समूह का नाम है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि वे कौन से सूत्र हैं, जो कि इन विभिन्न भाषाओं को एक समूह—हिन्दी—में बांधे हुए हैं? इसके उत्तर में तीन तत्त्वों पर प्रकाश डाला जा सकता है...एक तो इस समूह की सभी भाषाओं की एक सामान्य लिपि है, वे अन्य लिपियों में भी लिखी जा सकती हैं फिर भी उनमें मुख्य रूप से देवनागरी का ही प्रयोग होता है। दूसरा तत्त्व भौगोलिक एकता सम्बन्धी है। ये सभी भाषाएँ भारतवर्ष के केन्द्रीय भू-भाग में प्रचलित हैं, जिसे विद्वानों ने 'मध्य देश' की संज्ञा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी' की परिभाषा ही इस भौगोलिक आधार पर करते हुए लिखा है—'राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी

सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्य भाषा को हम हिन्दी कहते आए हैं। इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सबका भाषा शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। फिर भी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। जिस विशाल भू भाग को आज हिन्दीभाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है, परन्तु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य देश कहते रहे हैं।'

लिपि की समानता और भौगोलिक एकता के अतिरिक्त तीसरा महत्वपूर्ण तत्व सांस्कृतिक एकता है। मैथिली, अवधी, राजस्थानी, व्रज आदि भाषाएँ बाह्य दृष्टि से परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हों, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से—मूलभूत चेतना एवं दार्शनिक दृष्टि से, परम्परागत मान्यताओं एवं धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, तथा प्रेरणा-स्रोत एवं आन्दोलनों की दृष्टि से वे सब एक हैं। इतना ही नहीं, इन भाषाओं के प्रयोग-कर्त्ताओं में भी सदा एक आन्तरिक एकता की भावना रही है जिससे एक प्रदेश के लोग प्रसन्नतापूर्वक दूसरे प्रदेश की भाषा को अपनाते रहे हैं। यही कारण है कि अनेक कवियों ने एक साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि का प्रयोग किया है। अस्तु, जिस प्रकार विभिन्न प्रदेशों में पारस्परिक भेद के होते हुए भी उनकी सामान्य एकता के आधार पर उन्हें एक राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है, वैसे ही उपर्युक्त समानताओं—लिपि की समानता, भौगोलिक समानता एवं सांस्कृतिक समानता—के आधार पर भारत के मध्य भाग (उत्तर में काश्मीर एवं पंजाब को, पूर्व में बंगाल, उड़ीसा, असम आदि को पश्चिम में गुजरात को तथा दक्षिण में दक्षिणी सीमावर्ती प्रान्तों को छोड़कर शेष भारत) की भाषाओं के समूह को 'हिन्दी' का नाम दिया जाता है, जिनमें समय, स्थान एवं परिस्थिति के भेद से कभी कोई भाषा प्रमुख हो गई है तो कभी किसी अन्य ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है।

जिस प्रकार एक राष्ट्र का केन्द्र—या उसकी राजधानी समय-समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रहती है, वैसे ही हिन्दी का भी केन्द्र बदलता रहा है। प्रारम्भ में वह मैथिली, राजस्थानी; अवधी, व्रज आदि अलग-अलग केन्द्रों में विभाजित थी। आगे चलकर व्रज ने इतनी अधिक प्रमुखता प्राप्त कर ली कि न केवल समस्त हिन्दी प्रदेशों में अपितु गुजरात, पंजाब एवं बंगाल तक में इसका प्रचार हो गया। एक ओर गुरु गोविन्द सिंह के दरबार में व्रजभाषा की शताधिक रचनाओं का लिखा जाना तथा दूसरी ओर बंगाल में व्रज एवं मैथिली मिश्रित 'ब्रजबुलि काव्य परंपरा' का प्रवर्त्तन होना, इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का गौरव व्रजभाषा-युग में ही प्राप्त हो गया था। आगे चलकर जब व्रज का स्थान खड़ी बोली ने ग्रहण किया तो उसे भी उत्तराधिकारी के रूप में वह गौरव प्राप्त हो गया जो व्रजभाषा को प्राप्त था। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली को पूर्ववर्ती केन्द्रीय भाषाओं का ऋण स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो लोग इस तथ्य से परिचित नहीं हैं, वे कई बार केवल खड़ी बोली को ही—जो लगभग एक शताब्दी से केन्द्रीय भाषा है—एकमात्र हिन्दी मानने की भूल

करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास पिछले अस्सी वर्षों से ही आरम्भ करना चाहते हैं। यदि दृष्टिकोण को इतना संकुचित कर लिया जाय तो अस्सी वर्ष से ही क्यों, पिछले-पन्द्रह-बीस वर्षों से ही यह आरम्भ माना जा सकता है, क्योंकि छायावादियों की खड़ी बोली में और परवर्ती कवियों की बोली में भी कई दृष्टियों से गहरा अन्तर ढूंढ़ा जा सकता है। वस्तुतः हिन्दी पर जितना अधिकार खड़ी बोली का है उतना ही मैथिली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं का भी है, अतः उपर्युक्त दृष्टिकोण को ठीक नहीं कहा जा सकता। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचन से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—(१) प्रारम्भ में 'हिन्दी' सभी भारतीय भाषाओं का सामान्य नाम था। (२) अब 'हिन्दी' का प्रयोग भारतीय भाषाओं के एक विशेष समूह के लिए होता है जिसमें लिपि, भौगोलिक सीमाओं एवं सांस्कृतिक तत्वों की दृष्टि से एकता है। (३) हिन्दी के अन्तर्गत मुख्यतः मैथिली, अवधी, राजस्थानी ब्रज एवं खड़ी बोली का समावेश किया जाता है। (४) इन भाषाओं में से समय-समय पर कुछ भाषाएँ अधिक प्रमुखता प्राप्त करती रही हैं, फिर भी शेष भाषाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त विधेयात्मक निष्कर्षों के आधार पर इन निषेधात्मक निष्कर्षों की भी पुष्टि हो जाती है कि उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ, जैसे प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, बँगला आदि हिन्दी के क्षेत्र में नहीं आतीं। ऐसी स्थिति में इनके साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु कुछ लोग इस युक्ति के आधार पर कि अपभ्रंश की बहुत-सी साहित्यिक परम्पराएँ हिन्दी में आई हैं, इनके साहित्य को हिन्दी में स्थान देना चाहते हैं। जहाँ तक पूर्ववर्ती परंपराओं को समझने के लिए अन्य भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करने की बात है, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम परम्पराओं के आधार पर ही अन्य भाषाओं के साहित्य को भी हिन्दी का घोषित कर दें। यदि ऐसा ही करना हो तो फिर अपभ्रंश ही क्यों, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य माना जा सकता है, क्योंकि प्राचीन और अर्वाचीन युग में इनकी बहुत सी परम्पराएँ हिन्दी में आई हैं तथा आगे भी आ सकती हैं। वस्तुतः ऐसा करना सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक—दोनों ही दृष्टियों से अनुचित एवं अस्वाभाविक सिद्ध होगा।

हिन्दी का उद्भव-काल—जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दी के उद्भव-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। जहाँ शिवसिंह सेंगर, मिश्र-बन्धु एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का उद्भव सातवीं शती के आस-पास मानते हैं, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा व अन्य कतिपय विद्वान् दसवीं शताब्दी मानते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के विद्वान् तो हिन्दी के अन्तर्गत अपभ्रंश को भी सम्मिलित कर लेते हैं, अतः उनका मत हिन्दी के स्थान पर अपभ्रंश से सम्बन्धित मानना चाहिए। दूसरे वर्ग के विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण नहीं दिये हैं। प्रायः उन्होंने 'अनुमान' के आधार पर ही—और शायद इसलिए भी हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव इसी समय से माना जाता है—दसवीं शताब्दी से हिन्दी का उद्भव मान लिया है। इनकी भ्रान्ति का एक कारण यह भी रहा है कि इनके सामने

हिन्दी की कुछ कृतियाँ थीं जो उस समय १८वीं शती में रचित मानी जाती थीं, पर अब वे बहुत परवर्ती सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु, इस मत को भी मान्यता नहीं दी जा सकती।

इस सम्बन्ध में एक अन्य वर्ग ऐसे विद्वानों का भी है जिन्होंने शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हुए हिन्दी का उद्भव काल तेरहवीं शती के बाद सिद्ध किया है। इनमें डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० नामवरसिंह प्रभृति उल्लेखनीय हैं। डा० चटर्जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'यह मालूम नहीं पड़ता कि वह 'हिन्दी' ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु सम्भव है यह ब्रज भाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश्य न होकर १३वीं में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३वीं व १४वीं शती ईस्वी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।' डा० उदयनारायण तिवारी उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि अधिक स्पष्ट शब्दों में करते हैं—आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्रांति काल था, जिसमें भारतीय आर्यभाषा, धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी। इसी प्रकार डा० नामवर सिंह के विचार से भी तेरहवीं-शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट किया था, अतः हिन्दी का उद्भव यहीं से माना जा सकता है, यद्यपि डा० तिवारी संक्रान्तिकाल की अंतिम सीमा पन्द्रहवीं शताब्दी तक खींचते हैं, फिर भी ये तीनों विद्वान् उनकी प्रारम्भिक सीमा तेरहवी शती से ही मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का अनुमोदन करते हुए लिखा है—हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा 'आगे चलकर' आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई।' यद्यपि द्विवेदी जी ने यहाँ 'आगे चलकर' का काल-परिमाण नहीं दिया, फिर भी यदि उसका तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो उनके विचारानुसार हिन्दी का आविर्भाव आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् तेरहवीं शती से होता है। अस्तु, आचार्य द्विवेदी के मत को भी—जहाँ तक भाषा के अविर्भाव-काल का सम्बन्ध है—इसी वर्ग में स्थान दिया जा सकता है, यह दूसरी बात है कि हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का आरम्भ वे दसवीं शताब्दी से मानते हैं।

उपर्युक्त मतों के अनुसार यदि हिन्दी भाषा का उद्भव १३वीं शती से माना जाय तो उसके साहित्य का आरम्भ अवश्य ही उनके सौ-सौ वर्ष बाद से माना जायगा, क्योंकि कोई भाषा साहित्य में स्थान पाने में एक-दो शताब्दियों का समय अवश्य ले लेती है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का आरम्भ चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती से सिद्ध होता है। यह ठीक नहीं है। हमें इससे पूर्व ही हिन्दी-साहित्य के अस्तित्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। हमारे विचार

तो इस स्थिति में हिन्दी का उद्भव थोड़ा और पहले से माना जाना चाहिए। अतः इस विषय पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

जैसा कि विभिन्न विद्वानों ने स्वीकार किया है, अपभ्रंश के उत्तरकाल में उसके दो प्रमुख भेद विकसित हो गये थे—एक उसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप एवं दूसरा लोक-संपर्क से विकसित ग्राम्य रूप। इस ग्राम्य रूप के भी प्रदेश-भेद के अनुसार तीन भेद हो गये थे—पूर्वी, पश्चिमी एवं मध्यदेशीय। इन्हीं भेदों से उत्तरी भारत की अनेक आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें हिन्दी (अर्थात् राजस्थानी मैथिली, अवधी आदि) भी एक है। इन आधुनिक भाषाओं का विकास कब हो गया था, इसका पता लगाने का कोई निश्चित साधन प्राप्त नहीं है, फिर भी कुछ ऐसे ग्रंथ मिलते हैं, जिनके आधार पर यह निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी के कुछ रूपों का आविर्भाव बारहवीं शती के पूर्व हो गया था। इन ग्रन्थों में 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' 'प्राकृत-पैंगलम्', 'वर्णरत्नाकर' आदि उल्लेखनीय हैं। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण,' गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र (१११४-११५५ ई०) के सभा-पंडित दामोदर की रचना है जिसमें लोकभाषा को संस्कृत में रूपान्तरित करने की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इसके रचयिता ने भूमिका में अपना प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है, उसका लक्ष्य अपभ्रंश को पुनः संस्कृत में परिवर्तित करना है। जिस प्रकार एक पतिता ब्राह्मणी को प्रायश्चित के द्वारा पुनः ब्राह्मणीत्व प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही तुर्कों के द्वारा भ्रष्ट एवं 'सर्वजन साधारण' की भाषा को पुनः संस्कृत रूप दिया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भाषा के शताधिक नमूने प्रस्तुत किए हैं, जो हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—गंगा नहाए धर्म हो पापु जा।'''जस-जस धर्मु बाढ़, तस-तस पाप घाट।'

यद्यपि पुस्तक के रचयिता ने इन्हें 'अपभ्रंश' का ही नाम दिया है, किन्तु व्याकरण एवं शब्द-रूपों की दृष्टि से ये उदाहरण निश्चित रूप से पूर्वी हिन्दी के हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इनकी परीक्षा करते हुए इन्हें पूर्वी हिन्दी के उदाहरणों के रूप में स्वीकार किया है। पर उस समय तक 'हिन्दी' नाम बाहर से आने वाले मुसलमानों में ही प्रचलित था। दामोदर जैसे संस्कृत के विद्वानों की दृष्टि में तो अपभ्रंश का नया विकसित रूप भी अपभ्रंश ही था—जो स्वयं उनके शब्दों में 'तुर्कों द्वारा भ्रष्ट' (सर्वजन-साधारण की) भाषा थी—उसका नया नाम (हिन्दी) स्वीकार करने के लिए वे अभी तैयार नहीं थे। अस्तु, पंडित दामोदर ने भले ही इन उक्तियों को 'हिन्दी' नाम न दिया हो, किन्तु वे इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि ईसा की १२वीं शती के मध्य तक मध्यप्रदेश में हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का भली-भाँति विकास हो चुका था।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में जिस 'ग्राम्य अपभ्रंश' का उल्लेख किया है, वह भी पश्चिमी हिन्दी या

राजस्थानी का ही प्रारम्भिक रूप प्रतीत होता है। सामान्यतः जब कोई भाषा पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है, तभी वह वैयाकरणों द्वारा मान्यता प्राप्त करती है। अतः 'ग्राम्य अपभ्रंश' का हेमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लेख होना ही इस बात का प्रमाण है कि वह इससे पूर्व ही परिनिष्ठित अपभ्रंश से इतनी भिन्न हो गई थी कि हेमचन्द्र को उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इतना ही नहीं, हेमचन्द्राचार्य ने इसमें रासक, डोम्बिका जैसे साहित्य के रचे जाने की बात भी कही है। अतः इस 'ग्राम्य अपभ्रंश' या राजस्थानी का उद्भव हेमचन्द्राचार्य के बाद नहीं, अपितु उनसे कुछ पहले ही स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से उसका उद्भव-काल लगभग ११०० ई० या बारहवीं शती का आरम्भकाल माना जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में देशी शब्दों की सूची दी गई है, जिसमें बहुत से शब्द ऐसे आये हैं, जो राजस्थानी या पश्चिमी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं, जैसे—कुम्भार, खम्भो, खोड़ि, गड्डो, गाई, डुंगर; दुवार, नाव, पराई, पिआस, रस्सी, संझा, हलद्दी आदि। साथ ही 'प्राकृत-व्याकरण' में उद्धृत अनेक पद्यों की भाषा भी हिन्दी के पर्याप्त निकट है; उदाहरण के लिए कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

सिरि जर-खण्डी लोअड़ी गलि मणियडा न वीस,
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धएँ उट्ठ-बईस ॥
हिअड़ा जइ वेरिअ घणा जो कि अब्भि चड़ाहुँ।
अम्हाहि बे हत्थड़ा जइ पुणु मारि मराहुँ ॥

उपर्युक्त पद्यों के मोटे टाइप में अंशों की भाषा को निःसंकोच रूप में प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शती तक की कुछ रचनाएँ और भी प्राप्त हैं, जिनमें हिन्दी के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। इसमें रोड़ाकृत राउलवेल (११वीं शती), भरतेश्वर बाहुबलि रास (११८४ ई०), रेवंतगिरि रास (१२३१ ई०), शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५ ई०) का कलाम, चक्रधर स्वामी (११९४-१२७४ ई०) के पद आदि उल्लेखनीय हैं। राउलवेल एक शिलांकित काव्य है जिसमें विभिन्न प्रदेशों की नायिकाओं का वर्णन करते हुए उनकी बोलियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं। डा० हरिवल्लभ भायाणी एवं माताप्रसाद गुप्त ने इस शिलालेख का लिपिकाल ईसा की ११वीं शती निश्चित किया है। उदाहरण के लिए इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

धवल र कापड़ ओढिअल फईसे।
मुह ससि जोन्ह पसारेल जइसे ॥
× × ×
पहिरणु घाघरेंहि जे वेरा।
रूचछडा वछड़ा डहि पर इतरा ॥

(टविकणी)

एहु कानोडउ काइ सउ मांघइ।
पेस अम्हाणउं ना वाउ वेथई ॥

हांम गइ णा पालतो अइसो।
हा बाळर णह्न राउस कइसो॥

(राजस्थानी)

उपर्युक्त उद्धरण विभिन्न प्रदेशों की आधुनिक भाषाओं के प्रारम्भिक रूप के प्रामाणिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तथा वे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि इस शिलालेख के लिपिकाल के समय आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हो चुका था, भले ही अभी उनका सम्यक् विकास न हुआ हो।

बारहवीं तेरहवीं शती में रचित कतिपय रासो काव्यों में भी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते है इनमें 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (११८४ ई०) एवं रेवन्तगिरिरास (१२३१ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी के इतिहासकारों का ध्यान अभी तक इन ग्रंथों की ओर नहीं गया, किंतु गुजराती के विद्वानों ने इन्हें गुजराती की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। जैसा कि इस विषय पर शोधकर्त्ता डा० हरीश ने स्पष्ट किया है, इस युग में गुजराती और राजस्थानी का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था, अतः इन रचनाओं की भाषा को जितनी दृढ़ता से गुजराती बताया जा सकता है, उतनी ही दृढ़ता से राजस्थानी या हिन्दी भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए इनके कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—

हा! कुल मडण हा! कुल चोर।
हा! समरंगणि साहस धीर॥
+ + +
कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु।
एहु जि बीजइ वेयह रोसु॥

...(भारतेश्वर बाहुबलिरास)

अस्तु, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, प्राकृत-व्याकरण, राउलवेल काव्य और विभिन्न प्रारम्भिक रासो काव्य ग्यारहवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक की हिंदी के विभिन्न रूपों के नमूने प्रस्तुत करते हैं तथा इनके आधार पर यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि इस अवधि में हिंदी का उद्भव व विकास हो चुका था। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त भी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जो इसी युग की बताई जाती हैं। किंतु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, अतः यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

हिन्दी का प्रथम कवि कौन ?—कोई भी भाषा अपने आविर्भाव के साथ ही साहित्य में स्थान नहीं प्राप्त कर लेती, अतः हिंदी-भाषा के उद्भव-काल (११०० ई०) को ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव-काल नहीं माना जा सकता। उसके लिए हमें यह देखना होगा कि हिंदी की प्रथम साहित्यिक रचना या उसका रचयिता कौन है, जिसके आधार पर हिंदी के आविर्भाव-काल का निर्णय किया जा सकता है। हिंदी का प्रथम कवि किसे कहा जाय, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित या सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं है। प्रारम्भ में शिवसिंह सेंगर एवं मिश्रबन्धुओं ने पुष्य

नाम के कवि को हिन्दी का प्रथम कवि घोषित किया था; किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह पुष्य कोई और नहीं, अपभ्रंश के ही प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्त हैं, जिन्हें हिन्दी का कवि नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने अपने इतिहास में एक ओर अपभ्रंश कवियों में सर्वप्रथम देवसेन का तथा दूसरी ओर 'वीरगाथा' शीर्षक अध्याय में दलपति विजय का उल्लेख किया है, तथा इनका समय नवीं दसवीं शती माना है। यह भी विचित्र बात है कि आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का आरम्भ इन कवियों के रचना-काल से न मानकर इनके लगभग सौ वर्ष बाद से मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह संदिग्ध है कि आचार्य शुक्ल किसे हिन्दी का प्रथम कवि मानते थे। फिर भी उपर्युक्त दोनों कवियों में से एक अपभ्रंश का है तथा दूसरा अठारहवीं शती का सिद्ध हो चुका है, अतः इनमें से किसी को भी हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० रामकुमार वर्मा सिद्ध कवियों के काव्य में हिन्दी-कविता के आदि रूप का अस्तित्व मानते हुए सरहपा (८१७ वि) को प्रथम कवि मानते हैं, पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिद्धों का साहित्य अपभ्रंश में है, हिन्दी में नहीं, अतः इस मत को भी स्वीकार करना कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रारम्भिक साहित्य को प्रामाणिक संदिग्ध एवं अर्द्ध प्रामाणिक रचनाओं के रूप में वर्गीकृत करते हुए प्रामाणिक रचना के रूप में सर्वप्रथम 'संदेह रासक' की चर्चा की है, किन्तु जैसा कि वे अन्यत्र स्वीकार करते हैं, इसकी भाषा अपभ्रंश है। इसी प्रकार अर्द्ध प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक रचनाओं की भी स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है कि जिससे उनमें से किसी को हिन्दी की प्रथम रचना माना जा सके। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी के द्वारा भी स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं होता।

'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह, अमीर खुसरो, विद्यापति आदि का भी समय समय पर कुछ लोगों के द्वारा हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में उल्लेख होता रहा है, किन्तु इनमें से कुछ की रचनाओं का वर्तमान रूप एवं रचना-काल ही संदिग्ध है, जबकि अन्तिम का समय ही पन्द्रहवीं शताब्दी है, जो कबीर के आस-पास पड़ता है। अतः इनमें से किसी को भी प्रथम कवि के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इधर जैन-कवियों द्वारा रचित कुछ ऐसे रास काव्य प्रकाश में आये हैं, जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है तथा जिनकी भाषा को हिन्दी के प्रारंभिक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन रचनाओं में काल-क्रम तथा भाषा के विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' है, जिसका रचना काल ११८४ ई० (१२१४ वि०) है। इस कृति का संपादन एवं प्रकाशन एक चार-पाँच सौ वर्ष पुरानी तथा अत्यन्त विश्वसनीय प्रति के आधार पर मुनि जिन विजय द्वारा हो चुका है। गुजराती और हिन्दी के अन्य विद्वानों ने भी इसे प्रामाणिक माना है। डा० हरिशंकर शर्मा 'हरीश' ने इसका विशेष अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसे हिन्दी-जैन

साहित्य की रास-परम्परा का सर्वप्रथम काव्य माना है। गुजराती के विद्वान् इसे गुजराती का काव्य मानते है, किन्तु पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक गुजराती और राजस्थानी की दोनों भाषाएँ एक ही थी, इस पर दोनों का अधिकार माना जा सकता है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह रचना प्राचीन एवं प्रामाणिक सिद्ध होती है। इसके कुछ उद्धरण पीछे भाषा के उद्भव के प्रसंग में प्रस्तुत किए जा चुके हैं, जिनसे यह भली भाँति हिन्दी की रचना सिद्ध होती है।

इस रचना की प्रामाणिता का एक अन्य आधार यह भी है कि यह परंपरा से विच्छिन्न अकेली रचना नहीं है, अपितु बारहवीं शती से लेकर पन्द्रहवी-सोलहवीं शती तक इसकी एक अखण्ड परम्परा मिलती है, जिसमें बीसों रासो काव्य आते हैं। इस रचना के कुछ वर्षों बाद ही रचित बुद्धिरास (१२वीं शती), जम्बू स्वामी-रास (१२०६ ई०), जीवदया रास (१२०० ई०), चन्दन बाला रास (१२०० ई०)-रेवंतगिरि रास (१२३१ ई०), नेमिनाथ रास (१२३८ ई०), गयसुकुमाल रास (१२५० लगभग) आदि रचनाएँ भी मिलती है जो रासो-परम्परा के क्रमिक विकास को सूचित करती हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर (अब तक उनसे प्राचीन किसी अन्य हिन्दी कवि का प्रामाणिक रूप से पता नहीं चलता) हिन्दी का प्रथम कवि माना जा सकता है तथा उनके रचनाकाल के आधार पर सन् ११८४ (या १२४१ वि०) से हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल निश्चित किया जा सकता है। यह काल हिन्दी के विकास की दृष्टि से, तथा राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। इस समय तक मुसलमान भारत में आगे तक बढ़ आये थे हिन्दू राष्ट्र का विघटन एवं पतन हो चुका था जिसके कारण राज्याश्रय में पलनेवाले धर्म एवं साहित्य को जनता का संरक्षण एवं जनता की भाषा का माध्यम स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा था। परम्परागत भाषाएँ—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्य और व्याकरण के ढाँचे में रूढ़ हो चुकी थीं, तथा उनका स्थान परवर्ती लोकभाषाएं ले चुकी थीं। अस्तु, इन सभी दृष्टियों से बारहवीं शती के अन्तिम चरण से हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव मानना तर्क-संगत प्रतीत होता है। इससे पूर्व का समय जिसे हिन्दी के इतिहासकार आदिकाल, वीरगाथा-काल या चारण-काल आदि में स्थान देते रहे हैं, और जो हिन्दी की प्रामाणिक रचनाओं की दृष्टि से शून्य है, हिन्दी-साहित्य की काल-सीमाओं के बाहर समझा जाना चाहिए। अस्तु हिन्दी-साहित्य का आरम्भ यहीं से होता है।

: इक्कीस :

हिंदी साहित्य का काल-विभाजन : पुनर्विचार

किसी भी विषय-वस्तु का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उसे किन्हीं काल्पनिक पक्षों, खंडों, वर्गों, या तत्त्वों में विभक्त कर लिया जाता है जिससे कि उसके विभिन्न अवयवों को सम्यक् रूप में ग्रहण किया जा सके। ऐसा न केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में, अपितु व्यावहारिक क्षेत्र में भी किया जाता है। एक बहुत बड़े राज्य को सुशासित करने के लिए एक शासक उसे विभिन्न प्रदेशों एवं मंडलों में विभाजित कर देता है, यद्यपि यह विभाजन कृत्रिम ही होता है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी सम्बन्धित विषय को विभिन्न रूपों में विभक्त कर लिया जाता है। इतिहास में हम मुख्यतः देश (Space) के स्थान पर काल (Time) का अध्ययन करते हैं, अतः अध्ययन की सुव्यवस्था की दृष्टि से उसे विभिन्न काल खंडों में बाँट लेना सुविधाजनक एवं उपयोगी सिद्ध होता है।

काल-विभाजन का लक्ष्य अन्ततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है : साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के काल-क्रम को स्पष्ट करना ही काल-विभाजन का लक्ष्य होता है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं। जहाँ काल-विभाजन उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति में साधक के स्थान पर बाधक बनता हो, वहाँ यही उचित है कि उसके अभाव में ही काम चलाया जाए। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कीथ ने अपने संस्कृत-साहित्य में ऐसा ही किया है। संस्कृत-साहित्य में अनेक धाराएँ एवं अनेक काव्य-प्रवृत्तियाँ एक ही साथ समानान्तर रूप में उदित एवं विकसित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका विश्लेषण काल-क्रमानुसार करने की अपेक्षा काव्य-रूप-भेद एवम् काव्य-प्रवृत्तियों के आधार पर करना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है, कदाचित् इसी परिस्थिति के कारण कीथ ने अपने इतिहास में काल-विभाजन करने का प्रयास नहीं किया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत-साहित्येतिहास को काल-खंडों में विभक्त करना असम्भव है, अपितु हमारा लक्ष्य यहाँ केवल यह बताने का है कि असंगत रूप में काल-विभाजन

करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उसके बिना ही काम चलाया जाय। इस तथ्य पर यहाँ विशेष बल देने की आवश्यकता इसलिए है कि हिन्दी-साहित्येतिहास का क्षेत्र अभी तक परम्परागत काल विभाजन की अनेक असंगतियों एवं त्रुटियों के परिणाम-स्वरूप विभिन्न भ्रान्तियों एवं गुत्थियों से ग्रसित है, जिनके कारण इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग अवरुद्ध हो रहा है। अस्तु, आगे परम्परागत कालविभाजन के विभिन्न प्रयासों पर पुनर्विचार करते हुए उसे परिशोधित रूप देने का प्रयास किया जायगा।

परम्परागत काल-विभाजन : पुनर्विचार—हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—गार्सां तासी एवं शिवसिंह सेंगर—का तो इस ओर ध्यान ही नहीं गया, अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। इस सम्बन्ध मे सबसे पहला प्रयास करने का श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को है। पर जैसा कि उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ की भूमिका मे स्वीकार किया है, उनके सामने अनेक ऐसी कठिनाइयाँ थी जिससे वे काल-क्रम एवं काल-विभाजन के निर्वाह में पूर्णतः सफल नही हो सके। वे लिखते है—'सामग्री को यथासंभव काल-क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह सर्वत्र सरल नही रहा है और कतिपय स्थलो पर तो यह असंभव सिद्ध हुआ है। अतएव वे कवि जिनका समय मैं किसी भी प्रकार स्थिर नहीं कर सका; अन्तिम अध्याय मे वर्णानुक्रम से एक साथ दे दिये गये है।...प्रत्येक अध्याय सामान्यतया एक काल का सूचक है। भारतीय भाषा-काव्य के स्वर्णयुग १६वी एवं १७वी शती पर मलिक मुहम्मद की प्रेम कविता से आरंभ करके, ब्रज के कृष्णभक्त कवियों व तुलसीदास के ग्रंथों और केशवदास द्वारा स्थापित कवियों के रीति सम्प्रदाय को सम्मिलित करके कुल ६ अध्याय हैं, जो पूर्णतया समय की दृष्टि से विभक्त नहीं हैं बल्कि कवियों के विशेष वर्गों की दृष्टि मे बँटे है।'[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वयं जार्ज ग्रियर्सन को अपने काल-विभाजन की अपूर्णता एवं न्यूनता का पता था, फिर भी उन्होंने विभिन्न कालों की कतिपय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास अवश्य किया है। उनका काल-विभाजन इस प्रकार है—(१) चारण-काल (७०२-१३०० ई०) (२) पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण (३) जायसी की प्रेम कविता (४) ब्रज का कृष्ण-सम्प्रदाय (५) मुगल दरबार (६) तुलसीदास (७) रीति-काव्य (८) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (९) अट्ठारहवीं शताब्दी (१०) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान (११) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान। इस प्रकार उनका ग्रन्थ इन ग्यारह काल-खंडों में विभक्त है, जो वस्तुतः युग-विशेष के द्योतक कम है, अध्यायों के शीर्षक अधिक है। इसके अतिरिक्त काल-क्रम का प्रवाह भी इसमें अविच्छिन्न रूप से नही चलता—यथा, चारण-काल (७००-१३०० ई०) के बाद एकाएक वे पन्द्रहवीं शती में पहुँच जाते है, पूरी चौदहवीं शताब्दी को वे इतिहास में से निकाल देते हैं। कालों का नामकरण भी सर्वत्र किसी एक आधार पर नहीं है—कहीं किसी धार्मिक सम्प्रदाय को इसका आधार बताया गया है तो कहीं किसी शासक-विशेष को और कहीं शताब्दी का ही उल्लेख मात्र है। साथ ही तथ्यों की

१. हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास : किशोरीलाल गुप्त, पृ० ४८।

दृष्टि से इसमें सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक के समय को इसमें हिन्दी-साहित्येतिहास का एक युग माना गया है, पर वह भ्रान्ति जो उनके पहले और बाद भी बहुत समय तक चलती रही है, अतः इसके लिए केवल उन्हें ही दोष नहीं दिया जा सकता। अस्तु, ग्रियर्सन का यह प्रयास प्रारम्भिक प्रयास मात्र है, जिसमें विभिन्न न्यूनताओं, असंगतियों एवं त्रुटियों का होना स्वाभाविक है।

आगे चलकर मिश्र बन्धुओं ने अपने अपने 'मिश्र बन्धु-विनोद' (१९१३ ई०) में काल-विभाजन का नया प्रयास किया, जो प्रत्येक दृष्टि से ग्रियर्सन के प्रयास से बहुत अधिक प्रौढ़ एवं विकसित कहा जा सकता है। उनका विभाजन इस प्रकार है :

१. आरम्भिक काल— { पूर्वारंभिक काल (६००—१३४३ वि०)
उत्तरारंभिक काल (१३४४ १४४४ वि०)

२. माध्यमिक काल— { पूर्व माध्यमिक काल (१४४५—१५६० वि०)
प्रौढ़ माध्यमिक काल (१५६१—१६८० वि०)

३. अलंकृत काल— { पूर्वालंकृत काल (१६८१—१७९० वि०)
उत्तरालंकृत काल (१७९१—१८८९ वि०)

४. परिवर्तन काल—(१८९०—१९५२ वि०)

५. वर्तमान काल—(१९२६ वि०—से अब तक)

जहाँ तक पद्धति की बात है, यह वर्गीकरण बहुत सम्यक् एवं स्पष्ट है, किन्तु तथ्यों की दृष्टि से इसमें भी अनेक असंगतियाँ विद्यमान हैं। सबसे पहले तो उन्होंने भी ग्रियर्सन की भाँति ७०० से १३०० ई० तक के युग को हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बद्ध कर दिया है जो वस्तुतः अपभ्रंश का युग है। यह भी विचित्र बात है कि जहाँ वे मध्य-काल में लगभग दो सौ वर्ष के समय को भी साहित्य की प्रौढ़ता के आधार पर दो अवान्तर भेदों—पूर्व माध्यमिक काल एवं प्रौढ़ माध्यमिक काल—में विभक्त करते हैं, जिसका अर्थ है कि सौ वर्षों में ही साहित्य प्रौढ़ हो गया, जबकि प्रारम्भ में सात-आठ सौ वर्षों में भी वह एक-सा रहता है। इसी प्रकार 'अलंकृत-काल' के बाद 'परिवर्तन-काल' (१८९०—१९२५ वि०) के रूप में केवल ३५ वर्ष के समय को अलग स्थान देना भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है; प्रत्येक काल के बाद दूसरा काल आने से पूर्व सदा परिवर्तन होता ही है, अतः यदि 'परिवर्तन-काल' की संज्ञा स्वीकार करें, तो प्रत्येक काल के अनन्तर एक-एक 'परिवर्तनकाल' देना होगा, जो अनावश्यक है। विभिन्न काल-खंडों के नामकरण में भी एक जैसी पद्धति नहीं अपनाई गई है, जहाँ अन्य नामकरण विकासवादिता के सूचक हैं, वहाँ 'अलंकार-काल' आन्तरिक प्रवृत्ति पर आधारित है। अस्तु इन दोषों के होते हुए भी, मिश्र बन्धुओं का प्रयास पर्याप्त महत्वपूर्ण एवं प्रौढ़ है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) प्रस्तुत करते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास किया; जो इस प्रकार है :

आदिकाल (वीरगाथा काल, सं० १०५०-१३७५)

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५-१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००-१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल, १९००-१९८४)

आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन की यदि मिश्र-बन्धुओं के काल-विभाजन से तुलना करें तो इसकी कई विशेषताएँ सामने आएँगी। एक तो इन्होंने मिश्र-बन्धुओं के प्रारंभिक काल की पूर्वारम्भिक सीमा ७०० वि के स्थान पर १०५० वि० को मान कर उसे यथार्थ सीमा के थोड़ा निकट ला दिया। दूसरे, इन्होंने मिश्र-बन्धुओं के द्वारा किए गये भेदोपभेदों की कुल संख्या को दस से घटाकर चार तक सीमित कर दिया। इससे इनके काल-विभाजन में अधिक सरलता, स्पष्टता एवं सुबोधता आ गई। अपनी इसी विशेषता के कारण वह आज तक बहुमान्य एवं बहुप्रचलित है।

शुक्लोत्तर इतिहासकारों में से अनेक ने आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त काल-विभाजन की तीव्र आलोचना तो की, तथा उनके अनेक दोषों को भी स्पष्ट किया, किन्तु उसे संशोधित करके नया रूप देने में सफलता किसी को नहीं मिली। केवल-मात्र डा० रामकुमार वर्मा का ही नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है जिन्होंने नया काल-विभाजन प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है—

१. संधिकाल (७५०-१००० वि०)
२. चारण-काल (१०००-१३७५ वि०)
३. भक्तिकाल (१३७५-१७०० वि०)
४. रीतिकाल (१७००-१९०० वि०)
५. आधुनिक काल (१९०० से अब तक)

डा० वर्मा के इस विभाजन के अन्तिम चार काल-खंड तो आचार्य शुक्ल के ही विभाजन के अनुरूप है, केवल 'वीरगाथाकाल' के स्थान पर 'चारणकाल' नाम अवश्य दे दिया है, किन्तु इसमें एक विशेषता 'संधिकाल' की है, जो वस्तुतः गुणवृद्धि का सूचक कम एवं दोष वृद्धि का द्योतक अधिक है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दी साहित्य का आरम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानना एक विशेष भ्रान्ति का परिणाम है, तथा डा० वर्मा का यह 'संधिकाल' भी उसी भ्रान्ति से संबंधित है, अतः इसे शुक्लजी के काल-विभाजन का परिष्कृत रूप नहीं कहा जा सकता। फिर भी उन्होंने किन्हीं अंशों में आचार्य शुक्ल की रूढ़ि को त्यागने का साहस अवश्य किया है, जो इस युग के लिए कम महत्व की बात नहीं है।

इस बीच डा० रामबहोरी शुक्ल एवं डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास' ग्रन्थ भी प्रकाश में आया है, जो प्रारम्भिक काल की सीमाओं में किंचित् परिवर्द्धन-संशोधन करने के अतिरिक्त सामान्यतः आचार्य शुक्ल के ही अनुरूप है तथा इधर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा अठारह-उन्नीस जिल्दों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' तैयार हो रहा है, जिसके कुछ भाग प्रकाशित भी हो गये है। वस्तुतः इसका स्थूल ढाँचा आचार्य शुक्ल के ही इतिहास के अनुरूप है, जिसके गुण-दोषों को इसमें अधिक विस्तृत एवं विकसित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के अतीत'

में भी रीतिकाल के नामकरण एवं अन्तर्विभाजन के क्षेत्र में नया प्रयास करते हुए भी शेष बातों में पूर्ववर्ती परम्परा का निर्वाह किया है।

इस प्रकार इस समय आचार्य शुक्ल के ही काल-विभाजन को सर्वमान्य कहा जा सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सर्वथा संगत एवं निर्दोष है। आचार्य शुक्ल ने जिन परिस्थितियों में इतिहास लिखा था, उस दृष्टि से वह ठीक है किन्तु विगत वर्षों में हिन्दी के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान एवं चिंतन हुआ है, जिसे ध्यान में रखकर विचार करने से आचार्य शुक्ल के प्रयास की अनेक न्यूनताएँ एवं त्रुटियाँ स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। अतः किसी भी नये इतिहासकार के लिए, यदि वह आचार्य शुक्ल की परम्परा का अंधानुसरण न करके अपने प्रयास को वैज्ञानिक एवं सुसंगत रूप देना चाहता है, तो यह अनिवार्य है कि पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों की निम्नांकित त्रुटियों एवं असंगतियों का निराकरण करके इस क्षेत्र में आगे बढ़े—

(क) पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने तथा आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध में किसी स्पष्ट नीति का अनुसरण नहीं किया, कभी वे अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी,' 'पुरानी हिन्दी' आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हुए उसे हिन्दी से अभिन्न मानते रहे, तो कभी दोनों की स्वतन्त्र सत्ताएँ स्वीकार करते रहे हैं। शुक्लोत्तर इतिहासकारों की नीति तो इस सम्बन्ध में और भी अस्पष्ट एवं विचित्र रही है। वे एक ओर तो यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अपभ्रंश हिन्दी से भिन्न है, पर दूसरी ओर अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं, वस्तुतः इस सम्बन्ध में हमें अब एक स्पष्ट नीति का अनुसरण करना होगा। या तो अपभ्रंश और हिन्दी को सिद्धान्त और व्यवहार—दोनों में एक मानना होगा, अन्यथा अपभ्रंश रचनाओं को हिन्दी-साहित्य में स्थान देने का लोभ संवरण करना पड़ेगा। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हम दूसरे पक्ष का समर्थन करते हुए अपभ्रंश और हिन्दी को दो पृथक् भाषाओं के रूप में स्वीकार करना उचित समझते हैं।

(ख) जिन रचनाओं के आधार पर आचार्य शुक्ल तथा अन्य इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के आरंभिक काल, वीरगाथाकाल या आदिकाल की स्थापना की थी, अब वे अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक या परवर्तीकाल की सिद्ध हो गई हैं यथा, 'जय मयंकजस चन्द्रिका', 'जयचन्द्र प्रकाश' अस्तित्वहीन हैं, 'पृथ्वीराज रासो', बीसलदेव रासो' आदि का रचना-काल संदिग्ध है, 'खुमानरासो, परवर्तीकाल (१८वीं शती) का सिद्ध हो गया है, अमरी खुसरो की पहेलियों की भाषा भी संदिग्ध है तथा अन्य कुछ रचनाएँ हिन्दी की न होकर अपभ्रंश की हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ कवियों को जानबूझ कर भी पीछे ठेल दिया गया है, जैसे विद्यापति का रचना-काल स्वयं शुक्ल जी ने संवत् १४६० के लगभग माना है, फिर भी उन्होंने विद्यापति को इस वीरगाथा काल में स्थान दिया है, जो १३७५ ई० में ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रचनाओं की दृष्टि से आचार्य शुक्ल का 'वीरगाथाकाल' बिलकुल आधार-शून्य सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों ने इस स्थिति को सुधारने के लिए इस काल के नये नामकरण—आदिकाल—का सुझाव दिया, किन्तु हमारे विचार से केवल नाम बदल देने मात्र से इस असंगति का निराकरण नहीं हो सकेगा। जिस वस्तु का

अस्तित्व ही नहीं है उसका नामकरण कैसा ? और यदि कोई नामकरण किया ही जाता है तो 'आदि-काल' की अपेक्षा 'शून्य-काल' नाम कहीं अच्छा रहेगा, क्योंकि इससे हमारे विद्यार्थियों और शोधकर्त्ताओं के सामने यह स्थिति तो स्पष्ट हो जायगी कि रचनाओं की दृष्टि से यह शून्य है। पर हमारे विचार से वर्तमान स्थिति में सबसे अच्छा प्रयास यह होगा कि हम पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ धारणाओं से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ वहाँ से मानें, जहाँ से वस्तुतः वह आरम्भ होता है या जब से इसकी प्रथम प्रामणिक रचना उपलब्ध होती है तथा उसी के अनुसार प्रारम्भिक काल की सीमाएँ एवं प्रवृत्तियां निर्धारित करते हुए उसकी स्थापना वास्तविक रचनाओं के आधार पर करें।

(ग) परम्परागत इतिहास-ग्रन्थों में प्रचलित विभिन्न काल-खंडों का नामकरण एवं उनका अन्तर्विभाजन भी हिन्दी-साहित्य की विभिन्न परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों के अध्ययन में साधक बनने के स्थान पर बाधक अधिक सिद्ध होता है। 'वीरगाथा काल' की असंगति तो ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है, भक्तिकाल, एवं रीतिकाल नाम भी दोष-शून्य नहीं हैं। ये नाम अपने युग की किसी एक धारा या एक प्रवृति को ही सूचित करते है। जबकि इन युगों में अनेक धाराएँ एवं अनेक प्रवृत्तियाँ साथ-साथ विकसित होती रही हैं। एक प्रवृत्ति को ही प्रधानता देने एवं शेष को गौण मानकर 'फुटकर खाते' अर्थात् रद्दी की टोकरी में डाल देने का परिणाम यह हुआ कि इस समय विभिन्न युगों का अधूरा एवम् एकपक्षीय रूप ही हमारे सामने आ पाता है। एक प्रवृत्ति को ही सर्वप्रमुख मान लेने का दृष्टिकोण अपने लिए तथा पाठकों के लिए सुविधाजनक भले ही प्रतीत हो, किन्तु वह इतिहास की एकांगी एवं अधूरी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह प्रयास उस अंध-गज-न्याय का स्मरण करता है, जिसमें हाथ आए अंग को ही प्रमुख मानकर पूरे हाथी का बोधक मान लिया गया था। अस्तु, इसमें विभिन्न अंगों का नामकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ न्याय हो सके।

(घ) नये अनुसंधान से अनेक नयी रचनाओं एवम् काव्य-परम्पराओं का भी उद्घाटन हुआ है, जिन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना आवश्यक है। इसके लिए 'भक्ति-काल' की केवल चार काव्य-परम्पराओं (निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण प्रेम-मार्गी, कृष्ण-भक्ति एवम् रामभक्ति सम्बन्धी काव्य-धाराएँ) से काम नहीं चलेगा। अब हमें नये वर्गीकरण के अनुसार इस काल में लगभग आठ-नौ परम्पराओं का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्हें उचित स्थान देना होगा। इन परम्पराओं का परिचय आगे दिया जायगा।

(ङ) 'भक्तिकाल' में प्रवर्तित होनेवाली सभी काव्य-परम्पराएँ आधुनिक काल के आरम्भ तक अखंड रूप से चलती रहती हैं, अतः भक्तिकाल को रीतिकाल से सर्वथा विच्छिन्न मानना भी ठीक नहीं है।

अस्तु, हम उपर्युक्त तथ्यों एवं विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास करने की आवश्यकता समझते हैं, अतः यहाँ ऐसा ही किया जायगा।

काल-विभाजन का नया प्रयास - यहाँ हमें सबसे पूर्व यह स्पष्ट कर लेना

चाहिए कि हमारे काल-विभाजन का आधार क्या होगा या किन तथ्यों पर आधारित रहेगा। इस सम्बन्ध में सामान्यतः दो मत प्रचलित हैं : एक मत के अनुसार साहित्येतिहास का काल-विभाजन सर्वथा स्वतन्त्र रूप में—विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर होना चाहिए, जबकि दूसरे मत के अनुसार साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है, अतः तत्सम्बन्धी समाज की विभिन्न परिस्थितियों—विशेषतः राष्ट्रीय परिस्थितियों—के आधार पर साहित्येतिहास का काल-विभाजन किया जाना चाहिए। पहले मत का स्पष्टीकरण प्रो० नलिन शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है—'यदि हम यह मानते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषावैज्ञानिक विकास से संयुक्त रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है, और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदंड के सहारे निर्धारित होने चाहिए। यह मत स्पष्टतः इस भ्रान्त धारणा पर आधारित है कि साहित्य का विकास स्वतन्त्र रूप से—समाज और राष्ट्र की परिस्थितियों से अप्रभावित रहते हुए होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य का विकास पूर्ववर्ती परम्पराओं एवं युगीन वातावरण का निर्माण राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों के प्रभाव से होता है, अतः साहित्य के स्वतन्त्र विकास की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना अवश्य है कि साहित्य के इतिहास में परम्पराओं एवं परिस्थितियों का आधार उसी सीमा तक ग्रहण किया जाना चाहिए, जहाँ तक वे साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती हैं, अन्यथा उनका असम्बद्ध एवं स्वतंत्र विवरण अनावश्यक भार सिद्ध होगा। इस प्रकार के भार का उदाहरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास' के कुछ खंडों में देखा जा सकता है, जिनमें सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विवरण साहित्येतिहास के अंग नहीं, अपितु ऊपर से जोड़े किसी अन्य पुस्तक के अंश से लगते हैं। वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परम्पराओं एवं बाह्य परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, अतः काल-विभाजन में भी इसी तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा।

साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दी का साहित्यिक क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत है कि उसमें एक ही युग में अनेक प्रवृत्तियाँ एक साथ चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। जिस समय राजस्थान के चारण वीरता के गीत गाने में संलग्न थे, उसी समय मिथिला के कवि सौन्दर्य, प्रेम और विरह भावों की अभिव्यक्ति में लीन थे। जिस समय अकबर के दरबार में अनेक कवि नायिका के सौन्दर्य की व्याख्या रसिकतापूर्ण शब्दों में कर रहे थे, उसी समय तुलसी की लेखनी भक्ति-रस से ओत-प्रोत पंक्तियाँ लिख रही थी। अस्तु, जिस वीतराग, भक्ति एवं शृंगारिकता को हम तीन अलग-अलग युगों की प्रवृत्तियों के रूप में मानते चले आ रहे हैं, वे वस्तुतः एक ही युग में साथ विकसित होनेवाली तीन प्रवृत्तियाँ हैं। जहाँ राज-दरबारों में रसिकता और वीरता का पोषण हो रहा था, वहाँ धर्माश्रय एवं लोकाश्रय में

भक्ति-भावना एवं शुद्ध प्रणय की प्रवृत्तियाँ पनप रहीं थीं। अस्तु, जैसा कि आगे विभिन्न काव्य-परम्पराओं के अध्ययन से स्पष्ट होगा, हिन्दी-साहित्य के विभिन्न केन्द्रों के आश्रय में एक ही साथ विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। इस केन्द्र-भेद या आश्रय-भेद को युग-भेद समझ लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए, सबसे पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास को दो बड़े काल-खण्डों में विभक्त किया जा सकता है; एक १८५७ ई० से पहले का समय और दूसरा, उसके बाद का समय। जिस प्रकार हमारे राजनीतिक इतिहास में १८५७ ई० एक ऐसी विभाजक रेखा है, जिससे मुस्लिम राज्य की समाप्ति तथा ब्रिटिश शासन का आरम्भ होता है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी यह पुराने युग की समाप्ति एवं नये युग के आरम्भ का सूचक है। नये युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म १८५० ई० में हुआ था तथा सात-आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी पहली कविता लिख डाली थी, अतः नये युग का आरंभ राजनीतिक इतिहास के अनुकूल १८५७ ई० से माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने भी इसी समय के आस-पास सन् १८४३ ई० या १९०० वि०) से नये युग का आरम्भ माना है, जिसे उन्होंने 'आधुनिक काल' का नाम दिया है। यदि इस नये युग को यह नाम दिया जाता है तो इसके समकक्ष समस्त पुराने युग को 'प्राचीन-काल' या पूर्व-आधुनिक काल' नाम दिया जाना अपेक्षित है। यद्यपि 'प्राचीन-काल' नाम समय की दृष्टि से बहुत दूरी का सूचक है, अत. एकाएक अनुपयुक्त सा लग सकता है, किन्तु काव्य की विषय-वस्तु एवं काव्य एवं काव्य-प्रवृत्तियों को देखते हुए १८५७ ई० के पहले के समस्त हिन्दी-काव्य को 'प्राचीन काल' का साहित्य कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। फिर भी जिन्हें यह नाम कम पसन्द है, वे इसे हिन्दी साहित्य के 'प्रथम उत्थान काल' या 'पूर्व-आधुनिक काल' की संज्ञा दे सकते हैं।

इस 'प्राचीन काल' (११८४-१८५७ ई०) को भी इसकी दीर्घता को देखते हुए दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रारम्भिक काल—११८४-१३५० ई० (२) मध्य काल—१३५०-१८५७ ई०। यद्यपि हमारे विचार से सारा मध्यकाल एक ही प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है, फिर भी इसे दो उपखण्डों में विभक्त किया जा सकता है— पूर्व मध्यकाल १३५०-१६०० ई० तथा उत्तर मध्यकाल १६००-१८५७ ई०। इस प्रकार नूतन काल-विभाजन तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्राचीन काल			आधुनिक काल
प्रारंभिक काल	मध्यकाल		
	पूर्व मध्य	उत्तर मध्य	

उपर्युक्त तालिका को और अधिक संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०)
२. पूर्व मध्यकाल (१३५०-१६०० ई०)
३. उत्तर मध्यकाल (१६००-१८५७ ई०)
४. आधुनिक काल (१८५७ ई०—अब तक)

परम्परागत काल-विभाजन से इसकी तुलना करने पर दो बातें स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो इसमें नामकरण सामान्य रूप में किया गया है तथा दूसरे काल-सीमाओं में परिवर्तन किया गया है। नामकरण में किसी एक ही प्रवृत्ति—जैसे 'भक्ति', 'रीति' आदि को प्रमुखता दे देने से अन्य प्रवृत्तियाँ गौण हो जाती हैं तथा उसके युग का एकांगी बोध प्राप्त होता है, अतः हमने विकासक्रम के आधार पर ही नामकरण करना उचित समझा है। इसी प्रकार सीमा-निर्धारण में भी विभिन्न कालों की नूतन काव्य परम्पराओं के उद्भव-काल को ध्यान में रखा गया है। इसका विस्तृत विवेचन हम अपने 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में कर चुके हैं, अतः यहाँ उसका संकेत कर देना पर्याप्त होगा।

काल विभाजन पर विचार करते समय इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि पुराने इतिहासकारों के सामने हिन्दी-साहित्य का अधूरा चित्र था, बहुत-सी काव्य-धाराओं के अस्तित्व का भी उन्हें पता नहीं था, जो कि अब अनुसंधान द्वारा प्रकाश में आई हैं। परम्परागत इतिहास ग्रन्थों के अनुसार मध्यकाल में केवल इन पाँच धाराओं का अस्तित्व था—(१) निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा (२) निर्गुण प्रेममार्गी शाखा (३) सगुण कृष्णभक्ति शाखा (४) सगुण रामभक्ति शाखा (५) रीतिकाव्य। किन्तु नये अनुसंधान से पूरे मध्यकाल में निम्नांकित धाराओं का अस्तित्व प्रमाणित होता है—(क) मध्यकाल में उद्भूत काव्य-धाराएँ :

(अ) धर्माश्रय में विकसित—

१. सन्त काव्य-परम्परा (निर्गुण ज्ञानाश्रयी)
२. पौराणिक गीति परम्परा (कृष्ण-भक्ति काव्य)
३. पौराणिक प्रबन्ध परम्परा (राम-भक्ति काव्य)
४. रसिक भक्ति-काव्य-परम्परा।

(आ) राज्याश्रय में विकसित—

५. मैथिली गीति-काव्य परम्परा
६. वीर-काव्य परम्परा
   (१) ऐतिहासिक रास-काव्य
   (२) ऐतिहासिक चरित्र-काव्य
   (३) ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
७. शास्त्रीय मुक्तक परम्परा (रीति-काव्य)

(इ) लोकाश्रय में विकसित—

८. रोमांटिक काव्य परम्परा—

(१) रोमांटिक कथा-काव्य
(प्रेमाख्यान-काव्य)
(२) रोमांटिक गीति-काव्य
(रीतिमुक्त काव्य)

उपर्युक्त काव्य-परम्पराओं में निम्नलिखित की चर्चा आचार्य शुक्ल के इतिहास में नहीं है, जबकि परम्पराएँ बहुत दीर्घ, सशक्त एवं प्रभावशाली हैं; इनमें से प्रत्येक परम्परा में शताधिक काव्य आते हैं जिन्हें इतिहास में स्थान नहीं दिया गया—

१. रसिक-भक्ति काव्य-परम्परा।
२. मैथिली गीति-परम्परा।
३. ऐतिहासिक रास-परम्परा।
४. ऐतिहासिक चरित-परम्परा।
५. ऐतिहासिक मुक्तक-परम्परा।
६. रोमांटिक गीति-काव्य-परम्परा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से कृष्ण-भक्त कवियों ने गीति-शैली को अपनाया, जबकि राम-भक्त कवियों ने प्रबन्ध-शैली को, जबकि तथ्य यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने राम-भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक प्रबन्ध काव्य लिखे हैं। तथा दूसरी ओर राम-भक्त कवियों ने गीति-काव्य भी पर्याप्त संख्या में लिखे हैं। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि भक्त कवियों ने केवल राम और कृष्ण के ही चरित्र को नहीं, अपितु अन्य अवतारों तथा प्रह्लाद, सुदामा, हरिश्चन्द्र, भरत, दुर्गा, शिव, पार्वती; भक्त ध्रुव, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि की पौराणिक गाथाओं को लेकर शताधिक काव्य लिखे जिन्हें 'राम-काव्य' या 'कृष्ण काव्य' के अन्तर्गत स्थान देना कठिन है, इसीलिए इन परम्पराओं का नामकरण क्रमशः 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य' एवं 'पौराणिक गीति-काव्य' के रूप में करना आवश्यक है। सच पूछें तो भक्त कवियों का लक्ष्य संस्कृत के समस्त पौराणिक साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत कर देने का था—एक प्रकार से 'पौराणिक भक्ति' का नवजागरण करने का था—अतः इस काव्य की मूल चेतना को समझने के लिए भी इनके नामकरण में 'पौराणिक' विशेषण को स्थान देना आवश्यक है।

अस्तु पिछले चालीस वर्षों में—आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के अनन्तर—हिन्दी-साहित्य की इतनी प्राचीन एवं मध्यकालीन सामग्री प्रकाश में आई है कि उससे इसके इतिहास का परम्परागत चित्र बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है तथा उसे देखते हुए उसके काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण, परम्पराओं के वर्गीकरण एवं नामकरण में पर्याप्त परिवर्तन, संशोधन एवं परिवर्द्धन करना आवश्यक हो जाता है। हो सकता है; जो विद्वान् पुराने ढाँचे के अभ्यस्त हैं, वे नये वर्गीकरण एवं नामकरण को ग्रहण करने में थोड़ी कठिनाई अनुभव करें, पर यदि सरलता से गृहीत भ्रान्तियों की अपेक्षा कठिनाई से उपलब्ध यथातथ्य विचार का महत्त्व अधिक है, तो उन्हें इस कठिनाई का भी सामना साहस एवं धैर्य के साथ करना चाहिए, ताकि हम हिन्दी साहित्य की अधूरी तस्वीर के स्थान पर उसके एक परिपूर्ण रूप का बोध प्राप्त कर सकें।

: बाईस :

आदिकाल और उसकी समस्याएं

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल—जिसे आदिकाल, वीरगाथाकाल, चारण-काल आदि अनेक संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—हिन्दी का सबसे अधिक विवादग्रस्त काल है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गयी थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक भाव प्रकट करते थे।"—(हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ—१) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् ने भी इस काल की जटिलताओं को स्वीकार करते हुए लिखा है—"इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है।"

नामकरण की समस्या

आदिकाल की अनेक समस्याओं में से सर्व-प्रथम तो उसके नामकरण की ही है। सबसे पूर्व मिश्र-बन्धुओं ने इसे 'आदिकाल' नाम से पुकारा, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग में वीर-गाथात्मक रचनाओं की प्रधानता बताते हुए इसे 'वीर-गाथा काल' नाम दिया। किन्तु वास्तविकता यह है कि शुक्लजी के द्वारा उल्लिखित वीरगाथाओं—खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द्र-प्रकाश, जयमयंक-जस-चन्द्रिका और परमाल-रासो—में कुछ तो परवर्ती युग में रचित सिद्ध हो चुकी हैं (जैसे—खुमाण रासो व परमाल रासो); कुछ अप्रामाणिक (पृथ्वीराज रासो) हैं, कुछ वीररस से शून्य प्रेमकाव्य (बीसलदेव रासो) हैं और कुछ का अस्तित्व ही नहीं है। अतः इसे "वीर-गाथाकाल' कहना निरर्थक-सा है। डा० रामकुमार वर्मा ने सम्भवतः शुक्लजी की इस धारणा से प्रभावित होकर कि इन वीर-गाथाओं के रचयिता राजाश्रित चारण थे, इसे 'चारण-काल' की संज्ञा दी है। किन्तु इस युग के अन्तर्गत उन्होंने जिन रचनाओं को स्थान दिया, उनमें से अधिकांश सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक में रचित हैं और जो रचनाएं इस काल की

सीमा में आती हैं, उनमें किसी का भी रचयिता कोई चारण नहीं है। यह तथ्य स्वयं डा० वर्मा द्वारा रचनाओं के दिये गये परिचय—रचनाकाल एवं रचयिता—से ही सिद्ध हो जाता है, आश्चर्य है कि यह असंगति उनके ध्यान में नहीं आई।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश और हिन्दी को एक ही भाषा मानते हुए इस काल का नामकरण 'सिद्ध-सामंत युग' किया है। 'सिद्ध' वज्रयानी सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं का प्रतीक है और 'सामन्त' हिन्दी के वीर-रसात्मक साहित्य का सूचक; किन्तु उनके मत को स्वीकार करने में भी कई आपत्तियां है। एक तो अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानना ही अनुचित है, अन्यथा आधुनिक युगीन प्रान्तीय भाषाएँ—गुजराती, बंगला, मराठी आदि—जो अपभ्रंश से विकसित हुई हैं, हिन्दी की ही शाखाएँ सिद्ध हो जाएँगी। सम्भवतः हिन्दी-प्रेमी जनता इसे स्वीकार कर ले किन्तु अन्यप्रान्तीय भाषाओं के समर्थक इसे कभी मानने को तैयार नहीं होंगे। दूसरे यदि हिंदी और अपभ्रंश को एक कहा जा सकता है तो फिर अपभ्रंश और प्राकृत या प्राकृत और पालि को एक कहने में क्या अड़चन है? फिर तो हिंदी के अंतर्गत पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का सारा साहित्य लिया जा सकता है और उस स्थिति में इस युग का नाम 'सिद्ध-सामंत युग' ही नहीं, "जैन-सिद्ध-सामंतादि युग' रखना होगा, क्योंकि इस युग के सबसे बड़े कवि जैन है।

इस समस्या के समाधान में आचार्य हजारीप्रसाद जी ने भी योग देते हुए लिखा है कि "वस्तुतः हिन्दी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि वह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग-सचेत कवियों का काल है।...यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।" इस नाम की अनुपयुक्तता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि पाठक या श्रोता के मस्तिष्क को सदैव एक लम्बा वाक्य चेतावनी के रूप में संवाहित करना पड़ता है अन्यथा भ्रान्ति में पड़ जाने का भय है! यह इस काल का दुर्भाग्य है कि हमारे चोटी के इतिहासकारों के पचास-वर्ष के दीर्घ प्रयत्न के पश्चात् भी इसे कोई निर्भ्रान्त नाम नहीं मिल सका।

अपभ्रंश और हिन्दी की भिन्नता

यह नामकरण की समस्या स्वयं तो हल हो ही नहीं पाई, इसने कई नवीन समस्याओं को और जन्म दे दिया है। एक ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस सम्बन्ध में अपभ्रंश और हिन्दी की एकता पर प्रकाश डाला था, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। ऊपर आचार्य शुक्ल ने भी कुछ ऐसी ही मौलिक बातें कही हैं—वे भी

अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' का नाम देते हुए इसका उद्भव विक्रम की सातवीं शती से मानते हैं—"अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।...अतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।" (हि० सा० इ०, पृ० ३ व २०) यहाँ प्रश्न उठता है, जब इस प्राकृताभास हिन्दी का उदय सातवीं शताब्दी से पूर्व ही हो गया था तो फिर आदिकाल का प्रारम्भ १०५० वि० से मानने में क्या संगति है? इससे पूर्व जो अपभ्रंश कवि हो चुके हैं, उन्हें हिन्दी साहित्य में स्थान क्यों नहीं दिया गया? इसका समाधान करते हुए शुक्ल जी ने उत्तर दिया है कि "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।" (हि० सा० इ०, पृ० २१) इसका तात्पर्य यह है कि यदि शुक्ल जी को यह विश्वास हो जाता है कि जैन और सिद्ध कवियों की अपभ्रंश-रचनाओं में साहित्यिकता है तो वे हिन्दी साहित्य का आरम्भ सातवीं शताब्दी से ही मान लेते। पर शायद वे ऐसा भी नहीं करते, क्योंकि उन्होंने आगे चलकर अपने इतिहास में 'अपभ्रंश-काल' और 'देश-भाषा काव्य' शीर्षक दो अध्याय अलग-अलग दिये हैं तथा दोनों अध्यायों में ही उन्होंने नवीं से पन्द्रहवी शती तक की रचनाओं को स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस प्रारम्भिक धारणा में कि प्राकृताभास हिन्दी है, आगे चलकर परिवर्तन आ गया क्योंकि अगले अध्याय में अपभ्रंश' को इसी नाम से पुकारते हैं, 'प्राकृताभास हिन्दी' के नाम से नहीं।

प्रामाणिक रचनाओं का अभाव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी की मान्यताओं का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है—"अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया है, उनमें कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है।" साथ ही उन्होंने डॉ० मोतीलाल मेनारिया के इस मत का भी समर्थन किया है कि वीर-गाथाएँ किसी युगविशेष की प्रवृत्ति न होकर चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के कवियों की जातिगत मनोवृत्ति की सूचक हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर-गाथा काल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना है।

आचार्य हजारीप्रसाद जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि आदिकाल में हिन्दी भाषी-प्रदेश में रचित एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसे हिन्दी की कहा जा सके। उन्हीं के शब्दों में—"वस्तुतः १४वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध

नहीं हो रहा है। जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ मिल जाते है, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था।' प्रश्न है चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी की कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध क्यों नहीं है ? इन विषयों में द्विवेदी जी का कथन है कि इस युग में मध्य देश के शासक गाहड़वाल नरेश थे। वे 'इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था, वहाँ तक देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।" द्विवेदीजी का यह मत मौलिक होते हुए भी सर्वमान्य नहीं हो पाया है। डा० दशरथ शर्मा ने इनका खण्डन करते हुए लिखा है—"कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देशी भाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते है कि उसके एक-दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा से विरोध किया था और उन्होंने विरोध भी किया हो तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।"—(आलोचना, ७ अंक, पृष्ठ ११६) यह भी ध्यान रहे कि कन्नौज पर गाहड़वालों का आधिपत्य १०९० ई० में हुआ तथा देशी भाषा को आश्रय देने वाले गोविंदचन्द्र सन् १११४ में गद्दी पर बैठे, अतः द्विवेदीजी का कथित उपेक्षाकाल २४ वर्ष का ही सिद्ध होता है। इस अल्पकालीन उपेक्षा के कारण परवर्ती शताब्दियों का भी साहित्य किस प्रकार नष्ट हो गया, यह बात हमारी समझ के बाहर है।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि गाहड़वालों की उपेक्षा के कारण हमारे साहित्य को आश्रय नहीं मिला, तो भी उन अज्ञात, अरचित या अरक्षित रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढाँचा खड़ा नहीं किया जा सकता। जब हमारे पास इस युग की कोई प्रामाणिक रचना ही नहीं तो इसका नामकरण कैसे ? इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने एक लेख—"आदिकाल का अस्तित्व कहाँ है ?"—(साहित्य-संदेश, नवम्बर, ५४) प्रकाशित करवाया था, किन्तु उसका उत्तर आज तक किसी विद्वान् ने देने का कष्ट नहीं किया। वस्तुतः इस युग मे हिन्दी की प्रामाणिक रचनाएँ न मिलने का कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशान्ति या किसी शासक-विशेष की अवज्ञा नहीं है, यदि ऐसा होता तो इस युग मे रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है, किन्तु हम उसे बलात् हिन्दी का आदिकाल या वीरगाथा काल सिद्ध करना चाहते हैं—फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय ग्रहण करते है और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की कहानियाँ कहकर आँसू बहाते है।

वस्तुतः आदिकाल की विभिन्न समस्याओं के समाधान का एक ही मार्ग है कि हम अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों को त्यागकर सबसे पूर्व इस बात का निर्णय

करें कि हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का उद्भव कब हुआ, तदनन्तर इस काल को प्रामाणिक हिन्दी रचनाओं के आधार पर इसके नाम, काल-सीमा एवं प्रवृत्तियों आदि का निर्धारण करें। अस्तु, हम आगे ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्भव-काल

प्रारम्भ में विद्वानों की धारणा थी कि अपभ्रंश और हिन्दी एक ही भाषा है, अतः उन्होंने अपभ्रंश की रचनाओं के आधार पर ही हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्भव लगभग सात सौ विक्रमी स्वीकार किया। किन्तु अब यह निर्विवाद-रूप में निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न भाषाएँ हैं, यह दूसरी बात है कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से ही हुआ है। हिन्दी का विकास किस समय हुआ— इस सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग मत है। पर जैसा कि हमने अपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में विभिन्न भाषा वैज्ञानिकों एवं आलोचकों के विचारों की छानबीन करते हुए सप्रमाण सिद्ध किया है, हिन्दी का उद्भव ग्यारहवीं शती के आरम्भ में हो चुका था। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पंडित दामोदर रचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (१२वीं शती), आचार्य हेमचन्द्र के 'प्राकृत-व्याकरण' (१२वीं शती), रोड़ाकृत, 'राउलवेल' (११वीं शती) के शिलालेख आदि को देखा जा सकता है, जिनमें प्रारम्भिक हिन्दी के नमूने उपलब्ध हैं।

कुछ विद्वान् हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य—दोनों का आविर्भाव साथ-साथ मान लेते हैं जो ठीक नहीं। किसी भी लोक-भाषा को साहित्य के द्वार तक पहुँचने में थोड़ा-बहुत समय अवश्य लग जाता है—अतः भाषा और साहित्य, दोनों का उद्भव साथ-साथ नहीं माना जा सकता। हमारे कुछ इतिहासकारों ने तो हिन्दी भाषा का उद्भव १२वीं-१३वीं शती में और हिन्दी साहित्य का उद्भव सातवीं शती तक में मान लिया है, जो हास्यास्पद है। क्या हिन्दी भाषा के उद्भव से पूर्व ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सम्भव है? वस्तुतः दृष्टि की अवैज्ञानिकता एवं चिन्तन की अस्पष्टता के कारण ही इस प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की जाती है, अन्यथा यह स्पष्ट है कि साहित्य का आविर्भाव भाषा के उद्भव काल के अनन्तर ही सम्भव है।

हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल के निर्णय के लिए; हमें यह देखना है कि हिन्दी का सबसे पहला कवि कौन है? प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदीजी जैसे इतिहासकार भी इस प्रश्न के संबंध में मौन हैं। कुछ इतिहासकारों ने सातवीं शती के पुष्य या आठवीं शती के स्वयंभू का नाम लिया है, पर इनमें से एक की तो कोई रचना ही उपलब्ध नहीं है और दूसरा अपभ्रंश का कवि है। वस्तुतः सातवीं-आठवीं शती में, जबकि हिन्दी भाषा का ही आविर्भाव नहीं हुआ था, किसी हिन्दी कवि के अस्तित्व की कल्पना करना निरर्थक है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल के हिन्दी कवियों में सबसे पहले 'खुमान रासो' के रचयिता दलपति विजय का परिचय दिया है, क्योंकि उनका रचना-काल उनके मतानुसार दसवीं शताब्दी था, पर अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि यह रचना

अठारहवीं शती में रचित है। आचार्य शुक्ल द्वारा उल्लिखित अन्य रचनाओं में से 'बीसलदेव रासो' 'पृथ्वीराज रासो', 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ', 'परमार रासो' आदि में से भी किसी को हिन्दी की पहली रचना होने का गौरव नहीं दिया जा सकता, क्योंकि एक तो उनके रचनाकाल अनिश्चित है, दूसरे उनमें से कोई भी तेरहवीं शती से पूर्व रचित सिद्ध नहीं होती। यह भी आश्चर्य की बात है कि प्रथम रचना का निर्णय किए बिना ही आचार्य शुक्ल ने कोरे अनुमान के आधार पर हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल १०५० विक्रमी घोषित कर दिया।

यदि पूर्ववर्ती इतिहास द्वारा उल्लिखित कवियों में से ही किसी को हिन्दी का पहला कवि स्वीकार करना है तो कबीर ही पहले कवि सिद्ध होते है, क्योंकि अन्य पूर्ववर्ती कवियों का जीवन-काल एवं रचना-काल या तो अनिश्चित है या फिर वह कबीर के बाद पड़ता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य का आरम्भ भक्तिकाल में मानना पड़ेगा तथा पूरे आदिकाल को अस्तित्वहीन मानते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास में से निकाल देना पड़ेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास (हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास) में भक्तिकाल के साथ 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' विशेषण लगाकर अप्रत्यक्ष में यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तव में भक्तिकाल से ही हिन्दी-साहित्य का आरम्भ होता है। पर इधर गुजरात के जैन-भण्डारों से कुछ ऐसे रास-संज्ञक ग्रंथ उपलब्ध हुए है, जो कि निश्चित रूप में १२वीं-१३वीं शती में रचित है तथा जिनकी भाषा प्रारम्भिक हिन्दी है—अतः इसके आधार पर हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के अस्तित्व को बचाया जा सकता है। इन रचनाओं में सबसे प्राचीन शालिभद्र सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' है, जिसका रचना-काल स्वयं कवि के निर्देशानुसार संवत् १२४१ वि० (११८४ ई०) है। अतः हम इसी रचना को हिन्दी की प्राचीनतम उपलब्ध प्रामाणिक साहित्यिक रचना मानते हुए मुनि शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम कवि तथा ११८४ ई० को हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल मान सकते है। कुछ विद्वानों ने भ्रांतिवश 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' को अपभ्रंश की रचना माना है, किन्तु जैसा कि डा० हरीश तथा अन्य विद्वानों ने इसकी भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन करने के अनन्तर सिद्ध किया है, इसकी भाषा ग्राम्य अपभ्रंश का विकसित रूप है, जिसे प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है। परिनिष्ठित अपभ्रंश से यह भिन्न है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है—

हा ! कुल मंडण हा कुल वीर !
हा ! समरंगणि साहस धीर
× × ×
इहि कुल ऊपरि कीजइ रोसु
एहु जि बीजइ दैयह दोसु !

वस्तुतः यह स्पष्ट ही बारहवीं शती की राजस्थानी या हिन्दी की रचना है। अतः हमें परम्परागत भ्रान्तियों का परित्याग करते हुए हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-

काल या आदिकाल (प्रारम्भिक काल) की आरम्भिक सीमा के रूप में सन् ११८४ ई० को निःसंकोच स्वीकार कर लेना चाहिए।

आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ

इस काल की प्रामाणिक रचनाओं का निर्णय करना भी एक समस्या है, क्योंकि अब तक विभिन्न इतिहासकारों ने इस काल के अन्तर्गत जिन रचनाओं को स्थान दिया है वे विभिन्न कारणों से अप्रामाणिक सिद्ध होती जा रही हैं। मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ में भगवत्गीता, वर्त्तमाल, संमतसार आदि ऐसी रचनाओं का विवरण दिया है, जो आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'नोटिस मात्र' हैं या जिनका अस्तित्व ही नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने भी 'हिन्दी काव्य धारा' के अन्तर्गत अपभ्रंश के कवियों को स्थान दिया है जो उचित नहीं। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के अन्तर्गत ये बारह रचनाएँ स्वीकृत की हैं—(१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो (३) कीर्त्तिलता (४) कीर्तिपताका (५) खुमान रासो (६) बीसलदेव रासो (७) पृथ्वीराज रासो (८) जयचंद्र-प्रकाश (९) जय मयंक जस-चन्द्रिका (१०) परमाल रासो (११) खुसरो की पहेलियाँ (१२) विद्यापति की पदावली। इनमें से प्रथम चार तो अपभ्रंश की रचनाएँ हैं, अतः उन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता। पाँचवीं—'खुमान रासो, का रचनाकाल संवत् १७६० के बाद सिद्ध हो चुका है अतः उसे आदिकाल की रचना नहीं कहा जा सकता। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' का भी रचनाकाल विवादास्पद है तथा उन्हें पूर्णतः प्रामाणिक भी नहीं माना जाता। 'जयचन्द्र-प्रकाश' एवं 'जय मयंक जस-चन्द्रिका' का अस्तित्व ही नहीं उनका नाममात्र कदाचित् आचार्य शुक्ल ने कहीं पढ़ा था, ऐसी स्थिति में उन्हें भी आदिकाल की हिन्दी-रचना कैसे कहा जा सकता है! आचार्य शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं द्वारा परिगणित अस्तित्वहीन रचनाओं का उपहास उन्हें 'नोटिस मात्र' कह कर किया है, पर यह विशेषण इन दोनों रचनाओं पर लागू होता है। 'परमाल रासो' एवं 'खुसरो की पहेलियाँ' भी भाषा एवं रचना-काल की दृष्टि से अप्रामाणिक एवं परवर्ती सिद्ध होती हैं। अन्त में एक ही रचना ऐसी बच जाती है जो निश्चित ही प्रामाणिक है—वह है विद्यापति की 'पदावली'। पर इसे आदिकाल में स्थान देते समय स्वयं आचार्य शुक्ल भूल गये कि इसका रचना-काल स्वयं उन्होंने संवत् १४६० वि० माना है, जबकि उनके मतानुसार आदिकाल संवत् १३७५ में ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह रचना आदिकाल की न होकर भक्तिकाल की सिद्ध होती है। विषय-वस्तु, भावात्मक प्रवृत्तियों एवं शैली की दृष्टि से भी विद्यापति की पदावली'—जिनमें कि राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण गीति शैली में किया गया है—वीरगाथाकाल की नहीं, भक्तिकाल की ही रचना सिद्ध होती है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा परिगणित रचनाओं में से एक भी ऐसी प्रामाणिक हिन्दी रचना नहीं बचती जिसे 'आदिकाल' या 'वीरगाथा-काल' में स्थान दिया जा सके। कदाचित इसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्वीकार किया कि इस काल में जितनी भी

प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे अपभ्रंश की ही है, लोक-भाषा या हिन्दी की रचनाएँ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं। उनके मतानुसार 'मूल मध्यदेश में जहाँ आगे चलकर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य उद्भूत और विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ईस्वी सन् की १४वीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता।'

ऐसी स्थिति में हमें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ १४वीं शती से ही मानना चाहिए, पर इधर गुजरात के जैन-भाण्डारों से हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उन्होंने स्थिति को बदल दिया है। इन रचनाओं में से प्राचीनतम हिन्दी रचना 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त और भी रचनाएँ है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—'चंदन बाला-रास' एवं 'जीव दया-रास' (दोनों के रचयिता कवि आसगु थे एवं रचना-काल लगभग १२०० ई०), स्थूलिभद्र रास' (जिन धर्म सूरि; (१२०९ ई०), 'रेवंतगिरि रास' (विजय सेर सूरि; १२३१ ई०), 'आबू रास' (पल्हण; १२३२ ई०), नेमिनाथ रास, (सुमति गुणि; १२३८ ई०), 'कच्छुली रास' (प्रज्ञातिलक, १३०६ ई०); 'गयसुकुमाल रास' (देल्हण; १४ वीं शती); 'जिन पद्मसूरि पट्टाभिषेक रास' (सार मूर्ति; १३३१ ई०), 'पंच-पांडव-चरित्र-रास' (शालि भद्र सूरि द्वितीय, १३५३ ई०); 'गौतम स्वामी रास' (उदयवन्त; १३५५ ई०) 'भयण रेहारासु' (रयणु; १४वीं शती), आदि। इन रचनाओं का विस्तृत परिचय यहाँ देना सम्भव नहीं, अतः 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में प्रस्तुत परिचय के आधार पर संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सभी आदिकाल में प्रामाणिक हिन्दी काव्य हैं। यद्यपि इनके रचयिता जैन कवियों का मूल लक्ष्य-काव्य के माध्यम से अपने तीर्थंकरों, महापुरुषों, तपस्वियों एवं तीर्थस्थलों का गुण-गान करते हुए सामाजिकों की धार्मिक भावनाओं को उद्वेलित करना था तथा अप्रत्यक्ष में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना भी रहा, पर इससे इनके काव्यत्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। यदि धार्मिक प्रेरणा को ही काव्यत्व के लिए निषिद्ध माना जाय तो फिर उस स्थिति में हमें सभी सन्त एवं वैष्णव कवियों को जिनमें कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जैसे दिग्गज भी आते हैं—काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना पड़ेगा। वस्तुतः इनका काव्य केवल सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, अपितु उसमें नारी सौन्दर्य, यौवन, प्रणय विरह जैसे विषयों एवं प्रकृति के नाना दृश्यों का भी निरूपण आकर्षक अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है—अतः वे काव्यत्व की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इनकी विषय वस्तु पौराणिक है, तथा पात्र धार्मिक साधक हैं तथा इनमें शान्तरस की प्रधानता है। जनता में प्रचलित रास-शैली को अपनाकर उन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। वस्तुतः रास या रासो परम्परा को साहित्य में प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है, यह दूसरी बात है कि आगे चलकर जब यह परम्परा जैन-मन्दिरों से निकलकर राज-दरबारों में पहुँची तो इनकी विषय-वस्तु एवं शैली में गहरा अन्तर आ गया। वहाँ पौराणिक गाथाओं के स्थान पर ऐतिहासिक चरित्र एवं शान्तरस के स्थान पर वीररस

वर्ण्य हो गया। शैली में भी विस्तार एवं चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति आ गयी। अस्तु, हमारे विचार में परवर्ती युग से रासो काव्य इसी परम्परा के विकसित रूप के सूचक हैं।

इस प्रकार आदिकाल की नवोपलब्ध सामग्री को ध्यान में रखकर विचार करने से अनेक परम्परागत धारणाओं का खंडन हो जाता है। जहाँ इसका आरम्भ १०५० के स्थान पर १२४१ वि० (११८४ ई०) सिद्ध होता है, वहाँ प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल वीरगाथाकाल न होकर 'जैन-काल', 'धार्मिक काल' या 'शान्त रसात्मक काल' सिद्ध होता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से हम इसे 'प्रारम्भिक काल' ही कहना उचित समझते हैं। इसकी उत्तरवर्ती सीमा भी अनेक कारणों से सन् १३५० निश्चित की गयी है। वस्तुतः नवीनतम अनुसंधान की दृष्टि से इस काल की सीमाएँ, प्रवृत्तियाँ एवं संज्ञा-आदि सभी कुछ परिवर्तित हो जाती हैं, तथा इसकी सभी प्रमुख समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं, पर फिर भी जिन्हें पुराने इतिहासकारों की धारणाओं से बंदरिया के मृत बच्चे की भांति प्यार है, उन्हें कौन समझा सकता है! उनके लिए आज भी 'खुमान रासो' हिन्दी की पहली रचना एवं आदिकाल 'वीरगाथाकाल' ही रहे तो क्या आश्चर्य है।

: तेईस :

भक्ति : उद्‌भव और विकास

'भक्ति' शब्द का अर्थ विभिन्न शब्द-कोशों में 'विभाजन', 'अनुराग', 'पूजा', 'उपासना' आदि दिया गया है। किन्तु इन पर्यायवाचियों में भी थोड़ा अन्तर है, अतः भक्ति के उद्‌भव व विकास आदि पर विचार करने से पूर्व इसका अर्थ स्पष्ट कर लेना उचित होगा। हमारे विभिन्न आचार्यों ने 'भक्ति' की निम्नांकित परिभाषाएँ दी है—

१. **श्रीमद्‌भगवद्‌गीताकार**—"मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः" (अध्याय १२।१४) अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दिया वह भक्त मुझे प्रिय है।

२. **पाराशर्य**—"पूजादिष्वनुराग इतिपाराशर्यः" (नारद-भक्ति सूत्र १६) अर्थात् पूजादि में अनुराग होना भक्ति है।

३. **शाण्डिल्य**—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शांडिल्य भक्ति-सूत्र-२) अर्थात वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रूपा है।

४. **नारद**—"सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा, अमृत-स्वरूपा च। तत्रापि माहा-त्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणामिव।" अर्थात् यह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा और अमृत-स्वरूपा है। फिर भी माहात्म्य-ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए, अन्यथा यह व्यभिचारियों के प्रेम तुल्य हो जायगी। (नारद-भक्ति-सूत्र २-३)।

५. **वल्लभाचार्य**—"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेही भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।" अर्थात् भगवान् में माहात्म्यपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं। (तत्त्वदीप निबन्धः, श्लोक ४६)।

उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक दृष्टि से अन्तर होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त एकता है। गीताकार ने हृदय और बुद्धि दोनों का समर्पण स्वीकार किया है। हृदय का समर्पण प्रेम से और बुद्धि का महत्ता के बोध से होता है। पाराशर्य,

शाण्डिल्य, नारद और बल्लभाचार्य ने भी अनुराग के साथ-साथ पूजा व माहात्म्य-ज्ञानादि का समर्थन किया है। अस्तु. गीताकार के द्वारा उल्लिखित हृदय एवं बुद्धि को नाम देते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा—'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है''—में उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है। दोनों में से किसी भी एक तत्त्व के न होने पर वह कोरी श्रद्धा व कोरे प्रेम का रूप धारण कर लेगी तथा उस स्थिति में उसे भक्ति कहना उचित नहीं होगा। हमारे अनेक विद्वानों ने भक्ति के विकास पर विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा, फलतः उनके निष्कर्ष ऊहात्मक बन गए हैं।

भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-भावना का उदय कब और क्यों हुआ—इस विषय पर विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। पाश्चात्य विद्वान् वेबर, कीथ, ग्रियर्सन, आदि इसे ईसाई धर्म की देन बताते हैं। वेबर महोदय ने महाभारत में वर्णित 'श्वेतद्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास-स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाइयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति-भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ग्रियर्सन महोदय का मत है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शती में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गये थे; जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो० विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर घोषित करते हुए अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि गोपियाँ किनकी रूपान्तर हैं। हमारे अनेक भारतीय विद्वानों—श्री बालगंगाधर तिलक, श्री कृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ० एच० राय चौधरी आदि ने उपर्युक्त मतों का खण्डन सुदृढ़ आधारों पर करते हुए भक्ति का मूल उद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों में सिद्ध किया है, अतः उपर्युक्त भ्रामक निष्कर्षों पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है। हमारे हिन्दी के इतिहासकारों ने भी इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन को मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया बताते हुए लिखा है—''अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?'' किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके विरोध में तर्क दिया है—''मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भाव-धारा को उमड़ना ही था तो पहले उसे सिंध में, फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।'' द्विवेदीजी के विचार से भक्ति-आंदोलन के विकास का श्रेय दक्षिण के आलवार भक्तों को है, जिनकी संख्या बारह मानी जाती है। किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि इन आलवारों को किससे प्रेरणा मिली ? यह भी विचित्र बात है

कि राम और कृष्ण का अवतार उत्तरी भारत में हुआजबकि उनके प्रति भक्ति-भावना का विकास ठेठ दक्षिण में आलवारों द्वारा हुआ है। वस्तुतः भक्ति के विकास-क्रम की सुसंगत व्याख्या करने के लिए वैदिक युग से लेकर पन्द्रहवीं'सोलहवीं शताब्दी तक के समस्त धार्मिक साहित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भक्ति का क्रमिक विकास

आर्यों की प्राचीनतम साधना का परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान डा० मुंशीराम 'सोम' ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं के आधार पर भक्ति का उद्भव वैदिक साहित्य से ही दिखाने का प्रयत्न किया किया है; किन्तु उन्होंने जिसे 'भक्ति' कहा है, वह कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना है; भक्ति के दूसरे आवश्यक तत्व—प्रेम—का उन्मेष उसमें नहीं मिलता। प्रभु के गुणों का वर्णण, स्तुति व प्रार्थना आदि को ही यदि हम भक्ति मान लें तो फिर कदाचित् संसार के अधिकांश धर्म सम्प्रदाय—जंगली जातियों से लेकर सुसभ्य समुदायों की पूजा-पद्धतियाँ तक सभी—भक्ति आन्दोलन की शाखाएँ सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि श्रद्धा-तत्व का अस्तित्व प्रायः सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। वस्तुतः वैदिक धर्म में यज्ञ व कर्म-काण्ड की जटिल-पद्धतियों से बँधी हुई एक उपासना पद्धति थी, जिसमें शुष्क-धर्म की प्रधानता थी; भक्ति के उपयुक्त कोमल भावनाओं का विकास उसमें नहीं मिलता। आगे चलकर उपनिपदों में यही धर्म उपासना के चिन्तन में, कर्म से ज्ञान में और स्थूल से सूक्ष्म में परिणत होने लगा, जिसमें भक्ति-भावना के उन्मेष के लिए और भी कम स्थान रह गया। यज्ञों के कर्म-प्रधान धर्म में श्रद्धा के लिए तो स्थान था, किन्तु उपनिपदों के अद्वैत-चिन्तन में तो वह भी नहीं रहा। अस्तु, ऋग्वेद से लेकर उपनिपदों तक के धार्मिक साहित्य में क्रमशः कर्म और ज्ञान का ही विकास मिलता है, भावना का उन्मेप वहाँ नहीं हो सका। वैसे प्राकृतिक नियम से भावना का विकास कर्म और ज्ञान से पूर्व होना चाहिए था और सम्भवतः ऐसा आर्यों के जीवन में भी कभी हुआ होगा, किन्तु यह अवस्था वैदिक युग से पहले रही होगी—ऋग्वेद तथा परवर्ती वेदों का आर्य उस अवस्था से अधिक आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। आगे चलकर धर्म के जिस भावना-प्रधान रूप का विकास हुआ, वह वैदिक धर्म के शुष्क कर्मकाण्ड एवं परवर्ती सूक्ष्म-चिन्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित माना जा सकता है।

यदि भारतीय समाज की परिस्थितियों एवं उसके तत्कालीन दृष्टिकोण के आधार पर उपर्युक्त विकास-क्रम पर विचार करें, तो वह युग-चेतना के अनुकूल एवं स्वाभाविक सिद्ध होगा। वैदिक युग का आर्य समाज उत्तरी भारत में अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष-निरत था, उसका द्रविड आदि आर्येतर जातियों से संघर्ष चल रहा था। रामायण से पूर्व तक उसने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था; आर्येतर जातियों को दक्षिण की ओर भगा दिया था; किन्तु वे पूरी तरह विजित नहीं होने पाई थीं। जब तकपुरुषोत्तम राम ने ठेठ दक्षिण

में पहुँचकर उसके केन्द्रीय स्थलों को नष्ट नहीं कर दिया, तब तक वे समय-समय पर आर्यो पर आक्रमण करती रहीं। यही कारण था कि विश्वामित्र जैसे ऋषियों को यज्ञादि करते समय शस्त्र-धारी राजकुमारों की आवश्यकता पड़ती थी। अतः राम के युग तक परिस्थितियों की विषमता एवं संघर्षशीलता के कारण आर्यों का कर्म को प्रमुखता देना स्वाभाविक था, अन्यथा उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। रामायण की मूल-कथा भी इसी कर्मशीलता पर प्रकाश डालती है। राम भली प्रकार जानते थे कि उनके वन-गमन के कारण उनके पिता की भावनाओं को, उनके हृदय को गहरी ठेस लगेगी, किन्तु फिर भी उन्होंने इसकी उपेक्षा करके कर्म को स्वीकार किया।

पुरुषोत्तम राम की दक्षिण-विजय ने भारतीय आर्यों को बाह्य-आक्रमण की चिन्ता से दीर्घकाल के लिए मुक्त कर दिया। आर्यों के सबसे प्रबल शत्रु सदा के लिए अशक्त हो गए। निश्चिन्तता के इस वातावरण में अध्ययन, चिन्तन एवं ज्ञान का विकास होना स्वाभाविक था। महाभारत युग तक पहुँचते-पहुँचते उनकी बौद्धिकता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्राचीन नियमों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करके महाभारत के नेता नये-नये नियमों व विधानों के आविष्कार में संलग्न थे। इस के औरस पुत्र स्वार्थ, कपट एवं अनाचार का चारों ओर बोल-बाला था। एक ओर आर्य-अनार्य धन से खरीदी हुई या बलपूर्वक अपहृत, जुए में हारी हुई कन्याओं या अन्य व्यक्ति की परिणीता युवतियों से विवाह कर रहे थे, दूसरी ओर सत्यवती, अम्बा, अम्बालिका, कुन्ती, द्रौपदी आदि कुलीन घरों की वधुएँ बहुपतित्व व नियोग आदि के नये-नये प्रयोग कर रही थीं। ऐसी स्थिति में कृष्ण ने गीता का उपदेश देकर समाज में पुनः ज्ञान एवं भावना के समन्वय का प्रयत्न किया।

अस्तु, भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से महाभारत और गीता में प्राप्त होता है। महाभारत के शांतिपर्व में तथा भीष्मपर्व में नारायणीयोपाख्यान का वर्णन किया गया है जिसमें भागवत्, नारायण या पंच-रात्र धर्म का उल्लेख मिलता है। इन चारों धर्मों में नारायण या वासुदेव की जिस उपासना-पद्धति का निरूपण किया गया है, वह भक्ति भावना का प्रारम्भिक स्वरूप है। महाभारत में भागवत धर्म का प्रवर्तक नारायण एवं उसका प्रचारक नारद बताया गया है। दूसरी ओर छांदोग्य उपनिषद् में भागवत धर्म के प्रवर्तन का श्रेय देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को दिया गया है। कृष्ण को भी नारायण का अवतार माना गया है, अतः महाभारत और छांदोग्य उपनिषद् के उल्लेखों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

महाभारत के भागवत धर्म का विकास गीता में मिलता है। जहाँ महाभारत में कोरी उपासना पर बल दिया गया था, वहाँ गीता में उसके साथ-साथ आत्म-समर्पण को भी स्थान दिया गया है। गीताकार कर्मयोग और ज्ञानयोग के समन्वय से भक्ति-योग की महत्ता घोषित करते हैं। वे मोक्ष के लिए तपस्या और वैराग्य के मार्ग को अनावश्यक नहीं मानते तथा साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति मूलतः नैतिक आचरण में नहीं, अपितु भाव-पूर्ण उपासना या स्तुति में है।

ईसा से छठी-सातवीं शताब्दी पूर्व परम्परागत वैदिक धर्म के कर्म-काण्ड एवं उपनिषदों की दुरूह ज्ञान-साधना के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर और भी तेज हो गया। जहाँ वैदिक धर्म में शुष्क कर्मकाण्ड था, वहाँ उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म जन-साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ था। उसका ज्ञान बुद्धिजीवी वर्ग ही प्राप्त करता था। अतः जनसाधारण के उपयुक्त किसी सरल उपासना पद्धति की आवश्यकता को अनुभव करते हुए नए नए धर्मों का उदय और विकास हुआ, जिन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं--(१) नास्तिक और (२) आस्तिक। नास्तिक धर्मों के अन्तर्गत जैन और बौद्ध आते हैं, जबकि आस्तिक में नवोदित पौराणिक धर्म को ले सकते हैं। वस्तुतः यह पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत धर्म का ही एक ऐसा नव-परिवर्द्धित रूप था, जिसमें एक ओर भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान दिया गया था, तथा दूसरी ओर उसमें ऐसे तत्त्वों का समन्वय किया गया था, जिससे यह जैन और बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके। जैन और बौद्ध धर्म में लौकिक महापुरुषों—महावीर और गौतम बुद्ध—को प्रमुखता प्राप्त थी, अतः पौराणिक धर्म में भी लौकिक व्यक्तियों---राम और कृष्ण आदि---को विष्णु का अवतार घोषित किया गया। हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित विभिन्न देवताओं की उपासना का समर्थन किया गया। बौद्ध जातक एवं अवदान कथा-साहित्य की लोकप्रियता से प्रभावित होकर रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को परिवर्द्धित करके उन्हें धार्मिक ग्रन्थों का रूप दिया गया। नये-नये धर्म-ग्रन्थ एवं सूत्रग्रन्थ रचे गये, जिनमें 'नारद-भक्ति-सूत्र' और शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में भक्ति-भावना को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा ज्ञान-योग व कर्म-योग को इसके समक्ष तुच्छ घोषित किया गया है। ध्यान रहे, भक्ति के दार्शनिक स्वरूप एवं उसके महत्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से ये दोनों सूत्र ग्रन्थ गीता के भक्ति विवेचन को आगे बढ़ाते हैं। जहाँ गीताकार भक्त के लिए भी सदाचार एवं वाह्य-नियमों को आवश्यक मानते हैं, वहाँ नारद और शाण्डिल्य इनको उपेक्षणीय बताते हैं। इनके अतिरिक्त गीता में भक्ति-योग को ज्ञान-योग और कर्म-योग के समकक्ष ही स्थान मिला था, इनसे बढ़कर नहीं, जबकि इन सूत्र ग्रन्थों में भक्ति को मुख्य और ज्ञान और कर्म को गौण सिद्ध किया गया है। महाभारत और गीता में भक्ति का अंकुर मात्र था, जबकि सूत्र-ग्रन्थों में उसे पल्लवित एवं विकसित किया गया है।

'नारद-भक्ति-सूत्र' भारतीय साहित्य-परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें पहली बार भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है तथा जिसका प्रतिपाद्य एक मात्र भक्ति है। 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' सम्भवतः रचना-काल की दृष्टि से इससे प्राचीन हो सकता है, किन्तु उसमें विषय की ऐसी स्पष्टता तथा विवेचना की ऐसी गम्भीरता नहीं मिलती; अतः भक्ति के रूप को समझने व उसके विकास की रूपरेखा को स्पष्टतः हृदयंगम करने के लिए इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। नारद ने सबसे पूर्व भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूप तथा अमृत-स्वरूपा घोषित किया है। "उसे पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है,

न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय-भोग की प्राप्ति में उत्साह रहता है। इसे प्राप्त कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।" इस प्रकार भक्ति के स्वरूप को आकर्षक शब्दों में प्रस्तुत करने के अनन्तर नारद प्रारम्भिक अवस्था में लौकिक कर्मों को उपेक्षापूर्वक करते रहने की आवश्यकता बताते हैं, किन्तु भक्ति की चरम अवस्था में वे समस्त लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग को स्वीकार करते हैं। भक्ति का लक्षण निर्धारित करते हुए प्रेम और श्रद्धा दोनों को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि श्रद्धा के अभाव में कोरा प्रेम व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य—'तद्विहीनं जाराणामिव'—रह जायगा।

कर्म, ज्ञान और योग से भक्ति की तुलना करते हुए नारद इसे इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठतर घोषित कर देते हैं—"सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।" ज्ञान भक्ति का साधन हो सकता है किन्तु भक्ति स्वयं साध्य है। जिस प्रकार भोजन का ज्ञान प्राप्त कर लेने से क्षुधा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, अतएव मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन-भक्ति ही है। भक्ति के साधनों में महर्षि ने विषय-वासनाओं का त्याग, अखण्ड भजन, भगवद् गुण-श्रवण, कीर्तन, महापुरुषों की कृपा और ईश्वर की अनुकम्पा का उल्लेख किया है। भक्ति के बाधक तत्वों में एकमात्र कुसंगति की चर्चा की गई है, जो उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता की परिचायक है, वे समस्त बुराइयों—काम, क्रोध, मोह, आदि—को कुसंगति का ही प्रभाव मानते हैं। नारद का यह भक्ति मार्ग वैदिक धर्म के विरोध में प्रचलित हुआ था, इसका स्पष्ट प्रमाण भी कई स्थानों पर मिल जाता है। माया से कौन बच सकता है? इसका उत्तर देते हुए वे निःसंकोच कहते हैं—"जो वेदों को भी भली-भाँति त्याग देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

(वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।)

यहाँ भक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रन्थों में हुआ, वहीं उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पौराणिक साहित्य के द्वारा किया गया है। प्रेम के लिए ईश्वर के साकार और सगुण रूप की अपेक्षा होती है, अतः अवतारवाद का विकास हुआ। दूसरी ओर श्रद्धा के निमित्त अवतार-पुरुषों की शक्ति और उनके पराक्रम का चित्रण भी आवश्यक था। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के उद्देश्य से हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि की रचना की गई, जिनमें विभिन्न अवतारों की लीलाओं का चित्रण इस ढंग से किया गया कि वह सौन्दर्य और शक्ति—प्रेम और श्रद्धा की उत्पत्ति में सहायक हो सके। रामायण और महाभारत में भी परिवर्तन किया गया, किन्तु उसमें इसके लिए अधिक क्षेत्र नहीं था, अतः उन्हीं के पात्रों को नया रूप दिया गया। महाभारत के कृष्ण लौकिक हैं, जबकि पुराणों में वे पूर्णतः अलौकिकता से युक्त हैं। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थों व पुराणों ने भक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष की साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार की, किन्तु फिर भी इनका प्रचार जैन और बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण प्रारम्भ में अधिक न हो सका। आगे चलकर ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त-सम्राटों ने इस भक्ति-समन्वित भागवत

या पौराणिक धर्म को आश्रय प्रदान करके इसके प्रचार में योग दिया। गुप्तों की राज-पताका में विष्णु के वाहन गरुड़ का चिह्न अंकित है, जो भागवत धर्म का प्रतीक है।

आगे चलकर सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान या सहज-यान में परिणत हो गया, जिसमें भोग-साधना को प्रमुखता मिली। जैन-धर्म के संरक्षक भी अपने धार्मिक चरित-काव्य में प्रेमतत्व का मिश्रण करने लगे जिससे कि जनता आकर्षित हो सके। शैवधर्म की भी अनेक ऐसी शाखाओं का विकास हुआ जिसमें वामाचारों को प्रधानता दी गई। संस्कृत और लोकभाषाओं में अन्तर बढ़ जाने के कारण तथा सामाजिक एवं नैतिक स्तर के ह्रास के कारण जन-साधारण का भी आकर्षण भोग-विलास की ओर अधिक बढ़ रहा था। अतः वह बौद्ध, जैन एवं शैव धर्म की इन नवविकसित प्रवृत्तियों से प्रभावित होने लगा, जिनमें भोग और प्रेम को प्रमुखता प्राप्त थी। अस्तु, इनकी प्रतिस्पर्धा में पौराणिक या भागवत धर्म के अनुयायियों या प्रचारकों ने भी भक्ति मार्ग का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जिनमें प्रेम ही प्रमुख हो गया, श्रद्धा गौण हो गई। नवीं शताब्दी के लगभग रचित श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति के इसी रूप का चित्रण किया गया है। जिसमें कृष्ण की विलासिता और गोपियों की आसक्ति पूर्ववर्ती पुराण ग्रन्थों से बहुत आगे बढ़ गई है। इतना ही नहीं; भागवतकार भक्ति के लिए 'माहात्म्यज्ञान' या श्रद्धा-भाव की कोई आवश्यकता नहीं समझते। क्या गोपियाँ ईश्वर के अलौकिक रूप से परिचित थीं? इस प्रश्न का उत्तर भागवत में निषेधात्मक देते हुए यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया है कि गोपियों का सम्बन्ध वासना और काम से प्रेरित था। वस्तुतः भक्ति का यह रूप, उसकी विकृति का द्योतक है; जो बौद्ध एवं शैव धर्म की विकृत शाखाओं की प्रतिस्पर्धा में प्रस्तुत हुआ है।

भागवत-पुराण की रचना दक्षिण-भारत में हुई थी—ऐसा अधिकांश विद्वान् मानते हैं। यह बात तथ्य रूप में स्वीकार न भी की जाय तो भी यह निर्विवाद सत्य है कि आठवीं-नवीं शती तक पौराणिक धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में भी हो चुका था। अस्तु, यह धर्म तेजी से सारे भारत में फैल रहा था, किन्तु एकाएक इसके मार्ग में दो बड़े भारी अवरोध उपस्थित हो गये—एक था कुमारिल भट्ट द्वारा वैदिक कर्म-कांड के पुनः प्रतिष्ठान का आन्दोलन तथा दूसरा शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद। अद्वैतवाद में ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए भक्ति के मूल विचार को ही अज्ञानमूलक सिद्ध किया गया है। भक्ति दो के बीच होती है; जब आत्मा और ब्रह्म एक ही है तो भक्ति की क्या आवश्यकता है? शंकराचार्य के अगाध पाण्डित्य, असाधारण प्रतिभा, अद्भुत शास्त्रार्थ-सामर्थ्य और विलक्षण व्यक्तित्व के प्रभाव से वह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला, किन्तु दक्षिण भारत के वैष्णवों ने भक्ति के संरक्षण का पूरा प्रयत्न किया। एक तो दक्षिण भारत में आलवार भक्त हुए जिन्होंने शंकराचार्य के सिद्धान्त की कोई परवाह न करते हुए भक्ति की धारा को प्रवहमान रखा। दसवीं ग्यारहवीं शती में आचार्य नाथमुनि हुए जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्ति-भावपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या आदि महत्त्वपूर्ण कार्य किए जिनसे भक्ति परम्परा को नया बल

मिला। इनके उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन करते हुए विशिष्टाद्वैत की स्थापना की, जिसमें ब्रह्म की अद्वैतसत्ता को स्वीकार करते हुए भी जीव को और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है। 'विशिष्टाद्वैत' का अर्थ है कि विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उसके विशेषण, इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। प्रो० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में—"इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है, जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा उसे 'विशेषण' कहते हैं। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकता की कल्पना युक्ति-युक्त है।"—(भारत दर्शन, पृ०-४८२) इस प्रकार जीव और ब्रह्म में विशेषण-विशेष्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए जीव को ब्रह्म से हीन सिद्ध किया गया। इस स्थिति में जीव द्वारा ब्रह्म की भक्ति को उपयुक्त स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने ईश्वर के पाँच रूपों की कल्पना की, जिनमें उसके सगुण रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। इस प्रकार उन्होंने भक्ति का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार तैयार किया जिसके अभाव में उसकी नींवें हिल गई थीं।

श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति के स्वरूप एवं उसके महत्त्व का भी विवेचन विस्तार से किया है। उन्होंने भगवान विष्णु की उपासना का प्रचार करते हुए दास्य-भाव की भक्ति पर विशेष बल दिया। भक्ति के उदय के निमित्त वे साधक की स्व-कर्मों के अनुष्ठान से हृदय को शुद्ध कर लेने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। भगवान् का प्रीतिपूर्वक ध्यान करना दास्य—से ही जीवों को भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है। भक्ति का चरम अवसान 'प्रपत्ति' अर्थात् 'आत्म-समर्पण' में बताया गया है। प्रपत्ति के भी तीन आकार या विशेषण हैं—(१) अनन्य-शेषत्व (भगवान् का ही दास होना (२) अनन्यसाधनत्व (एकमात्र भगवान् को ही उनकी प्राप्ति का साधन मानना), और (३) अनन्यभोग्यत्व (अपने को भगवान् के द्वारा ही भोग्य मानना) प्रपत्ति भी प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होती, अपितु पहले इसके (प्रपत्ति से) द्वारा ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है और उसी कृपा से जीव को मुक्ति मिलती है। भगवान् और जीव का सम्बन्ध स्थापित करने में गुरु का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। मुक्ति की कल्पना भी रामानुज-मत में मौलिक रूप में की गई है। जहाँ न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्ति की अवस्था में जीव के ज्ञान व आनन्द की चेतना नहीं रहती, वहाँ रामानुज-मत के अनुसार उस अवस्था में भी जीव को एक अप्राकृत या शुद्ध शरीर प्राप्त हो जाता है जिससे वह ज्ञान तथा आनन्द का अनुभव करता है तथा वह अनन्तकाल तक भगवान् की सेवा और उनके सान्निध्य में [illegible] करता है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने जीव, ब्रह्म, एवं मुक्ति आदि की मौलिक ढंग से व्याख्या करते हुए भक्ति को [illegible] से [illegible] करके आगे बढ़ाया।

आगे चलकर और भी कई आचार्य हुए, जिन्होंने नये-नये दार्शनिक मतों की स्थापना करते हुए भक्ति मार्ग को अधिक प्रशस्त बनाया। इनमें द्वैतवाद के प्रवर्त्तक श्री मध्वाचार्य (११९९ ई०-१३०३ ई०), द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक श्री निम्बार्काचार्य (१२-१३ वीं शती) और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री वल्लभाचार्य (१४७९-१५३० ई०) उल्लेखनीय हैं। श्री मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खंडन उग्रतापूर्वक करते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। श्री निम्बार्काचार्य ने लक्ष्मी और विष्णु की भक्ति के स्थान पर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया तथा श्री वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की उपासना का समर्थन किया। दूसरी ओर रामानुजाचार्य की ही परम्परा में चौदहवीं शताब्दी के लगभग स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने सीता-राम की भक्ति का प्रचार किया। परवर्ती युग में विष्णु के विभिन्न अवतारों में से राम और कृष्ण की ही भक्ति का प्रचार अधिक हुआ तथा इनमें भी कृष्ण की भक्ति अधिक लोकप्रिय हुई। कृष्ण के भी लोकरक्षक रूप को कम लिया गया, उनके लोक-रंजक या शृंगारी रूप को ही अपनाया गया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन पुनः नये उत्साह के साथ सारे भारत में फैल गया। आचार्य चैतन्य महाप्रभु के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय, श्री हित हरिवंश के राधा-वल्लभ सम्प्रदाय आदि ने एक ओर कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार किया तो दूसरी ओर कबीर, दादू, नानक आदि संतों ने भक्ति का एक ऐसा रूप विकसित किया, जिसमें ईश्वर के सगुण निर्गुण मिश्रित रूप की उपासना की गई। यद्यपि हमारे विद्वान् इन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण-एकेश्वर-वादी या रहस्यवादी बताते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपासना में प्रायः वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं; जो भक्ति की मूलाधार हैं, अतः हम इन सन्तों को भी भक्ति-आन्दोलन के उन्नायकों में स्थान देना उचित समझते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते भक्ति के स्वरूप में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। युग के विलासितापूर्ण दृष्टिकोण के प्रभाव से भक्ति में से भी श्रद्धा-तत्त्व का ह्रास हो गया और वह दो शाखाओं में विभाजित हो गई—रागानुगा और वैधी। रागानुगा के भी कई भेदोपभेद किए गये जिनमें माधुर्यभाव को प्रमुखता मिली। माहात्म्य-ज्ञान के स्थान पर रसिकता का प्रचार हुआ। इस अति रसिकता के कारण कृष्ण-भक्ति के केन्द्र तो अपवित्रता और अश्लीलता से ग्रसित हो ही गये, राम-भक्तों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप राम-भक्ति के क्षेत्र में भी रसिकोपासना का प्रचार हुआ और राम के रास-विहार एवं भोग-विलासिता की अतिरंजनापूर्ण कहानियां गढ़ी जाने लगी।[1] जिस राम ने एक-पत्नी-व्रत का आदर्श प्रतिष्ठित किया था, वे इन भक्तों के हाथ में पड़कर सहस्राधिक सखियों के पति बनने को विवश हुए। भक्ति की इस चरम अधोगति को देखकर नारद का यह वाक्य याद आता है—भक्ति में मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए 'अन्यथा पातित्यशङ्कया।'

1. भक्ति काव्य में रसिकता के प्रादुर्भाव के कारण एवं उनकी प्रवृत्तियों के सम्यक् बोध के लिए द्रष्टव्य—'रसिक भक्ति-काव्य परम्परा' (हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास; पृष्ठ—३३४-३६०)

: चौबीस :

सन्त-काव्य : उदगमस्रोत और प्रवृत्तियाँ

हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल (१३७५—१७०० वि०) में एक काव्य-धारा विशेष का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'निर्गुण-भक्ति-साहित्य' तथा डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत-काव्य-परम्परा' का नाम दिया है। 'ज्ञानाश्रयी' शब्द से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि इस धारा के कवियों ने 'ज्ञान-तत्त्व' को सर्वाधिक महत्त्व दिया होगा, जबकि वास्तव में 'प्रेम के अढ़ाई अक्षरों' के सम्मुख इन्होंने संसार के सारे ज्ञान को तुच्छ बताया है। भक्ति का आलम्बन सगुण ईश्वर ही उपयुक्त है, अतः निर्गुण भक्ति, नाम भी अपने आपमें एक असंगति है। वस्तुतः इस काव्य-धारा के कवियों का एक विशेष दृष्टिकोण है, जो 'संत' शब्द द्वारा भली प्रकार व्यंजित होता है। अतः इस धारा को 'संतकाव्य' की संज्ञा देना प्रथम दो नामों की अपेक्षा अधिक उचित है।

'संत' शब्द की व्याख्या भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से की है। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसकी व्युत्पत्ति 'शांत' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निवृत्तिमार्गी या वैरागी लिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है—'सन्त' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने 'संत' रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो और जो सत्य स्वरूप, नित्य-सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो, वही संत है!' (उत्तरी भारत की 'संत परम्परा' पृ० ५) यह व्याख्या जितनी लम्बी है, उतनी ही अव्यावहारिक भी है। इसमें सन्त का आदर्श इतना अधिक उच्च है कि तथाकथित कवियों में से अनेक इस तक नहीं पहुंच पाएंगे। आचार्य विनयमोहन ने व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ "जो आत्मोन्नति-हित परमात्मा के मिलन-भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है" किया है। (हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ५६) हमारे विचार से श्रीमन्त की तरह 'सत्' शब्द के बहुवचन 'सन्तः' से विकृत होकर 'सन्त' बना है, अतः व्यापक अर्थ में किसी भी ईश्वरोन्मुखी सज्जन पुरुष को 'सन्त' कह सकते हैं। तुलसीदासजी ने भी इसका इसी व्यापक अर्थ में

प्रयोग करते हुए लिखा है—'सन्त-समागम हरि भजन, तुलसी दुर्लभ दाय'। संकुचित अर्थ में केवल निर्गुणोपासकों को ही इस विशेषण से युक्त किया जाता है, जबकि सगुणोपासकों को 'भक्त' की संज्ञा दी गई है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में 'सन्त-काव्य' से कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के काव्य का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है, जबकि तुलसी, सूर, आदि के साहित्य को 'भक्ति-काव्य' कहा जाता है।

उद्गम-स्रोत

हमारे दृष्टिकोण से सन्त-काव्य धारा के विकास में योग देने वाले मुख्यतः ये पांच स्रोत हैं—(१) अपभ्रंश के सिद्ध और जैन मुनियों का साहित्य, (२) नाथ-पन्थ, (३) वैष्णव भक्ति-आन्दोलन, (४) महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय और (५) इस्लाम का प्रचार। इनमें से प्रत्येक के प्रभाव की व्याख्या यहाँ अलग-अलग की जाती है।

(१) **अपभ्रंश साहित्य**---अपभ्रंश के सिद्ध जैन मुनियों के मुक्तक-काव्य का सन्त-काव्य पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ सन्त साहित्य में विकसित हुई हैं; जैसे—परम्परागत व्यवस्था एवं अन्य सम्प्रदायों की बाह्य पद्धतियों का खण्डन, स्वानुभूतियों की व्यंजना, मुक्तक पद-शैली रूपक, उलटबाँसियों एवं प्रतीकों का प्रयोग एवं सामान्य लोकभाषा को अपनाना आदि। इसके अतिरिक्त सन्त कवि भी सिद्धों की भाँति अशिक्षित निम्न वर्ग से सम्बन्धित एवं पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की अवहेलना करनेवाले थे; इतना अवश्य है कि सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धति में स्थूल-शृंगारिकता को स्थान दिया, जबकि सन्त कवियों ने उसका परिष्कार सूक्ष्म प्रणयानुभूतियों के रूप में कर लिया। जैन कवियों में से योगिन्दु, मुनि रामसिंह, देवसेन आदि के उपदेशपरक मुक्तक साहित्य की अनेक विशेषताओं का प्रभाव हिन्दी के सन्त साहित्य पर पाया जाता है। वस्तुतः साहित्यिक विषयों, रस, शैली एवं विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से सन्त-काव्य का सिद्धों पर जैन मुनियों के साहित्य से गहरा सम्बन्ध है।

(२) **नाथ-पन्थ का प्रभाव**—नाथ-पन्थ के प्रवर्त्तक कौन थे इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है, किन्तु साधारणतः गुरु गोरखनाथ को ही इसका श्रेय दिया दिया जाता है। नाथ-पंथ की गुरु-परम्परा में गोरखनाथ से पूर्व आदिनाथ और मीननाथ का भी उल्लेख मिलता है। इस पंथ के अनुयायी शिव की उपासना करते हैं तथा उनकी साधना-पद्धति में तन्त्र-मन्त्र एवं योग-साधना का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी से वे 'योगी' कहलाते हैं। तत्कालीन समाज पर नाथ-पंथी योगियों की आश्चर्यजनक पद्धतियों एवं चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव पड़ा। इनके महत्त्व का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि हिन्दी के प्रायः सभी प्रेमाख्यानों के नायकों के साधक रूप का चित्रण तथा उनकी साधना-पद्धति का निरूपण इसी पंथ के अनुसार किया गया है। देश के सभी भागों में इनका प्रभाव पाया जाता है।

नाथ-पंथी-योगियों के चमत्कारों का जनता पर अत्यधिक प्रभाव होने के कारण ही परवर्ती सन्त-मत एवं भक्ति-सम्प्रदायों के प्रचार में बड़ी भारी बाधा उपस्थित हुई। अशिक्षित जनता ज्ञान और भक्ति की सीधी-सादी बातों को ग्रहण करने से पूर्व इनके प्रचार का चमत्कार देखना चाहती थी। उनकी दृष्टि में जो व्यक्ति अधिक जटिल साधना, कठिन पद्धति या अलौकिक चमत्कार या प्रदर्शन कर सकता था, वह उतना ही बड़ा पहुँचा हुआ सन्त, भक्त या महात्मा माना जाता था। यही कारण है कि जहाँ सगुणभक्ति के प्रचारकों ने स्पष्ट शब्दों में नाथ-पंथियों का विरोध किया—"गोरख जगायो जोग। भक्ति भगायो लोग" या "जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै"—वहाँ सन्त-कवियों ने विरोध का एक अप्रत्यक्ष ढंग अपनाया। उन्होंने एक ओर तो योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों—पिंगला, सुषुम्णा, ब्रह्म-रन्ध्र, कुण्डलिनी आदि की नये ढंग से व्याख्या की तथा दूसरी ओर यौगिक समाधियों के स्थान पर सहज-प्रेम की तन्मयता का प्रतिपादन किया। अस्तु, उनकी शब्दावली में ऊपर से ऐसा आभास होता है कि वे भी योग-मार्ग के समर्थक हैं जबकि उसके भीतरी अर्थ में प्रवेश करने पर पता चलता है कि वे योग का नहीं, भक्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार जन-साधारण की श्रद्धा वे धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप में नाथ-पंथ से संत मत की ओर आकर्षित करने में सफल हो सके। अतः स्पष्ट है कि कबीर आदि संतों ने नाथ-पंथियों के 'योग-तत्त्व' को ग्रहण नहीं किया, अपितु उसका खण्डन किया; किन्तु कुछ विद्वान् इनकी शब्दावली को देखकर ही इन्हें नाथ-पंथियों के अनुयायी घोषित करते हैं, जो उचित नहीं। उदाहरण के लिए कबीर के निम्नांकित पदों को देखा जा सकता है—

अवधू अच्छर है सो न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसै, कहाँ गया जोग तुम्हारा।
गगना मद्धे जोती झलकै, पानी मद्धे तारा।
घटिगे नीर बिनसगे तारा, निकरि गयो केहि द्वारा।
मेरुदण्ड पर डारि उलीचै, जोगी तारी लाया।
सोई सुमेर पर खाक उड़ानी, कच्चा जोग कमाया।

× × ×

कह अरु अकह दुहुँ ते न्यारा, सत असत्त के पारा।
कहै कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाव भवपारा।

× × ×

अवधू जोगी जगयें न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खण्डै धारा,

बसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहिं छांड़ै पीवै महारस मीठा।
× × ×
संतो सहज समाधि भली।
जब से दया भई सतगुरु की, सुरति न अनत चली।

उपर्युक्त पदों में कबीर ने योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा उनके खंडन के उद्देश्य से ही किया गया है।

(३) **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन**—सन्तमत के उद्गम काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि आचार्यों द्वारा वैष्णव भक्ति आन्दोलन का प्रवर्तन हो चुका था। कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि अनेक प्रारम्भिक सन्तगुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि तात्विक दृष्टि से सन्तमत एवं वैष्णव-भक्ति में पर्याप्त भेद है, किन्तु फिर भी इन्होंने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर के पर्यायवाची नाम के रूप में—राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने वैष्णव-भक्तों की भांति ही श्रद्धापूर्वक किया है। ध्यान रहे अल्लाह, खुदा आदि शब्दों का प्रयोग वे उपदेश देते समय या हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन करते समय ही करते हैं। प्रेमानुभूति की तन्मयता के समय उनकी वाणी ऐसा नहीं करती। दूसरे उनके प्रेम के स्वरूप में वैष्णव भक्ति-भावना से गहरा साम्य मिलता है। कुछ विद्वान् इसे सूफी-मत की देन बताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सूफियों का प्रेम-तत्व समानता की भावना पर आधारित है, जबकि सन्तों ने भक्त-कवियों की भांति अपनी आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा किंचित् हीन स्वीकार किया है। जैसे —

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।
जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाई॥

सूफी मत में परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते हैं, जबकि सन्त कवियों ने भारतीय आदर्श के अनुसार अपनी आत्मा को पतिव्रता नारी तथा परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त तत्कालीन वैष्णव मत के प्रति उन्होंने अपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की है, जबकि सूफी दरवेशों का उपहास किया है। प्रमाण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) वैष्णवों के प्रति श्रद्धा—

मेरे संगी दोय जणां, एक वैष्णौं एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥
× × ×
बैश्नों की छपरी भली, ना साखत का बड़ गांऊ।
× × ×

साखत बांभण मत मिलै. बैसनों मिलैं चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥

(कबीर ग्रन्थावली)

(आ) सूफी दरवेशों की उपेक्षा—

है कोई दिल परदेश तेरा।
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि कें,
जाइ लाहूत पर खरैं डेरा॥

× × ×

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ।
जिनका दिल स्याबित नहीं, तिनकों कहां खुदाई॥

(कबीर का रहस्यवाद)

यहाँ यह ध्यान रहे कि संत-मत के उद्भवकाल में वैष्णव-भक्ति का स्वरूप अत्यन्त सरल, पवित्र एवं स्वच्छ था, इसी से कबीर ने उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है; किन्तु आगे चलकर सभी धर्मसाधनाओं की भाँति वैष्णव-भक्ति भी विकृत हो गई और उसमें विधि-विधानों, भोग, ऐश्वर्य आदि अनेक कलुषित तत्वों का समावेश हो गया। हमारा प्रतिपाद्य यहाँ इतना ही है कि सन्त-कवियों का प्रेम तत्व वैष्णव-भक्ति भावना से प्रेरित है; सूफी मतानुयायियों की प्रेम-पद्धति से उनका मेल नहीं होता।

(४) **महाराष्ट्रीय संत सम्प्रदाय**—हिन्दी-प्रदेश में सन्त-मत का प्रचार होने से पूर्व उसका विकास बहुत-कुछ महाराष्ट्र में हो चुका था। महाराष्ट्र में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय आदि की स्थापना हुई, जिनकी विचारधारा, साधना-पद्धति और अभिव्यंजना-शैली में सन्त काव्य से गहरा साम्य है। महानुभाव संप्रदाय की स्थापना श्री चक्रधर स्वामी (११९४-१२७४ ई०) ने की थी। उन्होंने एक ओर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुए जीव, देवता, परमेश्वर आदि को अनादि बताया, दूसरी ओर अद्वैतवाद के कुछ सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। फिर उन्होंने मोक्ष के निमित्त ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को ही अधिक महत्व दिया। चक्रधर की विचारधारा को उनके परवर्ती अनुयायियों—महदायिसा, दामोदर आदि ने आगे बढ़ाया। इसी संप्रदाय के साथ-साथ ही वारकरी संप्रदाय की स्थापना सन्त ज्ञानेश्वर (११९७ ई०) द्वारा हुई। उन्होंने भी अद्वैत मत, सगुण रूप और भक्ति भावना का समन्वय किया। ज्ञानेश्वर की परंपरा में निवृत्तिनाथ (११९७ ई०), मुक्ताबाई (१२०१ ई०), नामदेव (१२७२ ई०), एकनाथ (१४७० ई०), तुकाराम (१५७२ ई०) आदि सन्त हुए। इन महाराष्ट्रीय सन्तों की वाणी में विषय, भाव और शैली की दृष्टि से हिन्दी सन्त-कवियों की रचनाओं से गहरा साम्य मिलता है। इतना ही नहीं, इनमें से अनेक सन्तों ने हिन्दी भाषा में भी काव्य-रचना की है। भगवान् के प्रति दृढ़ अनुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणय-निवेदन, अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन, गुरु का महत्व, मूर्ति-पूजा व जाति-पांति-भेद का विरोध; योग-साधना का खण्डन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन आदि बातें महा-

राष्ट्रीय और हिन्दी सन्त कवियों में समान रूप से मिलती हैं। यहाँ सन्त नामदेव की रचनाओं से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) परमात्मा के प्रति प्रेम—

मोहि लागत ताला बेली! बछरे बिनु गाय अकेली।
पानीआ बिनु मीन तलफै। ऐसे राम बिनु बापुरो नामा॥
× × ×
मैं बउरी मेरा राम भरतार। रचि रचि ताकउं करउं सिंगार।

(आ) अद्वैत दर्शन—

सभु गोबिन्दु है सभु गोबिन्दु है; गोबिंदु बिनु नहीं कोई।
× × ×
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई।

(इ) गुरु का महत्व—

जऊ गुरु देऊ न मिलै मुरारी।
जऊ गुरदेऊ न उतरै पारि।

(ई) मूर्तिपूजा व जाति-पाँति का विरोध—

एकै पाथर कीजै पाऊ। दूजे पाथर धरिए पाऊ।
जे इहु देऊ तऊ उहु भी देवा। कहि नामदेव हरि की सेवा।
× × ×
कहा करउ जाती, कहा करउ पाती।
राम को नामु जपउ दिन राती।

(उ) यौगिक साधना का खंडन—

सबहि अतीत अनाहदि राता, आकुल कै घरि जाऊगो।
इड़ा पिंगुला, अउरु सुखमना, पउनै बंधि रहाऊगो॥
× × ×
नामा कहै चितु हरि सिउ राता, सुन्न समाधि पावऊगो॥

इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वान् संत कवियों की अनेक प्रवृत्तियों—निर्गुणोपासन, वर्ण-व्यवस्था व मूर्तिपूजा के विरोध आदि—को इस्लाम का प्रभाव बताते है, किन्तु इनका विकास भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था। सिद्धों व गोरखपंथी योगियो ने हिन्दू धर्म की अनेक बाह्य-पद्धतियों, वर्ण-व्यवस्था एवं मूर्तिपूजा का विरोध कठोर शब्दों में किया है। हाँ, सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित है, उस युग में जबकि मुस्लिम शासक धर्म के नाम पर हिन्दू जनता पर अत्याचार कर रहे थे, उन्होंने 'अल्लाह और राम' की एकता घोषित करके धार्मिक कट्टरता को कम करने का प्रयत्न किया। इन्होंने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियों का खंडन करते समय इस्लाम के अनुयायियों का सा उत्साह दिखाया, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो इन्होंने नमाज, रोजा आदि की व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साधना के

क्षेत्र में इस्लाम के तत्वों की उपेक्षा की। सन्त मत के खण्डनात्मक पक्ष में ही इस्लाम का अस्तित्व है; उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं, अल्लाह या खुदा का नहीं, संसार की असारता को घोषित करते हुए अद्वैतावाद और माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात मिलनेवाली बहिश्त और आखिरी कलाम की नहीं; और विधि-निषेधों की चर्चा में वे हिन्दू-शास्त्रों का आधार ग्रहण करते हैं कुरान का नहीं। केवल हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही सन्त-मत को उससे भिन्न नहीं कहा जा सकता; यदि ऐसा होता तो 'आर्यसमाज' को आज हिन्दू धर्म से भिन्न माना जाता, क्योंकि उसके अनुयायियों ने भी सन्तों की भाँति प्राचीन रूढ़ियों का खंडन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त-काव्य किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म-साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित अपभ्रंश की काव्य-धारा विशेष का विकसित रूप है, जो महाराष्ट्र से होता हुआ हिन्दी-प्रदेश में पहुँचा। सन्त-मत वस्तुतः भक्ति आन्दोलन की ही एक शाखा है जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न-वर्ग के अशिक्षित वर्ग द्वारा हुआ। तात्विक दृष्टि से राम-कृष्ण के सगुण रूप की उपासना या मूर्तिपूजा को छोड़कर उसमें तत्कालीन राम-भक्ति एवं कृष्ण-भक्ति के सिद्धान्तों से कोई बड़ा भारी अन्तर नहीं मिलता। उस युग में बड़े-बड़े मन्दिर एवं उनमें स्थापित मूर्तियाँ मुख्यतः उच्च वर्ग के अधिकार में थीं, निम्न वर्ग के लोगों की पहुँच वहाँ तक नहीं थी। अतः इस वर्ग से सम्बन्धित संतों का मूर्ति-पूजा एवं मन्दिरों की उपेक्षा करना स्वाभाविक ही था।

परम्परा का प्रवर्तन व विकास

सामान्यतः इस परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय कबीर को दिया जाता है, किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक सन्त हो चुके थे, जिन्होंने हिन्दी में रचना की। इनमें नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका जन्म सम्वत १३२७ (सन् १२७०) कार्तिक शुक्ला एकादशी रविवार को महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने अपने ८० वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में अनेक लम्बी यात्राएँ करके उत्तरी भारत का भ्रमण किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, जिसके स्मारक अब भी राजस्थान और पंजाब के अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं। इनके विचारों का परिचय पीछे दिया जा चुका है, जिसमें इनका परवर्ती-सन्त कवियों से गहरा साम्य सिद्ध होता है। कबीर, रैदास, रज्जब, दादू आदि सन्तों ने भी नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हुए उनकी गणना उच्चकोटि के सन्तों के रूप में की है। नामदेव की हिन्दी में रचित पदावली बड़ी संख्या में मिलती है। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है हिन्दी सन्त-काव्य परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय कबीर की अपेक्षा नामदेव को अधिक है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में महात्मा कबीर का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, सुदृढ़ व्यक्तित्व और प्रौढ़ चिन्तन एवं कवि-सुलभ सहृदयता एवं मार्मिक व्यंजना शैली के बल पर संत-मत और संत-काव्य का प्रचार शीघ्र ही सारे उत्तरी भारत में कर दिया। नामदेव के व्यक्तित्व में कोमलता अधिक होने के कारण वे अपने विरोधियों से संघर्ष और वाग युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए, किन्तु कबीर ने काशी के पंडितों और दूसरे विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और अपनी युक्तियों से उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया। इस तरह संत-मत के मार्ग से बीच के कंकड़-पत्थरों, झाड़ियों एवं काँटों को दूर करके उसे साफ-सुथरा व प्रशस्त बनाने का कार्य कबीर के द्वारा हुआ। उसके पश्चात् तो संत-मत नये-नये पंथों का रूप धारण करके निर्बाध रूप से आगे बढ़ता रहा। इन पन्थों में कबीर-पन्थ के अतिरिक्त रैदासी ग्रन्थ, सिख पन्थ, दादू पन्थ (१७वीं शती), निरंजनी सम्प्रदाय (१७वीं शती), बाबरी पंथ (१७वीं शती), मलूक पंथ (१७-१८वीं शती), दरियादासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), चरणदासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), गरीबपंथ (१८-१९वीं शती), पानप पंथ (१८-१९वीं शती), रामस्नेह सम्प्रदाय (१८-१९वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि प्रायः अनेक संतों द्वारा उन्नीसवीं शती तक अनेक नए-नए पंथ स्थापित किए गए, किन्तु सिद्धान्त व विचारधारा की दृष्टि से इनमें विशेष मौलिकता नहीं मिलती—मूल-स्वरूप इन सबका एक ही है। इतना अवश्य है कि धीरे-धीरे ये पंथ भी अपने मूल उद्देश्य से दूर हटकर रूढ़ियों, विधि-विधानों, पाखण्ड प्रदर्शन एवं माया-जाल की बुराइयों से ग्रस्त हो गए। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि संत-काव्य की परम्परा हिन्दी में १४वीं-१५वीं शती से आरम्भ होकर बीसवीं शती तक अखंड रूप से चलती रही; अतः इसे केवल भक्तिकाल की ही काव्य-धारा कहना उचित नहीं।

प्रमुख कवि और उनका काव्य

संत-कवियों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व महात्मा कबीर का ही था। उनके नाम पर हिन्दी में ६१ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु उनमें अधिकांश अप्रामाणिक हैं। प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाओं में डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली', डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' और कबीर-पंथियों के साम्प्रदायिक ग्रंथ—'बीजक'—का उल्लेख किया जा सकता है। कबीर-साहित्य को विषय वस्तु की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जिसमें अपने विचारों का प्रतिपादन किया गया है, (२) जिसमें विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों की रूढ़ियों का खंडन किया गया है, और (३) जिसमें कवि ने वादविवाद और खंडन-मंडन से ऊपर उठकर अपनी अलौकिक अनुभूतियों का प्रकाशन भाव-पूर्ण शब्दों में किया है। उनके कवित्व का सर्वोत्कृष्ट रूप तीसरे वर्ग के काव्य में—जिसमें उन्होंने अपने अलौकिक प्रियतम के प्रेम की व्यंजना की है—मिलता है।

रामानन्द जी के शिष्यों में रैदास जी का भी उल्लेख किया जाता है, जो उच्च कोटि के संत-कवि थे। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा ने भी अनेक पदों में इनका

स्मरण गुरु के रूप में किया है। रैदास जी के कुछ पद गुरु-ग्रन्थ साहब में संकलित है। इनके काव्य में व्यक्तित्व की कोमलता, अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सरलता मिलती है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में— 'अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्संदेह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।'

कबीर के अनुयायी संत-कवियों में धर्मदास जी का नाम उल्लेखनीय है। अपने गुरु की वाणी का संग्रह 'बीजक' के रूप में करने का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। इनके स्वरचित पदों का संग्रह भी 'धनी धरमदास की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके पद भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि "इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है, इसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं, क्योंकि इन्होंने खण्डन-मण्डन से विशेष प्रयोजन न रख, प्रेमतत्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है।" कहीं-कहीं इनकी भाषा में पूर्वीपन झलकता है।

सिक्ख-धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक का भी सन्त कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। इनकी रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संकलित हैं, जिनमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना, संसार की क्षण-भंगुरता, माया की शक्ति, नाम जप की महिमा, आत्म-ज्ञान की आवश्यकता, गुरु-कृपा का महत्त्व, सात्त्विक कर्मों की प्रशंसा, आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। कबीर की भाँति जीव-हिंसा, मूर्तिपूजा, बाह्याचारों आदि का खण्डन आपने भी निर्भीकतापूर्वक किया है। इनके भक्ति सम्बन्धी उद्गारों में हृदय की सच्ची अनुभूति मिलती है।

सन्त-परम्परा के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों—दादूदयाल, सुन्दरदास, रज्जबदास, यारी साहब, पलटू साहब, मलूकदास, प्राणनाथ आदि तथा प्रसिद्ध कवयित्रियों—दयाबाई व सहजोबाई—ने उत्कृष्ट कोटि की काव्य रचना की। दादूदयाल जाति के धुनिया थे तथा उन्होंने दादू पन्थ की स्थापना की। इनके काव्य में भी ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, संसार की अनित्यता, अलौकिक प्रियतम में प्रेम और विरह का चित्रण हुआ है। दादू की वाणी में यद्यपि कबीर का-सा उक्तियों का चमत्कार नहीं मिलता, किन्तु प्रेम-भाव का निरूपण उन्होंने अधिक सरलता और गम्भीरता से किया है। खण्डन-मण्डन में इनकी रुचि कम थी। इनकी भाषा में राजस्थानी का पुट अधिक है। इन्हीं के शिष्य सुन्दरदास थे, जिन्होंने ५ वर्ष की अवस्था में ही अपने घर को त्यागकर इनसे वैराग्य की दीक्षा ग्रहण कर ली। ग्यारह वर्ष की अवस्था में काशी जाकर इन्होंने प्राचीन साहित्य और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। वस्तुतः सन्त-कवियों में अध्ययन व विद्वत्ता की दृष्टि से सुन्दरदास का स्थान सबसे ऊँचा है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में 'ज्ञान समुद्र' और 'सुन्दर विलास' उल्लेखनीय हैं। दादू दयाल के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य रज्जबदास जी ने भी लगभग पाँच हजार

छन्दों का रचना की, जो उनकी 'वानी' में संगृहीत हैं। इन्होंने ईश्वर-विषयक प्रेम की व्यंजना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है।

यारी साहब और पलटू साहब का सम्बन्ध बावरी सम्प्रदाय से था। इन दोनों की कविता में भाषा की सरलता और भावों की स्पष्टता परिलक्षित होती है। पलटू साहब ने अनेक शैलियों—शब्द, साखी, कुण्डलियाँ, झूलना, अरिल्ल आदि का प्रयोग किया है। अपनी फक्कड़ता के लिए प्रसिद्ध सन्त कवि मलूकदास ने भी अनेक काव्य ग्रन्थों की रचना की, जिनमें ज्ञान बोध, रतन खान, भक्त वच्छावली, भक्त विरुदावली पुरुष-विलास, गुरु-प्रताप, अलख बानी आदि उपलब्ध हैं। **प्राणनाथ** जी के द्वारा रचित ग्रन्थों में रासग्रन्थ, प्रकाशग्रन्थ, षटऋतु, सागर-सिंगार आदि उल्लेखनीय हैं। **सहजोबाई और दयाबाई**—दोनों प्रसिद्ध सन्त चरणदासजी की शिष्याएँ थी। सहजोबाई के उद्गार "सहज प्रकाश" में तथा दयाबाई की भावपूर्ण उक्तियाँ 'दयाबोध' और विनय-मालिका' में संगृहीत है। इनके काव्य में नारी-सुलभ कोमलता, अनुभूति की तरलता एवं अभिव्यक्ति की सरलता दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक सन्त-कवि एवं कवयित्रियाँ हुई, जिनमें जगजीवनदास, दरियासाहब, शिवनारायण, तुलसी साहब, रामचरण दास, बावरी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रवृत्तियाँ

सन्त-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु सम्बन्धी, (२) भाव-पक्ष सम्बन्धी और (३) शैली-पक्ष से सम्बन्धित। यहाँ प्रत्येक वर्ग की प्रवृत्तियों का विवेचन अलग-अलग किया जाता है।

(१) **विषय-वस्तु**—प्रायः सभी प्रमुख सन्त-कवियों का आविर्भाव समाज के निम्न-वर्ग में हुआ था तथा कविता करने का उनका प्रमुख उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना था। अतः इनके काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर सूक्ष्म आध्यात्मिक विचारों से है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इनके काव्य में दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारों का वर्णन हुआ है। सूक्ष्म विचारों की अभिव्यंजना के लिए प्रायः कवि लोग किसी ऐतिहासिक पात्र, पौराणिक आख्यान या सांसारिक जीवन की किसी प्रमुख घटना का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु कवियों ने ऐसा नहीं किया। विशुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उपयुक्त रहता है। परन्तु उन्होंने कविता का माध्यम अपनाया। इसके कई कारण हैं। एक तो वह युग ही गद्य का नहीं था, आयुर्वेद तक के ग्रन्थ उस युग में पद्य में रचे गए थे; दूसरे सन्त मत से सम्बन्धित गुरु और शिष्य—दोनों ही अशिक्षित वर्ग के थे, अतः उपदेशों को मौखिक रूप से स्मरण रखने के लिए उनका पद्यबद्ध होना आवश्यक था और तीसरे, वे अपने विचारों को अधिक रोचक एवं सरल शैली में अभिव्यक्त करना चाहते थे, अतः इन सब कारणों से इन्होंने काव्य-रचना की।

(३) **शैली एवं भाषा**—इनके काव्य में मुख्यतः गेय-मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। गीति-काव्य के पाँचों प्रमुख तत्व—(१) भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता, (३) संगीतात्मकता, (४) सूक्ष्मता और (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में मिलते हैं, किन्तु कहीं-कहीं उपदेशपरक पदों में भावात्मकता का स्थान बौद्धिकता ने ग्रहण कर लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है। रीतिकाल के संत कवियों ने कवित्त, सवैयों एवं कुण्डलियों में भी काव्य-रचना की है।

अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इन्होंने लोक-प्रचलित भाषा को ही बनाया। इसका कारण केवल संस्कृत को कूप-जल एवं भाषा को बहता नीर समझना ही नहीं, अपितु स्वयं उनका तथा उनके शिष्यों की अशिक्षा के कारण और किसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने की असमर्थता भी थी। प्रदेश-भेद के अनुसार विभिन्न कवियों ने प्रारम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी, पंजाबी प्रभावित ब्रज एवं विशुद्ध ब्रज-भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि जानबूझकर अपनी भाषा को आलंकारिकता से लादने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण इनकी अभिव्यक्ति में अलंकार, रीति एवं ध्वनि से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों का समावेश स्वतः ही हो गया है। आचार्य हजारीप्रसाद जी ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे हम सभी प्रमुख सन्त कवियों पर लागू करते हुए कह सकते हैं कि भाषा इनके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह इन अक्खड़ साधुओं की कोई बात मानने से इन्कार कर दे। अतः उन्होंने जैसा कहलाना चाहा, वैसा ही इनकी भाषा ने पूरी शक्ति के साथ कह दिया है।

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्त-काव्य में अनेक न्यूनताएँ होते हुए भी वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है। जिस युग में इन्होंने काव्य-रचना की, वह भारत के लिए अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का घोर अन्धकारमय युग था; और ये कवि उस युग की जनता के निम्नतम स्तर से सम्बन्ध रखते थे; फिर भी उन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई वह अद्भुत है, अपूर्व है! सुसंस्कृत युग और सुशिक्षित समाज के सुपठित कवियों द्वारा उच्चकोटि की रचनाओं का प्रणीत होना विशेष महत्व की बात नहीं, अपने पतन की चरम अवस्था में भी पतित, दलित एवं जर्जरित भारत का ऐसे महान् प्रतिभाशाली, गम्भीर चिन्तक एवं स्पष्टवक्ता कवियों को जन्म दे देना एक ऐसा आश्चर्य है जिसका दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास में शायद ही कहीं मिले। मुगल-कालीन भारत में जबकि उच्च-वर्ग की जनता अपने शासकों का अनुकरण करती हुई विलासिता के रंग में डूबी हुई थी, मन्दिर, तीर्थ और धर्म-स्थान व्यभिचार के केन्द्र बन रहे थे, और विभिन्न सामाजिक पर्वों पर मनोरंजन के पवित्र एवं शुभ कृत्यों के आयोजन के स्थान पर सुरा और सुन्दरी के सत्कार का प्रबन्ध होता था,

ऐसी स्थिति में निम्न वर्ग के अशिक्षित जन-समुदाय का अनैतिकता, अनाचार और अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँचकर मटियामेट हो जाना स्वाभाविक था, किन्तु सन्त-मत के विभिन्न उन्नायकों ने उन्हें एक नेतृत्व प्रदान किया जिससे राष्ट्र का यह बहुसंख्यक वर्ग विनाश से बच सका।

साहित्यिक दृष्टि से भी सन्त-कवियों की देन का कम महत्व नहीं है। अपनी अनुभूतियों को सहज-स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। आधुनिक कवियों एवं लेखकों की भाँति उन्होंने अपने साहित्य में अपरिपक्व विचारों, अस्पष्ट जीवन-दर्शन और अधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण नहीं किया, अपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की अनुभूति से अवगाहित करके व्यक्त किया। सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है। "भाषा कैसी ही हो, भाव चाहिए मित्त" की उक्ति सन्त-काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।



: पच्चीस :

प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा : प्रेरणा व उद्गम-स्रोत

हिन्दी में 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा' को अब तक विभिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है, यथा—'प्रेम मार्गी (सूफी) शाखा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-गाथा', 'प्रेम कथानक काव्य', 'प्रेमाख्यानक', 'प्रेमाख्यान' आदि। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने इन विभिन्न नामों का प्रयोग करते समय इनके अर्थ का स्पष्टीकरण करने का प्रयास नहीं किया। ऐसी स्थिति में किसी भी ऐसे काव्य को, जिसमें प्रेम का चित्रण किया गया हो, इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है जबकि वस्तुतः ऐसा करना ठीक नहीं। प्रेम एक ऐसी व्यापक भावना है कि उसका अस्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी या अधिकांश रचनाओं में होता है, किन्तु उन सभी को इस परम्परा में स्थान नहीं दिया जाता। इसका सम्बन्ध केवल एक विशेष प्रकार के प्रेम, साहसिक प्रेम या स्वच्छ प्रेम से है, जिसे अंग्रेजी में 'रोमांस' (Romance) कहा गया है। वस्तुतः इस काव्य-परम्परा का सम्बन्ध एक ओर तो विश्व में व्याप्त रोमांस-काव्य की परम्परा से है तथा दूसरी ओर भारत की प्राचीन कथा-काव्य-परम्परा से है, इन दोनों तथ्यों का स्पष्टीकरण आगे विस्तार से किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोनों परम्पराओं के सम्बन्ध को सूचित करनेवाले क्रमशः दो शब्दों—'रोमांसिक' एवं 'कथा-काव्य' को ग्रहण करते हुए हम इस परम्परा को 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' के नाम से पुकारना अधिक उचित समझते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस परम्परा के कवियों ने भी प्रायः अपनी रचना के लिए 'कथा-काव्य' संज्ञा का प्रयोग किया है।

रोमांस व कथा काव्य के लक्षण—'रोमांस' शाब्दिक दृष्टि से तो फ्रांस की प्राचीन भाषा का नाम है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार की रचनाओं से लिया जाता है। इन रचनाओं में साहस, प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना एवं अलौकिक तत्वों की प्रमुखता रहती है। इसमें भी मुख्यतः प्रेम का चित्रण होता है, किन्तु वह प्रेम एक विशेष प्रकार का होता है—उसमें साहस, शौर्य एवं संघर्ष का मिश्रण रहता है। दूसरे शब्दों में इसी को साहसिक या रोमांटिक प्रेम भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने जो लक्षण रोमांस के बताए हैं, लगभग वे ही संस्कृत के आचार्यों ने एक विशेष रूप—'कथा' के बताए हैं। आचार्य भामह एवं दंडी के अनु-

सार इसमें कन्या के अपहरण, युद्ध, विरह एवं प्रेम की प्रमुखता होती है। वस्तुतः ये लक्षण क्रमश साहस, संघर्ष, शौर्य्य एवं प्रेम आदि तत्त्वों के हीं सूचक हैं। अन्य कथा-प्रवृत्तियों एवं शैली सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से भी रोमांस और कथा-काव्य में गहरा साम्य है, इसीलिए पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतीय कथा-काव्यों को 'रोमांस' की ही संज्ञा दी है; किन्तु हिन्दी में 'कथा' शब्द का प्रयोग सामान्य कहानियों एवं उपन्यासों के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः इन काव्यों की विशिष्टता को सूचित करने के लिए 'कथा' के पूर्व 'रोमांसिक' विशेषण का प्रयोग अपेक्षित है। साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में कथा-साहित्य गद्य में ही लिखा जाता था, जबकि आगे चलकर पद्य में लिखा जाने लगा, किन्तु इससे इसके मूल रूप में विशेष अन्तर नहीं आया। रुद्रट ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि यह (कथा) संस्कृत में गद्य में तथा अन्य भाषाओं (प्राकृत, अपभ्रंश आदि) में पद्य में लिखी जाती है। यह बात रोमांस पर भी लागू होती है। रोमांस प्रारम्भ में गद्य में लिखे जाते थे, जबकि १२वीं-१३वीं शती में वे छन्दोबद्ध होने लग गए। हिन्दी में भी ये काव्य पद्य में ही लिखे गए हैं।

विश्व-साहित्य में रोमांस (प्रेमाख्यानक काव्य) का उद्भव एवं विकास—पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार रोमांस के मूल तत्व प्राचीन ग्रीक एवं लेटिन साहित्य में विद्यमान थे। आगे चलकर इन्हीं तत्वों के आधार पर प्राचीन फ्रेंच, जर्मन एवं इंगलिश में रोमांस काव्यों की एक ऐसी धारा का प्रवर्त्तन हुआ, जो यूरोप की अधिकांश भाषाओं के साहित्य में फैल गई। वस्तुतः यह एक ऐसी व्यापक काव्य-धारा है, जो मध्यकाल के समस्त यूरोपीय साहित्य पर छायी हुई है। इतना ही नहीं, विश्व के अन्य भागों पर दृष्टि डालें तो वहाँ भी इसकी कई शाखाएँ फैली हुई दृष्टिगोचर होंगी। यूरोप की ही भाँति एशिया में भी—भारत से लेकर ईरान तक इसका प्रचार एवं प्रसार दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से यह विश्व-साहित्य की सबसे अधिक प्रबल एवं व्यापक काव्य-धारा प्रतीत होती है।

यहाँ एक प्रश्न है - विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई रोमांस काव्य की ये धाराएँ क्या परस्पर सम्बद्ध हैं या इनका विकास स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग हुआ है? इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार करने के अनन्तर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, उनसे यह पता चलता है कि यह धारा सबसे पहले भारत में कथा-साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई, तदनन्तर विभिन्न स्रोतों से यह अरब, फारस, यूनान रोम, स्पेन में होती हुई पश्चिमी एशिया एवं सारे यूरोप में फैल गयी। हिन्दी के उन पाठकों को, जो अब तक इस परम्परा को फारसी मसनवियों या विदेशी सूफियों की देन मानने की भ्रांति से ग्रस्त हैं, यह बात बड़ी विचित्र लग सकती है। उन्हें शायद यह पता ही नहीं है कि जिस धारा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके चरण-चिह्नों पर चलनेवाले परवर्ती आचार्य विदेशी मानते हैं, उसी को रीक (Relch), बेनफी (Benfy), कैलर (Keller), हर्टेल (Hertel) जैसे यूरोपियन विद्वान् तथा 'कैम्ब्रिज

हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर' व 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के कतिपय लेखक विश्व को भारत की देन मानते हैं। यह धारा किस प्रकार भारत में पनपकर एक ओर अरब-फारस व ईरान के आख्यानों के रूप में तथा दूसरी ओर ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, इंगलिश आदि के रोमांसों के रूप में विकसित हुई, इसकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ हम केवल उन तथ्यों एवं प्रमाणों का संकेत मात्र कर देना चाहते हैं, जिनके आधार पर उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया गया है—

(क) रोमांस काव्यों की एक शाखा यूनान और रोम से होती हुई यूरोप के शेष भागों से प्रसारित हुई। यूनान को यह शाखा (सम्भवतः सिकन्दर के आक्रमण के समय) भारत से प्राप्त हुई थी। भारत का कथा-साहित्य यूनान में पहुँचा है—इस तथ्य को अनेक यूरोपियन विद्वानों ने अपनी-अपनी शोध के आधार पर प्रमाणित किया है, जिनमें रीक, वेजनर, बेनफी, कैलर, हर्टेल आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। रीक (Reich) महोदय ने भारतीय और यूनानी आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि भारतीय कथा-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ यूनानी आख्यानों में विद्यमान हैं; जैसे—(१) प्रथम दर्शनजन्य प्रेमोत्पत्ति, (२) स्वप्न में प्रिय-दर्शन, (३) अलौकिक रूप में भाग्य-परिवर्तन, (४) साहसिक यात्राएँ, (५) समुद्र में जहाज का टूटना, (६) नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, (७) प्रकृति का विस्तृत रूप में चित्रण आदि। इसी प्रकार वेजनर (Wagener) ने इस विषय पर शोध करते हुए यूनानी आख्यानों पर भारतीय कथा-साहित्य का गहरा प्रभाव सिद्ध किया है। बेनफी ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि आश्चर्यपूर्ण कहानियों का उद्गम-स्रोत भारत है। कैलर (Keller) महोदय ने ईसा से दो-तीन शताब्दी पूर्व की भारतीय चित्र-कला एवं मूर्तियों तथा जातक कथाओं के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि कथा-साहित्य का यूनान से पूर्व भारत में आविर्भाव हो गया था, अतः यूनान पर ही भारत का ऋण होना सम्भव है। कुछ विद्वानों ने इसके विपरीत भारत के कथा-साहित्य को यूनान की देन सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली है। हर्टेल (Hertel) ने विरोधियों के मत का खण्डन करते हुए प्रमाणित किया है कि ग्रीक के अनेक सर्वोत्कृष्ट आख्यान मूलतः भारतीय हैं।

यद्यपि कीथ जैसे विद्वानों ने यूनानी आख्यानों पर भारत का ऋण स्वीकार करने में संकोच करते हुए यह युक्ति दी है कि शायद यूनान और भारत दोनों ही ने किसी तीसरे स्रोत से यह साहित्य प्राप्त किया हो, या यह भी सम्भव है कि दोनों का विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ हो; किन्तु ये युक्तियाँ अन्य प्रमाणों को देखते हुए महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होतीं।

(ख) भारतीय कथा-साहित्य के यूनान में पहुँचने के भी कई महत्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। एथेन्स नामक एक प्राचीन यूनानी-कवि द्वारा ग्रीक में रचित —'Zariadress and Odates' नामक आख्यान प्राप्त हुआ है। वेबर महोदय ने 'वासवदत्ता' की भूमिका में इसे उद्धृत करते हुए प्रतिपादित किया है कि इसका

कथानक वासवदत्ता से बिल्कुल मिलता-जुलता है, अतः 'वासवदत्ता' का आधार यह ग्रीक काव्य है किन्तु इसके कवि ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उसे यह आख्यान सिकन्दर महान् के एक कर्मचारी 'Mytiline' (जो सम्भवतः भारत की यात्रा करके लौटा था) ने सुनाया था। ऐसी स्थिति में इस पर 'वासवदत्ता' का प्रभाव मानना चाहिए या 'वासवदत्ता' पर इसका? जिस 'वासवदत्ता' काव्य की बात वेबर साहब कर रहे हैं, वह बहुत बाद की है, किन्तु इसकी मूल कहानी, जो कि उदयन और वासवदत्ता के ऐतिहासिक वृत्त से सम्बन्धित है, सिकन्दर के आगमन से भी पहले की है, अतः इससे यही प्रमाणित होता है कि यह कहानी भारत से यूनान में पहुँची होगी, न कि इसके विपरीत हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त ग्रीक में Syntipas नाम का एक प्राचीन आख्यान मिलता है जिसमें अनेक स्थल ऐसे हैं, जिन्हें सफलतापूर्वक तभी समझा जा सकता है, जब यह मान लिया जाय कि वे केवल किसी संस्कृत मूल के बिगड़े हुए हैं', इससे प्रमाणित होता है कि यह आख्यान भी मूलतः किसी संस्कृत रचना पर आधारित है। अस्तु, इन तथ्यों से भारतीय कथा-साहित्य के यूनान में पहुँचने की ही बात प्रमाणित होती है।

(ग) भारतीय कथा-साहित्य के यूरोप में प्रसारित होने के एक अकाट्य प्रमाण के रूप में पंच तंत्र के विभिन्न अनुवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा कि इतिहासकारों ने प्रमाणित किया है, पांचवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक एशिया और यूरोप की बीसियों भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये थे जो इस प्रकार हैं—पहलवी भाषा में Burzoe द्वारा (५-६वी शती), सीरिया की भाषा में (५७० ई०), अरबी में (६५० ई०), ग्रीक में (११वीं शती), हिब्रू (११वीं शती), इटैलियन, लैटिन एवं जर्मन में (१५-१६ वीं शती), डैनिश, आइसलैण्डी, डच और स्पेनिश भाषाओं में (१५वीं शती), अंग्रेजी में (१५७० ई०) इसी प्रकार शुक सप्तति, वैताल-पचीसी आदि के अनुवाद यूरोप की विभिन्न भाषाओं में हुए हैं।

(घ) यूरोप में रोमांस-काव्य के अभ्युत्थान में योग देने वाले आधारभूत ग्रंथों के रूप में 'अरेबियन-नाइट्स', 'जोसफ एण्ड वलराम', 'सिंदबाद की कहानी' आदि को स्वीकार किया गया है। डा० ए० बी० कीथ ने अरेबियन नाइट्स का उद्गम-स्रोत एक जैन गाथा 'कनक मंजरी' को सिद्ध किया है। यह कहानी अरब-फारस से होती हुई यूरोप में पहुँची। 'जोसफ एण्ड वलराम' की गाथा भी असंदिग्ध रूप से गौतम बुद्ध की ही जीवन-गाथा मानी जाती है। इसी प्रकार सिंदबाद की कहानी भी मूलतः भारतीय है। अरबी इतिहासकार मसूदी (मृत्यु ९५६ ई०) ने इसे भारतीय कथा माना है। इस प्रकार पाश्चात्य रोमांस काव्य के आधारभूत ग्रन्थ भारतीय सिद्ध हो जाते हैं।

(ङ) इसी प्रकार तेरहवी-चौदहवीं शती के अनेक पाश्चात्य रोमांस काव्य जैसे Gest a Romnorum (१३०० ई०) Perceforest, The Wright's chaste wife, Constant du Hamel, Isabeau आदि रोमांचक कथाएँ भी बृहत्कथा की कहानियों पर आधारित हैं।

(च) पाश्चात्य रोमांस काव्य में उपलब्ध अनेक कथानक-रूढ़ियाँ, धार्मिक विश्वास एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ भी मूलतः भारतीय सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए स्वयंवर की प्रथा, प्रेमी-प्रेमिकाओं के पुनर्जन्म में मिलने का विश्वास, सतीत्व की परीक्षा आदि तत्त्व भारतीय हैं।

(छ) पाश्चात्य रोमांस के विकास में भारतीय-कथाओं के योगदान को स्वीकार करते हुए 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर', भाग १, में श्री डबल्यू० पी० केर ने स्पष्ट रूप में लिखा - The far-east began very early to tell upon western imaginations not only through the marvels of Alexander in India, but in many and various separate stories. One of the best of these and one of the first. as it happens in the list of English romances, is 'Flores and Blanche flour'···Barlaam and Josaphat' is the story of the Buddha. and 'Robert of Sicily', The proud king' has been traced to similar origin."[1]

इसी प्रकार 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (भाग १९) में भी रोमांस के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए पूर्व (भारत) के कथा-साहित्य को उद्गम-स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है—"That such matter was abundant in the literature and folk lore of the east···Certain fragments of eastern stories making their way first may be through Spain by pilgrimages, lately by the crusaders."[2]

(ज) भारतीय कथा-साहित्य के ईरान से होते हुए यूरोप में पहुँचने का एक अन्य प्रभाव यह है कि बादशाह बहराम गोर (४२-४३८ ई०) ने भारत से दस हजार (?) गवैये ऐसे बुलवाये थे, जो कि सारंगी पर प्रेम-कथाएँ सुनाकर मुग्ध कर लेते थे। इन गवैयों के ही वंशज आगे चलकर एशिया और यूरोप के अनेक भागों में फैल गये तथा इन्हें 'जिप्सी' कहा जाता है। इन जिप्सियों के द्वारा भी भारतीय कथाएँ पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में फैलीं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन जिप्सियों के द्वारा आयातित कथाओं को भी रोमांस के उद्गम-स्रोतों के रूप में स्वीकार किया है।

---

१. हिन्दी अनुवाद—"पाश्चात्य कल्पनाओं (कथाओं) पर सुदूर पूर्व का प्रभाव बहुत पहले से पड़ने लगा था। केवल सिकन्दर के द्वारा (प्राप्त) भारतीय चमत्कारों के माध्यम से ही नहीं, उसके भी अतिरिक्त विभिन्न स्वतन्त्र कथाओं के रूप में, जैसे अंग्रेजी रोमांसों में सर्वप्रथम कृति "Flores and Blanche flour···है। Barlaam and Josaphat की कथा भी बुद्ध की कथा है तथा 'राबर्ट आफ सिसली', 'दी प्राउड किंग', आदि का भी मूलोद्भव वहीं (भारत में) ढूंढ़ा गया है।'

२. हिन्दी अनुवाद—'इस प्रकार की सामग्री पूर्व के साहित्य एवं लोक कथाओं में बहुत अधिक विद्यमान थी। इन पूर्वी कहानियों के कुछ अंश पहले स्पेन के तीर्थयात्रियों द्वारा तथा बाद में आक्रमणकारियों द्वारा पहुँचते रहे।'

उपर्युक्त तथ्यों प्रमाणों एवं स्वीकृतियों को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के कथा-साहित्य विशेषतः रोमांचक कथा-साहित्य का उद्भव-स्रोत भारतीय साहित्य ही है। किन्तु जैसा कि इतिहासकारों ने स्पष्ट किया है, भारतीय साहित्य एक बार में, या एक साथ ही यूरोप में नही पहुँच गया। वह समय-समय पर विभिन्न माध्यमों से वहाँ पहुँचा। पहले सिकन्दर एवं परवर्ती यूनानी शासकों के समय में, जब कि भारत एवं यूनान के बीच राजनीतिक संपर्क स्थापित हुआ, तब पहुँचा। तदन्तर अरब और फारस के व्यापारियों द्वारा, जबकि अरब का स्पेन पर अधिकार था, स्पेन होता हुआ यूरोप में पहुँचा। भारत की अनेक कथाएँ पहले अरब फारस की भाषाओं में अनूदित हुईं और तदनन्तर यूरोप में पहुँचीं। इस प्रकार जिप्सियों तथा यात्रियों के द्वारा भी भारतीय कथा-साहित्य यूरोप में प्रचारित हुआ। अस्तु प्रचार का माध्यम चाहे जो रहा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय कथा-साहित्य का पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में पर्याप्त प्रचार हुआ तथा उसी ने विश्व के रोमांस-काव्य की दीर्घ परम्परा के उद्भव एवं विकास में पर्याप्त योग दिया।

भारत में रोमांचक या प्रेमाख्यानक कथाओं की परम्परा—यद्यपि रोमांचक कथाएँ मुख्यतः कल्पना पर आधारित होती हैं, किन्तु उस कल्पना के पीछे भी थोड़ी बहुत वास्तविकता अवश्य होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इन कथाओं में सामान्य रूप से ऐसा समाज प्रतिबिम्बित है, जो सौन्दर्य और प्रेम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है तथा इस क्षेत्र में वह धर्म और नीति की मर्यादाओं को तुच्छ मानता है। विवाह के क्षेत्र में वह इतना अधिक स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द प्रतीत होता है कि वह विवाह से पूर्व नायिका के कुल जाति, धर्म आदि पर कोई विचार नहीं करता। इच्छित सुन्दरी को पाने के लिए वह सबसे संघर्ष करने एवं सारी कठिनाइयाँ सहन करने को प्रस्तुत है, संक्षेप में, वह समाज अत्यधिक सौन्दर्य-प्रेमी, स्वच्छन्द, प्रगति शील एवं साहसी प्रतीत होता है। भारत के अतीत पर दृष्टि डालें तो हमें ये सारी विशेषताएँ महाभारत के आधारभूत समाज में भली-भाँति दृष्टिगोचर होंगी। उसमें सौन्दर्य की इतनी अधिक प्रतिष्ठा दिखाई देती है कि उसके आगे धर्म जाति एवं कुल के बन्धन गौण हैं। उदाहरण के लिए शान्तनु जैसा क्षत्रिय नरेश धीवर कन्या सत्यवती को, भीम अनार्य कन्या हिडिम्बा को, अर्जुन नागकन्या उलूपी को केवल सौन्दर्याकर्षण के कारण ही स्वीकार कर लेते हैं। अपनी सौन्दर्य लालसा की पूर्ति के लिए किसी कन्या का बलात् अपहरण—भले ही वह अपने मित्र की बहन ही क्यों न हो, महाभारत के समाज में उचित है। उदाहरण के लिए सुभद्रा के रूप पर मुग्ध अर्जुन को स्वयं कृष्ण परामर्श देते हैं कि वह उसका अपहरण कर ले। इसी प्रकार विवाह से पूर्व संघर्ष के भी इस युग में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण और रुक्मिणी, पाण्डव एवं द्रौपदी, अर्जुन और सुभद्रा, प्रद्युम्न और प्रभावती, अनिरुद्ध और उषा के विवाह से पूर्व नायक पक्ष को प्रतिनायक या नायिका के संरक्षकों से संघर्ष करना पड़ता है। अस्तु, सौन्दर्य-प्रियता, प्रेम की स्वच्छन्दता एवं विवाह सम्बन्धी प्रगतिशीलता आदि की दृष्टि से महाभारतीय समाज पूर्णतः रोमांटिक कहा जा सकता है। अतः इसी युग को रोमां-

चक कथाओं का उद्भव-काल माना जा सकता है। वैसे महाभारत से सम्बन्धित समाज के समय के बारे में विद्वानों में परस्पर मतभेद है, किन्तु सामान्यतः महाभारत युग की घटना ईसा से १४०० वर्ष पूर्व की मानी जाती है, अतः हम इसी समय के आस-पास से रोमांचक कथाओं का मूल उद्भव-काल मान सकते हैं।

यद्यपि महाभारत-ग्रन्थ मूल महाभारतीय समाज के समय से बहुत बाद का माना जाता है, किन्तु भारतीय साहित्य में यही पहला ग्रंथ है, जिसमें एक साथ अनेक रोमांचक कथाओं का प्रारम्भिक रूप उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए इसमें अर्जुन-सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा, नल-दमयन्ती, तृप्ता संवरण के प्रणय के ऐसे प्रसंग विद्यमान हैं, जो रोमांटिक तत्वों से युक्त हैं। इनमें भी नल-दमयन्ती उपाख्यान तो और भी अधिक रोमांचक है, जिसे परवर्ती युग के भी अनेक कवियों ने अपनाया है। महाभारत के अनन्तर 'हरिवंश-पुराण' रोमांचक आख्यानों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण-रुक्मिणी (अध्याय-५६-६०), प्रद्युम्न--प्रभावती (अध्याय ११३-१६७) और उषा-अनिरुद्ध (अध्याय-२६५-२६७) के आख्यान विस्तार से प्रस्तुत किए गये हैं जिनमें परवर्ती रोमांचक आख्यानों की अधिकांश कथानक-रूढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण-रुक्मिणी में नायक-नायिका में गुण श्रवण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेमोत्पत्ति, देव-मन्दिर के निकट दोनों की प्रथम भेंट, नायिका का बलात् हरण, प्रतिनायक से युद्ध आदि की घटनाओं का वर्णन मिलता है। 'उषा-अनिरुद्ध' में स्वप्न-दर्शन व चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक को सोते हुए महल से उठा ले जाना, नायिका के पिता द्वारा विवाह में बाधा, विवाह से पूर्व युद्ध, आदि की घटनाएँ आई हैं। प्रद्युम्न और प्रभावती में हंस के द्वारा संदेशों के आदान प्रदान, नायक के रूप बदलकर घर से निकलने, नायिका के पिता से संघर्ष आदि का वर्णन हुआ है। वस्तुतः इन आख्यानों में सौन्दर्य, प्रेम, साहस, संघर्ष आदि रोमांचक तत्वों के अतिरिक्त कथानक सम्बन्धी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाओं में बारम्बार हुआ है तथा इसीलिए उन्हें 'कथानक-रूढ़ि' (motif) की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त परंपरा का विकास आगे चलकर प्राकृत के कथा साहित्य में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक संस्कृत काव्य अपने अति आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण रोमांचक साहित्य के विकास में अधिक योग नहीं दे सका, जबकि दूसरी ओर प्राकृत में, जो कि जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टि की सूचक थी, रोमांचक साहित्य का अधिक विकास हुआ। इस सम्बन्ध में प्राकृत की 'बृहत्कथा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका रचना काल अनुमानतः पहली शती माना जाता है, किन्तु मूल ग्रंथ आज अनुपलब्ध है। पर इसी के आधार पर संस्कृत में रचित दो ग्रंथ 'बृहत्कथा-मंजरी' और 'कथा सरित्सागर' मिलते हैं, जिनसे 'बृहत्कथा' की मूल विषय वस्तु के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। 'कथा-सरित्सागर' के माध्यम से पता चलता है कि इसमें अनेक साहसी नायकों के प्रेम और संघर्ष का वर्णन किया गया था। वस्तुतः इसमें अनेक ऐसी नयी कथानक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाकारों द्वारा बराबर हुआ है। यहाँ इनमें से कुछ का उल्लेख संक्षेप में किया जाता है :—

(क) इसमें नायिकाओं के नाम प्रायः 'वती' प्रत्ययवाले हैं; जैसे—मृगांकवती, अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नवती, धनवती, हिरण्यवती मंदारवती, मदिरावती, मलयवती आदि। रोमांचक काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है, उदाहरण के लिए हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त कुछ नाम द्रष्टव्य है—पद्मावती, मृगावती, कनकावती, पुष्पावती आदि।

(ख) नायक का जन्म प्रायः विशेष अनुष्ठान या दैवी आशीर्वाद से होता है।

(ग) नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति प्रायः स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या प्रथम-दर्शन से होती है।

(घ) नायिका प्रायः किसी न किसी द्वीप (मलयद्वीप, सिंघलद्वीप, रत्नद्वीप, स्वर्णद्वीप आदि) की वासिनी होती है, जिससे नायक के समुद्र-यात्रा करने, जहाज टूटने, नायक के बचने के प्रसंगों का समावेश होता है।

(ङ) नायक प्रायः ब्राह्मण, भिक्षु या तपस्वी का वेश धारण करके नायिका की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है।

(च) नायक को किसी संन्यासी, पक्षी या दैवी शक्ति की सहायता से नायिका का पता चलता है।

(छ) नायक-नायिका की प्रथम भेंट प्रायः किसी मंदिर या फुलवारी में होती है।

(ज) नायक को प्रायः नायिका के संरक्षक से संघर्ष करना पड़ता है।

(झ) नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को पर्याप्त शौर्य एवं साहस से काम लेना पड़ता है।

(ञ) मुख्य नायिका की खोज करते समय प्रायः नायक की भेंट किसी अन्य सुन्दरी से, या ऐसी सुन्दरियों से हो जाती है, जो किसी राक्षस या अत्याचारी व्यक्ति के बन्धन में होती हैं, जिन्हें नायक मुक्त करवा कर अपने साथ ले लेता है।

(ट) अन्त में किसी सिद्ध योगी, देवता या वैताल की सहायता से नायक को सफलता मिलती है।

उपर्युक्त कथानक-प्रवृत्तियों का विशेष महत्त्व इसलिए है कि परवर्ती रोमांचक साहित्य में भले ही वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में लिखित हो या ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन एवं इंगलिश में रचित, सभी में—इसका प्रयोग रूढ़ि रूप में प्रायः हुआ है। वस्तुतः जहाँ महाभारत एवं हरिवंश पुराण में रोमांचक कथाओं के विभिन्न तत्त्व बीज रूप में मिलते हैं, वहाँ उनका व्यापक एवं विस्तृत पल्लवित रूप सर्वप्रथम बृहत्कथा (अर्थात् कथा—सरित्सागर, एवं बृहत्कथा मंजरी) में ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहत्कथा की कथाओं के पीछे उस समृद्ध एवं बृहत्तर भारत की पृष्ठभूमि है, जबकि भारत के व्यापारी दूर-दूर के द्वीपों में व्यापार के लिए जाते थे तथा वहाँ से अपने साथ गौरांगनाएँ लेकर लौटते थे। 'बृहत्कथा' में नायिकाओं का द्वीपवासिनी होना, समुद्र यात्रा, जहाज का टूटना आदि प्रसंगों से सम्बन्धित अनेक नवीन कथानक-प्रवृत्तियों का प्रयोग इसी पृष्ठभूमि को ध्वनित करता है।

रोमांचक कथाओं के विकास की यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अब तक इनमें मुख्यतः कथा-तत्त्व का ही विकास एवं विस्तार हुआ था, सूक्ष्म भावों, आकर्षक कल्पनाओं एवं काव्यात्मक शैली का प्रादुर्भाव अभी इनमें नहीं हुआ था। इस अभाव की पूर्ति संस्कृत के मध्यकालीन गद्यकारों द्वारा हुई जिनमें सुबन्धु, बाण, दंडी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुबन्धु (५-६ठी शती) ने 'वासवदत्ता', बाण (७वीं शती) ने 'कादम्बरी', और दंडी (७वीं शती) ने 'दशकुमार चरित' की रचना की, जो सौन्दर्य, प्रेम, और शौर्य्य से ओत-प्रोत हैं। जहाँ तक इनकी कथा-वस्तु और कथानक-रूढ़ियों की बात है, इनमें कोई नयी विशेषता नहीं है, 'बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा 'वृहत्कथा' में मिलता है, किन्तु इनकी नवीनता भावों की सूक्ष्म व्यंजकता एवं शैली की आलंकारिकता में है। अस्तु इन्होंने रोमांचक कथाओं की इतिवृत्तात्मकता को काव्यात्मक शैली से युक्त करके इस परम्परा को एक नया मोड़ दिया। इन्हीं के प्रभाव से आगे चलकर संस्कृत और प्राकृत में और कई गद्य-काव्य एवं चम्पू लिखे गये, जो रोमांचक तत्त्वों से भरपूर हैं; जैसे—समरादित्यकथा, सुर-सुन्दरी चरित्र, दमयंती कथा, उदय सुन्दरी कथा, सुन्दरी कथा, लीलावती आदि। ये सब आठवीं से दसवीं शती के बीच लिखे गये हैं।

प्राकृत-संस्कृत की कथा-काव्य परम्परा की प्रगति अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा हुई, जिन्होंने दसवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखे, जैसे—नायककुमार चरित (पुष्पदन्त; १०वीं शती) जसहर चरिउ (पुष्पदंत, ११वीं शती), करकंड चरिउ (मुनि कनकामर, १०६५ ई०), पउमसिरी चरिउ (धाहिल, १२वीं शती), भविसयत्त चरिउ (श्रीधर १२वीं शती), सुलोचण चरिउ (देवसेज गणि; १२-१३वीं शती) जिणदत्त चरिउ (लक्खन १३वीं शती), बाहुबलि चरित (धनपाल १४वीं शती), धन कुमार चरित (रयधू १५वीं शती) आदि। यद्यपि जैन कवियों ने अपनी रचनाओं को प्रायः 'चरिउ' या 'चरित' की संज्ञा दी है, किन्तु विषय-वस्तु कथानक, रूढ़ियों, भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से ये कथा-काव्य की परम्परा में ही आती हैं। पूर्ववर्ती कथाओं की भांति इनमें नायिकाएं प्रायः 'वती' प्रत्यय वाली हैं, (जैसे—मदनवती, लीलावती आदि) तथा वे द्वीपों की निवासिनी हैं जिन्हें पाने के लिए नायकों को समुद्री यात्राएं करनी पड़ती हैं। प्रेम की उत्पत्ति इनमें रूप-गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, या स्वप्न-दर्शन द्वारा ही दिखाई गई है तथा सौन्दर्य प्रेम, साहस और शौर्य्य का चित्रण रोमांचक शैली में ही हुआ है। पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की जिन कथानक रूढ़ियों का संकेत पीछे दिया गया है, प्रायः वे सभी इनमें बराबर प्रयुक्त हुई हैं। इतना ही नहीं, कई काव्यों में तो पूर्ववर्ती कथाओं के अनेक प्रसंगों की आवृत्ति भी ज्यों की त्यों हुई है, जैसे—'वृहत्कथा' में सोई हुई, लावण्यवती को मदनवेग नामक विद्याधर उठा ले जाता है, तो करकंड चरित में मदनावती को भी इसी प्रकार सुषुप्त अवस्था में एक विद्याधर उठा ले जाता है। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि इन काव्यों को भले ही कवियों ने 'चरित' कहा हो, किन्तु हम प्रत्येक दृष्टि से इन्हें रोमांचक कथाकाव्य की ही परम्परा में स्थान दे सकते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ जैन कवियों ने इस परम्परा को तीन-चार शताब्दी तक आगे बढ़ाया, वहाँ उन्होंने इसमें कुछ नये तत्वों एवं नयी प्रवृत्तियों का भी सम्मिश्रण किया। एक तो उन्होंने इनमें धार्मिक या सांप्रदायिक तत्वों का मिश्रण किया जिससे कि इनसे मनोरंजन होने के साथ-साथ धर्म संप्रदाय का भी प्रचार हो सके। जहाँ पूर्ववर्ती कथाओं में नायक को किसी सिद्ध या दैवी शक्ति की सहायता से सफलता मिलती है, वहाँ चरित-काव्यों में किसी जैन-तीर्थंकर की आराधना या किसी जैन व्रत या अनुष्ठान के प्रभाव से नायक को सफलता मिलती है। इससे जैन-धर्म का महत्व तो प्रमाणित हो जाता है, किन्तु कथा की मूल-प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उसका शेष सारा वातावरण रोमांटिक ही रहता है, धार्मिक नहीं। सौन्दर्य, प्रेम और विरह का वर्णन जैन कवियों ने धर्माचार्यों की शैली में नहीं किया; अपितु सच्ची रोमांटिक दृष्टि से किया है, अतः धार्मिक तत्वों के मिश्रण के बावजूद ये काव्य रोमांस ही रहते हैं, धर्मोपदेश नहीं बन जाते। दूसरे, इनमें एक नयी प्रवृत्ति यह मिलती है कि ये कथा की समाप्ति नायक-नायिका के मिलन-बिन्दु पर ही न करके उसे कुछ और आगे बढ़ाते हुए, उन्हें यौवनावस्था से चरम प्रौढ़ावस्था तक पहुँचाते हैं और अन्त में उन्हें सांसारिक भोगों की निस्सारता का अनुभव करवाते हुए वैराग्य या संन्यास की दीक्षा दे देते हैं। इस प्रकार इन कथाओं की परिणति संयोग श्रृंगार के स्थान पर शान्तिपूर्ण वैराग्य में होती है। तीसरे, इन्होंने गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। पर उससे ये कथा-काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं जातीं, क्योंकि रुद्रट जैसे आचार्यों ने कथाओं के लिए गद्य और पद्य—दोनों का माध्यम स्वीकार किया है। इस प्रकार तेरहवीं-चौदहवीं शती तक रोमांचक कथा-काव्य का वह रूप विकसित हो गया था, जिससे गुजराती और हिन्दी के कवियों ने यह परम्परा सीधे अपभ्रंश कवियों से ग्रहण की, अतः उनमें वे सब तत्व मिलते हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में अग्रसर होने से पूर्व यह परम्परा महाभारत युग से लेकर चौदहवीं शती तक की लगभग पच्चीस सौ वर्षों की लम्बी अवधि में विकास की अनेक मंजिलें तय कर चुकी थी तथा तब तक इसकी अनेक शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में फैल चुकी थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की भाँति यूरोप की भी आधुनिक भाषाओं में इसका अभ्युत्थान १३वीं-१४वीं शती में ही हुआ था, तथा वहाँ भी इसमें उपर्युक्त नये तत्वों—धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता – का प्रादुर्भाव न्यूनाधिक मात्रा में हो गया था। आगे चलकर पश्चिम में यही परम्परा पुनः गद्यात्मक वेश धारण करके आधुनिक उपन्यास के रूप में विकसित होती हुई पूर्व की ओर लौटी दूसरी ओर भारतीय भाषाओं में यह गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, बंगला आदि में विकसित होती हुई समस्त उत्तरी भारत में फैल गयी। इस प्रकार यह परम्परा भारतीय साहित्य में उन्नीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रचलित रही। अस्तु, निष्कर्ष में इस परम्परा के विकास-क्रम को यहाँ संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

(१) महाभारत-कालीन समाज में रोमांटिक चेतना के आधारभूत मनोवैज्ञा-

निक तत्त्वों—जैसे, अदम्य सौन्दर्य-लालसा, स्वच्छन्द प्रणय, वैवाहिक प्रगतिशीलता, साहस एवं शौर्य्य आदि—का प्रादुर्भाव तथा महाभारतीय आख्यानों में उनकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति।

(२) 'हरिवंश पुराण' के आख्यानों में रोमांटिक प्रेम की अनेक प्रवृत्तियों का विकास; जैसे—स्वप्न या चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति।

(३) 'बृहत्कथा' में कथा-वस्तु का अत्यधिक विस्तार तथा समुद्र-यात्रा सम्बन्धी रूढ़ियों का विकास।

(४) संस्कृत गद्य-काव्यों में एक नये तत्त्व—काव्यात्मक शैली- का प्रादुर्भाव।

(५) अपभ्रंश के जैन-कवियों द्वारा धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता का संचार।

(६) पश्चिम में इसकी आधुनिक उपन्यास के रूप में परिणति।

प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का हिन्दी में प्रवर्त्तन · जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह परम्परा विशुद्ध भारतीय है, जो प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में होती हुई हिन्दी में पहुंची, किन्तु हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहासकारों एवं आलोचकों ने यह मत प्रचारित कर रखा है कि यह एक विदेशी परम्परा है, जिसका प्रवर्त्तन हिन्दी में सूफी कवियों ने अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए फारसी मसनवियों के आधार पर किया है। इस मत की स्थापना सम्भवतः सबसे पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की थी, जिसकी पुष्टि समय-समय पर विभिन्न आलोचकों एवं शोध-कर्त्ताओं द्वारा होती रही है, जिससे इसका नाम ही 'सूफी-प्रेम-गाथा' या 'सूफी-काव्य-परम्परा' पड़ गया है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल का यह मत हिन्दी के विद्वानों के हृदय में इतनी गहराई से बैठ गया है कि अब शायद इसके विरोध में कुछ कहना, उन्हें उत्तेजित करना होगा। फिर भी यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो इस मत की अनेक आधारभूत धारणाएँ विशुद्ध भ्रान्तियों के रूप में दिखाई पड़ेंगी। आचार्य शुक्ल ने जिन साक्ष्यों के आधार पर उपर्युक्त मत की स्थापना की थी, वे ये हैं—

(क) हिन्दी के इन आख्यानों में फारसी मसनवियों की ये विशेषताएँ मिलती हैं—(१) कथा का सर्गों या अध्यायों में विभक्त न होना। (२) पूरा काव्य एक ही छन्द में रचा जाना। (३) कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वन्दना और तत्कालीन नरेश की प्रशंसा का होना।

(ख) इन काव्यों की प्रेम-पद्धति भारतीय न होकर विदेशी है, क्योंकि इसका प्रेम ऐकान्तिक एवं लोक-बाह्य है तथा उसका आदर्श लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद आदि अरबी-फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता-जुलता है। साथ ही इनमें फारसी परम्परा के अनुकूल नायक के विरह की अधिकता दिखाई गई है, जबकि भारतीय परम्परा में नायिका का विरह अधिक दिखाया जाता है।

(ग) 'इस शैली की प्रेम-कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गई है।'

हमारे विचार से उपर्युक्त सभी मान्यताएँ भ्रामक हैं। कथा-काव्य की जिन विशेषताओं को आचार्य शुक्ल ने केवल मसनवियों से सम्बन्धित माना है, वे सब

पूर्ववर्ती भारतीय कथा-काव्य में मिलती हैं। उदाहरण के लिए कथा का सर्गों में विभाजित न होना भारतीय कथाओं का भी प्रमुख लक्षण है। 'अग्नि-पुराण' के रचयिता ने कथा के लक्षणों में इसका भी उल्लेख किया है। जहाँ तक काव्य को एक ही छन्द में रचने की बात है; आचार्य शुक्ल से गिनने में भूल हो गयी, अन्यथा वे देखते कि हिन्दी के तथाकथित आख्यानकों में से कोई भी दो छन्दों (चौपाई और दोहा) से कम में नहीं है, अतः यह तर्क तो उनके ही मत के प्रतिकूल पड़ता है। जहाँ तक कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, इष्टदेव या पैगम्बर की वन्दना तथा तत्कालीन नरेश की प्रशंसा की बात है, ये बातें अपभ्रंश के प्रायः सभी चरित-काव्यों में मिलती हैं। इतना ही नहीं, नवीं शती में रुद्रट ने कथा के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए, आदि।' यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रुद्रट इन लक्षणों की चर्चा उस समय कर चुके थे, जबकि फारसी की पहली मसनवी (शाहनामा, १०वीं शती) का भी प्रणयन नहीं हुआ था। अतः उपर्युक्त लक्षणों का केवल फारसी मसनवियों से ही सम्बन्ध मानना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

इन कवियों की प्रेम-पद्धति एवं प्रेम के आदर्श को विदेशी मानना भी सर्वथा अनुचित है। जैसी कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, इन काव्यों में प्रेम की वही पद्धति एवं आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जो पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इनकी प्रेम-पद्धति की जिन विशेषताओं को अभारतीय माना है, वे वस्तुतः भारतीय हैं, फारसी मसनवियों में तो वे बहुत कम मिलती हैं। उदाहरण के लिए, फारसी मसनवियों—लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद; यूसुफ-जुलेखा आदि—में प्रेम का उद्भव, एकाएक प्रथम दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन से नहीं होता, अपितु नायक-नायिका के पारस्परिक सम्पर्क एवं साहचर्य से धीरे-धीरे होता है। दूसरे, फारसी मसनवियों में नायक का संघर्ष प्रतिनायक से होता है, जबकि भारतीय कथाओं में प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक से होता है। तीसरे, फारसी मसनवियों में नायिका का विवाह प्रतिनायक से होता है तथा विवाह के अनन्तर भी नायिका अपने पति के स्थान पर अपने पूर्व प्रेमी से प्रेम करती है, जबकि भारतीय कथाओं में ऐसा नहीं होता। चौथे, फारसी मसनवियों की परिणति प्रायः नायक की असफलता निराशा और आत्म-हत्या में होती है, जबकि भारतीय कथाओं में प्रेम की सफलता, दिखाई जाती है। हिन्दी के आख्यानों में जिस पद्धति का चित्रण हुआ है, वह मसनवियों के प्रतिकूल तथा भारतीय पद्धति के अनुकूल है।

यह भी एक भ्रान्ति है कि भारत में विरह से नारियाँ ही पीड़ित होती हैं, पुरुष नहीं। वस्तुतः हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य को छोड़कर शेष भारतीय साहित्य में नारी की अपेक्षा पुरुष के ही विरह की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के १०वें मंडल के १५वें सूक्त में जहाँ पुरूरवा उर्वशी के विरह में करुणोत्पादक विलाप करता है, वहाँ उर्वशी पर उसका कोई प्रभाव ही नहीं होता। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में भी नायक ही नायिका के विरह में पागलों की तरह उन्मत्त

होकर प्रलाप करने लगता है। 'मेघदूत' का यक्ष भी प्रियतमा-वियोग के दुःख को सहन करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है, इसी प्रकार 'कादम्बरी' का नायक विरह की प्रथम आंच में ही मोम की भाँति घुलकर प्राण त्याग देता है। वस्तुतः इस परम्परा के अधिकांश काव्यों में हम पुरुष की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में पाते हैं, अतः हमारे विचार से इस प्रवृत्ति को अभारतीय घोषित करना भारतीय साहित्य के ज्ञान का अभाव प्रदर्शित करना है, अन्यथा यह प्रवृत्ति विशुद्ध भारतीय है।

इसी प्रकार यह कहना कि हिन्दी में कथाएँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी हुई हैं, ठीक नहीं है। इस परम्परा में अब तक लगभग ५५ कवियों की रचनाएं प्राप्त हुई हैं, जिनमें से ३५ कवि असंदिग्ध रूप से हिन्दू हैं। इसके प्रारम्भिक दस कवियों में से भी सात हिन्दू हैं। आचार्य शुक्ल के समय तक इस परम्परा के केवल आठ कवियों का ही पता चल पाया था, शेष का शायद उन्हें ज्ञान नहीं था किन्तु उन आठ कवियों में भी दो हिन्दू थे – ईश्वरदास एवं सूरदास लखनवी। आचार्य शुक्ल ने इनमें से एक के काव्य को इस परम्परा से अलग करके तथा दूसरे को बिना किसी कारण सूफी घोषित करके, अपने कथन को सच्चा सिद्ध कर दिया, किन्तु स्थिति यह नहीं है। हमारे विचार से 'सत्यवती कथा' प्रत्येक दृष्टि से इसी परम्परा में आती है तथा सूरदास लखनवी, जिन्होंने अपने काव्य में हिन्दू देवता और हिन्दू गुरु की वंदना की है, सूफी नहीं हिन्दू ही थे। अस्तु, इन कवियों के मुस्लिम होने की युक्ति भी निरर्थक सिद्ध होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल भारतीयता का आदर्श एकमात्र राम की मर्यादावादिता में ही मानते थे, जब कि इन काव्यों की मूल चेतना ही स्वच्छन्दतावादिता की है। सम्भवतः इसीलिए वे इस परम्परा को भारतीय नहीं मान सके। किन्तु यदि राम के जीवन-चरित्र एवं प्रेमादर्श को ही भारतीयता की एकमात्र कसौटी मान लिया जाय तो उस स्थिति में हमें न केवल इन काव्यों को; अपितु महाभारत एवं हरिवंश पुराण से लेकर कालिदास, बाण एवं श्रीहर्ष तक के ग्रन्थों को तथा कृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं नल जैसे पात्रों को भी अभारतीय घोषित करना पड़ेगा। आचार्य शुक्ल की रामभक्ति की पराकाष्ठा तो यहाँ तक है कि उन्होंने सचमुच ऐसा कर दिया है। वे लिखते हैं—"राम के समुद्र में पुल बाँधने और रावण ऐसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, वीर-धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में भी देखते हैं। पीछे कृष्ण-चरित्र, कादम्बरी, नैषधीय चरित्र, माधवानल काम-कंदला आदि एकान्तिक प्रेम कहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ अरब-फारस की प्रेम-पद्धति के अधिक मेल में थीं। नल-दमयन्ती की प्रेम-कहानी का अनुवाद बहुत पहले फारसी तथा अरबी तक में हुआ।" यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कृष्ण-चरित्र से लेकर काम-कंदला तक की भारतीय कहानियों में 'अरब-फ़ारस की प्रेम-पद्धति का मेल' कैसे हो गया—पर वे अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए एक अनूठा तर्क अवश्य देते हैं, वह है नल दमयन्ती की कहानी का अरबी-फारसी में

अनूदित हो जाना ! यदि इसी तर्क से काम लें तो अब महाकवि तुलसीदास को भी अंग्रेजी-साहित्य के मेल में रख सकते हैं, क्योंकि पिछले दिनों उनकी 'रामचरितमानस' का भी अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने इस परंपरा को विदेशी सिद्ध करने के लिए जितनी भी युक्तियाँ दी हैं, वे सब उनके विपक्ष में ही पड़ती हैं। उपर्युक्त तर्क—नल-दमयंती का अरबी-फारसी में बहुत पहले अनूदित हो जाना भी—यही सिद्ध करता है कि यह परंपरा भारत से अरब-फारस पहुँची, न कि वहाँ से भारत में आई है। जैसा कि हम अन्यत्र कह चुके हैं, फारसी के प्रथम मसनवी 'शाहनामा' में स्वयं कवि ने यह विस्तार से लिखा है कि किस प्रकार बादशाह बहराम गोर ने भारत से मधुर कथाओं के गायक को बुलाया और किस प्रकार उनका ईरान में स्वागत किया गया। इन्हीं कथा-गायकों के वंशज जिप्सी कहलाते हैं, जिनके द्वारा भारतीय कथाओं का प्रचार एशिया एवं यूरोप के अनेक भागों में होने की बात कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं। अतः आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करना सम्भव नहीं।

इस काव्य-परंपरा का अध्ययन और भी अनेक शोध-कर्त्ताओं ने किया है, जिसमें डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, डॉ० विमल कुमार जैन, डॉ० सरला शुक्ल, डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ० शिवसहाय पाठक; डॉ० श्याम मनोहर पांडेय, आचार्य रामपूजन तिवारी के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम से कार्य करते हुए इस धारा के विभिन्न पक्षों पर नया प्रकाश डाला है, किन्तु वे भी उपर्युक्त भ्रान्तियों से बहुत कम बच पाए हैं, जिससे अनेक शोध-कर्त्ताओं के निष्कर्ष परंपरा विरोधी हो गये हैं, उदाहरण के लिए कुछ निष्कर्ष देखिए—

"भारतीय प्रेमाख्यानों की परंपरा नवीन नहीं है, पर दूसरी ओर ईरान के सूफी कवियों की मसनवियों ने भी प्रेरणा दी है।" यह एक अन्य विद्वान का निष्कर्ष है—हिन्दी के पद्मावत आदि प्रेमाख्यानक काव्य यद्यपि मसनवी शैली में लिखे गये हैं तथापि भारतीय चरित-काव्यों की प्रबन्ध-शैली का भी सौन्दर्य उनमें समाविष्ट है।' यहाँ हम 'यद्यपि' वाली बात ग्रहण करें या 'तथापि' वाली, यह संदिग्ध है। वस्तुतः हमारे बहुत से शोधकर्त्ता इसका स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाये कि इस परंपरा को भारतीय माना जाय या नहीं।

अन्तःसाक्ष्य—हिन्दी की इन कथाओं में अनेक ऐसे अन्तःसाक्ष्य भी मिलते हैं, जिनसे उनका उद्भव-स्रोत भारतीय होने की भली-भाँति पुष्टि होती है, जैसे—(१) इनके रचयिताओं ने अपनी रचनाओं को मसनवी की संज्ञा न देकर 'कथा' या 'कथा-काव्य' की संज्ञा दी है। यह संज्ञा भी दो प्रकार से दी गई है—एक तो कुछ कवियों ने ग्रंथ के नामकरण में ही 'कथा' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे—लक्ष्मणसेन-पद्मावती कथा, सत्यवती कथा, उषा की कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, कथा कनकावती, नल-दमयन्ती कथा आदि। दूसरे, कुछ ने नामकरण में तो 'कथा' शब्द का व्यवहार नहीं किया, किन्तु अपने काव्य के आरम्भ या अन्त में अवश्य इसका निर्देश कर दिया है; देखिए—

(क) बावन वीर कथा रस लीउ। अेह पवाड़ु असाइत कहिउ।

असाइत : हंसावली)

(ख) वीर कहा मईं थहि खँड गांवउँ। कथा काल कई लोग सुनावउँ।
(दाउद : चंदायन)

(ग) प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बुझि लेउ जो बुझै पारहु॥
(जायसी : पद्मावत)

(घ कथा जगत जेती कवि आई। पुरुष मारि ब्रज सती कराई।
(मंझन : मधुमालती)

(ङ) जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥
(उसमान : चित्रावली)

(च) नूरमोहम्मद यह कथा, अहे प्रेम की बात,
(नूरमोहम्मद : अनुराग बांसुरी)

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी 'कथा' संज्ञा का ही प्रयोग किया है जो भारतीय कथा-काव्य परम्परा के सम्बन्ध की घनिष्ठता का सूचक है। (२) अनेक कवियों ने अपनी रचना के उद्गम स्रोत का संकेत स्पष्ट रूप में भी कर दिया है, जैसे—कुतुबन ने 'मृगावती' में लिखा है :

पहले ही ये दुइ कथा अही।
\+ \+ \+
पुनि हम खोली अरथ सब कहा।
छह भख अहही ऐसी मह। पण्डित बिन बूझत होइ सिद्ध
गाहा दोहा अरेल, अरस। सोरठा चौपाई के सरल।

यहाँ कवि ने जिन छन्दों—गाथा, दोहा, अरिल्ल आदि का उल्लेख किया है, वे प्राकृत-अपभ्रंश की ही रचना में सम्भव हैं, अतः निश्चित ही 'मृगावती' की मूलाधार कोई फारसी मसनवी न होकर अपभ्रंश की ही कोई रचना होनी चाहिए। जायसी ने भी 'पद्मावत' के आधारभूत ग्रन्थ का संकेत इस प्रकार लिखा है—

आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

यहाँ 'गाथा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके सामान्यतः दो अर्थ होते हैं एक, कहानी या आख्यान, दूसरा प्राकृत का छन्द-विशेष। 'गाथा' का एक अन्य अर्थ प्राकृत भाषा भी है, जैसा कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं—'गाथा' छन्द संस्कृत में भी मिलते हैं, अपभ्रंश में भी, किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद सम्बन्ध है; परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल 'गाहा' (गाथा) कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा।[1] दूसरी पंक्ति में 'भाषा-चौपाई' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'गाथा' का अर्थ केवल कहानी मात्र न होकर प्राकृत के छन्द-विशेष का अर्थ है। पद्मावत की आधारभूत रचना प्राकृत के गाथा छन्दों में रचित थी जिसे जायसी ने भाषा की चौपाइयों में रूपान्तरित किया। जैसा कि डॉ० हरदेव बाहरी ने अपने प्राकृत साहित्य के इतिहास में उल्लेख किया है, जायसी से पूर्व प्राकृत में रचित 'पद्मावती' जैसी ही एक कथा भी उपलब्ध

१ सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य पृ० ८।

है, जिसका नाम 'रयण सेहर कहा' (रत्न-शेखर कथा) है। इसकी नायिका का नाम 'पद्मावती' न होकर रत्नवती है, किन्तु शेष सारा कथानक प्रायः 'पद्मावत' का ही है। तथा डॉ० बाहरी ने इसे असंदिग्ध रूप से 'पद्मावत' का पूर्वरूप माना है।[1] ऐसी स्थिति में यही सम्भव है कि जायसी ने प्राकृत की इसी या ऐसी किसी अन्य कथा को 'पद्मावत' का आधार बनाया हो।

इसी प्रकार 'मंझन' ने अपनी 'मधुमालती' का आधार एक ऐसे ग्रन्थ को बताया है जो मूलतः 'द्वापर युग' का था, जिसे उसने कलियुग की 'भाषा' में रूपान्तरित किया। आलम ने 'माधवानल कामकंदला' का आधार एक संस्कृत-कथा को बताते हुए लिखा है —'कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपाई जोरी॥' बोधा ने भी 'विरह-वारीश' का आधार 'सिंहासन बत्तीसी' को बताया है —

सिंहासन बत्तीसी माहीं। पुतरिन कही भोज नृप पाहीं।
विक्रम कह बैताल सुनाई। बोधा त्रेतहि सह गाई॥

इसी प्रकार जान कवि, नेमतखाँ, हुसैन आदि ने भी ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उनकी रचनाओं के मूल स्रोत भारतीय सिद्ध होते हैं। मजे की बात यह है इन मुस्लिम कवियों में से भी किसी ने किसी फारसी मसनवी की चर्चा तक नहीं की है, अतः हिन्दू कवियों से तो इसकी आशा करना ही व्यर्थ है। (३) इन कवियों ने स्थान-स्थान पर आदर्श प्रेमियों एवं पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है, पर ये सारे उल्लेख भारतीय ही हैं। १७वीं शती तक किसी भी रचना में लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद जैसे फारसी प्रेमियों का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमियों का नाम बारम्बार आया है, उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' में विक्रम-सपनावती, मधु-मुग्धावती, राजकुँवर-मृगावती, चंदावत-मधुमालती, प्रेमावती, उषा-अनिरुद्ध आदि प्रेमी-युग्मों का नाम आया है।

वस्तुतः सत्रहवीं शती तक इन कथाओं में ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनके रचयिताओं को फारसी-मसनवियों का कोई ज्ञान था। सत्रहवीं-अठारहवीं शती में अवश्य; जबकि मसनवियों का भी भारत में प्रचार हो गया था, हिन्दी कवियों का भी इधर ध्यान गया है तथा कुछ ने लैला-मजनूं, युसुफ-जुलेखा के कथानक को अपनाया है, पर यह बात उस समय की है जबकि यह परम्परा हिन्दी में ह्रासोन्मुखी हो गयी थी। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन काव्यों के नामकरण, विषय-वस्तु, ऐतिहासिक पात्रों, भौगोलिक प्रदेशों, कथानक रूढ़ियों, प्रेम सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं शैलीगत विशेषताओं—इन सभी की दृष्टि से इस परम्परा का स्रोत पूर्णतः भारतीय ही है, यह उसी भारतीय कथा काव्य की एक शाखा है, जिसकी अन्य कतिपय शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न माध्यमों से प्रसारित हो चुकी थीं। अतः इसे फारसी मसनवियों से प्रेरित एवं प्रभावित मानना सर्वथा अनुचित है। इतना ही नहीं; इसका सूफीमत एवं सूफी प्रचार से भी सम्बन्ध मानना अनुचित है, इसका स्पष्टीकरण अगले किया जायगा।

[1] प्राकृत भाषा और उसका साहित्य, पृ० ६४।

(ख) वीर कहा मई यहि खंड गांवउँ। कथा काल कई लोग सुनावउँ।

(दाउद : चंदायन)

(ग) प्रेमकथा एहि भांति विचारहु। बुझि लेउ जो बुझै पारहु।।

(जायसी : पद्मावत)

(घ) कथा जगत जेती कवि भाई। पुरुष मारि व्रज सती कराई।

(मंझन : मधुमालती)

(ङ) जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई।।

(उसमान : चित्रावली)

(च) नूरमोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात,

(नूरमोहम्मद : अनुराग बाँसुरी)

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी 'कथा' संज्ञा का ही प्रयोग किया है जो भारतीय कथा-काव्य परम्परा के सम्बन्ध की घनिष्ठता का सूचक है। (२) अनेक कवियों ने अपनी रचना के उद्गम स्रोत का संकेत स्पष्ट रूप में भी कर दिया है, जैसे—कुतुबन ने 'मृगावती' में लिखा है :

पहले ही ये दुइ कथा अही।

+ + +

पुनि हम खोली अरथ सब कहा।

छहू भख अहही ऐसी मद्द। पण्डित बिन बूझत होइ पिद्ध

गाहा दोहा अरेल, अरल। सोरठा चौपाई के सरल।।

यहाँ कवि ने जिन छन्दों—गाथा, दोहा, अरिल्ल आदि का उल्लेख किया है, वे प्राकृत-अपभ्रंश की ही रचना में सम्भव हैं, अतः निश्चित ही 'मृगावती' की मूलाधार कोई फारसी मसनवी न होकर अपभ्रंश की ही कोई रचना होनी चाहिए। जायसी ने भी 'पद्मावत' के आधारभूत ग्रन्थ का संकेत इस प्रकार लिखा है—

आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

यहाँ 'गाथा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके सामान्यतः दो अर्थ होते हैं एक, कहानी या आख्यान, दूसरा प्राकृत का छन्द-विशेष। 'गाथा' का एक अन्य अर्थ प्राकृत भाषा भी है, जैसा कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं—'गाथा' छन्द संस्कृत में भी मिलते हैं, अपभ्रंश में भी, किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है; परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल 'गाहा' (गाथा) कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा।[1] दूसरी पंक्ति में 'भाषा-चौपाई' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'गाथा' का अर्थ केवल कहानी मात्र न होकर प्राकृत के छन्द-विशेष का अर्थ है। पद्मावत की आधारभूत रचना प्राकृत के गाथा छन्दों में रचित थी जिसे जायसी ने भाषा की चौपाइयों में रूपान्तरित किया। जैसा कि डॉ० हरदेव बाहरी ने अपने प्राकृत साहित्य के इतिहास में उल्लेख किया है, जायसी से पूर्व प्राकृत में रचित 'पद्मावती' जैसी ही एक कथा भी उपलब्ध

१ सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य पृ० ८१

है, जिसका नाम 'रयण सेहर कहा' (रत्न-शेखर कथा) है। इसमें नायिका का नाम 'पद्मावती' न होकर रत्नवती है, किन्तु शेष सारा कथानक लगभग 'पद्मावत' का ही है। तथा डॉ० बाहरी ने इसे असंदिग्ध रूप में 'पद्मावत' का पूर्व-रूप माना है।[1] ऐसी स्थिति में यही सम्भव है कि जायसी ने प्राकृत की इसी या ऐसी किसी अन्य कथा को 'पद्मावत' का आधार बनाया हो।

इसी प्रकार 'मंझन' ने अपनी 'मधुमालती' का आधार एक ऐसे ग्रन्थ को बताया है जो मूलतः 'द्वापर युग' का था, जिसे उन्होंने कलियुग की 'भाषा' में रूपान्तरित किया। आलम ने 'माधवानल कामकंदला' का आधार एक संस्कृत-कथा को बताते हुए लिखा है —'कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपाई जोरी॥' बोधा ने भी 'विरह-वारीश' का आधार 'सिंहासन बत्तीसी' को बताया है —

सिंहासन बत्तीसी मांही। पुतरिन कही भोज नृप पाहीं।
विक्रम कह बैताल सुनाई। बोधा खेतसिंह सह गाई॥

इसी प्रकार जान कवि, शेखनबी, हुसैन आदि ने भी ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उनकी रचनाओं के मूल स्रोत भारतीय सिद्ध होते हैं। मजे की बात यह है इन मुस्लिम कवियों में से भी किसी ने किसी फारसी मसनवी की चर्चा तक नहीं की है, अतः हिन्दू कवियों से तो इसकी आशा करना ही व्यर्थ है। (३) इन कवियों ने स्थान-स्थान पर आदर्श प्रेमियों एवं पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है, पर ये सारे उल्लेख भारतीय ही हैं। १७वीं शती तक किसी भी रचना में लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद जैसे फारसी प्रेमियों का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमियों का नाम बारम्बार आया है, उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' में विक्रम-सपनावती, मधु-मुग्धावती, राजकुँवर-मृगावती, चंदावत-मधुमालती, प्रेमावती, उषा-अनिरुद्ध आदि प्रेमी-युग्मों का नाम आया है।

वस्तुतः सत्रहवीं शती तक इन कथाओं में ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनके रचयिताओं को फारसी-मसनवियों का कोई ज्ञान था। सत्रहवीं अठारहवीं शती में अवश्य; जबकि मसनवियों का भी भारत में प्रचार हो गया था, हिन्दी कवियों का भी इधर ध्यान गया है तथा कुछ ने लैला-मजनूँ, युसुफ-जुलेखा के कथानक को अपनाया है, पर यह बात उस समय की है जबकि यह परम्परा हिन्दी में ह्रासोन्मुखी हो गयी थी। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन काव्यों के नामकरण, विषय-वस्तु, ऐतिहासिक पात्रों, भौगोलिक प्रदेशों, कथानक रूढ़ियों, प्रेम सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं शैलीगत विशेषताओं—इन सभी की दृष्टि से इस परम्परा का स्रोत पूर्णतः भारतीय ही है, यह उसी भारतीय कथा काव्य की एक शाखा है, जिसकी अन्य कतिपय शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न माध्यमों से प्रसारित हो चुकी थी। अतः इसे फारसी मसनवियों से प्रेरित एवं प्रभावित मानना सर्वथा अनुचित है। इतना ही नहीं; इसका सूफीमत एवं सूफी प्रचार से भी सम्बन्ध मानना अनुचित है, इसका स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा।

---

[1] प्राकृत भाषा और उसका साहित्य, पृ० ६४।

: छब्बीस :

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा : प्रवृत्तियाँ

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में एक ऐसी दीर्घ काव्य-परम्परा मिलती है जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है; यथा—'निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा', 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-कथानक काव्य', 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' आदि। इस परम्परा में लगभग ३७ कवियों द्वारा रचित ५५ काव्य उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं[1] (१) हंसावली, रचयिता असाइत, रचना-काल -१३७० ई०, (२) मुल्ला दाऊद रचित चंदायन (१३७९ ई०), (३) दामोदर रचित लखमनसेन पद्मावती कथा (१४५९ ई०) (४) ईश्वरदास रचित सत्यवती कथा (१५०१ ई०), (५) गणपति रचित 'माधवानल-कामकंदला (१५२७ ई०), (६) जायसी कृत 'पद्मावत' (१५२० ई०); (७) मंझन कृत मधुमालती (१५४५ ई०) (८) उसमान कृत चित्रावली (१६१५ ई०), (९) पुहकर रचित रसरतन (१६१८ ई०), (१०) दुःख हरण दास रचित पुहुपावती (१६६९ ई०), (११) नूर मोहम्मद रचित 'इन्द्रावती' व अनुराग बाँसुरी (१७०७ ई०), (१२) बोधा रचित 'माधवानल काम-कंदला' (१७५२ ई०), चतुर्भुजदास रचित 'मधुमालती' (१७८० ई०), (१४) सेवाराम रचित 'नल-दमयन्ती चरित्र' (१७९६ ई०), (१५) मृगेन्द्र रचित 'प्रेम पयोनिधि' (१८५५ ई०)।

इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है।[2] यहां प्रस्तुत काव्य-परम्परा की प्रमुख विशेषताओं व सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन विभिन्न शीर्षकों में क्रमशः किया जाता है।

---

१. इन सभी ग्रन्थों के परिचय के लिए द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' : पृष्ठ ५४५-५६६।

२ द्रष्टव्य -'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' 'हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी' तथा प्रस्तुत पुस्तक में 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा : प्रेरणा व उद्गम स्रोत' शीर्षक लेख।

रचयिताओं का व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रयोजन—सामान्यतः इस परम्परा के कवियों को सूफी मतानुयायी साधक मानते हुए इनका लक्ष्य सूफी मत का प्रचार करना बताया गया है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस परम्परा के अधिकांश (५४ में से ३७) कवि हिन्दू थे, जिन्होंने काव्यारम्भ में हिन्दू देवी-देवताओं की वन्दना करके हिन्दू धर्म में पूर्ण विश्वास प्रकट किया है, अतः उनके द्वारा तो सूफी मत के प्रचार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुस्लिम कवियों ने भी अपना उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है[1] जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने शृङ्गार रस के चित्रण द्वारा पाठकों का मनोरंजन करने एवं अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए ही प्रेम कथाओं की रचना की थी—हाँ, अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए वेदान्त, दर्शन, योग-मार्ग, इस्लाम नीतिशास्त्र, काम-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, संगीत शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र एवं भूगोल की सामान्य बातों का भी समन्वय उन्होंने कर दिया, जो कि इस युग के अन्य कवियों केशव, बिहारी आदि—की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। जायसी जैसे एक-दो साधकों को छोड़ कर शेष कवि साधारण गृहस्थ थे, जिन्होंने लौकिक अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। शेख निसार और कवि नसीर ने पुत्र-पत्नी के देहान्त-शोक को भी काव्य-रचना में प्रवृत्ति का निमित्त माना है।[2] उसमान, आलम, जान, नूरमोहम्मद, शेख नबी आदि ने अपनी रचनाओं को सर्वगुण सम्पन्न बताते हुए उन्हे

---

१. औ मैं जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल ।। (पदमावत—उपसंहार खंड)
× × ×
बाँच कथा पोथी भुवन परसन तेहि जगदीश।
हमहि बोल सुमिरै सोई कासिम दई असीस।—(कासिमशाह—हंस जवाहिर)
× × ×
विधना जब लग जगत माँ यह पुस्तक संचार।
सबका साथ रहीम के नांव रहै उजयार—(शेख रहीम—भाषा प्रेम रस)
× × ×
मित्र महाशय गुन रुदन चित बहलावन हेत।
कहौं कहानी प्रेम की होय के सुनो सचेत। (शेख रहीम—भाषा प्रेम रस)
× × ×
कहौं बात सुनो सब लोग। कथा-कथा सिंगार वियोग।
सकल सिंगारं विरह की रीति। माधो कामकंदला प्रीति ।। —(आलम)
× × ×
नूर मोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।
जेहि मन होइ प्रेम रस, पढ़ै सोइ दिन रात। —(नूर मोहम्मद)

२. जब तें लतीफ कर मरम बिसेख्यो। सप संपत मिरथा देख्यो।
रोय रोय यह बिरह बखानी। कोऊ न रहा जग रहै कहानी।।
—(शेख निसार यूसुफ—जुलेखा)

तरुणों के हृदय में काम बढ़ानेवाली एवं रसिक भोग-विलासियों को तृप्ति देनेवाली घोषित किया है।[1] चित्रावली के रचयिता को तो अपनी रचना पर इतना गर्व था कि उन्होंने अन्य कवियों को इससे बढ़कर काव्य-रचना करने के लिए चुनौती दी है।[2] इसी प्रकार अनेक हिन्दू कवियों ने भी अपना उद्देश्य एक ऐसी अद्भुत कथा लिखना बताया है जिससे विद्वानों की तो बात ही क्या, मूर्खों तक को मोहित किया जा सके। साथही उन्होंने अपनी रचनाओं को काम एवं विलासकी पूर्ति में योग देनेवाली माना है।[3] अस्तु, इन कवियों को चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू—कोई पहुँचे हुए फकीर या अलौकिक अनुभूतियों से विह्वल रहस्यवादी साधक समझना वैसी ही भूल है जैसी विद्यापति, केशव, बिहारी या पद्माकर को थोड़ी-सी धर्म-दर्शक उक्तियों के आधार पर भक्तकवि समझ लेना है। हां, जायसी जैसे एक दो कवि अवश्य इसके अपवाद हैं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के बहुसंख्यक कवियों को न तो कोई

अन्त यहू मृत्यु रस चाखा। गई परान तोर अभिलाखा।
जस दुखी हूँ मैं जग मांहीं। तस न केहू संसार॥
—(नसीर प्रेम दर्पण)

१. सजनन्ह के मन काम बढ़ावा। भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा। —(उसमान)
प्रीतिवन्त ह्वै सुनै कोई। वाढ़ै प्रीति हिएँ सुख होइ।
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कथा रैनि दिन सुनहीं। — (आलम)
और है प्रेम दुख सुख या मांही। को सु सुवाद जु या मैंहि नाहीं।
—(जान कवि)
जेहि मन होई प्रेम रस, पढ़ै सोइ दिन रात॥ —(नूर मोहम्मद)
प्रेमी सुनै प्रेम अधिकावे —(शेख निसार)
वीर सिगार विरह किछु पावा। पूरन पद लै जोग सुनावा
—(शेख नबी)
कासिम यौवन हाथ है, चहै सो काज संवार॥ —(कासिम शाह)

२. जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥ —चित्रावली

३. देखिए निम्नांकित उद्धरण—
(क) सब कूं लगै सुहावणी, रचे सुजीव सीण गार।
मुरखहूं को मन हरे, सन कूं लगे सुसार॥
(चन्द्र कँवर री बात। हंस कवि)
(ख) प्रेम पयोनिधि प्रेम की अद्भुत कथा महान।
कौतुक हित बरनन करौं लख रीझहि गुनमान॥
—(प्रेम पयोनिधि : मृगेन्द्र)
(ग) राजा पढ़े राजनीत मंत्री पढ़े सुबुद्ध।
कामी काम विलास ज्ञानी ज्ञान सुबुद्ध॥
—(मधुमालती : [illegible])

राजाश्रय प्राप्त था, और न ही वे किसी धर्म-सम्प्रदाय के आश्रित थे; ऐसी स्थिति में उनके काव्य का सम्बन्ध सर्व-साधारण जनता एवं लोकाश्रय से ही था। जनता के भी अनेक वर्ग थे, कुछ तरुण युवक थे, जो सौन्दर्य और प्रेम की चर्चा सुनना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे प्रौढ़ व्यक्ति थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ नीति-शास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे एवं अन्य वर्ग वृद्धों का था जिसकी रुचि धार्मिक तत्त्वों में अधिक थी। ऐसी स्थिति में इन कवियों ने सभी वर्गों के पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए प्रेम, शास्त्र-ज्ञान एवं वैराग्य—तीनों का ही समन्वय न्यूनाधिक मात्रा में अपने काव्यों में करने का प्रयास किया है। इसीलिए अनेक कवियों ने इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति का दावा अपने काव्य में किया है।

रचनाओं का नामकरण—इन कवियों ने सामान्यतः नायिका—और वह भी विशेषतः 'वती' प्रत्ययवाली, जैसे सत्यवती, मृगावती, पद्मावती आदि—के नाम पर ही रचनाओं का नामकरण किया है, किन्तु कुछ रचनाओं में नायिका के साथ-साथ नायक के नाम का भी निर्देश मिलता है—जैसे माधवानल-कामकंदला, प्रेमविलाप-प्रेमलता, नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध आदि। कहीं-कहीं नायक-नायिका के नाम के अतिरिक्त काव्य-रूप सूचक 'कथा' संज्ञा का भी प्रयोग मिलता है, यथा—लखनसेन-पद्मावती कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, उषा की कथा आदि। अपवादस्वरूप एक आध रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें नायक-नायिका के स्थान पर किसी अन्य आधार पर नामकरण किया गया है, जैसे—अनुराग-बाँसुरी, प्रेम-चिनगारी, प्रेमदर्पण आदि! फिर भी अधिकांश रचनाओं में संस्कृत एवं प्राकृत की परम्परा के अनुसार नायिका के ही नाम को प्रमुखता दी गई है, अतः इसी को हिन्दी कथा-काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

कथा वस्तु के विभिन्न स्रोत— उद्‌गम स्रोत की दृष्टि से इस परम्परा के हिन्दी काव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) महाभारत, हरिवंश पुराण आदि पौराणिक वृत्त पर आधारित, (२) ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित; (३) कल्पना-प्रसूत। प्रथम वर्ग में मुख्यतः नल-दमयन्ती एवं उषा-अनिरुद्ध सम्बन्धी कथाएँ आती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों कथाओं पर ही दस-बारह कवियों ने अपने-अपने काव्यों की रचना की है, जिससे इनकी लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर चलनेवाले काव्य में लखनसेन-पद्मावती (दामो), पद्मावती (जायसी), छिताई वार्ता (नारायणदास) आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह बहुत कम हुआ है। इनके पात्रों में—मुख्यतः नायक—ही प्रायः ऐतिहासिक है, शेष प्रायः काल्पनिक हैं। तीसरे वर्ग की रचनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि उनकी कल्पना हिन्दी कवियों द्वारा ही हुई हो। अनेक कथाओं की कल्पना पूर्ववर्ती कवियों द्वारा हो चुकी थी, जिनका उपयोग परवर्ती कवियों ने किया है। उदाहरण के लिए, माधवानल-कामकंदला मौलिक काव्य है, किन्तु इसी के कथानक को किंचित् परिवर्तन के साथ सात-आठ कवियों ने अपनाया है तथा यह हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं—जैसे गुजराती—में भी मिलता है। फिर भी अठारहवीं व उन्नीसवीं शती के दो-तीन

काव्यों—यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनूँ, प्रेम-दर्पण—को छोड़कर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि इन कथाओं का उद्‌गम-स्रोत भारतीय पुराणों, ऐतिहासिक इतिवृत्तों एवं प्राचीन भारतीय कथाओं में ही निहित है। यदि हम केवल उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती और माधवानल-कामकंदला की कथाओं पर ही लिखित सारे हिन्दी काव्यों को सम्मिलित कर लें तो उनकी संख्या बीस तक पहुँच जाती है, अतः इन्हें परम्परा की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रतिनिधि कथावस्तु के रूप में लिया जा सकता है।

कथानक रूढ़ियाँ—इन सभी प्रकार के काव्यों में—चाहे उनका इतिवृत्त इतिहास-पुराण पर आधारित हो या कल्पना पर कुछ घटनाएँ ऐसी मिलती हैं, जो विभिन्न काव्यों में बार-बार आवृत्त हुई हैं तथा जिन्हें 'कथानक रूढ़ि' (Motif) की संज्ञा दी गई है। इन काव्यों में निम्नांकित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है—(१) नायिका का किसी द्वीप—विशेषतः सिंहल में जन्म लेना, (२) गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति, (३) शुक, हंस, मैना आदि पक्षियों द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान, (४) अप्सराओं, राक्षसों या अन्य दैवी शक्तियों द्वारा नायक-नायिका को एक दूसरे के पास पहुँचा देना, (५) नायक का वेश बदलकर—मुख्यतः योगी वेश में—नायिका की खोज में निकलना, (६) समुद्र यात्रा एवं उसमें जहाज का टूट जाना, किन्तु नायक का किसी प्रकार बच जाना, (७) नायक का किसी अन्य प्रदेश में पहुँचकर किसी राक्षस या अत्याचारी राजा से किसी अन्य सुन्दरी को बचाना और उससे विवाह कर लेना, (८) फुलवारी या मंदिर में नायक-नायिका की प्रथम गुप्त भेंट, (९) नायिका के पिता या संरक्षक से नायक का संघर्ष, (१०) विवाह के अनन्तर अनेक पत्नियों के साथ नायक का सुख-भोग एवं अन्त में नायक की मृत्यु एवं पत्नियों का सती हो जाना।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, इन रूढ़ियों का मूल स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ही है। महाभारत के नलोपाख्यान; हरिवंश-पुराण के उषा-अनिरुद्ध-प्रसंग, गुणाढ्य की बृहत्कथा, संस्कृत कवियों के गद्य-काव्य, प्राकृत के कथा-साहित्य एवं अपभ्रंश के चरित-काव्यों में ये सभी रूढ़ियाँ बारम्बार प्रयुक्त हुई हैं। हिन्दी की कथाओं का सीधा सम्बन्ध एक ओर महाभारत एवं पौराणिक साहित्य से है, जिनमें नल-दमयन्ती एवं उषा-अनिरुद्ध सम्बन्धी प्रसंगों में तत्सम्बन्धी बहुत सी कथानक रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं तो दूसरी ओर अपभ्रंश के चरित-काव्य से है। अपभ्रंश के अनेक चरित-काव्यों में कथानक का पूरा ढाँचा लगभग वही है जो हिन्दी कथा-काव्यों में प्रयुक्त हुआ है; उदाहरण के लिए नागकुमार चरित में चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक द्वारा अनेक राजकुमारियों का उद्धार व उनसे विवाह करने की घटनाएँ वर्णित हैं तो करकंड चरित में प्रत्यक्ष-दर्शन-द्वारा प्रणयोद्‌बोध, नायिका का विद्याधर द्वारा उड़ा लिया जाना, नायिका की खोज में नायक का सिंहल द्वीप पहुँचना, वहाँ जाकर एक अन्य सुन्दरी से विवाह करना, अन्त में पर्याप्त संघर्ष से नायिका की प्राप्ति, राज्य-सुख-भोग, वैराग्य, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि आदि रूढ़ियाँ प्रयुक्त हैं।

इसी प्रकार जिणदत्त चरित, सुदर्शन-चरित, पद्मश्री चरित, भविष्यदत्त कथा, सन्त-कुमार चरित आदि में उपर्युक्त सारी रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में दो तीन काव्य फारसी मसनवियों के आधार पर लिखे गये थे, उनमें उपर्युक्त कथानक रूढ़ियों का अभाव है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, फारसी मसनवियों में प्रेम की उत्पत्ति एका-एक प्रत्यक्ष-दर्शन या चित्र-दर्शन से न दिखाकर धीरे-धीरे बाल्यकाल के साहचर्य से दिखाई जाती है तथा नायिका का विवाह उसके प्रेमी से होकर, उसकी इच्छा के विप-रीत प्रतिनायक से हो सकता है। उनकी परिणति वैराग्य एवं शान्ति में न होकर शोक में होती है; क्योंकि नायक की मृत्यु प्रतिनायक के किसी षड्यंत्र से हो जाती है तथा उसके शोक में नायिका भी प्राण त्याग देती है। अस्तु, इस दृष्टि से भारतीय कथानक रूढ़ियों में फारसी रूढ़ियों के गहरा भेद है, तथा अंतिम युग के दो-तीन काव्यों को छोड़कर शेष काव्यों की रूढ़ियों को निश्चित रूप से भारतीय कहा जा सकता है।

विचार तत्व— जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, इन कवियों का एक लक्ष्य अपनी रचनाओं को विभिन्न क्षेत्रों के शास्त्रीय ज्ञान से युक्त बनाना भी था, अतः इन्होंने न केवल विभिन्न दार्शनिक मत-वादों, धर्म-सम्प्रदायों, नीति एवं सदाचार के नियमों, ज्योतिष एवं शकुन विद्या के विश्वासों की चर्चा स्थान-स्थान पर की है, अपितु काम-शास्त्र, रीति-शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, अश्व-विज्ञान आदि के ज्ञान का भी परिचय विस्तार से दिया है। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अनेक काव्यों में घोड़ों की विभिन्न जातियों, मछलियों के विभिन्न भेदों, व्यंजनों एवं पकवानों के विभिन्न प्रकार के पौधों आदि की भी लम्बी सूचियों का समावेश हो गया है। इस प्रवृत्ति के पीछे कदाचित कवियों के ज्ञान-प्रदर्शन की प्रेरणा स्वीकार की जा सकती है, किन्तु हमें यहाँ न भूलना चाहिए कि यह प्रवृत्ति मध्यकाल की सभी काव्य-परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप में मिलती है। इसका सबसे बड़ा कारण युग-विशेष की आवश्यकता को ही बताया जा सकता है। इस युग में परम्परागत ज्ञान एक ओर संस्कृत-प्राकृत की रचनाओं में आबद्ध हो गया था तो दूसरी ओर नये ज्ञान-कोष मुस्लिम राज्य के प्रभाव के कारण फारसी में तैयार हो रहे थे। जनता की पहुँच संस्कृत और फारसी—दोनों ही तक नहीं थी, अतः उनकी ज्ञान-पिपासा की शान्ति का कार्य भी इस युग के साहित्य-रचयिताओं के ही जिम्मे था। प्रबन्ध-काव्यों में इस कार्य के लिए अधिक स्थान होता है, ऐसी स्थिति में इन रचनाओं को ज्ञान कोष बनाने का प्रयास करना स्वाभाविक ही था, यह दूसरी बात है कि विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से यह प्रवृत्ति घातक सिद्ध होती है।

यह आश्चर्य की बात है कि इस क्षेत्र में अनुसंधान करनेवाले विद्वानों का ध्यान इन कवियों की इस मूल प्रवृत्ति की ओर नहीं गया। उन्होंने इन रचनाओं में केवल धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वों की ही प्रचुरता को देखकर इन्हें धर्म-प्रचारक घोषित कर दिया। यहाँ तक भी ठीक था, किन्तु इससे भी अधिक बुरा तो यह हुआ कि जायसी जैसे एक-दो कवियों को सूफी मत में दीक्षित देखकर इस परम्परा के सारे कवियों को ही सूफी घोषित करते हुए उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य ही सूफी मत-प्रचार करना मान लिया गया। पर

ये अनुसंधान-कर्त्ता अपने प्रबन्ध के आरम्भ में सौ-डेढ़ सौ पृष्ठ 'सूफी' शब्द की व्याख्या, सूफी मत के इतिहास एवं सूफ़ी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों आदि की व्याख्या में रंग देने के पश्चात् जब मूल रचनाओं में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ उन्हें एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि वे इन रचनाओं में सूफी मत का अस्तित्व सिद्ध कर सकें। ऐसी स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने कई प्रकार की युक्तियों से काम लिया डा० विमल कुमार जैन एवं डा० कमल कुलश्रेष्ठ (पृ० १७५) जैसे विद्वानों ने इस तथ्य को ईमानदारी से स्वीकार कर लिया कि इनमें जो मत-सिद्धान्त मिलते हैं, वे सूफी मत के आधारभूत सिद्धान्तों से बहुत कुछ भिन्न हैं। इसके विपरीत डा० सरला शुक्ला ने यह मानते हुए कि इनमें भारतीय अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि भारतीय दर्शन एवं भारतीय चिन्तन-पद्धति का ही प्रभाव अधिक है, इसे सूफियों की उदारता माना है। पर हमारे विचार से ऐसे उदार कवियों को, जिन्होंने सूफी मत के आधारभूत सिद्धान्तों को छोड़कर उसके सर्वथा प्रतिकूल पड़नेवाले विशिष्टाद्वैत तक के सिद्धान्तों को स्थान दिया है, 'सूफी मत प्रचारक' कहना उचित नहीं है। कुछ शोध-कर्त्ताओं ने एक तीसरे उपाय का भी अवलम्बन लिया है, उन्होंने इनकी सीधी-साधी उक्तियों की भी व्याख्या सूफी मत के अनुसार करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए मुकुन्दसिंह द्वारा रचित 'नल-चरित्र' में एक स्थान पर प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव की व्यंजना सहज-स्वाभाविक रूप में की गयी है; जो इस प्रकार है :

तकिए भूप भ्रमर सुखदाए। काम बान सम सोभा पाए।
बानउ के रव होत अपारा। तिहि विध जानहु भ्रमर गुंजारा।
दुऊं के अहै शिलीमुखनामा। बिरही तन कहं दोउ दुखधामा।

यहाँ विरही हृदय को भ्रमर-गुंजार भी तीरों की चोट सा लगता है, जो प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव का द्योतक है। पर डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने कवियों को वलात् रहस्यवादी या सूफी मतवादी सिद्ध करते हुए इन पंक्तियों में सूफियों की 'शरीअत' अवस्था-का निरूपण वताया है। वे उपयुक्त पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'नल-दमयन्ती के रूप का बखान सुन (कर) 'तरीकत' की अवस्था में पहुँच जाते हैं और वाग में प्रकृति के उद्दीपन रूप उनकी रस अवस्था को और भी अग्रसर करते हैं। "तकिए···दुखधामा"—यह शरीअत की अवस्था नल के दूतत्व तक बनी रहती है। दमयन्ती के मन्दिर में नाना स्त्रियों के कामोद्दीपक प्रभाव से बचने के उपरान्त नल मवारिफ अवस्था में पहुँचते हैं। यह कहना अधिक उचित होगा कि मवारिफ और हकीकत की संक्रान्ति भूमि इस स्थल पर मिलती है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने कहीं भी इन अवस्थाओं का संकेत नहीं किया, फिर भी शोध-कर्त्ताओं ने सूफी मत की चारों अवस्थाओं को इस तरह से ढूंढ़ लिया है, मानों राजा नल ने सचमुच सूफी मत की दीक्षा लेकर ही दमयन्ती से प्रेम आरम्भ किया हो। खैर, इससे शोध-कर्त्ताओं का भी कोई दोष नहीं, जब एक बार पहले से ही इस काव्य-धारा को सूफी मान लिया गया तो इसके कवियों को किसी न किसी प्रकार तो सूफी सिद्ध करना ही था। हमारे लिए यही सौभाग्य की बात है कि इन शोध-कर्त्ताओं की दृष्टि विद्यापति; तुलसी, सूर, विहारी और पद्माकर आदि पर नहीं पड़ी, अन्यथा वे भी सूफी

सिद्ध किये जा सकते थे, क्योंकि उन सबने प्रकृति का उद्दीपक प्रभाव वैसा ही—या उनसे भी बढ़कर दिखाया है—जैसा कि उपर्युक्त अंश में मिलता है।

यदि हम पूर्व-प्रचलित भ्रान्तियों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इन काव्यों में प्रतिपादित दार्शनिक मान्यताओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होगा कि इनमें सूफी विचार-धारा की अपेक्षा भारतीय अद्वैत-दर्शन निर्गुण-ज्ञान-साधना एवं नाथ-पंथियों की योग-पद्धति का ही प्रतिपादन अधिक हुआ है। अवश्य ही इनमें से कुछ कवि सूफी मतानुयायी थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन नहीं किया। जिस प्रकार जायसी, मंझन आदि ने मुसलमान होते हुए भी मुस्लिम पात्रों की अपेक्षा हिन्दू पात्रों का अधिक उत्कर्ष दिखाया है तथा मुस्लिम-संस्कृति की अपेक्षा हिन्दू-संस्कृति का अधिक चित्रण किया है, उसी प्रकार अनेक कवियों ने सूफी मतानुयायी होते हुए भी भारतीय दर्शन की अधिक चर्चा की है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिस शब्दावली, एवं जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वे भी भारतीय दर्शन-शास्त्रों से गृहीत हैं। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् को भी (जिन्होंने इस परम्परा को सूफी घोषित किया था) 'पद्मावत' के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ा—'जायसी सूफियों के अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। भारतीय मत-मतान्तरों की उनमें अधिक झलक है।'[1] यह आश्चर्य की बात है कि आचार्यप्रवर ने इस 'अधिक झलक' वाले पक्ष को ही सर्वाधिक गौण कर दिया है।

भारतीय अद्वैतवाद के अनन्तर इन कवियों ने सर्वाधिक स्थान-नाम-पंथी योग-साधना को दिया है। एक तो उनके नायक प्रायः योगी-वेश धारण करके घर से निकलते हैं। उन योगियों के विभिन्न उपकरणों का चित्रण इतनी स्पष्टता से किया गया है कि उनके नाथ-पंथी योगी होने में सन्देह नहीं रहता अपितु इसका स्पष्ट निर्देश भी कई बार कर दिया गया है, जायसी के पद्मावत में—

तजा राज, राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ बियोगी।
× × ×
मेखल सिंघी चक्र धंधारी।
जोग बाट, रुदराछ, अधारी।
कंथा पहिरि दंड कर गहा।
सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।

इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली' में भी नायक योगी-वेश धारण करके गुरु गोरखनाथ की ही जय कहता है—

सिंगी पूरहु जटा बराबहु।
खप्पर लेहु भीख जेहि पावहु।
कांधे लेहु बाहि मृग छाला।
गीवँ पहिरहु रुद्राछ क माला।।

---

१. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १४२।

अरहु कान आनि एकहु कहै कोउ जो लक्ख।
पहिरि लेहु पग पांवरी-बोलहु सिरी गोरक्ख॥

मंझन कृत मधुमालती, नूरमोहम्मद की इन्द्रावती आदि अन्य काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिल‹ अस्तु, इन कवियों के नायक न केवल नाथ-पंथी योग की दीक्षा लेते हैं, अपितु वे याग-पद्धति का पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए हठयोग की शब्दावली एवं साधना-पद्धति का निरूपण इनमें बार-बार हुआ है। अनेक बार इन गायकों को सफलता भी नाथ-पंथियों के आराध्य देव शिव के द्वारा ही मिलती है। अतः इनके काव्य से किसी धर्म-सम्प्रदाय का प्रचार होता है तो वह योग-पंथ ही है, अन्यथा अन्य किमी भी सम्प्रदाय का इतना प्रत्यक्ष, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक वर्णन इनमें नहीं मिलता।

अनेक कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से भी दार्शनिक विचारों एवं साधना-पद्धतियों की अभिव्यक्ति की है। इनमें भी सामान्यतः भारतीय साधना-पद्धति की अभिव्यंजना हुई है। जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन रूपी मन का नागमती रूपी सांसारिक आकर्षण से मुक्त होकर गुरु की सहायता से पद्मावती रूपी सात्विक बुद्धि की उपलब्धि का रूपक प्रस्तुत किया है। इस सात्विक बुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ही मन माया के बन्धन को काटकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार इनमें मोक्ष प्राप्ति की भारतीय ज्ञान-साधना का ही प्रतिपादन है, किन्तु हमारे विद्वानों ने पहले से ही इसे सूफी-साधना का रूपक मानकर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया—जहाँ कवि ने 'पद्मावती' को 'बुद्धि' का प्रतीक माना है, वहाँ उन्होंने परमात्मा का मान लिया, फलतः उन्हें रूपक की व्याख्या में सफलता नहीं मिली और इसे निरर्थक घोषित करने को बाध्य होना पड़ा। इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली', नूरमोहम्मद की 'इन्द्रावती' एवं 'अनुराग-बाँसुरी' में भी भारतीय तत्त्वों की अभिव्यक्ति की गई है। 'चित्रावली' का नायक शैव-साधक है, नायिकाएँ विद्या और अविद्या की प्रतीक हैं, तथा अन्त में नायक संसार से संन्यास लेकर शिवाराधना में लग जाता है, जिससे इसमें शैव-उपासना के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। इन्द्रावती में तो पात्रों के नाम ही भारतीय दर्शन पर आधारित हैं—नायक का नाम जीवात्मा है, नायिका ब्रह्म-ज्योति, मंत्री बुद्धसेन (ज्ञान का प्रतीक) है तथा नायक ज्ञान की सहायता से ही ब्रह्मज्योति की उपलब्धि कर पाता है। इसी प्रकार 'अनुराग बाँसुरी' का नायक 'अन्तःकरण' है, उसके साथी 'संकल्प-विकल्प' हैं, उसके मित्रों में बुद्धि, चित्त और अहं हैं तथा नायिका 'सर्व-मंगला' है। वस्तुतः ये सब पात्र भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं।

इसके अतिरित इस परम्परा के अधिकांश कवि हिन्दू हैं, जिनमें एक ओर नंददास जैसा सगुण पुष्टिमार्गीय भक्त है, तो दूसरी ओर बाबा धरणीदास एवं दुःख-हरण दास जैसे सन्त मतानुयायी हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सम्प्रदायों के मतावलम्बी हैं, किन्तु सभी हिन्दू कवियों की अपने मत पर पूरी आस्था है तथा उन्होने प्रायः अपने काव्य में हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति पूरी श्रद्धा के साथ की है, अतः उन पर सूफी होने का सन्देह करना व्यर्थ है।

वस्तुतः इस परंपरा के विकास में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी कवियों

ने योग दिया है; किन्तु जहाँ तक काव्य-रचनाओं का सम्बन्ध है, उनका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष ही है। जिस प्रकार विद्यापति ने शैव होते हुए भी राधा-कृष्ण का चित्रण विशुद्ध रसिकतापूर्ण दृष्टिकोण से किया है या बिहारी ने राधावल्लभी होते हुए भी राधा-कृष्ण का चित्रण साहित्यिक दृष्टि से किया है, उनमें धर्म-प्रचार की भावना नहीं मिलती, उसी प्रकार इन कथाओं के रचयिताओं ने भले ही वे व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम या सूफी मत के अनुयायी हों, धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिन दार्शनिक तत्त्वों एवं साधनाओं को उन्होंने अधिक स्थान दिया है, उनके पीछे भी किसी विशिष्ट धर्म के प्रचार का लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन इनके काव्य में सहज रूप में ही हो गया है, वैसे ही भारतीय दर्शन के विभिन्न तत्त्वों का समावेश भी इनमें हो गया है। उस समय नाथ-पंथी योग-पद्धति एवं सन्तों के निर्गुण-दर्शन का प्रभाव भारत के समस्त वातावरण पर छाया हुआ था, ऐसी स्थिति में उसकी अनुगूंज इन काव्यों में भी मिले तो यह स्वाभाविक ही है।

आगे चलकर अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती में अवश्य विचार-तत्त्वों की दृष्टि से इस परम्परा में एक नया मोड़ आया। इस युग में मुस्लिम कवि हिन्दी भाषा के माध्यम से चित्रण में थोड़ा संकोच करने लग गये, जैसा कि नूरमोहम्मद की उक्तियों से प्रकट होता है, परिणामस्वरूप यह परम्परा मुख्यतः हिन्दू कवियों के हाथों में ही रह गयी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परवर्ती युगों के २६ कवियों में से केवल ६ कवि ही मुसलमान हैं तथा उन्होंने भी हिन्दू-जीवन का चित्रण करने की अपेक्षा यूसुफ-जुलेखा, हजरत मूसा, नूरजहाँ आदि की कथाओं के वर्णन में अधिक रुचि प्रदर्शित की है। अतः इन कवियों द्वारा थोड़ी-बहुत मात्रा में अभारतीय तत्त्वों का समावेश हो जाना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है; सब कुछ मिलाकर इस परम्परा में भारतीय तत्त्वों की ही प्रमुखता स्वीकार करनी होगी।

आकर्षण-केन्द्र—इन काव्यों का मूल आकर्षण-केन्द्र धर्म, दर्शन एवं ईश्वर नहीं है, अपितु नारी या सुन्दरी है। नारी को जितना अधिक महत्व इन काव्यों में प्राप्त हुआ है, उतना भारत की किसी भी अन्य परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। नारी के सौन्दर्य की व्यंजना संस्कृत के महाकाव्य रचयिताओं ने भी की है, किन्तु वहाँ उस सौन्दर्य का इतना महत्व नहीं है कि उसके लिए प्राणों का भी मूल्य दिया जा सके। नारी सौन्दर्य को इन कवियों ने एक ऐसा विस्तार एवं महत्व प्रदान किया है कि उसके समक्ष संसार की नारी विभूतियाँ आभाहीन एवं तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसीलिए सुन्दरियों की प्राप्ति के लिए नायक अपने सर्वस्व का भी त्याग एवं बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाता है तथा प्राणों की बाजी लगाकर ही उसे पाने में सफल हो पाता है। अस्तु इन काव्यों के सारे कथानक का मूल केन्द्र नायिका ही है, उसी के लिए कथानक की सारी घटनाओं का आयोजन होता है, और वही सारे क्रिया-कलापों की प्रेरणा एवं प्रयोजन है तथा उसी के आधार पर प्रायः कथा का नामकरण होता है। जिस प्रकार भारतीय महाकाव्य एवं नाटक पुरुष-प्रधान या नायक-प्रधान कहे जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें नायिका-प्रधान कहा जा सकता है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि ये नायिकाएँ स्वयं प्रायः निष्क्रिय एवं प्रयत्न-शून्य सी ही

व्यंजना प्रसंगानुसार हुई है—किन्तु उन्हें प्राय: गौण रूप में ही स्थान मिला है। जहाँ तक उत्साह का सम्बन्ध है, वह तो इसमें प्रणय का स्थायी सहचर ही बन गया है, क्योंकि इनके नायक निष्क्रिय प्रेमी न होकर उद्यमशील साहसी प्रेमी हैं। अन्य भावों की भी अभिव्यक्ति इनमें यथा-स्थान मार्मिक रूप में हुई है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

शास्त्रीय तत्त्व—प्रेम की व्यंजना करते समय इन कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय तत्त्वों—विशेषत: नख-शिख, नायिका-भेद, काम-दशाओं; विरह की अवस्थाओं आदि के निरूपण—का भी उपयोग कई स्थानों पर किया है। ऐसा करते समय इन्होंने कई बार विभिन्न भेदों का निर्देश भी किया है। उदाहरण के लिए पुहकर द्वारा विरह की अवस्थाओं का निर्देश द्रष्टव्य है—

विप्रलंभ जिमि मूल है, क्रम-क्रम बिस्तर साख।
दस अवस्था कवि कहत हैं तहाँ प्रथम अभिलाख।

इसी प्रकार नूरमोहम्मद ने भी नायिका-भेद एवं काम-दशाओं का निर्देश किया है—

पिय की प्रीत बखानै एक राखे गोय।
रूप गरवता सुन्दरी प्रेम गरबता होय॥

—अनुराग बाँसुरी

चिन्ता कथन वीच-छन परी।
चिन्ता करै घरी औ घरी।
× × ×
उन्माद सौं रोवइ हँसइ।
आँसू धरती मोती खसइ॥

—इन्द्रावती

इन कवियों ने न केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का अपितु कामशास्त्रीय तत्त्वों का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। यहाँ तक कि उसमान ने तो 'चित्रावली' में पूरा एक खण्ड ही 'कामशास्त्र खण्ड' रख दिया है, जिसमें नायिका-भेद एवं काम-कला सम्बन्धी तत्त्वों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ 'काम-भेद-ज्ञान' के महत्त्व की भी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'काम-भेद जानै जो कोई, दम्पत्ति सेज महा सुख होई।' अस्तु, ये कवि जितना उत्साह अद्वैत की व्याख्या में दिखाते हैं, उतना ही काम-तत्त्व की मीमांसा में भी; ऐसी स्थिति में इन्हें किसी एक क्षेत्र से ही सम्बद्ध मान लेना अनुचित होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग एक सीमा तक ही करते हैं, इसी युग के अन्य शृङ्गारी कवियों की भाँति ये रीति-प्रतिपादन को अपना साध्य नहीं बनाते, अपितु उसका उपयोग साधन के रूप में ही करते हैं।

इनके द्वारा शास्त्रीय तत्त्वों के प्रयोग को कदाचित् इस काल के शास्त्रीय काव्य का प्रभाव समझा जाय, अत: इस सम्बन्ध में भी थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हमारे विचार से इस परम्परा के लिए यह प्रवृत्ति सर्वथा नयी नहीं है। हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश के चरित काव्यों में भी हम इस प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं, यथा, स्वयंभू ने काम

की दस-दशाओं का तथा नयनंदी ने अपने सुदर्शन-चरित (सन् १०४३ ई०) में नायिका-भेद का निरूपण विस्तार से किया है। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी के बाद के काव्यों में इस प्रवृत्ति को अधिक व्यापकरूप प्रदान करने में इस युग की विशेष रुचि के प्रभाव का भी थोड़ा-बहुत योगदान अवश्य है।

काव्य रूप एवं शैली—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, काव्य-रूप की दृष्टि से ये काव्य भारतीय कथा-काव्य की परम्परा में आते हैं। इसकी पुष्टि एक ओर इनके लक्षणों से हो जाती है तो दूसरी ओर सभी कवियों के उल्लेखों से हो जाती है, क्योंकि प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं को 'कथा' की संज्ञा दी है। किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के विद्वानों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० शंभूनाथ सिंह को छोड़कर और किसी का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया। फलतः उन्होंने इनको एक ओर से तो फारसी मसनवियों की परम्परा में स्थान दिया तथा दूसरी ओर इनमें भारतीय महाकाव्यों के लक्षणों को ढूंढ़ने का प्रयास किया है, जबकि कथा-काव्य इन दोनों से ही भिन्न काव्यरूप है। इस तथ्य को भलीभांति हृदयंगम न कर सक पाने के कारण ही हमारे अनेक सुयोग्य शोध कर्त्ताओं को अनावश्यक रूप से मसनवियों और महाकाव्यों के परस्पर विरोधी लक्षणों के जंजाल में उलझना पड़ा है तथा अन्त में उन्हें ऐसे निर्णय देने को विवश होना पड़ा है, जो अपने-आप में अस्पष्ट एवं असंगत हैं। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने इन्हें महाकाव्य की कसौटी पर कसकर इनके ऐसे दोषों की चर्चा की है, जिनका कथा-काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हमें यहाँ सबसे पहले महाकाव्य और कथा-काव्य के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

महाकाव्य और कथा-काव्य में सबसे बड़ा अन्तर उसकी आधारभूत जीवन-दृष्टि, एवं मूल लक्ष्य का होता है। महाकाव्य जहाँ जीवन में आदर्श एवं मर्यादा की स्थापना के लक्ष्य से प्रेरित होता है, अतः उसका दृष्टिकोण सर्वत्र आदर्शोन्मुखी रहता है, जब कि कथा-काव्य का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को रोमांचित एवं आह्लादित कर देना मात्र होता है। इसीलिए महाकाव्य में उच्चकुलोद्भव आदर्श पात्रों की सृष्टि होती है, जबकि कथा-काव्य में आश्चर्यजनक साहसपूर्ण कार्यों को सम्पादित करनेवाले पात्र होते हैं। महाकाव्यों का मूल भाव वीरता या कर्त्तव्य-परायणता की भावना से ओत-प्रोत रहता है, जबकि कथा-काव्य में स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। महाकाव्य में चरित्र या पात्र का घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है, जबकि कथा-काव्य में घटनाएँ चरित्र चित्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। महाकाव्य की परिणति किसी ऐसे कार्य में होती है, जो नैतिक दृष्टि से महान् हो, जबकि कथा-काव्य के लिए यह अपेक्षित नहीं है। अस्तु, चरम लक्ष्य, विषय-वस्तु एवं शैली—सभी के क्षेत्र में महाकाव्य जहाँ शिव के आदर्श से अनुप्राणित रहता है, वहाँ कथा-काव्य में सर्वत्र सौन्दर्य एवं आनन्द की सरिता तरंगित रहती है। अतः इस अन्तर को ध्यान में रखकर ही कथा-काव्य का मूल्यांकन करना चाहिए।

हिन्दी के कथा-काव्यों को 'महाकाव्य' अनुमित कर लिए जाने का एक कारण उनका पद्यबद्ध प्रबन्धात्मक शैली में प्रस्तुत होना है। किन्तु मध्यकाल में तो वैद्यक एवं ज्योतिष की पुस्तकें भी पद्य में लिखी जाने लगी थीं तथा हिन्दी से पूर्व

इसी को कुछ आचार्यों ने सूफी रहस्यवाद की देन समझकर इसमें आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति मान ली है, जो ठीक नहीं।

वस्तुत: हिन्दी के कथा-काव्यों में अलंकारों—विशेषत: उत्प्रेक्षा और रूपक—का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है, जिसके पीछे चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इनके सौन्दर्य, प्रेम और विरह सम्बन्धी वर्णनों की अत्युक्ति को भले ही हम अलौकिकता से प्रेरित मान लें, किन्तु जहाँ संयोग के दृश्य को भी युद्ध का रूप दिया गया है या निर्जीव तोपों को मदविह्वल नारियों के रूप में प्रस्तुत किया है—उसके सम्बन्ध में क्या कहेंगे? जब जायसी जैसे फकीर भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच सके तो औरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! अत: हमें यह नि:संकोच रूप में स्वीकार करना होगा कि जहाँ इनकी विषय वस्तु अत्यधिक रोमांचक है, वहाँ इनकी शैली भी, उसी के अनुरूप पर्याप्त अतिरंजना-पूर्ण है। किन्तु उनकी अतिरंजना अन्ततः भावावेग से उल्लसित एवं परिपूर्ण होने के कारण वस्तु के आकर्षण में अभिवृद्धि ही करती है—उसमें बाधक नहीं बनती।

छन्द योजना के क्षेत्र में भी इन कवियों ने दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया है, जो अपभ्रंश के चरित काव्यों की द्विपदियों के बीच-बीच धत्ता देने की शैली से पर्याप्त मिलती-जुलती है। कुछ कवियों में इसका अपवाद भी मिलता है, जैसे गणपति कृत 'माधवानल-कामकंदला' केवल दोहों में रचित है, जब कि हंस कवि द्वारा रचित 'चन्द्रकुँवर री बात' में दोहा चौपाई के अतिरिक्त सोरठे, देशी आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, इस प्रकार की भाषा भी सामान्यतः चौहठे, अवधी प्रयुक्त है, किन्तु कुछ में राजस्थानी एवं ब्रज का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु ये अपवाद नगण्यप्राय ही हैं।

महत्त्व—अन्त में यह कह सकते है कि सौन्दर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना की दृष्टि से इस परम्परा का महत्व है। यद्यपि इस परम्परा के कवियों का प्रेम सामान्यत: लौकिक स्तर का है, किन्तु उनका आदर्श अत्यन्त उच्च है। उन्होंने प्रेम में साहस, त्याग एवं आत्म-बलिदान के भावों का सम्मिश्रण करके उसे कामुकता के स्तर से बहुत ऊँचा उठा दिया है।

मध्यकाल मे जबकि लोक-रंजन के अन्य-साधनों का प्राय: अभाव था, इन काव्यों ने इस अभाव की पूर्ति में असाधारण योग दिया। साथ ही इन के द्वारा जन-साधारण के ज्ञानकोष में भी अभिवृद्धि हुई, क्योंकि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्वों को भी प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया है। इस परम्परा की दीर्घता एवं व्यापकता भी इसकी लोकप्रियता एवं महत्ता की सूचक मानी जा सकती है। वस्तुतः आधुनिक युग में जो स्थान उपन्यास-साहित्य का है, वही मध्यकाल में इन प्रेम-कथाओं का रहा है; वे जनता की कलात्मक रुचि एवं साहित्यिक भूख को बराबर शान्त करती रही हैं। इसके अतिरिक्त इस युग के जड़ एवं निरानंद जीवन में इन आख्यानों की साहसिकता ने न्यूनाधिक चैतन्यता एवं कर्मण्यता का भी संचार अवश्य किया होगा, यह भी स्वीकार किया जा सकता है।

: सत्ताइस :

राम-काव्य या पौराणिक प्रवन्ध-काव्य-परम्परा

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य के अन्तर्गत शताधिक ऐसे प्रवन्ध-काव्य मिलते हैं, जिनकी विषय-वस्तु पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित है ! पर साथ ही उनमें काव्यत्मकता का भी अभाव नहीं है। वस्तुतः विषय-वस्तु के विस्तार, पात्रों के वैविध्य एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इस वर्ग की रचनाएँ उच्च कोटि की सिद्ध होती हैं; जिन्हें हम 'पौराणिक प्रवन्ध काव्य-परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं, इनमें राम, कृष्ण, सुदामा, प्रद्युम्न, अर्जुन, प्रह्लाद, ध्रुव, आदि विभिन्न पौराणिक पात्रों के चरित्र का अंकन किया गया है, किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों में इस परम्परा को 'राम-भक्ति-शाखा' या 'राम-काव्य-परम्परा' की संज्ञा दे दिए जाने के कारण केवल राम-विषयक कतिपय प्रवन्धों को छोड़कर शेषको 'फुटकल खाते' में ही स्थान प्राप्त हो सका। यह भी विचित्र बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रौढ़ समीक्षक ने 'राम-भक्ति-शाखा' की स्थापना करते हुए तुलसी से उसका आरंभ माना है और उन्हीं से उसकी समाप्ति मानी है; क्योंकि 'गोस्वामी जी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि राम-भक्ति की और रचनाएँ उनके सामने ठहर न सकीं।' यहाँ तुलसी की जिस विशेषता की दाद दी गई, बिहारी के प्रसंग में भी उसी विद्वान् ने इससे बिल्कुल विपरीत बात के लिए प्रशंसा की है। वहाँ वे लिखते हैं कि बिहारी सतसई को लेकर इतने व्यक्तियों ने उनका अनुकरण किया कि 'बिहारी संबन्धी अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है, इतने से ही इस ग्रन्थ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है।' एक समर्थ आलोचक किस प्रकार दो विरोधी बातों को भी एक जैसी सिद्ध कर सकता है, इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है। पर वास्तविकता यह है कि प्रवन्ध-काव्य, दो नाटकों और मुक्तक-संग्रहों के आधार पर स्थापित 'राम-काव्य-परम्परा' परम्परा या शाखा कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि एक जैसी काव्य-शैली एवं काव्य-रूपों वाली कम से कम आठ-दस रचनाएँ हों तभी उसे 'परम्परा' का नाम दिया जा सकता है। अस्तु, हम

भादव बदी पंचमी सो सारू।
स्वाति नक्षत्र सनीचर वारू॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रचना-काल संबंधी यह उल्लेख गणना के द्वारा भी शुद्ध साबित हुआ है। डा० हीरालाल की जाँच के अनुसार उपर्युक्त तिथि ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त शनिवार को पड़ती है तथा नक्षत्र भी इस दिन स्वाति ही पड़ता है, अतः इस तिथि को असंदिग्ध रूप से 'प्रद्युम्न चरित' के रचना-काल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कथा का आरम्भ नारद के कृष्ण के यहाँ पहुँचने की घटना से होता है। कृष्ण की पटरानी सत्यभामा अपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार से नारद को अप्रसन्न कर देती है जिससे वे इसका बदला लेने के लिए कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की आयोजना करते हैं। सत्यभामा और रुक्मिणी में सौतिया डाह एवं प्रतिद्वन्द्विता का भाव जागृत होता है तथा वे शर्त लगाती है कि जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा, वही प्रधान होगी। दोनों के साथ-साथ पुत्र होते हैं किन्तु रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य उठा ले जाता है, किन्तु दैवयोग से बच जाता है तथा सोलह वर्ष के पश्चात् सोलह प्रकार की उपलब्धियों एवं दो प्रकार की विद्याओं साथ पुनः लौटता है तथा नारद की प्रेरणा से सत्यभामा को भाँति-भाँति के कष्ट पहुँचाता है। फलतः बलराम और प्रद्युम्न में संघर्ष होता है तथा आगे कृष्ण और प्रद्युम्न में भी युद्ध होता है। प्रद्युम्न अनजान से अपनी माँ रुक्मिणी का भी अपहरण कर लेता है, किन्तु नारद के द्वारा रहस्योद्‌घाटन हो जाने पर कृष्ण एवं प्रद्युम्न में मेल मिलाप हो जाता है। प्रद्युम्न अनेक विवाह करता है तथा कृष्ण की मृत्यु व यादवों के नाश के पश्चात् वह जैन धर्म की दीक्षा ले लेता है और अन्त में कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस कथा का स्रोत मुख्यतः जैन पुराण ही है, वैष्णव पुराणों से इसका कोई मेल नहीं है। अपभ्रंश में प्रद्युम्न के चरित को लेकर अनेक प्रबन्ध-काव्यों की रचना की गई थी, प्रस्तुत काव्यों का कथानक भी उन्हीं पर आधारित है।

पूरा ग्रन्थ लगभग सात सौ चौपाइयों में समाप्त हुआ है। विभिन्न प्रसंगों के आयोजन एवं प्रस्तुतीकरण तथा भावानुभूतियों की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

चौदहवीं शताब्दी के दूसरे कवि, जो इस परम्परा में आते हैं, **जाखू मणियार** हैं, जिन्होंने 'हरिचन्द पुराण' की रचना चैत्र मास की दशमी रविवार, १४५३ वि० (१३९६ ई०) में की थी। इसका निर्देश स्वयं कवि ने इस प्रकार किया है—

चौदह सै तिरपनें विचार, चैतमास दिन आदित वार।
मन माँहि सुमिर्‌यो अवीत, दिन दासराहे कियो कवीत॥

काव्य का आरम्भ गणेश एवं शारदा की स्तुति के साथ करते हुए रचना-काल, प्रेरणा-स्रोत एवं आधारभूत ग्रन्थ का भी निर्देश कर दिया गया है। कवि के उल्लेख के अनुसार उसकी मूल कथा ऋषि कृष्ण द्वैपायन (व्यास) द्वारा वर्णित है। वस्तुतः इसका आधार महाभारत ही है—

किस्न दीपायन भारत कीयो, आश्रम छांड़ि रिषि नीस यो।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिषि मन भयो॥
× × ×
किस्न दीपायन क्रिपा अब करी, बेगि मोहि भारथ उच्चरी॥

यद्यपि इस काव्य की कथा वस्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र के परम्परागत पौराणिक इतिवृत्त पर ही आधारित है, किन्तु जैसा कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने संकेत किया है—'कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण एवं मार्मिक बनाने का प्रयास किया है।'[1] इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के ग्रन्थालय में सुरक्षित है तथा पूरा ग्रन्थ लगभग ६०० छन्दों में समाप्त हुआ है। मुख्यतः इसमें चौपाई छन्द ही प्रयुक्त है, किन्तु बीच बीच में कुछ छन्द—'वस्तु', 'अठताली' आदि—भी प्रयुक्त हैं। यह रचना अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु इसके जो अंश प्रकाश में आये हैं, उन्हें देखने से यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत—होती है। विभिन्न भावों की व्यंजना में—विशेषतः करुण रस के प्रसंग में—कवि ने सच्ची सहृदयता का परिचय दिया है, यथा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैय्या का विलाप द्रष्टव्य है—

विप्र पुंछि बन भीतर जाइ, रानी अकलो खरी विलखाइ।
सुत ! सुत ? कहै वयण उचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा ध्रिग ! हा ध्रिग ! करैं ससारा, फटइ हियो अति करइ पुकारा !
तोड़इ लट अरु फाड़इ चीर, देखैं मुख अरु चोवे नीर॥
दीठें पड़ियो जीवन आधार, सनो आज भयो संसार।

वस्तुतः अनुभूति की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से यह उच्च-कोटि का काव्य है। इसका अध्ययन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती पौराणिक काव्यों की अनेक प्रथाओं एवं रूढ़ियों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से यह रचना अभी तक अप्रकाशित है।

अनेक पौराणिक प्रवन्ध काव्यों के रचयिता विष्णुदास तो अभी तक हिन्दी के सूरदास एवं तुलसीदास जैसे महान् कवियों के भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध होते हैं। मध्य काल के दोषपूर्ण विभाजन के कारण न तो वे राम-काव्य की संकीर्ण सीमा में बँध पाते थे और न ही कृष्ण-काव्य के ढाँचे में ही, फलतः वे इतिहास में कोई स्थान पाने से वंचित रहे। अन्यथा उनकी रचनाओं का विवरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा की १६०६-८, १६१२ एवं १६२६-२८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हो चुका था, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल को उनका पता नहीं था।

विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूंगेन्द्रसिंह के राज्यकाल (आरम्भ १४२४ ई०) में वर्तमान थे तथा उनकी पाँच रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं—(१) महाभारत कथा (२) रुक्मिणी मंगल, (३) स्वर्गारोहण, (४) स्वर्गारोहण पर्व और (५) स्नेह लीला। इसमें तीसरी और चौथी एक ही प्रतीत होती है, अतः इनकी चार रचनाएँ ही मानी जानी

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्य, पृ० १४६।

चाहिए। ये सभी रचनाएँ प्रबन्धात्मक शैली में रचित होने के कारण प्रस्तुत परम्परा में आती हैं। 'महाभारत कथा, में पांडवों का चरित प्रस्तुत किया गया है, जो १४६५ ई० की रचित मानी गई है। इसमें कवि के धार्मिक दृष्टिकोण की प्रमुखता है, क्योंकि उसने लिखा है—

पांडु चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै।
एक चित्त सुनै दै कान, ते पावैं अमरापुर थान।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह काव्यात्मकता से शून्य है। वस्तुतः धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी यह काव्यात्मक रचना है। उदाहरणार्थ इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

विनसै धर्म किये पाखंडू, विनस नासिर गेह परचंडू,।
विनसै रांडु पढ़ाये पांडे, विनसै खेले ज्वारी डांडे।।
विनसै नीच तनै उपगार, विनसै सूत पुराने हार।
विनसै मांगनी जरैं जु लाजै, विनसै जूझ होय बिन साजै।।

यहाँ 'विनसै' की आवृत्ति का चमत्कार है, जो लगभग चालीस पंक्तियों में चलता है। आवृत्ति की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश के जैन कवियों में भी प्रमुख रूप से मिलती है, जिसका विकास दूसरी ओर हिन्दी के रोमांसिक कथा-काव्यों में भी मिलता है।

'स्वर्गारोहण' या 'स्वर्गारोहण पर्व' में पांडवों के स्वर्ग-गमन की कथा दी गई है, जो दोहा-चौपाई छन्दों में प्रस्तुत है। कदाचित् यह कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत काव्य कवि की 'महाभारत कथा' का ही एक अंश होगा। किन्तु वस्तुतः यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसका प्रमाण निम्नांकित मंगलाचरण है :

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक बरदान।
स्वर्गारोहण ग्रन्थ के बरणौं तत्व बखान।

यहाँ 'ग्रन्थ' का उल्लेख इसके स्वतन्त्र अस्तित्व का द्योतक है। रचना-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी उनकी 'महाभारत कथा' के स्तर का प्रतीत होता है, नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुनहु भीम कह धर्म नरेसा। बार बार सुन ले उपदेसा।
अब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया अर्जुन कहँ देहू।
राज सकल अरु यह संसारा। मैं छांड़ौं यह कहै भुवारा।
बन्धु चार ते लये बुलाई। तिन सों कहीं बात यह राई।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी अपेक्षा 'रुक्मिणी मंगल' में कवि को अधिक सफलता मिली है। इस काव्य में एक स्थान पर कवि ने अपने-आपको 'भाषा-काव्य' बनाने के लिए कोसा भी है—

तुछ मत मोरी पोरी सो बौराई भाषा काव्य बनाई।
रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा वर्ण नहिं जाई।।

'रुक्मिणी मंगल' प्रबन्धात्मक शैली में रचित है, फिर भी इसके बीच-बीच में विभिन्न राग-रागिनियों के पदों और गीतों का आयोजन किया गया है।

वस्तुतः जिस प्रकार दोहा-चौपाई शैली में 'स्वर्गारोहण' काव्य को प्रस्तुत करके विष्णुदास ने परवर्ती पौराणिक प्रबन्ध-रचयिताओं (जिनमें गोस्वामी तुलसीदास भी आ जाते हैं) का पथ-प्रदर्शन किया, वहाँ उन्होंने कृष्ण-भक्ति-विषयक पद लिखकर कुंभनदास, सूरदास आदि के लिए भी नई परम्परा का प्रवर्त्तन किया। अतः काव्यत्व की दृष्टि से विष्णुदास भले ही बहुत उच्चकोटि के कवि सिद्ध न हों, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्व बहुत अधिक है।

ईसा की पन्द्रहवीं शती के अन्तिम भाग में एक अन्य महत्वपूर्ण कवि **ईश्वरदास,** हुए, जिन्होंने अनेक पौराणिक कथाओं को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया, जैसे—'सत्यवती कथा', 'स्वर्गारोहिणी कथा', 'एकादशी कथा' एवं 'भरत मिलाप'। इनमें से 'सत्यवती कथा' का आधार पौराणिक होते हुए भी इसका प्रस्तुतीकरण रोमांसिक शैली में हुआ है। शेष रचनाओं के नाम से धार्मिकता एवं पौराणिकता का आभास स्पष्ट रूप में मिलता है, किन्तु इसमें काव्यात्मकता का अभाव नहीं है, अतः वे यहाँ विवेच्य हैं। 'स्वर्गारोहिणी कथा' पांडवों के स्वर्गारोहण-प्रसंग से सम्बन्धित है। इसका आरम्भ गणपति एवं शारदा की वन्दना, इष्टदेव की स्तुति, पूर्व कवियों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन, सज्जन एवं दुर्जन की प्रशंसा-निन्दा, रचना-काल के निर्देश; तत्कालीन नरेश के उल्लेख, अपने कुल के परिचय, काव्य-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन के निर्देश के साथ किया है, इससे जहाँ काव्य-रूप सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियों का पता चलता है, वहाँ कवि ईश्वरदास एवं उसके काव्य से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। काव्यारम्भ में की गई इष्टदेव की वन्दना केवल रूढ़िनिर्वाह मात्र जैसी प्रतीत नहीं होती, उसमें भक्ति भाव की सच्ची प्रेरणा परिलक्षित होती है, यथा—

राम नाम कलि नरक नेवारा, तेहि सेवा मनु लागु हमारा।
संख चक्र धर सारंग पानी, दया करहु कुछु कहौं बखानी।
मरम न जानौ केसव तोरा, तुम्हरे चरन चितु लागै मोरा।
राम नाम भाव बिन राती, अछर मेरवहु निरमल मोती।
राम नाम ईसर कवि गाए, सुनहु लोग तुम मन चितु लाए।

कवि का प्रयोजन मुख्यतः पाठकों की धार्मिक भावनाओं का उद्बोधन करते हुए उन्हें पाप से मुक्ति दिलवाना ही है—

अछर तीनि बखानौं, भारत कथा चित लाइ।
कहै ईसर जे सुनिती, ताकर पाप छै (क्षय) जाइ।

सारी कथा दोहा-चौपाई शैली में प्रस्तुत है। वस्तुतः काव्य-रूप एवं उसकी विभिन्न रूढ़ियों एवं प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह तुलसी के 'रामचरित मानस' का पूर्व विकसित पूर्व-रूप है। प्रारम्भ की जिन विशेषताओं का उल्लेख हमने अभी किया है वे सभी 'मानस' में भी मिलती हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का विशेष महत्व है।

धार्मिक दृष्टिकोण के होते हुए भी, ईश्वरदास कोरे कथाकार नहीं हैं, उनमें कवित्व शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में है। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त कथा को शुष्क इतिवृत्त

होने से बचा लिया। अनेक स्थानों पर वस्तु-निरूपण एवं भावों की व्यंजना सफलता पूर्वक की गई है, यथा—

(क) अर्जुन का युद्धकौशल—

जस बिजुली कै मारत, परबत फाट अघात।
तस अरजुन के बानन्ह, कौरौ भये निपात ॥

(ख) युधिष्ठिर का शोक—

बधु सोग मैं सहूँ न पारौं। बंधु बिना जग जीवन हारौं।
बंधु वर्ग मारा सुख लागी, सोग हिदै बारत है आगी।

इनकी दूसरी पौराणिक रचना 'एकादशी कथा' भी काव्यात्मकता से शून्य नहीं है। यद्यपि इसका आरम्भ उतने विधि-विधानों के साथ नहीं किया गया; किन्तु बीच-बीच में नगर-वर्णन, नारी-सौन्दर्य, सौन्दर्याकर्षण, शोकानुभूति, निर्वेद आदि का निरूपण जिस सरस एवं भावोत्पादक शैली में किया गया है, वह इसे उत्कृष्ट काव्य-कृति सिद्ध करता है; कुछ प्रसंग देखिए—

(क) मोहिनी का रूप-सौन्दर्य—

जहँ लगु होइ सजल संसारु, काढ़ि लेहु सब कर रूप सुढारू।
एकै करता काढ़ि लेहु रासी, बिसु काम लै बैठु संडासी।

(ख) मोहिनी का सौन्दर्याकर्षण—

नैन कटोन्रह चितवै नारी, हरि हर ब्रह्मा रहे निहारी।
देखि रिषै सबै अकुलाई, देखि कामिनी तन बरसे आई।
ध्यान छूट रिषै देख जागी, जानहू एक चित्र होइ लागी।
नर गंध्रप देखहिं चित लाई, नारि देखि सब गये मुरछाई।

ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'भरत मिलाप' बताई जाती है जो काफी विवादास्पद है। इसकी विभिन्न प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमें परस्पर गहरा पाठ-भेद मिलता है तथा रचयिता का नाम भी उनमें अलग-अलग है। सामान्यतः इनमें तीन नाम आये हैं—तुलसीदास, ईश्वरदास एवं सूरजदास। डा० शिवगोपाल मिश्र के मतानुसार यह इन्हीं ईश्वरदास की रचना है, क्योंकि इसकी एक प्रति उन्हें ईश्वर-दास की अन्य रचनाओं के साथ ही प्राप्त हुई थी तथा भाषा-शैली एवं अनेक प्रतियों के उल्लेख के अनुसार भी यह ईश्वरदास की रचना प्रतीत होती है।

वस्तुतः पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा को आगे बढ़ाने में ईश्वरदास का महत्वपूर्ण योगदान है। भले ही हम आज जायसी एवं तुलसी के प्रौढ़ काव्यों के समक्ष इनकी रचनाओं को नगण्य एवं उपेक्षणीय समझें, किन्तु इतिहास की इस धारा के विकासक्रम को समझने तथा परवर्ती काव्यों के विभिन्न उपादान-स्रोतों को जानने के लिए ईश्वरदास की रचनाओं का अध्ययन अपरिहार्य है।

परम्परा का विकास—सोलहवीं शती के मध्य भाग से इस परम्परा का अत्यन्त द्रुतगति से विकास हुआ, जिसका अनुमान इसी तथ्य से किया जा सकता है कि सोलहवीं से लेकर बीसवीं शती के आरम्भ तक रचित लगभग डेढ़ सौ पौराणिक प्रबन्ध

काव्य अब तक उपलब्ध हो चुके हैं, जो इस परम्परा में आते हैं। इन्हें विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थूल रूप में तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--(१) भागवत पुराण तथा कृष्ण चरित्र पर आधारित काव्य, (२) रामायण तथा रामचरित पर आधारित काव्य और (३) महाभारत तथा कौरव-पाण्डव के चरित्र पर आधारित काव्य। इनके अतिरिक्त कुछ काव्य ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध वैष्णव परम्परा से न होकर शैव, सिक्ख, जैन परम्पराओं से है। यहाँ हम केवल रामायण तथा राम-चरित पर आधारित काव्यों का ही परिचय संक्षेप में दे रहे हैं।[1]

तुलसीदास और उनका काव्य—रामचरित्र से संबन्धित हिन्दी का प्रथम प्रबन्ध-काव्य सम्भवतः ईश्वरदास कृत 'भरतमिलाप' है, जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। इसकी विवेचना की जा चुकी है। इसके अनन्तर गोस्वामी तुलसीदास जी के विभिन्न प्रबन्ध-काव्य आते हैं, जो इस परम्परा की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ माने जाते हैं। वस्तुतः तुलसीदास समस्त मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, अतः इनके साहित्य पर यहाँ अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया जाता है।

तुलसीदास के नाम पर वैसे तो लगभग पच्चीस रचनाएँ प्रचलित हैं, किन्तु उनके द्वारा रचित वास्तविक ग्रन्थ ये बारह माने जाते हैं—(१) रामचरित मानस, (२) रामलला नहछू, (३) वैराग्य संदीपिनी, (४) बरवै रामायण, (५) पार्वती-मंगल, (६) जानकीमंगल, (७) रामाज्ञा प्रश्न, (८) दोहावली, (६) (१०) गीतावली, (११) श्रीकृष्ण गीतावली, (१२) विनयपत्रिका। इनके अतिरिक्त इनकी दो प्रामाणिक रचनाएँ और मानी जाती हैं—'हनुमान बाहुक' एवं 'कलि·धर्माधर्म निरूपण'। इनमें से 'हनुमान बाहुक' को तो 'कवितावली' के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया जाता है, जबकि दूसरी रचना को डॉ० रामकुमार वर्मा तथा कुछ अन्य विद्वान् ही प्रामाणिक मानते हैं।

काव्य-रूप की दृष्टि से तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – (१) प्रबन्ध-काव्य—रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल। (२) गीति काव्य—गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनयपत्रिका। (३) मुक्तक काव्य—वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कवितावली, हनुमान बाहुक एवं कलि धर्माधर्म निरूपण। यहाँ केवल प्रबन्ध-काव्य ही विवेच्य हैं, अतः हम क्रमशः इन्हीं का विवेचन करते हैं, शेष वर्ग की रचनाओं पर अन्यत्र प्रसंगानुसार प्रकाश डाला जायगा।

रामचरितमानस—तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ रचना 'रामचरितमानस' है, जिनकी रचना उन्होंने भगवान् राम की जन्म-भूमि अयोध्या में राम की जन्म-तिथि को संवत् १६३१ वि० (१५७४ ई०) में आरंभ की थी। इसका निर्देश स्वयं कवि ने इस प्रकार किया है—

१. अन्य परम्पराओं के परिचय के लिए द्रष्टव्य—'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृष्ठ २३६-२७५।

संबत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

राम-चरित संबन्धी काव्यों को प्रायः 'रामायण' कहे जाने की परंपरा रही है; किन्तु तुलसीदास ने अपने काव्य को 'रामचरितमानस' के नाम से पुकारा है जिसका विशेष कारण यह है कि कवि ने इसे मानस रूपी सरोवर के रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। सारी कथा चार वक्ताओं के माध्यम से सात कांडों में प्रस्तुत की गई है। ये चार वक्ता ही इसके चार घाट हैं तथा सात कांड इसके सात सोपान हैं। वैसे इस रूपक के और भी कई अंग हैं; जैसे राम की महिमा इसके जलाशय की गंभीरता है, उपमादि इसकी तरंगें हैं, छन्दादि इसके कमल हैं, अनुपम अर्थ, भाव, भाषा आदि पराग, मकरन्द और सुगन्ध हैं। वस्तुतः यह रूपक इसके नामकरण की सार्थकता सिद्ध करता है। यह दूसरी बात है कि यह इतना अधिक विस्तृत एवं बौद्धिक हो गया है कि जिससे इसमें काव्यात्मक आकर्षण बहुत कम रह गया है।

'मानस' की रचना में कवि ने संस्कृत, प्राकृत, आदि के विभिन्न पौराणिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का उपयोग सम्यक् रूप से किया है। कथा का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण है, किन्तु उनमें अनेक स्थलों पर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है, जिसमें कवि की मौलिक दृष्टि का उन्मेष मिलता है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण, शिव पुराण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, रघुवंश, उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों का भी प्रभाव इस पर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि स्वयं कवि ने 'नानापुराणनिगमागमसंगतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर स्वीकार किया है, इसमें विभिन्न स्रोतों की सामग्री का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया है।

'रामचरितमानस' की रचना केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं हुई, इसमें काव्यात्मक लक्ष्य भी कवि के सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान था; इसकी ध्वनि निम्नांकित उक्तियों मे मिलती है—

तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

× × ×

जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रकट यहि मांही।

× × ×

जे प्रबन्ध नहि बुध आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।

× × ×

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर-धुनि गिरा लाग पछिताना।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि, कविता एवं काव्यात्मकता का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि कवि ने भले ही शिष्टता एवं विनम्रता के नाते अपनी रचना को काव्यत्व से शून्य कह दिया है, किन्तु उसकी आन्तरिक इच्छा अपनी रचना को काव्यात्मक दृष्टि से भी सफल बनाने की अवश्य रही है। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष रूप मे उन्होंने उन कवियों के प्रयास को निन्दनीय बताया है, जो प्राकृत व्यक्तियों

का गुणगान करने में अपनी कवित्व-शक्ति का अपव्यय करते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि तुलसीदास में धार्मिक भावनाओं की प्रबलता के होते हुए भी वे अपनी रचना की काव्यात्मकता के प्रति सचेत थे। इतना ही नहीं, 'रामचरित मानस' एवं अन्य रचनाओं के आधार पर उनके काव्य-दर्शन की पूरी रूपरेखा तैयार की जा सकती है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसी काव्य के क्षेत्र में "महत्" के उपासक थे, वे महान् वस्तु एवं महान् लक्ष्य को लेकर चलनेवाले कवि थे, इसीलिए उनकी दृष्टि में वही कला सफल कला थी, जो सौन्दर्य-युक्त होने के साथ-साथ सबके लिए हितकारी भी हो।

गोस्वामी तुलसीदास का राम-विषयक एक प्रबन्धात्मक काव्य 'रामलला नहछू' है जो केवल २० शब्दों में समाप्त हो गया है। यह सोहर छन्द में रचित है जो अवध और विहार के लोक-गीतों—विशेषतः पुत्र-जन्म, नामकरण, विवाहादि से सम्बन्धित गीतों में प्रयुक्त होता है। इसमें राजा दशरथ के चारों पुत्रों के यज्ञोपवीत-संस्कार का वर्णन है। यज्ञोपवीत से पूर्व 'नख क्षौर' (नाखून काटने) किए जाने का विधान है, तथा इसी 'नख क्षौर' का अपभ्रष्ट रूप 'नहछुर' या 'नहछू' बना है। कुछ विद्वानों ने इसे विवाह सम्बन्धी गीत मान लिया है, किन्तु जैसा कि पं० रामगुलाब द्विवेदी एवं डा० विमल कुमार जैन ने अपने तुलसी-विषयक ग्रन्थों में सिद्ध किया है, इसका सम्बन्ध यज्ञोपवीत संस्कार से ही है।

तुलसीदास की महत्ता[1]—तुलसीदास की प्रबन्धात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में यहाँ सामान्य रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी कीर्ति का अमर आधार 'रामचरितमानस' ही है। इसे न केवल इस परम्परा का, अपितु समस्त हिन्दी काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। हमारे विचार से जब तक 'पद्मावत', 'कामायनी' आदि से इसकी सम्यक् तुलना नहीं हो जाती, तब तक इसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहना तो उचित नहीं होगा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पौराणिक प्रबन्ध-काव्य परम्परा में इसका स्थान सर्वोच्च है।

समग्र रूप में तुलसीदास की महत्ता के विभिन्न आधार माने गये है, कुछ लोग उन्हें धर्मोपदेशक के रूप में, कुछ भक्त के रूप में और कुछ लोक-नायक के रूप में सर्वोच्च मानते हैं। अवश्य ही वे अपने युग के सबसे बड़े धर्मात्मा भक्त एवं लोक-नायक थे किन्तु ये सारे पद एवं विशेषण किसी के काव्यत्व की महत्ता का बोध नहीं करवाते। यदि ऐसा ही होता तो हम महात्मा गांधी को सबसे बड़ा कवि भी मान लेते। हमारे विचार से कवि तुलसीदास की महत्ता का सबसे बड़ा आधार उनमें काव्यत्व की व्यापकता एवं गम्भीरता—दोनों का उचित समन्वय होना है। जहाँ उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों एवं शैलियों को अपनाकर व्यापकता का परिचय दिया है, वहाँ जीवन के उदात्त आदर्शों एवं गम्भीर भावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा अपने दृष्टिकोण की गम्भीरता को भी प्रमाणित किया है। उनके काव्य में सौंदर्य

1. प्रस्तुत लेख का विषय प्रबन्ध काव्य होने के कारण तुलसीदास की अन्य रचनाओं का परिचय नहीं दिया गया है।

का चित्रण है, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है औदात्य की आकर्षक व्यंजना। काव्य की दृष्टि से उनकी समस्त धार्मिकता नैतिकता एवं दार्शनिकता का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में है कि ये सब उसमें औदात्य की प्रतिष्ठा एवं व्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी औदात्य को रस-सिद्धान्त की शब्दावली में प्रत्यक्ष आनन्द-स्वरूप शान्त रस के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

केशवदास की 'रामचन्द्रिका'— राम संबन्धी प्रबन्ध-काव्य की परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण रचना केशवदास मिश्र द्वारा रचित 'रामचन्द्रिका' है। इसका रचना-काल स्वयं कवि के उल्लेख के अनुसार १६५८ वि० या १६०१ ई० है। केशवदास राज्याश्रित शृङ्गारी कवि थे, अतः यह विषय उनकी रुचि के बहुत अनुकूल नहीं था फिर भी १७ वर्ष पूर्व तुलसी द्वारा रचित 'रामचरितमानस' की प्रसिद्धि ने सम्भवतः उन्हें इस ओर आकर्षित किया। केशवदास किसी का अनुसरण करनेवाले कवि नहीं थे, अतः उन्होंने अपनी रचना में तुलसी के आदर्श, शिल्प एवं रचना-शैली को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से वे तुलसी के अनुवर्ती या अनुकर्त्ता नहीं हैं अपितु उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपने सारे काव्य में तुलसीदास का कहीं उल्लेख न करके अपना सम्बन्ध सीधे वाल्मीकि से स्थापित किया है। कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वप्न में वाल्मीकि द्वारा दिये गये आदेश की चर्चा की है। पूरा ग्रन्थ केवल सात कांडों में नहीं, अपितु उन्तालीस प्रकाशों में विभक्त है। आरम्भ में गणेश, सरस्वती और राम की वन्दना की गयी है तथा अपने वंश, रचना-काल, काव्य-प्रयोजन आदि का निर्देश किया गया है। सारा ग्रन्थ दो भागों—पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध—में विभक्त है। प्रथम भाग में २० प्रकाश हैं जिनमें राम के बचपन से लेकर रावण-वध तक की घटनाएँ वर्णित हैं, जब कि द्वितीय भाग में राम-भरत-मिलाप, तिलकोत्सव, राम-राज्य-वर्णन, शम्बूक-वध, लवणासुर-वध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, राम-सीता मिलन आदि का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तरार्द्ध में राम के राज्य-वैभव एवं राजसी जीवन का चित्रण भी विस्तार से किया गया है। डा० विजयपाल सिंह के अध्ययन के अनुसार 'केशवदासजी ने पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।'

पूर्ववर्ती आलोचकों ने 'रामचन्द्रिका' पर अनेक आक्षेप आरोपित किये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) प्रबन्ध-पटुता एवं सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव में नहीं थी जिससे 'रामचन्द्रिका' अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों के संग्रह-सी जान पड़ती है। (२) कथा के मार्मिक एवं गम्भीर स्थलों की पहचान 'रामचन्द्रिका' के रचयिता को नहीं थी। वैसे स्थलों को या तो छोड़ गये हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर देते हैं। (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषता इसमें नहीं मिलती। इन आक्षेपों के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष है: "सारांश यह कि प्रबन्ध-काव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। परम्परा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना-तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाट-बाट तथा शृंगार और वीर रस) फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे। इसी से बहुत से वर्णन यों ही, बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गये हैं।

वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। रामचंद्रिका के लम्बे और चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाठ-बाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में ही विशेषतः लगता था।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि केशवदास को प्रबन्धत्व की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' में अधिक सफलता नहीं मिली है, तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आक्षेप सर्वथा यथार्थ हैं। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने केशव के दृष्टिकोण, लक्ष्य एवं वातावरण को समझने का प्रयास भी बहुत गम्भीरता से नहीं किया, अन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि केशवदास जिस लक्ष्य एवं वातावरण से प्रेरित थे, उसमें यही सम्भव था। जैसा कि डा० विजयपाल सिंह ने उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने शोध प्रबन्ध में स्पष्ट किया है, "केशवदास तुलसी की भाँति भक्त और धार्मिक कवि नहीं थे, अपितु दरबारी कवि थे, अतः दोनों को एक ही कसौटी से परखना उचित नहीं। केशव कोर्ट के कवि थे, भला कुटिया के पैमाने से कोर्ट को कैसे नापा जा सकता है? केशव के मार्मिक स्थल कोर्ट के थे और उनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। कुटिया और कोर्ट में सदैव से अन्तर चला आया है और सदैव रहेगा। अतः तुलसी के मापदण्ड द्वारा केशव की कटु आलोचना करना महान् कवि के साथ अन्याय करना है।"

सत्रहवीं शती के आरम्भिक कवियों में **प्राणचंद चौहान** का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने सन् १६१० ई० (१६६७ वि०) में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी। वस्तुतः यह नाटक न होकर पद्यबद्ध संवादों के रूप में रचित प्रबन्ध-काव्य ही है। उदाहरण के लिए इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—

भवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना।
देखै सब पै आहि न आँखो। अंधकार चोरी के साखी॥

इसी प्रकार हृदयराम भल्ला का 'हनुमन्नाटक' (१६२६ ई०) भी वस्तुतः नाटक न होकर १४ अंकों में विभक्त प्रबन्ध-काव्य ही है। इसका मूलाधार संस्कृत का 'हनुमन्नाटक' होने के कारण ही इसे यह संज्ञा दी गई है, अन्यथा कवि ने इसे दूसरा नाम 'रामचंद्र गीत' भी दिया है। श्री चन्द्रकान्त बाली ने अपने 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस काव्य का विस्तृत परिचय प्रस्तुत करते हुए इसके सम्बन्ध में अनेक नये तथ्यों पर प्रकाश डाला है। श्री बाली के अनुसार हृदयराम पंजाबी थे, तथा उनके 'हनुमन्नाटक' को गुरु गोविन्दसिंह सदा अपने पास रखते थे, इससे सिक्खों में भी इसका बड़ा सम्मान है। पूरा ग्रन्थ लगभग डेढ़ हजार छन्दों में समाप्त हुआ है। यद्यपि इसमें संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' की पूरी छाया ग्रहण की गई है, किन्तु यह मौलिकता से भी शून्य नहीं है। इसमें हनुमान का चरित नहीं, अपितु राम का जीवन-वृत्त जानकी स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक प्रस्तुत किया गया है, इस दृष्टि से इसे 'रामचन्द्र गीत' कहना ही अधिक उचित होगा।

हृदयराम के अतिरिक्त भी पंजाब के अनेक कवियों ने हिन्दी में राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, जिनमें कुछ ये हैं—(१) **गुरु गोविन्दसिंह** कृत 'रामाव-

तार (१७४५ वि०), (२) **सोढ़ी मिहरवान** कृत 'रामायण' (१७४० वि०), (३) **कृष्णलाल** कृत 'रामचरित' १८८४ वि०), (४) **गुलाबसिंह** कृत 'अध्यात्म रामायण' (१८४६ वि०), (५) **हरिसिंह** कृत 'अध्यात्म रामायण' (१९वीं शती), (६) **कीरतसिंह** कृत 'कीरत रामायण' (१९१७ वि०), (७) **संतोषसिंह** कृत 'वाल्मीकि रामायण' (१८९४ वि०), (८) **निहाल कवि** कृत 'रामचन्द्रोदय' (१९०२ वि०), (९) **रत्नहरि** कृत 'ललित ललाम' (१९१७ वि०), (१०) **वीरसिंह** कृत 'सुधासिंधु रामायण' (१९०९ वि०)।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में 'अद्भुत रामायण' संज्ञक अनेक रचनाएँ लिखी गई थीं, जिनके रचयिताओं **शिवप्रसाद** (रचना-काल १७७३ ई०), **बेनीराम** (१४वीं शती), **भवानीलाल** (१८०० ई०) और **नवलसिंह** (१८३४ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। इसमें सीता की एक काल्पनिक एवं अद्भुत कथा को प्रस्तुत किया गया है जिसमें रावण का वध राम के द्वारा न दिखाकर सीता के द्वारा दिखाया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से यह साधारण कोटि की रचना है।

सीता संबंधी काव्य—सीता या जानकी के विवाह, अपहरण आदि प्रसंगों को लेकर इस काल में अनेक प्रबन्ध काव्य लिखे गये जिनमें ये उपलब्ध हैं—(१) गोस्वामी **तुलसीदास** : 'जानकी मंगल' (१६वीं शती), (२) **कर्मण** : 'सीताहरण', (१५४८ ई०), (३) **मंडन** : जानकी जू को विवाह', (१६५९ ई०), (४) **प्रसिद्ध कवि** : जानकी विजय (१७५६ ई०) (५) **मून** : सीताराम विवाह; (१८०३ ई०), (६) **प्रियादास** महाराजा : 'सीता मंगल', (१८७१ ई०, (७) **नवलसिंह कायस्थ** : 'सीता स्वयंवर' (१८३१), (८) **बलदेवदास** : 'जानकी विजय', (१८३४ ई०)। वस्तुतः इस प्रकार के काव्यों की परम्परा का प्रवर्त्तन गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा 'रुक्मिणी मंगल','रुक्मिणी विवाह' जैसे कृष्ण सम्बन्धी काव्यों की प्रेरणा वा प्रतिद्वन्द्विता से हुआ। तुलसीदास ने अपने काव्य के लिये वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव आदि संस्कृत काव्यों को आधार बनाया, जबकि परवर्ती कवियों ने सामान्यतः तुलसीदास का ही अनुकरण किया है।

प्रमुख विशेषताएँ एवं महत्त्व

प्रस्तुत काव्य-परम्परा से सम्बद्ध बहु-संख्यक कवि धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओं एवं अनुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की। इस युग की कतिपय अन्य धर्माश्रित काव्य परम्पराओं की भाँति यह परम्परा किसी सम्प्रदाय विशेष के आश्रय में या किसी विशेष आचार्य के निर्देशन में पोषित एवं विकसित नहीं हुई अपितु विभिन्न कवियों ने स्वतन्त्र रूप में ही आत्म-प्रेरणा से काव्य-रचना की थी। इसी तथ्य की घोषणा गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' कहकर की है। संप्रदाय विशेष पर आश्रित न होने के कारण इन कवियों के दृष्टिकोण में साम्प्रदायिक संकीर्णता या कट्टर मतवादिता दृष्टिगोचर नहीं होती। इन्होंने धर्म के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में एकता एवं समन्वय स्थापित

करने का प्रयास किया है। दृष्टिकोण की इसी व्यापकता के कारण इनके काव्य की विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी पर्याप्त व्यापकता आ गई है। राम, कृष्ण, शिव आदि से लेकर जैन-मिश्र आदि विभिन्न धर्मों के महापुरुषों को इनके काव्य में स्थान मिला है। जनता की धार्मिक चित्तवृत्ति को जागृत रखने के लिए उन्होंने अवतारों, महापुरुषों एवं भक्तों के आदर्श चरित का गान श्रद्धापूर्ण शब्दों में किया है जिससे पाठकों के हृदय में सच्ची भक्ति का उद्बोधन होता है। इन्होंने भक्ति के नाम पर श्रद्धाशून्य रति भावना या कोरी रसिकता का प्रतिपादन नहीं किया, अपितु उसमें श्रद्धामिश्रित अनुरक्ति का चित्रण किया है, जिसे हम भक्ति का वास्तविक रूप मान सकते हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले विभिन्न कृत्रिम प्रयोगों, खण्डन-मण्डन एवं बाह्य-प्रदर्शनों से भी ये दूर हैं, इतना ही नहीं, उन्होंने धर्म के विभिन्न रूपों, उपासना के विभिन्न भेदों एवं भक्ति की विभिन्न पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इस समन्वयवादिता का सर्वोत्कृष्ट रूप इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास में देखा जा सकता है।

अब तक प्रायः यह भ्रान्ति प्रचलित रही है कि मध्यकाल में कृष्ण-भक्त कवियों ने गीति शैली का प्रयोग किया है तथा प्रबन्ध-शैली का प्रयोग केवल राम-भक्त कवियों द्वारा हुआ है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

प्रस्तुत काव्य-परम्परा में भावना की गम्भीरता एवं विविधता तथा शैली की बहुरूपता भी दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इनके काव्य का मूल भाव सामान्यतः भक्ति-भाव ही है, किन्तु इनके अन्तर्गत चरित-नायक की परिस्थिति के अनुरूप शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत आदि की भी व्यंजना सफल रूप से हुई है।

काव्य-रूप की दृष्टि से इस परम्परा के सभी काव्यों को 'प्रबन्ध' कहा जा सकता है, किन्तु इन सभी का रूप, विस्तार एवं विधान एक जैसा नहीं है। कुछ अत्यन्त संक्षिप्त हैं तो कुछ विस्तृत। कुछ में सर्ग पद्धति मिलती है तो कुछ में उसका अभाव है। छन्दों की दृष्टि से प्रारम्भ में दोहा-चौपाई शैली का प्रचलन अधिक रहा किन्तु आगे चलकर छन्द वैविध्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

वस्तुतः यह परम्परा ग्रंथों की संख्या, विषय-क्षेत्र की व्यापकता, भावनाओं की विविधता एवं शैली की बहुरूपता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। न केवल काव्य-संख्या एवं स्थूल परिमाण की दृष्टि से अपितु काव्य-स्तर की उच्चता एवं काव्य-संख्या सौष्ठव के विकास की दृष्टि से भी यह परम्परा कम महत्वपूर्ण नहीं है। तुलसीदास जैसा महाकवि इस काव्य-परम्परा के उच्च गौरव को सूचित करता है। इस परम्परा के कवियों ने धर्म और समाज के क्षेत्र में अपने व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण, महापुरुषों के आदर्श चरित एवं भक्ति के व्यापक रूप की स्थापना करके एक ओर धर्म-रक्षा, लोक-हित एवं समाज के उत्थान में योग दिया है, दूसरी ओर काव्य का उदात्त, उत्कृष्ट एवं लोक मंगलकारी रूप प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। अतः प्रत्येक दृष्टि से इस परम्परा का हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

: अट्ठाईस :

कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा : विकास और प्रवृत्तियाँ

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं—कुछ उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, कुछ अर्द्ध-ऐतिहासिक और कुछ कोरा काल्पनिक। कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्राइस्ट' से सिद्ध करते हुए उसे ईसाइयत से सम्बन्धित करना चाहते हैं, किन्तु यह मत कोरी कल्पना पर आधारित है। कृष्ण (आंगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१।११६, ७।१, ८।८५ आदि) में मिलता है, जिनके अनुसार ये एक स्तोता ऋषि सिद्ध होते हैं। ये अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं। आगे चलकर 'छांदोग्य उपनिषद्' में भी कृष्ण का उल्लेख देवकी के पुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में उपलब्ध होता है। महाभारत के प्रारम्भिक अंशों में कृष्ण पांडवों के सखा एवं प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में तथा अन्तिम अंशों में विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हुए है। 'सभा पर्व' में शिशुपाल के कुछ शब्दों के अतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोप-जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत, ब्रह्म-वैवर्त्त आदि में उनकी बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों व गोपजीवन सम्बन्धी क्रीड़ाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण की रास लीला एवं गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में निरूपण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष 'आराधिका' गोप-बाला का भी उल्लेख हुआ है, जो आगे ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधिका के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार वैदिक और संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते है—(१) ऋषि एवं धर्मोपदेशक का, (२) नीतिकुशल क्षत्रिय नरेश का और (३) बाल और किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की अलौकिक एवं लौकिक लीलाएँ दिखानेवाले अवतारी पुरुष का प्रथम रूप का पूर्ण विकास गीता में, दूसरे का महाभारत में और तीसरे का पुराणों में मिलता है। वस्तुतः कृष्ण के ये तीन रूप भागवत-धर्म की तीन अवस्थाओं के द्योतक हैं। प्रारम्भ में भागवत धर्म में सरल और पवित्र भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी,

जिसका प्रतिपादन छांदोग्य उपनिषद् एवं गीता के कृष्ण द्वारा हुआ है। महाभारत युग भागवत धर्म भावना-प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं था, अतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण होना स्वाभाविक है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्तित्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है, जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता रहा। पौराणिक युग में भागवत धर्म भी बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान आदि की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता व विलासिता सम्बन्धी तत्वों से परिपूर्ण हो गया जिससे कि वह जन-साधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। जैन एवं बौद्ध मतावलम्बियों ने अपने धार्मिक आख्यानों में प्रेमतत्व को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है, अतः उनकी प्रतिस्पर्धा मे गोपियों एवं कृष्ण के प्रणय सम्बन्धी इतिवृत्त की कल्पना हुई। डा० भण्डारकर गोपाल-कृष्ण को वासुदेव-कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डा० ए० डी० पुसाल्कर ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल में गोपियों के साथ सामूहिक नृत्यगानादि में भाग लिया था, जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। अतः मूलतः गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नहीं मिलता, जिससे उनकी सत्ता महाभारतीय कृष्ण या गीताकार कृष्ण से भिन्न मानी जाए।

कृष्णभक्ति का विकास

संभवतः महाभारत की सफल क्रान्ति के पश्चात् वासुदेव कृष्ण अपने जीवन काल में ही अपने समाज के लोगों के द्वारा पूजे जाने लगे थे। महाभारत में स्थान-स्थान पर युधिष्ठिर और अर्जुन किस प्रकार उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उच्च आदर्शों व धार्मिक विषयों पर उनसे परामर्श ग्रहण करते हैं, उससे सिद्ध हो जाता है कि कृष्ण का प्रभाव एक राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं, धर्मात्मा और तपस्वी के रूप में भी था। विभिन्न अवसरों पर वेदव्यास जैसे ऋषि भी कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरन्धर स्वीकार करते हैं। अस्तु, बीसवीं शताब्दी के महात्मा गांधी की भांति महाभारत के कृष्ण भी धर्म और राजनीति-दोनों का संचालन साथ-साथ करते हुए दिखाई पड़ते है, किन्तु महात्मा गांधी अति बौद्धिक युग में अवतरित होने के कारण कृष्ण की भांति अब तक अवतार घोषित नहीं हुए ; पर कौन जानता है, यदि अवतारवाद का प्रचलन रहा, तो पांच-सात सौ वर्ष बाद वे अवातरी पुरुषों की गणना में नहीं आ जाएँगे ?

महाभारत युद्ध सामान्यतः १४०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। महाभारत के पश्चात् ५-७ शताब्दियों तक कृष्ण की पूजा का प्रचार अधिक नहीं हो सका, किन्तु कुछ प्रदेशों एवं जातियों में अवश्य इसका प्रचलन रहा। चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में मथुरा के आस-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। आगे चलकर जब जैन और बौद्ध धर्म में क्रमशः महावीर और

: अट्ठाईस :

कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा : विकास और प्रवृत्तियाँ

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं—कुछ उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, कुछ अर्द्ध-ऐतिहासिक और कुछ कोरा काल्पनिक। कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्राइस्ट' से सिद्ध करते हुए उसे ईसाइयत से सम्बन्धित करना चाहते हैं, किन्तु यह मत कोरी कल्पना पर आधारित है। कृष्ण (आंगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१।११६, ७।१, ८।८५ आदि) में मिलता है, जिनके अनुसार ये एक स्तोता ऋषि सिद्धि होते हैं। ये अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं। आगे चलकर 'छांदोग्य उपनिषद्' में भी कृष्ण का उल्लेख देवकी के पुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में उपलब्ध होता है। महाभारत के प्रारम्भिक अंशों में कृष्ण पांडवों के सखा एवं प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में तथा अन्तिम अंशों में विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हुए है। 'सभा पर्व' में शिशुपाल के कुछ शब्दों के अतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोप-जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत, ब्रह्म-वैवर्त्त आदि में उनकी बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों व गोपजीवन सम्बन्धी क्रीड़ाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण की रास लीला एवं गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में निरूपण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष 'आराधिका' गोप-बाला का भी उल्लेख हुआ है, जो आगे ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधिका के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार वैदिक और संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते है—(१) ऋषि एवं धर्मोपदेशक का, (२) नीतिकुशल क्षत्रिय नरेश का और (३) बाल और किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की अलौकिक एवं लौकिक लीलाएँ दिखानेवाले अवतारी पुरुष का प्रथम रूप का पूर्ण विकास गीता में, दूसरे का महाभारत में और तीसरे का पुराणों में मिलता है। वस्तुतः कृष्ण के ये तीन रूप भागवत-धर्म की तीन अवस्थाओं के द्योतक है। प्रारम्भ में भागवत धर्म में सरल और पवित्र भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी,

जिसका प्रतिपादन छांदोग्य उपनिषद् एवं गीता के कृष्ण द्वारा हुआ है। महाभारत युग भागवत धर्म भावना-प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं था, अतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण होना स्वाभाविक है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्तित्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है, जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता रहा। पौराणिक युग में भागवत धर्म भी बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान आदि की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता व विलासिता सम्बन्धी तत्वों से परिपूर्ण हो गया जिससे कि वह जन-साधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। जैन एवं बौद्ध मतावलम्बियों ने अपने धार्मिक आख्यानों में प्रेमतत्व को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है, अतः उनकी प्रतिस्पर्धा में गोपियों एवं कृष्ण के प्रणय सम्बन्धी इतिवृत्त की कल्पना हुई। डा० भण्डारकर गोपाल-कृष्ण को वासुदेव-कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डा० ए० डी० पुसाल्कर ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल में गोपियों के साथ सामूहिक नृत्यगानादि में भाग लिया था, जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। अतः मूलतः गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नहीं मिलता, जिससे उनकी सत्ता महाभारतीय कृष्ण या गीताकार कृष्ण से भिन्न मानी जाए।

कृष्णभक्ति का विकास

संभवतः महाभारत की सफल क्रान्ति के पश्चात् वासुदेव कृष्ण अपने जीवन काल में ही अपने समाज के लोगों के द्वारा पूजे जाने लगे थे। महाभारत में स्थान-स्थान पर युधिष्ठिर और अर्जुन किस प्रकार उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उच्च आदर्शों व धार्मिक विषयों पर उनसे परामर्श ग्रहण करते हैं, उससे सिद्ध हो जाता है कि कृष्ण का प्रभाव एक राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं, धर्मात्मा और तपस्वी के रूप में भी था। विभिन्न अवसरों पर वेदव्यास जैसे ऋषि भी कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरन्धर स्वीकार करते हैं। अस्तु, बीसवीं शताब्दी के महात्मा गांधी की भाँति महाभारत के कृष्ण भी धर्म और राजनीति-दोनों का संचालन साथ-साथ करते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु महात्मा गांधी अति बौद्धिक युग में अवतरित होने के कारण कृष्ण की भाँति अब तक अवतार घोषित नहीं हुए ; पर कौन जानता है, यदि अवतारवाद का प्रचलन रहा, तो पाँच-सात सौ वर्ष बाद वे अवतारी पुरुषों की गणना में नहीं आ जाएँगे ?

महाभारत युद्ध सामान्यतः १४०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। महाभारत के पश्चात् ५-७ शताब्दियों तक कृष्ण की पूजा का प्रचार अधिक नहीं हो सका, किन्तु कुछ प्रदेशों एवं जातियों में अवश्य इसका प्रचलन रहा। चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में मथुरा के आस-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। आगे चलकर जब जैन और बौद्ध धर्म में क्रमशः महावीर और

गौतम बुद्ध के चरित्र को महत्व मिला, तो भागवत धर्म के प्रचारकों ने भी ,राम-कृष्ण जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को अलौकिक-शक्तिसंपन्न घोषित करते हुए उनकी उपासना एवं भक्ति का प्रसार किया। फिर भी मौर्य युग तक बौद्ध धर्म की लोक-प्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। किन्तु चौथी-पाँचवी शती में गुप्त वंशीय सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में भी कृष्ण-भक्ति का प्रचार जोरों से हो गया। यहाँ के प्रसिद्ध आलवार भक्तों में से अनेक कृष्ण के उपासक थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक स्वरूप प्रदान करने वाले भागवत पुराण की रचना भी दक्षिण भारत में होने की बात स्वीकार की जाती है।

आठवीं-नवीं शती में शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट के विचारों के प्रभाव से भक्ति-आन्दोलन अधिक तेजी से नहीं चल सका, किन्तु आगे चलकर रामानुज (११वीं शती), मध्व (११९६-१३०३) निम्बार्क (१२-१३वीं शती) बल्लभ (१४७६-१५३०), चैतन्य (१६वीं शती), हित-हरिवंश (१६वीं शती) आदि आचार्य एवं भक्त हुए, जिन्होंने भक्ति विरोधी सिद्धान्तों व वादों का खंडन करके भक्ति का प्रचार किया। बारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक इन आचार्यों के द्वारा विभिन्न सम्प्रदायो की भी स्थापना हुई, जिनमें कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित निम्बार्क संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय मुख्य हैं। हिन्दी में कृष्ण-भक्ति संबन्धी काव्य की रचना मुख्यतः वल्लभ संप्रदाय और राधा-वल्लभ के आश्रय में हुई, अतः इन दोनों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैतवाद तथा इसके भक्ति-मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य तेलगू प्रदेश के विष्णु स्वामी मतावलंबी भक्त लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १४७६ ई० में हुआ था। इन्होंने 'अणु भाष्य','जैमिनीय पूर्व मीमांसा-सूत्र भाष्य', 'सुबोधिनी' (भागवत पुराण पर भाष्य), 'तत्वदीप निबंध' और १६ लघुकाय प्रकरण ग्रंथों की रचना की, जिनमें शुद्धाद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। आपने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म, जीव और जगत् फलतः एक हैं; इन सभी में तीन तत्व व्याप्त हैं—सत्, चित् और आनन्द। किन्तु जहाँ ब्रह्म में ये तीनों तत्व जागृत रहते हैं, वहाँ जीव में दो ही तत्व - सत् और चित् तथा प्रकृति में केवल एक ही तत्व—सत्—जागृत रहता है, उनमें शेष तत्व निष्क्रिय या तिरोहित हो जाते हैं। अतः तात्विक दृष्टि से जड़-जगत् भी उतना ही सत्य है; जितना के ब्रह्म सत्य है, अन्तर केवल कुछ तत्वों के तिरोहित हो जाने मात्र का है। यदि किसी प्रकार इन सुपुप्त तत्वों को जगा लिया जाय तो उनमें और ब्रह्म में कोई अन्तर न रह जायगा। अस्तु, जहाँ शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार जगत् मिथ्या है, वहाँ शुद्धाद्वैतवाद ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार माया को शुद्धाद्वैतवाद में ब्रह्म की इच्छा शक्ति

माना गया है जो कि सृष्टि की रचना और उसका विस्तार करती है। जगत् के प्राणी अवश्य इस शक्ति के बंधन में बँधे हुए हैं, किन्तु स्वयं ब्रह्म इसमें नहीं लिप्त होता। जैसा कि ऊपर कहा गया, वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की जिस पद्धति को अपनाया गया है, वह 'पुष्टि' मार्ग कही जाती है। भागवत में 'पोषणं तदनुग्रहः' का उल्लेख एक स्थान पर हुआ है, इसी के आधार पर 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि भक्त का पोषण या विकास ईश्वर की अनुकम्पा से ही होता है, अतः हमें ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास रखना चाहिए। भगवान् जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही अवतार धारण करते हैं। उनका यह अनुग्रह भी उनकी एक लीला-मात्र है। सभी जीव ईश्वर के अनुग्रह या पोषण के अधिकारी नहीं बन सकते। आचार्यजी ने जीवों के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं—दैवी और आसुरी। दैवी जीव के भी दो भेद किए गए हैं—पुष्टि जीव और मर्यादा जीव। पुष्टि जीव ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास रखते हैं, जबकि मर्यादा जीव कर्म और ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। पुष्टि जीव ही ईश्वर की अनुकम्पा प्रेम-लक्षणा भक्ति के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः पुष्टि मार्ग में रागानुगा-भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ में बाल-कृष्ण की उपासना को प्रमुखता दी गई, किन्तु आगे चलकर माधुर्य भाव की प्रधानता के कारण बाल-कृष्ण के स्थान पर राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा हो गई।

वल्लभाचार्यजी ने अपने मत के प्रचार के लिए सन् १५०० ई० में ब्रज-प्रदेश में गोवर्द्धन पहाड़ी पर श्रीनाथजी की मूर्ति स्थापित की। आगे चलकर उन्नीस-बीस वर्ष पश्चात् एक श्रद्धालु भक्त की सहायता से यहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो गया तथा अधिकारी कृष्णदास, जैसे प्रबन्ध कुशल व्यक्ति को इसके प्रबन्ध का कार्य सौंप दिया गया; दूसरी ओर कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्द जैसे भक्त कवियों को लीला-गान के निमित्त आश्रय दिया गया। सं० १५८७ वि० में श्री वल्लभाचार्य-जी के तिरोधान के अनन्तर अधिकारी कृष्णदास ने मन्दिर की वैभव-वृद्धि में और भी चार चाँद लगा दिये। इसका समस्त वातावरण-ऐश्वर्य, रागिनी और साज-सज्जा से इस प्रकार अनुरंजित हो गया कि बड़े-बड़े धनपतियों की कोठियों का राग-रंग भी उसके समक्ष तुच्छ एवं फीका प्रतीत होने लगा। एक ओर ठाकुरजी के निमित्त आगरे की रूपवती वेश्या को आमंत्रित किया गया, दूसरी ओर रास विहारी जी को काम-कला और कोक का सम्यक् ज्ञान करवाने के उद्देश्य से नायिका भेद व शृङ्गार रस सम्बन्धी ग्रंथ, जैसे 'साहित्य लहरी'' 'रस मंजरी' 'शृङ्गार रस मण्डन' आदि रचित करने की प्रेरणा दी गई। एक ओर तो कृष्णदासजी जैसों ने अपने आपको कृष्ण का प्रतिनिधि घोषित किया, तो दूसरी ओर भक्त पुरुष और महिलाओं को गोप-गोपियों का अभिनय करने की शिक्षा दी गई, फलतः दिन में 'गो-चारण' और रात्रि में रास-लीलाओं का कार्यक्रम प्रतिदिन होने लगा। जब वल्लभाचार्यजी के उत्तराधिकारी श्री विट्ठलनाथजी ने रास-विहार के कुछ पात्र-पात्राओं के गुप्त सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखना आरम्भ किया, तो उन्हें भी निर्वासित कर दिया गया। अस्तु, पुष्टिमार्गीय-भक्ति का पुनीत दीपक अन्त में विलासिता का कज्जल उगलने लग गया, जिससे उसका भक्ति तत्त्व विकृत हो गया।

विहार करते हैं; किन्तु हिन्दी-काव्य में वे सर्वत्र एकोन्मुख दिखाई गई हैं। वस्तुतः कृष्ण के चरित्र की रूप रेखाओं में हिन्दी कवियों ने नया रंग भरकर उसे अधिक आकर्षक एवं मधुर वना दिया है। अपने युग एवं समाज के वातावरण के अनुसार इन कवियों ने अनेक नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की है जो रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते हैं।

(२) **भक्ति भावना**—यद्यपि हिन्दी में इस धारा के कवियों से भी पूर्व कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य कुछ कवियों द्वारा लिखा गया था, जिसमें विद्यापति उल्लेखनीय हैं, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभविक है कि हम कृष्ण-भक्ति काव्य धारा का आरम्भ विद्यापति से ही क्यों न मान लें? आधुनिक युग में प्रिय-प्रवास, द्वापर आदि काव्यों में कृष्ण-चरित का अंकन किया गया है, अतः यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस धारा के प्रवाह में इन आधुनिक कवियों को भी सम्मिलित करना कहाँ तक उचित होगा? वस्तुतः इन दोनों प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ने के लिए हमें इस काव्य की दूसरी सामान्य प्रवृत्ति—भक्ति भावना पर ध्यान देना आवश्यक होगा। भक्ति दो तत्त्वों—श्रद्धा और प्रेम के मिश्रण का नाम है। विद्यापति के दृष्टिकोण में प्रणय का स्फुरण तो है किन्तु श्रद्धा का उन्मेष नहीं मिलता, दूसरी ओर 'द्वापर', 'प्रिय-प्रवास' आदि के रचयिताओं में शुष्क श्रद्धा मात्र है, प्रेम नहीं; अतः इन दोनों ही कोटि के कवियों को हम कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं कर सकते।

कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए विभिन्न विद्वानों ने उसे रागानुगा, प्रेम-लक्षणा, वात्सल्य-भाव, माधुर्य-भाव आदि विशेषणों से युक्त किया है। यद्यपि स्वयं मध्यकालीन आचार्यों ने भक्ति के इस प्रकार के भेदोपभेद किए हैं, किन्तु हम इन सबको अनावश्यक एवं निरर्थक मानते हैं। भक्ति में प्रेम-तत्व की स्थिति अनिवार्य होती है, अन्यथा वह भक्ति न रहकर कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र रह जायगी, अतः इससे पूर्व 'रागानुगा' या 'प्रेमलक्षणा' जैसे विशेषणों का प्रयोग करना बिल्कुल अनावश्यक है। इसी प्रकार वैधी-भक्ति में भी प्रेम-तत्व आवश्यक रहता है तथा रागानुगा में विधि-विधानों का सर्वथा अभाव नहीं रहता। उदाहरण के लिए पुष्टि-मार्गीय भक्ति को ले सकते हैं। इसे 'रागानुगा' कहा जा सकता है किन्तु श्रीनाथजी के मन्दिर में इतने अधिक नित्य और नैमित्तिक आचारों व उत्सवों आदि का आयोजन होता है कि उसे 'विधि-रहित' कहना उचित नहीं। यदि वैधी का तात्पर्य लोक-मर्यादा को मानने से लिया जाय तो यह बात भी कृष्ण-भक्त कवियों में मिलती है। स्वयं आचार्य जी की गद्दी की प्राप्ति के लिए लौकिक नियमों का आश्रय लिया गया था, अतः हमारी समझमें रागानुगा और वैधी का भेद व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कृष्ण-भक्त कवियों में मीरा और सूरदास को छोड़कर शेष कवियों ने अपनी भक्ति-भावना की व्यंजना प्रत्यक्ष रूप में प्रायः नहीं की; एक भक्त की भाँति इन्होंने अपने आराध्य के प्रति सीधा आत्म-निवेदन बहुत कम किया है, वे प्रायः गोप-गोपियों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं की अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः वे अपने आराध्य की बाल-लीलाओं एवं रास-लीलाओं का अवलोकन करते हैं, किन्तु स्वयं उनमें सम्मिलित नहीं होते। कबीर जैसा अक्खड़ भी अपने रमैया की सेज का आनन्द लूटने में सफल हो

जाता है, पर ये कवि अपने छैल-बिहारी की क्रीड़ाओं के द्रष्टा मात्र ही बने रहते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। ये भक्त थे, प्रेमी नहीं। भक्त अपने आराध्य के चरणों का सामीप्य चाहता है, उसके अस्तित्व में अपने को विलीन नहीं कर देना चाहता; वह उसके दर्शनों का भूखा है, उसमें मिलकर एक हो जाने की अभिलाषा उसमें नहीं होती। रहस्यवादियों और भक्ति की मोक्ष सम्बन्धी धारणा में भी यह अन्तर मिलता है। रहस्यवादी आत्मा और परमात्मा की एकता को मोक्ष मानता है, जबकि भक्त गोलोक में सूक्ष्म शरीर धारणा करके नारायण के समीप स्थित रहना ही अपना चरम लक्ष्य—मोक्ष स्वीकार करता है।

सूरदास, कुम्भनदास, मीरा आदि प्रारम्भिक कवियों में भक्ति-भावना का जैसा उन्मेष मिलता है, वह परवर्ती कृष्ण-कवियों—कृष्णदास, नन्ददास—आदि में नहीं मिलता। नन्ददास में तो शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति इतनी अधिक मिलती है कि उससे उनकी भक्ति की प्रवृत्ति दब-सी गई है। वस्तुतः कृष्ण-मन्दिरों के विलासितापूर्ण वातावरण के प्रभाव से धीरे-धीरे भक्ति का स्थान शृङ्गार ने ले लिया और आगे चलकर वह पूर्णतः शृङ्गारिकता में परिवर्तित हो गई।

(३) वात्सल्य रस का चित्रण—पुष्टिमार्ग के प्रारम्भ में बाल-कृष्ण की उपासना का प्रचार था, अतः तत्सम्बन्धी कवियों का बाल-रूप का चित्रण करना स्वाभाविक था। इस क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता महाकवि सूरदास को मिली है। उन्होंने कृष्ण के रूप में बालक की विभिन्न चेष्टाओं व क्रियाओं का चित्रण तथा उनकी उक्तियों की व्यंजना सहज स्वाभाविक ढंग से की है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सो कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो।
× × ×
तू मोहिं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै॥
मोहन को मुख रिस समेत लखि, सुनि-सुनि जसुमति रीझै॥

या

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

इसी प्रकार सूरदासजी ने मातृ-हृदय की आशा-आकांक्षाओं आदि का उद्घाटन भी सफलतापूर्वक किया है। मातृ-हृदय की वेदना को जितनी गहराई से कवि सूर समझ सके हैं, उतना कोई और नहीं समझ सका। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो यशोदा देवकी को संदेश भेजती हैं—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मैया करत ही रहियो।
× × ×

माता यशोदा को आशंका है कि कहीं देवकी कृष्ण को पराया समझ कर उसकी उपेक्षा न करे, अतः वह अपने पुत्र-सुख के लिए अपने अधिकार को त्यागकर

धाय बनना भी स्वीकार कर लेती है। सच्चे स्नेह, वात्सल्य एवं प्रेम में अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) **शृंगार वर्णन**—कृष्ण और गोपियों के प्रेम-वर्णन के रूप में कृष्ण-भक्त कवियों ने पूर्ण स्वच्छन्दता से शृङ्गार रस का वर्णन किया है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम सौन्दर्य-जन्य है, जो धीरे-धीरे साहचर्य द्वारा विकसित होता है। वृन्दावन के सुन्दर मधुर प्राकृतिक वातावरण में उनको शृंगार-भावना के उद्दीपन की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में कृष्ण और गोपियों के बीच छेड़-छाड़ चलती रहती है :

तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायो मैया !

× × ×

तुम कमरी के ओढ़न हारे, पीताम्बर नहिं छाजत !
सूरदास कारे तन ऊपर कारी कमरी भ्राजत।

× × ×

सूर कहा ए हमको जानैं छाछहि बेचनहारी !

× × ×

यह जानत तुम नन्द महर-सुत।
धेनु दुहत तुमको हम देखति जबहि जात खरिकहिं उत।
चोरी करत रहो पुनि जानति घर-घर ढूंढत भांड़े ॥

यह प्रारम्भिक छेड़-छाड़ आगे चलकर गम्भीर प्रणय-वेदना का रूप धारण कर लेती है। प्रेम की विह्वलता एवं तन्मयता का चित्रण इस धारा के कवियों ने सफलतापूर्वक किया है। यद्यपि संयोग-पक्ष के वर्णन में कहीं-कहीं अश्लील दृश्यों का भी आयोजन किया गया है, किन्तु प्रायः इन्होंने प्रेमानुभूतियों की ही व्यंजना सूक्ष्म रूप में की है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम का अन्त निराशा एवं असफलता में होता है, अतः इनके काव्य में विरहोद्गारों की अभिव्यक्ति को भी पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त हुआ है। राधा और गोपियों द्वारा विभिन्न अवसर पर कही गई उक्तियों से उनके हृदय की गूढ़ वेदना का परिचय मिलता है—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र तें भारी, रहि कै पापी कहा कियो ॥
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसर तेहि न पियो !
मन सुधि गई संभारति नाहिंन, पूरो दांव अक्रूर दियो ॥
कछु न सुहाइ गई सुधि तब तें, भवन काज को नेम लियो !
निसि दिन रटत 'सूर' के प्रभु, बिनु मरिबो, तऊ न जात जियो !!

गोपियों की विरह वेदना की व्यंजना को भरपूर अवकाश 'भ्रमरगीत प्रसंग' या 'उद्धव-गोपी-संवाद प्रसंग में मिलता है। विशेषतः सूरदास ने इस प्रसंग के वर्णन

में जिस मार्मिकता का परिचय दिया है, वह अद्भुत है। गोपियों का एक-एक शब्द उनके हृदय की व्यथा, वेदना एवं पीड़ा को साकार रूप में प्रस्तुत कर देता है—

बटाऊ होहि न काके मीत।
संग रहत सिर मेलि ठगोरी, हरत अचानक चित्त !
× × ×
कहा परदेसी को पतिआरो ?
प्रीति बढ़ाय चले मधुबन को, बिछुरि दियो दुःख भारो !
× × ×
अखियाँ हरिदरसन की भूखी !
× × ×

संसार के सभी असफल प्रेमी-प्रेमिकाओं की भाँति गोपियाँ भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ॥
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो ॥
× × ×
हम जो प्रीत करी माधो सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनो नैनन नीर बह्यो ॥

इस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रेम की सभी अवस्थाओं एवं भाव-दशाओं का चित्रण सफलता पूर्वक किया है। यद्यपि अन्त में नायकराज की अति रसिकता के कारण गोपियों के प्रणय की परिणति सफलता में नहीं हो पाती, किन्तु रस-दशा के विकास में इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

(५) गीति-शैली—इस धारा के कवियों ने मुख्यतः गीति-शैली का प्रयोग किया है[1] विद्वानों के द्वारा गीति शैली के आवश्यक बताए गए पाँचों तत्व (१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिता, (४) संक्षिप्तता और (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। इन्होंने प्रत्येक पद में किसी एक भाव दशा-विशेष को लेकर उसका सूक्ष्म निरूपण किया है। संगीत की राग-रागनियों का प्रयोग भी प्रायः सभी कवियों ने किया है। यद्यपि राधा-कृष्ण की कहानी का वर्णन होने के कारण इनमें वैयक्तिकता के लिए विशेष क्षेत्र नहीं था; फिर भी उन्होंने प्रायः गोपियों की अनुभूति की व्यंजना उनके शब्दों में ही की है, अतः वैयक्तिकता की झलक भी उनके काव्य में मिलती है। आकार-प्रकार की दृष्टि से इनके गीत

१. अब यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है कि कृष्ण भक्त कवियों ने केवल गीति-शैली ही अपनाई है; वस्तुतः उनके द्वारा रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य भी उपलब्ध हुए हैं, यहाँ तक कि इन्होंने राम-भक्त कवियों से भी अधिक प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—लेखक के 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के अन्तर्गत पौराणिक प्रबन्ध काव्य-परम्परा' एवं पौराणिक गीति परम्परा : पृष्ठ २४४-३२०।

छोटे-बड़े हैं तथा उनकी भाषा अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, अतः गीतिकाव्य के अन्तिम दो तत्त्व भी इनके पदों में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः इनके गीति-पद गीति-शैली के आदर्श हैं।

(३) **व्रजभाषा के प्रयोग**—कृष्ण की जन्म-भूमि में प्रचलित भाषा के प्रति इन कवियों का अनुराग होना स्वाभाविक था। यद्यपि इनसे पूर्व साहित्य के क्षेत्र में व्रज-भाषा का प्रयोग वहुत ही कम हुआ था, फिर भी उन्होंने इसका निस्संकोच प्रयोग किया। सूरदास व नन्ददास जैसे प्रतिभाशाली कवि के हाथ में पड़कर व्रजभाषा चमक उठी, उसका शब्द-भंडार तत्सम एवं तद्भव शब्दों के द्वारा भर गया, मुहावरों के प्रयोग से उसमें व्यंजकता और प्रवाहशीलता के गुण आ गए। उनके हृदय की भाव-धारा में प्रवाहित होकर उसमें ऐसी कोमलता, स्निग्धना, सरलता व सरसता आ गई कि वह परवर्ती कवियों के लिए सर्वगुण-सम्पन्न हो गई। १६वीं शती के उत्तरार्ध में केवल वह व्रज की ही भाषा न रहकर समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा वन गई, जिसमें भक्त, शृङ्गारी और दरवारी—सभी प्रकार के कवियों ने काव्य रचना की। अकवर जैसे मुस्लिम सम्राटों के दरवार में भी इसने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यह तथ्य इस वात का द्योतक है कि विना किसी आन्दोलन के साहित्यकार किसी भाषा की प्रतिष्ठा में किस प्रकार अभिवृद्धि कर सकते हैं।

उपसंहार

कृष्ण-भक्ति धारा के उपर्युक्त पर्यालोचन से इसका महत्त्व स्पष्ट रूप में दृष्टि-गोचर होता है। इस धारा के कवियों ने सांसारिक वातावरण से दूर मन्दिर में रहते हुए निश्चित रूप से काव्य-साधना की। यह ठीक है कि मन्दिरों का वातावरण पर्याप्त दूपित हो चुका था, फिर भी दरवारी कवियों की भाँति उन्हें पद-पद पर आश्रयदाता को प्रसन्न करने की चिन्ता नहीं थी। इसी से वे कला की उदात्त साधना में प्रवृत्त रह सके। दूसरे, उनकी कविता का धर्म और दर्शन से सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कवीर और तुलसी की भाँति धार्मिक प्रचार, दार्शनिक गुत्थियाँ एवं शुष्क उपदेशों का प्रति-पादन नहीं मिलता। उसमें इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा भावात्मकता का ही प्राधान्य है। संगीत के माधुर्य ने उसकी सरसता में और भी अधिक अभिवृद्धि कर दी है उसमें तत्कालीन लोक-जीवन का प्रतिविम्व राधा-कृष्ण के लौकिक जीवन में मिलता है। उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों प्रौढ़ हैं तथा जनता के अल्पशिक्षित व सुशिक्षित —दोनों वर्ग उसका आस्वादन कर सकते हैं। किन्तु नैतिकता; मर्यादा एवं लोक-मङ्गल की उपेक्षा के कारण इस साहित्य का जनता के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इनके काव्य-दीपक से आगे चलकर अश्लील शृङ्गारिकता का कज्जल उत्पन्न हुआ। रीति तत्त्वों का समावेश भी सूरदास एवं नन्ददास जैसे कवियों ने अपने काव्य में किया है। अतः कहा जा सकता है कि परवर्ती रीतिकाल के प्रवर्तन में इन कवियों ने प्रत्यक्ष में गहरा योग दिया है।

: उन्नीस :

रीतिबद्ध काव्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

रीति-काव्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

'रीति' का सामान्य अर्थ 'विधि', 'प्रणाली' या 'परिपाटी' होता है, किन्तु साहित्य-शास्त्र में इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता रहा है। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा करते हुए इसे एक विशेष रचना-पद्धति से सम्बन्धित किया तथा इसका लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति करना माना। 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेने की स्थिति में उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है; उसकी परिधि में भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष सम्बन्धी सभी सौन्दर्योत्पादक साधनों का समावेश हो जाता है, किन्तु 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' के रचयिता ने इसे वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली जैसी तीन पद्धतियों तक ही सीमित कर दिया। हिन्दी के मध्य-कालीन आचार्यों एवं कवियों ने 'रीति' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए इसके अन्तर्गत रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सभी रचना-पद्धति-सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों को स्थान दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इसे इसी व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने अपना मन्तव्य कहीं स्पष्ट नहीं किया; अतः परवर्ती विद्वानों ने इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति', 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, संभवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है।" डॉ० नगेन्द्र एवं श्री विश्वनाथप्रसाद ने भी इसी प्रकार की व्याख्या करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का संक्षिप्त रूप बताया है। 'रीति' को काव्य-रीति' का ही संक्षिप्त रूप न मानकर—उसे 'रस-रीति' या 'प्रेमरीति' का संक्षिप्त क्यों नहीं का जा सकता? इन मध्यकालीय कवियों का मुख्य उद्देश्य, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है, अपने आश्रयदाताओं के हृदय में काम की पिचकारी छोड़ना था, उनकी रसिकता को उत्तेजित करते हुए उन्हें प्रेम की विभिन्न एवं शिष्ट सुसंस्कृत पद्धतियों से परिचित कराना था, अन्यथा वे केवल श्रृंगार-रस और नायिका-भेद को ही नहीं अपनाते, काव्य के सभी अंगों एवं उपांगों

का विवेचन करते। कुछ कवियों ने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी कर लिया है—

एक मित्र हम सों अस-गुन्यो।
मैं नायिका भेद नहिं सुन्यो।
जब लगि इनके भेद न जानें।
तब लग प्रेम तत्व न पहिचानें।
बिन जाने ये भेद, प्रेम न परचे पोय।
चरन हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय।

—रसमंजरी (नन्ददास)

सुरबानी यातें करी, नर बानी में ल्याय।
जाते मग रस रीति को, सब तें समझो जाय।

—सुन्दर शृंगार (सुन्दर कवि)

बाढ़ै रति मति अति, पढ़ै जानै सब रस रीति।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिक प्रिया की प्रीति।

—केशवदास (रसिक प्रिया)

उपर्युक्त अंशों के रेखांकित स्थल—प्रेमतत्व, रस-रीति आदि 'काव्य-कला' से नहीं 'काम-कला' से सम्बन्ध रखते हैं; 'रस' शब्द यहाँ रस-सिद्धान्त के लिए नहीं, अपितु 'रसिकता' के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः हमारे विचार से 'रीति' शब्द के अन्तर्गत—जहाँ तक मध्यकालीन काव्य का सम्बन्ध है—काव्य-रीति और रस-रीति दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य शुक्ल एवं परवर्ती विद्वानों ने इसे केवल प्रथम अर्थ में ही ग्रहण करके काव्य को सीमित कर दिया है।

अब 'काव्य-रीति' के अर्थ में 'काव्य-शास्त्र' जैसे व्यापक शब्द का प्रयोग होता है तथा 'रीति' शब्द केवल हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की उस परम्परा-विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, जो आचार्य शुक्ल के मतानुसार सं० १७०० में चिन्तामणि त्रिपाठी से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक अखण्ड रूप में चलती रही है तथा जिसमें लक्षणों एवं उनके उदाहरणों के रूप में काव्य रचना की गई है। अस्तु प्रचलित मतानुसार हम भी 'रीति-काव्य' रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए अपने विवेचन को उक्त परम्परा विशेष तक ही सीमित रखेंगे।

उद्गम-स्रोत एवं प्रेरक तत्व

रीति-काव्य के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय देने से पूर्व हमें उसके उद्गम-स्रोत एवं प्रेरक-तत्वों पर विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्यक्षेत्र में 'रीति-विवेचन' का कार्य भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से ही आरम्भ हो जाता है, किन्तु फिर भी प्रारम्भिक संस्कृत-युग में आचार्यत्व और कवित्व

के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न थे, जबकि उत्तरकालीन संस्कृत-युग में कवि अपने आपको आचार्य और आचार्य अपने आपको कवि रूप में प्रस्तुत करने लगे।

जहां जयदेव ने 'विलपति रोदति वामकगज्जा' जैसे संकेतों से अपने 'गीत-गोविन्द' को आचार्यत्व की उधार ली हुई पालिश से चमत्कृत किया, तो दूसरी ओर पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस गंगाधर' में काव्य-लक्षणों को स्वरचित उदाहरणों से सुसज्जित करके अपनी कवित्व शक्ति का परिचय देना आवश्यक समझा। अतः हिन्दी कवियों का पूर्ववर्ती संस्कृत के आचार्यों की अपेक्षा संस्कृत के परवर्ती विद्वान् कवियों का अनुकरण करना स्वाभाविक था। आचार्यत्व के स्वतन्त्र क्षेत्र का अस्तित्व समाप्त हो जाने का एक बड़ा भारी कारण मुस्लिम-साम्राज्य में संस्कृत-विद्याभ्यास को प्रश्रय न मिलना भी है, इससे विद्वत्ता के स्तर में गिरावट के साथ-साथ हमारी बौद्धिक प्रतिभा का ह्रास होने लगा। अब आचार्यत्व का लक्ष्य बने बनाये सिद्धान्तों को रट लेना मात्र ही रह गया। मौलिक दृष्टि से विवेचन करते हुए उनका संशोधन परिष्कार करना नहीं। जिस प्रकार अंग्रेजी का महत्त्व सर्वाधिक रहा, उसी प्रकार मुस्लिम राज्य में फारसी का। अस्तु, भारतीय विद्यार्थी न तो पूर्वजों के ज्ञान की धरोहर को ही भली प्रकार संभाले रखने के लिए संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर पाता था और न ही विधर्मी शासकों की कृपा-दृष्टि पाने के लिए सीखी जाने वाली अरबी-फारसी का पूरा आधिपत्य कर पाता था। ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता, निजी विचारों को आत्म विश्वासपूर्वक प्रकट करने की योग्यता एवं पुराने नियमों एवं सिद्धान्तों के विरोध के साहस का लुप्त हो जाना स्वाभाविक था।

प्राचीन हिन्दू संस्कृति में कला की अभिव्यक्ति धार्मिक जीवन के विभिन्न अंगों के रूप में होती थी, जैसे वास्तुकला की देवताओं के रूप में, मूर्ति एवं चित्रकला की ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के चित्रण में तथा संगीत व काव्य-कला की भक्तिपरक गीतों एवं लीलाओं के गायन के माध्यम से। अतः कला धर्म से भिन्न होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने में सफल नहीं हो सकी। हिन्दी के भक्ति-काल में भी कला को पराजित पृथ्वी-पतियों के दुर्गों की चार-दीवारी में से निकलकर मंदिरों की शरण में जाना पड़ा। किन्तु हमारे उत्तर-मध्य-युग (रीति युग) में पुनः परिस्थितियों व वातावरण में परिवर्तन उपस्थित हुआ। कुरान में कला को धार्मिक क्षेत्र से बहिष्कृत किया गया है, क्योंकि वह मूर्ति, चित्र, संगीत आदि के माध्यम से अनुकृति का विरोध करता है--अतः मुस्लिम शासकों की छत्र छाया में कला को धर्म-निरपेक्ष रूप में महत्त्व मिलने लगा, जिसका प्रभाव हमारे कवियों पर भी पड़ा। यह ठीक है कि इस युग का कवि भी अपनी पुरानी आदत के अनुसार कहीं-कहीं धर्म की ओट लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि उनके काव्य की मूल चेतना सौन्दर्योन्मुख ही है, धर्म या भक्ति की प्रेरणा का उन्मेष उनमें नहीं है। यही कारण है कि जो लोग भक्ति-भावना, जीवन-दर्शन, विचार-निधि एवं महत्त्वपूर्ण संदेशों की प्राप्त्याशा से इस काव्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें इससे निराश होना पड़ता है।

मुगल-काल के कला-प्रेमी शासकों ने हमारे प्राचीन कला-केन्द्रों को नष्ट तो कर दिया, किन्तु साथ ही उन्होंने सुदृढ़ राज्यों की स्थापना करके उस शान्त वातावरण को भी जन्म दिया, जिसमें हमारी काव्य-वल्लरी शशि-कला की भाँति द्रुतगति से पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होने लगी। उन्होंने अपने आश्रित कवियों की वैयक्तिकता का तो अपहरण किया, किन्तु साथ ही उन्हें सम्मान व ऐश्वर्य की विभूति भी प्रदान की, जिसकी मादकता से उन्मत्त होकर वे नैतिकता, धर्म व दर्शन आदि को भूलकर स्वकीयाओं एवं परकीयाओं के सौन्दर्य पर मँडराने लगे। यदि उन्हें तत्कालीन शासकों का वैसा निश्चित आश्रय प्राप्त न होता तो सम्भवतः वे विलासिता की वैसी धारा प्रवाहित न कर पाते, जो आज हमें देखने को मिलती है।

हमारी धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने भी रीति-काव्य के रचयिताओं की शृंगारिक प्रवृत्तियों के विकास में कम योग नहीं दिया। पुष्टिसंप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की जिस उपासना का प्रचार उत्साहपूर्वक किया था, अब वह उन्हीं के उत्तराधिकारियों द्वारा 'शृङ्गार रस-मंडन' से मंडित होकर माधुर्यभाव की साधना में परिणत हो चुकी थी। एक ओर कृष्ण के पार्श्व में राधा की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई; दूसरी ओर आराध्य के मनोरंजन के निमित्त आगरे की रूपवती वेश्या को आमंत्रित किया गया। अधिकारी कृष्णदासजी की कृपा से मंदिर में रासलीला के नये-नये संस्करण होने लगे तथा ठाकुरजी को 'काम-कला' व 'नायिका-भेद' आदि सिखाने के उद्देश्य से 'साहित्य-लहरी', 'रस-मंजरी', 'विरह-मंजरी' जैसे ग्रन्थों को रचने की प्रेरणा दी गई। 'परकीय-भाव' पर नैतिकता की छाप पहले ही लग चुकी थीं, अब नन्ददासजी जैसे रसिक भक्तों ने 'उपपति रस' की महत्ता प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता अनुभव की। भागवत पुराण आदि ग्रन्थों की कृपा से कृष्ण के स्वच्छन्द विहार की कहानियों का तो प्रचार बहुत कुछ हो ही चुका था, अब ऐसे-ऐसे सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई, जिन्होंने विलासिता में राम को भी कृष्ण से बढ़कर सिद्ध किया। अस्तु मंदिरों का वातावरण कामुकता और रसिकता की गंध से ओत-प्रोत हो गया, जिसके प्रभाव से समाज के प्रांगण में भी अनैतिकता एवं व्यभिचार का नग्न-नृत्य हो तो आश्चर्य ही क्या? भले घरों की बहू-बेटियाँ पास पड़ोस के युवकों से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने में या 'तन-मन-धन गोसाईं जी अर्पण' करने में किस प्रकार लीन हो गई थीं, इसकी झलक उस युग के साहित्य में स्थान स्थान पर देखने को मिलती है। प्रमाण-स्वरूप पड़ोसियों के घर की छत पर से या दीवार के छेद में से 'प्रेम' का आदान-प्रदान करने वाली अथवा मिश्रजी के मुख से परकीया-दोष का बखान सुनकर मुस्करा देने वाली बिहारी की नायिकाओं को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, रसिकता को उस युग में व्यक्तित्व का एक आवश्यक गुण समझा जाने लगा था तथा यौवन के दिनों में फिसल जाना एक साधारण बात समझी जाती थी। अतः इस युग के साहित्य में कामुकता, रसिकता एवं प्रणय की बाढ़ हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

प्रवर्त्तक कौन ?

रीति-काव्य का आरम्भ विक्रम की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में ही हो

माना है। सं० १५६८ वि० में कृपाराम ने 'हित-तरंगिणी' का निर्माण किया जो कि इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु इसके कुछ दोहों में बिहारी के दोहों से साम्य होने के कारण विद्वानों ने इसके रचना-काल को सन्देह की दृष्टि से देखा है। बिहारी में अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावापहरण की प्रवृत्ति मिलती है, उनकी सतसई के शताधिक दोहे 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुशतक' तथा केशव, बलभद्र मिश्र आदि पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों के आधार पर निर्मित हैं, अतः 'हित-तरंगिणी' के रचना काल पर सन्देह करना आवश्यक है। आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जिनमें रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। साहित्य-लहरी (१६०७-सूरदास कृत), नंददास कृत 'रस-मंजरी' (१६३७ वि०), गोपकृत 'अलंकार-चंद्रिका' (१६१५ वि०), मोहन का 'शृङ्गार-सागर' (१६१६ वि०), करणेश के 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण', 'भूपभूषण' आदि (१६३७ वि० लगभग), बलभद्र मिश्र का 'नख-शिख' (१६४० वि०) आदि। इन ग्रन्थों में रीति-काल सम्बन्धी अनेक विषयों—नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद निरूपण, अलंकार निरूपण आदि—का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उन सब में विषय और शैली की दृष्टि से सर्वत्र कोई एक व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। इस परम्परा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ रूप देने का श्रेय केशवदास को है, जिन्होंने रसिकप्रिया (१६४८ वि०) और 'कवि-प्रिया' (१६५८ वि०) में रीति-काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन प्रौढ़ता से किया है। अत: रीति-काव्य परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय कृपाराम तथा उसे व्यवस्थित प्रौढ़ रूप देने का यश केशवदास को मिलना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी (रचना-काल सं० १७०० वि०) को रीति-परम्परा का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पक्ष में तीन तर्क दिए हैं—(१) रीति ग्रन्थों का अविरल और अखण्डित प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला। (२) केशव अलंकारवादी थे, जबकि परवर्ती कवियों ने केशव से भिन्न आदर्श—रस-सिद्धान्त को अपनाया। (३) परवर्ती कवियों ने अलंकारों के निरूपण में केशव की शैली को न अपनाकर कुवलयानन्द की शैली—एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने की शैली—का प्रयोग किया। हमारे विचार से उपर्युक्त तीनों आक्षेप निराधार हैं। नवीनतम अनुसंधान से जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रीति-परम्परा केशव से चिन्तामणि तक अखंडित रूप से आगे बढ़ती रही है। वे ग्रन्थ हैं—रस-चन्द्रिका (बाल-कृष्ण—१६५७ वि०), अलक-शतक व तिल-शतक (मुबारक-कृत—१६७० वि०), रंग-भाव-माधुरी (रस-नायिका-भेद का ग्रन्थ- ब्रजपति भट्टकृत—१६८० वि०, नख-शिख (लीलाधर—१६७६ वि०,) सुन्दर-शृङ्गार (सुन्दरकृत रसनायिका-भेद का ग्रन्थ—१६८८ वि०), रहीम (१६१३-८३ वि०), कृत नगर-शोभा, बरवै नायिका-भेद और मदनाष्टक, फतेहप्रकाश (क्षेमराज—१६८५), सुधानिधि (तोष—१६९१), भाषा-भूषण (जसवंत-सिंह—१६९५), काव्य-प्रकाश और शृङ्गार मंजरी (चिन्तामणि १७०० वि०)। यह आश्चर्य की बात है कि सुन्दर शृङ्गार, बरवै नायिका-भेद और भाषा-भूषण की उपेक्षा करके रीति-परम्परा का आरम्भ चिन्तामणि के ग्रन्थों से माना जाय।

दूसरा तर्क कि केशव अलंकारवादी थे – यह भी भ्रामक है। केशव ने जहाँ 'कवि-प्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया है, वहाँ 'रसिक-प्रिया' में रस सिद्धान्त के सभी अंगों एवं भेदों का प्रतिपादन किया है। कवि रूप में भले ही केशव अलंकारवादी रहे हों, किन्तु जहाँ तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है, उन्होंने अलंकार और रस—दोनों का मान्यता दी है। कुछ लोग केशव को अलंकारवादी सिद्ध करने के लिए निम्नांकित छन्द उद्धृत करते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजइ कविता वनिता मित्त ॥

ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि यहाँ कवि अलंकारों को काव्य की आत्मा-प्राण घोषित नहीं करता है, अपितु उनका महत्त्व उतना ही स्वीकार करता है जितना कि 'वनिता' के लिए आभूषणों का है। यदि अलंकारों को आभूषणों तुल्य महत्त्व देने से ही किसी को अलंकारवादी घोषित किया जा सकता है तो फिर संस्कृत के साहित्यदर्पणकार से लेकर हिन्दी के चिन्तामणि, देव, श्रीपति,- भिखारीदास आदि प्रायः सभी रीति-बद्ध कवि अलंकारवादी सिद्ध होते है, क्योंकि प्रायः इन सभी ने अलंकारों का विवेचन करते हुए उन्हें 'भूषण' या 'आभूषण' के तुल्य महत्त्व दिया है; देखिए—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।

—साहित्य दर्पण

"शोभा को बढ़ाने वाले रस-भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं वे अंगद (आभूषण विशेष) की भाँति अलंकार कहलाते हैं।"

सगुन अलंकारन सहित, दोष-रहित जो कोइ।
शब्द अर्थ वारो कवित, विबुध कहत सब होइ ॥

—चिन्तामणि

शब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस-शरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर ॥

– देव (काव्य-रसायन)

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, वनिता कविता रूप ॥

-- श्रीपति (काव्य-सरोज-१०)

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध ॥

—सोमनाथ (रस-पीयूष निधि, तरंग-६)

"दासजी अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है. अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रंग तथा दोष कुरूपता के समान हैं।"

— हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० १३६

वस्तुतः प्रायः सभी रीति कवियों ने केशव की भाँति अलंकारों को आभूषणों की भाँति काव्य का शोभावर्द्धक उपकरण माना है।

केशव के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों दंडी आदि का अनुकरण किया, परवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि का अनुकरण नहीं किया, जबकि हिन्दी के रीति-कवि विश्वनाथ आदि के ही मार्ग पर चले। यह आक्षेप भी 'कवि-प्रिया' के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। 'रसिक-प्रिया' की अधिकांश सामग्री—रस-विवेचन, नायक के चार भेद, नायिका के तीन प्रमुख तथा अवान्तर भेद आदि – मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' एवं विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' पर आधारित हैं।

केशव के परवर्ती कवियों में से कुछ ने अलंकार-निरूपण में 'कुवलयानन्द' की पद्धति का प्रयोग किया है, जबकि कुछ ने केशव का अनुकरण करते हुए लक्षण और उदाहरण अलग-अलग छन्दों में दिये हैं। दूसरे वर्ग के कवियों में मतिराम (ललितललाम), भूषण (शिवराज भूषण), रघुनाथ (रसिक मोहन), दूलह, (कवि-कंठाभरण), ग्वाल (रसिकानन्द), प्रतापसाहि (अलंकार-चिन्तामणि) उल्लेखनीय हैं। वैसे तो सूक्ष्म-दृष्टि से प्रत्येक आचार्य के दृष्टिकोण, विवेचन एवं शैली में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलना स्वाभाविक है, किन्तु इसी से किसी को परम्परा से बाहर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केशव ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' में जिस ढाँचे को खड़ा किया तथा जिन विषयों का जिस पद्धति में विवेचन किया है, परवर्ती कवियों ने प्रायः कुछ अपवादों को छोड़कर उसी ढांचे, उसी पद्धति और उन्हीं विषयों को अपनाया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रीति-परम्परा के जन्म का श्रेय कृपाराम को तथा उसे विकसित करके पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य केशवदास को है।

आचार्य केशवदास से लेकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक इस काव्य-परम्परा में शताधिक कवि हुए हैं जिनमें चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम; कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, देव, सुरति मिश्र, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल, प्रतापसाहि आदि उल्लेखनीय हैं। इन सबके काव्य-ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं, केवल इनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना ही पर्याप्त होगा।

प्रवृत्तियाँ

रीतिबद्ध कवियों के काव्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं :—

(१) **आचार्यत्व या रीति-विवेचन**—रीति-काव्य में आचार्यत्व की प्रवृत्ति मुख्यतः दो कारणों से प्रेरित है। एक तो इसके रचयिता अपने आपको केवल कवि ही नहीं अपितु काव्य-शास्त्र का ज्ञाता भी—"काव्य की रीति सिखी सुकविन सों (भिखारीदास)"—सिद्ध करना चाहते थे। दूसरे, वे आश्रयदाता नरेशों व धनाढ्य लोगों को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देना चाहते थे, अतः उनका दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृत के रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों की जानकारी दिखाना मात्र था, मौलिकता का प्रदर्शन अपेक्षित नहीं था। यदि किसी ने जन्मजात प्रतिभा के कारण ऐसा करने का कुछ प्रयत्न भी किया तो उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता था—वताओ ऐसा संस्कृत में कहाँ लिखा है?' अस्तु, इन कवियों की विवेचना में मौलिकता को बहुत कम—लगभग नहीं के बराबर—प्रश्रय मिला।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी इन्होंने बहुत थोड़े विषयों को अपनाया। जैसा कि पीछे दी हुई सूची से ज्ञात होगा, इन्होंने मुख्यतः रस, नायिका-भेद एवं अलंकारों का ही विवेचन किया। बहुत थोड़े ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें काव्य की अन्य समस्याओं—काव्य का वर्गीकरण, काव्य-सम्बन्धी विभिन्न मानदंड, शब्द-शक्तियाँ आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। संस्कृत में नाटक, प्रबन्ध, कथा आदि काव्य-रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है किन्तु इन विषयों की हिन्दी के इन ग्रन्थों में उपेक्षा हुई है। जिन विषयों को लिया गया है उनके विवेचन में शुद्धता एवं स्पष्टता का प्रायः अभाव है। इस असफलता के कई कारण बताये जा सकते हैं जिनमें प्रमुख ये हैं - एक तो इन कवियों का उद्देश्य - जैसा कि पीछे संकेत किया गया है—आचार्यत्व नहीं अपितु आचार्यत्व का प्रदर्शनमात्र था। दूसरे उस समय का काव्य-क्षेत्र ही अत्यन्त संकुचित हो गया था, साहित्य के विभिन्न रूपों में से अनेक विलुप्त हो गये थे, अतः उनकी चर्चा करना अनावश्यक था। तीसरे, उनके लक्ष्य—पाठक या श्रोताओं—का स्तर भी बहुत उच्च कोटि का नहीं था, जिससे कि वे सूक्ष्म विवेचन में प्रवृत्त होते। और चौथे, उन्होंने गद्य का प्रयोग नहीं किया। फिर भी इन्होंने पूर्वजों की ज्ञान-राशि को किसी न किसी मात्रा में हिन्दी में सुरक्षित एवं प्रचारित रक्खा, अन्यथा संस्कृत से अनभिज्ञ जनता उससे सर्वथा वंचित हो जाती—अतः इसका श्रेय इन्हें अवश्य दिया जायगा।

(२) **शृंगार वर्णन**—जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"इन रीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।" वस्तुतः इन्होंने रीति-विवेचन के अन्तर्गत भी उन्हीं विषयों को अधिक विस्तार दिया, जिसका शृंगार रस से सम्बन्ध था। इनके द्वारा "इस रस का इतना अधिक विस्तार साहित्य में हुआ कि इसके एक-एक अंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गए।" यहाँ कुछ अंगों पर प्रकाश डाला जाता है।

आलम्बन का सौन्दर्य

शृंगार के अन्तर्गत इन्होंने मुख्यतः संयोग-पक्ष का एवं नायिका के सौन्दर्य का निरूपण किया। आलम्बन की मधुर छवि एवं उसकी सूक्ष्म चेष्टाओं के अंकन के लिए उन्होंने नख-शिख-वर्णन की परम्परागत शैली में थोड़ा संशोधन करके नई पद्धति का विकास किया। नख शिख-वर्णन-प्रणाली में नायिका के सभी स्थूल अंगों का क्रमशः वर्णन किया जाता था, जो रूढ़िबद्ध हो जाने के कारण अपना प्रभाव खो चुकी थी, अतः इन कवियों ने केवल कुछ अंगों को लेकर समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, जिसमें इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

उदाहरण के लिए एक छन्द देखिए—

कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै ऐसी अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये, नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरैसी निकाई॥

—मतिराम

कहीं-कहीं इन कवियों ने नायिका के सौन्दर्य की एक-एक विशेषता: पर ही पूरा छन्द लिख दिया है, किन्तु फिर भी उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती—

घाघरि झीन सों, सारी महीन सों, पीन नितम्बन भार उठै सचि।
बास सुवास सिंगार-सिंगारिन, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि।
स्वेद चलै, मुख चंद च्वै, डग द्वैक धरे मति फूलन सो पचि।
जात है पंकज वारि बयारि सों, या सुकुमारि की लंक लला लचि।

—भिखारीदास

यहाँ केवल 'सुकुमारता' का वर्णन किया गया है, यह भी अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु इससे उसकी मार्मिकता में कोई न्यूनता नहीं आई।

नायिका की चेष्टाएँ व अनुभूतियाँ

उनके अतिरिक्त रीति-कवियों के सौन्दर्य-चित्रण की एक बड़ी भारी विशेषता नायिका के हावों व अनुभावों का अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रण करना है। इसमें वे अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी आगे बढ़ गये हैं। नायिकाओं की हृदयस्थ भावनाओं एवं प्रिया के सान्निध्य से प्राप्त होनेवाली अनुभूतियों की व्यंजना भी इन्होंने अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक की है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

आपने हाथ सों देत महावर, आप ही बार संवारत नीके।
आपुन ही पहिरावत आनिकै हार सँवारि कै मौलिसरी के।
हौं सखि लाजन जात मरी, 'मतिराम' सुभाय कहा कहौं पी के।
लोग मिलै घर घेरे कहैं, अबई ते ए चेरे भए दुलही के।

—मतिराम

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिव्यक्त अनुभूतियाँ गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बन्ध रखती है—इन्होंने शृङ्गार-चित्रण के लिए प्राय: तत्कालीन दाम्पत्य एवं गार्हस्थ्य-जीवन से सामग्री ली है—किन्तु प्रेम की स्वच्छन्द अनुभूतियों का भी इनके काव्य में अभाव नहीं है। 'मैनशर' से पीड़ित होकर कहीं नव-वधू बाला को अर्द्ध निशा में किसी 'बटोही' को जगाते देखते हैं तो कहीं किसी निर्मोही को हृदय दे बैठने के कारण किसी तरुणी को निर्वेद से ग्रस्त पाते हैं—

घर ना सुहात, ना सुहात बन बाहर हूँ,
बाग न सुहात जे खुसाल खुसबोही सों।
× × ×
सांझ न सुहात, ना सुहात दिन मांझ कछू
व्यापी यह बात, सो बखानत हौं तोहीं सो
राति न सुहात न सुहात परभात आली
जबै मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

—पद्माकर

प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण

इनके श्रृंगार की परिधि की व्यापकता के अनुकूल ही इनके काव्य में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं व भाव-दशाओं का चित्रण हुआ है। मतिराम, देव और पद्माकर जैसे कवियों ने प्रेमोत्पत्ति से लेकर उनकी चरम-परिणति तक की प्रायः सभी अवस्थाओं को अनुभूतिपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। यथा—

मिलनाकांक्षा—

ऐरी इन नैनन नीर में अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी, चितचोर पै चलाइ आउ ?

—पद्माकर

प्रेमासक्ति—

मूरति जो मनमोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल को बोल सुने, छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीक झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं नैननि लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीनि फिरै फिरकी सी।

—देव

वस्तुतः उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ एक से एक अधिक स्वाभाविक, सरस और मार्मिक हैं। कुछ आलोचकों ने इनके विरह-वर्णन को ऊहात्मकता से ओत-प्रोत बताते हुए इन्हें इस क्षेत्र में असफल घोषित किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऊहात्मकता का प्रयत्न बिहारी जैसे चमत्कारी कवि में ही अधिक मिलता है। ध्यान रहे, हम बिहारी को रीति-सिद्ध कवि मानते हुए भी इस परम्परा में स्थान नहीं देते। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है। वैसे थोड़ी मात्रा में ऊहात्मकता रीतिबद्ध कवियों में भी आई है किन्तु वह प्रायः काव्य की सरसता को ठेस नहीं पहुँचाती, जैसा कि देव का निम्नांकित पद है—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलबेई की आस कै आसहु पास आकाश रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि।

यहाँ मृत्यु तक का चित्रण किया गया है जिसे हम सामान्यतः ऊहात्मकता की कोटि में रख सकते हैं, किन्तु फिर भी कवि ने इस स्वाभाविकता से सारे दृश्य को प्रस्तुत किया है कि वह बरबस ही हमारे हृदय में स्थान बना लेता है।

अस्तु, हम यह स्वीकार करते हुए भी कि रीति सीमाओं व आश्रयदाता के मनोरंजन के दृष्टिकोण के कारण इनके श्रृंगार-वर्णन में वह स्वच्छन्दता एवं सरसता नहीं आ सकी जो घनानन्द जैसे रीति-मुक्त कवियों में मिलती है, किन्तु फिर भी इसमें जितनी सरसता एवं मार्मिकता मिलती है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपनी सीमा में रहते हुए भी इन्होंने जो कुछ किया, वह नैतिकता की दृष्टि से न सही—कलात्मक दृष्टि से तो स्तुत्य है।

(३) भक्ति एवं वैराग्य का मिश्रण—रीति-काव्य में शृंगार-निरूपण के साथ-साथ भक्ति एवं वैराग्य-सम्बन्धी भावनाओं की भी विवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। भक्ति को तो हम पूर्ववर्ती युग का प्रभाव कह सकते हैं। एक तो उस युग का कवि ही नहीं, समाज का सामान्य व्यक्ति भी अपनी समस्त सत् एवं असत् वृत्तियों पर भक्ति का आवरण किसी न किसी रूप में डालकर चलना आवश्यक समझता था, दूसरे, शृंगार के नायक-नायिका के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा ने भी इनके काव्य में भक्ति के लिए क्षेत्र तैयार किया। कवि में भावुकता का गुण होना सहज स्वाभाविक है, अत: जब वे भक्ति सम्बन्धी छन्दों की रचना में प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ कहीं-कहीं 'सच्चे भक्त' का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इस तथ्य से अपरिचित विद्वानों ने विद्यापति, बिहारी और पद्माकर जैसे घोर शृंगारी कवियों तक को 'भक्त कवि' की संज्ञा दे डाली है।

वैराग्य की प्रवृत्ति को अतिशृंगारिकता की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण करना उचित होगा। जैसा कि डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने अपने शोध प्रबन्ध में स्पष्ट किया है—वृद्धावस्था में अशक्त होकर केशव, देव, पद्माकर आदि सभी प्रमुख कवि वैराग्य से ग्रसित दिखाई पड़ते हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। यहाँ पद्माकर के कुछ निर्वेदमूलक उद्गार द्रष्टव्य हैं—

जात जस डोलत सु याको बिसवास कहा, सांस बस बोलै मल मांस ही को गोला है।
कहै पद्माकर, विचार छन भंगुर सा, पानी को सो फेन जैसे फलक फफोला है।

× × ×

छोड़ हरि नाम नहिं पैहु बिसराम अरे, निपट निकाम तन चाम ही को चोला है।

(४) प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन—यद्यपि इस परम्परा के कवियों ने 'षट्-ऋतु' व 'बारहमासा' शीर्षक से अनेक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की, किंतु फिर भी यह आश्चर्य का विषय है कि उनमें प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में नहीं मिलता। इन काव्यों में प्रकृति एवं ऋतुओं को शृंगार रस की पृष्ठ-भूमि या शास्त्रीय परिभाषा में 'उद्दीपन' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के विभिन्न अंगों में से इनकी दृष्टि विशेषत: विभिन्न ऋतुओं के कामोद्दीपक वैभव पर ही पड़ी है। पावस के आर्द्र कोमल वातावरण के कारण नव-वयस्का 'गोरी' के सौन्दर्य के प्रभाव में कैसी तीक्ष्णता आ गई है, इसका वर्णन नीचे की पंक्तियों में देखिए—

ऐरी झरी बून्दन में बूंदन उठायो काम, मूंदे मुख प्यारी बनी गूंदे न बहरि कै।
कहै शिवनाथ झिल्ली गन गाजत है, सावन में बहै रस लहरी छहरि कै।
उन री सु कुंज, दुति दुनारी वृगन वाढ़ी, हुन री कहित खोर देन ही गहरि कै।
ऊन री घटा मैं गोरी, तू न री अटा पै बैठ, खून री करेंगी, लाल चूनरी पहरि कै।

—शिवनाथ

इसी प्रकार वसन्त का मादक वैभव नायक-नायिका के हृदय को रस-विह्वल कर देता है—

उमग्यो परत अनुराग बन बागनि में, राखि है सोहाग सोहागनि ह्वै कंत की
× × ×
या रितु सोहाइ में सोहाई न करो री कोई फिरत दोहाई 'देव' मैन मतिमंत की।
चाहति सुजान नंद लाल मधुकर मिल्यो नवला विमल नव जोवन वसन्त की।
—देव

सुखपूर्ण दिवसों में मानव हृदय को आह्लादित कर देनेवाली यही प्रकृति शोक-संतप्त प्राणी के लिए और भी अधिक संताप-वर्द्धक सिद्ध होती है। पावस की जो घटाएँ किसी युगल दम्पत्ति को अमृत वर्षा करती सी प्रतीत होती हैं, वे ही किसी विरहिणी अबला के लिए दु:सह शोक-व्यथा को जन्म देनेवाली बन जाती हैं—

साँझ के सलोने घन अंबुज सुरंगन सों,
कैसे कै अनंग अंग अंगनि सताउतो।
× × ×
काहु विरही की कही मानि लेती जो पै दई,
जग में दई ते दया सागर कहाउतो।
पावस बनायो तो न विरह बनाउतो,
जो विरह बनायो तो न पावस बनाउतो॥
—पद्माकर

आधुनिक युगीन वे आलोचक जो प्रकृति को उसके मूल रूप में देखने के अभ्यस्त हैं, सम्भवत: इस प्रकार के चित्रों से संतुष्ट नहीं होते। किन्तु यदि काव्य का उद्देश्य वस्तुओं को यथा-तथ्य रूप में प्रस्तुत करना न मानकर, उन्हें मानवीय अनुभूति के रंग में रंगकर चित्रित करना स्वीकार किया जाता है तो अवश्य ही हम प्रकृति के इस उद्दीपन रूप को भी प्रशंसा के योग्य समझते हैं।

(५) **आश्रयदाताओं की प्रशंसा**—इस काव्य की रचना मुख्यत: शासक वर्ग एवं सामन्त लोगों के आश्रय में हुई, अत: उनकी प्रशंसा की प्रवृत्ति का भी इसमें मिलना स्वाभाविक है। इस उद्देश्य की पूर्ति दो प्रकार से की गई है—(१) अपने ग्रन्थों का नामकरण आश्रयदाता के आधार पर करना, जैसे—भवानी-विलास, जगत्-विनोद आदि। (२) आश्रयदाता के जीवन-चरित्र को लेकर खण्डकाव्य की रचना करना—केशव (जहाँगीर जस-चन्द्रिका, रतनावली), पद्माकर (हिम्मत बहादुर विरदावली) आदि के ग्रन्थ। यद्यपि इस प्रकार के काव्य-प्रबन्धत्व की दृष्टि से सफल नहीं हैं, किन्तु इस प्रवृत्ति का एक लाभ अवश्य हुआ— ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक इतिवृत्ति को लेकर वीररसात्मक काव्यों की रचना हुई। कवियों की जो वाणी श्रृङ्गार रस की मंद-मंद स्वर-लहरियों को गुँजाने की ही अभ्यस्त थी, उसने रौद्र और वीर तुमुल घोष करने का भी साहस दिखाया।

(६) **मुक्तक शैली**— सामान्यत: इस परम्परा के काव्य-ग्रन्थों में मुक्तकशैली का ही प्रयोग किया गया है। यह विचारणीय है कि इससे पूर्व भक्ति युग में प्रबन्ध

एवं गीति-शैली का प्रचलन था, अतः इन कवियों ने उनका तिरस्कार करके मुक्तक को क्यों अपनाया ? इसका समाधान ढूंढ़ने के लिए हमें अकबरी दरबार पर दृष्टि डालनी होगी। प्रारम्भ में चारण-भाटों में मुक्तक शैली का प्रचार था, नरहरि बंदीजन जैसे भाट को अकबर के दरबार में प्रश्रय मिला। दूसरी ओर फारसी कविता की मुक्तक शैली का भी प्रभाव पड़ा। अतः हम देखते हैं कि अकबरी दरबार के अनेक प्रमुख हिन्दी कवि --नरहरि ब्रह्म, टोडरमल, रहीम, गंग आदि - रीति-बद्ध शृंगारी कवियों से पूर्व ही कवित्त-सवैयों की मुक्तक-शैली का प्रयोग करने लग गए थे; अतः केन्द्रीय सत्ता में इस शैली की प्रतिष्ठा हो जाने पर सम्बन्धित शासकों व नरेशों के यहाँ भी इसी को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था।

विभिन्न छन्दों से रीति-काव्य में कवित्त, सवैये, घनाक्षरी एवं दोहे को ही प्रमुखता मिली ! इन छन्दों के कारण भाषा के माधुर्य एवं स्वर-झंकृति में विकास हुआ। दोहे में अवश्य कवित्त-सवैयों की सी झंकार नहीं मिलती, किन्तु उसमें संक्षिप्तता एवं शब्द-लाघव का गुण मिलता है।

(७) **ब्रजभाषा का प्रयोग**—ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा साहित्य क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा ही हो चुकी थी, इन कवियों द्वारा उसका और भी अधिक विकास हुआ। लाक्षणिक प्रयोगों, स्वाभाविक अलंकरण, भावपक्ष की कोमलता एवं सरसता से युक्त होकर इस काव्य में ब्रज भाषा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उदित हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रीति-काव्य के रचयिता चाहे सफल आचार्य नहीं बन सके हों, किन्तु इन्होंने अपने दीर्घ भाषाभ्यास एवं उसकी सूक्ष्म जानकारी का परिचय अवश्य अपनी शैली की प्रौढ़ता के द्वारा दिया है।

अस्तु, उपर्युक्त, प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रीति-काव्य क्षेत्र की संकीर्णता, रूढ़ियों की परिधि एवं नियमों की शृङ्खलाओं में ही आबद्ध रहा, किन्तु इन परिस्थितियों में भी उसने जैसी सरसता, कोमलता एवं मार्मिकता प्राप्त की, वह कम महत्त्व की बात नहीं है। चाहे उन्होंने केवल शृङ्गार को ही लिया, किन्तु उसके विभिन्न अंगों का जैसा चित्रण उन्होंने किया, वह अन्यत्र सुलभ नहीं। उसकी दृष्टि चाहे नायिका-भेद तक ही सीमित रही, किन्तु उनकी जैसी सजीव एवं हाव-भावपूर्ण अनेकानेक मूर्तियां उन्होंने प्रस्तुत की हैं, वैसी किसी अन्य साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी में ये पहले कवि थे, जिन्होंने कला को शुद्ध कला के रूप में देखा, सौन्दर्य की साधना को ही अपने कर्त्तव्य का चरम लक्ष्य स्वीकार किया।

: तीस :

स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परम्परा

हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में एक नूतन काव्य-परम्परा का विकास हुआ जिसे 'रीतिमुक्त काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द प्रेम काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परम्परा' आदि नामों से पुकारा जाता है। इस परम्परा में मुख्यतः उन कवियों को स्थान दिया जाता है जिन्होंने मध्यकाल में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण वैयक्तिक रूप में तथा मुक्तक शैली में किया है। इन कवियों में से अनेक—आलम, घनानन्द, बोधा आदि—ऐसे भी थे, जिनका न केवल काव्य, अपितु जीवन भी स्वच्छन्द प्रेम की अनुभूतियों से ओत-प्रोत था। इन कवियों ने हिन्दू होते हुए भी मुस्लिम युवतियों से प्रणय सम्बन्ध स्थापित करके स्वच्छन्दवादिता का परिचय दिया था। स्वच्छन्द प्रेम की अन्य प्रवृत्तियाँ—जैसे, सौन्दर्यानुभूति, साहसिकता, विरह-वेदना आदि की प्रधानता—भी इनके व्यक्तिगत जीवन में दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इन कवियों का प्रारम्भ में राज्य-दरबारों से सम्बन्ध था, किन्तु प्रेम की प्रेरणा से इन्होंने अपने राज्याश्रय, समाज एवं धर्म तक को ठुकरा दिया, अतः इनका प्रेम कोरी रसिकता नहीं है, अपितु वह साहस, संघर्ष एवं त्याग की भावनाओं से अनुप्राणित है। दूसरे, इन्होंने प्रायः अपनी प्रेयसियों को अपने जीवन एवं काव्य में वही स्थान दिया है जो रोमांसिक कथा-काव्यों में उनकी नायिकाओं को प्राप्त है। इनमें, नारी का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य केवल विलासिता का साधन मात्र नहीं है, अपितु आराधना एवं साधना की ऐसी वस्तु है जिस पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। इसीलिए इनके प्रेम में भी एकोन्मुखता एवं भावना की गम्भीरता परिलक्षित होती है। तीसरे, इनके जीवन में विरह-वेदना की अधिकता होने के कारण उनमें प्रणय का अत्यन्त स्वच्छ परिष्कृत एवं उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है, जिसका मध्यकालीन काव्य में प्रायः अभाव है। वस्तुतः रोमांसिक प्रेम के जिस आदर्श रूप की प्रतिष्ठा इनसे पूर्व कथा-काव्य-रचयिताओं ने काल्पनिक आख्यानों के माध्यम से की थी, उसे इन्होंने अपने जीवन की वास्तविकता में परिणत कर दिया। सामाजिक दृष्टि से ऐसा किया जाना कहाँ तक उचित है, इसका यहाँ स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता, किन्तु जहाँ तक काव्यत्व का सम्बन्ध है, अवश्य ही इनका वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है।

यहाँ इन कवियों के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और दिया जा सकता है। हमने इन्हें 'लोकाश्रित' वर्ग में स्थान दिया है, जबकि इनमें से अनेक का राज्याश्रय से भी सम्बन्ध रहा है। किन्तु उनमें से कुछ ने तो अपने स्वच्छन्द प्रेम की प्रेरणा से राज्याश्रय का परित्याग कर दिया था, तो कुछ राज्याश्रय में रहते हुए भी उसकी ओर से निश्चिन्त रहे हैं; उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की रुचि एवं तुष्टि की अपेक्षा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया है। इस दृष्टि से उनका काव्य राज्याश्रित कवि की मनोवृतियों की अपेक्षा लोकाश्रित या आत्माश्रित स्वच्छन्द कवि की मनोवृत्तियों से अधिक ग्रस्त है, इसीलिए हमने इनके काव्य को लोकाश्रित वर्ग में रखना अधिक उचित समझा है। लोकाश्रित काव्य के भी दो भेद किए जा सकते हैं—(१) व्यक्ति-प्रधान (२) समाज-प्रधान। दोनों में क्रमशः वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। इस काव्य में वैयक्तिकता को न केवल सामाजिकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, अपितु उसे समाज विरोधी रूप में सामाजिकता का अतिक्रमण करनेवाले रूप में भी प्रस्तुत किया है; अतः इसे प्रथम वर्ग—व्यक्ति-प्रधान काव्य—में ही स्थान दिया जा सकता है। आगे इन कवियों का एवं उनके काव्य का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

कवि और काव्य

प्रस्तुत परम्परा में रचना काल की दृष्टि से सर्वप्रथम रसखान (१५५८-१६३३ ई०) को स्थान दिया जा सकता है। ये एक मुस्लिम सरदार थे किन्तु इनका मूल नाम ज्ञात नहीं है, कविता में ये 'रसखान' या 'रसखानि' उपनाम का प्रयोग करते थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'सुजान-रसखानि' एवं 'प्रेम वाटिका' उपलब्ध हैं। इन्होंने कृष्ण एवं गोपियों के स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण अत्यन्त मार्मिक रूप में किया है, साथ ही कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना की भी व्यंजना गम्भीर रूप में की है। उदाहरण के लिए इनके कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

(क) कृष्ण-गोपियों की प्रणय-भावना :

जा दिन ते वह नंद को छोहरो या वन धेनु चराइ गयो है।
मोहिनी ताननि गोधन गावत, वेनु बजाइ रिझाइ गयो है।
वा दिन सों कछु टोनो सो कै रसखानि हिये में समाइ गयो है
कोऊ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज वीर बिकाई गयो है।
उनहीं के सनेहन सानी रहैं, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनैं न औ बैन त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं संग डोलन में रसखानि सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं।

(ख) भक्ति-भावना

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिली कालिंदी कूल कदंब की डारन॥
वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं।
रसखानि जबै इन नैनन तें ब्रज के बन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिकहू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

वस्तुतः रसखानि ने अपने कवित्त-सवैयों में प्रेम के जिस सूक्ष्म भावात्मक रूप का चित्रण किया है, वह अपूर्व है। इनके प्रणय-चित्रण में कहीं भी शारीरिकता, नग्नता एवं अश्लीलता दिखाई नहीं पड़ती; सर्वत्र वह भावना के उदात्त एवं गम्भीर रूप को प्रस्तुत करते हैं। प्रेम का ऐसा शुद्ध, स्वच्छ, उदात्त एवं गम्भीर रूप हिन्दी के किसी अन्य कृष्ण-भक्त कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता। अवश्य ही प्रणयानुभूतियों की विशदता एवं गम्भीरता की दृष्टि से सूरदास इनसे आगे हैं तथा कृष्ण के जीवन चरित्र को भी उन्होंने अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया है, पर ऐन्द्रिकता, नग्नता एवं अश्लीलता की दृष्टि से उनका काव्य सर्वथा निर्दोष एवं आक्षेपमुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कृष्ण के प्रति अपने अनुराग की प्रत्यक्ष व्यंजना में भी रसखान, हिन्दी के सभी कृष्ण-भक्त कवियों में - केवल मीरां को छोड़कर -सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इन्हें कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के स्थान पर इस परम्परा में स्थान दिये जाने का कारण यह है कि इनमें धर्मपरक भक्ति-भावना की अपेक्षा सौन्दर्याकर्षण-जन्य प्रेम की स्वच्छन्दता अधिक दिखाई पड़ती है। उसमें सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण, सौन्दर्योन्मुखता, रूपासक्ति, विरह-वेदना आदि की अभिव्यक्ति लगभग उसी स्वर एवं उसी शैली में हुई है, जिसे इस परम्परा के परवर्ती कवियों ने स्वीकार किया। रसखान के काव्य का भावपक्ष जितना गम्भीर है, शैली-पक्ष भी उतना ही प्रौढ़ है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आलम—आलम नाम के अब तक दो कवि माने जाते रहे हैं, एक 'माधवानल कामकंदला' (प्रबन्ध-काव्य) के रचयिता एवं अन्य औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के आश्रित प्रस्तुत परम्परा के कवि; पर अब यह प्रमाणित हो गया है कि ये दोनों एक ही हैं। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए इनका रचना-काल सन् १५८३-१६२३ ई० निश्चित किया है।[१] इनकी रचनाओं में 'माधवानल-कामकंदला', 'सुदामा-चरित', 'श्याम स्नेही', 'आलम केलि' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम तीन प्रबन्ध-काव्य हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है, यहां इनका मुक्तक-संग्रह 'आलम-केलि' ही विचारणीय है।

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६२१

'आलम-केलि' में प्रस्तुत प्रणय-चित्रण को समझने के लिए इनके व्यक्तित्व एवं जीवन से सम्बन्धित एक विशेष घटना को ध्यान में रखना चाहिए। कहा जाता है कि ये पहले हिन्दू थे, किन्तु एक मुस्लिम युवती, जो कि रंगरेजिन श्री, की काव्य-कला पर मुग्ध होकर उससे विवाह तथा धर्म-परिवर्तन कर लिया था। इससे ज्ञात होता है कि इनमें कितनी अधिक भावुकता, रसिकता, कला-प्रियता एवं स्वच्छन्दता थी, जिसकी व्यंजना 'आलम-केलि' में भी मिलती है। कुछ आलोचकों का यह अनुमान है कि इस ग्रन्थ के बहुत-से छन्द जिन पर 'शेख' की छाप है, इनकी पत्नी के द्वारा रचित हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

'आलम-केलि' में संयोग एवं वियोग शृङ्गार की विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं एवं अनुभूतियों के साथ-साथ राधा-कृष्ण की लीलाओं का भी चित्रण यत्र-तत्र हुआ है। अतः कहा जाता है कि उनके स्वच्छन्द प्रेम पर उस युग के कृष्ण-भक्ति-काव्य का भी थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य था।

इनके काव्य में प्रेम के विभिन्न पक्षों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुआ है। इनकी वैयक्तिक प्रणय-गाथा सुखान्त में परिणत हो जाने के कारण इनकी विरह-वेदना में वह गम्भीरता नहीं आ सकी, जो इस परम्परा के अन्य कवियों में मिलती है तथा उनमें कहीं-कहीं कामुकता, अश्लीलता एवं नग्नता के भी दर्शन होते हैं, फिर भी उसमें पर्याप्त सरलता एवं प्रभावोत्पादकता है। यथा—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जे सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें।

उपर्युक्त पंक्तियों से आलम की काव्य-प्रतिभा, सरलता एवं उनकी शैली की प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। निःसन्देह उन्हें उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया जा सकता है।

घनानंद—हिन्दी में घनानंद या आनंदघन नाम के अनेक कवि मिलते हैं, जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विभिन्न इतिहासकारों ने घुला-मिला दिया है, जिससे अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई हैं! हमारे विचार से सुजान-प्रेमी घनानंद एवं भक्त कवि आनन्दघन दो भिन्न व्यक्ति हैं; दोनों की रचनाओं की मूल भावना एवं अभि-व्यंजना शैली में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। आनंदघन संभवतः चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित थे तथा उन्होंने भक्ति-भावपूर्ण पद लिखे हैं; यथा—

श्री चैतन्य दयानिधि धीर।
कलि-काल मलीन दीन जन पावन करन परम गंभीर।
पूरनचंद नंदनंदन को उदै सदा उमगनि की भीर।
बहु नाव चढ़ाय बहुत जन प्रेम मगन करि पाए तीर।
भाव तरंग अभंग विभंजित महामधुर रस रूप सरीर।

त्रिविध ताप में जरत जीव जे सीतल किये परसि नीर।
करुना दृष्टि-वृष्टि सों सींचे जय जय आनंद मुदीर॥

इस प्रकार के पद घनानन्द के न होकर आनन्दघन के ही हैं। अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण में भी ये आनन्दघन ही मारे गये थे, न कि घनानंद। इस सम्बन्ध में चाचा हित वृंदावनदास ने अपनी 'हरिकला बेलि' में लिखा है—

आनंदघन को ख्याल इक गायी खुलि गए नैन।
सुनत महा विह्वल भयो मन नहिं पायो चैन॥
ऐसे हू हरि-संत जन मारे जमननि आइ।
यह अति देख हियो भयो लीनो सोच दबाइ॥

यहाँ जिस हरि संत-जन आनन्दघन का उल्लेख किया है, वे भक्त आनन्दघन ही है, न कि स्वच्छन्द शृंगारी कवि घनानंद, जबकि भूल से यह मान लिया गया है कि घनानन्द की मृत्यु 'नादिरशाही' आक्रमण में हुई। अस्तु, इस विषय पर अभी और शोध की अपेक्षा है।

प्रस्तुत घनानन्द मुगल सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले (१८वीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध) के 'मीर मुंशी' थे। वे दरबार की एक वेश्या 'सुजान' पर आसक्त हो गये थे। इसी कारण इन्हें अन्त में दरबार छोड़ना पड़ा तथा ये जीवन भर सुजान के विरह में तड़पते रहे। सुजान का विरह ही इनकी समस्त कविताओं का प्रेरणा-स्रोत एवं विषय-वस्तु है। विरह की सच्ची प्रेरणा से काव्य-रचना करने के कारण इनके काव्य में एक ऐसी सहजता एवं स्वाभाविकता आ गई है, जो अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रेरणा की ओर संकेत करते हुए इन्होंने स्वयं भी लिखा है—
'लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत!'

घनानन्द ने सौन्दर्य, प्रेम और विरह का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म, मार्मिक एवं उत्कृष्ट रूप में किया है। उन्होंने अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य का अंकन करते समय अपनी परिष्कृत रुचि एवं सच्ची अनुभूति का परिचय दिया है यथा—

झलके अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल करे, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै॥

उपर्युक्त चित्रण कवि की विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि का परिणाम है जिसमें कामुकता का लवलेश भी नहीं! कवि के लिए किसी अंग-विशेष की पृथुलता या उन्नतता में आकर्षण नहीं है, उसे तो प्रिया के रोम-रोम में सौन्दर्य की तरंगें उठती हुई दिखाई दे रही हैं। इस युग के कतिपय अन्य कवियों—केशव, बिहारी, आदि—की भाँति इन्होंने नारी के समस्त नख-शिख को प्रस्तुत नहीं किया, अपितु उसकी चितवन, मुस्कराहट, लज्जा जैसे सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है।

घनानन्द के प्रेम में विरह की प्रधानता है; वस्तुतः उनका काव्य विरह-काव्य है। विरही हृदय की विभिन्न दशाओं एवं अनुभूतियों की व्यंजना इन्होंने अत्यन्त गंभीर एवं उदात्त रूप में की है। प्रणय-विभोर मन की कोई ऐसी वृत्ति नहीं है जिसका सहज-स्वाभाविक चित्रण घनानन्द के काव्य में अनुपलब्ध हो। प्रिया की स्मृति को आचार्यों ने प्रेम के एक संचारी के रूप में स्वीकार किया है। घनानन्द ने स्थान-स्थान पर इसका निरूपण अत्यन्त आकर्षक रूप में किया है, जैसे—

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि वहै
लड़कीली बानि आनि उर में अरति है !
वहै गति लैन और बजावनि ललित नैन,
वहै हँसि दैन हियरा तें न टरति है !
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छवि
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है !
आनन्द निधान प्राण प्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है !

यहाँ प्रिया की सूक्ष्म चेष्टाओं, उसके ललित हावों एवं मधुर व्यवहार की ही स्मृति का निदर्शन हुआ है, जो कवि की प्रणय-भावना के अनुरूप है। कालिदास के 'मेघदूत' का यक्ष जहाँ अपनी प्रिया के विभिन्न अंगों की स्थूलता एवं पृथुलता तथा उसके साथ व्यतीत की हुई संयोगकालीन रात्रियों की स्मृति में ही तल्लीन रहता है, वहाँ घनानन्द में ऐसा कहीं भी नहीं मिलता। उसकी भावना सर्वत्र कामुकता एवं रसिकता के स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई दिखाई पड़ती है।

विरह-वेदना की गम्भीरता का परिचय प्रिय को दिये गये उपालम्भों से भी मिलता है। घनानन्द के उपालम्भ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, यथा—

कित को ढरिगो वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन ढोरत है !
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सो आनि निहोरत है !!
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो, तब यों सब भाँतिन भोरत है !
मन-माँहि जो तोर नहीं, तो कहौ बिसवासी सनेह क्यों जोरत है !!

यही उपालम्भ कहीं-कहीं अत्यन्त दैन्यता, विकलता एवं प्रलाप में परिणत हो जाता है, जबकि विरही अपनी व्यथा को सह पाने में असमर्थ होकर कहने लगता है—

मीत सुजान अनीति करौ जिन, हा हा न हूजिये मोहि अमोही।
दीठि को और कहूँ नहिं ठौर, फिरि दृग रावरे रूप की दोही॥

× × ×

पहिले घनआनन्द सींचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय वियोग की लाय बलाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी॥
अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगैं, कौन घरी सु लगी।
मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी॥

× × ×

जो घनआनंद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहा प्राननि पीरों।
पाऊँ कहाँ हरिहाय तुम्हें, धरनी में धँसों कि अकासहि चीरों॥

प्रिय से मिलन की इस आतुरता का परिचय प्रिय को भेजे गए विभिन्न संदेशों से मिलता तो उसके प्रेम की सघनता का प्रमाण संदेश लेकर आनेवाले के प्रति दिखाई गई विशिष्ट कृतज्ञता, दैन्यता एवं आत्मीयता में ढूंढ़ा जा सकता है—

जहाँ तें पधारे मेरे नैननि ही पांव धारे,
वारे ये विचारे प्रान पैंड पैंड पै मनो।
आतुर न हो हु हा! हा! नेकु फेंट छोरि बैठो,
मोहि वा विसासी को है ब्योरो बुझिबो घनो।
हाय! निरदई को हमारी सुधि कैसे आई,
कौन विधि दीनों पाती दीन जानि कै मनो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि घनानन्द ने विरह-वेदना की व्यंजना अत्यन्त मर्म-स्पर्शी शब्दों में की है। उनकी उक्तियों में प्रणय की सच्ची अनुभूति, भावना की सच्ची प्रेरणा एवं वेदना की सच्ची आकुलता व्यक्त हुई है। इस क्षेत्र में घनानन्द की टक्कर का कोई अन्य कवि दिखाई नहीं पड़ता। विद्यापति में सौन्दर्य-लालसा एवं रूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अत्यन्त मनोरम शैली में हुई, किन्तु उसमें प्रेम की ऐसी गम्भीरता कहाँ! सूरदास की गोपियाँ भी विरह-वेदना से कम व्यथित नहीं हैं, किन्तु उनके सामूहिक रुदन में एकाकी प्रेमी की व्यथा का ऐसा मौन चीत्कार कहाँ! प्रेम दीवानी मीरा अपने साँवलिया के रंग में वेसुध है किन्तु वे इस बात को जानती हैं कि उनका मिलन आत्मिक स्तर पर ही सम्भव है, अत. उनकी पीड़ा पर अलौकिकता एवं आध्यात्मिकता का ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जो उसे अधिक चंचल नहीं होने देता। इनके अतिरिक्त नायिका-भेद की पुस्तकें पढ़कर जैसे तैसे शृङ्गार-निरूपण करनेवाले अन्य कवियों में तो इनकी समता ही क्या? वस्तुतः यदि इनकी तुलना किसी से हो सकती है तो इसी परम्परा के अन्य कवि रसखान बोधा से हो सकती है। किन्तु अनुभूति की गम्भीरता, अभिव्यंजना की सशक्तता एवं प्रभाव की तीक्ष्णता की दृष्टि से वे घनानन्द से थोड़े पीछे ही रह जाते हैं। हमारे विचार से यदि हिन्दी के समस्त शृङ्गारी कवियों में घनानन्द को शीर्ष-स्थान प्रदान कर दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। भावात्मकता के साथ-साथ शैली की प्रौढ़ता, सशक्तता, लाक्षणिकता, व्यंजकता आदि की दृष्टि से भी इनकी पंक्तियाँ ब्रज-भाषा काव्य के प्रौढ़तम रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मध्य-कालीन प्रबन्ध-काव्यों में जो स्थान तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का है, वही इस काल के मुक्तक काव्य में घनानन्द के कवित्त-सवैयों का है; उनके मुक्तक हिन्दी-मुक्तकों के सौन्दर्य की चरम सीमा का स्पर्श करते हैं, यह तथ्य है।

बोधा - बोधा का मूलनाम बुद्धिसेन बताया जाता है। ये पन्ना दरबार के आश्रित थे तथा 'सुभान' नामक वेश्या से प्रेम करते थे। यही इनके काव्य का आलंबन एवं प्रेरणा-स्रोत है। इनका रचना-काल १७७३-१८०३ ई० माना जाता है। इनके मुक्तकों में सौंदर्य, प्रेम और विरह का निरूपण अत्यन्त मार्मिक रूप में हुआ है, यथा—

(क) सौन्दर्यानुभूति :

एक सुभान के आनन्द पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

× × ×

जान मिलै तो जहान मिलै नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को।

(ख) प्रेम-पंथ की विकरालता :

अति छीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पांव दै आवनो है।
सुई · बेह के द्वार सके न तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है।
कवि बोधा मनी घनी नेजहु तें चढ़ि ता पै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥

(ग) विरहानुभूतियों की व्यंजना :

'कबहूँ मिलबो; कबहूँ मिलबो, यह धीरज ही में धरैबो करैं।
उर ते कढ़ि आवै, गरेतें फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करैं॥
कवि बोधा न चाँड़ सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करैं।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करैं॥

वस्तुतः भाव-पक्ष की गम्भीरता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बोधा पूर्णतः घनानन्द के लघु संस्करण प्रतीत होते हैं, किन्तु इनकी अभिव्यंजना-शैली में उनकी सी स्वच्छता, परिष्कृति एवं प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं होती। इन्होंने 'विरह-वारीश' नाम की एक रोमांसिक कथा भी लिखी, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। इनके मुक्तक-संग्रहों में 'विरही सुभान-दम्पत्ति विलास', 'इश्कनामा'' ''बारहमासा' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

ठाकुर—इस नाम के हिन्दी में अनेक कवि हुए हैं, किन्तु प्रस्तुत कवि का जन्म ओरछा में १७६६ ई० में हुआ था। इनकी कविताओं का एक संग्रह लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर-ठसक' नाम से प्रकाशित करवाया था। यद्यपि इस परम्परा के अन्य कवियों की भाँति ठाकुर के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में स्वच्छन्द प्रेम की कोई गाथा प्रचलित नहीं है, फिर भी वे अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इस परम्परा में आते हैं। उन्होंने अपने युग के शास्त्रबद्ध मुक्तककारों पर व्यंग करते हुए लिखा है—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस और प्रताप को कहानो है?
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।

× × ×

ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

यहाँ उन्होंने स्वच्छन्द एवं सहज काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति का समर्थन

अप्रत्यक्ष रूप में किया है, वहीं इनके काव्य में भी प्रत्यक्ष होता है। प्रणयानुभूतियों की व्यंजना इन्होंने अत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप में की है :

वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए, इतनी तो विसेष कैं जानति ह्वै है।

वस्तुतः इन्होंने प्रणयी हृदय की साधारण बातों को भी पूर्ण सहजता एवं सरसता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। यह दूसरी बात है कि वैयक्तिक विरहानुभूतियों के अभाव के कारण कविता में वेदना की वह गम्भीरता नहीं आने पाई, जो इस परम्परा में अन्यत्र मिलती है।

द्विजदेव—इस परम्परा के अन्तिम कवि अयोध्या के महाराज मानसिंह माने जाते हैं जो 'द्विजदेव' उपनाम से कविता करते थे। इन्होंने भी ठाकुर की प्रणय भावनाओं की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में की है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

तू जो कही, सखि ! लोनो सरूप
सो मो अँखियान कों लोनी गई लगि।
× × ×
एहो ब्रजराज ! मेरो प्रेमधन लूटिबे को,
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन !
× × ×
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवत समै मैं दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै मैं चल पवन दगा दई॥

इनके दो मुक्तक-संग्रह—'शृङ्गार-बत्तीसी' एवं 'शृंगार-लतिका'—प्रकाशित हैं। यद्यपि घनानन्द, बोधा की उच्चता एवं गम्भीरता इनमें नहीं मिलती, फिर भी इनके काव्य में सरसता अवश्य है। विशेषतः ऋतु-वर्णन के क्षेत्र में इन्होंने अपनी परम्परा के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक रुचि दिखाई है। जिसकी प्रशंसा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'ऋतु-वर्णन में इनके हृदय का उल्लास उमड़ पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतु-वर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिए मानो आपसे आप आगे बढ़ता था, इस कथन की यथार्थता निम्नांकित उद्धरणों में देखी जा सकती है :

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लता गन तान बितान सबै बिधि चित्त चुरायो करैं।

द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, वसन्त ! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥
घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घेरि,
छहरि छहरि विष बूंद बरसावे ना।
द्विजदेव की सौं अब चूके मत दाँव, ए रे
पातकी पपीहा ! तू पिया की धुनि गावे ना॥
× × ×
हौं तो बिन प्रान, प्रान चहत तज्योइ अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावे ना॥

उपर्युक्त अंशों में प्रकृति के वैभव, विभिन्न ऋतुओं के उन्मादक प्रभाव एवं उनकी विशिष्ट अनुभूतियों की व्यंजना भावानुरूप शैली में की गई है, जो कवि के प्रकृति प्रेम की परिचायक है।

द्विजदेव को इस परम्परा का अन्तिम कवि माना जाता है, यद्यपि इसका प्रभाव परवर्ती कवियों पर भी पाया जाता है; विशेषतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवित्त-सवैयों में इस परम्परा के स्वच्छन्द प्रेम की प्रतिध्वनि स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ती है, किन्तु काल-सीमा की दृष्टि से वे आधुनिक काल में आते हैं, अतः यहाँ इस परम्परा के कवियों की चर्चा समाप्त की जाती है।

प्रमुख विशेषताएँ

प्रस्तुत काव्य-परम्परा के विशिष्ट कवियों एवं उनसे काव्य के अध्ययन के आधार पर उनकी प्रमुख विशेषताओं का निर्देश यहाँ संक्षेप में किया जाता है।

(१) **प्रेरणा-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन**—प्रस्तुत परम्परा के कवियों ने सामान्यतः स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा से काव्य-रचना की है; इस क्षेत्र में उन्होंने किसी बाह्य निर्देश को स्वीकार नहीं किया है। घनानन्द ने उसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'लोग है लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।"

अर्थात् लोग लगकर या प्रयास करके कविता बनाते हैं, जब कि मुझे तो मेरी कविता (या कवित्त) बनाती है। कवि के कथन का आशय यह है कि वह कविता बनाने का प्रयास नहीं करता, अपितु अनुभूतियों की प्रेरणा से वह स्वतः ही कविता बनाने को विवश हो जाता है। यह परिस्थिति इस युग के शास्त्रीय मुक्तक रचयिताओं की स्थिति के प्रतिकूल पड़ती है। जहाँ वे केशवदास के शब्दों में कल्पना एवं चिन्तन के बल पर काव्य-रचना करते थे ('चरन धरत चिन्ता करत') वहाँ वे सहजानुभूति की प्रेरणा से अनायास ही भावाभिव्यक्ति में प्रवृत्त हो जाते थे। वस्तुतः इस परम्परा के कवि सहजानुभूति से प्रेरित काव्य को ही सच्चा मानते थे, चेष्टापूर्वक रचित काव्य का तो उन्होंने उपहास किया है; यथा—

सीखि लीनो मीन मृग, खंजन, कमल, नयन,
सीखि लीनो जस और प्रताप को कहानो है।
× × ×
मेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जानो है।

—ठाकुर

इससे स्पष्ट है कि कवियों ने सच्ची कविता के मर्म को समझकर सहजानुभूति एवं सच्ची प्रेरणा के महत्त्व को स्वीकार किया था तथा यही कारण है कि हम इनके काव्य में काव्येतर तत्त्वों के स्थान पर अनुभूति की प्रधानता पाते हैं।

(२) **स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता**· जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, इन कवियों के जीवन एवं काव्य में स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता की प्रधानता है। स्वछन्द प्रेम का अर्थ यह है कि इन्होंने विशुद्ध सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा से जाति, समाज एवं धर्म के बन्धनों की अवहेलना करते हुए ऐसी नायिकाओं से प्रणय-संबंध स्थापित किया था, जो अन्य जाति एवं धर्म से सम्बन्धित थीं। उदाहरण के लिए आलम, घनानन्द एवं बोधा मूलतः हिन्दू थे, किन्तु उनकी प्रेयसियाँ—क्रमशः शेख, सुजान, सुभान, मुस्लिम थीं। ऐसी स्थिति में इन्हें प्रेम के क्षेत्र में पर्याप्त साहस, संघर्ष एवं त्याग का परिचय देना पड़ा। मित्रों के उपहास, समाज के बहिष्कार, आश्रयदाताओं के विरोध को सहन करते हुए इन्होंने प्रेम के क्षेत्र में सत्यता, गम्भीरता एवं औदात्य का परिचय दिया। बोधा के शब्दों में वे अपनी प्रेयसी के लिए संसार के समस्त-वैभव को ठुकराने के लिए सहर्ष प्रस्तुत थे—

'एक सुभान के आनन पै, कुरबान जहाँ रूप जहाँ को।
जानि मिलै तो जहान मिलै, नहीं जान मिलै तो जहान कहाँ को।'

प्रेम की इसी अनन्यता के कारण इनके शृंगार-वर्णन में निम्न स्तर की कामुकता, छिछली रसिकता एवं बाह्य चेष्टाओं के स्थान पर प्रणय के स्वच्छ, गंभीर एवं वेदना-प्रधान रूप की व्यंजना मिलती है।

(३) **नारी-सौन्दर्य के प्रति आस्था**—इन कवियों ने नारी के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को आस्था की दृष्टि से देखते हुए उसका चित्रण अत्यन्त स्वच्छ, सूक्ष्म एवं उदात्त रूप में किया है। इन्होंने परम्परा के अनुसार नखशिख की स्थूल परिपाटी का निर्वाह करने के स्थान पर उनके सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है, यथा—

अंग अंग तरंग उठै, द्युति की, हरिहै मनो रूप अबै धर च्वै!
× × ×
छवि को सदन, गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मृदु मीठी मुसक्यानि में!'

—घनानन्द

वस्तुतः इन्होंने नारी के प्रति अत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण एवं अपनी परिपुष्ट रुचि एवं कलात्मक सौन्दर्य चेतना का प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो महत्त्वपूर्ण है।

(४) **विरह की प्रधानता** —इनमें से अधिकांश कवियों का प्रेमपूर्ण जीवन प्राय. प्रेयसी की मधुर स्मृति में ही व्यतीत हुआ था। सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण वे अपने जीवन में संयोग की घड़ियाँ प्राप्त करने में प्राय: असफल रहे। आलम ने अवश्य हिन्दू धर्म को त्यागकर अपने प्रेयसी शेख के सान्निध्य का सुख प्राप्त कर लिया था, किन्तु कतिपय अन्य कवियों पर यह बात लागू नहीं होती। यही कारण है कि उनके काव्य में विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक रूप में हुई है।

(५) **वैयक्तिकता**—हिन्दी काव्य में कदाचित् ये पहले कवि हैं, जिन्होंने लौकिक प्रेम की वैयक्तिक अनुभूतियों को निःसंकोच रूप में व्यक्त किया है। इन्होंने अपनी प्रेम-कहानी सुनाने के लिए न तो राधा-कृष्ण की भक्ति का आवरण उधार लिया और न ही किसी रत्नसेन या पद्मावती का आश्रय ग्रहण किया। दूसरे, यह भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं कि इन्होंने अपनी प्रेयसियों—सुजान या सुभान को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित करने का साहस किया। वस्तुतः इन कवियों की सी वैयक्तिकता आगे चलकर छायावादी एवं छायावादोत्तर कालीन कविताओं में ही मिलती है, हिन्दी काव्य में अत्यन्त इसका प्राय: अभाव है।

(६) **शैली** - इन कवियों ने अपने काव्य में प्राय: मुक्तक शैली में कवित्त-सवैयों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा प्रौढ़ ब्रज है जिसे उन्होंने नयी शक्ति और नया सौन्दर्य प्रदान किया है। घनानन्द जैसे कवियों ने अपने लाक्षणिक प्रयोगों एवं विरोधाभासों, विशेषणविपर्यय, मानवीकरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीक जैसे तत्त्वों के प्रयोग द्वारा उसकी अर्थ-शक्ति में अभिवृद्धि की। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्होंने कला-पक्ष की साज-सँवार के लिए प्रयास किया, अपितु यह समझना चाहिए कि भावों की सच्ची प्रेरणा एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार के कारण ही उनकी शैली में वक्रता एवं लाक्षणिकता सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया।

अस्तु, इस परम्परा का काव्य भावों की गम्भीरता, एवं शैली की प्रौढ़ता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अवश्य ही इन्होंने जीवन के लिए कोई महान् सन्देश प्रदान नहीं किया, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु जहाँ तक सौन्दर्य—विशुद्ध काव्य-सौन्दर्य - की बात है, ये कवि किसी से पीछे नहीं हैं। इन्होंने कला की साधना विशुद्ध कलात्मक प्रयोजनों से की थी तथा इस दृष्टि से इनकी उपलब्धियों का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। बौद्धिक तत्त्वों, शास्त्रीय ज्ञान एवं नैतिक आदर्शों में न इनकी रुचि थी और न ही इसकी इनसे आशा की जा सकती है। वस्तुतः इनके शब्द प्रेम-विवश हृदय के सच्चे उद्गार हैं, जिन्हें इसी रूप में ग्रहण करना उचित एवं संगत होगा।

: इकतीस :

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप और विकास

थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
तव कंकण किंकिणि से सहसा टकराकर,
फट पड़ी कल्पना शत सहस्र गायन में।
उस दुर्घटना से महाकाव्य कण-कण हो,
चरणों के आगे बिखर पड़ा है क्षण में।
थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
हा! कहाँ गई यह युद्ध कथा सपने सी।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनूदित)

साहित्य के विभिन्न रूपों में महाकाव्य का कितना महत्त्व है, यह विश्व-कवि रवीन्द्र की उपर्युक्त पंक्तियों से — जिनमें उन्होंने अपनी महाकाव्य रचने की आकांक्षा पूर्ण न होने पर, गहरा क्षोभ व्यक्त किया है—अनुमित किया जा सकता है। 'महाकाव्य' शब्द ही 'महत्' और 'काव्य' इन दो शब्दों के समास से व्युत्पन्न है। भारतीय साहित्य के काव्य के साथ 'महत्' विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि-कृत रामायण के उत्तर-काण्ड में मिलता है, जहाँ राम ने लव-कुश से प्रश्न किया था—

किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः॥

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महत् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? यहाँ 'कर्त्ता काव्यस्य महतः 'महाकाव्य' शब्द की ओर संकेत करता है। साथ ही इसमें महाकाव्य के तीन मूल लक्षणों की भी ध्वनि मिलती है—(१) आकार-प्रकार में बड़ा होना है। (२) उसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा का चित्रण किया जाता है। और (३) उसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्चकोटि का साधक कवि होता है।

भारतीय दृष्टिकोण

संस्कृत आचार्यों में महाकाव्य के स्वरूप की सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय आचार्य भामह को है, जिन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में बंध की दृष्टि से काव्य के पांच भेद किये हैं—१. सर्गबद्ध, नाटक, ३. आख्यायिका, ५. कथा और ५. अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य। सर्गबद्ध का ही दूसरा नाम महाकाव्य है। उनके मतानुसार इसमें किसी महान् विषय का निरूपण होना चाहिए। उनमें ग्राम्य शब्दों का परिहार, अर्थ का सौन्दर्य, अलंकारों का प्रयोग और सच्ची या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना आवश्यक है। उनमें राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का चित्रण होता है तथा अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। नाटक की पाँचों संधियों का आयोजन भी उसमें किया जाता है साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमें काव्यगत सौन्दर्य के साथ चार वर्गों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का निरूपण होता है, फिर भी प्रधानता अर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक-स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमें सभी रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण होता है। प्रारम्भ में नायक का कुल, शक्ति, प्रतिभा या विद्वत्ता के आधार पर उत्कर्ष दिखाकर अन्त में किसी अन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना अनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या अन्त में उसे सफल सिद्ध नहीं किया गया तो उसके प्रारम्भिक अभ्युदय का कोई महत्व नही है, अतः महाकाव्य के अन्त मे नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है। (काव्यालंकार—१।१८-२३)।

भामह के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, किन्तु उसमें अधिक मौलिकता नही मिलती है। प्रायः सभी ने भामह के ही लक्षणों का पिष्टपेषण किया है। दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश की ओर संकेत करने की नई बात कही है। आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अवश्य भामह की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए इसके लक्षणों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है—"जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-संधियाँ रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक-प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखने वाली होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें में कोई एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदीप, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत

षड्ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपान वर्णन होना चाहिए। इसका नामकरण कवि के नाम या चरित्र के नाम अथवा चरित्र-नायक के नाम के आधार पर होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है, जैसे भट्टि। सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नाम रखा जाता है। संधियों के अंग वहाँ यथासम्भव रखे जाने चाहिए। यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं है। जलक्रीड़ा, मधुपानादिक सांगोपांग होने चाहिए। महाकाव्य के उदाहरण जैसे 'रघुवंशादि' (साहित्य-दर्पण, अध्याय ६।३ १५—३२४) भामह और विश्वनाथ के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों की तुलना से स्पष्ट होगा कि परवर्ती आचार्य ने केवल संख्या-विस्तार कर दिया है, महाकाव्य की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टि-कोणों में विशेष अन्तर नहीं मिलता है। अस्तु, दोनों की व्याख्याओं का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) महाकाव्य की कथावस्तु का आधार व्यापक होता है जिससे उसमें जीवन, जगत् और प्रकृति के विभिन्न अंगों का विस्तृत रूप से चित्रण सम्भव हो सके।

(२) उसका नायक एक ऐसा आदर्श और महान् व्यक्ति होता है जिससे वह पाठकों की श्रद्धा प्राप्त कर सके तथा उन्हें कोई सन्देश दे सके।

(३) उसमें मानव-हृदय की सभी प्रमुख चित्त-वृत्तियों, भावनाओं आदि का चित्रण होना चाहिए।

(४) सारा कथानक सर्गों में विभाजित तथा संधियों से युक्त हो जिससे उसमें प्रबन्धत्व का गुण आ सके।

(५) उसकी शैली में काव्य-सौष्ठव व काव्य के सभी प्रमुख गुणों का विकास होना चाहिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य (Epic) को गौरवपूर्ण स्थान देते हुए उसके स्वरूप की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। प्रसिद्ध यूनानी आलोचक अरस्तू (Aristotle) ने अपने काव्य-शास्त्र (Poetics) में लिखा है कि "महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है : जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।" (काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास — डॉ० शकुन्तला दुबे; पृष्ठ ८३)

यद्यपि स्थूल दृष्टि से भारतीय तथा यूरोपीय महाकाव्य के लक्षणों में गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूल प्रकृति की दृष्टि से दोनों में गहरा अन्तर भी

है। भारतीय महाकवियों ने जहाँ जीवन को समष्टि रूप में ग्रहण करते हुए तथा मंगलमयी भावनाओं का प्राधान्य दर्शाते हुए महाकाव्य का अन्त सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् में किया है, वहाँ पाश्चात्य काव्य-रचयिताओं ने अपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति तक ही सीमित रखते हुए उनमें अनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाले दैवी क्लेशों में ही जीवन का पटाक्षेप किया है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता एवं समन्वयात्मकता की प्रधानता रही है। जबकि पाश्चात्य जीवन में भौतिकता, यथार्थवादिता एवं विश्लेषणात्मकता को प्रमुखता प्राप्त है, अतः इसी के अनुरूप उनके महाकाव्यों में अन्तर मिलना स्वाभाविक है। भारतीय महाकाव्यों में सत् की असत् पर विजय, पवित्र भावनाओं का विकास व नायक के उत्कर्ष तथा कथा की सुखमय परिणति पर बल दिया गया है, जबकि पाश्चात्य महाकाव्यों में इनसे विरोधी तत्त्वों का चित्रण मिलता है। पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता पर अधिक बल दिया गया है। पश्चिम में देवों को क्रूर माना गया है, जो मानव के उत्पीड़न से प्रसन्न होते हैं, भारतीय महाकाव्यों में उत्पीड़न केवल चरित्र की परीक्षा के लिए होता है, अकारण नहीं। अस्तु, यूरोपीय महाकाव्य की प्रकृति का पता महाकवि होमर के दिये गये इस सन्देश से भली-भाँति चल जाता है "निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है, उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में जियें और वे स्वयं (देवता) सदा आनन्द में रहें।"

आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक युग में महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षणों के सम्बन्ध में हमारे आलोचकों एवं कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्ववर्ती संस्कृत-आचार्यों के निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा करते हुए उसके केवल चार तत्त्वों को महत्त्व दिया है—(१) इतिवृत्त, (२) वस्तु-व्यापार वर्णन, (३) भावव्यंजना और (४) संवाद। शुक्लजी के विचारानुसार महाकाव्य का इतिवृत्त व्यापक होने के साथ-साथ सुसंगठित भी होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन होना चाहिए जो हमारी भावनाओं को तरंगित कर सकें। कवि की भावव्यंजना में हृदय को आन्दोलित कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। महाकाव्य के संवादों में रोचकता, नाटकीयता और औचित्य का गुण होना अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त संदेश की महानता और शैली की प्रौढ़ता भी महाकाव्य के दो आवश्यक तत्त्व हैं—यद्यपि शुक्लजी ने इनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा की गई विभिन्न महाकाव्यों की समीक्षा से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

शुक्लजी का महाकाव्य-सम्बन्धी मानदण्ड मुख्यतः तुलसीकृत 'रामचरितमानस' पर आधारित है, जो द्विवेदीयुगीन रचनाओं पर भी लागू हो जाता है किन्तु परवर्ती युगों के महाकाव्य के लिए उनका मानदण्ड उपयुक्त नहीं रहता। छायावादी युग की रचनाओं में कामायनी आदि ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें हम महाकाव्य के नवीनतम स्वरूप

के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में इतिवृत्त बिलकुल संक्षिप्त और सूक्ष्म मनोविश्लेषण एवं उनकी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यंजना की प्रमुखता है; बाह्य-संघर्ष के स्थान पर मानसिक संघर्ष का चित्रण है, तथा प्राचीन कथानकों के आधार पर वर्तमान युग की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए महान् संदेश दिया गया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल विशेषताओं एवं शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य का नवीनतम रूप अपने मूल रूप से बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। इसी को ध्यान में रख डॉ० नगेन्द्र ने महाकाव्य के देशकाल निरपेक्ष पाँच लक्षण प्रस्तुत किए हैं जो सर्वमान्य होने चाहिए —(१) उदात्त कथानक (२) उदात्त कार्य (३) उदात्त भाव (४) उदात्त चरित्र और (५) उदात्त शैली। किन्तु उसकी प्रकृति का मूल गुण महाकवि द्वारा महान्-पात्र या सन्देश को प्रस्फुटित करने वाली महान् काव्य रचना —अब भी उसमें सुरक्षित है।

संस्कृत के महाकाव्य

भारतीय महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ रामायण महाभारत से होता है, यद्यपि इनसे भी पूर्व कुछ महाकाव्य लिखे गए थे, जो अनुपलब्ध हैं। रामायण और महाभारत में पूर्ववर्ती कौन है, इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु हम प्राचीन धारणा को स्वीकार करते हुए रामायण को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। रामायण आदि-कवि वाल्मीकि की सुन्दर कृति है, जिसमें राम के चरित्र का गुणगान सात कांडों में किया गया है। इसमें प्रबन्धत्व का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है तथा इसकी शैली सरल किन्तु प्रौढ़ है। विद्वानों ने इसे करुण रस-प्रधान बताया है, किन्तु हमारे विचार से ऐसा मानना उचित नहीं। यह ठीक है कि इसके नायक राम के जीवन में अनेक दुःखद परिस्थितियों एवं घटनाओं का संयोग होता है, किन्तु राम उनके समक्ष पराजित, दुःखी या निराश दिखाई नहीं पड़ते। उनमें सर्वत्र अपने प्राचीन आदर्शों की रक्षा का, मर्यादाओं के पालन का तथा विपक्षियों के संहार का उत्साह दिखाई देता है। राम पाठक की दया के आलम्बन नहीं, अपितु उसकी श्रद्धा के पात्र बनते हैं। इस प्रकार हमें कर्तव्य-पालन की प्रेरणा मिलती है—परिस्थितियों के आगे नत-मस्तक होकर भाग्य के क्रूर विधान को स्वीकार कर लेने की नहीं; अतः इस काव्य का प्रधान रस वीर है, करुण नहीं। वैसे अन्य रसों की आयोजना भी इसमें अंगी रूप में हुई है।

महाभारत आकार-प्रकार की दृष्टि से रामायण की अपेक्षा बहुत विस्तृत है तथा यह अठारह पर्वों में विभक्त है। इसकी मुख्य कथा में कौरव और पाण्डवों के संघर्ष का चित्रण है; किन्तु प्रासंगिक रूप में कृष्ण के भी जीवन-चरित्र का वर्णन हुआ है। इसका प्रारम्भ वीर रस के साथ हुआ है, किन्तु अन्त शान्त में होता है। इसके विभिन्न पर्वों में अनेक उपाख्यानों का संग्रह किया गया है, जिनमें 'नल-दमयन्ती', '[illegible]' आदि के उपाख्यान शृंगार रस से ओत-प्रोत हैं। रामायण की-सी

सुसम्बद्धता इसमें नहीं मिलती। यद्यपि कला की दृष्टि से रामायण और महाभारत प्रारम्भिक काव्य ही हैं, किन्तु परवर्ती साहित्य को इन्होंने जिस मात्रा में प्रभावित किया, उतना किसी अन्य रचना ने नहीं किया।

आगे चलकर संस्कृत में अनेक महाकाव्य लिखे गए जिनमें अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित', कालिदास के 'कुमार-सम्भव' और 'रघुवंश', भारवि का 'किरातर्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध' श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' उल्लेखनीय हैं। इन महाकाव्यों में वे प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनके आधार पर विभिन्न आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं। अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में रस-सृष्टि के निमित्त भाव-व्यंजना को प्रमुखता प्राप्त है, जब कि परवर्तीयुगीन रचनाओं में आलंकारिकता और ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है। कथानक की जैसी रोचकता, सुसम्बद्धता एवं प्रबन्धत्व का जैसा निर्वाह वाल्मीकिकृत रामायण में मिलता है, उसका इन महाकाव्यों में अभाव है। कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक संस्कृत के सभी महाकवियों को कथावस्तु की कोई चिन्ता नहीं है; उसे अपने भाग्य पर छोड़कर ये धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। जहाँ अश्वघोष और कालिदास प्रत्येक चरण पर सूक्ष्म भावानुभूतियों की व्यंजना में तल्लीन हो जाते हैं, वहाँ भारवि, माघ और श्रीहर्ष प्रत्येक पंक्ति में अलंकारों की झड़ी लगा देते हैं, वस्तुतः संस्कृत के परवर्ती महाकवियों का ध्यान विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली के चमत्कार की ओर अधिक है और यही कारण है कि उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों, पात्रों के सहज-स्वभाविक रूप और वास्तविक घटनाओं का चित्रण नहीं मिलता है।

प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश में महाकाव्य-परम्परा और आगे बढ़ी। प्राकृत के महाकाव्यों में 'रावण वही' (रावण वध), 'लीलावइ' (लीलावती), सिरिचिन्हकव्वं (श्रीचिन्ह काव्य), उभाणिरुद्ध (उषानिरुद्ध), कंस वही (कंस वध) आदि उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा भी उच्च कोटि के महाकाव्य लिखे गए जिनमें कुछ ये हैं—(स्वयंभू ८वीं शती ई०) के 'पद्मचरित' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' में क्रमशः रामायण और महाभारत से कथानक ग्रहण किया गया है। पुष्पदंत (१०वीं शती ई०) ने 'महापुराण','नागकुमार चरित', 'यशोधरा चरित' में अनेक जैनधर्मानुयायी महापुरुषों के चरित्र का गान किया है। आगे चलकर पद्मकीर्ति, धनपाल, वीर, नयनन्दि, कनकामर मुनि आदि ने भी पुष्पदन्त का अनुकरण करते हुए अनेक चरितकाव्य लिखे, जिनमें से कुछ में महाकाव्य की संज्ञा से भूषित होने की क्षमता है। प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य मुख्यतः धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित है। उनका लक्ष्य जन साधारण की श्रद्धा को अपने तीर्थंकरों व पौराणिक पात्रों की ओर उन्मुख करना है। अतः उनमें कथानक की रोचकता, पात्रों का औदात्य, साम्प्रदायिक शिक्षणों का प्रचार और शैली की सरलता मिलती है! ये महाकाव्य ,संघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों की

भाँति कोरे विद्वानों के मनन की ही वस्तु नहीं हैं, साधारण शिक्षित व्यक्ति भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

हिन्दी के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश की महाकाव्य परम्परा हिन्दी में और भी अधिक पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुई। हमारे कुछ विद्वानों की मान्यता है—'हिन्दी में यद्यपि लम्बे आकार के अनेक सर्गबद्ध काव्य-ग्रंथों की रचना हुई, किन्तु उनमें से केवल कुछ को ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थ में तो महाकाव्य का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। वास्तव में हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण विकास-काल में महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव रहा है।' वस्तुतः यह धारणा कुछ निजी भ्रांतियों पर आधारित है, अन्यथा जिस काल में महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गोविन्दसिंह, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ, उसे महाकाव्य की रचना के अनुपयुक्त बताना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि शुष्क निराशावादी दृष्टिकोण को लेकर न चला जाय तो हिन्दी में हमें अनेक महाकाव्य—पद्मावत, रामचरितमानस, कामायनी, कुरुक्षेत्र आदि दृष्टिगोचर होंगे, जिन पर किसी भाषा का साहित्य गर्व कर सकता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल, आदिकाल या वीरगाथा काल का तो अस्तित्व ही संदिग्ध है। इस युग में रचित मानी जानेवाली रचनाओं में अधिकांश अप्रामाणिक या परवर्ती हैं। इसी कोटि की रचनाओं में 'पृथ्वीराज रासो' भी एक है, जो महाकाव्य की सी महत्ता से सम्पन्न है। इस ग्रंथ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन में पूर्णतः उद्भासित भी न हो पाया था कि कुछ इतिहासकारों की क्रूर दृष्टि इस पर पड़ गई फलतः यह ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता व स्वाभाविकता आदि ग्रहों की काली छाया से आवृत्त होकर आभा-शून्य हो गया। यदि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से देखें तो किसी भी रचना का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह किस युग में किस कवि के द्वारा रची गई, अपितु उसकी भावनाओं को तरंगित करने की शक्ति, उसमें निहित काव्य-गुणों की व्यापकता तथा उसकी शैली की प्रौढ़ता में है। यदि 'रामचरितमानस' का रचयिता तुलसी के स्थान पर और कोई सिद्ध हो जाय और उसके रचना-काल में दो-तीन शताब्दियाँ आगे-पीछे होने का प्रमाण मिल जाय तो क्या इससे उसका महत्व न्यून हो जायगा? मानस का महत्त्व तुलसी के कारण नहीं, अपितु तुलसी का महत्त्व मानस के कारण है। अतः रासो का रचियता भी चन्द हो या कोई अन्य, वह बारहवीं शती में रचित हो या सत्रहवीं में—महाकाव्य की दृष्टि से उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'पृथ्वीराज रासो, के विभिन्न आकारों के अनेक संस्करण मिलते हैं, जिनमें सबसे बड़ा संस्करण ६९ सर्गों में विभाजित तथा लगभग अढ़ाई हजार पृष्ठ का है। परम्परा ने अनुसार इसके रचयिता चन्दवरदायी माने जाते हैं, जो चरित-नायक

पृथ्वीराज राठौर के मन्त्री और सेनापति भी थे। महाकाव्य के प्रचीन लक्षणों के अनुसार इसमें नायक के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया गया है। जीवन के व्यापक स्वरूप एवं प्रकृति और जगत के विस्तृत क्षेत्र को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इसके रचयिता ने अनेक मौलिक घटनाओं की कल्पना की है, जिससे यह मध्यकालीन जीवन का एक वृहत् चित्रपट बन गया है। यही कारण है कि इसमें तत्कालीन जीवन का सामन्ती वैभव, सामाजिक आचार-व्यवहार, धार्मिक विधि-विधान एवं उस युग के विभिन्न पर्व, त्योहार और उत्सवादि के उल्लसित दृश्य सजीव रूप में चित्रित हैं। सन् संवत्, राजनीतिक घटनाओं व युद्ध आदि से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास की स्थूल रेखाएँ इसमें नहीं मिलतीं, किन्तु अपने युग के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म रूप-रंग इसमें पूर्णतः विद्यमान है। वस्तुतः मध्यकालीन संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए जितनी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है, उतनी किसी अन्य साधन से दुष्प्राप्य है।

काव्यत्व की दृष्टि से भी रासो का महत्व न्यून नहीं है। वैसे तो इसमें प्रायः सभी रसों का चित्रण कहीं-न-कहीं हुआ है, किन्तु वीर, रौद्र और शृंगार की व्यंजना में तो कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। युद्ध-सम्बन्धी दृश्यों के चित्रण में तो कवि की निजी अनुभूतियों का योग दृष्टिगोचर होता है—

वज्जि घोर निसान रांन चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल तंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज पृथ्थीराज बाग लग्गा मनों वी नट।
कढत तेग मनोवेग लगत मनों बीज झट्ठ घट्ठ॥

× × ×

नच्चं कूहं कूहं वहे सार सारं, चमक्कं चमक्कं करारं सुधारं।
भभक्कं भभक्कं लहे रत्त धारं, सनक्कं सनक्कं व बानं भारं॥

यहाँ अक्षरों के द्वित्व, शब्दों की आवृत्ति और वाक्य-विन्यास की विलक्षणता के द्वारा ओज गुण की सृष्टि कर दी गई जिससे रण क्षेत्र का वातावरण सजीव रूप में प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार शृंगार की अभिव्यक्ति में कवि ने विषय के अनुरूप कोमल एवं मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है—

"वेई आवास जुग्गानि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय।
संजोग पयंपति कंत बिन, मुहि न कछू लग्गत रलिय॥"

अर्थात् सब कुछ—घर, योगिनीपुर, सहचरियों के समूह आदि—वही हैं, किन्तु प्रिय पति के संयोग के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

वस्तुतः युग-चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल अभिव्यक्ति एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसमें ऐसा कोई व्यापक सन्देश—राष्ट्रीय एकता जैसा—नहीं मिलता, अतः इसे महाकाव्य की कोटि में रखना उचित नहीं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हो सकते। सामन्ती युग में जैसा

सन्देश एक कवि दे सकता है, वैसा इसमें भी दिया गया है—अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है ! सारा काव्य इसी सन्देश की ध्वनि से गुंजित है। किन्तु जो लोग एक मध्ययुगीन कवि से आधुनिक युग की सी राष्ट्रीय एकता का सन्देश पाने की आशा करते हैं, उन्हें अवश्य इससे निराश होना पड़ता है।

हिन्दी के पूर्व-मध्य युग (भक्तिकाल) के महाकाव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' का भी बहुत ऊँचा स्थान है, जो प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का प्रचार होता रहा है, जैसे यह परम्परा फारसी मसनवियों से प्रभावित है, इसके कवियों का उद्देश्य सूफी धर्म का प्रचार करना था तथा इसमें आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण किया गया है, आदि-आदि। इन भ्रान्तियों का निराकरण हम अन्यत्र (देखिये—'हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) कर चुके हैं। वास्तव में इस परम्परा का सम्बन्ध भारत की उस प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा से है, जिसका आरम्भ सुबन्धु की 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी' और दंडी के 'दशकुमार चरित' से होता है। संस्कृत कवि गद्य में प्रेमाख्यान लिखते थे, जबकि प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों ने पद्य में लिखने की परिपाटी को जन्म दिया तथा आगे चलकर हिन्दी, पंजाबी और गुजराती कवियों ने भी पद्य का ही प्रयोग किया। कथानक की रूढ़ियों, प्रेम के स्वरूप एवं विकास तथा शैलीगत विशेषताओं की दृष्टि से अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती के प्रेमाख्यानों में गहरा साम्य है तथा इसके अतिरिक्त हमारे पास अनेक ऐसे ठोस प्रमाण हैं, जिनके आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी के प्रेमाख्यान फारसी मसनवियों से नहीं, अपितु पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमाख्यानों तथा साहित्य से सम्बन्धित हैं। 'पद्मावत' के रचयिता ने भी अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भारतीय प्रेमाख्यानों का ही उल्लेख किया है—फारसी मसनवियों का नहीं।

'पद्मावत' का इतिवृत्त अर्द्ध-ऐतिहासिक है; कवि ने भारतीय प्रेमाख्यानों की रूढ़ियों को गुम्फित करने के लिये उसके ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर लिया है। नायक रत्नसेन द्वारा नायिका पद्मावती को प्राप्त करने तक की कहानी, जिसे इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध कहा जाता है, काल्पनिक है; किन्तु फिर भी वह उत्तरार्द्ध से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पूर्वार्द्ध के अन्त में जाकर कहानी समाप्त सी हो जाती है, किन्तु आगे चलकर इस ढंग से उसका पुनरुत्थान किया गया है कि वह कवि की प्रबन्ध कुशलता का परिचायक बन गया है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो स्वतन्त्र कथानकों को इस सफलता से सम्बद्ध कर दिया गया है कि पाठक को इस जोड़ का पता तक नहीं चलता।

पात्रों की विविधता का भी 'पद्मावत' में अभाव नहीं है। यह ठीक है कि जायसी ने प्रत्येक पात्र की किसी एक ही चरित्रगत विशिष्टता को उभारा है, जैसे रत्नसेन की प्रणय-विह्वलता, पद्मावती की सौन्दर्य एवं कामजन्य मदान्धता, राघव-चेतन की शठता, अलाउद्दीन की कूटनीतिज्ञता, गोरा-बादल की शूरवीरता आदि,

किन्तु इस क्षेत्र में उनकी प्रतिस्पर्धा कोई अन्य कवि नहीं कर सकता। चारित्रिक प्रवृत्तियों के चित्रण में उनका दृष्टिकोण वैचित्र्य के स्थान पर एकत्व का रहा है, इसी से उनके पात्रों में मनोवृत्तियों की जटिलता न मिलकर गम्भीरता के दर्शन होते है। विभिन्न भावों की व्यंजना में पद्मावत के रचयिता ने एक महाकवि की सी क्षमता का परिचय दिया है, विशेषतः प्रेम और विरह की अभिव्यक्ति में तो आसाधारण सफलता मिली है।

'पद्मावत' के दार्शनिक पक्ष के साथ सबसे अधिक अन्याय उन विद्वानों के द्वारा हुआ है, जो पहले ही यह मानकर चलते हैं कि इस ग्रन्थ में सूफी मत का प्रतिपादन किया गया है। वे 'पद्मावत' के रूपक को जायसी के संकेतों के आधार पर न समझकर सूफी मत के आधार पर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं; फलतः वे कथानक के साथ रूपक की संगति बैठाने में सफल नहीं होते। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि पद्मावत की वे पंक्तियाँ, जिनमें इसके रूपक के प्रतीकार्थों का संकेत दिया गया है—प्रक्षिप्त हैं। किन्तु जैसा कि हमने अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी में शृंगार-परम्परा और महाकवि विहारी) में स्पष्ट किया है, इसके रूपक में हिन्दू-दर्शन के अनुसार सात्विक ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। रत्नसेन 'मन' हैं, और पद्मिनी, 'बुद्धि' या ज्ञान का प्रतीक है—किन्तु हमारे विद्वान रत्नसेन को आत्मा और पद्मिनी को परमात्मा मानकर व्याख्या करते हैं जो कि कवि के संकेतों (तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।) से असम्बद्ध होने के कारण उचित नहीं। जिस प्रकार से सांसारिक कर्मजाल रूपी इड़ा के चक्कर में फँसा हुआ कामायनी का मनु (मन) हृदय पक्ष से सम्बन्धित श्रद्धा की सहायता से आनन्द प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार नागमती रूपी 'दुनिया-धंधा' में आसक्त रत्नसेन रूपी मन, गुरु के उपदेश से सात्विक ज्ञान —हृदयवासिनी बुद्धि (हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा)—या श्रद्धा (पद्मिनी) को प्राप्त करता है और अन्त में आसुरी वृत्तियों का दमन करके मोक्ष प्राप्त करता है। कामायनी और पद्मावत के पात्रों में गहरी समानता है—दोनों में मन के प्रतीक क्रमशः मनु और रत्नसेन; सांसारिक बुद्धि के इड़ा और नागमती, हृदयवासिनी बुद्धि या श्रद्धा और पद्मिनी : आसुरी वृत्तियों के राघव-चेतन व अलाउद्दीन हैं। अतः जिस प्रकार कामायनी का सन्देश सांसारिक कर्मों की आसक्ति को त्यागकर आनन्द प्राप्ति का है, वैसे ही पद्मावत का मोक्ष-प्राप्ति का है। सम्भवतः कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे कि मुसलमान होकर भी जायसी ने हिन्दू-दर्शन को क्यों अपनाया, किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि सारी 'पद्मावत' में ही हिन्दू-संस्कृति, हिन्दूसभ्यता और हिन्दू धर्म का चित्रण हुआ है, अतः उसमें हिन्दू दर्शन की अभिव्यक्ति हो तो अस्वाभाविकता क्या है?

जहाँ तक युग की परिस्थितियों एवं लोक-जीवन के चित्रण का प्रश्न है, पद्मावत को हम अपने युग का एक सच्चा दर्पण कह सकते हैं, जिसमें तत्कालीन समाज की विभिन्न रीति-रिवाजों और प्रथाओं का, लोक-विश्वास और लोक-विचारों का, विभिन्न पर्वों व उत्सवों का, दीवाली, होली, वसन्त आदि त्योहारों का सजीव प्रति

बिम्ब देखने को उपलब्ध होता है। साथ ही इसमें शैली की प्रौढ़ता, अलंकारों का वैभव और उपमानों का भंडार भी विद्यमान है; अतः इसमें उन सभी प्रमुख गुणों का समन्वय हो जाता है, जिनके आधार पर कोई रचना 'महाकाव्य' पद की अधिकारिणी होती है।

अवधी भाषा और दोहा-चौपाई शैली में प्रबन्ध-लेखन की जिस परम्परा का प्रवर्तन प्रेमाख्यान के रचयिताओं द्वारा हुआ था, उसका परिष्कृत रूप हमें महाकवि तुलसी द्वारा रचित 'रामचरित मानस' में उपलब्ध होता है। 'रामचरित' किसी एक युग, एक भाषा और किसी एक कला का विषय नहीं है,अपितु विभिन्न युगों और विभिन्न भाषाओं व कलाओं में पुरुषोत्तम राम के दिव्य-जीवन का चित्रण होता रहा है। गुप्तजी की यह उक्ति 'राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।' सम्भवतः इसी तथ्य की ओर संकेत करती है, किन्तु तुलसी के महाकाव्य का अध्ययन करते समय इस भ्रान्ति से बचना उचित होगा। यह महाकाव्य एक ऐसी प्रतिभा, शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि को लेकर हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतरित हुआ है कि रामचरित का प्राचीन विषय भी एक नवीन सौन्दर्य, नये आकर्षण और एक नयी अभिव्यक्ति से सम्पन्न हो गया।

'रामचरित मानस' को कथानक की अनेक भूमिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सारी कथा अनेक वक्ताओं और अनेक श्रोताओं के माध्यम से व्यक्त होती है, किन्तु फिर भी इसकी प्रबन्धात्मकता को कहीं कोई ठेस नहीं लगती। निर्झरिणी की भाँति कहानी अनेक प्राचीन और नवीन कथाओं की पर्वतीय शाखाओं, दुर्गम घाटियों और अडिग चट्टानों में प्रवेश करती हुई आगे बढ़ती है। उसकी राह में अनेक समतल और विषम स्थल, हरे भरे वन-प्रदेश और शुष्क मरुस्थल भी उपस्थित होते हैं, किन्तु तुलसी की मानव-सरिता का प्रवाह कहीं भी अवरुद्ध,क्षीण या भंग नहीं होता। तुलसी अपने पात्रों के जन्म-जन्मान्तरों तक की घटनाएँ सुना देते हैं, किन्तु ऐसा करने से पूर्व वे उपयुक्त वातावरण और समय की भी खोज कर लेते हैं। तुलसी की काव्य-कला के इस विराट् ढाँचे और विस्तृत रूप को देखते हुए, उसमें शिल्पगत दो-चार त्रुटियों को ढूँढ़ निकालना विशेष महत्त्व नहीं रखता।

'रामचरित मानस' के पात्रों में कुछ ऐसी विशिष्टता, स्वाभाविकता और भव्यता मिलती है, जो अनायास ही पाठक की बुद्धि और कल्पना को केन्द्रित कर लेती है। दशरथ की तीनों रानियों और उनके चारों पुत्रों में से प्रत्येक के चरित्र में कुछ ऐसा स्पष्ट अन्तर है जिसमें हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों राक्षस कुलोत्पन्न होते हुए भी वैयक्तिक विशिष्टता से सम्पन्न हैं। कहीं कहीं पात्रों के चरित्र का विकास भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधर पर दिखाया गया है; जैसे, पति-परायण कैकेयी का कुलघातिनी बन जाना। सुग्रीव जैसे सरल व्यक्ति का राज्य-प्राप्ति के अनन्तर भोग-विलास में लीन हो जाना या विभीषण का भ्रातृद्रोह के लिए विवश होना। विभिन्न अवसरों पर पात्रों के संवाद—'परशुराम लक्ष्मण सम्वाद', 'मंथरा-कैकेयी-सम्वाद', 'अंगद-रावण सम्वाद' आदि—सर्वत्र मर्यादित न होते हुए भी स्वाभाविक, रोचक एवं नाटकीय हैं।

उनमें पात्रानुकूल भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।

'रामचरित मानस' में प्रायः सभी प्रमुख रसों की व्यंजना प्रसंगानुसार हुई है, यद्यपि इसमें प्रमुखता भक्ति और शान्त रस की है। मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का भी चित्रण महाकवि तुलसी ने सफलतापूर्वक किया है। भाव-दशा के विकास में वे एक ही साथ अनेक संचारियों और अनुभावों का आयोजन करने में समर्थ हैं, उदाहरण के लिए दशरथ की शोक-विह्वल दशा का चित्रण द्रष्टव्य है—

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू, कहु सुमन्त्र कहँ राम कृपालू।
कहाँ लखनु कहँ राम सनेही, कहँ प्रिय पुत्रवधू बैदेही॥
× × ×
सो तनु राखि करब मैं काहा, जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा।
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते, तुम्ह बिन जिअत बहुत दिन बीते॥

'रामचरित मानस' का भाव-पक्ष जितना गम्भीर है, उसकी शैली भी उतनी ही प्रौढ़ है। सभी दृष्टिकोणों से इसमें काव्य-कला के महत् रूप का दर्शन होता है। जहाँ तक युग धर्म और सन्देश का सम्बन्ध है, यह ग्रन्थ समस्त उत्तरी भारत में एक पवित्र धर्म-ग्रन्थ की भाँति आदृत होता रहा है। अपने युग की विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान इसमें प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसकी कुछ त्रुटियाँ भी बताई गई हैं, जैसे—इसमें पौराणिकता का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में होने के कारण अवान्तर कथाओं तथा प्रसंगों का आधिक्य है, तथा माहात्म्य, स्तोत्र, देवताओं की पुष्पवर्षा के वर्णन, सैद्धान्तिक विवेचन और प्रचारात्मक उपदेशों की भी अधिकता है, किन्तु फिर भी इसकी विशेषताओं को देखते हुए इसे उच्च कोटि का महाकाव्य मानना उचित है।

हिन्दी के उत्तर-मध्ययुग (रीतिकाल) में प्रबन्ध-काव्य तो अनेक लिखे गए, किन्तु उसमें काव्यत्व की वह प्रौढ़ता या गम्भीरता नहीं मिलती जिससे उन्हें 'महाकाव्य' की संज्ञा दी जा सके। इनमें से केशव की **'रामचन्द्रिका'** को कुछ विद्वान् 'महाकाव्य' मानने के पक्ष में रहे हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकाव्य के स्थूल लक्षणों की पूर्ति करने का प्रयास इसमें किया गया है। पूरी कथा ३९ सर्गों में विभाजित है तथा पुरुषोत्तम राम इसके चरित्र नायक हैं। किन्तु इसमें अनेक ऐसे दोष मिलते हैं, जिनसे यह महाकाव्य की महत्ता से वंचित हो जाती है। कवि का मूल लक्ष्य पांडित्य-प्रदर्शन, विभिन्न छन्दों और अलंकारों का आयोजन करना रहा है जिससे वह मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन नहीं कर सका। केशव की कल्पना इतनी विराट् नहीं कि वह समस्त युग और समाज के सब रूपों को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सके। इसका कथानक शिथिल और गति शून्य-सा और वस्तु-वर्णन देश-काल के औचित्य से शून्य है। अनावश्यक वर्णनों की भरमार, अत्यधिक वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति, नाना प्रकार के छन्दों के प्रभावहीन प्रयोग एवं शैली की क्लिष्टता के कारण इसमें काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकी। अतः महाकाव्य तो क्या, इसे एक सफल प्रबन्ध-काव्य स्वीकार करना भी कठिन है।

आधुनिक युग में अनेक ऐसे प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं, जो आकार-प्रकार की विशालता एवं स्थूल लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य की कोटि में आ सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म गुणों की दृष्टि से इनमें केवल तीन ही प्रमुख हैं—(१) साकेत, (२) कामायनी और (३) कुरुक्षेत्र। 'साकेत' राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इसमें रामायण की पुनीत कथा को नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित उर्मिला एवं कैकेयी को विशेष महत्त्व दिया गया है, किन्तु प्रत्येक महान् रचना 'महाकाव्य' नहीं कहला सकती। कालिदास का 'मेघदूत' कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः 'साकेत' में उस व्यापक दृष्टिकोण, जीवन के विराट् रूप; भावक्षेत्र की गम्भीरता एवं युग-सन्देश की महत्ता का अभाव है; जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। इसमें मुख्यतः जीवन का एक खण्ड-रूप—राम-लक्ष्मण-वनवास और उर्मिला का विरह—ही प्रस्फुटित हुआ है। अपने दुःख भार की शिला को नेत्रों के जल से तिल-तिलकर काटने वाली उर्मिला के प्रति हमें पूरी सहानुभूति है, किन्तु उसे आराध्या-रूप में स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं। गुप्तजी अवश्य उसे कताई-बुनाई के प्रशिक्षण में दीक्षित करके समाज-नेत्री के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। शेष पात्रों में से भी किसी का व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली नहीं बन सका कि उसे हम महाकाव्य का नायक कह सकें। वास्तव में साकेत' का गौरव 'विरह-काव्य' के रूप में है; महाकाव्य सिद्ध न होने से भी उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'कामायनी' कविवर जयशंकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है, जिसे हिन्दी के आधुनिक-गीत प्रबन्ध-काव्यों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। इसके कथानक की रूप-रेखाएँ सूक्ष्म, अस्पष्ट एवं अस्वाभविक होते हुए भी उनमें मानव-जाति के समस्त इतिहास को समेटने का प्रयत्न किया है। प्रलय से लेकर आधुनिक युग तक की कहानी को इसमें गुम्फित किया गया है। समस्त काव्य मे स्थूल घटनाएं तीन-चार ही हैं; वे भी श्रद्धा और मनु के बार-बार मिलने और बिछुड़ने, मनु और इड़ा के मिलने और बिछुड़ने तक सीमित है। अतः प्रबन्ध-काव्य की सी इतिवृत्तात्मकता एवं रोचकता का इसमें अभाव है, किन्तु मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का जैसा मार्मिक, विस्तृत एवं गम्भीर चित्रण किया गया है, वह इसके सारे अभावों की पूर्ति कर देता है। कथानक का आरम्भ शोक से करते हुए इसमें क्रमशः शृङ्गार, वीर, रौद्र, विस्मय एवं शान्त रस की आयोजना की गई है। मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यंजना इसमें प्रकृति के मनोहर रूप-रंग की आभा में वेष्टित करके की गई है; इसकी नायिका श्रद्धा की मंजुल-मनोहर छवि पर भारतीय साहित्य की समस्त नायिकाओं—उर्वशी, तिलोत्तमा, शकुन्तला, दमयन्ती, पद्मावती आदि—के सौन्दर्य को शत-शत बार न्योछावर किया जा सकता है। नारी के व्यक्तित्व के सभी स्थूल और सूक्ष्म गुणों का समन्वित रूप प्रथम बार हमें 'कामायनी' की नायिका में उपलब्ध होता है। उसकी केवल एक वृत्ति—लज्जा को लेकर पूरे सर्ग की रचना कर देना कामायनीकार की काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है।

काव्यत्व की दृष्टि से कामायनी जितनी प्रौढ़ है, जीवन-दर्शन और युग-सन्देश की दृष्टि से वह उतनी ही महान् भी है। इसमें मानव-जीवन की उन चिरन्तन समस्याओं का चित्रण किया गया है, जो स्थूल भौतिक जगत् की घटनाओं से नहीं, अपितु मस्तिष्क और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा उपस्थित होती हैं। संघर्ष और युद्ध का कारण कोई जाति-विशेष, देश-विशेष या वाद-विशेष नहीं है, अपितु हमारी ही अपनी चित्तवृत्तियाँ हैं। सुख की लालसा से भटकता हुआ मानव किस प्रकार स्वार्थ वृत्ति के माया-जाल में फँस जाता है जिससे उसका जीवन अनेक असंगतियों का केन्द्र बन जाता है। अस्तु, मानव-जीवन में सुख और शान्ति का मूल-मन्त्र कामायनीकार के शब्दों में 'ज्ञान, क्रिया और इच्छा' में उचित समन्वय स्थापित करना है। आज के युग में बुद्धि या ज्ञान का एकांगी विकास हो रहा है, जो समस्त मानव-जाति के लिए अशुभ एवं घातक है।

'कुरुक्षेत्र' श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की उत्कृष्ट रचना है। इसका इतिवृत्त कामायनी से भी लघु, संक्षिप्त एवं घटना-विहीन है, फिर भी उसमें रोचकता का अभाव नहीं है। महाकाव्य के स्थूल लक्षण इस पर लागू नहीं होते, किन्तु काव्य की गरिमा और आदर्श की महानता इसमें मिलती है। युधिष्ठिर की मानसिक अवस्था का क्रमिक विकास इसमें मर्मस्पर्शी रूप में दिखाया गया है। युधिष्ठिर और भीष्म के रूप में मानो शान्त और वीर रस में वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन पात्रों के माध्यम से इसमें शान्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ सर्ग में कामायनीकार की भाँति इसमें भी आधुनिक युग की अति-बौद्धिकता का विरोध किया गया है। अन्त में कवि का सन्देश है—"शान्ति नहीं तब तक, जब तक नर का सुख-भाग न सम होगा।" जो युग की आवश्यकता के अनुरूप है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी और कुरुक्षेत्र—दोनों में ही महाकाव्य की अनेक विशेषताएँ नहीं मिलतीं, किन्तु महाकाव्य की-सी महत्ता और उदात्तता अवश्य इनमें है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त भी इस युग में रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य इस प्रकार के मिलते हैं, जिन्हें 'महाकाव्य' के रूप में ही रचा गया है, पर वे अधिक प्रचलित नहीं हो सके; यथा—'नल-नरेश' (प्रतापनारायण; १९३३), 'नूरजहाँ' (गुरुभक्त सिंह, १९३५); 'सिद्धार्थ' (अनूप शर्मा; १९३७), 'कृष्णायन' (द्वारकाप्रसाद मिश्र; १९४३), 'साकेत-संत' (बलदेवप्रसाद मिश्र; १९४६), 'अंगराज' (आनन्दकुमार; १९५०), 'वर्द्धमान' (अनूप शर्मा; १९५१), 'देवार्चन' (करील; १९५२), 'रावण' (हरदयालु सिंह; १९५२), 'पार्वती' (रामानन्द तिवारी; १९५५); 'झाँसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद; १९५५), 'मीरा' (परमेश्वर द्विरेफ; १९५७), 'एकलव्य' (डा० रामकुमार वर्मा; १९५८), 'उर्मिला' (बालकृष्ण शर्मा; १९५८), 'उर्वशी' (दिनकर; १९६१) आदि प्रमुख हैं। इनमें से यहाँ कुछ रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।[1]

---

१. आधुनिक युग में रचित प्रबन्ध-काव्यों का (जो कि महाकाव्य के निकट पड़ते हैं) विस्तृत परिचय "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" में आदर्शवादी 'काव्य परम्परा' (पृष्ठ ६४०-६८७) में देखिए।

द्वारकाप्रसाद मिश्र का **'कृष्णायन'** (१९४३ ई०) 'रामचरित-मानस' के अनुकरण पर रचित कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य है जो सात काण्डों में विभक्त है— (१) अवतरण कांड (२) मथुरा कांड (३) द्वारका कांड (४) पूजा कांड (५) गीता कांड (६) जय कांड और (७) आरोहण कांड। इसकी भाषा अवधी तथा शैली दोहा-चौपाई की ही है। विभिन्न पात्रों के—मुख्यतः कृष्ण के चरित्र को चित्रित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्ण को अत्यन्त दिव्य एवं उदात्त रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। महाकाव्य के विभिन्न लक्षणों का भी निर्वाह हुआ है।

बलदेवप्रसाद मिश्र का **'साकेत संत'** (१९४६ ई०) भरत के चरित्र पर प्रकाश डालनेवाला सफल प्रबन्ध काव्य है। इसका नाम गुप्तजी के 'साकेत' की स्मृति करवाता है। वस्तुतः जिस प्रकार साकेतकार का लक्ष्य उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को ऊँचा उठाना रहा है, वैसे ही इसमें भरत के चरित्र को उठाने का लक्ष्य रहा हैं। इसमें घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के चित्रण का ध्यान अधिक रहा है। भरत, मांडवी, कैकेयी को अत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। रचना अत्यन्त भावपूर्ण, गम्भीर एवं प्रौढ़ है, एक नमूना द्रष्टव्य है—

कुलवधू कब रहती स्वच्छन्द, उसे बस अपना भवन पसन्द।
आपके रहें अचल सुख-साज, उसे प्रिय अपना स्वजन समाज॥

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' के दो ऐतिहासिक महाकाव्य **'नूरजहाँ'** (१९३५ ई०) और **'विक्रमादित्य'** (१९४७ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहले काव्य में रोमांस की प्रमुखता होने के कारण इसे आदर्शवादी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु विषय-वस्तु की अन्य विशेषताओं एवं प्रतिपादन शैली की दृष्टि से इसे यहाँ स्थान दिया जा सकता है। यह अठारह सर्गों में विभक्त है तथा महाकाव्य के लिए अपेक्षित प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों का समावेश इसमें मिलता है, फिर भी भावनाओं के जिस औदात्य एवं सन्देश की जिस गरिमा की महाकाव्य में अपेक्षा होती है, उसका इसमें अवश्य अभाव है। नूरजहाँ के प्रति जहाँगीर के अतिशय अनुराग की अभिव्यक्ति इसमें सफलता पूर्वक हुई है।

'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है, पर इसमें उसके जीवन के उदात्त पक्ष को कम तथा शृंगारिक रूप को अधिक लिया गया है। कवि का मूल लक्ष्य चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के प्रणय का अंकन करना ही दिखाई पड़ता है। यह भी विचित्र बात है कि कवि ने अपने दोनों ही काव्यों में ऐसी नायिकाओं को लिया है, जिनका पहला विवाह अन्यत्र हो जाता है तथा उनके प्रेमी उन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पतियों का वध करते हैं। लगता है, भक्तजी का उद्देश्य विवाह की मर्यादाओं की अपेक्षा प्रेम का अधिक महत्त्व स्थापित करना रहा है या दूसरे शब्दों में वे प्रेम को ही विवाह का वास्तविक आधार सिद्ध करना चाहते हैं, जो किसी सीमा तक ठीक भी है।

अनूप शर्मा ने विभिन्न धर्म-प्रवर्तकों को लेकर दो महाकाव्य—**'सिद्धार्थ'** (१९३७ ई०), एवं **'वर्द्धमान'** (१९५१ ई०) प्रस्तुत किए हैं। 'सिद्धार्थ' की कथा-

वस्तु अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' एवं ऐडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ एशिया' से प्रभावित है तथा अठारह सर्गों में विभक्त है। गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा को भी इसमें पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। बुद्ध को अवतार पुरुष के रूप में चित्रित करते हुए उनके चरित्र को बहुत ऊंचा उठाया गया है। अन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। प्रकृति-वर्णन तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में कवि को अच्छी सफलता मिली है।

'वर्द्धमान' में जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का चरित्र सत्रह सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें महावीर के जन्म से लेकर ज्ञान-प्राप्ति तक के पूरे जीवन को अंकित किया गया है। इसकी शैली पर हरिऔध के 'प्रियप्रवास' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी के अनुरूप इसमें संस्कृत के वर्णिक छन्दों का जैसे वंशस्थ, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि का प्रयोग किया गया है। काव्य में मूलतः शान्त-रस का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु प्रसंगानुसार अन्य रसों के भी समावेश का यत्न किया गया है।

श्यामनारायण पाण्डेय का राजपूतकालीन इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य 'हल्दीघाटी' (१६४६ ई०) उल्लेखनीय है। इसमें हिन्दू गौरव महाराणा प्रताप के चरित्र को सत्रह सर्गों में अंकित किया गया है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें केवल हल्दीघाटी के युद्ध की घटना का ही वर्णन किया गया होगा, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से यह नाम दोषपूर्ण है। महाराणा के शौर्य, त्याग एवं आत्मबलिदान की व्यंजना में कवि को पूरी सफलता मिली है। पाण्डेय जी की शैली में ओज और प्रवाह का गुण अपेक्षित मात्रा में मिलता है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

सावन का हरित् प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फैलाकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर छटा॥
पड़ रही फुही, झींसी झिन-झिन पर्वत की हरी वनाली पर।
"पी कहाँ !" पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में चमक-चमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रहकर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥

मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'पृथ्वीराज रासो' के प्रसिद्ध कथानक के आधार पर 'आर्यावर्त्त' (१६४३) नामक प्रबन्ध काव्य प्रस्तुत किया है। जैसा कि इसकी भूमिका में कहा गया है कवि ने इसे महाकाव्य बनाने का प्रयास करते हुए संस्कृत के तत्सम्बन्धी विभिन्न लक्षणों का समावेश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वियोगी जी ने पृथ्वीराज और चन्दबरदाई के जीवन चरित्र को पूरी सहृदयता से प्रस्तुत किया है। वैसे आलोचकों ने इसकी अनेक न्यूनताओं का उद्घाटन करते हुए इस महाकाव्य को अस्वीकार किया है—हमारे विचार से महाकाव्य न सही, एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में यह सफल रचना है।

इस युग में क्रूर, दुष्ट एवं नीच समझे जानेवाले पात्रों को भी ऊँचा उठाने का प्रयास अनेक प्रबन्ध-काव्य रचयिताओं ने किया है। इनमें हरदयालसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने **'दैत्यवंश'** (१९४० ई०) और 'रावण' (१९५२ ई०) नामक दो प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं। दैत्यवंश ब्रजभाषा में रचित है। इसमें 'हिरण्यकशिपु', 'बलि', 'बाणासुर' आदि दैत्यों के चरित्र को पौराणिक आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य रस तो वीर है किन्तु अन्य रसों को भी प्रसंगानुसार स्थान दिया गया है। काव्य में एक स्थान पर अनेक नायक होने के कारण इसमें अपेक्षित एकोन्मुखता एवं अनिवार्यता नहीं आ पाई। इसकी शैली में पर्याप्त प्रवाह और ओज मिलता है।

'रावण' में लंकापति दशानन के चरित्र को पूर्ण सहानुभूति के साथ अंकित करने का प्रयास किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा इसकी कथा-वस्तु मूलतः वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। किन्तु बीच-बीच में कवि ने अपनी मौलिक सर्जन-शक्ति से भी अपेक्षित कार्य किया है। रावण के चरित्र को ऊँचा उठाते हुए उसे एक अत्यन्त पराक्रमी, उत्साही, त्यागी, शूरवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रावण के अतिरिक्त अन्य राक्षसों को भी उच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति-वर्णन-नारी-सौन्दर्य-चित्रण तथा विभिन्न भावनाओं की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस युग के अनेक कवियों का ध्यान राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन-चरित्र की ओर भी आकृष्ट हुआ है। सन् १९४६ ई० से लेकर अब तक अनेक कवियों ने गांधी के चरित पर विशालकाय प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनमें से तीन यहाँ विवेच्य हैं—(१) 'महामानव' (१९४६ ई०) (२) 'जननायक' (१९४९ ई०) और (३) 'जगदालोक' (१९५२ ई०)। महामानव की रचना **ठाकुरप्रसाद सिंह** द्वारा हुई है। यह पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। गांधी जी के चरित्र की विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास कवि ने किया है; किन्तु यथोचित घटनाओं के अभाव में वह भली-भाँति सफल नहीं हो सका। प्रबन्धत्व की दृष्टि से भी इसमें शिथिलता है। दूसरा काव्य 'जननायक' **रघुवीरशरण मित्र** द्वारा विरचित है। यह विशालकाय काव्य लगभग छः सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है तथा इकतीस सर्गों में विभक्त है। इसकी अधिकांश घटनाएँ महात्मा गांधी की 'आत्मा-कथा' पर आधारित हैं। गांधी के चरित्र को अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्रस्तुत किया गया हैं। इनकी शैली अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं :

> **धन्य ! सुदामापुरी जहाँ पर मनमोहन ने जन्म ले लिया।**
> **माता-पिता धन्य ! वे जिनको प्रभु ने दिव्य प्रकाश दे दिया।**
> **जिसमें चित्र लिखे मोहन के उस मिट्टी का प्यार धन्य है !**
> **जिसमें जन्म लिया मोहन ने वह गांधी-परिवार धन्य है !!**

महात्मा गाधी के चरित्र पर आधारित तीसरा प्रबन्ध-काव्य 'जगदालोक' है जिसकी रचना **ठाकुर गोपालशरण सिंह** ने १९५२ ई० में की है। इसमें गांधी जी के

तथा नायक के जीवन की विभिन्न घटनाओं को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसके कुछ प्रसंग अत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक हैं। परमेश्वर 'द्विरेफ' के दोनों प्रबन्ध-काव्यों में क्रमशः मीराँ और प्रेमचन्द की वेदना एवं व्यथापूर्ण जीवन को अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। मीराँ का चरित्रांकन अत्यन्त कुशलता से किया गया है तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में भी कवि ने पूर्ण सहृदयता का परिचय दिया है। 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' भी उच्च-कोटि का काव्य है, जिसमें नायक के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन को व्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

१८५७ ई० की प्रसिद्ध राष्ट्रीय क्रान्ति पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य उपलब्ध हैं, जैसे—'झाँसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद : १९५५), 'तात्या टोपे' (लक्ष्मी-नारायण कुशवाहा : १९५०), 'झाँसी की रानी' (आनन्द मिश्र : १९५९)। श्याम-नारायण प्रसाद की कृति में महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य, त्याग एवं आत्मबलिदान की व्यंजना २३ सर्गों में सफलतापूर्वक की गई है। कवि की शैली में ओजस्विता एवं प्रवाहपूर्णता के गुण विद्यमान हैं। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

लग गई हृदय में रिपु-गोली,
सो गए भूमि के आंचल पर।
लिख दो भारत ने वीर-कथा,
तरु-तरु के कम्पित दल-दल पर॥
यह सुनकर रानी उछल पड़ी,
सिंहनी सवृश वह तड़प उठी।
अरि-हृदय-रक्त की प्यासी असि,
लेकर बिजली-सम कड़क उठी॥

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण कुशवाहा का 'तात्या टोपे' भी वीररस एवं राष्ट्रीय क्रान्ति के भावों से ओत-प्रोत अत्यन्त सशक्त रचना है। यह ३१ आहुतियों (सर्गों) में विभाजित है। कवि का आदर्श है—

पुण्य चरित्रों को गाकर के कलम पुण्य हो जाती है।
कवि कर्तव्य निभा जाता है, कलम धन्य हो जाती है॥

'तात्या टोपे' में इसी आदर्श की उपलब्धि हुई है। कवि के कृतित्व को सफल-घोषित करने के लिए इसकी कुछ पंक्तियों का दिग्दर्शन पर्याप्त होगा :

जगे देश के सकल सूर में क्रान्ति शंख का नाद हुआ।
देश-वेदिका पर मिटने को जन-जन में उन्माद हुआ।
सकल शत्रु विध्वंस करेंगे, सिंह देश के गरज चले,
जननि-सपूत जननि की खातिर, पूरा करने फरज चले॥

१९५८ ई० में प्रकाशित प्रबन्ध-काव्यों में रामानन्द तिवारी का 'पार्वती', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का 'उर्मिला' एवं 'गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश' का 'तारक-वध' उल्लेखनीय है। 'पार्वती' की रचना मुख्यतः कालिदास के 'कुमार-संभव' के आधार पर हुई है। पूरा काव्य २७ सर्गों में विभक्त है। परम्परागत कथानक में आधुनिक

दृष्टि से अपेक्षित संशोधन-परिष्कार करते हुए विभिन्न पात्रों को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। तिवारी जी की शैली भी प्रौढ़ एवं सुविकसित है। 'नवीन' जी का 'उर्मिला' काव्य सम्भवतः 'साकेत' की सफलता से प्रेरित है। इसमें छः सर्गों में उर्मिला-लक्ष्मण की कहानी को प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'गिरीश' जी का 'तारक-वध' भी पौराणिक कथा-वस्तु पर आधारित तथा उन्नीस सर्गों में विभक्त है। कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण, पात्रों के चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, विचारों के औदात्य व शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसे एक सफल महाकाव्य माना गया है। कवि ने इन में कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर-वध को दैवी प्रवृत्तियों द्वारा आसुरी प्रवृत्तियों के दमन के रूप मे प्रस्तुत किया है।

दिनकर जी ने 'उर्वशी'—(१९६१) मे काम और प्रेम की समस्या को वैदिक युगीन कथानक—उर्वशी और पुरूरवा की कथा; ऋग्वेद दसवां मंडल—के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इनमें सौंदर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना सफल रूप मे हुई है। अब तक दिनकर को केवल कठोर भावों एवं क्रान्ति का ही कवि माना जाता था, 'उर्वशी' की रचना ने सिद्ध कर दिया कि वह मधुर भावों एवं कोमल अनुभूतियों में किसी से पीछे नही हैं। कदाचित् स्वयं कवि ने इसी चुनौती को ध्यान में रखकर ही अपनी नई रचना प्रस्तुत की है। जब राजनीति के क्षेत्र मे भी क्रान्ति के नेता सत्ता के भोग में लीन हो गए थे, ऐसे वातावरण मे 'कुरुक्षेत्र' का कवि उर्वशियों का चित्रण करे तो अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। अस्तु, कवि का प्रेरणा-स्रोत चाहे जो हो, पर इसमें संदेह नही कि वह रचना कवि के गौण व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है; हिन्दी कविता में कवि 'दिनकर' के नाम से जिस साहस, शौर्य एवं क्रान्ति का बोध होता है, उस कवि के अनुरूप यह कृति नहीं है। फिर भी नारी-व्यक्तित्व को गौरव, पूर्ण प्रतिष्ठा, सौन्दर्य के आकर्षक चित्रण, एवं कोमल भावनाओं की मधुर व्यंजना की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। पुरुष के त्याग, संयम एवं चारित्रिक दृढ़ता का आख्यान वे बहुत पहले कर चुके थे, इसमें उसकी दुर्बलता और असहायता का उद्घाटन हुआ है :

चाहिए देवत्व पर इस आग को धर दूँ कहाँ पर
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर
× × ×
वृद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिकता का
पर तरङ्ग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है।

वस्तुतः 'उर्वशी' को अनेक दृष्टियों से 'कामायनी' के अनंतर इस युग का दूसरा प्रौढ महाकाव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में महाकाव्य-परम्परा अभी तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है, यह दूसरी बात है कि इस परम्परा के सभी काव्य महाकाव्यत्व के उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करते। फिर भी इनके द्वारा जीवन, समाज एवं साहित्य मे उच्च मानवता के उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा का सुन्दर प्रयास हुआ है। अतः इनका महत्व अक्षुण्ण है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के आलोचकों ने इनके प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाकर इनके साथ बड़ा अन्याय किया है, जिसका प्रतिकार अब हो जाना चाहिए।

: बत्तीस :

हिन्दी गीतिकाव्य : स्वरूप और विकास

यद्यपि प्राचीन युग से ही हमारे यहाँ लोक-साहित्य के रूप में गीति-काव्य की परम्परा रही है, किन्तु आधुनिक युग में इसे अंग्रेजी के 'लिरिक' (Lyric) के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया जाता है। 'लिरिक' की व्युत्पत्ति 'लायर' (Lyre) नामक वाद्ययन्त्र से हुई। इसके सहारे जिन गीतों का गान होता था, उन्हें 'लिरिक' कहा जाने लगा। हमारे यहाँ 'गीति' शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है, उसके साथ किसी वाद्यविशेष का आश्रय ग्रहण किया जाना आवश्यक नहीं। वस्तुत: 'गीति' शब्द हमारा अपना है, यह 'लिरिक' के अनुकरण पर गढ़ा हुआ नहीं है तथा अर्थ की दृष्टि से यह लिरिक से अधिक व्यापक भी है।

काव्य या कविता का प्रमुख तत्व भाव माना जाता है और सबसे अधिक भावात्मक कविता 'गीति' रूप में मानी जा सकती है। फूल में सुगन्ध होती है, किन्तु इत्र तो एकमात्र सुगन्ध ही का संचयन होता है; ठीक इसी प्रकार कविता में भाव होते हैं, पर एकमात्र भावों का संचयन ही गीति काव्य है। पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक—जाफ्राय (Jouffroy), हीगल (Hegal), अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys), जान ड्रिंक वाटर (John Drink Water), गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि ने विभिन्न प्रकार से गीति-काव्य की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु पूर्ण सफलता उनमें से किसी को नहीं मिली। जाफ्राय ने अस्पष्ट-सी भाषा में प्रतिपादित किया कि गीति काव्य और काव्य पर्यायवाची शब्द हैं और उनमें सभी तत्वों का अन्तर्भाव होता है, जो निजी, आह्लादजनक एवं सजीव होते हैं। हीगल ने गीति-काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप विशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उनकी आशाओं, उनके आह्लाद की तरंगों और उनकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है।,' अर्नेस्ट रिस के विचारानुसार 'गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है, जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है।', इसी प्रकार जान

ट्रिक वाटर के कथनानुसार, "गीति-काव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है, जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमे किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती।" कॉलरिज ने एक स्थान पर लिखा था, "कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम है" ट्रिक वाटर ने उस परिभाषा को गीति-काव्य के अनुरूप स्वीकार किया है। प्रो० गमर और हडसन महोदय ने अपनी परिभाषाओं में गीति-काव्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया है। प्रो० गमर ने लिखा है कि "गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिनका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।" हडसन के विचारानुसार "वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह व्यक्ति वैचित्र्य में सीमित न रह कर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि यहाँ विभिन्न विद्वानो ने अन्धगज न्याय के अनुसार ही गीति-काव्य रूपी हाथी के किसी एक अंग को ही उसका पूर्ण स्वरूप मान लिया है। किसी ने भावनात्मकता पर अधिक बल दिया है तो किसी ने संगीतात्मकता और वैयक्तिकता को ही गीति-काव्य का प्राण समझ लिया है। हमारे विचार में गीति-काव्य की परिपूर्ण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"गीति-काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्त शैली में रचित रचना होती है, जिसमें कवि अनुभूतियों या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है।" ध्यान रहे कुछ विद्वानों ने प्रबन्ध शैली में रचित गीति-काव्यों को भी 'गीति' कहा है, किन्तु हमारे विचार से गीति-काव्य की मूल आत्मा का निर्वाह भी अवश्य रहेगा; और जहाँ इतिवृत्तात्मकता होगी, वहाँ भावात्मकता—जो कि गीति-काव्य की आत्मा है—का एकमात्र आधिपत्य नहीं रह सकता। 'सूर-सागर' को भले ही हम 'प्रबन्ध काव्य' कहें किन्तु उसके गीतों का आस्वादन मुक्त रूप में ही किया जाता है। वस्तुत: 'सूर-सागर' में प्रबन्धत्व कम है, मुक्तता अधिक है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीति-काव्य के छ: तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं—(१) भावनाओं का चित्रण या भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता अर्थात् निजी अनुभूतियों का प्रकाशन, (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह, (४) शैली की कोमलता व मधुरता, (५) संक्षिप्तता और (६) मुक्तक शैली। इनमें से एक-आध तत्त्व के अभाव में भी किसी रचना को गीति-काव्य की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु एक सर्वोत्कृष्ट गीति मे इन सभी तत्त्वों का समाहार होना परमावश्यक है।

वर्गीकरण

सामान्यत: हम गीति-काव्य को दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) लोक-गीति और (२) साहित्यिक गीति। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे विभिन्न वर्गों

में वर्गीकृत किया है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—सोनेट (Sonnet), ऑड (Ode), एलिजी (Elegy), सांग (Song). इपिसिल (Epistle), ईडिल (Edyll) आदि। हमारे हिन्दी के आलोचकों में से भी कुछ ने इनका अंधानुकरण करते हुए इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। डॉ० दुबे ने सात भेद किए हैं—(१) प्रेम-प्रधान गीत, (२ देश-प्रेम के गीत, (३) भक्ति-प्रधान गीत, (४) विचारात्मक गीत, (५) बुद्धि-प्रधान गीत; (६) प्रकृति के गीत, (७) सामाजिक गीत। इस प्रकार तो मानव-हृदय में जितने भाव हैं, उतने ही गीति-काव्य के भेद किए जा सकते हैं; फिर डॉ० दुबे ने प्रेम और देश-प्रेम को तो ले लिया; किन्तु वात्सल्य और करुण रस को वे कहाँ स्थान देंगी? क्या सूर के बाल-लीला सम्बन्धी पदों का उन्हें कोई ध्यान नहीं रहा? खैर, उनकी मौलिकता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है, विचारात्मक गीति के अतिरिक्त एक और भेद करना—'बुद्धि प्रधान गीत!' क्या विचारात्मक गीत में बुद्धि और बुद्धि प्रधान गीति में विचार नहीं होते! वस्तुतः यह वर्गीकरण पर्याप्त असंगत है।

अब आकारगत वर्गीकरण को लीजिए। डॉ० दुबे ने यहाँ मौलिकता को भूलकर अंधानुकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देखिए—(१) चतुर्दशपदी, (२) सम्बन्ध गीति, (३) शोक गीत, (४) गीत, (५) संगीत प्रधान (६) पत्र गीति। यदि सोचने का थोड़ा-सा कष्ट किया जाय तो यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शोक-गीति' का सम्बन्ध आकार से नहीं, विषय से है; पत्र-गीति और सम्बन्ध गीति का सम्बन्ध भी आकार से नहीं शैली से है; और 'चतुर्दशपदी' है तो चतुष्पदी या द्वादशपदियों को भी स्थान मिलना चाहिए था।

हमारे विचार से गीति-काव्य का यह वर्गीकरण अनावश्यक एवं अनुपयोगी है। मानव-अनुभूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं—अतः विषय या आकार के आधार पर गीतों का वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

उद्‌भव और विकास

असभ्य, अशिक्षित एवं अविकसित जातियों में भी किसी न किसी प्रकार के गीतों का प्रचार पाया जाता है; अतः यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का उद्‌भव मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग में ही हो गया होगा। किन्तु आरम्भ में गीति-काव्य लोक-साहित्य के रूप में ही प्रचलित रहा; साहित्य में स्थान उसे बहुत बाद में प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् जो हर बात को वैदिक साहित्य में ढूंढ़ निकालने के अभ्यस्त हैं, गीति-काव्य का उद्‌भव भी ऋग्वेद से सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं का सस्वर पाठ होता था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसी से उन्हें 'गीति-काव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सामवेद की संगीतात्मक पंक्तियों को गीति-काव्य बताना भी वैसा ही है, जैसा पद्माकर और मतिराम के लयपूर्ण कवित्त-सवैयों को गीति बताना।

भारतीय साहित्य में गीति-काव्य का सर्वप्रथम उदाहरण हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में मिलता है, जहाँ उसकी नायिका नृत्य-गान-प्रतियोगिता में

एक 'चतुष्पदिका' गाती है—'हे हृदय ! प्रिय का मिलना दुर्लभ है, अत: उसकी आशा छोड़ दे। मेरी बाईं आँख फड़क रही है। जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊँगी ? हे नाथ ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रेम के वशीभूत समझना।' (द्वितीय अंक, ४)। यद्यपि इसे कवि ने 'गीति' का नाम नहीं दिया है, किन्तु इसमें 'गीति-काव्य' की टेक को छोड़कर प्राय: सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता और मुक्तक शैली—मिलते हैं। अत: इसे 'गीति काव्य का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह चतुष्पदी नृत्य के अवसर पर प्राकृत भाषा या तत्कालीन लोकभाषा में गाई गयी है, अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक गीतों की रचना का आरम्भ पहले प्राकृत अथवा लोकभाषा में हुआ तथा काव्य-कला के स्थान पर पहले संगीत एवं नृत्य कला के क्षेत्र में गीतों का प्रयोग होता था; आगे चलकर इसे साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ।

प्रारम्भ में गीति-पद्धति का प्रचलन मुख्यत: जन-साधारण में था, अत: साहित्यकारों द्वारा उसकी उपेक्षा होना स्वाभाविक था। भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय अपभ्रंश के सिद्ध कवियों को है। वे स्वयं अशिक्षित थे तथा उन्होंने काव्य के लिए अशिक्षित वर्ग की भाषा को ही ग्रहण किया, अत: शैली में भी जन-साधारण की गीति-शैली को स्वीकार कर लेना स्वाभाविक था। सिद्ध कवियों की गीतियाँ 'चर्या-पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उन्होंने प्राय: साधिका (या मुद्रा) से अपना प्रणय निवेदन किया है—

तिअड्डा चापि जोइनि दे अंक वाली। कमल कुलिश घोंटि करहु बिआली ॥
जोइनि तइँ बिनु खनहिँ न जीवमि। तो मुँह चुम्बि कमल रस पीवमि ॥
खेपहुँ जोइनि लेप न जाअ। मणि-कुले बहिआ उडिआने समाअ ॥
सासु घेरें घालि कोंचा-ताल। चाँद सूज बेणि पखा फाल ॥
भणई गुन्डरी अम्हें कुन्दुरे बीरा। नर आ नारी माझें उभल चीरा ॥

—गुंडरीपा (चर्यागीति); राग—अरण।

सिद्धों के इन चर्या-पदों में गीति-काव्य के सभी तत्व उपलब्ध होते हैं—इनमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति है। वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, भाषा की कोमलता, मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता आदि गुण भी इनमें विद्यमान हैं। सिद्ध कवियों ने राग-रागिणियों का उल्लेख भी सर्वत्र किया है। अत: इनके गीति होने में कोई सन्देह नहीं है।

सिद्ध कवियों की यह गीति-शैली हिन्दी-काव्य में दो धाराओं में बँटकर पहुँची। एक ओर तो अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होकर संस्कृत के अनेक कवियों—भावगतकार, क्षेमेन्द्र और जयदेव—ने इसे अपनाया और विकसित किया—यही परम्परा आगे जयदेव से मैथिली कवियों—विद्यापति आदि—को प्राप्त हुई तथा उनके द्वारा इसका प्रचार कृष्ण-भक्त कवियों में हुआ। दूसरी ओर सिद्धों की गीति-परम्परा नाथ-पंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों को प्राप्त हुई। इस प्रकार भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में गीति-धारा का प्रवाह दो स्रोतों—कृष्ण भक्त और सन्त काव्य—के रूप में प्रवाहित हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

में वर्गीकृत किया है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—सॉनेट (Sonnet), ऑड (Ode), एलिजी (Elegy), सांग (Song), इपिसिल (Epistle), ईडिल (Edyll) आदि। हमारे हिन्दी के आलोचकों में से भी कुछ ने इनका अंधानुकरण करते हुए इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। डॉ० दुबे ने सात भेद किए हैं—(१) प्रेम-प्रधान गीत, (२ देश-प्रेम के गीत, (३) भक्ति-प्रधान गीत, (४) विचारात्मक गीत, (५) बुद्धि-प्रधान गीत; (६) प्रकृति के गीत, (७) सामाजिक गीत। इस प्रकार तो मानव-हृदय में जितने भाव हैं, उतने ही गीति-काव्य के भेद किए जा सकते हैं; फिर डॉ० दुबे ने प्रेम और देश-प्रेम को तो ले लिया; किन्तु वात्सल्य और करुण रस को वे कहाँ स्थान देंगी? क्या सूर के बाल-लीला सम्बन्धी पदों का उन्हें कोई ध्यान नहीं रहा? खैर, उनकी मौलिकता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है, विचारात्मक गीति के अतिरिक्त एक और भेद करना—'बुद्धि प्रधान गीत!' क्या विचारात्मक गीत में बुद्धि और बुद्धि प्रधान गीति में विचार नहीं होते! वस्तुतः यह वर्गीकरण पर्याप्त असंगत है।

अब आकारगत वर्गीकरण को लीजिए। डॉ० दुबे ने यहाँ मौलिकता को भूलकर अंधानुकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देखिए—(१) चतुर्दशपदी, (२) सम्बन्ध गीति, (३) शोक गीत, (४) गीत, (५) संगीत प्रधान (६) पत्र गीति। यदि सोचने का थोड़ा-सा कष्ट किया जाय तो यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शोक-गीति' का सम्बन्ध आकार से नहीं, विषय से है; पत्र-गीति और सम्बन्ध गीति का सम्बन्ध भी आकार से नहीं शैली से है; और 'चतुर्दशपदी' है तो चतुष्पदी या द्वादशपदियों को भी स्थान मिलना चाहिए था।

हमारे विचार से गीति-काव्य का यह वर्गीकरण अनावश्यक एवं अनुपयोगी है। मानव-अनुभूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं—अतः विषय या आकार के आधार पर गीतों का वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

उद्भव और विकास

असभ्य, अशिक्षित एवं अविकसित जातियों में भी किसी न किसी प्रकार के गीतों का प्रचार पाया जाता है; अतः यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का उद्भव मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग में ही हो गया होगा। किन्तु आरम्भ में गीति-काव्य लोक-साहित्य के रूप में ही प्रचलित रहा; साहित्य में स्थान उसे बहुत बाद में प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् जो हर बात को वैदिक साहित्य में ढूंढ़ निकालने के अभ्यस्त हैं, गीति-काव्य का उद्भव भी ऋग्वेद से सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं का सस्वर पाठ होता था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसी से उन्हें 'गीति-काव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सामवेद की संगीतात्मक पंक्तियों को गीति-काव्य बताना भी वैसा ही है, जैसा पद्माकर और मतिराम के लयपूर्ण कवित्त-सवैयों को गीति बताना।

भारतीय साहित्य में गीति-काव्य का सर्वप्रथम उदाहरण हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में मिलता है, जहाँ उसकी नायिका नृत्य-गान-प्रतियोगिता में

एक 'चतुष्पदिका' गाती है—'हे हृदय ! प्रिय का मिलना दुर्लभ है, अत: उसकी आशा छोड़ दे। मेरी बाईं आँख फड़क रही है। जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊँगी ? हे नाथ ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रेम के वशीभूत समझना।' (द्वितीय अंक, ४)। यद्यपि इसे कवि ने 'गीति' का नाम नहीं दिया है, किन्तु इसमें 'गीति-काव्य' की टेक को छोड़कर प्राय: सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता और मुक्तक शैली—मिलते हैं। अत: इसे 'गीति काव्य' का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह चतुष्पदी नृत्य के अवसर पर प्राकृत भाषा या तत्कालीन लोकभाषा में गाई गयी है, अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक गीतों की रचना का आरम्भ पहले प्राकृत अथवा लोकभाषा में हुआ तथा काव्य-कला के स्थान पर पहले संगीत एवं नृत्य कला के क्षेत्र में गीतों का प्रयोग होता था; आगे चलकर इसे साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ।

प्रारम्भ में गीति-पद्धति का प्रचलन मुख्यत: जन-साधारण में था, अत: साहित्यकारों द्वारा उसकी उपेक्षा होना स्वाभाविक था। भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय अपभ्रंश के सिद्ध कवियों को है। वे स्वयं अशिक्षित थे तथा उन्होंने काव्य के लिए अशिक्षित वर्ग की भाषा को ही ग्रहण किया, अत: शैली में भी जन-साधारण की गीति-शैली को स्वीकार कर लेना स्वाभाविक था। सिद्ध कवियों की गीतियाँ 'चर्या-पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उन्होंने प्राय: साधिका (या मुद्रा) से अपना प्रणय निवेदन किया है—

तिअड्डा चापि जोइनि दे अंक वाली। कमल कुलिश घोंटि करहु विआली॥
जोइनि तइं बिनु खनहि न जीवमि। तो मुंह चुम्बि कमल रस पीवमि॥
खेपहुं जाइनि खेप न जाअ। मणि-कुले बहिआ उडिआने समाअ॥
सासु घेरें घालि कोंचा-ताल। चांद सुज बेणि पखा फाल॥
भणई गुन्डरी अम्हें कुन्दुरे बीरा। नर अ नारी माझे उभल चीरा॥

—गुंडरीपा (चर्यागीति); राग—अरण।

सिद्धों के इन चर्या-पदों में गीति-काव्य के सभी तत्व उपलब्ध होते हैं—इनमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति है। वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, भाषा की कोमलता, मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता आदि गुण भी इनमें विद्यमान हैं। सिद्ध कवियों ने राग-रागिणियों का उल्लेख भी सर्वत्र किया है। अत: इनके गीति होने में कोई सन्देह नहीं है।

सिद्ध कवियों की यह गीति-शैली हिन्दी-काव्य में दो धाराओं में बँटकर पहुँची। एक ओर तो अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होकर संस्कृत के अनेक कवियों—भागवतकार, क्षेमेन्द्र और जयदेव—ने इसे अपनाया और विकसित किया—यही परम्परा आगे जयदेव से मैथिली कवियों—विद्यापति आदि—को प्राप्त हुई तथा उनके द्वारा इसका प्रचार कृष्ण-भक्त कवियों में हुआ। दूसरी ओर सिद्धों की गीति-परम्परा नाथ-पंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों को प्राप्त हुई। इस प्रकार भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में गीति-धारा का प्रवाह दो स्रोतों—कृष्ण भक्त और सन्त काव्य—के रूप में प्रवाहित हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

संस्कृत काव्य में सर्वप्रथम गीति-शैली का प्रयोग, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भागवतकार ने अपने ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में गोपियों के विरह के प्रसंग में किया है। उन्होंने वियोगनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए गोपियों के मुँह से ही तीन-चार गीतियों का गान करवाया है, जो भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता आदि गुणों से युक्त हैं। श्री क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ (दशावतार चरित्र) में कृष्णावतार प्रसंग में एक गीति का प्रयोग किया है, जो सरलता से ओत-प्रोत है। इन गीति में टेक का भी प्रयोग हुआ है—

ललित विकास कला मुख खेलन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानितनव मदने।
केशि किशोर महासुर मारण
दारुण गोकुल दुरित विदारण
गोवर्द्धन धरणे।
कस्य न नयन युगं रति सज्जे
मज्जसि मनसिज तरल तरंगे
वर रमणीरमणे।

क्षेमेन्द्र की परम्परा को जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने काव्य को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 'हरि स्मरण' के साथ-साथ 'विलास-कला' का भी समन्वय किया। यद्यपि इस दृष्टिकोण के कारण 'गीतगोविन्द' में भक्ति भावना का प्रकाश गौण हो गया है; राधा-कृष्ण की स्थूल क्रीडाओं का इतिवृत्त ही उसमें अधिक आ गया है, किन्तु फिर भी उसमें भावात्मकता का सर्वथा अभाव नहीं है। गीतगोविन्दकार को कदाचित् महाकवि कहलाने की आकांक्षा थी, अतः उन्होंने इस एक सौ श्लोकों की छोटी रचना को बारह सर्गों में विभाजित किया है जिससे वह 'महाकाव्य' की संज्ञा से अभिभूषित हो सके, किन्तु इसमें कथानक का तन्तु इतना सूक्ष्म, शिथिल एवं अस्पष्ट है कि उसे 'प्रबन्ध' कहना 'प्रबन्ध' शब्द का दुरुपयोग है। जयदेव ने इस ग्रन्थ की रचना में काव्यशास्त्र की और काम-शास्त्र की रूढ़ियों का भी समन्वय प्रयत्नपूर्वक किया है। राधा-कृष्ण का मिलन सहज-स्वाभाविक ढंग से न होकर नायिका-भेद की सीढ़ियों को पार करता हुआ उपलब्ध होता है। दोनों के मिलन से पूर्व राधा को क्रमशः अष्टनायिकाओं— अन्यसम्भोगदु:खिता, मानवती, अभिसारिका, कलहान्तरिता आदि के रूप धारण करने पड़ते हैं। 'रोदति विलपति वासकसज्जा' जैसे संकेतों द्वारा कवि ने इन रूपों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप में कर दिया है। अस्तु, 'गीतगोविन्द' में भावों की स्वाभाविकता की अपेक्षा रूढ़ियों का कृत्रिम प्रयोग अधिक है; किन्तु फिर भी अपनी कोमल मधुर शब्दावली एवं संगीतात्मकता के कारण 'गीतगोविन्द' बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया।

जयदेव की गीति-परम्परा को हिन्दी-काव्य क्षेत्र में विकसित करने का श्रेय विद्यापति को है। उन्होंने 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' की घोषणा करते हुए संस्कृत की काव्य-माधुरी को लोकभाषा – मैथिली या हिन्दी—में प्रवाहित करने का साहस किया, उनके गीति-काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृंगारी क्रीड़ाओं का वर्णन ही है, किन्तु भावात्मकता की दृष्टि से वे जयदेव से आगे हैं। जयदेव का ध्यान मुख्यतः घटनाओं पर रहता है, जबकि विद्यापति का भाव-दशाओं पर। वे पूरी गीति में किसी एक परिस्थितियों को लेकर उससे सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण अनुभूति से पूर्ण इस प्रकार वेष्टित कर देते हैं कि वह विशुद्ध भावावेग का रूप धारण कर लेता है—

सहरहि आन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि।
पंकज मधु पिवि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि।
× × ×
ततहि धाओल दुइ लोचन रे, जतहि गेलि वर नारि!
आसा लुबुधल न तेजए रे, कृपन क पाछु भिखारि!!

यहाँ सौन्दर्य की स्थूल रूप-रेखाओं का चित्रण कम है, उससे सम्बन्धित आकांक्षाओं, लालसाओं व विभिन्न भावानुभूतियों की व्यंजना अधिक है। पंक्ति के अन्त में 'रे' की आवृत्ति से तो द्रवीभूत हृदय की सरलता स्पष्ट रूप में मुखरित हो रही है।

विद्यापति जिस प्रणय-गाथा का वर्णन अपने काव्य में करते हैं, वह उनकी नहीं उनके नायकराज एवं नागरी राधा की है, किन्तु फिर भी उन्होंने एक ऐसी शैली अपनाई है जिससे उनकी गीतियों में वैयक्तिकता का समावेश हो जाता है; जैसे कि निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

कतन वेतन मोहि देसि वदना
× × ×
कहहि मो सखि कहहि मो
तक नकर मधिकार
× × ×
कि मेरा जीवन कि मोरा जीवन
कि मोरा चतुर पने
× × ×
सखि! है आज जाइब मोहि
घर गुरुजन डर न मानब
वचन चूकब नाहि॥

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कवि नायक-नायिका के लिए 'अन्य-पुरुष' वाची सर्वनामों का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष में उनकी अनुभूतियों को व्यक्त करता है, जिससे इनमें वैयक्तिकता का गुण आ गया है।

संगीत के स्वरों का भी विद्यापति का पूरा अभ्यास था। भाषा की कोमलता एवं मधुरता पर तो मानो उनका एकाधिकार था। उनकी पदावली के छोटे-छोटे पदों में भाव, संगीत एवं भाषा का अनूठा समन्वय हुआ है—

नन्द क नन्दन क तरु तर घिरे-घिरें मुरली बजाव ।
समय संकेत-निकेतन बइसल वेरी बेरी बोलि पठाव ।।

वस्तुतः विद्यापति के काव्य में गीति-काव्य की सभी विशेषताओं का निर्वाह सफल रूप में हुआ। उनकी पदावली इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके प्रदेश में शताधिक कवियों ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। मैथिली गीतों की परम्परा पन्द्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रवाहित होती रही है। चन्द्रकला, दशावधान ठाकुर, भीष्मकवि, लोचन, गोविन्ददास, भूपतीन्द्र, बुद्धिलाल, रमापति आदि कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करते हुए अनेक सरस पदों की रचना की है।

विद्यापति के पदों का प्रचार केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहा, बंगाल, विहार, उड़ीसा, आसाम आदि प्रदेशों में उनके गीतों का स्वर गुंजित होने लगा। वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के प्रचारक श्री चैतन्य द्वारा तो उनके पदों की प्रसिद्धि और भी दूर-दूर तक फैल गई। श्री चैतन्य के अनेक अनुयायी वृन्दावन में आकर रहने लग गए थे, जिनके द्वारा विद्यापति की पदावली का प्रचार ब्रज-प्रदेश में हुआ तथा आगे चलकर अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा का विकास ब्रजभाषा में किया। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में स्थूल ढाँचा बहुत कुछ मैथिली गीति-परम्परा के आधार पर निर्मित है, यह दूसरी बात है कि उनकी मूल भावना में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। विद्यापति के पद राजाओं के रंग-महल में राजा शिवसिंह एवं रानीदेवी जैसे रसिक दम्पति के सम्मुख रचे गये थे, जबकि कृष्ण-भक्ति कवियों का काव्य वैष्णव-मन्दिरों में राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप बैठकर लिखा गया था, अतः दोनों के स्वर की मूल ध्वनि में थोड़ा-बहुत अन्तर होना स्वाभाविक भी है। राधा-कृष्ण के आश्रय में शृङ्गारिकता का चित्रण दोनों काव्य-धाराओं में हुआ है; किन्तु विद्यापति में रसिकता का उन्मेष अधिक है, जबकि अष्टछाप के कवि अन्ततः अपने भक्ति भाव को स्पष्ट कर देते हैं। राधा-कृष्ण की छेड़-छाड़ का वर्णन करनेवाला कवि सूर अपने प्रत्येक पद के अन्त में 'सूर-श्याम-प्रभु' कहकर श्रोता को यह स्मरण करा देता है कि वह किसी भक्त के उद्‌गार सुन रहा है।

अष्टछाप के कवियों में सर्वोच्च स्थान महाकवि सूरदास का है। यदि हम कहें कि उनके गीतों में गीति काव्य की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं तो सम्भवतः उनकी कला के साथ पूरा न्याय नहीं होगा। सभी विशेषताओं के विद्यमान होने की बात तो अनेक कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, किन्तु सूरदास में तो कुछ ऐसी विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसे शब्दों में समझना सरल नहीं। उनके पदों में भावनाओं का एक ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है, जिसके आदि-अन्त का कोई पार नहीं; उनके उद्‌गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उनमें निजी और पारकीय का भेद करना सम्भव नहीं; उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहरियों का गुंजार हो रहा है कि वहाँ संगीत-शास्त्र के नियमों को याद रखना वश की बात नहीं और उसमें भाषा का ऐसा लालित्य व शब्दों का ऐसा माधुर्य घुला हुआ है कि उसके आस्वादन में मग्न होकर कटुता एवं तिक्तता के स्वाद को भूल जायँ

तो कोई आश्चर्य नहीं। बालकृष्ण की उक्तियों में जैसी स्वाभाविकता, विरह-विधुरा राधा के शब्दों में जैसा दैन्य, एवं श्याम की दरस की प्यासी गोपियों के उपालम्भों में जैसा व्यंग्य है, वह किसी भी सहृदय के मन को मोहित कर सकता है। सूर के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में कुछ पाठकों को 'वैयक्तिकता' के अभाव का आभास होगा, क्योंकि उनमें वर्णित घटनाएँ कवि के निजी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं, किन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विद्यापति की भाँति कवि सूर ने भी गोप-बालाओं की अनुभूतियों को स्वानुभूतियों के रूप में ही प्रकाशित किया है; यथा—

ऊधो मन नहिं हाथ हमारे।

× × ×

ऊधो ! हम हैं अति बौरी !

× × ×

कबहूँ सुधि करत गोपाल हमारी ?

× × ×

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में गीति काव्यों का दूसरा स्रोत संत-कवियों द्वारा प्रवाहित हुआ। कृष्ण-भक्त कवियों को गीति-काव्य की जो धारा प्राप्त हुई थी, वह जयदेव एवं विद्यापति के द्वारा बहुत कुछ परिष्कृत एवं विकसित हो चुकी थी, किन्तु संत-कवियों ने उसके अपरिष्कृत एवं अविकसित रूप को ही अपनाया। अशिक्षा, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, विचारों की तीव्रता, भावों की अस्पष्टता, शैली की जटिलता एवं भाषा की अशुद्धता की दृष्टि से अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व हिन्दी में संत काव्य द्वारा ही होता है। उपर्युक्त न्यूनताओं एवं दोषों के कारण संत-कवियों की गीति-काव्य-धारा के स्वच्छन्द प्रवाह के बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं, जो उनके आस्वादन की गति में बाधक सिद्ध होते हैं। किन्तु फिर भी जहाँ कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि उपदेशों के प्रचार, खंडन-मंडन एवं योगमार्ग की चर्चा को भूलकर विशुद्ध अनुभूति की व्यंजना में प्रवृत्त हुए हैं, वहाँ उनके पदों में पर्याप्त भावात्मकता, सरलता एवं मधुरता आ गई है। जैसे—

बहुत दिनन थे मैं प्रीतम पाये !
भाग बड़े घरि बैठे धाये !
मंगलचार मांहि मन राखौं। राम रसांइण रसना चाखौं।
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिव प्यारा ॥

× × ×

कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी ! सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥

वैयक्तिकता का तत्त्व तो संत-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि इन्होंने प्रायः निजी अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है। संगीतात्मकता का प्रमाण इनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न राग-रागनियों में मिलता है। भाषा में अवश्य सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता सर्वत्र नहीं मिलती, किन्तु कुछ पदों में ये गुण

भी विद्यमान हैं। अतः विद्यापति और सूर के पदों का सा माधुर्य न होते हुए भी संत-कवियों के काव्य का महत्त्व कम नहीं है।

हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में गीति-धारा के किसी नए स्रोत का प्रस्फुटन नहीं हुआ, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस युग में गीति-काव्य की रचना हुई ही नहीं। हमारे इतिहासकारों ने जिस ढंग से संत एवं कृष्ण-भक्त कवियों का परिचय दिया है, उससे यह भ्रांति फैल गई है कि रीति-काल में केवल कवित्त-सवैया पद्धति में ही काव्य-रचना हुई, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। इसी युग में जबकि राजाओं के आश्रय में रीति-बद्ध काव्य की रचना हो रही थी, मैथिली, कृष्ण-भक्त और संत कवियों द्वारा गीति-काव्य की धारा अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही थी। सुन्दरदास, मलूकदास, अक्षरअनन्य, ध्रुवदास आदि अनेक कवि रचना-काल की दृष्टि से रीति-काल के कवि हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि नवीनता के प्रति अधिक आकर्षण होने की प्रवृत्ति के कारण लोगों की अधिक रुचि नवीन कवित्त-सवैया पद्धति में ही थी अतः गीति धारा का प्रवाह मन्द गति से ही आगे बढ़ रहा था।

आधुनिक युग में गीति-धारा के तीन स्रोत क्रमशः प्रस्फुटित हुए। पहला स्रोत भारतेन्दु युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रस्फुटित हुआ जिसमें उन्होंने सूर, तुलसी का अनुकरण करते हुए भक्ति-भावना से पूर्ण पदों की रचना की। कविता में भारतेन्दु की मूल-पद्धति कवित्त सवैया की थी, अतः इनके पदों में मौलिकता या ताजगी का आभास नहीं होता, पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों का ही पिष्ट-पेषण उनमें अधिक है। दूसरा स्रोत छायावादी कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ। इन कवियों ने निजी प्रेमानुभूतियों को लेकर काव्य-रचना की तथा इनका प्रेरणा-स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय काव्य कम था, पाश्चात्य लिरिक-कविता अधिक थी, उनमें एक नया उत्साह, नई स्फूर्ति दृष्टिगोचर होती है। अब तक हिन्दी के गीतिकारों ने प्रायः राधा-कृष्ण के प्रेम की ही व्यंजना अपने काव्य में की थी। निजी प्रेमानुभूतियों के प्रकाशन का प्रयत्न गीति-काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी में ही मिलता है। वैसे प्रेम दीवानी मीरा व घनानन्द आदि के द्वारा भी ऐसा हो चुका था; किन्तु एक का प्रेम आध्यात्मिक था जबकि दूसरे की शैली गीति नहीं थी, अतः छायावादियों को ही इसका श्रेय देना उचित है। छायावादी कवियों का दृष्टिकोण वस्तु-परक रहा. संगीत और लय का भी उन्होंने पूरा ध्यान रखा है। निराला तथा महादेवी वर्मा का कृतित्व इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। निराला ने अपने विविध प्रयोगों द्वारा हिन्दी गीति-काव्य को समृद्ध किया तो महादेवी जी ने लोक-गीतों पर आधारित धुनें लेकर उनमें नया संगीत भरा। उनकी शैली में संक्षिप्तता, सूक्ष्मता एवं मधुरता का गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से गीति-काव्य के लिए आवश्यक सभी तत्त्व छायावादी काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष भी समन्वित हैं, जिनके कारण वे हमारे हृदय का उद्वेलन उस सीमा तक नहीं कर पाते, जिस सीमा तक हम गीति-काव्य से आशा रखते हैं। भावात्मकता उनमें है किंतु

उनके चारों ओर दार्शनिकता एवं बौद्धिकता की एक ऐसी चौघट कसी हुई है, जिससे यह स्वच्छन्दतापूर्वक पाठक के हृदय में हिल-मिल नहीं सकती; वैयक्तिकता भी उनमें है किन्तु वह प्रकृति-बाला की गोदी में इस तरह छिपी हुई है कि उसे पहचान पाना सरल नहीं; उनकी भाषा मधुर है; किन्तु उसमें पेड़ों की सनसन, पत्तों का मरमर एवं चिड़ियों की चहचहाहट का मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि उसे समझना टेढ़ी खीर है। इनके अतिरिक्त छायावादी कवि धरती पर मनुष्यों की तरह चलता-फिरता दिखाई नहीं देता, वह कभी भौंरो का रूप धारण कर उड़ता हुआ अपनी सुहाग भरी जूहियों के पास पहुँचता है; कभी नक्षत्र-लोक से निमन्त्रण पाकर गगन के उस पार तक चला जाता है, तो कभी अपने अलौकिक प्रियतम के साक्षात्कार के लिए नभ की दीपावलियों को बुझा देने का दुष्प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है। भला, इस अलौकिक जगत् में पहुँचकर किसी अपरिचित के साथ आँख-मिचौनी खेलनेवाले कवि की लीला को हम क्या समझें? उसकी गुनगुनाहट मीठी है, बिल्कुल भौंरों जैसी, जिसका अर्थ हम नहीं समझ सकते; उसका सौन्दर्य तितली जैसा है, जिसे हम छू नहीं सकते; उसका माधुर्य अमृत जैसा है, जिसे हम पा नहीं सकते। यही कारण है कि छायावादी कवियों के गीति काव्य की स्वर लहरियाँ जन-मानस की भावनाओं को उद्वेलित नहीं कर सकीं। चंचला की चमक और विद्युत् की गर्जना की भाँति एकाएक स्फुरित होकर वे विस्तृत नभ के किसी कोने में ही विलीन हो गई!

आधुनिक युग में गीति-काव्य का तीसरा स्रोत प्रगतिवादी कवियों की कलम से प्रस्फुटित हुआ। इनका दृष्टिकोण छायावादियों से सर्वथा विरोधी रहा। छायावादी उच्चता में यदि आसमान को छूने का प्रयत्न करते थे तो ये ठेठ पाताल में ही पहुँच जाना चाहते हैं; धरती के सीधे साधे जीवन दोनों में ही नहीं हैं। उनके स्वर में नारी की ऐसी मन्द-मन्द कोमलता थी, जो पास में बैठे हुए को भी नहीं सुनाई दे तो इनके स्वर का विस्फोट कोसों दूर व्यक्ति के श्रुत-कर्णों को भी चोट पहुँचाने में समर्थ है। इनकी कविता में भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता, वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता, संगीतात्मकता की अपेक्षा बेसुरापन, भाषा की कोमलता की अपेक्षा कठोरता अधिक है, अतः गीति काव्य के लक्षणों की पूर्ति इनमें नहीं मिलती। किन्तु जहाँ नवीन, दिनकर, मिलिन्द आदि ने अनुभूति से परिपूर्ण कविताओं की रचना की है, उनमें गीति की आत्मा स्वतः ही मुखरित हो उठती है। यथा, दिनकर की इस 'हुंकार' को सुनिए —

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अंधकार देता तब मुझको आमंत्रण।

यह खेद का विषय है कि ऐसी ओजपूर्ण भावोत्तेजक गीतियाँ प्रगतिवादी कवियों द्वारा अधिक संख्या में नहीं लिखी गई, कुछ ने तो कोरी तुकबन्दियाँ ही कर दी हैं—

ताक रहे हो गगन !
मृत्यु नीलिमा गहन ।
अनिमेष अचितवन काल नयन :
देखो भू को ।
जीव प्रसू को ।

—पंत (युगवाणी)

इन पंक्तियों को गीति-काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच होता है ।

इधर प्रयोगवादियों ने भी अपने प्रयोगों द्वारा गीति-काव्य के कई नवीन स्वरूपों का आविष्कार किया है; जिनमें कहीं वे भावात्मकता के अभाव में जी रहे हैं, तो कहीं वैयक्तिकता के विस्फोट से पाठकों को चौंका रहे हैं। संगीतात्मकता और शैली की मधुरता का भी इनमें पूरा प्रकोप है, केवल बात यह है कि उसका आस्वादन करने के लिए हमें नई आँखें और नये कान चाहिए, पुराने दिमाग और पुराने शरीर के अवयवों से नई कविता को ग्रहण करना सम्भव नहीं । यदि हमारे नये कवि दस-बीस वर्ष प्रयत्न करते रहें तो सम्भव है कि उनके शब्दों की तड़ातड़ से हमारी श्रवणेन्द्रियाँ घिसकर इतनी चिकनी हो जाएँगी कि वे भी इस नई कविता के रस को निगलने में समर्थ हो सकें । उनकी इमें 'तड़ातड़' का नमूना द्रष्टव्य है ।

"तूफान है !
दरवाजों की भड़ाभड़ आवाज है !
धूल है !
दम घुटता है ? घुटने दो ! !
हिम्मत बांधो चीखो मत !!
चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूंगा ! !"

'नई कविता' के नए गीतों के श्रोताओं को चाहिए कि वे दम घुटने की परवाह न करके हिम्मत बांधकर इन गीतों को सुनते रहें ।

सौभाग्य से नए गीतों के इस रेगिस्तान के बीच में कभी-कभी बच्चन, नरेन्द्र, नीरज, रामावतार त्यागी, बालस्वरूप राही, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की मधुर रचनाओं में नखलिस्तान के भी दर्शन हो जाते हैं, जिससे बोध होता है कि हिन्दी मधुर गीति-काव्य-धारा का स्रोत अभी सूखा नहीं है, उसकी गति भले ही मन्द हो गई हो; किन्तु वह धीरे-धीरे आगे अवश्य बढ़ रहा है !

: तैंतीस :

हिन्दी मुक्तक काव्य : स्वरूप और विकास

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य के विपरीत रूप अर्थात् अप्रबन्ध-प के लिए मुक्तक शब्द का व्यवहार किया है। अग्निपुराण ने ऐसे श्लोकों को कों की संज्ञा दी है, जो अपने अर्थद्योतन में स्वतः समर्थ हों—"मुक्तक श्लोक कश्चमत्कारक्षमः सताम्।" आगे चलकर ध्वन्यालोक के लोचनकार अभिनवगुप्त इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि ऐसे पद्य को, जिसका अगले-पिछले द्यों से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो अपने विषय को प्रकट करने में अकेला समर्थ ो, मुक्तक कहते हैं। साथ ही स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप में अर्थ-द्योतन में समर्थ होते हुए भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसकी एक विशेषता और बताई है कि वह उसमें विभाव, अनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस भरा होता है कि वह पाठक को रसानुभूति प्रदान कर सकता है। आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि प्रबन्ध के अन्तर्गत जितने भावों या रसों का परिपाक सम्भव है, उतने ही भावों या रसों की व्यंजना मुक्तक में भी सम्भव है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक के स्वरूप का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक-स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य की विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।" यद्यपि यहाँ मुक्तक के स्वरूप की रूप-रेखा बहुत ही आकर्षक शब्दावली में प्रस्तुत की गई है जिससे प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु हमारे प्राचीन और आधुनिक आचार्यों ने कहीं भी इस प्रश्न पर विचार नहीं किया कि मुक्तक रचना में रस-निष्पत्ति किस प्रकार होती है? रस-निष्पत्ति के लिए भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारी आदि का चित्रण अपेक्षित होता है, किन्तु मुक्तक का क्षेत्र संकीर्ण होता है, उसमें इन सबके लिए स्थान नहीं होता—किसी एक अंग का ही चित्रण हो पाता है, अतः उससे रसानुभूति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है?

और यदि किसी एक अवयव से ही रस-निष्पत्ति हो सकती है तो फिर प्रबन्ध में सभी अवयवों के विकास पर क्यों बल दिया जाता है ?

यह तो स्वयं आचार्य शुक्ल ने ही स्वीकार कर लिया है कि प्रबन्ध में जहाँ हृदय को रस-मग्न करने की क्षमता होती है, वहाँ मुक्तक से रस के छींटे ही पड़ते हैं, जिनसे हृदय-कलिका खिल उठती है (उसमें मग्न नहीं हो पाती)। इसका तात्पर्य हुआ कि रसानुभूति की दृष्टि से मुक्तक काव्य में प्रबन्ध की अपेक्षा न्यून शक्ति होती है। फिर भी हमारी मूलभूत समस्या—कि मुक्तक से रस-निष्पत्ति (भले ही रस की धारा न होकर छींटे ही सही) किस प्रकार होती है—का समाधान नहीं होता।

हमारे विचार से उत्कृष्ट कोटि का मुक्तक-काव्य प्रबन्ध-काव्य से चुनकर अलग किया हुआ कोई ऐसा अंश नहीं होता, जो कि वाटिका से चुनकर तैयार किए हुए गुलदस्तों के समान हो और न ही वह प्रबन्ध का एक लघु-संस्करण होता है। प्रबन्ध और मुक्तक का सम्बन्ध पूरे शरीर और उसके एक अंग (हाथ, पैर आदि) का सा नहीं होता, और न ही दीर्घकाय मनुष्य और लघुकाय शिशु का सा होता है। एक बार डॉ० गुलाब राय जी ने उपन्यास और कहानी का अन्तर स्पष्ट करते हुए बैल और मेंढक का उदाहरण दिया था, वही बात प्रबन्ध और मुक्तक के सम्बन्ध में कह सकते हैं। वस्तुतः दोनों की स्वतंत्र सत्ता है और दोनों स्वतंत्र विधाएँ हैं। एक मुक्तककार रस के सारे अवयवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, जिससे कि वे उन सबका चर्वण करके रस की उपलब्धि कर सकें, अपितु कवि स्वयं अपने मानस में ही उन सबका आलोड़न-विलोड़न कर लेता है और उसमे प्राप्त अनुभूति-मात्र को अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। कहना चाहिये कि प्रबन्ध में वह सारी स्थूल-सामग्री उपस्थित होती है, जिसमे रस की निष्पत्ति सम्भव होती है; जबकि मुक्तककार सामग्री प्रस्तुत न करके उसका केवल सार या रस मात्र प्रस्तुत करता है। प्रबन्धकार, मैदा, चीनी, घृत आदि सब कुछ प्रस्तुत करता है जिससे हलुआ तैयार हो सके; जबकि मुक्तककार केवल बना-बनाया हलुआ ही उपस्थित कर देता है, भले ही आकार-परिमाण की दृष्टि से वह न्यून ही क्यों न हो।

मुक्तक-काव्य में रस के सभी स्थूल अवयवों का चित्रण नहीं होता, उसमें किसी एक अवयव या भाव दशा का निरूपण होता है, किन्तु इसमें कुछ ऐसे संकेत होते हैं जिससे शेष अवयवों की कल्पना करने में पाठक स्वयं समर्थ हो सके। उदाहरण के लिए निम्नांकित सवैया द्रष्टव्य है—

> पर कारन देह को धारे फिरो, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसो।
> निधि नीर सुधा के समान करो, सबही विधि सुन्दरता सरसो।
> 'घन आनन्द' जीवनदायक हो, कछो मेरियो पीर हिए परसो।
> कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को ले बरसो।

यहाँ आलम्बन और आश्रय का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है, उनकी परिस्थितियों व भाव-दशा का भी अंकन नहीं है, किन्तु प्रणयी हृदय के व्याकुल उद्गारों द्वारा ही सारी स्थिति की व्यंजना हो जाती है। वस्तुतः यहाँ स्थायीभाव के विभिन्न अवयव न होकर स्वयं स्थायीभाव ही द्रवीभूत होकर प्रवाहित हो रहा है।

मुक्तक के भेदोपभेद

संस्कृत विद्वानों एवं आचार्यों ने मुक्तक के कई भेदोपभेद किये हैं। दंडी ने उसके मुख्य तीन भेद किए हैं— मुक्तक, कुलक कोष और संघात। आगे चलकर भेदों की संख्या में वृद्धि हो गई। ये भेदोपभेद मुख्यतः श्लोक संख्या व विषय-भेद पर ही आधारित हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा मुक्तक के ये ६ भेद स्वीकृत किए गए हैं —(१) मुक्तक—एक श्लोक में पूर्ण होनेवाली रचना, (२) युग्मक —दो श्लोकों में समाप्त होने वाली रचना, (३) विशेषक- तीन श्लोकों वाली रचना, (४) कलापक— चार श्लोकों वाली रचना, (५) कुलक —पांच श्लोकों वाली रचना, (६) कोष— ऐसे श्लोकों का संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों, (७) प्रघट्टक - एक ही कवि द्वारा रचित श्लोकों का समूह, (८) विकीर्णक—अनेक कवियों द्वारा रचित श्लोकों का संग्रह, (६) संघात या पर्याय बन्ध —एक कवि द्वारा एक विषय पर रचित छन्दों का संग्रह।

उपर्युक्त वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है और न ही विशेष उपयोगी। सामान्यतः आजकल मुक्तक के प्रथम भेद मुक्तक (एक श्लोक वाली रचना) को मुक्तक कहा जाता है। शेष भेदों का प्रचलन नहीं है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने हिन्दी में प्रचलित मुक्तकों का वर्गीकरण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है जो इस प्रकार है—

(१) संख्याश्रित मुक्तक काव्य जैसे 'हजारा', 'सतसई', 'शतक', 'पचासा', 'बावनी', 'चालीसा', 'पचीसी'; 'बाईसी' आदि।

(२) वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—जैसे मातृका संज्ञक (दोहा मातृका), ककक्क शतक, ककहरा; अखरावट, बारहखड़ी आदि।

(३) छन्दाश्रित दोहावली, कवितावली।

(४) रागाश्रित - जैसे राग लावनी रेखता आदि।

(५) ऋतु आश्रित --चर्चरी, फागु, होरी, बारहमासा, षड्ऋतु आदि।

(६) पूजा-धर्म आश्रित स्तोत्र, स्तुति, स्तवन आदि।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह वर्गीकरण भी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित नहीं है। इसमें विभिन्न मुक्तक-संग्रहों के नामकरण को ही आधार माना गया है उसकी विषय-वस्तु या शैली का ध्यान नहीं रक्खा गया। वस्तुतः मुक्तक काव्य भेदोपभेद के पचड़े एवं वर्गीकरण की सीमाओं से भी मुक्त रहना अधिक पसन्द करता है, अतः उसे बलात् भेदों के कठघरे में जकड़ना उचित नहीं होगा। मुक्तक-काव्य का कोई निश्चित विषय, निश्चित रूप या निश्चित शैली नहीं है, अतः उसके रूप-भेदों की संख्या अगणित है।

उद्भव और विकास

यद्यपि सृष्टि के आदि-काव्य के विषय में आज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु इतना निश्चित है कि उसकी शैली मुक्तक ही रही होगी। क्योंकि प्रबन्ध-काव्य का विकास तो धीरे-धीरे मानवीय सभ्यता की उन्नति एवं मानव-मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ मुक्तक काव्य के अनन्तर ही हुआ होगा। विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध

रचना ऋग्वेद भी मुक्तक रूप में ही रचित है। आगे चलकर पालि और प्राकृत साहित्य में भी मुक्तक की प्रधानता मिलती है। बौद्ध कवियों द्वारा थेरि गाथाओं में तथा जैन कवियों द्वारा अर्द्धमागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन निर्वाह करनेवाला भी दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला और स्वार्थ-रहित होकर जीनेवाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।" एक अन्य मुक्तक में कहा गया है—"जैसे बिडाल के रहने के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच में ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं।"

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव हाल की 'गाथा-सप्तशती' में उपलब्ध होता है। इसमें कवि ने अपना उद्देश्य काम की शिक्षा देना घोषित किया है, अतः इसमें शृंगार-रस की प्रधानता होना स्वाभाविक है। शृंगार के अतिरिक्त इसमें नीति, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र एवं कृषि-विज्ञान आदि की चर्चा हुई है। गाथा-सप्तशती-कार का दृष्टिकोण सर्वत्र यथार्थवादी है, अतः इसमें काल्पनिक जगत् के राजा-रानियों को भूलकर खेत-खलिहानों में कार्य करनेवाले जन-साधारण का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया गया। प्रेमी-प्रेमिका के मनोभावों, दूत-दूतिकाओं द्वारा पहुंचाए जानेवाले संदेशों, परिवार और समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके होनेवाले गुप्त सम्बन्धों आदि का चित्रण इसमें खुलकर हुआ है। इसमें शैली की सरलता, सरसता और स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है।

स्वयं हाल के कथनानुसार प्राकृत में शृंगारी मुक्तकों की संख्या करोड़ों तक पहुँचती थी, जिनमें से कुछ अच्छे मुक्तकों का संग्रह उसने 'काव्य-सप्तशती' के रूप में किया। नाट्य-शास्त्र, ध्वन्यालोक, शृंगार-प्रकाश, दश-रूपक, काव्य-प्रकाश आदि ग्रंथ में भी स्थान-स्थान पर प्राकृत के मुक्तकों को उद्धृत किया गया है, जिससे अनुमान किया जाता है कि प्राकृत में मुक्तक-शैली का बहुत प्रयोग एवं प्रचार रहा होगा। सम्भवतः प्राकृत में मुक्तकों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर ही संस्कृत के कवियों का ध्यान भी मुक्तक-रचना की ओर आकर्षित हुआ होगा। संस्कृत के कवियों में अमरुक ने 'अमरुक-शतक' की, भर्तृहरि ने 'शृंगार-शतक' 'नीति-शतक' एवं 'वैराग्य-शतक' की और गोवर्द्धन ने 'आर्या-सप्तशती' की रचना की। इन ग्रन्थों पर 'गाथा-सप्तशती', का पूरा प्रभाव पाया जाता है। इनके अतिरिक्त कवि बिल्हण, की 'चौर-पंचाशिका', कालिदास की 'शृंगार-तिलक' आदि भी उल्लेखनीय हैं। संस्कृत के अन्य कवियों ने देवी-देवताओं की स्तुति में भी मुक्तक शैली में शतक, स्तोत्र एवं स्तुति-पाठ लिखे, जैसे 'चंडी-शतक' 'दुर्गा-सप्तशती' 'राम-स्तोत्र' आदि, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये महत्त्व-शून्य हैं।

प्राकृत और संस्कृत की मुक्तक-परम्परा का विकास अपभ्रंश में हुआ। एक ओर सिद्ध कवियों में से सरहपाद ने 'दोहा-कोश' की रचना की, तो दूसरी ओर, जैन कवियों में से योगीन्दु ने 'परमात्म-प्रकाश' व 'योगसार' की, रामसिंह ने 'पाहुड दोहा', 'सुप्रभाचार्य' ने 'वैराग्यसार', देवसेन ने 'सावधम्म दोहा', जिनदत्त सूरि ने 'उपदेश-रसायन रास' आदि की रचना की। इन मुक्तकों में धर्म, सदाचार एवं नीति का

प्रतिपादन हुआ है, अतः इनमें शान्त रस की प्रमुखता है। किन्तु अपभ्रंश में शृंगारिक मुक्तकों का भी अभाव नहीं है। प्राकृत-व्याकरण, छन्दानुशासन, कुमार-प्रति-बोध, प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्ध-कोष, प्राकृत-पैंगलम् आदि में अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों के असंख्य मुक्तकों को उद्धृत किया गया है। इन मुक्तकों में भावों की सरसता, व्यंजना का वैभव, शैली की स्वाभाविकता एवं भाषा की सरलता आदि अनेक गुण विद्यमान हैं।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य को विषय की दृष्टि से इन तीनों वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बौद्ध एवं जैन कवियों के धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक। (२) गाथा सप्तशतीकार अमरुक; गोवर्द्धनाचार्य आदि के शृङ्गारी मुक्तक। (३) भर्तृहरि व अन्य कवियों के नीति सम्बन्धी मुक्तक। हिन्दी में भी इन तीनों धाराओं का विकास दृष्टिगोचर होता है। कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि सन्त कवियों ने धर्मोपदेश एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ओर बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि ने शृंगारी मुक्तकों की परम्परा को आगे बढ़ाया। भर्तृहरि के "नीति-शतक" की भाँति गिरिधर, वृन्द, रहीम आदि ने नीति-विषयक मुक्तकों की भी रचना की। हिन्दी के मध्यकालीन शृंगारिक मुक्तकों को भी मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक और (२) रीति-मुक्त मुक्तक। इस प्रकार आधुनिक युग से पूर्व रचित मुक्तक-साहित्य को हम इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं —(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक, (२) रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य, (३) स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक और (४) नीति-सम्बन्धी मुक्तक-काव्य। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ वर्ग वीर-रस के मुक्तकों का भी हिन्दी में मिलता है।

(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक—इस वर्ग के मुक्तकों की परम्परा का प्रवर्त्तन संत कबीर द्वारा हुआ। उनके पूर्व अपभ्रंश में योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन, जिनदत्त सूरि आदि के द्वारा धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी दोहों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। कबीर ने भी दोहों से ही मिलती-जुलती शैली को अपनाया, जिसे उन्होंने दोहा न कह कर 'साखी' के नाम से पुकारा। कबीर अशिक्षित थे, अतः वे छन्दों के नियमों की पूर्ति में समर्थ नहीं थे और न ही अपने काव्य को किन्हीं कृत्रिम नियमों में आबद्ध करना चाहते थे, अतः उनकी साखियों में भावों की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होना स्वाभाविक है। 'कबीर-ग्रन्थावली' में उनकी साखियाँ ५९ अंगों में विभाजित हैं, जिनसे उनके विषय-क्षेत्र के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। इनमें मुख्यतः गुरु-भक्ति, ज्ञान, परिचय, चेतावनी, माया, कुसंगति, विरक्ति, ईश्वर-प्रेम; विरह आदि विषयों का निरूपण हुआ है। कबीर के मुक्तकों में मार्मिकता की दृष्टि से विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

चोट सताणी विरह की, सब तन जर जर होइ।
माराणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ॥
विरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे आई॥

इन साखियों में अनुभूतियों की तीव्रता के कारण पर्याप्त सरलता आ गई है। इसके अतिरिक्त कबीर सूक्ष्म विषयों का निरूपण भी स्थूल रूपकों के माध्यम से करते हैं जिससे वे सहज ही अनुभूतिगम्य हो सकते हैं —

माखी गुड में गडि रहि, पंख रही लपटाय।
ताली पीटै सर धुनै, मीठे बोई माय॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केश जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥

यहाँ क्रमशः लोभ एवं संसार की नश्वरता का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया कि पाठक के कल्पना-चक्षुओं के समक्ष एक सजीव दृश्य उपस्थित हो जाता है। लोभ की बुराइयों या संसार की नश्वरता का वर्णन यहाँ अभिधात्मक शैली में न होकर व्यंजना की सहायता से हुआ है। शैली की इसी विशेषता के कारण कबीर की उपदेशात्मक उक्तियाँ भी काव्यात्मकता से ओत-प्रोत हो गई हैं।

कबीर का अनुकरण न केवल परवर्ती सन्त कवियों द्वारा हुआ, अपितु राम-भक्ति शाखा एवं कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में मुक्तकों की रचना की। आगे चलकर दोहों के स्थान पर कवित्त और सवैयों का भी सन्त-कवियों द्वारा प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिए सुन्दरदास के कवित्त व सवैयों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बोलिये तो तब जब बोलिबे की सुधि होय,
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥

× × ×

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि, खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत रहै तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सहे दुःख भारी।
दासन छाँडि कै कासन ऊपर, आसन मार्‌यो पर आस न मारी।

तुलसीदास ने अपनी 'कवितावली' में भी कवित्त-सवैयों की रचना अत्यन्त सरल रूप में की है। वस्तुतः परवर्ती युग में हिन्दी कवि दोहे की अपेक्षा इन छन्दों को अधिक अपनाने लगे। इसका कारण सम्भवतः एक तो इनका विस्तार है, जिससे किसी भी विषय का अधिक सुगमता से इनमें निरूपण हो सकता है। दूसरे, इनमें नाद का ऐसा माधुर्य, शब्दों का ऐसा प्रवाह और भाषा की ऐसी लचक का आविर्भाव

हो जाता है, जो सहज ही श्रोता के मन को आकर्षित कर सके। अतः इन्हें लोकप्रियता प्राप्त होना स्वाभाविक है।

(२) रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य—जिस प्रकार धर्म-सम्प्रदायों के आश्रय में भक्ति और वैराग्य के मुक्तकों की रचना हुई, उसी प्रकार राज्याश्रय में रीति-बद्ध मुक्तक-काव्य का विकास हुआ। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में शृंगारिक मुक्तकों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई, किन्तु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता। वस्तुतः संस्कृत में शास्त्रीय लक्षणों का समन्वय करने का प्रयास सर्वप्रथम एक मुक्तककार में नहीं—एक गीतिकार में मिलता है, जिन्होंने अपने 'गीत-गोविन्द' में नायिका-भेद एवं शृङ्गार के विभिन्न शास्त्रीय भेदोपभेदों का समन्वय उल्लेखपूर्वक किया है। हिन्दी में भी रीति का प्रयोग प्रारम्भ में भक्त कवियों द्वारा हुआ—सूरदास की 'साहित्य-लहरी' एवं नन्ददास की 'रसमंजरी' हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रारंभिक ग्रन्थ हैं। जिस समय भक्त कवि इस ओर लगे हुए थे, अकबर के दरबार में नरहरि, ब्रह्म, रहीम और गंग आदि के द्वारा कवित्त-सवैयों में शृङ्गारिकता पनप रही थी। इन दरबारी कवियों के काव्य में नायिका के रूप-सौन्दर्य, उसकी विभिन्न चेष्टाओं, उसके नख-शिख, तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं की लीला का चित्रण होता था; किन्तु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता। यथा बीरबल 'ब्रह्म' का यह छन्द देखिए—

सेजहि तें उठि भारि चली, मन-मोहन जू हँसि चीर गह्यो,
प्रगट्यो रवि, कान्ह बिहान भयो, मुख मोरि कै यो मृगनैनी कह्यो।
बेनी बुहूँ कुच बीच रही उपमा कवि ब्रह्म भने निबह्यो,
जनमेजय के मनो जज्ञ समै बुरि तच्छक मेद को संधि रह्यो।

तो इस प्रकार अकबरी दरबार में शृङ्गारी मुक्तकों की बहुत सी प्रवृत्तियो का विकास हो चुका था, किन्तु केशवदास पहले रीतिकालीन कवि हैं, जिन्होंने अपनी 'रसिक-प्रिया' एवं 'कवि-प्रिया' में भक्त-कवियों द्वारा गीतिकाव्य में पोषित 'रीति-प्रकृति' को शृंगारिक मुक्तकों से सम्बन्धित किया। आगे चलकर तो रीति और शृङ्गारिकता का मुक्तक-काव्य में ऐसा समन्वय हो गया कि किसी गीतिकार ने रीति का नाम तक नहीं लिया।

अकबरी दरबार का प्रभाव तत्कालीन शासक वर्ग के अन्य लोगो पर भी पड़ा, जिससे अनेक नरेशों, सामन्तों और रईसों के आश्रित कवि रीतिबद्ध शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना में प्रवृत्त हो गए। देव, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल आदि अनेक कवियों ने रीति के निर्वाह के साथ-साथ अनुभूतिपूर्ण सरस मुक्तकों की रचना की है। इसके अतिरिक्त हमारे अनेक सतसईकारों—बिहारी, मतिराम, विक्रम आदि—ने दोहों में शृंगार-रस का प्रतिपादन किया, जिस पर रीति का प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः मध्यकालीन शासक वर्ग की रुचि के प्रभाव से हिन्दी का मुक्तक काव्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया।

(३) **स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक-काव्य**—मध्यकाल में ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के लिए मुक्तक-शैली को ग्रहण किया। ऐसे कवियों में घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन्होंने रीति-बद्ध शृंगारी कवियों की भाँति कवित्त सवैया पद्धति का ही प्रयोग किया, किन्तु शास्त्रीय नियमों या रीति के पचड़े में ये नहीं पड़े। भावात्मकता व अनुभूति की गम्भीरता की दृष्टि से इनका काव्य मध्यकाल के समस्त मुक्तक-काव्य में सर्वोत्कृष्ट है। भाव-पक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। व्यंग्यात्मकता एवं भाषा प्रवहण-शीलता के कारण इनके मुक्तकों के प्रभाव में गहरी अभिवृद्धि हो गई। मुक्तक-काव्य में रसानुभूति की क्षमता किस मात्रा में विद्यमान है, यह देखने के लिए घनानन्द, बोधा, आलम आदि की कुछ पंक्तियों का आस्वादन ही पर्याप्त होगा—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ सांचे चलें तजि आपनपौं, झिझकें कपटी जो निसाँक नहीं॥
'घन आनन्द' प्यारे सुजान सुनो, इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥

—**घनानन्द**

× × ×
एक सुभान के आनन पै कुरबान जहां लगि रूप जहां को।
× × ×
जान मिलै तो जहान मिलै नहिं, जान मिलै तो जहान कहां को।
× × ×
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।
× × ×
सहते ही बनै न, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।

—**बोधा**

× × ×
जा थल कीने विहार अनेकन ता थल काँकरि बैठि चुन्यो करैं।
× × ×
नैनन में रहते जे सदा तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

—**आलम**

(४) **नीति-मुक्तक संबंधी काव्य**—जैसा कि पीछे कहा गया है, मध्यकाल के कुछ कवियों ने केवल नीति-सम्बन्धी विषय को लेकर मुक्तकों की रचना की। इनमें वृन्द, गिरिधर, घाघ, वैताल आदि उल्लेखनीय हैं। कवियों ने दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया। यद्यपि विषय की बौद्धिकता के कारण इनके काव्य में भावात्मकता के विकास के लिए स्थान नहीं था, किन्तु फिर भी शैलीगत आकर्षण के कारण इनकी सूक्तियाँ भी पर्याप्त रोचक बन गई हैं; देखिए—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माँहि।

—**वृन्द**

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं में सोय।
छाँह न वाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि टूट तब जर तें जैहै॥
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब जरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

—गिरधर-कविराय

(५) वीर-रसात्मक मुक्तक-काव्य—प्रायः मध्यकाल को शृंगारी-युग कहा जाता है, किन्तु इस युग में वीर-रसात्मक काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काव्य को दो उपभेदों में बांट सकते हैं – (१) राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित और (२) अन्य कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचित। प्रथम वर्ग में पृथ्वीराज, बांकीदास, दुरसा जी, सूर्य्यमल मिश्र आदि कवि आते हैं, जिन्होंने वीरभावों की अभिव्यक्ति अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की। उस युग के राष्ट्रनायक महाराणा प्रताप की वीरता, दर्प एवं महिमा को लेकर इन्होंने अनेक ओजपूर्ण मुक्तकों की रचना की। आश्चर्य तो यह है कि पृथ्वीराज और दुरसा जी का अकबरी दरबार से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी उन्होंने महाराणा के गौरव-गान में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, अपितु महाराणा के आगे अकबर की हीनता, तुच्छता एवं लघुता का प्रतिपादन खुले शब्दों में किया है; कुछ उक्तियाँ:

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझके, जाण सिराणै सांप॥
आइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा।
नम नम नीसरियाह, राण विना सहराजवी॥

—पृथ्वीराज

अकबर गरब न आंण, हींदू सह चाकर हुवा॥
दीठो कोई दीवाण, करती लटका कटहड़ै॥

—दुरसा जी

कवि राजा सूर्य्यमल मिश्र ने अपनी 'वीर सतसई' में मध्यकालीन राजपूती आदर्श की व्यंजना सफलतापूर्वक की है। राजस्थानी कवियों ने मुख्यतः दोहा व उससे मिलते-जुलते छन्दों का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा में वीररस के मुक्तकों की रचना करने वाले वर्ग में सर्वश्रेष्ठ कवि भूषण माने जाते हैं, जिन्होंने महाराज छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी के यश का गान कवित्त-सवैयों में तथा फड़कती हुई भाषा व ओजस्वी शैली में किया है। उनके अतिरिक्त पद्माकर, ग्वाल आदि कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के लिए कुछ वीररस के छन्दों की रचना की थी, जिनमें बहुत-कुछ भूषण का अनुकरण हुआ है।

इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकाल का मुक्तक साहित्य विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। भक्ति, वैराग्य, शृङ्गार, नीति और वीर रस के अतिरिक्त इस युग में 'बेनी के भंडौवे' और 'खटमल बाइसी' जैसी हास्य-रस की भी मुक्तक-रचनाएँ लिखी गई। वस्तुतः शैली की दृष्टि से रीति-काल को हम 'मुक्तक-काल' भी कह दें तो अनुचित नहीं होगा।

आधुनिक काल—आधुनिक-काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में मुक्तकों के भाव-क्षेत्र एवं विषय-क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक ओर पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए भक्ति-भावना और प्रेम से ओत-प्रोत मुक्तको की रचना की तो दूसरी ओर देश-प्रेम, समाज-सुधार, हास्य और व्यंग्य आदि विषयों पर छोटे-छोटे मुक्तक लिखे। उनके साहित्य में अनुभूति की विशदता, भावों की स्पष्टता और भाषा की स्वाभाविकता व कोमलता सर्वत्र दृष्टि-गोचर होती है। उनका मुक्तक काव्य भी इन गुणों से वंचित नहीं है। उनके युग के अन्य कवियों ने भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र का अनुकरण किया।

द्विवेदी-युग प्रबन्धात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के कवि एवं लेखक राष्ट्रीय-जागरण के उद्देश्य से विगत युग के महापुरुषों के जीवन का चित्रण करना चाहते थे, जो प्रबन्ध-शैली में ही सम्भव है। फिर भी नाथूराम 'शंकर', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी आदि ने मुक्तक रचना की, जिनमें उपदेशात्मकता की प्रधानता है। इस युग के कवियों की शैली में इतना अधिक विस्तार मिलता है कि वह मुक्तक रचना के उपयुक्त नहीं लगती, अतः इनके मुक्तकों में अपेक्षित भावात्मकता नही आ सकी। आगे चलकर छायावादी और प्रगतिवादी युग के कवियों ने भी मुक्तकों की अपेक्षा गीति-शैली का अधिक प्रयोग किया, किन्तु फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र अच्छे मुक्तकों की रचना की है। इस युग में ऐसी छोटी-छोटी कविताओं की भी रचना हुई, जिनमे छन्दो की संख्या पांच-सात है तथा जो गेय न होकर पाठ्य हैं—इन्हें 'प्रलम्ब मुक्तक' कहा गया है। मुक्तक शैली में रचित 'आंसू' और 'मधुशाला' जैसी अत्यन्त लम्बी रचनाएँ भी लिखी गई है।

इधर 'प्रयोगवादियों' ने 'नई कविता' में एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो मुक्तक और गीति के बीच की कही जा सकती है। आकार प्रकार की दृष्टि से इनकी रचनाएँ मुक्तक ही है; किन्तु उनका सस्वर पाठ होने के कारण वे गीति का रूप धारण कर लेती हैं। इनकी रचनाओं में भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता, अनुभूति की अपेक्षा विचारों की अधिकता है; अतः इन्हें सूक्तियों या उक्तियों की संज्ञा दी जा सकती है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में हिन्दी मुक्तक-काव्य की धारा विभिन्न विषयों के धरातल पर प्रवाहित होती हुई निरन्तर आगे बढ़ती रही और सदा बढ़ती रहेगी।

: चौंतीस :

हिन्दी गद्य का उद्भव और विकास

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी में गद्य-साहित्य इतनी न्यून मात्रा तथा अविकसित दशा में मिलता है कि वह प्रायः नगण्य-सा समझा जाता है। पूर्ववर्ती युगों में हिन्दी गद्य के अविकसित रहने का क्या कारण है, इस प्रश्न पर विचार तो अनेक विद्वानों ने किया है, किन्तु कोई सन्तोषजनक समाधान अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि प्रत्येक भाषा के साहित्य का आरम्भ ही पद्य से होता है, अत. हिन्दी में भी ऐसा होना स्वाभाविक है। कुछ विचारकों के मतानुसार संस्कृत में पद्य का ही महत्व था तथा परवर्ती भारतीय भाषाओं ने भी संस्कृत के इसी आदर्श का पालन किया, अतः हिन्दी में भी गद्य का विकास नहीं हो सका। हमारे विचार मे ये दोनों ही धारणाएं भ्रामक हैं। यह कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक साहित्य का आरम्भ पद्य से ही हो। यदि थोड़ी देर के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इसके अनुसार हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में भी गद्य का अभाव रहना चाहिए था, मध्यकाल पर यह लागू नहीं होता। इसी प्रकार यह मानना भी ठीक नहीं है कि संस्कृत में काव्य' संज्ञा का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों के लिए होता था तथा गद्य को न केवल काव्य का उत्कृष्ट रूप माना जाता था, अपितु इसी को कवियों की कसौटी भी समझा जाता था। दूसरे, संस्कृत में अनेक रूपों — नाटक, कथा, आख्यायिका आदि—की अत्यन्त समृद्ध एवं सुविकसित परम्परा थी। अतः हिन्दी के प्रारम्भिक युगों में गद्य का विकास न होने के पीछे 'संस्कृत के आदर्शों का पालन' करना नहीं, अपितु उन्हें त्याग देना ही कारण है। वस्तुतः हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश में ही संस्कृत की गद्य परम्परा बहिष्कृत एवं लुप्त हो चुकी थी। जिन काव्य-रूपों —कथा, आख्यायिका, चरित आदि - में संस्कृत के साहित्यकारों ने गद्य का प्रयोग किया था, उन्हीं में अपभ्रंश के कवियों द्वारा पद्य प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ प्रश्न है कि संस्कृत की गद्य-परम्परा परवर्ती भाषाओं में विकसित क्यों न हो पायी ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि जब किसी युग-विशेष में जीवन का दृष्टिकोण बौद्धिकतापरक, यथार्थवादी, वस्तुवादी एवं व्यावहारिक अधिक होता है, तो उसमें गद्य को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, जबकि इसके विपरीत जीवन में

भावुकता, तर्कशून्यता, आध्यात्मिकता एवं काल्पनिकता की प्रतिष्ठा होने पर उसमें अभिव्यक्ति पद्य का माध्यम अपनाती है। ईसा की सातवीं-आठवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक के समय को भारतीय इतिहास की दृष्टि से मध्यकालीन युग कहा जाता है, जिसमें धीरे-धीरे बौद्धिकता, तार्किकता, यथार्थवादिता आदि के स्थान पर क्रमशः भावुकता, अन्ध-विश्वास, काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो गई। अतः ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का भी पद्य की ओर उन्मुख हो जाना स्वाभाविक ही था। आगे चलकर जब पुनः मुद्रण-यंत्र के प्रचलन, शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, धार्मिक, सामाजिक एवं बौद्धिक आन्दोलनों के उत्थान तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार के कारण जीवन में ज्यों-ज्यों बौद्धिकता, ज्ञान, तर्क एवं चिन्तन की प्रतिष्ठा हुई, त्यों-त्यों गद्य-साहित्य का भी विकास होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् तो हिन्दी में गद्य-साहित्य की इतनी उन्नति हुई कि कुछ इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य काल' तक की संज्ञा देते हैं। अस्तु हमारे विचार से आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य के अभाव का सबसे बड़ा कारण विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण हमारे जीवन में बौद्धिकता के स्थान पर रागात्मकता, दार्शनिकता के स्थान पर भक्ति-भावना एवं यथार्थवादिता के स्थान पर काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो जाना ही है; अन्य कारण गौण हैं।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की स्थिति

जैसा कि पीछे कहा गया है, आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य प्रायः अविकसित रहा, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उसका सर्वथा अभाव रहा है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पूर्ववर्ती युग के हिन्दी गद्य को भाषा की दृष्टि से मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (१) राजस्थानी गद्य (२) मैथिली गद्य (३) ब्रज-भाषा का गद्य और (४) खड़ी बोली का गद्य। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

१. **राजस्थानी गद्य**—राजस्थानी की प्राचीनतम उपलब्ध गद्य-रचनाएँ तेरहवीं शताब्दी की हैं, जिनमें **'आराधना'** (१२७३ ई०), **'अतिचार'** (१२८३ ई०) **'बाल शिक्षा'** (संग्रामसिंह रचित, रचना-काल १२७३ ई०) उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ जिनविजय द्वारा सम्पादित 'प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं की भाषा उस समय की है जबकि राजस्थानी और गुजराती अभिन्न थीं तथा वे अलग-अलग भाषाओं के रूप में विकसित नहीं हुई थीं, इसलिए गुजराती और राजस्थानी के विद्वान् इन्हें अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य में स्थान देते हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल माहेश्वरी ने इन्हें राजस्थानी साहित्य में ही स्थान दिया है। इनकी भाषा की प्राचीनता के कारण इन्हें अपभ्रंश की रचनाएँ मान लेने की भी भ्रान्ति हुई है। इधर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

के निर्देशन में लिखित शोध-प्रबन्ध में हरिमोहन श्रीवास्तव ने भी इन्हें हिन्दी-गद्य साहित्य में ही स्थान दिया है। अस्तु, इन रचनाओं को हिन्दी-गद्य की प्रारम्भिक अवस्था की सूचक कृतियों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। इनका अधिक विवरण अनुपलब्ध है, यहाँ इनकी शैली के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(क) 'सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु, अरिहंतु देवता सुसाधु गुरु जिन प्रणीत धम्म सम्यक्त्व दंडकु ऊच्चरेहु, सागर प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहु सरणि पइसरहु।

—('आराधना' से)

(ख) पुढ विकाई जीव आउकाई जीव ते उकाइ जीव वाउकाइ जीव वणस्व इकाइ जीव वेइंद्रिय त्रेंद्रिय प्रियजलचर थलचर खेचर जिवं जंतुताह मिच्छामि दुक्कडउं।'

—(वही)

चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में रचित अनेक राजस्थानी-गद्य रचनाएँ श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं, जिनमें से कुछ पर उन्होंने समय-समय पर 'राजस्थान-भारती' (वर्ष ३, अंक २-४) में प्रकाशित लेखों के द्वारा प्रकाश डाला है। इनमें से 'तत्व-विचार' एवं 'धनपाल कथा' उल्लेखनीय हैं; जिनका रचना-काल चौदहवीं शती माना गया है। 'तत्व-विचार' में जैन-धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इसकी शैली का नमूना प्रस्तुत है—'एउ संसारु असारु। खणभंगरु, अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संसारु।···ईम परि परि भमता जीव जाति कुलादि गुण सम्पूर्ण दुर्लभु माणुसउ जनमु। सर्व्वं ही भव मद्धि महा प्रधानु। मन चिंतितार्थं संपादकु। कथमपि देवें तणइ योगि पावियइ।' इसकी भाषा पर्याप्त विकसित परिलक्षित होती है।

'धनपाल कथा' में 'तिलक-मंजरी' के रचयिता प्रसिद्ध जैन कवि धनपाल के जीवन की एक कथा प्रस्तुत की गई। इसकी भाषा-शैली का नमूना द्रष्टव्य है—'उज्जयनी नाम नगरी। तहिंठे भोजदेव राजा। तीयहिं तणइ पंचम सयह पंडितह माहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। तोयहि तणइ थरि अन्यदा कदाचित साधु विरहण निमित्तु पइठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसह णी दधि लेउ उठी।······व्रतिया भणियउं। केता दिवसह णी दधि। तिणि ब्राह्मणी भणियउं, त्रीजा दिवसह णी दधि। महामुनिहि भणियउं त्रीजा दिवसह णी दधि न उपगरी। व्रतिया ठाला नीसरता पंडिति धनपालि गवाक्षि उपविष्टि हुंतइ दीठा। विणवियउ, किसइ कारणि ठावा नीसरिया···भगवंतहु! किसइ कारणि दधि न विहरू? महामुनिहि भणियउ।'

इसी प्रकार पन्द्रहवीं शती की एक अन्य रचना 'पृथ्वी चन्द्र चरित' का भी विवरण श्री अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस रचना का दूसरा नाम 'वाग्विलास' भी है। इसकी रचना माणिक्य चन्द्रसूरि ने १४२१ ई० में की थी। इसकी शैली अलंकारपूर्ण है। देखिए—जिणिइ वर्षा कालि मधुर ध्वनि मेह गाजइ, दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ, जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का वाजइ। चिहुँ दिशि वीज झलहलइ, पंथी घर भणी पुलइ। विपरीत आकाश चंद्र सूर्य परियास। राति अंधारी, लवइं तिमिर। उत्तर नऊ उनयण, छायउ गयण।···

पाणी तथा प्रवाह खलहलइ, वाड़ी ऊपर वेला बलइ। चीखलि चालतां सकट स्खलइं, लोक तणा मन धर्म ऊपरि वलइं।

राजस्थानी गद्य-साहित्य की एक सुदृढ़ परम्परा ऐतिहासिक एवं काल्पनिक गद्य कथाओं के रूप में मिलती है। इन कथाओं के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) वचनिका (२) ख्यात (३) वात। वचनिका में प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ ली जाती हैं तथा इसकी शैली की एक विशेषता यह है कि इसमें गद्य का प्रयोग तुकान्त रूप में होता है। ख्यात में भी किसी शौर्यपूर्ण घटना का वर्णन होता है, किन्तु इसमें तुकान्त का नियम नहीं होता। वात में प्रायः काल्पनिक रोचक वृत्तांत प्रस्तुत किए जाते हैं। तीनों प्रकार की रचनाएँ राजस्थानी में बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, जिनमें शिवदास द्वारा रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' (१४२५ ई०), खिरिया जगा-रचित 'वचनिक राठौर रतनसिंह जी री' (१६५८ ई०), नयनसिंह-रचित 'मुहणोत नैण सी री ख्यात' (१६६५ ई०) आदि विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इनमें अपने आश्रयदाता नरेशों के पराक्रम का वर्णन आलंकारिक शैली में हुआ है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी में वात साहित्य (वार्ता या कहानी) का भी एक विशाल भंडार है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

राजस्थानी गद्य की विशेषताएँ राजस्थान का अधिकांश गद्य-साहित्य या तो जैन-मन्दिरों के आश्रय में रचित है या राजपूत नरेशों के आश्रय में। अतः दोनों प्रकार के आश्रय में इसे पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ है। धर्माश्रय में रचित गद्य-साहित्य सर्वत्र ही धर्म से प्रेरित नहीं है, अनेक जैन मुनियों ने शिक्षा देने के साथ-साथ कलात्मक सृष्टि के लक्ष्य से भी गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, अतः उनमें पर्याप्त साहित्यिकता मिलती है।

राजस्थानी गद्य-रचनाओं की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि उसमें विभिन्न रचनाओं में काल-भेद एवं स्थान-भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार की भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं, अतः राजस्थानी गद्य के तेरहवीं शती से लेकर अब तक के विकासक्रम का अध्ययन अविच्छिन्न रूप से किया जा सकता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से भी राजस्थानी गद्य-साहित्य का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उसमें धर्म, राजनीति, लोक-वार्ता आदि अनेक विषयों का समावेश हुआ है। वस्तुतः यह खेद की बात है कि राजस्थानी गद्य की यह विपुल सामग्री अभी तक उपेक्षित पड़ी है।

२. **मैथिली गद्य**—राजस्थानी की भाँति मैथिली भाषा में भी गद्य-साहित्य की दीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध गद्य ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्ण रत्नाकर' है, जिसका रचना-काल १३२४ ईस्वी माना जाता है। यह सात अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें क्रमशः 'नगर-वर्णन', 'नायक-वर्णन', 'आस्थान वर्णन', 'ऋतु वर्णन', 'प्रयानक वर्णन', 'भट्टादि वर्णन', और 'कला वर्णन' नाम दिया गया है। यह वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र, कला-शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान का कोश है, जिसमें विभिन्न विषयों का वर्णन काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है।

इसकी शैली का एक नमूना है—'निशाक नाइकाक शंखवलय अइसन आकाश दीक्षित कमंडल अइसन, तारकाक, सार्थवाह अइसन, शृङ्गार समुद्रक कल्लोल अइसन, कुमुद वनक प्राण अइसन, पश्चिमाचलक तिलक अइसन, अन्धकारक मुक्ति क्षेत्र अइसन, कन्दर्प नरेन्द्रक यश अइसन।'

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इसमें लेखक ने जहाँ व्याकरण का ढाँचा तत्कालीन लोक-भाषा से लिया है, वहीं उसने विभिन्न संज्ञाओं एवं विशेषणों के रूप में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है। संस्कृत के तत्सम पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश से परे हटने के लक्ष्य की सूचक है। आगे चलकर आधुनिक भाषाओं में भी अपभ्रंश के तद्‌भव रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम पद ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं, अतः इस दृष्टि से भी 'वर्ण-रत्नाकर' आधुनिक भाषाओं के नवोत्थान की प्रवृत्ति का सूचक है।

आगे चलकर प्रसिद्ध गीतिकार विद्यापति ठाकुर (१३६०-१४४८ ई०) ने अपनी दो गद्य रचनाओं—'कीर्तिलता' एवं 'कीर्ति पताका'—द्वारा ज्योतिरीश्वर की गद्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। 'कीर्तिलता' गद्य-पद्य मिश्रित ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के युद्ध की एक घटना का विवरण आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। पूरी रचना चार पल्लवों में विभक्त है तथा कथा का आरम्भ गणेश, शिव, सरस्वती की वंदना, दुर्जन-सज्जन चर्चा, आत्म-दैन्य के प्रदर्शन आदि के अनन्तर भृंगी-भृंग के संवाद में होता है—गद्य और पद्य का प्रयोग साथ-साथ हुआ है तथा पद्य-भाग में दोहा, छपद, गीतिका आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

विद्यापति की दूसरी रचना 'कीर्ति पताका' खंडित एवं अशुद्ध रूप में उपलब्ध है। इसमें महाराजा शिवसिंह की वीरता का आख्यान करते हुए युद्ध की घटना वर्णित की गई है। उसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'राअन्हि करे परसे नासंचरे राउतन्हि करे अस्त्र व्यापारे हुलतारहि राउला कुलित हरिण यूथ न्याय परकट पपट वानस्त्रि रनरहि अपाच्छोसश्चपाति साहे पतिगाहि...।' वस्तुतः इसकी शैली 'कीर्तिलता' से बहुत भिन्न तथा दोषपूर्ण होती है; अतः इसके वर्तमान रूप की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

विद्यापति के अनन्तर मैथिली गद्य की कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती। मिथिला, नेपाल एवं आसाम में रचित नाटकों में अवश्य मैथिली गद्य का प्रयोग मिलता है। विशेषतः आसाम के शंकर देव (१४४९-१५५८), माधव देव (१४८१-१५९६), गोपाल देव, रामचरण ठाकुर प्रभृति ने अपने नाटकों में संवादों के रूप में प्रायः गद्य का ही प्रयोग किया। यहाँ उद्धरण प्रस्तुत है—'हा! हा! हमारा स्वामी परम सुकुमार नवीन वयस। वज्राधिक कठिन महेशक धनु, इहात गुण दिते स्वामी जानो नहि पारय। हा! हा! पिता की दारुण कर्म्म कयालि।''

इन नाटकों में प्रयुक्त गद्य में भी पूर्वोक्त रचनाओं की ही भाँति संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। मैथिली प्रदेश दीर्घकाल तक संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र रहा है, संभवतः इसी से मैथिली गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग

की बहुलता है। इसके अतिरिक्त अलंकृति एवं विद्वत्ता-प्रदर्शन के निमित्त भी संस्कृत शब्दावली का प्रयोग सम्भव है। पर इससे गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति एवं कलात्मकता में अभिवृद्धि हुई है, अतः मैथिली गद्यकारों की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

३. **ब्रज-भाषा-गद्य**—ब्रज-भाषा के गद्य-साहित्य को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(क) मौलिक-ग्रन्थ (ख) टीकाओं के रूप में लिखित रचनाएं और (ग) अनूदित ग्रन्थ। इन तीनों वर्गों का परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

(क) मौलिक ग्रन्थ—इस वर्ग में सबसे पुरानी रचना गोरखनाथ कृत 'गोरख-सार' समझी जाती रही हैं तथा इसे कुछ विद्वान् सं० १४०० के आस-पास की रचित मानते रहे हैं, किन्तु अब यह रचना अप्रमाणिक सिद्ध हो गई है। एक तो गोरखनाथ का जीवन-काल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दसवीं शताब्दी या उससे पूर्व सिद्ध किया गया है, जबकि इस ग्रन्थ की भाषा बहुत परवर्ती है तथा दूसरे इसमें गोरखनाथ के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की गई है. अतः इसे गोरखनाथ द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। इसका नामकरण भी यह सूचित करता है कि इसमें किसी अन्य व्यक्ति ने गोरखनाथ के विचारों का 'सार' प्रस्तुत किया है। अस्तु, इसके रचयिता एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित जानकारी का अभाव है। इसकी शैली का नमूना यहाँ प्रस्तुत है —'स्वामी तुम तो सत गुरु अम्हे तो सिष सबद एक पुछिबा दया करि मनन करिबा रोस। पराधीन उपरांति बन्धन नांही सुआधीन उपरीति मुकति नाही। चाहि उपरान्ति पाप नांही, अचाहि उपरान्ति पुनि नांहीं, सुसबद उपरान्ति पास नांही नारायण उपरान्ति ईसर नांहीं।' वस्तुतः विषय-वस्तु और भाषा-शैली दोनों की दृष्टि से यह रचना सोहलवीं-सत्रहवीं शताब्दी या उसके बाद की प्रतीत होती है।

ब्रज-भाषा-गद्य के विकास में सर्वाधिक योग देने का श्रेय पुष्टि सम्प्रदाय के भक्त-लेखकों को है, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय के विभिन्न व्यक्तियों को लेकर विपुल गद्य-साहित्य की सृष्टि की। पुष्टि-सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं भक्तों द्वारा प्रस्तुत गद्य-साहित्य की एक सूची-मात्र यहाँ प्रस्तुत की जाती है :

(१) गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) द्वारा रचित ग्रन्थ—'शृङ्गार रस-मंडन', 'यमुनाष्टक', 'नवरत्न सटीक' आदि।

(२) चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'षट्ऋतु की वार्ता'।

(३) गोकुलनाथ (१५५१-१६४० ई०) द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'' 'श्री गोसाईंजी और दामोदरदासजी का संवाद' 'श्री गुसाईंजी की वनयात्रा', 'नित्य सेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'अट्ठाइस बैठक चरित्र', 'घरू वार्ता', 'उत्सव भावना', 'रहस्य भावना', 'शरण-निरूप भावना', 'भावना', 'भाव-सिन्धु', 'भावना-वचनामृत' आदि।

(४) गोस्वामी हरिराय जी (१५६०-१६६३ ई०) द्वारा रचित ग्रन्थ—'श्री आचार्य महाप्रभु की द्वादश निज वार्ता', श्री आचार्य महाप्रभु के सेवक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'गोसाईं जी के स्वरूप के चिन्तन का भाव,' 'कृष्णावतार स्वरूप,'

'नन्दी स्वरूपों की भावना', 'भाव बरमोत्सव', 'द्वादस निकुंज की भावना', 'सात-स्वरूप की भावना', 'छप्पन भोग की भावना' आदि।

(५) गोविन्ददास ब्राह्मण कृत 'वार्ता'।

(६) व्रज भूषण (१७वीं शती) कृत ग्रंथ—'नित्य-विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभुजी तथा गुसाईं जी का चरित्र', 'श्री द्वारिकानाथधीश जी की प्राकट्य वार्ता' आदि।

(७) द्वारिकेश जी भावना वाले (१८वीं शती)—'श्री नाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना' 'धनुमणि भावना', 'उत्सुक भावना', 'भाव भावना', 'भाव संग्रह' आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने शताधिक गद्य रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनका विस्तृत विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं। एक तो प्रारम्भिक रचनाओं में से अनेक के मूल लेखक कोई और हैं तथा वे प्रचारित किसी अन्य के नाम पर हैं। यथा, **'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'** तथा **'दो सौ वैष्णवन की वार्ता'** को लिया जा सकता है। ये दोनों गोकुलनाथ जी के द्वारा रचित बताई जाती हैं, किन्तु दोनों की भाषा शैली में इतना अन्तर है कि उन्हें एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अकाट्य तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' गोकुलनाथ द्वारा रचित नहीं हो सकती। उनके विचार से यह किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सतहवीं शती या उसके बाद की रचित है। ऐसी स्थिति में इनके रचयिता एवं रचना-काल दोनों संदिग्ध हो जाते हैं। किन्तु यह बात गोस्वामी विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की ही कुछ रचनाओं पर लागू होती है, परवर्ती रचनाओं पर नहीं। दूसरे इन रचनाओं में अपने सम्प्रदाय के आचार्यों एवं भक्तों का गुणगान करना, उसके सिद्धान्तों एवं विधि-विधानों पर प्रकाश डालना तथा भक्ति-भावना को पुष्ट करना ही रचयिताओं का लक्ष्य है, अतः इनमें साहित्यिकता या कलात्मकता के दर्शन नहीं होते। तीसरे, इनमें कथावाचकों की-सी शैली, 'जो 'सो' की आवृत्ति आदि के कारण भाषा का शैथिल्य आ गया है। फिर भी इनमें क्रमशः गद्यशैली का विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से विभिन्न शताब्दियों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तु है—

(अ) 'जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि के इनके मंद हास्य ने जीते है। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृङ्गार रस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।'

—विट्ठलनाथ (१६वीं शती) : 'शृङ्गार रस मंडन',

(आ) 'वहुर श्री आचार्यजी-महाप्रभुन ने श्री ठाकुरजी के पास भट्ट माग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदर दास सों कछु गोपा न रखते और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस देखत कथा कहते···।'

—गोकुलनाथ (१७वीं शती) : 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'

(इ) 'तुलसीदास श्री गोकुल में आए तब श्री गुसाईं जी तो कहै सीताजी सहित श्री रामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो। तब ही रघुनाथ जी को व्याह भयो हतो। सो जानकी जी बहूजी पास ठाढ़े हते। तब आप आज्ञा दिये जो तुलसीदास को दर्शन दऊ।'

—श्री द्वारिकेश भावना वाले (१६वीं शती)

वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के कुछ भक्तों ने भी कतिपय गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ प्रस्तुत की है, जिनमें **नाभादास** (१७वीं शती) का 'अष्टयाम', **ललित किशोरी और ललित मोहिनी** की 'श्री स्वामीजी महाराज की वचनिका', **यशवन्तसिंह** की 'सिद्धान्त-बोध' आदि उल्लेखनीय हैं। 'अष्टयाम' में रामचन्द्रजी की दिनचर्या वर्णित है। इसकी भाषा पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है, जैसे—'तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुई प्रनाम करते भए। फिर ऊपर वृद्धि समाज तिनको प्रनाम करत भए।' ललित किशोरी और ललित मोहिनी (१८वीं शती) निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके ग्रन्थ की शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है।—'वस्तु को दृष्टान्त मलयागिरि को समस्त वने वाको पवन सो चंदन ह्वै जाय। वाके कछू इच्छा नाहीं। बाँस और अरंड सुगन्ध न होये।' महाराजा **यशवन्तसिंह** ने अपने 'सिद्धान्त बोध' में ब्रह्म-ज्ञान पर विचार किया है।

वस्तुतः विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत इस गद्य-साहित्य का महत्त्व या तो तत्कालीन मनःस्थितियों एवं परिस्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से है या भाषा के नमूनों की दृष्टि से, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व नगण्य है।

कुछ लेखकों ने काव्य-शास्त्र, छन्द-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रीय विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से भी ब्रजभाषा गद्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से उल्लेखनीय हैं—**बनारसीदास** (१७वीं शती) की 'बनारसी विलास' **सुखदेव सिंह मिश्र** (१८वीं शती) का 'पिंगल ग्रंथ'; **बेनी कवि** (१७३५ ई०) का 'टिकैतराय प्रकाश', **प्रियादास** कृत 'सेवक-चरित्र' (१७७६ ई०) **लल्लूलाल** कृत 'राजनीति' (१८०९ ई०) और 'माधो विलास' (१८१७), **बख्शी सुमनसिंह** का 'पिंगल-काव्य-भूषण' (१८२२ ई०) आदि। बनारसी दास जैन कवि के रूप में भी ख्यात हैं। इन्होंने 'बनारसी-विलास' में अलंकारों का विवेचन किया है। इनका एक गद्य-ग्रन्थ और उपलब्ध है—'वचनिका की अनुगति' इसकी शैली विवेचनात्मक एवं गम्भीर है; जैसे—'अनन्त जीव द्रव्य सपिंड रूप जानने। एक जीव द्रव्य अनन्त पुद्गल द्रव्य करि संयोजित मानने। ताको ब्योरो अन्य-अन्य रूप-जीव-द्रव्य नाहि परनति अन्य-अन्य रूप पुद्गल की परनति।' वस्तुतः इनका विषय जितना गूढ़ है, शैली उतनी स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों की भी शैली अस्पष्ट और शिथिल है।

ब्रज भाषा-गद्य के अन्य मौलिक ग्रन्थों में व्यास का 'शकुन-विचार', वैष्णवदास का 'भक्त माल प्रसंग', मनिराज प्रधान का 'रत्नामिका कथा', कवि महेश का 'हम्मीर रासो' आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी अठारहवीं शती में रचित हैं तथा इनमें से अनेक

पद्य-पद्य मिश्रित हैं। शैली की दृष्टि से भी ये अविकसित एवं शिथिल हैं। जैसे, शकुन विचार, की शैली द्रष्टव्य है—सुन भी पृच्छक तोहि शकुन को अधीन एक बार होइगो पै जो मन चाहि है सो तेरो कार्ज होइगो।'

अस्तु, इन ग्रन्थों का न तो विषय-विवेचन की दृष्टि से महत्व है और न ही साहित्यिकता एवं शैली की दृष्टि से ही। इनकी अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है।

(ख) टीका साहित्य—विभिन्न साहित्यिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार के ग्रन्थों की टीकाओं के रूप में लिखित गद्य-रचनाएँ ब्रज भाषा में बड़ी भारी संख्या में मिलती हैं। इनमें से प्रमुख रचनाओं की यहाँ नामावली मात्र प्रस्तुत की जाती है—(१) 'शिक्षा ग्रन्थ' की टीका; टीकाकार—श्री गोपेश्वर (१७वीं शताब्दी ई०)। (२) 'हित चौरासी की टीका', प्रेमदास कृत। (३) 'भुवन दीपिका' सटीक; लेखक अज्ञात; १६१४ ई०। (४) 'रस-रहस्य' सटीक; कुलपति मिश्र (१७वीं शती)। (५) 'भागवत की टीका'; कृष्णदेव माथुर; १७वीं शती। (६) 'बिहारी सतसई' टीका; राधाकृष्ण चौबे; १७वीं शती। (७) 'भाषामृत'; भगवानदास १७वीं-१८ वीं शती)। (८) 'कवि-प्रिया-तिलक' और 'बिहारी सतसई' की टीका 'अमर-चन्द्रिका', सूरति मिश्र (१८वीं शती)। (९) 'अलंकार रत्नाकार'; दलपतिराय तथा वंशीधर। (१०) 'हित चौरासी' तथा 'भक्तमाल' की टीकाएँ; प्रियदास (११) 'बिहारी सतसई' की टीका'; रघुनाथ।

टीकाकारों का लक्ष्य मूल विषय की व्याख्या करना मात्र था, किन्तु इसमें उन्हें प्राय:सफलता नहीं मिली है। अधिकांश की शैली अस्पष्ट, प्रवाह-शून्य एवं शिथिल है।

(ग) अनूदित ग्रन्थ—ब्रज-भाषा-गद्य में संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित ग्रन्थ भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ अनुवादक एवं अनुवाद-काल के सहित किया जाता है—(१) 'नासकेतु पुराण'; नन्ददास, १७०० ई०, (२) 'मार्कण्डेय पुराण', दामोदर दास, १६५८ ई०, (३) 'भाषामृत' (श्रीमद्भगवद् गीता का अनुवाद); भगवानदास, १७०० ई०, (४) श्रीमद्भगवद् गीता का अनुवाद; आनन्द राय, १७०५ ई०, (५) 'वैताल-पचीसी'; सूरति मिश्र, १७११ ई०, (६) बीस उपनिषद् भाष्यों के अनुवाद; अनुवादक, अज्ञात; १७२० ई०, (७) 'हितोपदेश'; देवीचन्द; १७४० ई०, (८) 'दर्शनी निर्णय' (वेदान्त सम्बन्धी दर्शन); मनोहरदास निरंजनी; १७५६ ई०, (९) 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति'; अनुवादक अज्ञात, १९वीं शती। इनके अतिरिक्त वैद्यक शास्त्र के तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के भी कुछ अनुवाद मिलते हैं, जैसे —'मानव-निदान' (चन्दसेन मिश्र; १६१२) (इ०)' 'ग्रन्थ संजीवन' (आलम, १७वीं शती), वैद्यक ग्रन्थ की भाषा' । (अंतराम, १७५७ ई०) आदि।

इन अनुवाद-ग्रंथों की भाषा-शैली पूर्वोक्त टीकाओं की अपेक्षा अधिक सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण हैं; यथा—'अहो विप्रनदि राजा जन्मेजय नामकेतु पुराण ही कृतारथ है। जैसे कोई प्राणी एकाग्र चित्त दे करि सुरमें पढ़े जो पारगामी होय, जैसे राजा

जन्मेजय पार होन भयो और सहस्र गऊ दिये के फल होय ।' ('नासकेतु पुराण' नंददास कृत) ।

..अस्तु, व्रज-भाषा में गद्य-साहित्य की मात्रा पर्याप्त है तथा उसका विषय-क्षेत्र भी विविध है, किन्तु साहित्यिकता एवं कलात्मकता की दृष्टि से वह उच्च कोटि का नहीं है । उसकी रचना धार्मिक, दार्शनिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों के विचारों को समझने समझाने की दृष्टि से ही हुई, है; लालित्य की प्रेरणा उसके मूल में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती ।

(४) खड़ीबोली का प्रारम्भिक गद्य—दक्खिनी का गद्य—जैसा कि अन्यत्र खड़ीबोली-गद्य पर विचार करते समय स्पष्ट किया गया है, खड़ी बोली के साहित्य का उद्भव एवं विकास प्रारम्भ में दक्षिण के अनेक मुस्लिम राज्यों के आश्रय में हुआ । खड़ीबोली गद्य का भी प्रारम्भिक रूप दक्षिणी-साहित्य में मिलता है । दक्षिण के साहित्यकारों ने अपनी भाषा को 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'दक्खिनी' 'देहलवी', 'जबान हिन्दुस्तान' आदि कई नामों से पुकारा है, किन्तु वस्तुतः वह खड़ीबोली का ही प्रारम्भिक रूप है । दक्षिण के गद्य लेखकों में ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज, शाह मीरांजी शम्सुल उश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन जानम, अमीनुद्दीन आला, मुल्ला वजही आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । **ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज** (१३४६-१४२३ ई०) का जन्म दिल्ली में हुआ था किन्तु इनका जीवन दक्षिण में दौलताबाद एवं गुलबर्गा में व्यतीत हुआ । इन्होंने लगभग पन्द्रह ग्रन्थ फारसी-अरबी में तथा तीन ग्रन्थ दक्खिनी या खड़ीबोली में लिखे । इनके दक्खिनी के ग्रंथ हैं—(१) मीराजुल आशकीन (२) हिदायतनामा और (३) रिसाला सेहवारा या बारहमासा । 'मीराजुल-आशकीन' दक्खिनी की पहली-रचना मानी जाती है तथा चौदहवीं शती की रचना होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व भी है । यह १६ पृष्ठों की एक छोटी-सी रचना है, जिसमें सूफी धर्म के उपदेश दिए गए हैं । इसकी भाषा-शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'औल नबी अले उस्सलाम, कहे इन्सान के वजूद को (कूं) पांच तन, हर एक तन को तीन दरवाजे हैं और तीन दरबान हैं । पैला तन वाजिबुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफ्स उसका अम्मारः याने वाजिब के आँक सो (सूं) गैर न देखना सो, खिस्म के कान सेर न सुना सो ।' इनकी शैली पर फारसी का प्रभाव परिलक्षित होता है । बंदे नवाज की अन्य रचनाएँ भी धर्मोपदेश सम्बन्धी हैं ।

दक्खिनी गद्य की अन्य रचनाओं में 'शरहमरगूब उलकलूब' (शाह मीरांजी : १५वीं शती), '[illegible]' (शाह जानम : १४५४-१५८३ ई०) 'रिसाला गुफ्तार शाह अमीन' (अमीनुद्दीन आला; मृत्यु १६७५), 'सबरस' (मुल्ला वजही : १६०५-१६६० ई०) आदि उल्लेखनीय हैं । इनका विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में द्रष्टव्य है । यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये रचनाएँ चौदहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक की खड़ी बोली के विकास-क्रम को स्पष्ट करती हैं । यद्यपि इन सभी का मूल लक्ष्य सूफी-सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, किन्तु समय के साथ-साथ इनकी भाषा क्रमशः अधिकाधिक शक्ति-सम्पन्न होती गई है; बंदे नवाज, मीरांजी, जानम, आला, वजही आदि की भाषाशैली का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है । वजही के अनंतर भी [illegible] १६५१ हुसैनी

(१६३०), शाह बुरहानुद्दीन कादरी (१६३३), मुहम्मद शरीफ (१७०७) आदि लेखकों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया, किन्तु अठारहवीं शती में इसका स्थान उर्दू ने ले लिया जिससे इसका विकास दक्षिण में अवरुद्ध हो गया।

(ग) उत्तरी भारत में खड़ी बोली गद्य का विकास—उत्तरी भारत में खड़ी बोली गद्य की परम्परा का सूत्रपात सत्रहवीं अठारहवीं शती से होता है। उत्तरी भारत की परम्परा के विकास में दक्षिणी परम्परा ने कितना योग दिया है, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं हो सका; किन्तु उत्तर एवं दक्षिण दोनों पर ही मुगल शासकों का अधिकार होने के कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों में राजनीतिक सम्बन्धों के साथ-साथ साहित्यिक सम्पर्क भी रहा होगा तथा इस तरह इनमें साहित्यिक परम्पराओं का भी आदान-प्रदान होना सम्भव है।

उत्तरी भारत की खड़ीबोली की प्राचीनतम गद्य रचना के रूप में अब तक प्रसिद्ध कवि गंग की '**चंद छंद बरनन की महिमा**' (रचनाकाल सत्रहवीं शती) का उल्लेख किया जाता है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'*इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया इनके डेढ़ सेर सोना हो गया।*' इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

अठारहवीं शताब्दी की दो महत्त्वपूर्ण गद्य-रचनाएँ '**भाषायोगवासिष्ठ**' (१७४१ ई०) एवं '**पद्म पुराण**' (१७६१ ई०) हैं। इनमें से पहली रचना के रचयिता पटियाला के राज्याश्रित कथावाचक '**रामप्रसाद निरंजनी**' थे तथा दूसरी के मध्य प्रदेश के निवासी **पं० दौलतराम** थे। दोनों ही पुस्तकें अनूदित हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से 'योग वासिष्ठ' दूसरी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी गद्य के क्षेत्र में एकाएक चार उच्चकोटि के गद्य लेखक अवतरित हुए। मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। **मुन्शी सदासुखलाल** (१७४६-१८२४ ई०) दिल्ली के निवासी थे तथा उर्दू-फारसी के भी विद्वान् एवं साहित्यकार थे। खड़ीबोली में उन्होंने 'विष्णु पुराण' के आधार पर '**सुखसागर**' नामक ग्रंथ का निर्माण किया, जो शैली की दृष्टि से प्रौढ़ है। उदाहरणार्थ यहाँ एक नमूना प्रस्तुत है—इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी भाषा शैली की मीमांसा करते हुए ठीक लिखा है कि 'उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रान्त में भी—प्रचलित पाई, उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहने वाले पहले जवान थे, पर उन्होंने अपने हिन्दी-गद्य में कथावाचकों, पंडितों और

साधु-सन्तों के बीच दूर-दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा, जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था।'

इंशा अल्ला खाँ—(मृत्यु १८१८ ई०) उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु इन्होंने अपनी 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' (लगभग १८०३ ई०) की रचना में विशुद्ध 'हिन्दवी' के प्रयोग का प्रयास किया है। स्वयं उन्होंने भी इस तथ्य का निर्देश करते हुए लिखा है—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।···हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों यही सब डोल रहे और छाँव किसी की न हो।' यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है, इंशा ने 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' को अलग-अलग या परस्पर-विरोधी माना है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट किया है, इंशा का 'भाखापन' से तात्पर्य संस्कृत मिश्रित हिन्दी से है। 'बाहर की बोली' से भी इंशा का तात्पर्य कदाचित अरबी, फारसी और तुर्की से था! अस्तु, इंशा ने अपने समय के तथा अपने वर्ग के सुसभ्य समझे जाने वाले लोगों की भाषा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यह दूसरी बात है कि वे अपने संस्कारों के कारण उर्दू-फारसी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न रह सके। विशेषतः उनका वाक्य-विन्यास फारसी से प्रभावित है। उनकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—'तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। अभी तुम अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत, जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।' इंशा ने अपनी शैली को रोचक एवं आकर्षक बनाने के लिए मुहावरों के साथ बीच-बीच में तुकान्त गद्य का भी प्रयोग किया है, यथा, एक ओर इस प्रकार के मुहावरों की बहार है—'जैसा मुँह वैसा थप्पड़', 'छाती के किवाड़ खुलना', 'हिचर-मिचर न रहे', 'आठ-आठ आँसू रोना', 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़ना' आदि—तो दूसरी ओर इस प्रकार की पंक्तियाँ भी मिलती हैं—'रानी को बहुत सी बेकली थी। कब सूझती कुछ बुरी-भली थी। चुपके-चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी।' अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इंशा ने इस कृति की रचना विशुद्ध कलात्मक प्रेरणा से की थी, इसी से इसमें चमत्कार-प्रदर्शन, कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक हो गया।

लल्लूलाल (१७६३-१८२५) आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे तथा इन्हें संस्कृत के विशेष ज्ञान के साथ उर्दू का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। फोर्ट विलियम कालेज में इनकी नियुक्ति १८०२ ई० के आरम्भ में हुई थी तथा इसमें वे सम्भवतः १८२३ या इसके कुछ बाद तक कार्य करते रहे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—१. 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), २. 'बैताल पचीसी' (१८०१), ३. 'शकुन्तला नाटक' (१८०१), ४. 'माधोनल' (१८०१)।

५. 'राजनीति' (१८०२)' ६. प्रेमसागर (१८१० ई०), ७. 'लतायफ-इ-हिन्दी' (१८१०), ८. ब्रजभाषा-व्याकरण (१८११), ९ 'सभा-विलास' (१८१५) १०. 'माधव विलास' (१८१७), ११. 'लाल-चंद्रिका' (१८१८)। ये सभी ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों के आधार पर रचित हैं। 'ब्रज-भाषा-व्याकरण' के अतिरिक्त कोई भी पूर्णतः मौलिक नहीं है। भाषा की दृष्टि से इनमें से तीन—'राजनीति', 'माधव-विलास' और 'लाल-चंद्रिका' ब्रज-भाषा के अन्तर्गत आते हैं जबकि शेष का सम्बन्ध खड़ी बोली से है। इनमें भी शुद्ध खड़ीबोली की रचना 'प्रेम सागर' ही है, शेष उर्दू-फारसी से प्रभावित हैं। 'प्रेमसागर' की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है—महाराज ! जब ऐसे समझाय बुझाय अक्रूरजी ने कुन्ती से कहा तब वह सोच समझ चुप हो रही और इनकी कुशल पूछ बोली—कहो अक्रूरजी ! हमारे माता-पिता और भाई वसुदेवजी कुटुम्ब समेत भले हैं और श्रीकृष्ण बलराम तथा अपने पाँचों भाइयों की सुध करते हैं ?' वस्तुतः 'प्रेम-सागर' की भाषा पर कथावाचकों की शैली का पर्याप्त प्रभाव है तथा उसमें स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा के प्रयोग मिलते हैं, यथा—'सम्मुख जाय', 'सोई', 'जाते भये', 'जान लीजे', 'जद' 'तद'। कहीं-कहीं तुक मिलाने का प्रयास भी मिलता है, जैसे—'मैंने ब्रज औ द्वारिका की लीला गाई—वह है सबकी सुखदाई। जो जन इसे प्रेम सहित गावेगा—सो निसंदेह भक्ति-मुक्ति पदारथ पावेगा।' शब्द-रूपों की अस्थिरता इसमें मिलती है, एक ही शब्द के अनेक रूप इसमें मिलते हैं—पिरथी, पृथ्वी प्रथिवी, पृथ्वी, कर्म, करम, मुझ, मुझे आदि। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इनकी भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके सम्बन्ध में ठीक लिखा है -'सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर 'प्रेमसागर' की भाषा में माधुर्य और सरसता है, काव्याभास है, लेकिन वाक्य रचना में सुसंबद्धता नहीं है। प्रत्येक वाक्य अपनी-अपनी ध्वनि' अलग-अलग उत्पन्न करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रचार की दृष्टि से नहीं, वरन् पाठ्य पुस्तक के रूप में की थी। इसलिए उसमें कृत्रिमता, शिथिलता और अव्यावहारिकता का आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। उस पर भी वह ब्रज-भाषा के प्राचीन ग्रन्थ पर आधारित है। लल्लूलाल ने गद्य को अधिक ग्राह्य बनाने, उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्ति को बढ़ाने और उसमें चमत्कार लाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उन्हें इस कार्य में अधिक सफलता नहीं हुई (मिली)।

सदल मिश्र (१७६८-१८४८ ई०) मूलतः विहार-निवासी थे। उन्होंने भी उपर्युक्त कॉलेज में रहते हुए दो महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रस्तुत कीं—(१) 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) और (२) 'रामचरित्र' (१८०५ ई०)। दोनों रचनाएँ क्रमशः संस्कृत की नचिकेता कथा एवं 'अध्यात्म रामायण' पर आधारित हैं। स्वयं लेखक ने भी इस सम्बन्ध में पहली कृति में स्वीकार किया है—'महाप्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज' के राज में खड़ीबोली में की, क्योंकि 'देववाणी' में कोई समझ नहीं सकता।' 'नासिकेतोपाख्यान' छोटी सी रचना है, जिसमें नासिकेत उत्पत्ति से यमलोक-यात्रा तक का विवरण प्रस्तुत है तथा अन्त में आत्म-ज्ञान की चर्चा की गई है। दूसरी रचना—'राम-चरित्र' लगभग ३२० पृष्ठों की है, जो सात कांडों में

विभक्त है। इसकी रचना का प्रयोग स्पष्ट करते हुए लेखक ने इसे जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से रचित बताया है। उनके शब्दों में—'संस्कृत की पोथियाँ भाषा करने की महाउदार सकल गुण-निधान मिस्तर जान गिलक्रस्ट साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा की कि अध्यातम रामायण को ऐसी बोली में करो जिनमें फारसी अरबी आवे, तब मैं इसको खड़ीबोली में करने लगा।' इससे लेखक की भाषा-नीति पर भी प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक गद्य-शैली का सम्बन्ध है, सदल मिश्र को अधिक सफलता नहीं मिली। उनकी भाषा न केवल शिथिल, दोष-पूर्ण एवं प्रवाह-शून्य है, अपितु उस पर प्रान्तीय भाषाओं का—विशेषतः बिहारी का—भी गहरा प्रभाव है—एक ओर उसमें 'गाछों', 'कांदती', 'जौनःजौन' जैसे शब्द मिलते है तो दूसरी ओर उसमें 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँ दिस,' 'स्मरण किए से' 'विनती किया' 'सेवा में बाधा करने चाहता है', 'भुठाने नहीं सकता है', जैसे अशुद्ध प्रयोग मिलते हैं।

ईसाई-प्रचारकों का योग-दान—ईसाई-प्रचारकों ने भी हिन्दी गद्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। उन्होंने अपने मत का प्रचार करने के लिए अपने धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद, व्याख्यान, लेख तथा पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में प्रस्तुत कीं, जिनसे अप्रत्यक्ष में हिन्दी-गद्य की सेवा हुई। सन् १७९८ ई० में कलकत्ते के समीप १५ मील दूर पर श्रीरामपुर में ईसाई-प्रचारकों का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हुआ। आगे चल-कर इस संस्था ने अपना मुद्रण-यंत्र भी स्थापित कर लिया, जिससे अनेक पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इसके द्वारा कलकत्ता और आगरा में 'स्कूल-बुक-सोसायटी' की भी स्थापना हुई जिसके द्वारा विभिन्न विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गईं। विदेशी पादरियों ने इस कार्य में अनेक भारतीय लेखकों का भी सहयोग प्राप्त किया तथा उन्हें गद्य-लेखन में प्रवृत्त किया। इन संस्थाओं के द्वारा १८३८ से १८५७ ई० के बीच में विभिन्न विषयों पर शताधिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अंकगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, कृषि-कर्म, ग्राम-शासन, शिक्षा; यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अंग्रेजी राज्य, व्याकरण, कोश आदि सभी प्रमुख विषयों पर इनके द्वारा सरल एवं लोकोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अस्तु, ईसाई-प्रचारकों ने गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से भले ही विशेष सफलता प्राप्त न की हो, किन्तु हिन्दी-गद्य को विषय-विस्तार प्रदान करने एवं गद्य-लेखन के प्रयासों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनकी गद्य-शैली में एकरूपता एवं सुष्ठुता का अभाव अवश्य खटकता है। कहीं वे ब्रज-भाषा से प्रभावित हैं तो कहीं उर्दू से। उनमें कहीं कहीं-कहीं अत्यन्त दूषित एवं हास्यास्पद प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे 'परमेश्वर ने हमको उपासना आज्ञा दिया', 'बालक ऐसा कूदी सो मरा' आदि, पर विदेशी प्रचारकों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को देखते हुए इसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। जब स्वयं भारतीयों की शैली ही अभी तक निश्चित नहीं हो पाई थी, तो ऐसी स्थिति में यदि विदेशियों के नेतृत्व में लिखित गद्य एकरूपता से शून्य हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः इनका प्रयास प्रशंसनीय है।

ब्रह्म-समाज का योगदान - हिन्दी गद्य के विकास में बंगाल के राजा राम

मोहनराय एवं उनके द्वारा स्थापित 'ब्रह्म-समाज' का भी योग-दान है। राजा राम-मोहनराय ने १८१५ ई० में वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा आगे चलकर १८२९ ई० में एक पत्रिका 'बंगदूत' भी हिन्दी में निकाली। यद्यपि राजा साहब की भाषा पर बंगला का थोड़ा प्रभाव रहता था, किन्तु फिर भी उनकी शैली पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है। बंगाली होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को अपनाकर अपनी व्यापक राष्ट्रीयता का भी परिचय दिया है। सारे राष्ट्र की भाषा हिन्दी ही हो सकती है, इस तथ्य को राजा साहब ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही ग्रहण कर लिया था, जो उनकी व्यापक दृष्टि एवं दूरदर्शिता का प्रमाण है।

पत्र-पत्रिकाएँ—सन् १८२६ ई० में कानपुर से पं० युगलकिशोर शुक्ल के संपादकत्व में हिन्दी की प्रथम पत्रिका 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुई जो साप्ताहिक थी। इस पत्रिका का लक्ष्य विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करना था, अतः इसमें राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यापारिक आदि विविध विषयों का समावेश रहता था। पर यह पत्रिका लगभग एक वर्ष बाद बन्द हो गई। इसके अनन्तर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है—'बनारस अखबार' (काशी से राजा शिवप्रसाद के सम्पादकत्व में, १८४५ ई०), 'सुधाकर' (काशी से बाबू तारा मोहन मित्र के सम्पादकत्व में; १८५० ई०), 'बुद्धि प्रकाश' (आगरे से मुंशी सदासुखलाल के द्वारा, १८५२ ई०)। इसके अतिरिक्त और भी कई पत्र निकले यथा—'विद्यादर्शन' (मेरठ), 'धर्म-प्रकाश' (आगरा), 'ज्ञान दीपिका' (सिकन्दराबाद), 'वृत्तान्तदर्पण' (आगरा), 'भारत खंड अमृत' (आगरा), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (लाहौर) आदि।

इन पत्र-पत्रिकाओं में खड़ी बोली का प्रयोग होता था तथा इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवहारिक विषयों पर गद्य लेखन की परम्परा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल के आरम्भ (१८५७ ई०) से पूर्व ही गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हो गई थी तथा प्रायः सभी वर्गों के विद्वानों एवं लेखकों ने इस क्षेत्र में खड़ीबोली को ही पूर्णतः मान्यता दे दी थी। यद्यपि अभी तक खड़ीबोली का पूर्ण परिष्कार होना बाकी था, किन्तु उसकी स्थापना भली-भाँति हो चुकी थी। राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाओं का गद्य खड़ीबोली के गद्य की तुलना में सर्वथा पिछड़ गया था।

आधुनिक काल में खड़ीबोली के गद्य का विकास

आधुनिक काल के आरम्भिक गद्य लेखकों में दो व्यक्तियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—१. राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और २. राजा लक्ष्मणसिंह। राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५ ई०) ने १८४५ ई० में बनारस से 'बनारस अखबार' निकाला; जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। आगे चलकर सन् १८-५६ ई० में उनकी नियुक्ति सरकारी-शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर हो गई।

इस पद पर रहते हुए उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लक्ष्य से विभिन्न विषयों की पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। प्रारम्भ में उन्होंने परिष्कृत हिन्दी का प्रयोग किया, किन्तु सरकारी अधिकारियों के प्रभाव से उनका झुकाव उर्दू या उर्दू मिश्रित हिन्दी की ओर हो गया, अतः आगे चलकर वे उर्दू के ही पक्षपाती हो गए। जहाँ उनके प्रारम्भिक ग्रन्थों 'मानव धर्म-सार', 'योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्-सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मन-रंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', आदि की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी है वहाँ परवर्ती ग्रन्थों —'इतिहास तिमिर नाशक', 'बैताल-पचीसी', आदि की भाषा उर्दू है।

राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६) विशुद्ध हिन्दी के समर्थक थे, अतः उन्होंने राजा शिवप्रसाद की उपर्युक्त भाषा-नीति का विरोध करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोलियाँ हैं तथा आवश्यक नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय। अपने इसी दृष्टिकोण के अनुरूप उन्होंने कालिदास के अनेक ग्रन्थों—मेघदूत, शकुन्तला, रघुवंश आदि—का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। इनमें उन्होंने गद्य को खड़ीबोली में तथा पद्य को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। उनकी गद्य-शैली पर भी ब्रजभाषा का किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है—यथा—'फिर भी एक बेर प्यारी ने मुझ निर्दयी की ओर आँसू भरे नेत्रों से देखा। अब वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुझी भाल के समान छेदती है।' (शकुन्तला' नाटक; १८६१ ई०)। वस्तुतः इनकी भाषा काव्य के अधिक उपयुक्त है, बौद्धिक विवेचन की क्षमता का उसमें अभाव है।

आर्य-समाज की हिन्दी-सेवा—सन् १८७५ ई० में **स्वामी दयानन्द सरस्वती** (१८२४-८४ ई०) की प्रेरणा से महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था 'आर्य-समाज' की स्थापना हुई जिसके द्वारा धर्म, समाज, शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति हुई। आर्य-समाज के नेताओं ने धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, पाखंडों आदि का खंडन करके धर्म और सदाचार के शुद्ध रूप को प्रकाशित किया। इससे भारतीय समाज में जागृति की एक नई लहर और बौद्धिक चेतना की एक नई उद्दीप्ति आयी, जिसका प्रभाव साहित्य और भाषा पर भी पड़ना स्वाभाविक था। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, बौद्धिक चेतना का गद्य से सीधा-सम्बन्ध है। जब भी किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा विचार विमर्श, तर्क-वितर्क एवं चिन्तन-मनन के बौद्धिक प्रयास होते हैं तो उस स्थिति में उसकी अभिव्यक्ति में गद्य के तत्त्वों का आविर्भाव सहज ही हो जाता है। आर्य-समाज भक्ति-आन्दोलन की भाँति भावात्मकता पर आश्रित आन्दोलन नहीं था अपितु वह बौद्धिकता पर आधारित था, अतः उनके नेताओं के द्वारा अत्यन्त सशक्त गद्य का प्रयोग हुआ है। स्वामी दयानन्द स्वयं गुजराती थे, तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार करते हुए अपने अनेक ग्रन्थों की रचना हिन्दी में ही की; **'सत्यार्थ-प्रकाश'** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका प्रथम संस्करण १८७५ ई० में तथा द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ चौदह समुल्लासों में विभक्त है, जिनमें वैदिक धर्म की व्याख्या के अनन्तर विभिन्न वेद-विरोधी धर्म-सम्प्रदायों का खडन किया गया है। इसकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—'ये सब बातें पोप-लीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहां जाते हैं, उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिए कि वहां के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं ?' यह उनकी तर्कपूर्ण शैली का नमूना है। कहीं-कही उनकी शैली व्यंगात्मक भी हो जाती है, यथा—"जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के वाँचने सुनने वालों के आंगन मे गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगा तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे।" यद्यपि स्वामीजी के अन्य भाषी होने के कारण उनकी शैली में कहीं-कहीं प्रयोग शुद्धता का अभाव है, पर उनकी वैचारिक शक्ति के कारण शैली पर्याप्त सशक्त हो गई है।

आगे चलकर आर्य-समाज ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, शास्त्रार्थों, प्रवचनों, उपदेशों, जीवन-चरित्रों, निबन्धों, अनुवाद-ग्रन्थों, पाठ्य-पुस्तकों, उपन्यासों आदि के रूप में इतना साहित्य प्रस्तुत किया कि उसका पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करना इस लेख में संभव नहीं। इसका विवरण डा०लक्ष्मीनारायण गुप्त के शोध-प्रबन्ध--'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य-समाज की देन' (१९६१ ई०) में देखा जा सकता है।

वस्तुत: आर्य समाज ने गद्य की विभिन्न विधाओं एवं उनके विभिन्न माध्यमो को अपने प्रचार का साधन बनाते हुए हिन्दी गद्य साहित्य की उन्नति में प्रर्याप्त योग दिया। उसने न केवल संस्कृत की तत्सम शब्दावली को अपनाकर खड़ीबोली के शब्द-भण्डार में अभिवृद्धि की, अपितु तर्कपूर्ण शैली का विकास करके उसे बौद्धिक विवेचन के भी उपयुक्त बनाया। गद्य के लिए जिस बौद्धिकता, तार्किता, सूक्ष्मता एवं प्रवाहपूर्णता की अपेक्षा है, वह आर्य समाजी साहित्य में प्रायः दृष्टिगोचर होती है; अत: गद्य के विकास में इस आन्दोलन के योगदान को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं अन्य लेखक—जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके अनुयायी धर्म एवं समाज के क्षेत्र में सुधार-कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नयी क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) ने अपने अल्प जीवन-काल में ही हिन्दी गद्य के क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया। एक ओर उन्होंने गद्य-शैली को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हुए उसका मार्ग निश्चित किया तो दूसरी ओर उन्होंने निबन्ध, नाटक, इतिहास, आलोचना, संस्मरण, यात्रा-विवरण आदि गद्य रूपों की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। गद्य की विभिन्न विधाओं के क्षेत्र में भारतेन्दु के योगदान का स्पष्टीकरण अन्यत्र तत्सम्बन्धी विवेचन करते समय किया जाएगा, यहाँ उनकी गद्य शैली की कतिपय विशेषताओं का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। एक तो, जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, भारतेन्दु की गद्य-शैली अत्यन्त व्यावहारिक एवं हिन्दी की मूल प्रकृति के अनुकूल है। उन्होंने न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनावश्यक रूप में

प्रयोग किया और न ही उनका बहिष्कार किया। तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने यथोचित रूप में किया है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग में भी उन्होंने संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों तथा व्रजभाषा के उपयुक्त प्रयोगों से भी उनकी भाषा मुक्त है। दूसरे, उन्होंने विषय-वस्तु, भाव-विशेष एवं रूप विशेष के अनुसार विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। जहाँ प्रणय, विरह एवं शोक के प्रसंग में उनकी शैली अत्यन्त कोमल एवं मधुर हो जाती है, तो हास्य के क्षेत्र में यह चुलबुलेपन से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार उनके नाटकों की शैली समीक्षात्मक लेखों की शैली से इतनी भिन्न है कि डा० श्यामसुन्दरदास को एक बार यहाँ तक भ्रम हो गया था कि उनका नाटक सम्बन्धी समीक्षात्मक लेख किसी और का लिखा हुआ है, क्योंकि उसकी शैली नाटकों की शैली से भिन्न है। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भाषा के मर्म को समझने वाले प्रतिभाशाली लेखक थे तथा उसे विषय, भाव एवं प्रसंग के अनुसार नये-नये रूपों में ढाल लेने की कला में सिद्धहस्त थे, अतः यदि उनकी सिद्धि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में चका-चौंध उत्पन्न कर दे तो आश्चर्य नहीं। वैसे, देखा जाय तो न केवल उनके लेख एवं नाटकों की शैली में, अपितु विभिन्न नाटकों की शैली में भी पारस्परिक अन्तर दिखाई देगाः यथा, यहाँ दो उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(अ) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ?...हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूं ! प्यारे रात छोटी है और स्वांग बहुत है। —('चन्द्रावली' नाटिका)

(आ) 'बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुक्म हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गये, तो फाँसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी देदो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय न होगा।' —(अंधेर नगरी)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से जहाँ पहले में एक भी उर्दू-फारसी का शब्द नहीं है, वहाँ दूसरे में 'हुकुम' 'अर्ज', 'सजा', 'जरूर' जैसे अनेक उर्दू शब्द आये हैं। इस अन्तर का कारण दोनों के पात्रों, परिस्थितियों एवं भावों में अन्तर का होना है। एक का सम्बन्ध प्रणय-निवेदन से है, जब कि दूसरे का सरकारी सिपाही की अदालत की चर्चा से है। अतः प्रसंगानुसार भावों में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, राधाकृष्ण दास, सुधाकर द्विवेदी, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रद्धाराम फिल्लौरी, काशीनाथ, किशोरीलाल गोस्वामी, बिहारीलाल चौबे, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री प्रभृत्ति ने भी हिन्दी गद्य के विकास में विभिन्न प्रकार से योग दिया। मूलतः हिन्दी भाषी न होते हुए भी हिन्दी-गद्य लेखन को प्रत्साहित करने वाले इस युग के

दो महान् व्यक्तियों में बंगाली बाबू नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८९०) और इंगलैण्ड के फ्रेडरिक पिन्काट (१८३६-१८९६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवीनचन्द्र राय ब्रह्म-समाज के अनुयायी थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन किया तथा एक पत्रिका 'ज्ञान-प्रदायिनी' भी १८६७ ई० में निकाली। उन्होंने पंजाब में हिन्दी का प्रचार-कार्य भी किया, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेडरिक पिन्काट महोदय भी हिन्दी के सच्चे हितैषी थे तथा उन्होंने हिन्दी में लेख लिखने एवं पत्रिकाएँ सम्पादित करने के अतिरिक्त अपने युग के भारतीय हिन्दी-लेखकों को भी बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने लंदन में बैठे बैठे ही पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भी वे प्रशंसक थे। इस भारती-भक्त का देहान्त भी भारत-भूमि (लखनऊ में) हुआ, जबकि वे रीआ घास की खेती का प्रचार करने के लिए यहाँ आये थे।

भारतेन्दु-युग के विभिन्न लेखक अपनी-अपनी पत्रिकाएँ भी चलाते थे, जिनमें वे सामयिक एवं ज्ञानवर्द्धक विषयों पर बराबर कुछ न कुछ लिखते रहते थे। कुछ लेखक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर व्यंग्यपूर्ण लेख एवं नाटक भी लिखते थे। इनसे गद्य-शैली के विकास की गति में वृद्धि हुई। पर इस युग के लेखक मनमौजी, विनोदी एवं निरंकुश स्वभाव के भी थे, व्याकरण की शुद्धता एवं शब्द-रूपों की एकता का उन्होंने बहुत कम ध्यान रखा। साथ ही व्यंग्यात्मक शैली का विकास अधिक हुआ, गम्भीर विषयों में प्रवृत्ति कम होने के कारण विवेचनात्मक शैली अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई। वस्तुतः इन अभावों की पूर्ति परवर्ती युग में हुई। जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगी हिन्दी गद्य के क्षेत्र में नयी गति महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) के प्रयासों से आई। वे सन् १९०० में 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए तथा इस पत्रिका के माध्यम से ही उन्होंने अपने अपने युग के हिन्दी-साहित्यिकारों का नेतृत्व करते हुए उनका ध्यान हिन्दी गद्य और पद्य की विभिन्न न्यूनताओं एवं त्रुटियों की ओर आकर्षित किया। जहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के आन्दोलन को दृढ़ किया वहाँ गद्य के क्षेत्र में भाषा की शुद्धता, शब्द-रूपों की एकरूपता, व्याकरण के दोष-परिष्कार आदि की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। गद्य के सम्बन्ध में उनकी भाषा-नीति के चार सूत्र इस प्रकार बताए जा सकते हैं—१ विषयानुकूल एवं जनता के अनुकूल सरल, शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण शैली का प्रयोग करना। २. उर्दू एवं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को स्वीकार करना। ३. शब्द-रूपों एवं प्रयोगों को निश्चित रूप प्रदान करते हुए भाषा में एक-रूपता लाना। ४. भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत के सरल एवं उपयुक्त तत्सम शब्दों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करना। इस नीति का न केवल उन्होंने स्वयं पालन किया, अपितु दूसरों से भी करवाया। उनके समय में विभिन्न लेखक एक ही शब्द को अनेक रूपों में प्रयुक्त करते थे, यथा—'इकलौता', 'एकलोता', 'इकलोता', 'कुटलता', 'कुटिलता', सिंघासन,

सिंहासन', 'हुवा', 'हुया', 'हुआ' आदि । कई लेखक व्याकरण की अशुद्धियाँ भी करते थे, जैसे—'हमारे संतान,' 'घी पड़ जाती है', 'धन्य है वह नयन', 'जन्म-दिन पर' आदि । आचार्य द्विवेदी ने अपने विभिन्न लेखों में इन पर प्रकाश डालकर हिन्दी गद्य को एक परिष्कृत एवं सशक्त रूप प्रदान किया । गद्य-शैली के परिष्कार के अतिरिक्त गद्य के विषय-क्षेत्र के विस्तार एवं विभिन्न रूपों के विकास के लिए भी उन्होंने अपने युग के साहित्यकारों को प्रेरित एवं उत्साहित किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी साहित्यिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, भौगोलिक विषयों को अपने निबन्धों में प्रस्तुत किया । हिन्दी-समीक्षा के विकास में भी उनका योगदान है ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन अन्य गद्य-लेखकों में डा० श्यामसुन्दरदास, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, मिश्र-बन्धु बालमुकुन्द गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र, लाला भगवान-दीन प्रभृति उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया । इनकी सेवाओं की भी चर्चा अन्यत्र निबन्ध उपन्यास आदि के प्रसंग में की जायगी ।

हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप—हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप महावीरप्रसाद द्विवेदी के परवर्ती युग में दृष्टिगोचर होता है । न केवल गद्य-शैली की दृष्टि से; अपितु गद्य की विभिन्न विधाओं की दृष्टि से भी परवर्ती युग अत्यन्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण दिखाई पड़ता है । यद्यपि इस युग के समस्त गद्य-साहित्य का विस्तृत परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं, किन्तु विभिन्न गद्य-रूपों के उच्चतम उन्नायकों का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है, जिससे गद्य की प्रगति का अनुमान लगाया जा सके ।

गद्य की कसौटी निबन्ध है—इस दृष्टि से सर्वप्रथम निबन्ध साहित्य को लिया जा सकता है । इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', डा० नगेन्द्र के 'आस्था के चरण', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चल-चित्र' को सर्वोत्तम उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । इनमें जहाँ विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की गंभीरता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ साहित्यिक सौन्दर्य भी अपने पूर्ण वैभव के साथ दिखाई पड़ता है । कथा-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, अमृतलाल नागर का, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी भगवती चरण वर्मा प्रभृति का तथा ऐतिहासिक दृष्टि से डा० वृन्दावनलाल वर्मा का नाम उल्लेखनीय है । इन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में आदर्श रचनाएँ प्रस्तुत की हैं । इसी प्रकार नाटक और एकांकी के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मी-नारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदय-शंकर भट्ट, मोहन राकेश, डा० लक्ष्मीनारायण लाल के योगदान पर गर्व किया जा सकता है । इसी प्रकार जीवनी, आत्मकथा, रेडियो-रूपक, रेखाचित्र, गद्यकाव्य आदि के क्षेत्र में भी न्यूनाधिक मात्रा में कार्य हुआ है ।

अस्तु, कहा जा सकता है कि यद्यपि खड़ीबोली गद्य की प्रतिष्ठा हुए अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई, पर इस अल्पकाल में ही प्रत्येक दृष्टि से इसने जिस प्रकार प्रगति की है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। वस्तुतः यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी एक ऐसी जीवित भाषा है, जिसके बोलनेवालों में पर्याप्त प्रतिभा, अद्भुत कर्मठता एवं निरन्तर कार्य में लगे रहने की क्षमता है, जिसके बल पर वह द्रुतगति से आगे बढ़ रही है। हाँ, स्वतन्त्रता के बाद अवश्य हम थोड़े शिथिल एवं व्यक्ति-केन्द्रित हो गए हैं, जिससे हमारे कार्य में वैसी निष्ठा एवं तत्परता दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसी कि पूर्ववर्ती उन्नायकों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र; महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद प्रभृति—में दृष्टिगोचर होती थी, फिर भी हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—यह बात गद्य-साहित्य पर विशेष रूप से लागू होती है।

:: पैंतीस ::

हिंदी नाटक : उद्भव और विकास

नाटक की उत्पत्ति के मूल में मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यतः चार मनोवृत्तियों को स्वीकार किया है—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्म-विस्तार की वृत्ति, (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। ये चारों प्रवृत्तियाँ मानव-हृदय में सहज स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान हैं, अतः नाट्य-काल के उद्भव के लिए किसी विशेष बाह्य परिस्थिति पर विचार करना अनावश्यक प्रतीक होता है। फिर भी 'भारतीय-नाटक' की उत्पत्ति को लेकर स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों में गहरा वादविवाद हुआ तथा उन्होंने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत स्थापित किए हैं। डाक्टर रिजवे (Ridgeway) का मत है कि नाटक का उदय मृत-वीरों की पूजा से हुआ। उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल में मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ प्रोफेसर हिलेब्रां (Hillebrandt) और प्रोफेसर कोनो (Konow) भारतीय नाटक का उदय लौकिक व सामाजिक उत्सवों से मानते हैं। उधर डा० पिशेल (Pisechel) भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ। प्रचीन भारतवर्ष में कठपुतलियों का प्रचार अवश्य था, इसके प्रमाण गुणाढ्य की बृहत्कथा, महाभारत एवं राजशेखर-कृत बाल रामायण में मिलते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कठपुतलियों से ही नाट्यकला का विकास हुआ। कौन जानता है! शायद कठपुतलियों के नाच का प्रचलन ही नाट्यकला के अनुकरण पर हुआ हो! डॉ० गुलाबराय ने इन सब मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है—"ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा के लोग समझते हैं। भारतवर्ष में धर्म मानव जीवन का अंग है। इस देश के दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है।" डॉक्टर साहब के इस तर्क में बहुत बल है, अतः लौकिक या धार्मिक कृत्यों के वाद-विवाद में उलझना अनावश्यक है।

नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में एक घटना का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार देवताओं की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा

ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पांचवें वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की। इसके लिए शिवाजी ने ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती जी ने लास्य प्रदान किया। यद्यपि यह प्रसंग विशुद्ध कल्पना पर आधारित है। किन्तु इससे दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, एक तो नाटक की उत्पत्ति चारों वेदों की रचना के अनन्तर हुई और दूसरे, नाटक के विभिन्न तत्त्व मूलतः चारों वेदों में विद्यमान हैं। अतः कोई आश्चर्य नही, यदि भारत में नाट्य-कला का उदय भी उत्तर-वैदिक युग से पूर्व हो गया हो।

कुछ विद्वान् भारतीय नाटक को यूनानी नाट्य-कला की देन मानते हैं। अतः उनके मतानुसार भारत में नाट्य-कला का विकास भारत पर यूनानियों (सिकन्दर) के आक्रमण के अनन्तर हुआ। वे लोग यूनानी प्रभाव के प्रमाण स्वरूप 'यवनिका' शब्द को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस मत का खंडन विभिन्न भारतीय विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। 'यवनिका' शब्द यवन (यूनानी) प्रदेश से सम्बन्धित नही है, अपितु इसका शुद्ध रूप 'यवनिका' (जव वेग, जवनिका—वेग से उठने व गिरने वाला पट) है। स्वयं यूनानी नाटकों में पर्दे का प्रचलन नहीं था, अतः 'यवनिका' का सम्बन्ध यूनानी नाटकों से स्थापित करना घुणाक्षर-न्याय मात्र है। इसके अतिरिक्त भी भारतीय नाटकों की प्रकृति एवं स्वरूप में गहरा अन्तर मिलता है। हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते हैं, जबकि यूनानी नाटकों में अंक नही होते, वहाँ केवल दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान (Chorus) का आयोजन कर दिया जाता था। वस्तुतः भारत में नाटकों का प्रचलन भारत यूनानी सम्पर्क से भी बहुत पहले हो चुका था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पाणिनि (ईसा से ५०० वर्ष पूर्व) के सूत्रों में कृशाश्व और शिलालिन् नाम के नट-सूत्रकारों के नामों का उल्लेख हुआ है। 'विनय-पिटक' में अश्वजित् और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं का वृत्तान्त मिलता है, जिन्हें रंगशाला में नर्तकियों से बात करने व नाटक देखने के अपराध में प्रव्राजनीय दण्ड मिला था। इसी प्रकार जैन कल्प-सूत्रों में भद्रबाहु स्वामी ने जडवृत्ति के साधुओं के अन्तर्गत एक ऐसे साधु का भी उल्लेख किया है, जिसे नाटक देखने का शौक हो गया था। वाल्मीकि रामायण मे अयोध्या की प्रशंसा करते हुए उनमें अनेक नट एवं नर्तकियों के निवास का वर्णन किया है। 'हरिवंश पुराण' में 'राम जन्म' तथा 'कौवेर-रंभाभिसार' आदि नाटकों के खेले जाने का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त भरत के 'नाट्य-सूत्र' (ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व) में अभिनय-कला का जैसा सूक्ष्म-विवेचन हुआ है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में नाट्य-कला की एक दीर्घ परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व रही होगी। वस्तुतः भारतीय नाट्य-कला बहुत प्राचीन है तथा उसका विकास यूनानी आक्रमण से पूर्व ही हो गया था। सम्भव है कि यूनानी यहाँ से अन्य कुछ कलाओं की भाँति नाट्य-कला की भी कुछ विशेषताएँ ले गए हों और उनका समन्वय अपने नाटकों में कर दिया हो।

भारत का बहुत-सा प्रारम्भिक साहित्य अनुपलब्ध है, अतः हमारे प्रारम्भिक नाटक भी अब प्राप्य नहीं है। उपलब्ध नाटकों में सबसे प्राचीन महाकवि भास (प्रथम शती ईसा पूर्व) की रचनाएँ—प्रतिभा, पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता आदि हैं, जिनमें नाट्य-कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके अनन्तर कालिदास, शूद्रक, भवभूति, हर्ष-वर्द्धन, भट्टनारायण, विशाखदत्त आदि नाटककारों की अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ मिलती हैं। संस्कृत में नाटक-साहित्य में बुद्धि और भावना का एकान्त संयोग, अनुभूतियों की विविधता और गंभीरता, चित्रण की असाधारण कुशलता और शैली की स्वाभाविकता और रोचकता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु के क्षेत्र में जैसी व्यापकता भास में मिलती है, सौन्दर्य का जैसा सजीव अंकन कालिदास में मिलता है, प्रेम की जैसी गम्भीरता भवभूति में है, जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का जैसा मार्मिक चित्रण शूद्रक ने किया है और राजनीति के दाँव-पेचों का गुम्फन जिस सफलता से विशाखदत्त ने किया है, वह विश्व-नाटक साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय है। संस्कृत नाटककारों में स्वाभाविकता का आग्रह इतना अधिक है कि वे अशिक्षित पात्रों के संभाषणों को सहज स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने के लिए असंस्कृत, हेय एवं निम्नवर्गीय भाषा को भी कृतियों में स्थान दे देते हैं।

संस्कृत की नाट्य-परम्परा का विकास परवर्ती भाषाओं में समुचित रूप से नहीं हो सका। यद्यपि संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्राकृत भाषा को थोड़ा बहुत स्थान दिया है, किन्तु फिर भी प्राकृत में उत्कृष्ट कोटि के नाटक बहुत कम लिखे गये। नाटक के एक विशेष रूप—सट्टक का ही प्राकृत में अधिक प्रचलन रहा। प्राकृत सट्टकों में कर्पूर-मंजरी, रंभामंजरी, चन्द्रलेखा, शृंगार-मंजरी, आनन्दसुन्दरी आदि उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर अपभ्रंश में नाटक की परम्परा एक बार विलुप्त सी हो गई। रासक-काव्यों के रूप में अवश्य अपभ्रंश में कई सौ रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु उनमें नाटकीय तत्त्वों का प्रायः अभाव है। एक तो वे विशुद्ध पद्य-बद्ध हैं और दूसरे उनमें अभिनय सम्बन्धी संकेतों का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त अभिनेय वस्तु का भी उनमें वर्णन कर दिया गया है, अतः उन्हें नाटक कहना उचित नहीं। फिर भी 'नाट्य-दर्पण', 'भाव-प्रकाश' व 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रन्थों में 'रासक' के लक्षणों का निरूपण नाटक के रूप में हुआ है। 'साहित्य-दर्पणकार' के विचारानुसार रासक में पाँच पात्र होते हैं, एक अंक होता, मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं और कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मेनका हित' का नाम लिया है। यद्यपि अब न तो 'मेनका-हित' ही उपलब्ध है और न ही उपर्युक्त लक्षणों से युक्त कोई रासक-कृति मिलती है, परन्तु इसी से यह निश्चित हो जाता है कि कभी नाट्यरासकों की परम्पारा भी अवश्य रही है, यद्यपि आज वे अनुपलब्ध या अप्रकाशित हैं।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का उद्भव

हिन्दी में नाटक-साहित्य का उद्भव कब से माना जाय ? इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं है । डा० दशरथ ओझा ने अपने महत्वपूर्ण अनुसंधान द्वारा संवत् १२८६ में रचित 'गय सुकुमार रास को हिन्दी का प्रथम उपलब्ध नाटक सिद्ध किया है किन्तु हमारे विचार से यह 'रासक' या 'रास' श्रेणी का काव्य ही है । इसमें गद्य शैली, संवादों के आयोजन एवं अभिनय के संकेतों का अभाव है—यह दूसरी बात है कि जिस प्रकार आजकल कई लोग तुलसी की 'रामचरित मानस' से 'रामलीला' के आयोजन में सहायता लेते हैं, उसी प्रकार इन रासकाव्यों को भी रंगमंच पर संगीत या अभिनय के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा हो किन्तु इसी से किसी काव्य को 'नाटक' की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।

मैथिली नाटक—हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव में नाटकीय तत्त्वों से युक्त है, मैथिली भाषा में मिलता है । महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते हैं, किन्तु उनमें अब 'गोरक्ष-विजय' ही उपलब्ध है । इसका गद्य भाग संस्कृत में व पद्य भाग मैथिली में है । अप्रकाशित होने के कारण इसका अधिक विवरण अनुपलब्ध है । जब मिथिला के शासक-वर्ग के कुछ लोग नेपाल में चले गये; तो विद्यापति की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल—दोनों प्रदेशों में साथ-साथ हुआ । नेपाल के रचित नाटकों में 'विद्या-विलाप' (१५३३ ई०), 'मुद्रित कुवलयाश्व' (१६२८ ई०), 'हर गौरी विवाह' (१६२६ ई०), 'उषा-हरण' 'पारिजात-हरण', 'प्रभावती हरण' (१७वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं । मिथिला के नाटकों में से गोविन्द का 'नल-चरित-नाटक' (१६३६ ई०), रामदास झा का 'आनन्दविजय नाटक', देवानन्द का 'उषा-हरण' (१७वी शती) रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणी-हरण' (१८वीं शती), उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' (१८वी शती) आदि महत्त्वपूर्ण हैं । नेपाल और मिथिला में रचित इन मैथिली नाटकों की परम्परा बीसवीं शती तक अक्षुण्ण रूप में मिलती है । इनकी रचना रंगमंच पर अभिनय करने के लिए होती थी, अतः इनमें अभिनेयता का गुण मिलता है । गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग इनमें हुआ है । भाषा प्रायः सरल मैथिली है । मैथिली नाटकों के प्रभाव से आसाम और उड़ीसा में भी कई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनमें विषय-वस्तु शिल्प एवं भाषा-शैली की दृष्टि से गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है ।

रास-लीला नाटकों का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी प्रदेशों—मिथिला, असम, उड़ीसा आदि में उपर्युक्त मैथिली-नाटक साहित्य का विकास हो रहा था, ब्रज-प्रदेश में रास-लीला नाटकों का उद्भव हुआ । डॉ० दशरथ ओझा ने रास-लीला नाटकों को जैन-कवियों द्वारा रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई

स्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है । सर्व-प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के अलौकिक रास का दर्शन हुआ, जिसके अनुकरण पर उन्होंने 'कृष्ण रास-मंडल' की स्थापना की और रास-लीलाओं का आयोजन किया ।

आगे चलकर इस रास-लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक हुआ और उसमें कथावस्तु के कुछ अंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया । नन्ददास जी ने 'गोवर्द्धन लीला' एवं 'श्याम सगाई-लीला' की रचना की तथा ध्रुवदासजी व चाचा वृन्दावन-दास ने लगभग ४०-५० लीलाएँ लिखीं । आगे चलकर व्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखीं । कृष्णलीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह लीला, भागीरथ लीला; प्रह्लाद लीला, दान लीला आदि की रचना हुई । यद्यपि प्रारम्भिक लीलाएँ नाटक की अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं, किन्तु धीरे-धीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्य-बद्ध ही रहा । वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन अब भी विभिन्न रास-मंडलियों द्वारा लोकमंच पर होता है जिनमें नृत्य और गान की ही प्रधानता है । इन्हें साहित्यिक नाटकों की अपेक्षा लोक नाट्य रचनाओं के रूप में ग्रहण करना अधिक उचित होगा ।

पद्य-बद्ध नाटक

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई, जो शैली की दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न है तथा जिनका अभिनय कदाचित् नहीं हुआ । इन नाटकों में रामायण महानाटक (१६६७ वि०), हनुमन्नाटक (हृदयराम, १६८० वि)०, समयसार नाटक (बनारसीदासी, १६६३ वि०) चंडी-चरित्र (गुरु गोविन्दसिंह), प्रबोध-चन्द्रोदय (यशवन्तसिंह, १७०० वि०), शकुन्तला नाटक (नेवाज, १७२७ वि०) और सभासार नाटक (श्री रघुराम नागर, १७५७ वि०) करुणाभरण (कृष्ण जीवन लछीराम १७७२ वि०) उपलब्ध हैं । उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार के नाटक और भी लिखे गए । माधव-विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक; रामलीला विहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्द नाटक की रचना हुई । इन नाटकों में विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुआ है तथा 'नाटक' के नाम के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती, जिससे इन्हें नाटक कहा जा सके । हाँ, प्रबोध-चन्द्रोदय में अवश्य मूल संस्कृत रचना के अनुरूप ही नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

हिन्दी में नाटक के स्वरूप का समुचित विकास आधुनिक युग के आरम्भ से होता है । सन् १८५० से अब तक के युग को हम नाट्य-रचना की दृष्टि से तीन खंडों में विभक्त कर सकते हैं । (१) भारतेन्दु युग (१८५०-१९०० ई०), (२) प्रसाद

युग (१६००-१६३०) और (२) प्रसादोत्तर युग (१६३० से अब तक); इनमें से प्रत्येक युग के प्रमुख नाटककारों का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) भारतेन्दु युग—स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र द्वारा रचित 'नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) को बताया है, किन्तु तात्विक दृष्टि से यह पूर्ववर्ती ब्रजभाषा पद्य-बद्ध नाटकों की ही परम्परा में आता है। सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रकाशित करवाया। भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' (सन् १८-६८ ई०) में किसी बंगला के नाटक का छायानुवाद था। इसके अनन्तर उनके अनेक मौलिक व अनुवादित नाटक प्रकाशित हुए, जिनमें पाखंड-विडम्बनम्। (१८७२), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२), धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, (१८८५), कर्पूर-हरिश्चन्द्र (१८७५), प्रेम योगिनी (१८७५), विषस्य-विषमौषधम् (१८७७), कर्पूर-मंजरी (१८७६), चन्द्रावली (१८७६), भारत दुर्दशा (१८७६), नीलदेवी (१८७७), अंधेर-नगरी (१८८१) और सती-प्रताप (१८८४ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर आधारित हैं। सत्य-हरिश्चन्द्र, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मंजरी—ये चारों अनुवादित हैं। अपने मौलिक नाटकों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों एवं धर्म के नाम पर होने वाले कुकृत्यों आदि पर तीव्र व्यंग्य किया है। 'पाखण्ड-विडम्बन' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी प्रकार के नाटक हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी-नरेशों की दुर्दशा पर आँसू बहाए गए हैं तथा उन्हें चेतावनी दी गई है कि यदि वे न सँभले तो धीरे-धीरे अंग्रेज सभी देशी रियासतों को अपने अधिकार में ले लेंगे। 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु की राष्ट्र-भक्ति का स्तर उद्घोषित हुआ है। इसमें 'अंग्रेज' को भारत-दुर्दैव के रूप में चित्रित करते हुए भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर विदेशी शासकों की स्वेच्छाचारिता, पुलिसवालों के दुर्व्यवहार, भारतीय जनता की मोहान्धता पर गहरे आघात किए गए हैं, कुछ आलोचक भारतेन्दु-साहित्य को भली प्रकार न समझने के कारण भारतेन्दु की राष्ट्रीयता के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके। वस्तुतः उस युग में जबकि १८५७ की असफल क्रान्ति को लोग भूले नहीं थे, भारतेन्दु ने ब्रिटिश शासन एवं उसके विभिन्न अंगों की जैसी स्पष्ट आलोचना अपने साहित्य में की है, वह उनके उज्ज्वल देश-प्रेम एवं अपूर्व साहस का परिचय देती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संस्कृत, प्राकृत, बँगला व अंग्रेजी के नाट्य-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने इन सभी भाषाओं से अनुवाद किए थे, नाट्य-कला के सिद्धान्तों का भी उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था, जो उनकी रचना 'नाटक' से सिद्ध है। साथ ही उन्होंने अपने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होंने अभिनय में भाग भी लिया था। इस प्रकार नाट्य-कला के सभी अंगों को विकसित करने का प्रयास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है। यदि हम एक ऐसा

नाटककार ढूंढ़ें, जिसने नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्यकला सम्बन्धी सैद्धान्तिक ग्रन्थ लिखा हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद भी किया हो, जिसने वैयक्तिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो और उसने नाटक की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेल कर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं—समस्त विश्व साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे और उनमें भी भारतेन्दु का स्थान सर्वोच्च होगा। उनके नाटकों में जीवन और कला, सत्यं और सुन्दरम्, मनोरंजन और मंगल का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वाभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। नाट्यरूपों और नाटक की विधाओं की दृष्टि से भी अकेले उन्होंने जितने प्रकार के प्रयोग किये हैं उतने किसी और ने नहीं किये।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा व उनके प्रभाव से उस युग के अनेक लेखक नाट्य-रचना में प्रवृत्त हुए। श्री निवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी', राधाकृष्णदास ने 'दु:खिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप', खंगबहादुरलाल ने 'भारत-ललना', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', सीताराम वर्मा ने 'विवाह-विडम्बन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा रूपक' और राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन श्रीगोसाईजी के अर्पण' आदि नाटक लिखे। इन नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही प्रवृत्तियों का अनुकरण हुआ है। प्राय: सभी में समाज-सुधार, देश-प्रेम या हास्य-विनोद की प्रवृत्ति मिलती है। इनमें गद्य खड़ीबोली में तथा पद्य ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत नाटकों के अनेक शास्त्रीय लक्षणों की इनमें उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रों के अनुरूप रखी गई है। शैली में सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं। वस्तुत: भारतेन्दु-युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह 'लोक रंजन' एवं 'लोक-रक्षण'—दोनों के तत्त्वों से युक्त रहा है। उसने पाठ्य और दृश्य—दोनों रूपों में तत्कालीन लोक-हृदय का अनुरंजन किया।

(ख) प्रसाद युग—आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य के दूसरे प्रभावशाली नेता जयशंकर प्रसाद हुए। यद्यपि भारतेन्दु युग की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के आगमन से पूर्व हिन्दी में अनेक नाटक लिखे गए, जिसमें अधिकांश संस्कृत बंगला व अंग्रेजी से अनुवादित हैं, किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं माने जाते। अनुवाद के माध्यम से बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिन्दी के नाटककारों पर पड़ा, पहले जहाँ पौराणिक एवं कल्पित कथानकों को ग्रहण किया जाता था, वहाँ नए युग में ऐतिहासिक विषयों को अपनाया गया। पूर्ववर्ती समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चिन्तन को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। वस्तुत: इस परिवर्तन की सूचना सबसे पूर्व जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलती है।

श्री जयशंकर प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की। सज्जन (१९१० ई०), कल्याणी परिणय (१९१२); करुणामय (१९१३), प्रायश्चित (१९१४) राज्यश्री (१९१५), विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२), कामना (१९२३-२४), जनमेजय का नाग-यज्ञ (१९२३), स्कंदगुप्त (१९२८), एक घूंट (१९२९) चंद्रगुप्त (१९३३) और ध्रुव-स्वामिनी (१९३३)। भारतेन्दु-युग के कवियों ने देश की दुर्दशा का वर्णन बारम्बार अपनी रचनाओं में किया, जिसके प्रभाव से भारतवासियों में करुणा, ग्लानि, दैन्य एवं अवसाद की भावना का विकास हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी मनःस्थिति में समाज एवं राष्ट्र विदेशी-शक्तियों से संघर्ष करने की क्षमता से शून्य हो जाता है। अतः प्रसाद जी ने अपने देशवासियों में आत्मगौरव, उत्साह, बल एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरव पूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटकों का कथानक उस बौद्ध-युग से सम्बन्धित है, जब कि भारत की सांस्कृतिक पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है; उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएँ ही नहीं मिलतीं, तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीनी भी मिलती है। धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना अधिक उचित समझा है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए उनमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन या विकास दिखाया है। मानव चरित्र के सत् और असत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने प्रदान किया है। नारी-रूप की जैसी महानता, सूक्ष्मता शालीनता एवं गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथों प्राप्त हुई है, उससे भी अधिक सक्रिय एवं तेजस्वी रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया। प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में किसी-न-किसी ऐसे नारी पात्र की अवतारणा हुई है, जो धरती के दुःखपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भाँति उद्दीप्त है; जो पाशविकता दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा, करुणा एवं प्रेम के दिव्य संदेश की प्रतिष्ठा करती है; जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार-लोक-सेवी बना देती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा की हो' उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णतः लागू होती है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी और पश्चिमी तत्वों का सम्मिश्रण मिलता है। जहाँ उनके नाटकों में कथावस्तु, रस, नायक प्रतिनायक, विदूषक, शील-निरूपण, सत्य और न्याय के विषय में भारतीय नाट्य साहित्य की परम्पराओं का पालन हुआ है, वहाँ पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष एवं व्यक्ति-वैचित्र्य का निरूपण भी उनकी रचनाओं में हुआ है। भारतीय नाटकों की रसात्मकता इनमें भरपूर मिलती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों की कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमें विद्यमान है। भारतीय नाटककार सुखान्त को पसन्द करते हैं– पश्चिम के

कलाकार दु:खान्त को। प्रसाद ने अपने नाटकों का अन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं और दु:खान्त भी; न उन्हें सुखान्त कह सकते हैं और न दु:खान्त ही। वस्तुत: उनका अन्त एक ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना के साथ होता है, जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है; किन्तु वह फल का उपभोग स्वयं नहीं करता; उसे वह प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अन्त को 'प्रसादांत' की संज्ञा दी गई है।

रंगमंच व अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में अनेक दोष मिलते हैं। उनका कथानक इतना विस्तृत एवं विशृङ्खलित सा है कि उससे उसमें शिथिलता आ जाती है। उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं एवं दृश्यों का आयोजन किया है, जो रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन एवं वार्तालाप, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म एवं जटिल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग, वातावरण की गम्भीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होती हैं। वस्तुत: अपने नाटकों से प्रसाद कवि-दार्शनिक अधिक हैं, नाटककार कम। उनके नाटक विद्वानों द्वारा गम्भीर मनन की वस्तु हैं, जन-साधारण के सामने उसका सफल प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

प्रसाद-युग में अन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त (वरमाला, राजकुमुट आदि), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचंद (कर्बला, संग्राम) आदि उल्लेखनीय हैं। यह ध्यान रहे कि विषय एवं शैली की दृष्टि से इन नाटककारों में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर है, तथा ये सभी नाटकों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की भी पूर्ति करते रहे हैं; अत: नाटककार के रूप में इनको विशिष्टता नहीं मिली।

प्रसादोत्तर नाटक साहित्य

(क) **ऐतिहासिक नाटक**—प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ। इस क्षेत्र में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्द-वल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदय शंकर भट्ट तथा अन्य कतिपय नाटककारों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में 'रक्षाबन्धन' (१६३४), 'शिवा-साधना' (१६३७), 'प्रतिशोध', (१६३७), 'स्वप्न-भंग' (१६४०), 'आहुति' (१६४०), 'उद्धार' (१६४०), 'शपथ' (१६५१), 'भग्न-प्राचीर' (१६५४), 'प्रकाश-स्तम्भ' ('५४), 'कीर्ति स्तम्भ' ('५५), 'संरक्षक ('५८), 'विदा' ('५८), संवत्-प्रवर्त्तन' ('५६), साँपों की सृष्टि ('५६), 'आन का मान' (१६६१) आदि को लिया जा सकता है। प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्राय: मुस्लिम-कालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके सन्दर्भ में आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्र-भक्ति, आत्म-त्याग, बलिदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों

एवं प्रवृत्तियों की उद्दीप्ति एवं पुष्टि होती है। उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिए नहीं, अपितु आदर्शों की स्थापना के लिए किया है। नाट्य-कला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ प्राय: निर्दोष एवं सफल सिद्ध होती हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं। उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास और नाटक—दोनों के माध्यम से व्यक्त हुई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'झाँसी की रानी' (१९४८), 'पूर्व की ओर' ('५०), 'बीरबल' ('५०), 'ललित विक्रम' ('५३) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वर्माजी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। वर्माजी के नाटकों में कथावस्तु एवं घटनाओं पर विशेष बल मिलता है, तथा कहीं-कहीं वे अति घटना-प्रधान हो गए हैं। फिर भी दृश्य-विधान की सरलता, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, भाषा की उपयुक्तता एवं गतिशीलता तथा संवादों की संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल हैं।

गोविन्दवल्लभ पन्त ने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। उनके 'राजमुकुट' (१९३५), 'अन्तःपुर का छिद्र' (१९४०) आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। पहले नाटक में मेवाड की पन्ना धाय का पुत्र-बलिदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है। पन्त जी के नाटकों पर संस्कृत, अंग्रेजी, पारसी आदि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिनेयता का उन्होंने अत्यधिक ध्यान रखा है।

मूलत: अन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करने वाले लेखकों की कृतियों में से यहाँ उल्लेखनीय हैं—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' (१९३५), 'रेवा' ('३८), सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' (४२), 'शशिगुप्त' (४२), 'कुलीनता' (४१); उदयशंकर भट्ट का 'मुक्ति-पथ' ('४४), 'दाहर' ('३३), 'शक-विजय' ('४९); सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' ('३३); लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'गरुड़-ध्वज' ('४८), 'वत्सराज' ('५०), 'वितस्ता की लहरें' ('५३); उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' ('३७); सत्येन्द्र का 'मुक्ति-यज्ञ' ('३७), सुदर्शन का 'सिकन्दर' (४८) वैकुण्ठनाथ दुग्गल का 'समुद्रगुप्त' ('४६) जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' का 'गौतम नन्द', बनारसीदास करुणाकर का 'सिद्धार्थ बुद्ध' ('५५) जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (५१), देवराज दिनेश के 'यशस्वी भोज' और 'मानव प्रताप' ('५२) चतुरसेन शास्त्री का 'छत्रसाल' ('५४) आदि। कुछ लेखकों ने जीवनी-परक नाटक भी लिखे हैं, यथा —लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि 'भारतेन्दु' ('५५) तथा सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्दु ('५५) 'रहीम' ('५५) आदि की रचना की है। इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सूची से इनकी प्रगति एवं अभिवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण या विवेचन के

लिए अवकाश नहीं है, सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास और कल्पना का सन्तुलित संयोग मिलता है। अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाओं को ही नहीं अपितु उसके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, युगीन चेतना एवं तात्कालिक सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास भी अनेक नाटककारों ने किया है। कला, शिल्प और शैली की दृष्टि से भी इसमें पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में विकास दृष्टिगोचर होता है। पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक ज्ञान, विचार एवं प्रयोग की न्यूनता पर अधिक बल दिये जाने के कारण रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता में भी न्यूनता आ गई है।

(ख) **पौराणिक नाटक**—इस युग में पौराणिक नाटकों की परम्परा का भी विकास हुआ है। विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किए, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है : सेठ गोविन्ददास का कर्त्तव्य' (१६३५), चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' ('३६); पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' (५०); सद्गुरुशरण अवस्थी का 'मझली रानी'; रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की माँ; गोकुल चन्द्र शर्मा का 'अभिनय'; किशोरीदास बाजपेयी का 'सुदामा' (१६३६) चतुरसेन शास्त्री का राधाकृष्ण; वीरेन्द्रकुमार गुप्त का 'सुभद्रा-परिणय'; कैलाशनाथ भटनागर के 'भीम-प्रतिज्ञा' (१६३४), और 'श्रीवत्स' (१६४१); उदय-शंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' (१६४५) और 'सागर विजय' (१६४७); पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' ('४०), डा० लक्ष्मणस्वरूप का 'नलदमयन्ती ('४१) प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'श्री शुक' (४४) तारा मिश्र का 'देवयानी' (४५), गोविन्दास का 'कर्ण' (४६); कामनिधि शास्त्री का 'प्रणपूर्ति' ('५०) उमाशंकर बहादुर का 'वचन का मोल' ('५१); गोविन्दवल्लभ पंत का 'ययाति' ('५१); डा० कृष्णदास भारद्वाज का 'अज्ञातवास' ('५२); मोहनलाल 'जिज्ञासु' का 'पर्वदान' ('५२); हरि-शंकर सिनहा 'श्रीवास' का 'माँ दुर्गे' ('५३); लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' ('४३) और 'चक्र-व्यूह' ('५४), रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' ('५१), मुखर्जी गुंजन का 'शक्तिपूजा' ('५२); जगदीश का 'प्रादुर्भाव' ('५५); सूर्यनारायन मूर्ति का 'महानाश की ओर' (६०) आदि। डा० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उसके व्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पौराणिक चरित्रों द्वारा किसी ने कर्त्तव्य के आदर्श को पाठकों के सम्मुख रक्खा है, किसी ने किसी उपेक्षित पात्र के साथ सहानुभूति के दो आँसू बहाए हैं। किसी ने जाति-पाँति के भेद की समस्या का समाधान ढूंढा है तो किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित किए हैं। अधिकांश नाटककार इन पौराणिक नाटकों द्वारा आज के जीवन को देखने लगे हैं।...

इन नाटकों की दूसरी विशेषता है—प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवं असंगत सूत्रों में सम्बन्ध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास। तीसरे, वे हमें आज के जीवन की संकीर्णताओं एवं सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवं विशालता का सन्देश देते है। रंगमंच एवं नाटकीय शिल्प की दृष्टि से अवश्य इनमे अनेक नाटक दोष-पूर्ण सिद्ध होंगे, किन्तु गोविन्द वल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे मंजे हुए नाटककारों ने इसका पूरा ध्यान भी रखा है, अस्तु, इसमें कोई सन्देह नही कि ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए भी प्रतिपादन-शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से आधुनिक हैं तथा ये आज के सामाजिक की रुचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं हैं।

(२) समस्या-प्रधान नाटक—इस युग के काल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूलप्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) समस्या-प्रधान नाटक (२) भाव-प्रधान एवं (३) प्रतीकात्मक नाटक। समस्या-प्रधान नाटकों का प्रचलन मुख्यत: इब्सन, बर्नार्ड शा आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से ही हुआ है। पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यथार्थवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें सामान्य जीवन की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से किया जाता है। इनमें विशेषत: यौन समस्याओं को ही लिया गया है। बाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा इनमें आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया गया है। स्वगत-भाषण, गीत, काव्यात्मकता आदि का इनमें परित्याग कर दिया गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इन्हें भी दो उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मनोवैज्ञानिक एवं (२) सामाजिक। मनोवैज्ञानिक नाटकों में मुख्यत: काम सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण यौन-विज्ञान एवं मनोविश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग में मुख्यत: लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक आते हैं : दूसरे वर्ग में आज के युग और समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग के लेखकों में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पन्त के नाम उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-प्रधान नाटकों में 'संन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मन्दिर' ('३१), 'मुक्ति का रहस्य' ('३२), 'राजयोग' ('३४), 'सिन्दूर की होली' ('३४), 'आधी रात' ('३७) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे थे, जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। मिश्रजी के इन नाटकों में बौद्धिकतावाद, यथार्थवाद एवं फ्रायडवाद की प्रमुखता है। इब्सन, शा आदि पाश्चात्य नाटककारों की भाँति इन्होंने भी जीवन के प्रति विशुद्ध बौद्धिकतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए पूर्ववर्ती रोमांसवादी या भावुकतावादी दृष्टिकोण का विरोध किया है। उनके अधिकांश नाटकों में यौन सम्बन्धी प्रवृत्तियों

एवं काम-समस्याओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावन-लाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक पौराणिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने अपने नाटकों में किया है, जिनमें से 'कुलीनता' ('४०), 'सेवा-पथ' ('४०), 'दुख क्यों ?' (४६), 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' (३८), 'त्याग का ग्रहण' ('४३), 'संतोष कहाँ' ('४५), 'पाकिस्तान' (४६), 'महत्व किसे' ('४०), 'गरीबी और अमीरी' ('४७), 'बड़ा पापी कौन' ('४८) आदि उल्लेखनीय हैं। सेठजी ने आधुनिक युग की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाँति विशुद्ध यथार्थ-वादी कहा जा सकता है और न ही सेठजी की भाँति आदर्शवादी, वे इन दोनों के बीच की स्थिति में हैं, अतः उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना उचित होगा। उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण जहाँ यथार्थ के स्तर पर किया है, वहाँ उनके मूल में सुधार या क्रान्ति की भावना निहित है, जो आदर्शवाद की सूचक है। उनके प्रमुख नाटकों में 'स्वर्ग की झलक' ('३९) 'कैद' ('४५), 'उड़ान' (४९), 'छठा बेटा' (४९), 'अलग-अलग रास्ते' ('४५) आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने नाटकों में नारी-शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, विवाह-समास्या, संयुक्त-परिवार आदि से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर सामाजिक दृष्टि से तीखे व्यंग्य किए हैं। अनेक नाटकों में उन्होंने ,आधुनिक समाज की स्वार्थपरता, धन-लोलुपता, अनैतिकता आदि का भी चित्रण यथार्थवादी शैली में किया है। पर अश्क की नाट्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं और समाधानों को उपदेशा-त्मक एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु उनका निदर्शन हास्य-व्यंग्यमयी शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव और अधिक तीखा हो जाता है। रंगमंच और शैली की दृष्टि से तो उनकी तुलना किसी भी अन्य नाटककार से करना कठिन है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के अतिरिक्त सामा-जिक नाटकों के क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त की है। उनके इस वर्ग के नाटकों में से 'राखी की लाज' (१९४३), 'बांस की फाँस' ('४७) 'खिलौने की खोज' ('५०), 'केवट' ('५१), 'नीलकंठ' ('५१), सगुन' ('५१), 'निस्तार' ('५६), 'देखा-देखी' ('५६) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी ने इन नाटकों में विवाह; जाति-पाँति, ऊँच-नीच सामाजिक वैषम्य, नेताओं की स्वार्थ-परायणता आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन प्रस्तुत किया है।

गोविन्दवल्लभ पंत के सामाजिक नाटकों में 'अंगूर की बेटी' (१९३७), 'सिन्दूर की बिन्दी' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहली रचना में मदिरा-पान के

विषम एवं भयंकर परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में इस व्यसन से मुक्ति पाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। 'सिन्दूर की बिन्दी' में भ्रष्ट एवं परित्यक्त नारी की समस्या का चित्रण अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पंतजी के नाटकों में सर्वत्र समाज सुधार की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु साथ ही उनमें रोचकता और कलात्मकता का भी अभाव नहीं है।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (१६१८), 'अपराधी' ('३६), 'साध' (४४) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें उन्मुक्त-प्रेम, विवाह तथा सामाजिक न्याय से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया। 'दुविधा' की नायिका स्वच्छन्द-प्रेम एवं विवाह में से किसी एक को चुनने की दुविधा से ग्रस्त दिखाई गई है। यही समस्या 'साध' में भी है। इस दृष्टि से ये लक्ष्मीनारायण मिश्र के समीप पड़ते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण मिश्रजी के दृष्टिकोण की भाँति अति यथार्थवादी नहीं है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के द्वारा रचित 'कमला' ('३६),' मुक्ति-पथ ('४४),' 'क्रान्तिकारी ('५३); हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'छाया', प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी' ('३३) चन्द्रशेखर पाण्डेय का 'जीत में हार' (४२) जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' ('५०), चतुरसेन शास्त्री का 'पग ध्वनि' ('५२), दयाराम झा का 'कर्मपथ' ('५३); जयनाथ नलिन का 'अवसान' शंभुनाथ सिंह का 'धरती और आकाश' ('५४); अभयकुमार 'यौधेय' का 'नारी की साधना' ('५४); रघुवीरशरण का 'भारत माता' (५४); श्री संतोष का 'मृत्यु की ओर'; तुलसी भाटिया का 'मर्यादा' रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर कवि या उपन्यासकार हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने अपने युग, समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों एवं समस्याओं का अंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है। विषय-प्रतिपादन एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से अधिकांश रचनाएँ सफल एवं रोचक हैं।

(घ) गीतिनाटक कल्पनाश्रित नाटकों का दूसरा वर्ग भावप्रधान नाटकों का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यतः 'गीतिनाटक' नाम दिया जाता है। इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माध्यम भी अपेक्षित होता है। आधुनिक युग में रचित हिन्दी का पहला गीतिनाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करुणालय' (१६१२) माना जाता है। इसमें पौराणिक आधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप की बलि की कथा प्रस्तुत की गई है। प्रसाद के अनन्तर एक दीर्घ समय तक गीति नाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती युग में अनेक गीति-नाटक लिखे गए, यथा—मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'अनघ' (१६१२), 'हरिकृष्ण प्रेमी' द्वारा 'विहान' उदयशंकर भट्ट के द्वारा 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा' आदि; सेठ गोविन्ददास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग' (१६४६); भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि। इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता उदयशंकर भट्ट को मिली है। उन्होंने अपने पात्रों की विभिन्न भावनाओं एवं उनके अन्तर्द्वन्द्व

को अत्यन्त सशक्त एवं संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनमें पात्रों के संवाद भी प्रायः लय और संगीत से परिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं। गीति-नाटकों की परम्परा में सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' (जिनमें उनके नौ गीति-नाट्य संगृहीत हैं, डॉ० धर्मवीर भारती का 'अंधा युग', सिद्धकुमार का 'लौह 'देवता' आदि उल्लेखनीय हैं।

(ङ) प्रतीकवादी नाटक—प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का उत्थान प्रसाद के 'कामना' (१९२७) नाटक से माना जा सकता है। इसके अनन्तर लिखे गये प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं—सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्सना' ('३४), भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' ('३९), सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग' (४१) आदि। आगे चलकर और भी कई लेखकों ने प्रतीकात्मक नाटकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों के उद्घाटन का प्रयास किया है। इस दृष्टि से डा० लक्ष्मीनारायण लाल के 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'दर्पण' आदि उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग की परम्पराएँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के अनन्तर हिन्दी नाटक का विकास और भी द्रुत गति से हुआ क्योंकि एक तो परतंत्रता से मुक्ति के कारण नयी चेतना का जागरण होना स्वाभाविक था, दूसरे हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में भी इस युग में कई संस्थाओं का अवतरण हुआ और तीसरे राष्ट्रीय सरकार द्वारा 'संगीत और नाटक अकादमी' एवं 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' ('५९) की स्थापना क्रमशः हुई जिनसे रंगमंच की उन्नति में विशेष योग प्राप्त हुआ।

यद्यपि इस युग में कुछ लेखक तो अपनी पुरानी परम्परा का ही निर्वाह करते रहे किन्तु कुछ नये लेखकों ने नाट्य-रचना की नयी दृष्टि, नयी वस्तु एवं नये शिल्प का भी प्रयोग करते हुए कतिपय नूतन परम्पराओं का प्रवर्तन किया है, जिन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित (२) व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित और (३) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित। इनका परिचय आगे क्रमशः दिया जाता है।

(१) सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित नाटक इस वर्ग में मुख्यतः जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, नरेश मेहता, विनोद रस्तोगी, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, डा० शंकर शेष; प्रभृति की रचनाएँ आती हैं। **जगदीशचन्द्र माथुर** ने कोणार्क ('५१), पहला राजा ('६९), दशरथनन्दन ('७४) आदि में आदर्शोन्मुखी दृष्टि से सामाजिक नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए प्रयास किया है। 'कोणार्क' में जहाँ एक शिल्पी एवं कला-विद्वेषी शासक का संघर्ष दिखाया गया है तो 'पहला राजा' में राजा पृथु के पौराणिक आख्यान के माध्यम से व्यक्ति और राजसत्ता का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित किया गया है। इसी प्रकार 'दशरथनन्दन' में राम के माध्यम से व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु प्रभाकर ने 'डाक्टर' (५८), 'युगे युगे क्रान्ति', 'टूटते परिवेश' आदि नाटकों में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की कतिपय समस्याओं को चित्रित किया है। नरेश मेहता ने सुबह के घंटे (५६) में आधुनिक राजनीति—विशेषतः दलीय प्रजातंत्र प्रणाली—की विषमताओं का उद्घाटन किया है। साथ ही उन्होंने अपने एक अन्य नाटक 'खंडित यात्राएँ (६२) में आधुनिक जीवन में टूटते हुए मूल्यों की व्याख्या की है। इसी परम्परा के एक अन्य नाटककार विनोद रस्तोगी ने 'नये हाथ' (५८) एवं 'बर्फ की मीनार' में क्रमशः जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति एवं आधुनिक परिवार की मनःस्थिति का चित्रण किया है।

नाटक के क्षेत्र में पूरी तरह समर्पित होकर उतरने वाले लेखकों में डा० लक्ष्मीनारायण लाल का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने लगभग पचास से अधिक नाटकों की रचना की है। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'अंधा-कुआँ', 'रातरानी','दर्पण' 'करफ्यू' 'अब्दुला दीवाना' 'एक सत्य हरिश्चन्द्र','मिस्टर अभिमन्यु' आदि महत्वपूर्ण हैं। इनके पात्र कहीं पौराणिक हैं तो कहीं काल्पनिक किन्तु वे कई बार अपने सामान्य व्यक्तित्व के अतिरिक्त किसी सांकेतिक प्रतीकार्थ का भी संकेत करते हैं। डा० लाल के नाटकों का क्षेत्र बहुत व्यापक है जिनमें भारतीय गाँवों से लेकर अत्याधुनिक शहरी जीवन की विभिन्न परिवारिक, सामाजिक, एवं राजनीतिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं का निरूपण कुशलतापूर्वक किया गया है। वस्तुतः उनके नाटक जीवन एवं समाज की विभिन्न असंगतियों और विषमताओं का उद्घाटन सफलतापूर्वक करते हैं।

डा० शंकर शेष ने अपने नाटकों में विभिन्न मानव भावनाओं का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति के क्षेत्र में व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व को उद्घटित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनके 'बिन बाती के दीप', 'फन्दी', 'खजुराहो के शिल्पी' उल्लेखनीय हैं। 'एक और द्रोणाचार्य' में उन्होंने आधुनिक शिक्षक वर्ग की मनोवृत्तियों का चित्रण किया है।

इस प्रकार इस वर्ग के नाटककारों ने जीवन को व्यापक दृष्टि से देखते हुए उसके विभिन्न अंगों, पक्षों और रूपों का चित्रण सूक्ष्मतापूर्वक किया है जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज एवं संस्कृति के विभिन्न तथ्यों एवं तत्वों का उद्घाटन सहज ही हो गया है। विशेषतः आधुनिक युग में उत्पन्न नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के विघटन व सांस्कृतिक पतन की स्थिति से अवगत करवाने की दृष्टि से इस वर्ग के लेखकों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(२) व्यक्तिवादी चेतना से अनुप्राणित नाटक—इस वर्ग में मुख्यतः मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, रमेशबक्षी, मुद्राराक्षस प्रभृति नाटककारों की रचनाएँ आती हैं। **मोहन राकेश**' ने अपनी तीन रचनाओं द्वारा ही हिन्दी नाटक में बहुत ऊँचा स्थान बना लिया है। उनके नाटकों—**'आषाढ़ का एक दिन'** (५८), **लहरों के राजहंस**' (६) और **'आधे अधूरे** (६९)—में व्यक्ति एवं समाज के द्वन्द्व से उत्पन्न

कतिपय स्थितियों का चित्रण विभिन्न कथानकों के माध्यम से किया गया है। पहले दो नाटक क्रमशः संस्कृत के महाकवि कालिदास की जीवनी एवं अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' पर आधारित हैं किन्तु दोनों में ही प्राचीन विषय-वस्तु के माध्यम से आधुनिक युग की संवेदनाओं—मुख्यतः व्यक्ति के अहं, काम, प्रेम आदि से सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द्व—की व्यंजना सफलतापूर्वक की गई है। 'आधे अधूरे' में परम्परागत नैतिक मूल्यों एवं आधुनिक जीवन-दृष्टि के बीच घटित संघर्ष का चित्रण करते हुए दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन के विघटन को रेखांकित किया गया है। 'राकेश' के नाटक रंगमंच एवं शिल्प की दृष्टि से भी अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं।

सुरेन्द्र वर्मा ने **'द्रौपदी'** ('७२) 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' ('७५) 'आठवाँ सर्ग' आदि में परम्परागत मान्यताओं को चुनौती देते हुए नारी-पुरुष के यौन सम्बन्धों की स्वतंत्रता, वैवाहिक बन्धन की निस्सारता, साहित्य में अश्लीलता आदि के सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसी परम्परा का अनुमोदन करते हुए रमेश बक्षी ने अपने 'देवयानी का कहना है' में एक ओर तो वैवाहिक संस्था की उपयोगिता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया है तो दूसरी ओर 'तीसरा हाथी' में युवा पीढ़ी के लिए पितृत्व के बोझ को हाथी का बोझ सिद्ध किया है। इस वर्ग के अन्य लेखक **मुद्राराक्षस** ने **'तिलचट्टा'** ('७३) में काम, प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह किया है तो 'योर्स फेथफुली' ('७४) में कार्यालय के बाबू लोगों की यंत्रणा को व्यक्त किया है। अस्तु, इस वर्ग के लेखकों की दृष्टि मुख्यतः व्यक्ति स्वातंत्र्य, अहं, काम एवं स्वच्छन्द प्रेम सम्बन्धों के चित्रण में ही अधिक केन्द्रित रही जिसके फलस्वरूप परम्परागत मूल्यों एवं आदर्शों का विरोध स्वाभाविक था।

राजनीतिक चेतना से अनुप्राणिक नाटक—वैसे तो राजनीतिक विषयों को लेकर नाटक लिखने की परम्परा बहुत पुरानी रही है किन्तु आठवें दशक में भारतीय राजनीति में जिस प्रकार तेजी से उतार चढ़ाव आया उसके प्रभाव से हिन्दी में ऐसे कई नाटक लिखे गये हैं जिनमें समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में तीखा व्यंग्य किया गया है। इनमें **दया प्रकाश सिन्हा** के 'इतिहास-चक्र' एवं 'कथा एक कंस की', **विपिन अग्रवाल** का 'ऊँची-नीची टाँग का जांघिया', **हमीदुल्ला** का 'समय-संदर्भ', **गिरिराज किशोर** का 'प्रजा ही रहने दो' **सुशील कुमार सिंह** का 'सिंहासन खाली है !' **मणि मधुकर** का 'रस-गंधर्व', **ज्ञानदेव अग्निहोत्री** का 'शुतुरमुर्ग', **सर्वेश्वरदयाल सक्सेना** का 'बकरी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें एक ओर तो प्रजातंत्र के नाम पर जनता का शोषण करने वाले उन राजनीतिकों का भंडाफोड़ किया गया है जो कि चुनाव जीतने के लिए एवं सत्ता की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के पाखंडों, षडयंत्रों एवं झूठे आश्वासनों का आश्रय ग्रहण करते हैं तो दूसरी ओर इनमें सत्ताधारी वर्ग के द्वारा किये जाने वाले दुराचार, भ्रष्टाचार एवं अनाचार का भी चित्रण स्पष्ट रूप में किया गया है। आधुनिक युग में राज-

नीतिक नेताओं के आदर्शों, मूल्यों एवं विश्वासों के पतन का एक रोचक चित्र इन नाटककारों ने अपनी-अपनी दृष्टि में प्रस्तुत किया है। रंगमंच एवं शिल्प की दृष्टि से भी इनमें नूतनता दृष्टिगोचर होती है तथा मंच पर ये पर्याप्त सफल सिद्ध हुए हैं। इधर शरद जोशी ने 'अंधों का हाथी' एवं 'एक था गधा उर्फ अलदाद खाँ' के द्वारा तथा विनय ने 'पहला विद्रोह' 'इन्हें जानते हैं' आदि के द्वारा व्यंग्य-नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

इनके अतिरिक्त आधुनिक जीवन एवं समाज की विभिन्न परिस्थितियों एवं समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से 'तीन युग' (विमला रैना), अपनी धरती' (रेवती शरण शर्मा), 'धरती और आकाश' (शम्भूनाथ सिंह), 'बिना दीवार का घर' (मन्नू भंडारी) 'निरंकुश' (ब्रजमोहन शाह), भूमिका (सर्वदानन्द), 'तस्वीर उसकी' (चिरंजीत) 'हम लोग' (अमृतराय) आदि रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। विगत कुछ वर्षों में ही हिन्दी नाटक के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने की दृष्टि से डा० (श्रीमती) कुसुमकुमार का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनके कई नाटक प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें रंगमंच पर भी सफलतापूर्वक अभिनीत किया गया है। इनमें 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', 'संस्कार को नमस्कार' 'रावण लीला' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और अनेक दिशाओं में हुआ है। यद्यपि प्रारंभ में हिन्दी रंगमंच के अभाव तथा एकांकी, रेडियो रूपकों व चल-चित्रों की प्रतियोगिता के कारण इसके विकास की गति मन्द रही किन्तु पिछले कुछ वर्षों में अव्यावसायिक संस्थाओं के द्वारा रंगमंच के विकास के प्रयास हुए हैं जिससे इसकी प्रगति द्रुतगति से हो रही है।

हिन्दी में 'नयी कविता' और 'नयी कविता' की भाँति 'नया नाटक' नहीं आया फिर भी यह कहा जा सकता है कि अपने युग और समाज की नवीनतम स्थितियों, परिस्थितियों, संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यंजित करने की दृष्टि से हिन्दी का नाटक उसकी अन्य सभी विधाओं की अपेक्षा सर्वाधिक नवीन एवं अधुनातन है जो इस क्षेत्र के लेखकों की व्यापक अन्तर्दृष्टि एवं गम्भीर सामाजिक चेतना को प्रमाणित करता है। वस्तुतः बिना नूतनता की घोषणा और नयेपन के आन्दोलन के भी किस प्रकार नवीनतम रहा जा सकता है—इसका उदाहरण आज का हिन्दी नाटक-साहित्य है।

: छत्तीस :

हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास

'उपन्यास' शब्द का मूल अर्थ है—'निकट रखी हुई वस्तु,' (उप–निकट; न्यास—रखी हुई), किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग साहित्य के एक ऐसे रूप विशेष के लिए होता है, जिसमें एक दीर्घ कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। यद्यपि मूल अर्थ से प्रचलित अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी कुछ विद्वानों ने दोनों में संगति बैठाने का प्रयत्न किया है। एक लेखक महोदय का विचार है कि उपन्यास में जीवन को बहुत निकट से प्रस्तुत कर दिया जाता है, अतः इसका यह नाम सर्वथा उचित है, किन्तु वे भूल गए हैं कि साहित्य के कुछ अन्य अंगों—जैसे कहानी, नाटक, एकांकी आदि में भी जीवन को उपन्यास की ही भाँति बहुत समीप उपस्थित कर दिया जाता है। प्राचीन काव्य-शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नाटक की 'प्रति-मुख-संधि' के एक उपभेद के रूप में किया गया है। भरत मुनि ने इसके लिए 'उप-पत्तिकृतो ह्यर्थः,' तथा 'प्रसादनम्' आदि विशेषण प्रस्तुत किए हैं, जिनका अर्थ होता है—'किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करने-वाला' किन्तु यह बात साहित्य के अन्य अंगों पर भी लागू होती है। अस्तु, 'उप-न्यास' शब्द का कथा-साहित्य के अंग-विशेष के लिए क्यों प्रयोग होने लग गया, तथा सबसे पूर्व किस व्यक्ति ने ऐसा किया—यह एक अनुसंधान का विषय है।

आधुनिक युग में 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के 'नॉविल' (novel) के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना है। 'वह बृहत् आकार का गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया जाता है।' गुजराती में 'नवल-कथा', मराठी में 'कादम्बरी' एवं बँगला में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी के 'नॉविल' के अर्थ में ही किया जाता है। सम्भवतः हिन्दी में भी इस शब्द का प्रयोग बँगला के अनुकरण पर ही होने लगा है। खैर, यह अनुकरण चाहे ठीक हो या न हो, किन्तु अब इसका प्रचलन इतना अधिक हो गया है कि इसे हटाना, परिवर्तित करना या संशोधित करना सम्भव नहीं।

उपन्यास के तत्व

पाश्चात्य विद्वानों ने उपन्यास के मुख्यतः छः तत्त्व निर्धारित किए हैं; (१) कथा-वस्तु, (२) पात्र या चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) देश-काल, (५) शैली और (६) उद्देश्य। हमारे विचार से इस विश्लेषण में उपन्यासकी एक बड़े महत्त्वपूर्ण तत्व की उपेक्षा की गई है और वह तत्व है भाव या रस। साहित्य का सबसे महत्व-पूर्ण तत्व—भाव माना गया है तथा साहित्य और दर्शन, साहित्य और विज्ञान को पृथक् करनेवाला तत्व भाव ही है। साहित्य का कोई भी अंग या कोई भी रूप कविता नाटक, उपन्यास इस भाव-तत्व से शून्य नहीं रह सकता, वह साहित्य की श्रेणी में ही नहीं आ सकता। वृन्दावनलाल के उपन्यासों में से भाव-तत्व को निकाल दीजिए, वे उपन्यास न रहकर इतिहास बन जाएंगे; जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी के उपन्यासों को मनो-विज्ञान और मनोविश्लेषण से पृथक् करनेवाला तत्व, भावनाओं का चित्रण ही है। आचार्य गुलाबराय जी ने एक बार इस तत्व की ओर संकेत भी किया था, किन्तु विदेशी विद्वानों की विचार-शक्ति से हमारा दिमाग इस तरह अवरुद्ध रहता है कि उसमें स्वदेशी आचार्यों की मौलिक धारणाएँ कठिनता से प्रवेश पा सकती हैं।

उपन्यास की कथावस्तु में प्रमुख कथानक के साथ-साथ कुछ प्रासंगिक कथाएँ भी चल सकती हैं; किन्तु दोनों परस्पर सुसम्बद्ध होनी चाहिए। उसके कथानक का आधार वास्तविक जीवन होना चाहिए जिससे कि उसमें स्वाभाविकता रहे, किन्तु जिन उपन्यासों का लक्ष्य ही विचित्र घटनाओं द्वारा आश्चर्यजनक बातों का निरूपण करना हो, वहाँ यह नियम लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के एच० जी० वेल्स ने अपने कथा-साहित्य में जान-बूझकर ही काल्पनिक-चमत्कार-पूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है, अतः यदि इस ढंग से उपन्यास लिखे जायें तो उनमें ऐसा होना स्वाभाविक है। श्री प्रेमचन्द जी ने अपने 'काया-कल्प' में पुनर्जन्म को ही उद्देश्य माना है अतः उसमें एक ही पात्र के तीन जीवनों की घटनाओं का समा-वेश होना स्वाभाविक है, भले ही वे पाठक, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते, इसे एक दोष बतावें।

उपन्यास के कथानक के तीन आवश्यक गुण हैं—रोचकता, स्वाभाविकता एवं प्रवाह या गतिशीलता। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ में ही ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि पाठक के हृदय में ऐसा कौतूहल जागृत कर दे कि वह पूरी रचना को पढ़ने के लिए विवश हो जाय। यदि कोई पाठक किसी उपन्यास को जान-बूझकर अधूरा छोड़ देता है, तो यह दोष पाठक का नहीं, अपितु लेखक का है, जो अपने उपन्यास के कथानक में प्राण नहीं फूंक सका।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता, सजीवता एवं क्रमिक विकास का होना आवश्यक है। प्राचीन महाकाव्यों की भाँति उपन्यास के पात्र न तो अति मानवीय

होते हैं और न ही उनका चरित्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक जैसा होता है। पात्रों में वर्गगत विशिष्टताओं के साथ-साथ वैयक्तिक विशेषताओं का भी समन्वय होना चाहिए, अन्यथा उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाएगा। 'गोदान' में होरी, हीरा और शोभा तीनों एक ही परिवार और एक ही वर्ग से सम्बन्धित हैं, किन्तु फिर भी तीनों में इतना सूक्ष्म अन्तर रखा गया है जिससे हम एक दूसरे को पहचान सकें, अलग कर सकें। पात्रों के चरित्र में परिवर्तन या विकास परिस्थितियों व वातावरण के प्रभाव से क्रमशः दिखाया जाना चाहिए। कथोपकथन, देश-काल और शैली पर भी स्वाभाविकता और सजीवता की बात लागू होती है। विचार, समस्या और उद्देश्य की व्यंजना इस ढंग से होनी चाहिए कि वह रचना की स्वाभाविकता एवं रोचकता में बाधक सिद्ध न हो। इन सभी तत्वों का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को भावानुभूति प्रदान करना है, अतः इनका समन्वय भाव-तत्व के अनुकूल होना चाहिए, न कि भाव-तत्व का इनके अनुकूल। प्रत्येक उपन्यास में किसी एक भावना की प्रमुखता होती है; जैसे—प्रेमचन्दजी के 'निर्मला' और 'गोदान' में करुणा की; वर्माजी के 'मृगनयनी' में शौर्य्य या उत्साह की; जोशीजी के 'संन्यासी' में रति या प्रेम की। उपन्यास के भाव-तत्व की आयोजना एवं उसका विश्लेषण रस-सिद्धान्त के आधार पर किया जाना उचित है। यदि हमारे लेखक और आलोचक इस ओर ध्यान दें तो नवीनतम उपन्यास-साहित्य में विकसित होनेवाली अति बौद्धिकता व शुष्कता की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया जा सकता है। जो विद्वान विशुद्ध विचारात्मकता या शुष्क सिद्धान्त-प्रतिपादन में रुचि रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे उपन्यास को छोड़कर 'दर्शन', 'मनोविज्ञान' या 'तर्क-शास्त्र' के ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हों, अन्यथा उपन्यास-साहित्य, उपन्यास-साहित्य न रहकर, 'उपन्यास-शास्त्र' बन जायगा।

भेद

हिन्दी के आलोचकों ने उपन्यास के अनेक भेद किए हैं, जैसे घटना-प्रधान, चरित्रप्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि। यह वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा असंगत एवं अव्यावहारिक है। क्या सामाजिक उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता नहीं होती? अन्यथा मनोविश्लेषणात्मक में चरित्र की प्रधानता नहीं होती? पहले दो वर्गों का सम्बन्ध उपन्यास के तत्वों से है, जब कि सामाजिक और ऐतिहासिक का सम्बन्ध उनकी विषय-वस्तु से है। उपन्यासों का वर्गीकरण या तो उसके विषय के आधार पर अथवा तात्विक या शैलीगत विशेषताओं के अनुसार होना चाहिए, किन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण में दोनों को अनुचित ढंग से मिला दिया गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उपन्यास के भेदों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक आदि अनेक विषयों का समावेश उपन्यासों में किया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों देश और काल के अनुसार मानव-जाति की रुचि में परिवर्तन होता जायगा, त्यों-त्यों उपन्यास का विषय भी बदलता रहेगा, अतः विषय-वस्तु के आधार पर किए गए वर्गीकरण को भी प्रत्येक युग में परिवर्तित करना पड़ेगा। इसी प्रकार उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ-साथ उनमें नयी-नयी शैलियों का प्रयोग तथा नवीन शिल्पगत प्रवृत्तियों का विकास भी सदा होता रहेगा, अतः इनके आधार पर भी उपन्यास के भेदोपभेद को स्थायी रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। हम उपन्यास के तत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर ही उसे इन सात वर्गों में विभाजित करना अधिक उचित समझते हैं—(१) कथावस्तु-प्रधान या घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) कथोपकथन-प्रधान या संवादात्मक, (४) देश-काल-प्रधान या वातावरण-प्रधान, (५) शैली-प्रधान, (६) उद्देश्य-प्रधान या विचारात्मक अथवा समस्या-प्रधान और (७) रस-प्रधान अथवा भावात्मक। यद्यपि प्रत्येक उपन्यास में उपर्युक्त सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, किन्तु फिर भी लेखक के दृष्टिकोण, युग की प्रवृत्ति, आधारभूत विषय के अनुसार प्रत्येक उपन्यास में कोई एक तत्त्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के प्रारम्भिक तिलिस्मी. ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता थी, तो अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में कोरी शैली का ठाठ था। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में समस्याओं की प्रमुखता थी, तो वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में वातावरण या देशकाल की प्रमुखता है। इसी प्रकार जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि लेखकों की रचनाओं में जिन्हें 'मनोविश्लेषणात्मक' कहा गया है, मुख्यतः पात्रों के चरित्र के विश्लेषण को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। कुछ ऐसे उपन्यास भी रचे गए हैं और रचे जा सकते हैं, जिनमें कथोपकथन का बाहुल्य हो या जिनमें विचारात्मकता की अपेक्षा भावात्मक उद्‌गारों की प्रधानता हो। अतः हम समझते हैं कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपन्यास-कला के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में भी सहायक सिद्ध होगा।

उपन्यास का उद्‌भव और विकास

आधुनिक उपन्यास-साहित्य के रूप-विधान का विकास सबसे पहले यूरोप में माना जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन भारत में उपन्यास जैसी किसी विधा का प्रचार ही नहीं रहा। संस्कृत गद्य में लिखे गए पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, वृहत्कथा-मंजरी, वासवदत्ता, कादम्बरी और दशकुमार चरित में हमें क्रमशः औपन्यासिकता का विकास मिलता है। पंचतन्त्र और हितोपदेश में पशु-पक्षियों का इतिवृत्त है, वैताल-पंचविंशति और वृहत्कथा-मंजरी में मानवीय घटनाओं का वर्णन है; किन्तु उनमें अस्वाभाविकता आ गई है, अतः आधुनिक उपन्यासों से इनमें बहुत अन्तर है। कुछ विद्वानों ने 'कादम्बरी' को भारत का पहला उपन्यास माना है, यहाँ तक कि मराठी साहित्य में 'उपन्यास' का पर्यायवाची ही 'कादम्बरी' है, किन्तु हमारे विचार से यह ठीक नहीं। 'कादम्बरी' में अलौकिकता,

भावात्मकता एवं आलंकारिकता का आग्रह इतना अधिक है कि उसे उपन्यास कहना 'उपन्यास' शब्द के साथ अन्याय होगा। वस्तुतः मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्‌घाटन, यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं शैली की स्वाभाविकता की दृष्टि से 'दशकुमार-चरित' को हम भारत का पहला सफल 'उपन्यास' कह सकते हैं। इसमें अनेक स्वतन्त्र कथानकों को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं के द्वारा परस्पर सम्बद्ध किया गया है, जो आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से इसका यह एक बड़ा भारी दोष है; किन्तु इसके अन्य गुणों को देखते हुए यह दोष उपेक्षणीय कहा जा सकता है।

संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रचार अरब, इराक तथा यूरोप के अनेक प्रदेशों में होता हुआ ठेठ यूनान तक हो गया। संस्कृत की अनेक कथाओं का अनुवाद मध्य-एशिया और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में हुआ, जिनके आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वान् यूरोप के रोमांटिक कथा-साहित्य का मूल उद्‌भव भारतवर्ष के कथा-साहित्य को मानते हैं। जिस प्रकार भारत से भेजी हुई रुई और ऊन को यूरोपवाले कपड़े के बढ़िया थानों में परिवर्तित करके लौटाते रहे हैं, कुछ वैसे ही भारत का प्राचीन कथा-साहित्य यूरोप के क्रमशः रोमांटिक कथा-साहित्य एवं उपन्यास का रूप धारण करके लौटा।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, उपन्यास का उद्‌भव यूरोप में रोमांटिक कथा-साहित्य से हुआ, जो मूलतः भारतीय प्रेमाख्यानों से प्रेरित था। रोमांटिक का अर्थ है जिसमें प्रेम और साहस का निरूपण हो। संस्कृत के 'वासवदत्ता', 'कादम्बरी' और 'दशकुमार-चरित' में प्रेम, साहस और धैर्य का ही चित्रण किया गया है। इस युग के भारतीय कथा-साहित्य में इन तत्त्वों की इतनी प्रधानता थी कि आचार्य रुद्रट ने कथा-साहित्य के लक्षण निर्धारित करते समय प्रेम और साहस को उसका आवश्यक लक्षण माना है। यूरोप में रोमांटिक उपन्यासों का प्रचार सर्वप्रथम इटली में माना जाता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इटली के लेखक बोकेशियो ने 'डी केमरान' की रचना की, जो व्यंग्य और विनोद से ओत-प्रोत थी। सत्रहवीं शती में स्पेन के लेखक सरवन्ते ने 'डान क्विकजोट' की रचना की। आगे चलकर फ्रान्स में रोमानी और यथार्थवादी कथा-साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी ओर सत्रहवीं-अठारहवीं शती में इंगलैंड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, जैसे—सर फिलिप सिडनी कृत 'आर्केडिया' (१५६०), जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६८४), डेनियल डेफो का 'राबिन्सन क्रूसो' (१७१६), जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) आदि। आगे चलकर इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी व रूस में अनेक उच्च कोटि के उपन्यासों की रचनाएँ हुईं, जिनमें सेम्युअल रिचर्डसन का 'पामेला' (१७४०), हैनरी फील्डिंग का 'टाम जोन्स' (१७४९), आलिवर गोल्डस्मिथ का 'विकार ऑफ वेकफील्ड', जेन आस्टिन का 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस', सर वाल्टर स्कॉट का 'वेवर्ली नॉवेल्स', चार्ल्स डिकेन्स का 'डेविड कॉपरफील्ड', ब्रॉण्टी का 'जेन आयर',

थैकरे का 'वेनिटी फेयर', जार्ज इलियट का 'एडम बीड' आदि इंगलैंड में प्रकाशित हुए। फ्रांस के उपन्यास-लेखकों में वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बालजक, जार्ज सैण्ड, जोला, फ्लाबेयर, अनातोले फ्रांस आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जर्मनी में गेटे तथा रूस में पुश्किन, गोगोल, लर्मान्तोफ, तुर्गनेव, दास्ताएव्स्की, टॉलस्टाय जैसे महान् लेखकों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त नामावली से स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी में इसका आविर्भाव उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में हुआ। आधुनिक युगीन भारतीय साहित्य में उपन्यासों का विकास अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में हुआ, अतः जिन भाषा-भाषियों का अंग्रेजी से अधिक सम्पर्क था, उनमें उपन्यासों का प्रचार पहले होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पूर्व आरम्भ हो गई थी। बँगला के अनेक उपन्यासकारों—बंकिमचन्द्र, शरत्, रवीन्द्र आदि—का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी साहित्य के सभी अंगों के विकास की ओर ध्यान देनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की दृष्टि उपन्यास-साहित्य पर भी पड़ी। उन्होंने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्र-प्रभा' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया तथा एक मौलिक उपन्यास की भी रचना आरम्भ की जो दुर्भाग्य से पूरा नहीं हो सका। हिन्दी में पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भारतेन्दु के जीवन काल में ही—सन् १८८२ में—प्रकाशित हो गया था, जिसकी रचना का श्रेय लाला श्रीनिवासदास को है। लेखक ने भूमिका में स्पष्ट किया है कि इसके लेखन में 'महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तां वगैरह फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्री-बोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।' इससे तथा इसके ढाँचे से पता चलता है कि इसकी रचना बँगला उपन्यासों के आधार पर न होकर सीधे अंग्रेजी के उपन्यासों की प्रेरणा से हुई। 'परीक्षा-गुरु' में दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कहानी है, जो कुसंगति में पड़ गया था जिसका उद्धार अन्त में एक सज्जन मित्र द्वारा हुआ है। लेखक में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति अधिक होने के कारण यह रचना एक सफल उपन्यास का रूप धारण नहीं कर सकी।

भारतेन्दु-युग के अन्य कई लेखकों ने भी उपन्यासों की रचना की, जिनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रत्नचन्द प्लीडर का 'नूतन चरित्र (१८८३) बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२) राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय-हिन्दू' (१८९०), रामचरण गोस्वामी का 'विधवा-विपत्ति' (१८८८), कार्तिकप्रसाद खत्री का 'जया' (१८९६), बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० विजय शंकर मल्ल ने श्री फिल्लौरी जी के

'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला उपान्यास घोषित किया है, किन्तु उन्होंने अपनी घोषणा की पुष्टि अपेक्षित प्रमाणों से नहीं की। इन लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त बंगला के उपन्यासों के भी हिन्दी में अनुवाद किए। बाबू गदाधर सिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी', राधाकृष्णदास ने स्वर्णलता', प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' आदि;राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' 'सावित्री', 'मृण्मयी' आदि का अनुवाद किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री ने उर्दू और अंग्रेजी के बहुत रोमांटिक और जासूसी उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। वस्तुतः भारतेन्दु-युग में अनूदित उपन्यासों की ही प्रधानता रही। मौलिक उपन्यासों में भी कला का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें इतिवृत्त एवं घटनाओं की प्रधानता, चरित्र-चित्रण का अभाव, उपदेशात्मकता की भरमार एवं शैली की अपरिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के प्रचार में वृद्धि करने का श्रेय तीन लेखकों— **देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी** को है। खत्रीजी ने सन् १८६१ में 'चन्द्रकांता' और'चंद्रकाता-संतति' की रचना की, जिनमें तिलस्म और ऐयारी का वर्णन है। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि कई लोगों ने केवल उन्हें पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। गहमरीजी ने एक 'जासूस' नामक पत्र निकाला, जिसमें पांच दर्जन से भी अधिक जासूसी उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। उनके उपन्यासों का मूलाधार अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास होते थे। गोस्वामीजी ने भी 'उपन्यास' पत्रिका निकाली, जिसमें उनके ६५ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए। गोस्वामीजी के उपन्यासों का विषय सामाजिक था, किन्तु उनमें कामुकता और विलासिता का चित्रण अत्यधिक था। अस्तु, लेखक-त्रय की ये रचनाएँ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त साधारण कोटि की हैं। इनमें प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं की भरमार है।

खत्री, गहमरी और गोस्वामी की सम्मिलित त्रिवेणी और प्रेमचन्द के बीच की सीमा को मिलानेवाले श्री हरिऔध, लज्जाराम मेहता एवं कुछ अनुवादक हैं। हरिऔधजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिखकर आई० सी० एस० के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी मुहावरों की पाठ्य-पुस्तक का अभाव पूरा किया तो दूसरी ओर मेहताजी ने 'आदर्श हिन्दू' और 'हिन्दू गृहस्थ' लिखकर सुधारवाद की पताका लहराई।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०) के पदार्पण के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भाँति मौन, निस्पन्द एवं चेतनाहीन सा ही रहा था, दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भांति प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जाग उठा, खिल उठा और मुस्कराने लगा। राजा-रानियों और सेठ-सेठानियों के महलों की चारदीवारी में बन्द रहनेवाला कथानक जनसाधारण की लोक भूमि में उन्मुक्त रूप से विचरण करने लगा। लौह-मूर्तियों की भाँति स्थिर

रहनेवाले या कठपुतलियों की भांति लेखकों के मौन-संकेतों पर अस्वाभाविक गति से दौड़ने-फुदकनेवाले पात्र मांसल, सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न होकर सामान्य मनुष्यों के रूप में आत्म-प्रेरणा से परिचालित होते दिखाई पड़ने लगे। इसी प्रकार कथोपकथन, देश-काल, शैली, उद्देश्य, रस आदि अन्य औपन्यासिक तत्वों का विकास प्रथम बार प्रेमचन्दजी की कृतियों में हुआ। उन्होंने केवल सस्ते मनरंजन के स्थान पर जीवन की ज्वलंत समस्याओं को अपनी कला का लक्ष्य बनाया। यही कारण है कि उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी सामयिक समस्या का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है, जैसे सेवा-सदन (१६१८) में वेश्याओं की, रंगभूमि (१६२६) में शासक वर्ग के अत्याचारों की, प्रेमाश्रम (१६२१) में किसानों की, कर्म-भूमि (१६३२) में हरिजनों की, निर्मला (१६२२) में दहेज और वृद्ध-विवाह की, गबन (१६३१) में मध्यवर्ग की आर्थिक विषमता की और गोदान (१६३६) में पुनः किसान, मजदूर के शोषण की। प्रेमचन्दजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में आदर्शवादिता अधिक होने के कारण उनमें कहीं-कहीं काल्पनिकता और अस्वाभाविकता अधिक आ गई है, किन्तु आगे चलकर वे पूरे यथार्थवादी बन गए, जिसका प्रमाण गोदान में मिलता है। जहाँ प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने समस्याओं के समाधान का गांधीवादी ढंग से प्रयत्न किया है, वहाँ उनके अन्तिम उपन्यासों—निर्मला, गोदान—आदि में केवल समस्या को प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया गया है।

प्रेमचन्दजी के अनन्तर हिन्दी में शताधिक उच्चकोटि के उपन्यासकारों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न विषयों पर लेखनी उठाई। इनको हम अनेक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में वे लेखक आते हैं, जिन्होंने सामाजिक समस्याओं का चित्रण करते हुए प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस वर्ग में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र', चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', आदि उल्लेखनीय है। श्री जयशंकर प्रसाद जी ने 'कंकाल' में भारतीय नारी-जीवन की दुर्दशा पर प्रकाश डाला है। उनके अन्य उपन्यास 'तितली' में नारी-हृदय की महानता का उद्घाटन हुआ है। कौशिकजी ने 'माँ' और 'भिखारी' में भी नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। 'उग्र' जी लेखक के रूप में सचमुच उग्र हैं—उन्होंने 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुवा की बेटी' आदि में सभ्य-समाज की भीतरी दुर्बलताओं, अनीतियों और घृणित प्रवृत्तियों का उद्घाटन आवेगपूर्ण एवं धड़ल्लेदार शैली में किया है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने विधवाश्रमों की ओट में 'हृदय की प्यास' बुझानेवालों की खबर ली है। उनकी 'गोली' देशी रियासतों के शासकों की घृणित विलासिता को नग्न रूप में प्रस्तुत करती है। शास्त्रीजी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायगी। अश्कजी के उपन्यासों—मुख्यतः 'गिरती-दीवारें'—में मध्यवर्गीय समाज की बाह्य एवं आंतरिक

परिस्थितियों का उद्घाटन यथार्थवादी शैली में हुआ है। विवाह सम्बन्धी सामाजिक रूढ़ियों के कारण होनेवाली आधुनिक युवक-युवतियों के प्रणय की असफल परिणति पर उन्होंने 'चेतन' के माध्यम से प्रकाश डाला है। सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे जानेवाले इन सभी उपन्यासों की शैली में प्रायः सरलता और स्वाभाविकता का आग्रह मिलता है।

दूसरे वर्ग में चरित्र-प्रधान उपान्यास-रचयिताओं को रखा जा सकता है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशों, भगवतीचरण वर्मा व श्री सच्चिदानान्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने विभिन्न मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेपण-कर्त्ताओं के सिद्धान्तों के अनुकूल अपने अपोपन्यासिके पात्रों के चरित्र को सूक्ष्मतापूर्वक चित्रित किया है। चरित्र-चित्रण को इनमें इतनी अधिक प्रमुखता प्राप्त हुई है कि उसके समक्ष अन्य तत्व गौण हो गए हैं। ऐसी स्थिति में इनमें सामाजिक परिस्थितियों के स्थान पर व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेपण को विस्तार मिलना स्वाभाविक था। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में 'सुनीता', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', 'विवर्त्त' आदि उल्लेखनीय हैं। उनके अधिकांश उपन्यासों में पति-पत्नी एवं अन्य पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। इनमें प्रायः एक-सा ही चित्रण उपस्थित किया गया है। इनकी नायिका प्रायः विवाहिता होती है, जो वैयक्तिक कुंठाओं के कारण अपने सम्पर्क में आने वाले किसी अन्य प्रभावशाली व्यक्ति की ओर आकर्षित होती है। नायिका का पति इस स्थिति से परिचित होता हुआ भी, उसे चुपचाप सहन कर लेता है। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका पति को छोड़कर नवपरिचित से सम्बन्ध स्थापित कर लेगी, किन्तु अन्त तक जाते-जाते जैनेन्दजी परिस्थिति को सँभाल लेते हैं। कदाचित् वे वह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि पत्नी को अन्य व्यक्तियों से मिलने-जुलने की जितनी अधिक स्वतंत्रता दी जाए, उतनी ही उसके चरित्र में दृढ़ता एवं सबसता आती है। वस्तुतः उनके उपन्यासों में शैली की सरलता के साथ-साथ शुष्कता, भावात्मकता के साथ-साथ बौद्धिकता आवश्यकता से अधिक है।

श्री इलाचन्द जोशी ने भी अपने 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' आदि में चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं वैयक्तिक परि-स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेपण किया है, किन्तु जैनेन्द्रजी की भाँति शुष्क कथानक नहीं हैं। उनके पास प्रत्येक उपन्यास में प्रस्तुत करने के लिए नये-नये कथानक हैं, नयी-नयी समस्याएँ हैं, अतः उन्हें एक ही वस्तु को बार-बार दोहराने की आवश्यक नहीं पड़ती। एक ओर उनके पास कल्पना का वैभव है तो दूसरी ओर अनुभूतियों का संचित कोप—जिसके बल पर वे अपनी रचनाओं को सौन्दर्य और रस से भरपूर करने में समर्थ हैं। जैनेन्द्रजी के उपन्यास यदि पेंसिल से बनाए हुए 'रफ़ स्केच' सदृश हैं, तो जोशीजी की रचनाएँ रंग-बिरंगी सूक्ष्म रेखाओं से सजे हुए सुन्दर चित्र हैं। जिस जटिल दार्शनिकता पर जैनेन्द्रजी गर्व कर सकते हैं; उससे जोशीजी के उपन्यास शून्य हैं, किन्तु जोशीजी की भावनाओं का तारल्य, भाषा का प्रवाह और

शैली की प्रौढ़ता आज के किसी भी उपन्यासकार के ईर्ष्या की वस्तु बन सकती है। किन्तु अपनी कुछ रचनाओं में वे दार्शनिकता प्रिय आलोचकों से प्रशंसा पाने के निमित्त या उन्हें केवल विद्यार्थियों के काम की वस्तु बनाने के लोभ से उस शुष्क सिद्धान्त-निरूपण में भी पड़ गए हैं, जो उपन्यास की औपन्यासिकता का ह्रास कर देते हैं—'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भी मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी है। दूसरी ओर अज्ञेय जी ने 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में यौन प्रवृत्तियों का चित्रण सूक्ष्म; जटिल एवं गम्भीर शैली में किया है, जो सामान्य पाठक के हृदय को शान्ति प्रदान करने की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को कुरेदने में सहायक सिद्ध होता है।

तृतीय वर्ग में साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए उपन्यासों को स्थान दिया जा सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन की 'सिंह सेनापति', 'वोल्गा से गंगा' और श्री यशपाल की 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच' आदि रचनाओं में वर्ग-वैषम्य का चित्रण करते हुए सामाजिक क्रान्ति का समर्थन किया गया है।

चतुर्थ वर्ग में देशकाल-प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक कथानकों की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान बहुत पहले चला गया था, किशोरीलाल गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे, किन्तु उनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मिलता। इस क्षेत्र की उत्कृष्ट रचनाओं में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चंद्रलेख', यशपाल की 'दिव्या' आदि है, जिनमें सम्बन्धित युग के सम्पूर्ण वातावरण को प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को चरम विकास तक पहुँचा देने का श्रेय श्री वृन्दावनलाल वर्मा को है। आपने 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' का प्रणयन किया है, जिनमें इतिहास के अनेक विस्मृत प्रसंगों को नव-जीवन प्राप्त हुआ है। विशेषतः 'मृगनयनी' में ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता, तथ्य और कल्पना, भाव और शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यासों में डॉ० रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता', सुनामी का 'भगवान् एकलिंग' आदि उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों का एक नया वर्ग 'आंचलिक उपन्यासों' का भी और विकसित हो रहा है। इनमें किसी अंचल या प्रदेश-विशेष के वातावरण को सजीव रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', उदयशंकर भट्ट का 'लोक परलोक', बलभद्र ठाकुर के 'आदित्यनाथ', 'मुक्तावत', 'नेपाल की वो बेटी', श्यामू संन्यासी का 'उत्थान', तरन-तारन का 'हिमालय के आँचल' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें

लोक-संस्कृति, लोक-गीतों एवं लोक-शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास की प्रगति तीव्र गति से हुई है। पिछले पच्चीस वर्षों में अनेक नये और पुराने उपन्यासकारों की शताधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आई हैं। इस युग के लेखकों में अमृतलाल नागर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने 'महाकाल', 'सेठ बाँके लाल', 'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'अमृत और विष', 'मानस का राजहंस' आदि में मानवतावादी दृष्टि से समाज के विभिन्न पक्षों का चित्रण मार्मिक रूप में किया है। इसी वर्ग में राजेन्द्र यादव को स्थान दिया जा सकता है जिन्होंने 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात' आदि उपन्यासों में दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की अनुभूतियों को प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे',' 'न आने वाला कल' आदि उपन्यासों में उच्च शिक्षित व्यक्तियों के जीवन की कुंठाओं को सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है।

सामाजिक दृष्टिकोण से समस्याओं का विश्लेषण करने वाले उपन्यासकारों में से नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृत राय, मन्मथनाथ गुप्त प्रभृति की अनेक महत्वपुर्ण रचनाएँ इस युग में प्रकाश में आई हैं जिनमें नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची', 'वलचनमा', 'दुखमोचन', 'उग्रतारा' आदि; भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' आदि, अमृत राय की 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मन्मथनाथ गुप्त ने 'काजल की कोठरी', 'वहता पानी' आदि में क्रान्तिकारी जीवन के अनुभवों का चित्रण किया है। वस्तुतः इन लेखकों ने व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व की अपेक्षा सामाजिक विषमताओं के उद्घाटन पर अधिक बल दिया है।

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने वाले नये उपन्यासकारों में डा० देवराज, डा० प्रभाकर माचवे, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नरेश मेहता, गिरिधर गोपाल; यादवचन्द्र जैन प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। डा० देवराज ने 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'अजय की डायरी' 'मैं, वे और आप' में नारी-पुरुष सम्बन्धों का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। डा० प्रभाकर माचवे के 'द्वाभा' और 'साँचा'; 'काले फूल का पौदा'; नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल', 'धूमकेतु : एक श्रुति', 'यह पथ बंधु था'; गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी का खंडहर', यादवचन्द्र जैन के 'पत्थर पानी' में विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है।

हिन्दी उपन्यास : नवीनतम प्रगति

सन् १९६० के अनन्तर हिन्दी उपन्यास में अनेक नई प्रवृत्तियों का उन्मीलन हुआ; जिन्हें ध्यान में रखते हुए इसे मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (१) व्यक्ति चेतना से अनुप्राणित उपन्यास (२) समाज-चेतना से अनुप्राणित, (३) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित और (४) सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित

वैसे तो प्रत्येक वर्ग में समाज, राजनीति, संस्कृति आदि का चित्रण न्यूनाधिक रूप में हुआ है किन्तु हमने यहाँ चेतना की प्रमुखता को ध्यान में रखकर ही यह वर्गीकरण किया है।

(१) व्यक्ति चेतना से अनुप्राणित उपन्यास—इस वर्ग में मुख्यतः ऐसे उपन्यासकारों की कृतियाँ आती हैं जिन्होंने व्यक्ति के अहम्, दर्प एवं उसकी वासनाओं, कुंठाओं, आकांक्षाओं आदि का चित्रण परिवार, समाज एवं संस्कृति के परम्परागत आयामों की उपेक्षा करते हुए किया है। इनकी दृष्टि का केन्द्र मुख्यतः यौन जीवन है तथा उसी से संबंधित विभिन्न स्थितियों एवं परिथतियों का अंकन इनके द्वारा हुआ है। उन्मुक्त भोगवाद एवं उच्छृङ्खल यौनाचार के मार्ग में परम्परागत नैतिक मूल्य, सामाजिक आदर्श एवं सांस्कृतिक आधार अवरोध उपस्थित करते हैं, अतः इन तत्त्वों का वहिष्कार किया गया। इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकारों में मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, शरद देवड़ा, राजकमल चौधरी, महेन्द्र भल्ला, श्रीकान्त वर्मा, प्रमोद सिन्हा, गिरिराज किशोर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। निर्मल वर्मा ने अपने 'वे दिन', 'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख' आदि उपन्यासों में पारिवारिक जीवन की निष्फलता एवं व्यक्ति की विवशता का चित्रण तथाकथित आधुनिक वोध के आधार पर किया है। इसी प्रकार शरद देवड़ा ने 'टूटती इकाइयाँ' में, राजकमल चौधरी ने 'मछली मरी हुई' में महेन्द्र भल्ला ने 'एक पति के नोट्स' में और श्रीकान्त वर्मा ने 'दूसरी वार' में काम संबंधों एवं यौनाचार का चित्रण उन्मुक्त रूप में किया है। गिरिराज किशोर (यात्राएँ), प्रमोद सिनहा (उसका शहर) मणि मधुकर (सफ़ेद मेमने) आदि ने भी अपनी कृतियों के द्वारा इस परंपरा को आगे वढ़ाया है। इस वर्ग की महिला लेखिकाओं में कृष्णा सोवती एवं उपा प्रियंवदा के नाम उल्लेखनीय हैं। सोवती ने 'सूरजमुखी अंधेरे के' 'मित्रो मरजानी' 'जिंदगीनामा' आदि में नारी सुलभ लज्जा एवं संकोच का परित्याग करते हुए यौन जीवन का चित्रण अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक किया है। उषा प्रियंवदा के उपन्यासों-'रुकोगी नहीं राधिका' एवं 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में विदेशी समाज की प्रवृत्तियों का चित्रण यथार्थ रूप में हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस वर्ग के उपन्यासकारों की दृष्टि कामजीवन तक ही सीमित हो गयी है जिसके फलस्वरूप जीवन में रिक्तता, उदासीनता, शून्यता, अजनवीपन आदि प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। किन्तु इन प्रवृत्तियों को इस वर्ग के आलोचकों ने आधुनिक वोध की उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया है।

(२) समाज चेतना से अनुप्राणित उपन्यास—इस वर्ग के उपन्यासकारों में मुख्यतः श्रीलाल शुक्ल, डा० रामदरश मिश्र, जगदीश चन्द्र, भीष्म साहनी, गोविन्द मिश्र, विवेकी राय, रमेश चन्द्र शाह, हिमांशु जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री लाल शुक्ल ने 'राग दरवारी' में ग्रामीण जीवन का चित्रण करते हुए स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद की स्थितियों का अंकन किया है तथा गांव के विभिन्न वर्गों की

सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ग्राम-पंचायतों की दलबन्दी गुटबन्दी तथा चुनावों के हथकंडों सरकारी अधिकारियों एवं राजनीतिक कर्मचारियों के भ्रष्टाचार पर भी व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डाला है।

डॉ० रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में तथा जगदीश चन्द्र ने 'धरती धन न अपना' 'कभी न छोड़ें खेत' आदि उपन्यासों में गाँव के जीवन तथा किसानों की विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का चित्रण सूक्ष्मतापूर्वक किया है। भीष्म साहनी ने 'तमस' में पंजाब विभाजन से उत्पन्न सामाजिक स्थिति का तथा 'बसंती' में मजदूरों की दुर्दशा का अंकन कुशलतापूर्वक किया है। विवेकी राय के 'लोक ऋण' में भी बिहार और उत्तर प्रदेश के पिछड़े क्षेत्रों की ग्रामीण जनता के जीवन का अंकन स्पष्टता पूर्वक हुआ है।

छोटे कस्बों में रहने वाले मध्यवर्गीय एवं निम्नमध्यवर्गीय लोगों के जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का चित्रण मार्मिक रूप में करने की दृष्टि से एक ओर से तो गोविंद मिश्र का 'लाल पीली जमीन' एवं दूसरी ओर रमेश चन्द्र शाह का 'गोबर गणेश' उल्लेखनीय है।

इस वर्ग के कुछ उपन्यासकारों ने कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगरों के जीवन को भी अपनी रचना का विषय बनाया है। इस दृष्टि से अमृत राय का 'धुंआ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें इन बड़े नगरों में व्याप्त आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार उच्चवर्गीय जीवन की कृत्रिमता, युवा पीढ़ी के भटकाव, नक्सलवादियों के असंतोष और क्षोभ आदि का अंकन सूक्ष्मता पूर्वक हुआ है। इसी प्रकार जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने 'मुर्दाघर' में, धर्मेन्द्र गुप्त ने 'नगर पुत्र हँसता है' में, महीप सिंह के 'यह भी नहीं' में, शैलेश मटियानी के 'छोटे-छोटे पक्षी' में एवं गिरिराज किशोर के 'इन्द्र सुनें' में, महानगरीय जीवन की विषमताओं एवं असंगतियों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में हुआ है।

प्रेम और विवाह की समस्याओं को लेकर लिखे गये उपन्यासों में मनमोहन सहगल का 'जिंदगी और जिंदगी' देवेश ठाकुर का 'प्रिय शबनम' हेमराम निर्मम का 'बसंत फिर आयेगा' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'दूसरा सूत्र' (देवराज), छोटे-छोटे महायुद्ध (रमाकान्त), अक्षत (शिव सागर मिश्र), तीसरा आदमी (कमलेश्वर), काली दीवार (केशव प्रसाद मिश्र), उखड़े कदम (विपिन चतुर्वेदी) आदि उपन्यासों में भी आधुनिक भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की पारिवारिक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है।

सामाजिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यासों में सतीश जगाली का 'प्रतिबद्ध' उल्लेखनीय है जिसमें कारखानों के मालिकों और मजदूरों के सम्बन्धों का चित्रण यथार्थ रूप में हुआ है। काशीनाथ सिंह ने 'अपना मोर्चा' में आधुनिक छात्रों के आन्दोलन का तथा मनोहर श्याम जोशी ने 'कुरु कुरु स्वाहा' में आज की युवा पीढ़ी की दिशाहीनता एवं भोगवादी दृष्टि का चित्रण सूक्ष्मतापूर्वक किया है। इसी प्रकार

रवीन्द्र कालिका ने 'खुदा सही सलामत है' में साम्प्रदायिकता का चित्रण करते हुए निम्नमध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों पर प्रकाश डाला है। आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से गंगा प्रसाद विमल का 'मृगान्तक' सत्येन्द्र शरत् का 'क्लोजअप', पंकज विष्ट का 'लेकिन दरवाजा' आदि भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त योगेश गुप्त (टूटते हुए सूर्य बिम्ब) मधुकर सिंह (अर्जुन जिन्दा है), अशोक अग्रवाल (वायदा माफ गवाह) आदि ने भी औपन्यासिक रचनाओं के द्वारा सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को आगे बढ़ाने में योग दिया है।

महिला लेखिकाएँ—आधुनिक युग के दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन एवं विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अंकन की दृष्टि से महिला लेखिकाओं का भी योगदान महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से ममता कालिया का 'बेघर', और 'सायी' मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' शशि प्रभा शास्त्री का 'सीढ़ियाँ', मंजुल भगत का 'अनारो' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सिम्मी हर्षिता, मृदुला गर्ग, निरूपमा सेवती, सुनीता जैन, मालती जोशी, सूर्यबाला आदि लेखिकाओं ने भी उच्चकोटि के उपन्यास लिखे हैं, जिनमें नारी जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण प्रामाणिक रूप में हुआ है।

(३) राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित उपन्यास—इस वर्ग के उपन्यासों में मुख्यतः बदीउज्जमा के दो उपन्यास 'एक चूहे की मौत' और 'छठातंत्र', राही मासूम-रजा का 'कटरा बी आरजू', शंकर पुणताम्बेकर का 'एक मंत्री स्वर्ग लोक में', शिव-सागर मिश्र का 'जनमेजय बचो', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बदीउज्जमा ने 'एक चूहे की मौत' में चूहे के माध्यम से आधुनिक शासन-तंत्र के अत्याचारों का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। 'छठा-तंत्र' में भी आधुनिक नेताओं के शोषण, भ्रष्टा-चार मिथ्याचरण आदि का उद्घाटन व्यंग्यात्मक शैली में किया गया है। राही मासूम रजा ने भी राजनैतिक भ्रष्टाचार का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। शंकर पुण-ताम्बेकर एवं शिवसागर मिश्र ने भी अपने उपन्यासों में आधुनिक प्रजातंत्र की विद्रूपताओं एवं नेताओं के पाखण्डों का उद्घाटन व्यंग्यात्मक शैली में किया है। इनके अतिरिक्त शान्ताकुमार ने अपने 'कैदी' 'लाजो', 'अधूरे सफर की पूरी कहानी' आदि में अपने राजनीतिक जीवन के अनुभवों का अत्यन्त कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के उद्घाटन की दृष्टि से हृदयेश का 'सफेद घोड़ा काला सवार', भी उल्लेखनीय है, जिसमें भारतीय अदालतों में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस वर्ग के उपन्यासों में आधुनिक प्रशासन, प्रजातंत्र शासन प्रणाली एवं राजनीतिक नेताओं के विभिन्न कलु-षित पक्षों का उद्घाटन प्रभावोत्पादक रूप में हुआ है।

(४) सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित—इस वर्ग के उपन्यासकारों में मुख्यतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नरेन्द्र कोहली, वीरेन्द्र जैन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अनामदास का पोथा' में उपनिषदों में प्राप्त संकेतों के आधार पर ऋषि, रैक्व एवं राजकुमारी जाबाला के प्रणय का चित्रण

उदात्त शैली में करते हुए उस युग की संस्कृति एवं जीवन-पद्धति का अंकन प्रभावशाली रूप में किया है। वस्तुतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने अन्य उपन्यास की भाँति इस उपन्यास में भी प्राचीन भारतीय संस्कृति को सजीव रूप में प्रस्तुत किया है।

नरेन्द्र कोहली ने परम्परागत राम कथा को आधुनिक युग के अनुरूप नूतन शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्त रामकथा को चार उपन्यासों में विभक्त किया है। (१) दीक्षा (२) अवसर (३) संघर्ष की ओर तथा (४) युद्ध। इन रचनाओं के माध्यम से कोहली ने रामकथा का आधुनिकीकरण करते हुए राम के माध्यम से अपने युग को नया संदेश देने का प्रयास किया है, जिसमें उन्हें सफलता मिली है।

वीरेन्द्र कुमार जैन ने 'अनुत्तर योगी' में जैन धर्म के तीर्थंकर महावीर के चरित्र को आधुनिक भाव बोध के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें महावीर के चरित्र को अत्यन्त क्रान्तिकारी, कल्याणकारी एवं उदार रूप में चित्रित करते हुए लेखक ने विषय वस्तु, शैली एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से भी नये प्रतिमान स्थापित किये हैं।

यद्यपि इस वर्ग में आने वाले उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है किन्तु इससे इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। वस्तुतः विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की नवीनता एवं शैली के औदात्य की दृष्टि से ये रचनाएँ इस युग की गौरवपूर्ण उपलब्धियों के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। साथ ही इनका महत्त्व इस दृष्टि भी है कि इन उपन्यासकारों ने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के वाह्य आकर्षण, भौतिकवादी जीवन-दर्शन एवं तथाकथित आधुनिक बोध की उद्घोषणाओं के प्रभाव से मुक्त रहकर अपने युग और समाज को एक स्वस्थ, संतुलित एवं उदात्त संदेश देने का प्रयास किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का हिन्दी उपन्यास अनेक दिशाओं में अग्रसर हुआ है। उसने जीवन के विविध पक्षों एवं रूपों का चित्रण गम्भीरता से प्रस्तुत किया है। उसमें भारतीय जीवन के प्रायः सभी वर्गों एवं समुदायों का अंकन प्रभावोत्पादक रूप में हुआ है। किन्तु फिर भी इससे हमें संतुष्ट न हो जाना चाहिए क्योंकि अभी भी आधुनिक समाज के कितने ही ऐसे गर्हित, भ्रष्ट एवं दूषित पक्ष हैं जिनका चित्रण होना बाकी है। हम आशा करते हैं कि भविष्य का हिन्दी उपान्यासकार अपनी दृष्टि एवं चेतना का विस्तार करता हुआ जीवन के अन्य क्षेत्रों का भी चित्रण संवेदनापूर्ण शैली में प्रस्तुत कर सकेगा।

●

: सैंतीस :

हिन्दी कहानी : स्वरूप और विकास

'कहानी' या 'कथा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—कहना। इस अर्थ के अनुसार जो कुछ भी कहा जाय, कहानी है; किन्तु विशिष्ट अर्थ में हम किसी विशेष घटना के रोचक ढंग से वर्णन को 'कहानी' कहते हैं। 'कथा' और 'कहानी' पर्यायवाची होते हुए भी अब दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर आ गया है। 'कथा' व्यापक है, इसमें सभी प्रकार की कहानियाँ तथा उपन्यासों का समावेश किया जाता है, जबकि कहानी के अन्तर्गत लघु कथाओं को ही लिया जाता है। कहानी के अनिवार्य लक्षण हैं—(१) गद्य में रचित होना। (२) मनोरंजक या कौतूहल-वर्द्धक होना। (३) अन्त में किसी चमत्कारपूर्ण घटना की योजना। हिन्दी के एक प्राध्यापक महोदय लिखते है—"कहानी में कथानक का होना आवश्यक तो है लेकिन अनिवार्य नहीं।" हमारे विचार से कहानी में किसी कथानक या घटना का होना अनिवार्य है, अन्यथा रेखा-चित्र और कहानी में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

कहानी के तत्त्वों की विवेचना करते समय प्रायः उन्हीं छः तत्त्वों का उल्लेख किया जाता है, जो उपन्यास के माने गए हैं; जैसे—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। इसका तात्पर्य यह है कि तात्त्विक दृष्टि से कहानी और उपन्यास में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। उपन्यास में इन सभी तत्त्वों का प्रयोग किसी न किसी मात्रा में किया जाता है, किन्तु कहानी का क्षेत्र इतना सीमित होता है कि उसमें कुछ तत्त्वों का छूट जाना स्वाभाविक है। दूसरे, उपन्यास और कहानी में तत्त्वों की प्रयोग-विधि में अन्तर है। सभी प्रकार के मिष्ठान्नों में मैदा, चीनी, घृत आदि का प्रयोग सामान्यतः किया जाता है, किन्तु उनके प्रयोग की मात्रा एवं विधि में अन्तर होता है, ठीक यही अन्तर उपन्यास और कहानी में है। उपन्यास की कथावस्तु में एक से अधिक कथानकों का गुम्फन किया जाता है, किन्तु कहानी में केवल एक ही कथानक रहता है। उपन्यासकार के कथानक का मार्ग लम्बा होता है, उसके बीच-बीच में अनेक मोड़, अनेक विश्राम-स्थल एवं अनेक घटना-स्थल

उपस्थित होते हैं, जबकि कहानीकार की यात्रा छोटी-सी होती है, जिनमें विभिन्न मोड़ों, विश्राम-स्थलों और घटना-स्थलों की सम्भावना ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार की गति शिथिल होती है; बैलगाड़ी में बैठे हुए राहगीर की भाँति वह अपने दाएँ-बाएँ झाँकता हुआ धीरे-धीरे आगे बढ़ता है जब कि कहानीकार वायुयान की चाल से अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौड़ता है; उसके दाएँ-बाएँ क्या हो रहा है, इसे देखने का अवकाश उसे नहीं रहता। उपन्यास में पात्रों की संख्या कहानी से कई गुणा अधिक होती है और वह सभी के व्यक्तित्व की प्रायः सभी विशेषताओं का चित्रण करता है, जबकि कहानीकार कुछ पात्रों को लेकर उनकी कुछ विशेषताओं का या किसी एक प्रमुख प्रवृत्ति का ही उद्घाटन कर पाता है। कहानी के कथोपकथन में लम्बे-लम्बे व्याख्यानों या दीर्घ वहसबाजी के लिए स्थान नहीं होता। सभी कहानीकार अपने देश-काल के समस्त वातावरण को प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं समझते। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार अपनी रचना में अनेक समस्याओं का या अनेक सिद्धान्तों का चित्रण नहीं करता, अपितु वह अपना सारा ध्यान किसी एक विचार सिद्धान्त या समस्या पर ही केन्द्रित करता है।

इनके अतिरिक्त कहानी में भाव-तत्त्व की भी स्थिति होती है। पीछे हमने उपन्यास के प्रसंग में प्रमाणित किया है कि साहित्य के प्रत्येक अंग में भाव-तत्त्व का होना अनिवार्य है, यह बात कहानी पर भी लागू होती है। कहानी में अनेक स्थायी भावों एवं संचारियों का ही प्रस्फुटन हो पाता है। मुक्तककार की भाँति कहानीकार भी रस के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष रूप में चित्रण न करके उन्हें व्यंजना के द्वारा व्यक्त करता है। जिन कहानियों में शुष्क इतिवृत्त या कोरा मनोविश्लेषण होता है, जिनमें मानवीय भावनाओं का उद्वेलन करने की क्षमता नहीं होती, वे चौपड़, ताश या शतरंज के खेल की भाँति पाठक के मस्तिष्क को थोड़ी देर तक उलझाए रखने में तो समर्थ होती हैं, किन्तु हृदय की सच्ची भावानुभूति उनमें प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी कहानियों का स्थान साहित्य में वृन्द, गिरिधर, बैताल जैसे मुक्तककारों की सूक्तियों के तुल्य ही है।

कहानी के स्वरूप का परिचय देनेवाली एक पुस्तक हिन्दी में बहुत सुन्दर आवरण पृष्ठ के साथ प्रकाशित हुई है, जिसमें कहानी के छः उपकरण निर्धारित किए गए हैं—(१) कल्पना और भाव, (२) प्रेम, (३) सौन्दर्य, (४) कथानक का आधार, (५) करुणा और (६) हास्य। यहाँ लेखक के दृष्टिकोण की मौलिकता का परिचय मिलता है—क्योंकि हमारा विश्वास है कि किसी भी अन्य स्वदेशी या विदेशी लेखक ने ऐसा विवेचन नहीं किया होगा, किन्तु साथ ही उसमें अनेक असंगतियाँ भी विद्यमान हैं। क्या प्रेम, करुणा और हास्य का समावेश प्रथम उपकरण 'भाव' में नहीं हो जाता? इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि क्या कहानी में प्रेम, करुणा और हास्य के अतिरिक्त अन्य मानवीय भावनाओं का चित्रण सम्भव नहीं? कहानी के

उपकरणों में 'कथानक के आधार' को तो स्थान दिया गया है, किन्तु स्वयं कथानक को नहीं, और यदि कथानक के आधार को लिया जाता है तो सौन्दर्य और प्रेम के आधार की उपेक्षा क्यों ? वस्तुतः कहानी के तत्वों का यह विवेचन सर्वथा अनुपयुक्त एवं असंगत है।

कहानी का उद्‌भव और विकास

मानव-सभ्यता के आदि-काल से ही कहानी कहने की परम्परा किसी-न-किसी रूप में रही है, अत; विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में भी यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी आदि संवादात्मक आख्यानों का मिलना स्वाभाविक है। आगे चलकर हमारे विभिन्न ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाकाव्यों, पुराणों, जैन-बौद्ध साहित्य तथा जातक साहित्य में कहानियों का अगाध भंडार मिलता है। संस्कृत में रचित पंच-तंत्र और हितोपदेश की कहानियों का प्रचार दूर-दूर तक हुआ। पंचतंत्र का अनुवाद छठी शती में ईरान के शाह खुसरो नौशेरवां ने पहलवी भाषा में करवाया। तदनन्तर ईसाई पादरी बुद ने सीरियन भाषा में तथा कुछ अन्य विद्वानों ने अरबी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश और अंग्रेजी में इसके अनुवाद किए। भारतीय कथा साहित्य के कुछ अन्य ग्रन्थों का भी पाश्चात्य देशों में पर्याप्त प्रचार हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व के कथा-साहित्य के विकास में भारतीय कथा-साहित्य ने पर्याप्त योग दिया।

आधुनिक कहानी का आरम्भ यूरोप के विभिन्न लेखक-समूहों के द्वारा १९वीं शती में हुआ। इस लेखक-समूह में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं जर्मनी के ई० टी० डब्ल्यू० हॉफमैन, जिनके कहानी संग्रह १८१४ और १८२१ के बीच प्रकाशित हुए। दूसरी ओर जैकब और विल्हेलम ग्रिम ने परियों और पुराणों की कथाओं के संग्रह इसी काल में प्रकाशित करवाये। किन्तु इस युग में सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ एडगर एलन पो के द्वारा लिखी गईं। पो ने न केवल कहानियाँ लिखीं, अपितु उसने कहानी-कला का विवेचन भी किया। उसके अनुसार कहानी में पूर्व-निश्चित प्रभावान्विति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। लेखक इसी प्रभावान्विति को ध्यान में रखकर सारी कहानी को एक सूत्र में गूँथता है। आगे चलकर मोपासाँ, चेखव, ओ' हेनरी आदि ने कहानी-कला के सैद्धान्तिक एवं व्यावाहारिक रूप का और भी अधिक विकास किया। यूरोप में विकसित कहानी का स्वरूप अंग्रेजी और बँगला के माध्यम से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी में पहुँचा।

यहाँ हमें प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी के स्वरूप का अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। प्रचानी कहानियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता था कि उसमें पशु-पक्षियों तक का भी पात्रों के रूप में समावेश होता था, किन्तु आधुनिक कहानी सामान्यतः मनुष्य वर्ग तक सीमित है। दूसरे, प्राचीन कहानी में उच्च-वर्ग—राजा-रानी सेठ-सेठानी आदि—के जीवन की काल्पनिक घटनाओं का वर्णन अधिक होता था, जबकि आधुनिक युग में जन-साधारण के जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का अंकन होता है। प्राचीन कहानियों में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नहीं होता था और न ही

उसके चरित्र में क्रमिक विकास प्रस्तुत किया जाता था, जबकि आधुनिक कहानियों में ऐसा होता है। उनमें देश-काल के वातावरण का भी चित्रण अपेक्षित नहीं था। वस्तुतः प्राचीन कहानी में अलौकिकता, अस्वाभाविकता, आदर्शवादिता एवं काल्पनिकता का आग्रह अधिक था, जबकि आधुनिक कहानी में लौकिकता, स्वाभाविकता, यथार्थवादिता एवं विचारात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्ग-लोक की कल्पना थी, जबकि आधुनिक कहानी हमें धरती के सुख-दुःख का स्मरण कराती है।

हिन्दी में विकास

हिन्दी गद्य में कहानी शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली सबसे पहली रचना 'रानी केतकी की कहानी' है, जो सन् १८०३ ई० में लिखी गई। इसके अनन्तर राजा शिवप्रसाद 'सतारे-हिन्दी' के 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'अद्भुत-अपूर्व स्वप्न' का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें कहानी सी रोचकता मिलती है। आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ आचार्य शुक्ल ने 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन काल से माना है। इन्होंने प्रारम्भिक कहानियों का विवरण इस प्रकार दिया है—(१) इंदुमती – किशोरीलाल गोस्वामी (१६०० ई०), (२) गुलबहार—किशोरीलाल गोस्वामी (१६०२), (३) प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास (१६०२), (४) ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल (१६०३), (५) पंडित और पंडितानी—गिरजादत्त बाजपेयी (१६०३), (६) दुलाईवाली—बंग-महिला (१६०७)। ये सभी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम कहानीकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रारम्भिक कहानीकारों के अनन्तर हिन्दी में अनेक उच्चकोटि के लेखकों—जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि का आविर्भाव हुआ। प्रसाद जी (१८८९-१६३७) की प्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १६०६ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् आपने समय-समय पर अनेक कहानियाँ लिखीं। आपके कहानी-संग्रह 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुए हैं। उनकी आरम्भिक कहानियों पर बँगला का प्रभाव है, किन्तु बाद में वे अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता की रंगीनी होने के कारण उनकी कहानियाँ भी इसी से ओत-प्रोत हैं। उनमें भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण, वातावरण की सघनता एवं शैली की गम्भीरता अधिक है, स्थूल समस्याओं एवं सरल विचारों का प्रतिपादन उनमें कम हुआ है। उनकी कुछ कहानियों में ऐतिहासिक कथानकों को लिया गया है। किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रसाद की कहानियों में रहस्यवाद की अस्पष्टता, दर्शन की जटिलता एवं विचारों की दुरूहता के कारण मनोरंजन की मात्रा कम हो गई है। वस्तुतः नाटकों की भाँति उनकी कहानियाँ भी विद्वान् पाठकों के

चिन्तन की वस्तु है।

मुंशी प्रेमचन्द के द्वारा रचित कहानियों की संख्या तीन सौ से अधिक है, जो 'मानसरोवर' के आठ भागों में संगृहीत हैं। उनके कुछ स्फुट संग्रह—सप्त सरोज, नवनिधि, प्रेम-पचीसी, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-तीर्थ, सप्त-सुमन आदि शीर्षकों से भी प्रकाशित हुए हैं। प्रेमचन्द जो पहले उर्दू में लिखते थे—उनका उर्दू में लिखा हुआ प्रसिद्ध कहानी-संग्रह 'सोज़े-वतन' सन् १६०७ में प्रकाशित हुआ था जो स्वातन्त्र्य भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। सन् १६१६ में उनकी हिन्दी में रचित प्रथम कहानी 'पंच-परमेश्वर' प्रकाशित हुई। उनकी कहानियों में 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'रानी सारंधा', 'अलग्योझा', 'ईदगाह', 'पूस की रात', 'सुजान भगत', 'कफन', 'पं० मोटेराम' आदि अधिक विख्यात हैं।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में जन-साधारण के जीवन की सामान्य परिस्थितियों, मनोवृत्तियों एवं समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप से हुआ। वे साधारण से साधारण बात को भी मर्म-स्पर्शी रूप में प्रस्तुत करने की कला में सिद्ध-हस्त थे। प्रसादजी की रहस्यात्मकता, जटिलता एवं दार्शनिकता से वे मुक्त हैं। उनकी शैली में ऐसी सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता मिलती है, जो पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में समर्थ हो-सके। उनकी सभी कहानियाँ सोद्देश्य हैं—उनमें किसी-न-किसी विचार या समस्या का अंकन हुआ है, किन्तु इससे उनकी रागात्मकता में कोई न्यूनता नहीं आई। भाव और विचार, कला और प्रचार का सुन्दर समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचन्द का कहानी-साहित्य है।

केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही अमर हो जानेवाले कहानीकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी कहानी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। उनकी प्रथम कहानी 'उसने कहा था' सन् १६१५ में प्रकाशित हुई थी, जो अपने ढंग की अनूठी रचना है। इसमें किशोरावस्था के प्रेमांकुर का विकास, त्याग और बलिदान से ओत-प्रोत पवित्र भावना के रूप में किया गया है। कहानी का अन्त गम्भीर एवं शोकपूर्ण होते हुए भी इसमें हास्य और व्यंग्य का समन्वय इस ढंग से किया गया है कि उसमें स्थायीभाव को कोई ठेस नहीं पहुँचती। विभिन्न दृश्यों के चित्रण में सजीवता, घटनाओं के आयोजन में स्वाभाविकता एवं शैली की रोचकता—सभी विशेपताएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक के हृदय को पकड़कर बैठ जाती है, और जब तक वह पूरी कहानी नहीं पढ़ लेता, उसे छोड़ती नहीं, तथा जिसने एक बार कहानी को पढ़ लिया, वह 'उसने कहा था' वाक्य को कदाचित् जीवन-भर भूल नहीं पाता। क्या भाव, क्या विचार, क्या शिल्प और क्या शैली—सभी की दृष्टि से यह कहानी एक अमर कहानी है। गुलेरीजी की दूसरी कहानी 'सुखमय जीवन' भी पर्याप्त रोचक एवं भावोत्तेजक है। इसमें एक अविवाहित युवक के द्वारा विवाहित जीवन पर लिखी गई पुस्तक को लेकर अच्छा विवाद खड़ा किया गया है, जिसकी

परिणति एक अत्यन्त रोचक प्रसंग में हो जाती है। 'बुद्धू का काँटा' भी अच्छी कहानी है।

उर्दू से हिन्दी में आनेवाले लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८६१-१६४६) भी उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा-बन्धन' सन् १६१३ में प्रकाशित हुई थी। विचारधारा की दृष्टि से 'कौशिक' जी प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं, उन्होंने भी समाज-सुधार को अपनी कहानी-कला का लक्ष्य बनाया। उनकी कहानियों की शैली अत्यन्त सरस, सरल एवं रोचक है। उनकी हास्य और विनोद से परिपूर्ण कहानियाँ 'चांद' में 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' के रूप में प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं जो 'कल्प-मंदिर', 'चित्रशाला' आदि में संगृहीत हैं। पं० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (जन्म—१८६६) का भी महत्त्व कहानी-कला के क्षेत्र में 'कौशिक' जी के तुल्य माना जाता है। उनकी प्रथम कहानी 'हार की जीत' सन् १६२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, तब से आपके अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात' 'चार कहानियाँ' 'नगीना', 'पनघट' आदि। उन्होंने अपनी कहानियों में भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का चित्रण अत्यन्त सरल और रोचक शैली में किया है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का प्रवेश हिन्दी कहानी-जगत् में सन् १६२२ में हुआ। आपकी उग्रता के प्रभाव को आलोचकों ने 'उल्कापात' 'धूमकेतु', 'तूफान' या 'बवंडर' की उपमा दी है, इसी से आपकी कला के विद्रोही रूप का अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक रूढ़ियों और राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाली प्रवृत्तियों के प्रति गहरा विद्रोह व्यक्त किया। उनमें वीभत्सता एवं अश्लीलता भी आ गई है, किन्तु उनका उद्देश्य जीवन की इस कुरूपता का प्रचार करना नहीं, अपितु उसका अन्त करना है। उनके कहानी संग्रह 'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि प्रकाशित हुए हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अपनी कहानियों में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है, किन्तु उनकी शैली में 'उग्र' जी की सी उग्रता नहीं है। 'उग्र' जी की सी यथार्थवादिता भी उनमें नहीं मिलती। उनकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य का दूसरा युग जैनेन्द्रकुमार के आगमन से आरम्भ होता है। आपने स्थूल समस्याओं के स्थान पर सूक्ष्म मनोविज्ञान का चित्रण किया है। उन्होंने हिन्दी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। किन्तु उन्होंने सामान्य मानव की सामान्य परिस्थितियों को न लेकर असामान्य मानव की असामान्य परिस्थितियों से प्रभावित मानसिक-

प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी, भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है। उनके पास विषय-सामग्री का अभाव है। प्रायः वे एक ही बात का पिष्टपेषण अपनी अनेक रचनाओं में करते रहते हैं। घटनाओं की अपेक्षा उन्होंने चरित्र-चित्रण एवं शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के संग्रह वातायन, स्पर्धा, फाँसी, पाजेब, जय-संधि, एक रात, दो चिड़ियाँ आदि हैं।

श्री ज्वालादत्त शर्मा ने बहुत थोड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु हिन्दी जगत् में उनका अच्छा स्वागत हुआ। उनकी कहानियों में 'भाग्य-चक्र', अनाथ बालिका' आदि उल्लेखनीय हैं। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने अपनी कहानियों में करुण-रस की अभिव्यक्ति मौलिक ढंग से की है। उनके कहानी-संग्रह 'किसलय', 'मृदुदल', 'मधुमयी' आदि प्रकाशित हुए हैं। मार्मिकता की दृष्टि से 'द्विज' की कहानियों का बहुत ऊँचा स्थान है। श्री चंडीप्रसाद हृदयेश' का दृष्टिकोण आदर्शवादी था। उनकी कहानियों में हमें सेवा, त्याग, बलिदान, आत्म-शुद्धि आदि उच्च भावनाओं का चित्रण मिलता है। उनमें भावुकता का प्राधान्य है। उनके कहानी-संग्रह 'नन्दन-निकुंज', 'वनमाला' आदि नामों से प्रकाशित हुए हैं।

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ की कटुता और कल्पना की रंगीनी का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनमें प्रणय-भावनाओं का चित्रण मधुर रूप में हुआ है। उधर सियारामशरण गुप्त ने कविता की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। उनकी सबसे अच्छी कहानी 'झूठ-सच' है' जिसमें आधुनिक युगीन यथार्थवादी लेखकों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से भी यह रचना बेजोड़ है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानी की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में अधिक ख्याति अर्जित की है। उनकी कहानियों में भी कल्पना और इतिहास का समन्वय मिलता है। 'कलाकार का दंड' संग्रह में उनकी कई कहानियाँ संगृहीत हैं। वर्माजी की शैली में सरलता और स्वाभाविकता होती है।

हिन्दी कहानी के तीसरे युग में जैनेन्द्रजी द्वारा प्रवर्तित मनोविश्लेषण की परम्परा का विकास हुआ। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनेक कहानी-संग्रह—'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'खाली बोतल' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी कहानियों में 'मिठाईवाला', 'झाँकी', 'त्याग', 'वंशी-वादन' आदि उत्कृष्ट कोटि की मानी गई हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने कहानी के क्षेत्र में असाधारण सफलता प्राप्त की है। उनमें विश्लेषण की गम्भीरता के साथ-साथ मार्मिकता और रोचकता का गुण भी मिलता है। उनके कहानी-संग्रह 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेंट', 'दो बाँके' आदि उल्लेखनीय हैं। श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने साहित्य में मनोविश्लेषण की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया है। विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, जयदोल

आदि उनके सुन्दर कहानी-संग्रह हैं। इसी परम्परा में इलाचन्द्र जोशी के 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दीवाली और होली' आदि कहानी-संग्रह आते हैं। जोशीजी ने मनोविज्ञान के सत्यों का उद्घाटन अन्य लेखकों से अधिक मर्मस्पर्शी रूप में किया है।

सामाजिक विषयों को लेकर कहानी लिखनेवाले लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है। उनकी कहानियों में पिंजरा, पाषाण, मोती, डूलो, मरुस्थल, गोखरू, खिलौने, चट्टान, जादूगरनी, चित्रकार की मौत आदि बहुत लोकप्रिय हुई हैं। 'अश्क' जी विषय-वस्तु, शैली एवं रोचकता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। श्री यशपाल ने अपनी कहानियों में आधुनिक समाज की विषमताओं पर व्यंग्य किया है। उनकी कहानियों में 'पराया सुख', 'हलाल का टुकड़ा', 'ज्ञान-दान', 'कुछ न समझ सका', 'जबरदस्ती', 'बदनाम' आदि उल्लेखनीय है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और रमाप्रसाद 'पहाड़ी' का हिन्दी कहानी के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। आपकी कहानियों के द्वारा कहानी-कला का विकास हुआ है। विद्यालंकार जी के कहानी-संग्रह 'चन्द्रकला' 'अमावस' तथा पहाड़ी जी के 'सड़क पर', 'मोती', 'बरगद की जड़ें' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य-रस की कहानियाँ लिखनेवालों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, 'बेढब बनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग चुगताई और जयनाथ 'नलिन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में 'पिकनिक', 'भड़ामसिंह शर्मा', 'गुदगुदी', 'लतखोरीलाल' आदि महत्वपूर्ण हैं। उनका हास्य साधारण स्तर का है। 'बेढब बनारसी' और अन्नपूर्णानन्दजी की रचनाओं में अधिक परिष्कृत रुचि का हास्य मिलता है। अन्नपूर्णानन्दजी की कहानियों में 'महाकवि चच्चा', 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' उल्लेखनीय हैं। मिर्जा जी ने 'गीदड़ का शिकार', लेफ्टिनेन्ट', 'कोल-तार' आदि कहानियाँ लिखीं। 'नलिन' जी के कहानी-संग्रह में 'नवाबी सनक', 'शतरंज के मोहरे' 'जवानी का नशा', 'टीलों की चमक' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में महिला लेखिकाओं ने भी कम योग-दान नहीं किया। सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्र, सत्यवती मलिक, कमलादेवी वर्मा, चन्द्रप्रभा, तारा पांडेय, चन्द्र-किरण सौनरिक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, विद्यावती शर्मा आदि ने बहुत सी कहानियाँ लिखीं हैं। इनकी कहानियों में प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र है, परन्तु वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को उस व्यापक दृष्टि से नहीं आँक सकी हैं, जैसा कि विश्व की महान् कहानी-लेखिकाओं ने किया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : नयी कहानी

सन् १९५० के अनन्तर हिन्दी कहानी के क्षेत्र में एक नये-आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ जिसे 'नई कहानी' आन्दोलन की संज्ञा दी गयी। इस आन्दोलन के

उन्नायकों -- राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मोहन राकेश प्रभृति—ने घोषित किया कि नई कहानी का लक्ष्य नये भाव बोध या आधुनिकता-बोध पर आधारित जीवन के यथार्थ अनुभव का चित्रण करना है। उन्होंने कहानी पर किसी भी प्रकार के वाह्य तत्त्व विचार, सिद्धान्त या उपदेश के आरोपण को अस्वीकार किया क्योंकि उनके विचार से कलाकार या कहानीकार जीवन और समाज के किसी भी आदर्श या परम्परागत व्यवस्था से बँधा हुआ नहीं है—वह केवल अपने आप के प्रति ही आबद्ध या प्रतिबद्ध है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में—'मानवता, राष्ट्रीयता, सत्य, धर्म, नैतिकता, प्राचीन-गौरव आदि सब छलावे हैं जिनके प्रति किसी भी कलाकार का आस्थावान होना अनुचित है।' नया कहानीकार न अतीत के आदर्शों से जुड़ा है और न ही भविष्य के स्वप्नों से। वह वर्तमान में और वर्तमान में भी केवल अपने भोगे हुए यथार्थ को अपनी दृष्टि का केन्द्र बनाता है। इस प्रकार नयी कहानी में व्यक्तिवाद, यथार्थवाद, अनुभूतिवाद एवं आधुनिकतावाद की प्रतिष्ठा हुई जिसके फलस्वरूप वह जीवन, समाज और राष्ट्र के व्यापक परिवेश से कटकर कहानीकारों के वैयक्तिक जीवन की निजी सीमाओं में आबद्ध हो गयी। इसीलिए नई कहानी में व्यक्तिनिष्ठ अहं, काम चेतना, यौनाचार, नारी-पुरुष सम्बन्धों का चित्रण प्रमुख रूप में हुआ है। नये कहानीकार का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक उच्च मध्य वर्ग है जिसमें परम्परागत आस्था एवं नैतिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन का भी ह्रास दृष्टिगोचर होता है। नई कहानी में दाम्पत्य जीवन की प्रायः सभी स्थितियों एवं पारिवारिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में हुआ है जहाँ तक शिल्प और शैली की बात है, नया कहानीकार इसमें पूर्णतः सहजता पर बल देता है। अतः वह कहानी-रचना के लिए पहले से किसी कथानक या घटना-क्रम की नियोजना करना अनुचित समझता है। इसीलिए वह बिना किसी पूर्व योजना के किसी भी प्रसंग को एकाएक लेकर उसे संवेदनाओं के आधार पर प्रस्तुत कर देता है। वस्तुतः नयी कहानी में कथावस्तु एवं घटना का स्थान संवेदना और अनुभूति ने ले लिया है। इसीलिए इस पर आक्षेप किया जाता है कि इसमें कहानीपन या कथातत्त्व का ह्रास हो गया है जो एक सीमा तक सही है।

नई कहानी के प्रमुख लेखकों में मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, कृष्ण बलदेव वैद, भीष्म साहनी, मन्नू भंडारी, उषा प्रियम्वदा, श्रीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मुख्यतः आधुनिक बोध से युक्त उच्च मध्य वर्गीय जीवन की स्थितियों एवं विसंगतियों, शहरी जीवन की कृत्रिमता एवं आडम्बर-प्रदर्शन की प्रवृत्तियों, परम्परागत आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप उत्पन्न विषमताओं, नारी-पुरुष सम्बन्धों की विभिन्न परिणतियों, दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की ह्रासोन्मुखी अवस्थाओं एवं व्यक्ति की अहंवादिता, कामुकता, एवं भोगलालसा से सम्बन्धित अनुभूतियों आदि का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। अस्तु, नई कहानी की दृष्टि, विषयवस्तु एवं शैली

में पूर्ववर्ती कहानी की तुलना में पर्याप्त परिवर्तन आया है।

सचेतन कहानी आन्दोलन—'नई कहानी' आन्दोलन की ही प्रतिक्रिया एवं प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप सन् १९६४ के लगभग सचेतन कहानी आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ। इसके प्रवर्तक डा० महीपसिंह ने 'आधार' (पत्रिका) के 'सचेतन कहानी विशेषांक' में 'सचेतन' की व्याख्या करते हुए घोषित किया कि 'सचेतना एक दृष्टि है जिसमें जीवन को जिया जाता है और जाना भी जाता है।'''यह जीवन से भागती नहीं, उसमें प्रवृत्त होती है।' नई कहानी में वैचारिकता का बहिष्कार किया गया था जिससे वह कामुकता, भावुकता एवं संवेदनाओं का पुंज बनकर रह गयी थी किन्तु 'सचेतन कहानी' में वैचारिकता को जीवन और साहित्य—दोनों के लिए आवश्यक माना गया। विचार के साथ साथ उसमें क्रिया, सक्रियता या कर्म में प्रवृत्ति को भी महत्त्व दिया गया—इस प्रकार कहानी में भाव, विचार एवं कर्म—तीनों को संतुलित रूप देने की चेष्टा की गई। निश्चय ही इससे कहानी वैयक्तिकता की संकीर्ण सीमा से मुक्त होकर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय संदर्भों के साथ भी जुड़ने लगी।

'सचेतन कहानी' आन्दोलन के साथ सम्बद्ध कहानीकारों में डा० महीपसिंह, मनहर चौहान, रामकुमार भ्रमर, सुखवीर, बलराज पंडित, कुलभूषण, वेदराही, मेहरुन्निसा परवेज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने जीवन और समाज की विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों एवं समस्याओं को लेकर विचारपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। यद्यपि 'सचेतन कहानी' आन्दोलन में घोषित की गयी सभी विशेषतायें इनकी कहानियों में दृष्टिगोचर नहीं होतीं फिर भी कहानी के क्षेत्र में एक स्वस्थ, व्यापक एवं संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'सचेतन कहानी' आन्दोलन की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

अन्य आन्दोलन—उपर्युक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त भी सातवीं एवं आठवीं दशाब्दी में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में और कई आन्दोलन प्रवर्त्तित हुए जिनमें सहज कहानी (अमृतराय), समकालीन कहानी (गंगाप्रसाद विमल), अकहानी (जगदीश चतुर्वेदी), समान्तर कहानी (कमलेश्वर), सक्रिय कहानी (राकेश वत्स) आदि से सम्बन्धित आन्दोलन उल्लेखनीय हैं। 'सहज कहानी' के प्रवर्तक अमृतराय ने घोषित किया कि कहानी का लक्ष्य अपने कहानीपन को खोकर जीवन की प्रस्तुति सहज रूप में करते हुए जीवन के कटु सत्यों और व्यावस्था की भ्रष्टता को उजागर करना है। वस्तुत: अमृतराय ने कहानी के क्षेत्र में व्यापक दृष्टि एवं सामाजिकता से अनुप्राणित दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा का प्रयास किया था किन्तु संगठन और प्रचार के अभाव में वह सफल नहीं हो सका। इसी प्रकार गंगाप्रसाद विमल ने 'समकालीन कहानी' में समकालीनता या आधुनिक बोध पर तथा राकेश वत्स ने 'सक्रिय कहानी' में आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता पर विशेष बल दिया था किन्तु ये आन्दोलन भी आगे नहीं बढ़ पाये। पर सातवें दशक के एक अन्य आंदोलन—'अकथा' या 'अकहानी'

आन्दोलन का इसकी चौंकानेवाली घोषणाओं के कारण काफी शोरगुल हुआ। जिस प्रकार कविता में क्रमशः नई कविता और अकविता का आगमन हुआ लगभग उसी प्रकार कहानी में भी नई कहानी और अकहानी का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों की मूल-प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ भी लगभग एक जैसी हैं। नई कविता और नई कहानी का व्यक्तिनिष्ठ यथार्थवाद अकविता और अकहानी में आकर घोर व्यक्तिवाद, अतियथार्थ-वाद और उच्छृङ्खल यौनवाद में परिवर्तित हो गया। अकहानी आन्दोलन के उन्नायकों में जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त रमेश बक्षी, रवीन्द्र कालिया, परेश आदि कहानीकार भी इसके साथ जुड़ गये थे। इन्होंने कहानी को जीवन के समस्त मूल्यों, समाज के सभी उत्तरदायित्वों और नैतिकता के सभी प्रतिबन्धों से मुक्त घोषित करते हुए उसमें निजी काम सम्बन्धों एवं यौन प्रवृत्तियों के उन्मुक्त चित्रण का समर्थन किया। जगदीश चतुर्वेदी के शब्दों में इन्होंने कहानी के माध्यम से 'यौन क्रान्ति' का श्रीगणेश किया। इन्होंने न केवल नारी और पुरुष के उच्छृङ्खल सम्बन्धों का अपितु समलैंगिक यौनाचार एवं विभिन्न पशुओं के साथ मनुष्य के अप्राकृतिम कामाचार का भी चित्रण किया है। वस्तुतः कामवासना के जितने भी विकृत और भ्रष्ट रूप हो सकते हैं, उन सभी का प्रदर्शन इनके साहित्य में स्पष्ट रूप में हुआ है, संभवतः यही इन कहानीकारों की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

समानान्तर कहानी आन्दोलन—सन् १९७१ के लगभग कमलेश्वर के द्वारा 'समानान्तर कहानी' आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ जो उस समय के 'अकहानी' आन्दोलन की प्रतिक्रिया में प्रवर्तित कहा जा सकता है। कमलेश्वर ने इन कहानीकारों की उच्छृङ्खल भोगवादी प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह' शीर्षक लेखमाला में अकहानीकारों की तीव्र-आलोचना की। आगे चलकर उन्होंने अपने इस प्रयास को ठोस रूप देने के लिए 'समानान्तर कहानी' आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया। 'समान्तर' से उनका तात्पर्य कहानी को आम आदमी के जीवन की परिस्थितियों एवं समस्याओं के समानान्तर प्रतिष्ठित करने का है, इसीलिए उन्होंने कहानी के क्षेत्र में समाज और जीवन को व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए उसकी विभिन्न स्थितियों, विषमताओं एवं विद्रूपताओं को अंकित करने का लक्ष्य घोषित किया।

समान्तर कहानी में इसी व्यापक लक्ष्य के फलस्वरूप मध्यवर्गीय एवं निम्न-वर्गीय समाज की विभिन्न स्थितियों, विषमताओं एवं समस्याओं का अंकन सूक्ष्मता-पूर्वक हुआ है। विशेषतः भूमिहीन किसानों, कलकारखानों में कार्य करने वाले मज-दूरों, बेरोजगार युवकों तथा निम्न मध्यवर्गीय परिवारों के जीवन की छोटी-छोटी आवश्यकताओं का भी चित्रण इस वर्ग की कहानियों में हुआ है। पुरुष और नारी के सम्बन्धों का चित्रण भी इनमें स्वस्थ और संतुलित रूप में किया गया है। शासन और राजनीति के विभिन्न दुर्बल पक्षों को भी समान्तर कहानी में उद्घाटित किया

गया है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि समान्तर कहानी आन्दोलन समकालीन कहानीकारों के घोर व्यक्तिवादी एवं अति यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा उच्छृङ्खल भोगवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में सफल सिद्ध हुआ।

समान्तर कहानी का प्रचार-प्रसार मुख्यतः 'सारिका' पत्रिका के माध्यम से हुआ। सन् १९७४-७५ में सारिका के दस अंको में क्रमशः विभिन्न समान्तर कहानीकारों की रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें कमलेश्वर के अतिरिक्त कामतानाथ, मधुकर सिंह, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, धर्मेन्द्र गुप्त, इब्राहीम शरीफ, से० रा० यात्री, सुदीप, सतीश जमाली, दामोदर सदन, श्रवण कुमार, नरेन्द्र कोहली, हिमांशु जोशी, मणिमधुकर, सनतकुमार, निरूपमा सेवती, मृदुला गर्ग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्य कहानीकार—सातवें-आठवें दशक में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अनेक ऐसे लेखक भी उभर कर आये जिन्हें पूरी तरह किसी एक आन्दोलन के साथ नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि इनमें से कुछ ने तो स्वयं को आन्दोलनों से दूर रखा तो कुछ ने प्रारम्भ में किसी एक आन्दोलन का साथ दिया और आगे चलकर वे उससे पृथक हो गये या किसी अन्य आन्दोलन से जुड़ गये। ऐसी स्थिति में इन कहानीकारों को उनकी अत्म-चेतना एवं विषय-वस्तु के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है, न कि आन्दोलनों के आधार पर। इनमें से प्रथम वर्ग में उन लेखकों को स्थान दिया जा सकता है जिन्होंने व्यक्तिचेतना से अनुप्राणित होकर मुख्यतः नगर एवं शहरों के उच्चवर्गीय समाज की प्रवृत्तियों का चित्रण किया। इसमें महेन्द्र भल्ला, रमेश बक्षी, सुदर्शन चोपड़ा, गिरिराज किशोर, गंगाप्रसाद विमल, परेश आदि लेखक आते हैं जिन्होंने—मुख्यतः काम, सैक्स एवं यौनाचार का चित्रण निःसंकोच रूप में किया। इन्होंने शहरी सभ्यता की कृत्रिमता, बाह्याडम्बर एवं आत्म प्रादर्शन की प्रवृत्तियों तथा नारी-पुरुष सम्बन्धों की विभिन्न स्थितियों, दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की विषमताओं एवं सामाजिक विद्रूपताओं का भी अंकन यत्र-तत्र किया है। ये लेखक एक प्रकार से पूर्ववर्ती नयी-कहानी, समकालीन कहानी एवं अकहानी की ही मिली-जुली प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाते रहे हैं।

दूसरे वर्ग में सामाजिक चेतना से अनुप्राणित लेखकों को स्थान दिया जा सकता है जिन्होंने आधुनिक शहरी एवं ग्रामीण जीवन का चित्रण व्यापक दृष्टि से करते हुए उसकी विभिन्न असंगतियों, विषमताओं एवं विडम्बनाओं का उद्घाटन किया है। इस वर्ग में मुख्यतः ज्ञानरंजन, अमरकान्त, रवीन्द्र कालिया, गोविन्द मिश्र, रामकुमार, श्रवण कुमार, रमेशचन्द्र शाह, शानी, अवध नारायण मुद्गल आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन्होंने एक ओर तो महानगरीय जीवन की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का तथा दूसरी ओर उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के विभिन्न लोगों के जीवन की स्थितियों का चित्रण आलोचनात्मक दृष्टि से किया है पर साथ ही उन्होंने आज की व्यवस्था से पीड़ित मानव की असहाय स्थिति एवं उसकी संवेदनाओं का चित्रण पूरी सहानुभूति से किया है।

इसी वर्ग के अन्तर्गत रामदरश मिश्र, संजीव, मिथिलेश्वर, बलराम आदि लेखकों को स्थान दिया जा सकता है, जिन्होंने ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। इनके अतिरिक्त कामतानाथ, सतीश जमाली, जितेन्द्र भाटिया प्रभृति लेखकों ने औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्यरत मजदूरों के जीवन-संघर्ष का चित्रण सजीव रूप में करते हुए आधुनिक अर्थ व्यवस्था की विसंगतियों का उद्घाटन किया है।

तीसरे वर्ग में आंचलिक संस्कृति के चित्रकार लेखकों को स्थान दिया जा सकता है जिन्होने ग्रामीण अंचलों की सभ्यता, संस्कृति एवं परिवर्तित वातावरण का चित्रण सूक्ष्मतापूर्वक किया है। इस दृष्टि से मुख्यतः फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी, मार्कण्डेय, राजेन्द्र अवस्थी, हिमांशु जोशी आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपनी कहानियों में भारतीय गाँवों और देहातों की स्वतंत्रता परवर्ती स्थितियों का अंकन कुशलतापूर्वक किया है। साथ ही इन्होंने निम्नवर्गीय समाज के अनेक उपेक्षित वर्ग के पात्रों के जीवन की विषमताओं का भी उद्घाटन सफलतापूर्वक किया है।

चौथे वर्ग में उन कहानीकारों को लिया जा सकता है जिन्होंने हास्य-व्यंग्य-पूर्ण शैली में आधुनिक जीवन और समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। इस वर्ग में हरिशंकर परसाई, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने आधुनिक शासन-व्यवस्था, राजनीतिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, आपात्कालीन स्थितियों में किये गये अत्याचार आदि पर व्यंग्यात्मक शैली में तीव्र प्रहार किये हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक सभ्यता एवं जीवन-पद्धति की विसंगतियों एवं विडम्बनाओं पर भी इन्होंने प्रकाश डाला है।

हिन्दी कहानीकारों के पाँचवें वर्ग में महिला लेखिकाओं को स्थान दिया जा सकता है कि जिन्होंने आधुनिक नारी की बदली हुई स्थितियों, नौकरीपेशा नारी की समस्याओं, दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की अनुभूतियों का चित्रण अपनी कहानियों में सशक्त रूप में किया है। इस दृष्टि से शिवानी, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, कृष्णा अग्निहोत्री, इन्दुबाली, मंजुल भगत, मृणाल पांडेय, मालती जोशी, मेहरुन्निसा परवेज आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त नारी पुरुष सम्बन्धों एवं यौन प्रवृत्तियों का चित्रण निःसंकोच रूप में करने की दृष्टि से कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मणिका मोहिनी, निरूपमा सेवती, मोना गुलाटी आदि का स्थान महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त कहानीकारों के अतिरिक्त भी हिन्दी में अनेक प्रतिभाएँ पिछले कुछ वर्षों में अवतरित हुई हैं जो कि निजी दृष्टि से आधुनिक जीवन की विभिन्न स्थितियों परिस्थितियों, एवं संवेदनाओं का अंकन अपनी रचनाओं में कर रही हैं। इनमें राकेश वत्स, वीरेन्द्र मेहन्दीरत्ता सुरेश सेठ, अशोक अग्रवाल, शेखर जोशी, कृष्ण भावुक,

राबिन शा 'पुष्प', हेतु भारद्वाज, विजयमोहन सिंह, द्रोणवीर कोहली, प्रभु जोशी, से० रा० यात्री, स्वदेश दीपक, धीरेन्द्र अस्थाना आदि लेखकों के तथा चित्रा मुद्गल, सिम्मी हर्षिता, उषा यादव, शुभा शर्मा, सूर्यबाला, सुनीता जैन, कुसुम अंसल, मालती-सिंह, विमला शर्मा आदि लेखिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के बाद हिन्दी कहानी विभिन्न आन्दोलनों के प्रभाव से निरन्तर विकासोन्मुख होती गई। यद्यपि इससे सम्बद्ध सभी आन्दोलन स्वस्थ दृष्टिकोण एवं व्यापक दृष्टि के परिचायक नहीं कहे जा सकते, किन्तु फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनके प्रभाव से कहानी की गतिशीलता में अभिवृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त अनेक कहानीकारों ने किसी आन्दोलन-विशेष के साथ न जुड़कर अपने जीवन की व्यापक अनुभूतियों को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह संतोष की बात है हिन्दी कहानी अति यथार्थवाद, भोगवाद एवं उच्छृङ्खलतावाद के चक्रव्यूह से निकलकर व्यापक सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की ओर उन्मुख हुई है। इसलिए हम आज की कहानी में भारतीय गाँव, शहर और नगर के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न वर्गों का चित्रण सहज स्वाभाविक रूप में देखते हैं। उसमें पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी पक्षों का चित्रण न्यूनाधिक रूप में हुआ है। वह निश्चय ही धीरे-धीरे अनास्था से आस्था की ओर बढ़ रही है तथा हमारा विश्वास है कि यदि उसकी स्थिति, दृष्टि एवं गति यही रही तो वह न केवल कला के उच्च आयामों का स्पर्श कर सकेगी अपितु जीवन के लिए स्वस्थ, व्यापक एवं नये मूल्यों की भी प्रतिष्ठा कर सकेगी। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारे कहानीकार केवल पश्चिम से आयातित विचारों, वादों एवं आन्दोलनों से ही प्रेरणा एवं प्रभाव न ग्रहण करके भारतीय संस्कृति के व्यापक तत्त्वों एवं विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्र एवं गाँधी के उदात्त दर्शन को हृदयंगम करते हुए लेखन के क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र चेतना, व्यापक दृष्टि एवं सहज अनुभूतियों का परिचय दें, जिससे कि हिन्दी कहानी विश्वकथा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना सके।

: अड़तीस :

हिन्दी निबन्ध : स्वरूप और विकास

मूलतः 'निबन्ध' शब्द का अर्थ,रोकना' या बाँधना है तथा इसके पर्यायवाची के रूप में 'लेख', 'संदर्भ', 'रचना', 'प्रस्ताव' आदि का उल्लेख किया जाता है; किन्तु आजकल इसका प्रयोग लैटिन के 'एग्जीजियर' (निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना) से व्युत्पन्न 'ऐसाई' (फ्रेंच) व 'ऐसे' (अंग्रेजी (Essay) के अर्थ में होता है। आधुनिक साहित्य में 'निबन्ध' की विधा का विकास भी बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा से हुआ है, अतः इसके स्वरूप को स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा। आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता मौनतेन् महोदय का कथन है—निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है।' दूसरी ओर जानसन महोदय के मत में 'निबन्ध मन का आकस्मिक और उच्छृंखल आवेग—असम्बद्ध और चिन्तन-हीन बुद्धि-विलास मात्र' है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने निबन्ध की उपहासपूर्ण ढंग से व्याख्या करते हुए लिखा है—'निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और ज्ञान-बुद्धि की जिज्ञासा, वही निबन्ध लेखन में प्रवृत्त होता है। तथा विविधता तथा हल्की रचनाओं में आनन्द लेने वाला पाठक ही उसे पढ़ता है।' वस्तुतः प्रारम्भिक निबन्धों में असम्बद्धता, उच्छृंखलता एवं हल्का-पन होता था, जिसका उल्लेख इन परिभाषाओं में किया गया है, किन्तु आगे चलकर निबंध भी एक विचार-प्रधान, सुसम्बद्ध एवं प्रौढ़ रचना के रूप में विकसित हो गया; इसलिए बेकन, लॉक्स व आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे विचार प्रकाशन का एक गम्भीर सधान माना।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि निबंध के दो रूप मिलते हैं—एक असम्बद्ध और चिन्तनहीन विचारों से समन्वित और दूसरा गम्भीर विचारों की प्रौढ़ अभिव्यक्ति के रूप में; अतः इनमें से किस रूप को स्वीकार किया जाय—वह विचारणीय है। हमारे विचार से उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी है। यदि निबन्ध सर्वथा असम्बद्ध और उच्छृंखल विचारों से समन्वित हुआ, तो पागल में और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जायगा; दूसरी ओर मूढ़ विचारों का लेखा होने की स्थिति में निबन्ध और दर्शन-शास्त्र में भी कोई भेद न रह जायगा। व्यापक अर्थ में राजनीतिक,

सामाजिक, अर्थशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादक लेख को भी निबन्ध कहते हैं, किन्तु क्या उन्हें निबन्ध के संकुचित अर्थ—साहित्यिक निबन्ध—के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं ? निबन्ध को हम साहित्य (संकुचित अर्थ में काव्य) का एक अंग मानते हैं और साहित्य का एक अनिवार्य तत्व है—भाव तत्व। इसी भाव तत्व के आधार पर ही हम इतिहास और साहित्य में अन्तर मानते हैं। अतः साहित्यिक निबन्ध में विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी उसमें भावोत्तेजना की क्षमता होनी आवश्यक है। निबन्धों में भावोत्तेजना का यह गुण तभी आ सकता है; जबकि इनमें रचयिता के व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श हो, उनमें उनकी अनुभूतियों का प्रकाशन हो और उनकी शैली में रोचकता हो। निबन्ध में विचार होते हैं, किन्तु वे मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन पर ही आधारित नहीं होते। उनके पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होती है। अस्तु, साहित्यिक निबन्ध के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) वैयक्तिक अनुभूतियों में समन्वित विचारों का प्रतिपादन, (२) पाठक के मस्तिष्क को ही नहीं, उसके हृदय को भी गुदगुदाने की क्षमता, (३) साहित्यिक गुणों से समन्वित शैली। कुछ लोगों का विचार है कि गम्भीर निबन्ध केवल मस्तिष्क को ही छूते हैं, हृदय को नहीं, किन्तु ऐसी बात नहीं। साहित्य की श्रेणी में आनेवाले निबन्ध चाहे कितने ही गम्भीर से गम्भीर विषय पर क्यों न हों, वे हमारे हृदय की भाव-वीथियों को अवश्य उद्वेलित करते हैं। वे औत्सुक्य, चिंता, वितर्क, विरोध, हर्ष आदि संचारियों को उद्दीप्त करते हुए भावदशा का विकास करते हैं, जिसे रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने 'शांत-रस' कहा है। बौद्धिक विषयों की भावात्मक अनुभूति या पूर्ण तन्मयता का नाम ही शांत-रस है, जो उत्कृष्ट साहित्यि निबन्ध के द्वारा प्राप्य है।

प्रश्न है, क्या साहित्यिक निबन्धों का विषय भी साहित्यिक होना आवश्यक है ? इस के उत्तर में कहेंगे कि यदि निबन्ध-लेखक विषय का प्रतिपादन साहित्यिक ढंग से करता है, तो साहित्येतर विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी साहित्यिक बन सकते हैं, जबकि शुष्क वैज्ञानिक शैली में लिखे गए साहित्यिक विषयों के लेख भी साहित्यिक नहीं कहे जा सकते। स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखे गए 'शिव शम्भू का चिट्ठा' की मूल प्रेरणा राजनीतिक होते हुए भी वे विशुद्ध साहित्यि के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं, जबकि हमारे कुछ विद्वानों द्वारा शुष्क शैली में लिखे गए अनेक जटिल साहित्यिक निबन्ध भी साहित्यिकता से शून्य हैं।

यद्यपि निबन्ध को किसी परिभाषा में बाँधना या उनके लिए कुछ नियमों का निर्धारित करना सम्भव नहीं, फिर भी विद्वानों ने उसके सामान्य लक्षण निश्चित करने का प्रयास किया है। डाक्टर गुलाबराय जी ने निबन्ध के ये पाँच-लक्षण निश्चित किए हैं—(१) निबन्ध एक गद्य रचना के रूप में लिखा जाता है (२) निबन्ध में लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। (३) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के होते हुए भी वह स्वतः पूर्ण होता है। (४) निबन्ध में

व्यक्ति के एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन होता है। (५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। निबन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी निबन्धकार' में लिखा है कि निबन्ध का कोई निश्चित विषय नहीं होता। सभी स्थानों पर निबन्ध स्वतन्त्रता से विचरण कर सकता है। 'सबै भूमि गोपाल की जा में अटक कहा' वाली बात निबन्ध के विषय में स्वतः सिद्ध है। निबन्ध में महत्व विषय का नहीं, उस आत्मा का है जो बोल रही है, उन प्राणों का है जो उसमें सक्रिय है। निबन्ध नमक-मिर्च पर भी लिखा जा सकता है और कृष्ण महाराज की कपड़े की कंगाली पर भी जो फुटपाथों पर पड़ी अनेक द्रौपदियों को एक इंच कपड़ा भी नहीं दे सकती। निबन्ध के स्वरूप की दूसरी विशेषता है—आकार-लघुता। निबन्ध सामान्यतः पन्द्रह-बीस पृष्ठों के आकार का होता है। अधिक बड़ा निबन्ध, निबन्ध न होकर प्रबन्ध हो जायगा। तीसरी विशेषता है—निबन्ध मन के स्वाधीन विचरण एवं चिन्तन पर आधारित होता है। इसी को दूसरे शब्दों में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना कह सकते हैं। चौथी विशेषता है—निबन्ध की शैली में संक्षिप्तता, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का होना। वस्तुतः डॉ० गुलाबराय जी के निर्धारित लक्षणों व प्रो० नलिन द्वारा उल्लिखित विशेषताओं में अन्तर नहीं है। अतः निबन्ध की ये विशेषताएँ बहुमत से स्वीकृत मानी जा सकती हैं।

निबन्ध की विषय-वस्तु के वर्णन, विवेचन, प्रकटीकरण आदि के आधार पर उसके सामान्यतः चार भेद किए जाते हैं—(१) वर्णनात्मक, (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक। वर्णनात्मक निबन्धों में प्रायः भूगोल, यात्रा, वातावरण, ऋतु, तीर्थ, दर्शनीय स्थान, मेले-तमाशे, पर्व-त्योहार, सभा-सम्मेलन आदि विषयों का वर्णन होता है जबकि विवरणात्मक में किसी वृत्तान्त या घटना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निबन्धों में दृश्यों का चित्रण अधिक होता है, जबकि विवरणात्मक में घटनाओं का। वर्णनात्मक में स्थानगत वर्णन होता है, जबकि विवरणात्मक में कालगत; दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर स्थिर क्रियाहीन पदार्थ का चित्र रहेगा, जबकि विवरणात्मक में क्रियाशीलता का। अतः वर्णनात्मक और विवरणात्मक में मोटा भेद घटनात्मकता या कथात्मकता का होता है। विचारात्मक निबन्धों में किसी नवीन तथ्य आदि का प्रतिपादन, विवेचन, विश्लेषण या स्पष्टीकरण होता है। भावात्मक निबन्धों में लेखक की शैली में भावुकता अधिक होती है। वैसे विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों में ही विचार और भावना का अंश किसी न किसी रूप से अवश्य होता है, किन्तु एक में बौद्धिकता अधिक होती है, जबकि दूसरे में उसकी हार्दिकता को प्रमुखता प्राप्त होती है। इन चारों प्रकार के ही निबन्धों में क्रमशः लेखक से सम्बन्धित किसी दृश्य, घटना, विचार या भावना का चित्रण होता है और यही विशेषता इन सबको एक ही शीर्षक के अन्तर्गत बँधे रहने के लिए विवश करती है।

निबन्ध में प्रयुक्त की जानेवाली शैली के भी अनेक भेद किए गए हैं, जैसे—समास शैली, व्यास शैली, धारा-शैली आदि। सामान्यतः वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्धों में व्यास शैली का, विचारात्मक में समास शैली का तथा भावात्मक में धारा शैली, तरंग शैली एवं विक्षेप शैली का प्रयोग होता है। किन्तु यह नियम दृढ़ता से लागू नहीं होता।

हिन्दी में विकास

हिन्दी में निबन्ध का आविर्भाव आधुनिक युग में ही हुआ। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो इससे पूर्व गद्य का ही विकास नहीं हुआ था। दूसरे, पूर्ववर्ती साहित्यकारों का लक्ष्य मुख्यतः अपनी भावानुभूतियों का ही प्रकाशन था, विचारों की अभिव्यंजना करना कम था। तीसरे, निबन्धों के प्रचार के साधनों—मुद्रण-यंत्र, समाचार-पत्र आदि का भी प्रचलन आधुनिक युग में हुआ और चौथे, मध्ययुग में उस सामाजिक और राजनीतिक चेतना का भी उन्मेष नहीं हुआ था, जिसने भारतेन्दु के निबन्धों में प्राण फूंके। भारतेन्दु युग में हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, ब्राह्मण, सार-सुधा-निधि, प्रदीप आदि पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ, जिनसे हिन्दी निबन्ध के विकास में प्रर्याप्त योग मिला : भारतेन्दु युग से लेकर अब तक के निबन्ध-साहित्य को प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने चार युगों में बांटा है—भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग (३) प्रसाद युग और (४) प्रगतिवादयुग। हमारे विचार से अन्तिम दो युगों का यह नामकरण ठीक नहीं है। प्रसाद जी ने कुछ निबन्ध अवश्य लिखे थे, किन्तु फिर भी निबन्धकार के रूप में उनका महत्व अधिक नहीं। वस्तुतः 'प्रसाद युग' को 'शुक्ल युग' एवं प्रगतिवाद-युग को 'शुक्लोत्तरयुग' कहना ही निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में अधिक उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु युग (१९३०-६२ वि०) के प्रमुख निबन्धकारों में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मात्र एक साहित्यकार नहीं थे, अपितु साहित्यकार के विराट् रूप थे। उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी रूपों का विकास ही नहीं किया, अपितु उनमें उन विशेषताओं और प्रवृत्तियों का समन्वय भी किया जो उस युग में सम्भव थीं। कविता और नाटक की भांति उनके निबन्धों का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्यविनोद आदि विषयों पर इस महामानव ने कलम उठाई है। काश्मीर-कुसुम, उदयपुरोदय, कालचक्र, बादशाह-दर्पण-आदि निबन्धों में उस युगावतार की सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय मिलता है, तो वैद्यनाथ धाम, हरिद्वार और सरयूपार की यात्रा सम्बन्धी लेखों में उनका भारतीय संस्कृति

एवं भारत-भूमि के प्रति अनुराग झलक रहा है। आचार्य शुक्ल ने एक बार घोषित किया था कि भारतेन्दु में प्रकृति प्रेम नहीं है, किन्तु यदि वे इनके प्रकृति-सम्बन्धी निबन्धों को ध्यान में रखते तो उन्हें ऐसी बात कहने का साहस नहीं होता। पूरा निबन्ध नहीं, उसकी कुछ पंक्तियां मात्र इस भ्रम का निराकरण कर देंगी—'ठंडी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उन पर जल-धारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे।' यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में भी उनकी भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत बीच-बीच में फूट पड़ा है—"गाड़ी भी ऐसी टूटी फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत। अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तब ही संसार में सुख मिले।"

भारतेन्दु जी ने अनेक निबन्धों में तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है; 'लेवी प्राण लेवी', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'ज्ञाति विवेकिनी सभा', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्तोत्र', 'कंकड़ स्तोत्र' आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"कंकड़ को प्रणाम है। देव नहीं महादेव, क्योंकि काशी के कंकड़ शिव शंकर के समान हैं।··· आप अंग्रेजी राज्य में भी गणेश-चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिरधारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो। अतएव, हे अंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक! तुमको नमस्कार है।" वहाँ हिन्दुओं की मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना पर जो व्यंग्य किया गया है, वह मीठा होता हुआ भी कबीर की उक्तियों से अधिक प्रभावशाली है।

भारतेन्दु के निबन्धों में विषय के अनुरूप विभिन्न प्रकार की भाषा शैलियों का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा में मार्मिक अभिव्यंजना, विदग्ध वाग्मिता, सजीव अनेकरूपता और मन-मोहक स्वच्छता मिलती है। इसमें कहीं स्वाभाविक अलंकार-योजना है तो कहीं गोष्ठी-वार्तालाप का ढंग अपनाया गया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों, 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है, किन्तु फिर भी उसमें दुरूहता, दुर्बोधता, कृत्रिमता और समासात्मकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अस्तु, विषय और शैली—दोनों की ही दृष्टि से भारतेन्दु का निबन्ध-साहित्य महत्व-पूर्ण है।

भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र एवं बालमुकुन्द गुप्त का बहुत ऊँचा स्थान है। भट्टजी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे, और उनकी लेखनी से वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार के निबन्ध प्रसूत हुए हैं। कुछ निबन्धों के शीर्षक से ही उनके विषय-क्षेत्र की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है। 'मेला-ठेला,, 'वकील', 'सहानुभूति',

'आशा', 'खटका' 'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय !', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर', 'आत्म-निर्भरता', 'माधुर्य', 'शब्द की आकर्षण शक्ति' आदि। भट्टजी के निबन्धों से विचारों की मौलिकता, विषय की व्यापकता, शैली की रोचकता आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

'ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र ने भी विभिन्न विषयों पर लेख लिखे। कभी 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'मुच्छ', 'नाक' आदि पर मिश्रजी की विनोदिनी लेखनी चली, तो कभी उसने 'बुद्ध', 'प्रताप-चरित', 'दान', 'जुआ' 'अपव्यय' जैसे विषयों पर प्रकाश डाला। एक ओर उन्होंने 'नास्तिक', 'ईश्वर की मूर्ति', 'शिव मूर्ति' 'सोने का डंडा', 'मनोवेग' आदि विषयों पर लिखा, तो दूसरी ओर 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'घूरे से लत्ताँ बिनै', 'कनातन के डौल बाँधै', 'होली है अथवा होरी है' जैसी उक्तियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। मिश्रजी के निबन्धों में मुहावरों का प्रयोग भी अत्यधिक मात्रा में हुआ है, कहीं-कहीं तो वे एक वाक्य में ही अनेक मुहावरों की झड़ी लगा देते हैं—"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इससे अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती हैं, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात बढ़ती है।"

एक विद्वान् ने लिखा है—'भाषा में स्खलन, शैली में घरूपन और ग्रामीणता, चंचलता और उछल कूद मिश्रजी की विशेषता है। भाषा सम्बन्धी दोष जहाँ तहाँ लापरवाही से बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं वाक्य का विलक्षण और दुर्बोध रूप भी मिलता है। उर्दू के एक-दो शब्द भी परदेशी की तरह डरे-डरे से दीख पड़ते हैं। 'तेग-अदा', 'कमाए अन्न', 'निहायत' आदि 'भौं' में मिल जाएँगे। 'पर केवल इन्हीं तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निन्दा की जाय ?' का अर्थ टेढ़ी खीर है। विराम चिन्ह तब प्रयुक्त ही अधिक नहीं होते थे। इन्होंने तो उनका जैसे बहिष्कार ही कर रखा हो। इनके अभाव में वाक्य कभी इतना लम्बा हो जाता है, कि समझने में उसे बार-बार पढ़ना पड़ता है।', (हिन्दी निबन्धकार पृ० ८७)

भारतेन्दु के मित्र चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' दो पत्रों—'आनन्द कादम्बिनी' (मासिक) और 'नागरी-नीरद' (साप्ताहिक)—के सम्पादक थे। इन पत्रों में उनके अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए, जैसे 'हिन्दी भाषा का विकास', 'परिपूर्ण प्रयास', 'उत्साह-आलम्बन', आदि। 'प्रेमघन' जी की भाषा में आलंकारिकता, कृत्रिमता और चमत्कारोत्पत्ति का प्रवास मिलता है। एक बार उन्होंने शुक्लजी की एक पंक्ति को सुधारकर यह रूप दिया—"दोनों दलों की दलदली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" दलपति का विचार दलपत में फँसा या नहीं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रेमघम' जी की भाषा इस कृत्रिमता के दलदल में फँसी रही।

बालमुकुन्द गुप्त एवं राधाचरण गोस्वामी— भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग को मिलानेवाली दो कवियों के सदृश हैं। गुप्तजी ने 'बँगवासी', 'भारत मित्र' आदि का सम्पादन करते हुए अनेक निबन्ध लिखे। उनके निबंधों में विदेशी शासकों की नीति पर मीठा व्यंग्य किया गया। 'शिव-शम्भू' के उपनाम से उन्होंने अनेक निबंध लिखे जो 'शिव-शम्भू का चिट्ठा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें लार्ड कर्जन को सम्बोधित करके भारतवासियों की राजनीतिक विवशता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य बड़ा तीखा हो गया है। होली के अवसर पर लिखे गए चिट्ठे में वे लिखते हैं—"कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं, चंद्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिव-शम्भू उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है; उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा नहीं पहुँच सकती। माई लार्ड के मुखचंद्र के उदय के लिए कोई समय भी स्थित नहीं है।" इस प्रकार राधाचरण गोस्वामी के निबंध भी व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने अपने युग की सामाजिक कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। "जब राधाचरण धार्मिक अंधविश्वास पर चोट करते हैं, तो उनकी बोली में कबीर के प्राण बजते हैं। कबीर के व्यंग्य में कटु तीखापन है, गले से उतरते हुए लकीर-सी खिंचती है; गोस्वामी जी का व्यंग्य शहद में डूबा, हँसी में लिपटा और कल्पना से रंगीन है।" 'जयपुर की यात्रा' लेख में वैतरणी पार करते समय लेखक को वहाँ के प्रधान ने रोक लिया, पूछा क्या तुमने गोदान किया है? तब लेखक उत्तर देता है—"साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं; तो कुत्ते ने क्या चोरी की है?" लेखक ने किसी साहब को कुत्ता दान में दिया था, इसी से वह 'वैतरणी पार' का पास-पोर्ट बनवा लेना चाहता है।

वस्तुतः भारतेन्दु युग के सभी निबंधकारों में वैयक्तिकता के साथ-साथ सामाजिकता का समन्वय मिलता है। उनके विषय क्षेत्र में व्यापकता और विविधता मिलती है। हास्य और व्यंग्य का पुट उन्होंने दिया है; किन्तु यह रहस्य और व्यंग्य सोद्देश्य है—उसका उद्देश्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर चोट करना है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी इस युग के लेखकों ने सरल, सुबोध एवं मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा-शैली में व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छता या शुद्धता भले ही न हो, किन्तु वे हृदय को गुदगुदाने, उसके मस्तिष्क को झंकृत करने व उसकी आत्मा को स्पर्श करने में पूर्णतः समर्थ हैं। उनके निबंध शुष्क वैज्ञानिक निबन्ध नहीं, अपितु वे आदर्श साहित्यिक निबन्ध हैं, जिनसे विचारों के साथ-साथ भावनाओं का भी उद्वेलन होता है; जिनसे केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होती, रसानुभूति की प्राप्ति भी होती है।

द्विवेदी युग—द्विवेदी युग का आरम्भ हम श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार सँभालने के समय (सन् १९०३ ई० या १९६०

वि०) से ही मान सकते हैं। 'सरस्वती' में आते ही द्विवेदीजी ने सबसे पहला कार्य तत्कालीन लेखकों की भाषा को संस्कारित एवं परिमार्जित करने का किया। वे व्याकरण सम्बन्धी भूलों की आलोचना करते हुए विराम-चिन्हों के प्रयोग एवं उपयोग पर प्रकाश डालने लगे। वे भाषा के गठन और स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करते थे। भाषा के सम्बन्ध में उनकी नीति थी हिन्दी को अन्य भाषाओं के शब्दों से सर्वथा अछूता न रखा जाय। किन्तु प्रयत्नपूर्वक तत्सम शब्दों का भी बहिष्कार न किया जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव तत्कालीन सभी प्रमुख निबन्धकारों की भाषा-शैली पर पड़ा।

निबन्धकार द्विवेदी का आदर्श बेकन था। उन्होंने बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' के रूप में किया। बेकन की भाँति द्विवेदीजी भी निबन्धों में विचारों को प्रमुखता देते हैं। उनके निबन्ध—'कवि और कविता', 'प्रतिमा', 'कविता', साहित्य की महत्ता', 'क्रोध', 'लोभ' आदि—नये-नये विचारों से गुम्फित हैं। भारतेन्दु युगीन निबन्धों की-सी वैयक्तिकता का प्रदर्शन, सजीवता रोचकता एवं सहज उच्छृङ्खलता का द्विवेदीजी के निबन्धों में अभाव सा है। उनके निबन्धों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, एकरूपता, शब्द-प्रयोग-पटुता आदि गुण तो मिलते हैं, किन्तु पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, विश्लेषण की गम्भीरता, चिंतन की मौलिकता उनमें बहुत कम है। फिर भी उनके निबन्धों में व्यास-शैली के कारण पर्याप्त सरलता आ गई तथा कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य व भावात्मकता का भी प्रस्फुटन हुआ है; जैसे—"फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया? साहित्य ने! साहित्य ने! साहित्य ने!!!" आजकल के छायावादी 'कवि और कविता' लेख में भी उनकी शैली द्रष्टव्य हैं—"छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। वे बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों का या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे; कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज-गज लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करनेवाले। इनका मूल-मन्त्र है—"हम चुनीं दीगरे नेस्त।"

सम्भवतः उपर्युक्त पंक्तियों में थोड़े हलकेपन का आभास हो, किन्तु ऐसा सर्वत्र ही नहीं हुआ है। विषय के अनुरूप उनकी शैली में गम्भीरता भी दृष्टिगोचर होगी। 'मेघदूत' निबन्ध की कुछ पंक्तियां हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित करेंगी। 'कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भुवन के सदृश है, जिनमें पद्य-रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताज-महल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है।" वस्तुतः द्विवेदीजी के प्रमुख संग्रह

'रसज्ञ-रंजन' में सचमुच रसज्ञ पाठकों के रंजन की पूर्ण क्षमता है।

द्विवेदी-युग के अन्य निबन्धकारों में माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह, अध्यापक पूर्णसिंह एवं गुलेरी का नाम उल्लेखनीय है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने द्विवेदी जी का ही अनुकरण करते हुए विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, किन्तु फिर भी इनमें कहीं-कहीं शैली की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। माधवप्रसादजी ने 'घृति', 'सत्य' जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में प्रकाश डाला है। गोविन्दनारायण मिश्र की शैली में अलंकारों की छटा मिलती है। संस्कृत की शब्दावली के अतिशय प्रयोग के कारण उनके निबन्ध जटिल से हो गए हैं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा देखिए—"मुक्तहारी नीरक्षीर-विचार सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिम-सिंहासनासिहनी मंदहासिनी, त्रिलोक प्रकाशनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों के प्यारे पुत्रों की अनुपम, अनोखी, अतुलवाली, परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहिनी नवरस भरी सरस सुखद-विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।" इस परिभाषा को पढ़कर साहित्य तो दूर रहा, स्वयं इस परिभाषा को समझना ही टेढ़ी खीर है।

बाबू श्यामसुन्दरदास उच्च कोटि के आलोचक होने के साथ-साथ सफल निबन्धकार भी थे। उन्होंने प्रायः आलोचनात्मक गम्भीर विषयों पर ही लेख लिखे—जैसे 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' 'समाज और साहित्य', 'हमारे सहित्योदय की प्राचीन कथा', 'कर्त्तव्य और सभ्यता' आदि। उनके निबन्धों में विचार का संग्रह और समन्वय ही मिलता है, आत्मानुभूतियों का प्रकाशन या भावात्मकता के दर्शन उनमें नहीं होते। उनकी शैली प्रौढ़ होते हुए भी सरल थी, उसमें कहीं भी अस्पष्टता या जटिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु भारतेन्दु युग की-सी रोचकता या द्विवेदीजी की-सी सुबोधता का भी उनके निबन्धों में अभाव है। बाबूजी के समकालीन ही तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता पद्मसिंह शर्मा थे। शर्माजी के निबन्धों के दो संग्रह—'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध-मंजरी' प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में महापुरुषों के जीवन का चित्रण, समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण या उनको श्रद्धांजलि, साहित्य-समीक्षा आदि विषयों को ग्रहण किया है। उनकी शैली में वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सरलता का पुट मिलता है। गणपति शर्मा को दी गई श्रद्धांजलि की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य है—हा! पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गये। हाय! हाय क्या हो गया। यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया। यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राणपखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मन्दिर सूना कर दिया।"

अध्यापक पूर्णसिंह और पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी शैली की विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में स्वाधीन चिंतन, निर्भय-विचार

प्रकाशन, एवं प्रगतिशील तत्त्व मिलते हैं। उनकी शैली में अनूठी लाक्षणिकता और अपूर्व व्यंग्य मिलता है। 'बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु बरसने-वाले बादल जरा-सी देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।" या 'पुस्तकों या अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं।" "आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।" "पुस्तकों के लिखे नुस्खों से तो आज भी बदहजमी हो जाती है।" जैसे वाक्य उनकी शैली की रोचकता का नमूना प्रस्तुत करते हैं।

गुलेरी जी के निबन्ध संख्या में कम है, किन्तु गुणों की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें गम्भीरता के साथ मनोविनोद, पांडित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीनता के साथ नवीनता, सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली में सरलता, सरसता, व्यंग्यात्मकता एवं रोचकता का गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। 'कछुवा-धर्म' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिन्धु को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे ये चल दिये, पीछे वे दबाते आये...पर ईरान के अंगूरों और गुलों का. मुञ्जवत् पहाड़ की सोम-लता का चस्का पड़ा हुआ था, लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते हैं। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थी।...मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कन्धे पर चढ़ी बाल-वधू के लिए कहा था कि 'या ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि 'इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है।" वस्तुतः गुलेरी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व की सजीवता से ओत-प्रोत हैं, उनकी शैली पर सर्वत्र उनका व्यक्तित्व अंकित है।

द्विवेदी-युग के उपर्युक्त निबन्धकारों के परिचय से स्पष्ट है कि इस युग के निबंध सामान्यतः विचार-प्रधान ही हैं। भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की भाँति इनमें तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति एवं राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों का अंकन नहीं मिलता। हास्य और व्यंग्य के स्थान पर इनमें गम्भीरता अधिक है। अध्यापकजी एवं गुलेरीजी के निबन्धों को छोड़कर शेष में वैयक्तिकता का प्रस्फुटन नहीं मिलता। मौलिकता, नवीनता एवं ताजगी भी इनमें नहीं है। वस्तुतः ये निबन्ध कम हैं, विचारों के संग्रह अधिक। व्याकरण की दृष्टि से अवश्य इन निबन्धों की भाषा शुद्ध एवं परिमार्जित हुई।

शुक्ल युग—हिन्दी निबन्ध के विकास की गति में तीसरा मोड़ तब उपस्थित होता है, जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'चिंतामणि' द्वारा नये विचार, नयी

अनुभूति और नवीन शैली पाठकों के सामने प्रस्तुत की। 'चिंतामणि' के निबन्धों का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर—मनोविज्ञान एवं रसानुभूति—है, तथा उनका प्रतिपादन भी प्रौढ़तम शैली में हुआ। उनमें एक ओर चिंतन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है, तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर होगा। उनके निबन्धों में व्यक्ति एवं विषय का ऐसा सफल समन्वय हुआ कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें व्यक्ति-प्रधान कहें, या विषय प्रधान? ईर्ष्या, श्रद्धा, लज्जा, क्रोध, लोभ आदि मनोवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अत्यन्त पैनी दृष्टि से किया है। इन निबन्धों में एक ओर उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय मिलता है, तो दूसरी ओर उनका समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। एक मनोवैज्ञानिक, समाज शास्त्री एवं साहित्यकार—तीनों के कार्य भार का निर्वाह अकेले शुक्लजी ने 'चिंतामणि' में सफलतापूर्वक किया है।

उनके साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों-- 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', आदि—से उनकी अपूर्व प्रतिभा; उनके स्वतन्त्र चिंतन एवं मौलिक विचारों की धाक पाठक पर बैठ जाती है। उनके विचारों एवं निष्कर्षों से कोई चाहे सहमत हो या न हो, किन्तु उनकी मौलिकता सभी को स्वीकार करनी होगी। साधारणीकरण की जिस समस्या को शताब्दियों पूर्व संस्कृत के आचार्यों ने सुलझाने का प्रयत्न किया था, उसे आचार्य शुक्ल ने नये ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः ऐसी 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' को लेकर अवतरित होनेवाले निबन्धकार व आलोचक शताब्दियों के पश्चात् एक-दो दिखाई पड़ते हैं।

निबन्धकार शुक्लजी की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु युग की सी मौलिकता उनमें है, किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं; द्विवेदी युग की सी विचारात्मकता उनमें है, किन्तु वैसी शुष्कता का उनमें अभाव है। विचारों की गम्भीर चोटियों के बीच-बीच में उतरी हास्य-व्यंग्य से ओत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्झर के कोमल-मधुर कल-कल स्वर की तरह सुनाई पड़ती हैं। कहीं लज्जा और ग्लानि पर विचार करते-करते वे लिखने लगते हैं—'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए।···आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं।···राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गए।...सबकी टकटकी टके की ओर लगी हुई है।" तो कहीं वे चाटुकार लोगों की खबर लेते हुए कह बैठते हैं—"इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने से पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।" वस्तुतः शुक्लजी के निबन्धों में वे सभी गुण मिलते हैं, जो गम्भीर विषयों के निबन्धों के लिए अपेक्षित हैं। हाँ,

उनके कुछ निबन्ध अति गम्भीरता, अति प्रौढ़ता एवं अति सूक्ष्मता के कारण साधारण पाठक के लिए पहेलियों के तुल्य जटिल, दुरूह एवं शुष्क अवश्य बन गए हैं।

शुक्ल-युग के अन्य निबन्धकारों में डॉ० गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि उल्लेखनीय हैं। गुलाबरायजी के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिसमें 'फिर निराशा क्यों ?' 'मेरी असफलताएँ', 'मेरे निबन्ध' आदि लोकप्रिय है। आपके निबन्धों में व्यक्तित्व की सरलता, अनुभूति का सम्मिश्रण, विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सुबोधता मिलती है। 'मेरी असफलताएँ' में आपने वैयक्तिक विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके निबन्धों में व्यंग्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है; किन्तु उसका लक्ष्य कोई और नहीं, वे स्वयं ही हैं। 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—'खैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी पिला न सकने की विवशता के होते हुए भी उसके लिए भूसा लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भूसे का भाव ! भूसा खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।...लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना आनन्द आता , जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।" आचार्यजी ने अपने अनेक निबन्धों में साहित्य और मनोविज्ञान की अनेक समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है।

बख्शी पदुमलाल पुन्नालालजी ने अपने निबन्धों में मौलिक विचार एवं नूतन शैली का आदर्श उपस्थित किया है। इनके निबन्धों के विषय हैं—'उत्सव', 'रामलाल पंडित', 'नाम', 'समाज-सेवा', 'विज्ञान' आदि। उनकी शैली में कुछ ऐसी विशिष्टता परिलक्षित होती है; जो अन्यत्र सुलभ नहीं। राय कृष्णदास, वियोगी हरि एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में विचारों की अपेक्षा निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। वस्तुत: हिन्दी में भावात्मक निबन्धों या गद्य-काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं लेखकों को है। डॉ० वसुदेवशरण अग्रवाल ने प्राय: सांस्कृतिक विषयों पर कलम उठाई है, तो दूसरी ओर रघुवीरसिंह ने इतिहास के धूमिल दृश्यों को नया रंग-रूप प्रदान किया है। इन सभी निबन्धकारों की शैली में निजी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल-युग में निबन्धों के विषय-क्षेत्र में और अधिक गम्भीरता एवं सूक्ष्मता आई। इस युग के निबन्धों में मुख्यत: साहित्य, मनोविज्ञान, संस्कृति, इतिहास जैसे विषयों की गम्भीर समस्याओं पर नये-नये दृष्टिकोण से मौलिक विचार प्रस्तुत किए गए। साथ ही निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रकाशन भी अनेक निबन्धकारों ने किया है। भाषा-शैली की दृष्टि

में भी द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य बहुत अधिक विकसित एवं प्रौढ़ दिखाई पड़ता है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल परवर्ती निबन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र कुमार, डा० सत्येन्द्र, डा० विनयमोहन शर्मा, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रबली पांडे, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामधारीसिंह 'दिनकर'. शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, कन्हैया लाल मिश्र, 'प्रभाकर', डा० भगवतशरण उपाध्याय, डा० भगीरथ मिश्र, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', विश्वम्भर 'मानव', डा० रामरतन भटनागर आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

शुक्लोत्तर निबन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान शीर्षस्थ है। उनके अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, यथा—'अशोक के फूल' 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार-प्रवाह', 'कुटज', आदि। आपके निम्बन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है; उनमें भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति एवं परम्परागत ज्ञान विज्ञान के साथ आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जहाँ उनके निबन्ध अध्ययन-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की गम्भीरता से युक्त हैं, वहाँ वे उनके व्यक्तित्व की सरलता, सहजता, सरलता से भी समन्वित हैं। वस्तुतः व्यक्ति और विषय का गूढ़ तादात्म्य उनमें परिलक्षित होता है। इसलिए उनके गम्भीर से गम्भीर निबन्ध भी पाठक को उबाते नहीं, अपितु वे उसका अनुरंजन करते हुए रसानुभूति प्रदान करते हैं। अवश्य ही उनके कुछ निबन्ध अपवाद भी हैं, जिनमें लेखक का मन रमा नहीं है, पर उनके अधिकांश निबन्ध ललित या कलात्मक निबन्ध के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

आचार्य द्विवेदी के निबन्धों की शैली लेखक के मनोभाव एवं विषय की प्रकृति के अनुकूल बदलती रहती है। कालिदास युगीन वातावरण का चित्रण करते समय जहाँ उनकी शब्दावली सहज ही संस्कृत-गर्भित हो जाती है, वहाँ ग्रामीण जीवन के प्रसंगों में लोक-भाषा के चलताऊ शब्द भी यत्र-तत्र आ टपकते हैं। आधुनिक जीवन की विकृतियों एवं दूषित प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय वे प्रायः हास्य-व्यंग्यमयी शैली का प्रयोग करते हैं। यहाँ उनकी व्यंग्यमयी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं। मैं जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित ! यह क्या कम साधना है !'

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मूलतः विचारक एवं आलोचक हैं, अतः उन्होंने मुख्यतः आलोचनात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। उनके निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न'। इन कृतियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से जहाँ आलोचना में स्थान दिया जाता है, वहाँ काव्य रूप एवं शैली की दृष्टि से निब्बध के अन्तर्गत भी

लिया जा सकता है। इनके निबन्ध विचार-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उनके विचार निजी चिंतन-मनन पर आधारित हैं, अतः इस दृष्टि से अवश्य उन पर व्यक्तितत्व की छाप है, किन्तु उनकी प्रतिपादन-शैली विषय के साथ इस प्रकार बंधी हुई, विचारों से जकड़ी हुई है कि उसमें व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता का आभास प्रायः नहीं मिलता। जहाँ उनका विचारक अत्यन्त गम्भीर हो जाता है, वहाँ उनकी शैली भी गूढ़ एवं बोझिल हो जाती है। वस्तुतः इस दृष्टि से वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में आते हैं। उनकी शैली की बौद्धिकता एवं तार्किकता उच्च स्तरीय पाठकों को बौद्धिक आनन्द प्रदान करती है।

भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध-रचयिताओं में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके तत्सम्बन्धी अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'पृथ्वी-पुत्र', 'कला और संस्कृति' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० अग्रवाल के निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता के साथ साथ चिन्तन की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। वे प्राचीन तत्त्वों एवं गुत्थियों को अपनी व्याख्याओं द्वारा नया रूप प्रदान करते हुए उन्हें आधुनिक पाठक के लिए बोध गम्य बना देते हैं। उनकी शैली में सरलता और स्पष्टता मिलती है, जो उनके निबन्धों का अतिरिक्त गुण है।

आत्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबन्ध प्रस्तुत करने की दृष्टि से पं० शांतिप्रिय द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनके विभिन्न निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यथा—'जीवन-यात्रा', 'साहित्यिकी', 'हमारे साहित्य-निर्माता', 'कवि और काव्य', 'संचारिणी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' आदि। इन्होंने प्रायः कला एवं साहित्य सम्बन्धी विषयों पर ही स्वानुभूतिमूलक विचार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु 'पथ चिन्ह', 'परिव्राजक की प्रज्ञा' आदि में वैयक्तिक प्रसंगों को भी लिया है। इनकी शैली अत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक है, जो कहीं-कहीं करुणोत्पादक भी बन गई है, यथा, वे अपनी बहिन से सम्बन्धित संस्मरण में उसका परिचय प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—छुटपन में ही वह विधवा हो गई थी। उस अबोध वय में उसने जाना ही नहीं कि, उसके भाग्य क्षितिज में क्या पट-परिवर्तन हो गया। जन्मकाल से माँ का जो अंचल उसके मस्तक पर फैला हुआ था, सयानी होने पर उसने वही अंचल अपने मस्तिष्क पर ज्यों का त्यों पाया, मानो शैशव ही उसके जीवन में अक्षुण्ण हो गया। अचानक एक दिन जब वह अंचल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया, तब उसके जीवन में मध्याह्न की प्रखर ज्वाला के सिवा और क्या शेष रह गया था।'

डा० नगेन्द्र ने साहित्यिक आलोचनात्मक निबंधों की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया है। उनके निबन्ध संग्रहों में से 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेपण', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंधों का मूल स्वर विषय-प्रधान है, किन्तु अनेक निबंधों में व्यक्तित्व के दर्शन भी स्पष्ट रूप में होते हैं। फिर भी इनका प्रयास पाठक का ध्यान अपनी

अपेक्षा विवेच्य विषय पर मूल समस्या की ओर आकर्षित करने की ओर अधिक रहता है; एक कुशल व्याख्याता की भाँति वे किसी भी समस्या पर अपना समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उसे पाठक के हृदय मे उतार देते है। यही कारण है कि गूढ से गूढ़ विषय को भी पाठक रुचिपूर्वक ग्रहण करता चलता है। उनका साधारणीकरण सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ निबन्धो मे डा० नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए हैं, यथा —'वीणापाणि के कम्पाउण्ड' में या 'हिन्दी उपन्यास' मे किया है। वस्तुतः विचारो की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता—इन तीनो का समन्वय इनके निबन्धो मे परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्रकुमार मुख्यतः कथाकार है, किन्तु निबन्धो के क्षेत्र मे भी उन्होने योगदान किया है। उनके निबन्ध-संग्रहो मे 'जड़ की बात', 'जैनेन्द्र के विचार', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'सोच-विचार', 'मन्थन' आदि उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्रजी ने प्रायः दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किए है। उनकी चिन्तन प्रणाली स्पष्ट न होकर द्वन्द्वात्मक है। इसका प्रभाव उनकी शैली पर भी पड़ा है। उनके निबन्ध पाठक को एकाएक किसी सुस्पष्ट निर्णय तक नही पहुँचाते, अपितु उसे चक्करदार मार्ग से ले जाकर एक संदिग्ध स्थिति मे छोड देते है। वस्तुतः जैनेन्द्र पाठक पर अपना निर्णय नही थोपते, अपितु उसकी निर्णय-शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित एवं आन्दोलित कर देते है कि जिससे वह स्वयं ही उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, जहाँ कि जैनेन्द्र उसे पहुँचाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए इनकी शैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है—'पर आँखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है, इंसान छोड़ दिया जाता है। उनकी कीमत पैसे की नही है। मैं जानना चाहता हूँ कि अनर्थ कैसे होने में आया? क्यो यह जरूरी है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इंसान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े? क्यो वह जरूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाए रखे? मगर पैसे को धूल मे से उठा कर जेब में रखना उस पर उपकार करना नही है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने मे भी उपकार की कहाँ आवश्यकता आ जाती है!'

डा० सत्येन्द्र ने साहित्य एवं कला सम्बन्धी विषयो पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए है जो 'कला, कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की झांकी' आदि में संगृहीत है। इनके निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता, ज्ञान-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की स्पष्टता परिलक्षित होती है। अपने तथ्य को ये तर्क एवं प्रमाण से भली-भाँति पुष्ट करके प्रस्तुत करते हैं, जिनसे वह पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य हो जाता है। इनकी शैली में भी स्पष्टता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं।

डा० विनयमोहन शर्मा के निबंध 'साहित्यावलोकन,' 'दृष्टिकोण' आदि में संगृहीत है। उन्होने मुख्यतः सौंदर्य-शास्त्रीय एवं साहित्यिक विषयों को लिया है।

इनके व्यक्तित्व की सरलता एवं उदारता के अनुरूप ही इनके निबन्धों में भी विचारों की स्पष्टता व शैली की ऋजुता मिलती है। किसी विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व प्रायः वे उसके सम्बन्ध में पाठक की जिज्ञासा को इस प्रकार जागृत कर देते हैं कि जिससे वह इनके प्रतिपाद्य को सुनने व समझने में तल्लीनतापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कलाकार और सौंदर्य बोध' शीर्षक निबन्ध का यह अंश द्रष्टव्य है—'सौंदर्य क्या है, उसका 'बोध' कैसे होता है, और कवि या कलाकार पर उसकी किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है ? ये प्रश्न वर्षों से साहित्य और दर्शन में विवाद बने हुए हैं।' इस प्रकार के प्रश्नों से पाठक की उत्सुकता का बढ़ जाना स्वाभाविक है।

अत्यन्त तीखी, व्यंग्यपूर्ण एवं सशक्त शैली में निर्बाध रूप में अपने विषय को प्रस्तुत कर देने वाले निबन्धकारों में **डा० रामविलास शर्मा** का विशेष स्थान है। उन्होंने साहित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति सम्बन्धी विषयों पर शताधिक निबन्ध प्रस्तुत किए हैं, जो 'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। डा० शर्मा का दृष्टिकोण मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है, अतः उन्होंने अपने निबंधों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन इसी दृष्टिकोण से किया है। उनके अतिरिक्त प्रकाश चन्द्र गुप्त एवं शिवदानसिंह चौहान ने भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विभिन्न निबंध प्रस्तुत किए हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के निबन्ध 'नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका', 'साहित्य-धारा' आदि में तथा शिवदानसिंह चौहान के निबन्ध 'साहित्यानुशीलन', 'आलोचना के मान' आदि में संगृहीत हैं। इन दोनों की शैली में भी सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता मिलती है।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। उनके निबन्धों में अध्ययन एवं चिन्तन की गम्भीरता परिलक्षित होती है। उनके निबन्ध संग्रहों में 'भारत की संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण', 'इतिहास के पृष्ठों पर' 'खून के धब्बे', 'सांस्कृतिक निबन्ध' आदि उल्लेखनीय हैं। डा०भगीरथ मिश्र, डा० रामरतन भटनागर, डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रभृति ने साहित्य के विभिन्न पक्षों एवं विषयों को लेकर सुन्दर निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। डा० भगीरथ मिश्र के निबन्ध 'कला और साहित्य' डा० भटनागर के 'अध्ययन और आलोचना' में तथा डा० 'दिनकर' के 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्ध नारीश्वर', 'रेती के फूल' आदि में संगृहीत हैं।

संस्मरणात्मक निबन्धों के क्षेत्र में **महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, हरिवंश राय 'बच्चन', देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'शृंखला की कड़ियाँ' आदि निबन्ध-संग्रह प्रस्तुत किए हैं। इनमें विषमता एवं दीन-हीन जनों की वेदना का चित्रण अनुभूति से ओत-प्रोत शब्दों में किया गया है। जहाँ इनका विषय उदात्त

है, वहाँ इनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ है। उनमें दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि; कवि की वाणी, चित्रकार की तूलिका एवं गद्यकार की लेखनी का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार बेनीपुरीजी ने भी अपने संस्मरणात्मक निबंधों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित व्यक्तियों के चित्र सहृदयतापूर्ण शैली में अंकित किए हैं, जो 'माटी की मूरतें' व 'गेहूँ और गुलाब' में संगृहीत हैं। इनकी शैली कहीं-कहीं अत्यंत काव्यात्मक हो उठती है, यथा—'कभी-कभी मालूम होता है, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्सना-कुमारियाँ चंद्र-मंडल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंग-मालाओं के कम्पित अधरों को चूम-चूमकर अट्टहास कर उठती हैं।' 'बच्चन' ने 'क्या भूलूँ : क्या याद करूँ' में और मस्तजी ने 'झरोखे' में अपने जीवन के मर्मस्पर्शी संस्मरण अंकित किए हैं।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेक समीक्षात्मक एवं गवेषणात्मक निबंध लिखे थे जो 'एकता', 'विचार-विमर्श', आदि में संगृहीत हैं। इनके निबन्धों में गंभीर अध्ययन एवं तर्कपूर्ण शैली का सामंजस्य परिलक्षित होता है। नलिनविलोचन शर्मा, रांगेय राघव, डा० देवराज प्रभृति ने विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। इलाचन्द्र जोशी के अनेक निबंध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा –'साहित्य-सर्जना', 'विवेचन', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा', 'महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ' आदि। जोशी जी ने साहित्य, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का विवेचन प्रभावोत्पादक शैली में किया है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी साहित्यिक विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किए हैं, जो उनके 'त्रिशंकु' में संगृहीत हैं। यशपाल ने कथा-साहित्य के अतिरिक्त निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में भी असाधारण योग दिया है। 'देखा, सोचा, समझा', 'मार्क्सवाद', 'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'गांधीवाद की शव-परीक्षा', 'राज्य की कथा' आदि संग्रहों में उनके विभिन्न प्रकार के निबन्ध संगृहत हैं। उनकी शैली में सरलता और विचारोत्तेजकता मिलती है। कहीं-कहीं वे व्यंग्य का भी प्रहार करते हैं, यथा—'कारतूसों की एक दूकान खोलो, जिसमें 'कलमाइड कारतूस' मुसलमानों के लिए और 'झटकाइड कारतूस' सिखों के लिए रहें। अच्छा मुनाफा रहेगा।'

हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों के क्षेत्र में गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे एवं बेढब बनारसी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्यासजी के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध 'कुछ सच : कुछ झूठ', आदि में संगृहीत हैं। ये छोटी से छोटी बात को भी अत्यन्त रोचक एवं साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत कर देने की कला में सिद्ध-हस्त हैं। उदाहरण के लिए स्नान-घर में एक भैंस के घुस जाने की घटना को लेकर वे एक अनूठा निबन्ध रच देने के साथ-साथ यत्र-तत्र विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों को भी भैंस के बहाने याद कर लेते हैं—'एक दिन बाबूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी, तो भैंस भी अपना अधिकार समझकर उसमें घुस पड़ी। सँकरा दरवाजा,

छोटी जगह। भैंस घुस तो गई, मगर अब निकले कैसे ?...एकदम नई उलझन थी। प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने को कतई तैयार न थे।'

प्रभाकर माचवे ने भी साधारण विषयों—'मुँह', 'गला', 'गाली', 'बिल्ली', 'मकान' आदि—को लेकर अत्यन्त रोचक निबन्धों की रचना की है, जो उनके 'खरगोश के सींग' में संगृहीत हैं। उनकी शैली सरल, मुहावरेदार एवं प्रवाहपूर्ण है। **देवेन्द्र सत्यार्थी** ने लोक-संस्कृति एवं लोक गीतों की पृष्ठभूमि को लेकर, विभिन्न विषयों पर अनुभूतिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जो 'एक युग : एक प्रतीक', 'रेखाएँ बोल उठीं', 'क्या गोरी क्या साँवरी', 'कला के हस्ताक्षर' आदि में संग्रहीत हैं। सत्यार्थीजी की शैली में मन को आकर्षित करने की क्षमता मिलती है। **जयनाथ 'नलिन'** के आलोचनात्मक निबन्ध कला और चिंतन' में संगृहीत हैं, जो उनके मौलिक चिंतन के द्योतक हैं।

हिन्दी में अन्तर्व्यू-शैली में निबन्ध प्रस्तुत करने की परम्परा के प्रवर्तक के रूप में **पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'** का नाम उल्लेखनीय है। इनके निबन्ध 'मैं इनसे मिला' (दो भाग) में संगृहीत हैं। इन्होंने विभिन्न साहित्यकारों के इण्टरव्यू के आधार पर उनके व्यक्तित्व, दर्शन एवं साहित्य-सर्जन के विभिन्न पक्षों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त भी डा० कमलेश ने हिन्दी को अनेक उच्चकोटि के निबन्ध प्रदान किए हैं, जो विचारों की स्पष्टता के साथ-साथ शैली की सरलता से भी युक्त हैं।

ललित निबन्ध—विगत कुछ दशाब्दियों में निबन्ध के ही कलात्मक रूप पर विशेष बल देते हुए ललित निबन्धों की रचना हुई है जिनमें विषय-वस्तु एवं विचारों के सुव्यवस्थित प्रतिपादन के स्थान पर निजी चिन्तन एवं अनुभूति को स्वच्छन्दता-पूर्वक ललित शैली में व्यक्त किया गया है। शैली के लालित्य की प्रमुखता के कारण ही इन्हें 'ललित निबन्ध' की संज्ञा दी गयी है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि पूर्ववर्ती निबन्धों में लालित्य का अभाव है। वस्तुतः निबन्ध जब भी साहित्य एवं कला का अंग बनता है तो उसमें साहित्यिकता, कलात्मकता एवं लालित्य का होना अनिवार्य है, किन्तु जहाँ सामान्य निबन्धों में लेखक की वैयक्तिकता एवं शैली विषय-वस्तु का अनुगमन करती है, वहाँ ललित निबन्धों में विषय-वस्तु सर्वथा पिछड़ जाती है। इसके अतिरिक्त ललित निबन्धों में विचार की अपेक्षा अनुभूति का, तथ्य की अपेक्षा कल्पना का एवं विषय-वस्तु के प्रतिपादन की अपेक्षा आत्म-व्यंजना की प्रमुखता रहती है, इसीलिए उसमें निबंधकार किसी क्रम, व्यवस्था एवं पद्धति का अनुगमन नहीं करता।

हिन्दी के ललित निबंधकारों में कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुबेरनाथ राय पूरी तरह ललित निबन्ध की ही विधा को समर्पित हैं तथा उनके अब तक नौ से भी

अधिक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'प्रिय नीलकंठी', 'निषाद योग', 'निषाद बांसुरी', 'कामधेनु', आदि उल्लेखनीय हैं। उनके निबन्धों में उनकी कल्पनाशक्ति स्वच्छन्द होकर विचरण करती हुई पाठक को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ले जाती है। उन्होंने मुख्यतः ग्रामीण जीवन एवं लोक संस्कृति के विभिन्न पक्षों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में किया है।

डा० विद्यानिवास मिश्र के भी कई निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हैं—जिनमें 'छितवन की छाँह', 'तुम चंदन हम पानी', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० मिश्र ने अपने निबन्धों के माध्यम से विभिन्न मानसिक स्थितियों की व्यंजना करते हुए विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक स्थितियों का अंकन प्रभावोत्पादक शैली में किया है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने आज के समाज की विभिन्न स्थितियों, मनःस्थितियों एवं दुविधाओं का अंकन अत्यन्त सरस एवं भावात्मक शैली में किया है। उनके निबन्ध-संग्रहों में से 'जिन्दगी मुस्कराई', 'दीप जले शंख बजे', 'जिन्दगी लहलहाई' आदि उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त विवेकी राय 'नया गाँवनामा', रामदरश मिश्र का 'कितने बजे हैं', डा० विजयेन्द्र स्नातक का 'अनुभूति के क्षण' डा० धर्मवीर भारती का 'ठेले पर हिमालय', 'पश्यन्ती', डा० शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों का सेतु', श्यामसुन्दर दास का 'सौन्दर्य और सांप', रतनलाल शर्मा का 'छोटी-छोटी बातें', क्षितिज मेवालंकार का 'ओ मेरे राजहंस', रामनारायण उपाध्याय का 'जनम जनम के फेरे' राजेश कुमार का 'अनुभूतियाँ' आदि संग्रहों में भी उच्चकोटि के ललित निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी के कतिपय निबन्धकारों ने व्यंग्यात्मक शैली से भी उच्चकोटि के निबन्धों का रचना की है. जिनमें हरिशंकर परसाई, ('भूत के पाँव', 'सदाचार का तावीज' 'निठल्ले की डायरी' आदि) केशवचन्द्र वर्मा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, ठाकुर प्रसाद सिंह, शंकरदयाल सिंह, हरिश्चन्द्र वर्मा, रवीन्द्र कालिया (राग मिलावट मालकौंस) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने निबन्धों के जीवन समाज और राजनीति की विभिन्न विकृतियों, विद्रूपताओं माध्यम से आधुनिक एवं विसंगतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से इनकी तुलना किसी भी अन्य वर्ग के निबन्धों से संभव नहीं।

अस्तु उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य ने थोड़े से समय में ही पर्याप्त उन्नति कर ली है। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक निबन्ध-साहित्य में क्रमशः प्रौढ़ता आती रही है किन्तु फिर भी नवीनतम निबन्ध साहित्य में कुछ दूषित प्रवृत्तियों का भी विकास हो रहा है। एक तो हमारे साहित्यकार प्रायः कला और साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य लेखकों से

उधार लिए हुए विचारों को विना भली-भाँति हृदयंगम किये ही उगलते जा रहे हैं जिससे उनमें न तो भाषा का प्रवाह मिलता है और न ही कला का सौन्दर्य। दूसरे हमारे निवन्धों का क्षेत्र कला और संस्कृति तक ही सीमित रह गया है, उनमें जीवन के व्यावहारिक पक्षों—सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक आदि सम्बन्धित समस्याओं का विवेचन-विश्लेषण यथेष्ठ रूप में नहीं हुआ। 'ललित निवन्धों' में कल्पना का वैभव एवं शैली का लालित्य तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु विचारों की मौलिकता का प्रायः अभाव है। भारतेन्दु युग के लेखकों की भाँति आज का निवन्धकार अपने युग और समाज से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया, यह दूसरी वात है कि वह कभी-कभी अपने हास्य और व्यंग्य के माध्यम से अपने सामाजिक वोध को प्रमाणित कर दे। आशा है कि भविष्य में इन अभावों की पूर्ति में हिन्दी का निवन्धकार सफल होगा।

: उन्तालीस :

हिन्दी एकांकी : स्वरूप और विकास

'एकांकी' शब्द का अर्थ है—एक अंकवाला। दृश्यकाव्य का वह विशेष भेद जिसमें केवल एक अंक होता है, 'एकांकी' कहलाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' के अर्थ में हुआ। हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने एकांकी की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी की मान्यता है कि एकांकी में एक सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या, वेग-सम्पन्न प्रवाह और निदर्शन में चातुरी आवश्यक है। वे एकांकियों में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों, दृश्यों की अतिशयता, विषयान्तरता; वर्णन-बाहुल्य, चरित्र-विकास के लम्बे प्रयोगो और उलझी कल्पनाओं को पसन्द नही करते। सेठ गोविन्ददासजी का मत भी अवस्थीजी से मिलता-जुलता है। वे सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार या समस्या को आवश्यक मानते है। इसके अनन्तर विकास के लिए संघर्ष की आवश्यकता बताई गई है तथा विचार और संघर्ष दोनों के लिए कथानक, पात्र, कथोपकथन आदि की आयोजना होती है। प्रसिद्ध एकांकीकार श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'एकांकी की तीन आवश्यक बातें बताई है—(१) आकार तथा समय की लघुता (३५ मिनट से ४५ मिनट तक की अवधि), (२) अभिनय-शीलता और (३) रंग-संकेतों की स्पष्टता। वे एकांकी में संकलन-त्रय को भी बहुत महत्व देते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने एकांकी के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। डॉ० साहब के विवेचन को प्रो० रामचरण महेन्द्र ने अग्रांकित निष्कर्षों में प्रस्तुत किया है :—

१. एकांकी में मुख्यतः किसी एक ही घटना या जीवन की कोई एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए, उसका विकास कौतूहलवर्द्धक नाटकीय शैली में होना चाहिए तथा चरम सीमा पर पहुँचकर एकांकी का अन्त होना चाहिए।

२. एकांकी में अभिव्यंजित घटनाओं का चुनाव जीवन की दैनिक घटनाओं में होना चाहिए, जिससे उसमें यथार्थता एवं मनोरंजन का समावेश हो सके।

३. दो विरोध पात्रों या वर्गों के विरोधी भावों में संघर्ष दिखाया जाना चाहिए। संघर्ष ही एकांकी का प्राणी है।

४. एकांकी के कथन में कौतूहल, जिज्ञासा, गति की तीव्रता एवं चरम सीमा में परिणति होनी चाहिए।

५. यथार्थवाद को स्थान देते हुए आदर्शवाद की ओर संकेत किया जा सकता है।

६. एकांकी में स्वाभाविकता एवं जीवन से निकटता बनाए रखने के लिए संकलन त्रय का पालन कठोरता से होना चाहिये। संकलन-त्रय के तात्पर्य—समय स्थान और कार्य की एकता।

उपर्युक्त सभी विद्वानों के विचारों का गहरा मन्थन करते हुए डा० रामचरण महेन्द्र ने अन्त में एकांकी के आठ तत्त्व निर्धारित किये हैं—(१) कथावस्तु, (२) संघर्ष या द्वन्द्व, (३) संकलन-त्रय, (४) पात्र और चरित्र चित्रण, (५) कथोपकथन, (६) अभिनयशीलता, (७) रंगमंच निर्देश और (८) प्रभाव-ऐक्य। हमारे विचार से इस संख्या में थोड़ी-बहुत घटा-बढ़ी की जा सकती है। अभिनय-शीलता और रंग-मंच निर्देश दोनों का समावेश एक ही तत्त्व 'अभिनय' में किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रभाव ऐक्य का समावेश भी संकलन-त्रय में हो जाता है—जब कार्य की एकता होगी तो प्रभाव-ऐक्य होना स्वाभाविक है। साहित्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है—भाव। साहित्य का चाहे कोई भी भेद हो, उसमें भाव तत्त्व का होना आवश्यक है। किन्तु डॉ० महेन्द्र ने पाश्चात्य विद्वानों की ही भाँति इस तत्त्व की ओर ध्यान नहीं दिया। संघर्ष या द्वन्द्व तथा संकलन-त्रय, पात्र और कथा-वस्तु के आवश्यक लक्षण हैं, अतः इन तत्त्वों की अलग स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः डॉ० महेन्द्र ने तत्त्वों और विशेषताओं को घुला-मिला दिया है। हमारे दृष्टिकोण से एकांकी के सात तत्त्व माने जा सकते हैं—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य (विचार) और भावना तथा एकांकी की विशेषताओं के अन्तर्गत संक-लन-त्रय, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, रोचकता, गतिशीलता एवं अभिनयशीलता का उल्लेख होना चाहिए।

एकांकी का नाटक से सम्बन्ध

एकांकी और नाटक दोनों ही दृश्य-काव्य के अंग हैं, किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'एकांकी' में एक अंक में एक घटना में एक कार्य और समस्या होती है, जबकि नाटक में कई अंकों, घटनाओं, कार्यों और समस्याओं का आयोजन हो सकता है। अतः स्थूल दृष्टि से एकांकी नाटक बहुत लघु और सीमित होता है, किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकांकी या बड़े एकांकी को छोटा नाटक नहीं कह सकते। नाटक से निकालकर अलग किए गए एक अंक को भी एकांकी नहीं कहा जा सकता। एकांकी अपने आपमें पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एवं उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकांकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौड़ता है, जबकि नाटककार धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। एकांकी की शैली में संक्षिप्तता एवं गतिशीलता होती है।

डॉ० महेन्द्र ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है--"एकांकी का नाटक से वही सम्बन्ध है जो कहानी का उपन्यास से अथवा खंडकाव्य का महाकाव्य से। नाटक में जीवन का विस्तार, लम्बाई और परिधि का विस्तार है, उसका क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकांकी का क्षेत्र सीमित है, परिधि संकुचित है और जीवन के किसी एक पहलू को ही चित्रित करने का अल्प कार्य होता है।...एकांकी में केवल एक ही घटना, एक ही महत्वपूर्ण पहलू या परिस्थिति रह सकती है। नाटक में कथानक के चारों भाग स्पष्ट रहते हैं। एकांकी प्रायः संघर्ष-स्थल से प्रारम्भ होता है और शीघ्र ही गति पकड़कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है, एकांकी में वेग-सम्पन्न प्रवाह का महत्व है।...एकांकी में संकलन-त्रय का होना महत्वपूर्ण है; यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है। बड़े नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है।" (हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास पृ० ३७-३८)

क्या एकांकी को नाटक का लघु-संस्करण कह सकते हैं? इसका निषेधात्मक उत्तर देते हुए प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं—"वह बलि को छलनेवाला बावन अंगुल का मनुष्य नहीं और न चक्र-सुदर्शन सहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु संस्करण है और न किसी का खण्ड। वह अपनी निजी सत्ता रखनेवाला साहित्य का एक अंग है।" (नाटक; पृ० १०) वस्तुतः जिस प्रकार मेढक को न तो बैल का लघु-संस्करण कह सकते हैं और न ही उसका एक अंग, उसी प्रकार एकांकी को नाटक का लघु संस्करण या उसका कोई एक भाग नहीं कहा जा सकता।

एकांकी के भेद

मूल प्रवृत्तियों, विषयों एवं शैलियों के आधार पर एकांकी के विभिन्न भेद किए गए हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने मूल प्रवृत्तियों के आधार पर एक एकांकी के आठ भेद किए हैं—(१) आलोचक एकांकी, जो हमारे त्रुटियों की आलोचना करते हैं। (२) विवेकवान एकांकी, जिसमें वाद-विवाद रहता है। (३) भावुक एकांकी, जिसमें भावात्मकता आदि होती है। (४) समस्या एकांकी, जिसमें समस्या का चित्रण होता है। (५) अनुभूतिमय एकांकी। (६) व्याख्यामूल एकांकी। (७) आदर्शमूलक एकांकी और (८) प्रगतिवादी एकांकी। हमारी दृष्टि में एकांकियों का यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता। भावुक एकांकी और अनुभूतिमय एकांकी में आलोचक एकांकी और व्याख्यामूलक एकांकी में विवेकवान एकांकी और आदर्श एकांकी में कोई विशेष अंतर नहीं है। फिर जब प्रगतिवादी एकांकी है, तो छायावादी, रहस्यवादी और प्रयोगवादी एकांकी भी हो सकते हैं।

विषयों के आधार पर एकांकी के पाँच भेद किए गये हैं—(१) सामाजिक, (२) पौराणिक (३) ऐतिहासिक, (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक। किन्तु इनके अतिरिक्त भी एकांकी के विषय हो सकते हैं, जैसे, मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणा-

त्मक, आत्माभिव्यंजनात्मक, काल्पनिक आदि। अतः विषयों की संख्या निश्चित करना सम्भव नहीं। डॉ० रामचरण महेन्द्र ने दूसरे दृष्टिकोण से नौ प्रकार के एकांकियों की गणना की है—(१) सुखान्त, (२) दुःखान्त, (३) प्रहसन, (४) फेंटेसी, (५) गीतनाट्य या ऑपेरा, (६) झाँकी, (७) संवाद या संभाषण, (८) स्वोक्ति रूपक या मोनोड्रामा, (९) रेडियो-प्ले। ये भेद सम्भवतः पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार किए गए हैं। प्रत्येक नाटक या एकांकी या तो दुःखान्त होगा या सुखान्त या समन्वयात्मक (प्रसादान्त)। अतः 'अन्त' के आधार पर उनके तीन ही भेद किए जा सकते हैं। 'प्रहसन' से तात्पर्य हास्य-प्रधान एकांकी से है। फेंटेसी में रोमांस और कल्पना की अधिकता होती है। गीति-नाट्य में काव्यात्मकता अधिक होती है। झाँकी में केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'सम्भाषण' में केवल दो पात्रों की बातचीत का आयोजन होता है। मोनो-ड्रामा या स्वोक्तिरूपक में केवल एक पात्र स्वगत-कथन के रूप में किसी पूर्व घटना या आप-बीती को व्यक्त करता है। 'रेडियो-प्ले' में ध्वनि के उतार-चढ़ाव आदि को प्रमुखता दी जाती है।

वस्तुतः समय के साथ-साथ एकांकी के स्वरूप, विषयों और शैलियों में जो विकास होगा, उसके अनुसार उनके भेदोपभेदों की संख्या में भी विस्तार और परिवर्तन होता रहेगा, अतः किसी भी वर्गीकरण को स्थायी और अन्तिम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में हम एकांकी के दो प्रमुख भेद कर सकते हैं—(१) प्राचीन एकांकी—प्राचीन संस्कृत में प्रचलित और (२) आधुनिक एकांकी—पाश्चात्य साहित्य में विकसित।

एकांकी का उद्भव

यद्यपि आधुनिक युग में एकांकी के जिस रूप और शैली का प्रचलन हो रहा है, उसका विकास पाश्चात्य देशों में हुआ, किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी एकांकी या एकांकी से मिलते-जुलते रूपकों का प्रचार रहा है। नाटक के विभिन्न भेदों में व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी आदि में एक ही अंक होता है, अतः इन्हें प्राचीन ढंग के 'एकांकी' कह सकते हैं। इसी आधार पर डॉ० सरनामसिंह, प्रो० ललितप्रसाद और प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी ने एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से सिद्ध किया है, जब कि प्रो० अमरनाथ गुप्त, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० एम० पी० खत्री ने इसे पाश्चात्य साहित्य की देन के रूप में स्वीकार किया है। यदि हम एकांकी के व्यापक रूप को ग्रहण करते हुए उसमें सभी प्रकार के—प्राचीन एवं नवीन—एकांकियों को लेते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि एकांकियों की दीर्घ परम्परा भारत में रही है, यह दूसरी बात है कि आधुनिक एकांकी का विकास उससे स्वतंत्र रूप में हुआ हो।

संस्कृत एवं प्राकृत में 'एकांकी' के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्री प्रह्लादवन देव ने सन् ११६३ ई० में 'पार्थपराक्रम' (व्यायोग) की रचना की थी। इसके अति-

रिक्त सौगंधि हरण (विश्वनाथ); किरातार्जुनीय (वत्सराज), धनंजय-विजय (कंचन-पंडित), भीम विक्रम (मोक्षादित्य) निर्भय भीम (रामचन्द्र) आदि सफल व्यायोग हैं। 'प्रहसन' की कोटि में आनेवाले एकांकियों में 'कन्दर्पकेलि', 'धूर्त्तचरित्र', 'लटक मेलक', 'लता काम लेखा', 'धूर्त्त समागम' 'धूर्त्त वाटिका', 'हास्य चूड़ामणि' आदि संस्कृत में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'भाण' (जिसमें केवल एक ही अंक और पात्र होता है) के भी उदाहरण मिलते हैं—जैसे वामन भट्ट का 'शृंगार-भूषण', रामचन्द्र दीक्षित कृत 'शृंगार-तिलक', शंकर कृत 'श्रद्धातिलक', वत्सराज कृत 'कर्पूर चरित' आदि। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे अनेक विद्वानों ने इन एकांकियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यह कहना कि पश्चिमी ढंग से एकांकी लिखने पर ही एकांकी कहला सकता है; वास्तव में हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता है, अन्यथा हमारा 'भाण' जिसमें कि केवल एक ही पात्र होता है— एकांकी कला का अत्यन्त विकसित रूप है।

हिन्दी में एकांकी का विकास

हिन्दी में एकांकी लेखन का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है, किन्तु एकांकी के कुछ तत्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यदि हम गद्य और पद्य के अन्तर को भूल जायें तो तुलसी के 'रामचरितमानस', केशव की 'राम-चंद्रिका', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में से कुछ दृश्य ऐसे निकालकर अलग किए जा सकते हैं, जो एकांकी का रूप धारण करने में समर्थ हो सकें। तुलसी के 'परशुराम-लक्ष्मण संवाद', 'कैकेयी-मंथरा संवाद' 'अंगद-संवाद' या केशव के 'रावण-वाणासुर संवाद', 'रावण-अंगद संवाद' नरोत्तम के 'सुदामा चरित' में 'पति-पत्नी सम्वाद' में स्वतन्त्र रूप में एकांकी की-सी नाटकीयता, तीव्रता, मार्मिकता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है। सन् १८५० के अनन्तर गीति-नाट्यों में लिखे गए 'इन्दरसभा', 'बन्दर सभा', 'मुछन्दर सभा' आदि को भी डा० रामचरण महेन्द्र ने 'एकांकी' का प्रारम्भिक रूप माना है।

हिंदी में प्राचीन ढंग के गद्य-पद्य एकांकियों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ। उन्होंने प्राचीन संस्कृत-नाट्य-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए नाटक व एकांकी के विभिन्न रूपों के विकास का प्रयत्न किया। उन्होंने 'धनंजय-विजय' (व्यायोग-अनूदित), 'प्रेम-योगिनी' (अपूर्ण मौलिक), 'पाखण्ड-विडम्बना', (अनूदित), अंधेर नगरी (प्रहसन), 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) आदि की रचना की, जिनमें प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। अपने इन एकांकियों में जहाँ उनका एक लक्ष्य कला का विकास करना है, वहाँ दूसरी ओर जनता का ध्यान तत्कालीन समस्याओं की ओर आकर्षित करना भी है। उनके प्रहसनों में विभिन्न रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। विदेशी सरकार की खबर भी यत्र-तत्र ली गई है।

'विषस्य विषमौषधम्' में वे लिखते हैं—'धन्य है ईश्वर ! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आए थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।'

हिन्दी एकांकी-साहित्य के पूर्ण अधिकारी विद्वान् डॉ० महेन्द्र भारतेन्दु के इन एकांकियों पर विचार करते हुए लिखते हैं—"किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित होते हैं वह उनकी प्रतिभा है। उन पर नये ढंग के बंगला नाटकों तथा फारसी रंगमंच का भी प्रभाव था। फारसी रंगमंच की दोहा-शेर वाली पद्धति की छाप उनके एकांकियों पर है। अँग्रेजी का प्रभाव बंग-साहित्य के माध्यम से उनकी एकांकी कला पर पड़ा है।"

भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके युग में अन्य लेखकों ने शताधिक रूपकों व प्रहसनों आदि की रचना की, जिन्हें प्राचीन ढंग के एकांकी कह सकते हैं। इनमें से कुछ का नाम यहाँ उद्धृत किया जाता है—'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण' (राधाचरण गोस्वामी), 'कलयुगी जनेऊ' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'शिक्षादान' (बालकृष्ण भट्ट), 'दुःखिनी बाला' (राधाकृष्ण दास), 'रेल का विकट खेल' (कार्तिकप्रसाद), 'वैदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति' (जी० एल० उपाध्याय), 'हिन्दी उर्दू नाटक' (रत्नचन्द्र) 'चौपट-चपेट' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि। इन एकांकियों में वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं जो पीछे भारतेन्दु के एकांकियों में बताई गई हैं। वस्तुतः इन्हे लेखकों ने 'नाटक' की संज्ञा दी है; जिससे इनकी गणना 'नाटक' के अन्तर्गत ही होती रही है। किन्तु इनके लक्षणों एवं शैली को देखते हुए एकांकी के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाना उचित है।

द्विवेदी-युग में हिन्दी एकांकी का भी प्रभाव बढ़ने लगा जिससे उनके बाह्य रूप में क्रमशः थोड़ा-थोड़ा अन्तर आने लगा, किन्तु उनकी मूल आत्मा भारतेन्दु-युग के अनुरूप ही रही। उनका प्रमुख उद्देश्य—समाज सुधार एवं राष्ट्रोन्नति ही रहा। इस युग के प्रमुख एकांकियों में मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह', सियाराम शरण का 'कृष्ण', ब्रजलाल शास्त्री के 'भारती' में प्रकाशित अनेक एकांकी—'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' आदि, रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन—'रेशमी रूमाल' 'क्रिसमिस', सरयूप्रसाद मिश्र का 'भयंकर भूत', शिवरामदास गुप्त का 'नाक में दम' बदरीनाथ भट्ट का 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पांडेय का 'मूर्ख मंडली', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे', श्री सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग के एकांकियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) सामाजिक व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक और (४) अनुवादित।

शिल्प की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग के एकांकियों में पूर्व युग से विकास दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि की प्रवृत्ति दीख पड़ती थी, जो इस युग में आकर लुप्त हो गई। कथानक को तीव्रगति से चरमसीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न भी किया जाने लगा। पद्य का पूर्ण बहिष्कार

होने लगा। फिर भी एकांकी के पाश्चात्य रूप का पूर्ण विकास इनमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

आधुनिक एकांकी

पाश्चात्य शैली मे लिखे गये एकांकी—जिन्हे हम यहाँ 'आधुनिक एकांकी' कह सकते हैं—का विकास हिन्दी में लगभग सन् १९३० ई० के अनन्तर हुआ। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने संवत् १९८३ (लगभग १९३० ई०) में 'एक घूंट' की रचना की। विभिन्न विद्वानों ने 'एक घूंट' को आधुनिक ढंग का सर्वप्रथम हिन्दी एकांकी स्वीकार किया है। डॉ० हरदेव बाहरी का कथन है—'यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे, जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से होता है।' दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है—'सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से होता है। 'प्रसाद' पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनीक का एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।' (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३१) इस बात का समर्थन प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० सत्येन्द्र, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति विद्वानों ने भी किया है, अतः इसे स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। डॉ० महेन्द्र ने प्रसाद के 'सज्जन' और 'करुणालय' को भी एकांकी के अन्तर्गत लिया है।

'प्रसाद' के 'एक घूंट' के अनन्तर अनेक लेखकों ने अनूदित एवं मौलिक एकांकी लिखे। श्री कामेश्वरनाथ भार्गव ने 'विशप्स केण्डिल स्टिक्स' का अनुवाद 'पुजारी' शीर्षक से प्रस्तुत किया। हेराल्ड ब्रिगहाउस के 'दि प्रिंस हू वाज पाइपर', जे० ए० फर्गूसन के 'कैम्पबेल आफ् किल्म्होर', ए० ए० मिलन के 'दि मैन इन दि बौउलर हैट' आदि के अनुवाद भी विभिन्न लेखकों द्वारा सन् १९३८-३९ के लगभग किये गये। सन् १९३८ में 'हंस' का 'एकांकी' विशेषांक प्रकाशित हुआ, जिससे हिन्दी के लेखकों को एकांकी की कला के सम्बन्ध में अनेक नयी बातें ज्ञात हुईं।

मौलिक एकांकियों की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय सर्वप्रथम डॉ० रामकुमार वर्मा को है। उनका 'बादल की मृत्यु' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ, जिसे डॉ० सत्येन्द्र ने 'एक घूंट' के अनन्तर दूसरा स्थान दिया है। कला की दृष्टि से यद्यपि यह सफल एकांकी नहीं था, पर प्रयोग की दृष्टि से एकांकी के इतिहास में इसका स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता अधिक है। नाटकीयता कम। इसी से कुछ विद्वानों ने इसे 'अभिनयात्मक गद्यकाव्य' के नाम से पुकारा है। आगे चलकर वर्माजी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए, जिन्हें कालक्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३७),

'रेशमी टाई' (१९४९), चारुमित्रा (१९४३), विभूति (१९४३), सप्तकिरण (१९४७), रूप-रंग (१९४८), कौमुदी-महोत्सव (१९४९), ध्रुव-तारिका (१९५०), ऋतुराज (१९५१), रजत रश्मि (१९५२), दीपदान (१९५४), काम कंदला (१९५५), बापू १९५६), इन्द्र-धनुष (१९५७), रिमझिम (१९५७) आदि। डा० वर्मा के एकांकियों को विषय की दृष्टि से सामाजिक एवं ऐतिहासिक वर्ग में रक्खा जा सकता है। उन्होंने जीवन की तात्कालिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण किया है। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है, अतः उनकी रचनाओं में महत्वपूर्ण संदेश की अभिव्यक्ति हुई है। उनके कुछ एकांकियों में भावात्मकता की भी प्रधानता है। वर्मा जी की शैली में सरलता एवं प्रौढ़ता मिलती है।

वर्माजी के साथ-साथ ही एकांकी के क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले लेखकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, भुनेश्वरप्रसाद मिश्र, सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। मिश्रजी के एकांकी-संग्रह इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं—अशोक वन, प्रलय के पंख पर, एक दिन, कवेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव, भगवान मनु तथा अन्य एकांकी आदि। इन्होंने अपने एकांकियों में पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण सूक्ष्म रूप में किया है। उनमें ज्ञान और मनोरंजन का समन्वय सुन्दर ढंग से हुआ है। अभिनयशीलता का भी उसमें पूर्ण निर्वाह है। डॉ० नगेन्द्र का मत है—'इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, चिरन्तर नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर, परिवर्तन का अनुरोध; जीवन के मौलिक सत्यों की निर्भ्रान्त स्वीकृति आदि संस्कृति संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही हैं। इधर भारत की अपनी समस्याओं—यहाँ की आध्यात्मिकता का भी उन पर प्रभाव है।' (आधुनिक हिन्दी नाटक; पृ० ५६)।

सामाजिक समस्याओं के चित्रण में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। वे मध्यवर्ग के समाज की कमजोरियों, रूढ़ियों तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं पर व्यंग्यात्मक शैली से प्रकाश डालते हैं। व्यंग्य की तीखी चोट करने में 'अश्क' की बराबरी हिन्दी का और कोई एकांकी लेखक नहीं कर सका। 'अधिकार का रक्षक' उनकी इस व्यंग्यात्मक शैली का स्थायी प्रमाण है। उन्होंने सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा शैली का प्रयोग किया है, जिससे उनके एकांकियो में कहीं-कहीं खड़ी बोली के स्थान पर राजस्थानी, अवधी, बंगाली, पंजाबी आदि का भी प्रयोग मिलता है। मनोरंजन एवं अभिनेयता की दृष्टि से भी उनके एकांकी पूर्णतः सफल हैं। उनके एकांकियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) **सामाजिक व्यंग्य**—पापी (१९३७), लक्ष्मी का स्वागत (१९३८), मोहब्बत (१९३८), क्रासवर्ड पहेली (१९३९); अधिकार का रक्षक (१९३९), आपस का समझौता (१९३९), स्वर्ग की झलक (१९३९), विवाह के दिन (१९३९), जोंक (१९३९), आदि। (२)

सांकेतिक प्रतीकात्मक एकांकी—चरवाहे (१९४२), चिलम (१९४२), खिड़की (१९४२), चुम्बक (१९४२), मैमूना (१९४२), देवताओं की छाया में (१९४२), चमत्कार (१९४३), सूखी डाली (१९४६), अंधी गली (१९५२) आदि (३) मनोवैज्ञा-निक एकांकी प्रहसन—आदि मार्ग (१९४७). अंजो दीदी, भँवर (१९४४) कैसा साव, कैसी आया, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ (१९५१), वतसिया (१९५२), सयाना मालिक, जीवन-साथी (१९५२) आदि। वस्तुतः 'अश्क' का एकांकी साहित्य परिमाण की दृष्टि से विशाल है, रूप और शैलियों की दृष्टि से विविधतापूर्ण है और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है।

श्री उदय शंकर भट्ट ने 'एक ही कब्र में' (१९३३), 'दस हजार' (१९३८), 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतालिस', 'वर-निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द्र' आदि एकांकियों की रचना सन् १९४० से पूर्व की। इनमें विभिन्न सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। सन् १९४० और १९४२ के मध्य उन्होंने 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली', 'बड़े आदमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'मुंशी अनोखेलाल' आदि एकांकियों की रचना की, जिनमें हास्य और व्यंग्य का भी विकास मिलता है। आगे चलकर उनके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए जिनमें 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'मनु और मानव', 'समस्या का अन्त', 'कुमार-संभव', 'गिरती दीवारें', 'पिशाचों का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्मप्रदान', 'जीवन', 'वापसी', 'मंदिर के द्वार पर', 'दो अतिथि', 'अघटित', 'अंधकार' 'नये मेहमान', 'नया नाटक', 'विस्फोट', 'धूमशिखा', आदि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी की कला का प्रौढ़तम रूप 'बाबूजी', 'यह स्वतन्त्रता का युग', 'मायोपिया', 'अपनी अपनी खाट पर', 'वार्गेन', 'ग्रहदशा' 'पर्दे के पीछे' आदि में मिलता है। बाद के कुछ वर्षों में उन्होंने रेडियो के लिये एकांकी लिखे जैसे—'गांधी का रामराज्य', 'धर्म-परम्परा', 'एकला चलो रे', 'अमर अर्चना', 'मालती माधव', 'वनमहोत्सव','मदन-दहन', आदि।

'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा', आदि में भट्टजी की काव्यात्मक शैली में भावनाओं के घात-प्रतिघात का चित्रण किया है। वस्तुतः भट्टजी के एकांकियों का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है; उसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। डॉ० नगेन्द्र ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—'भट्टजी के एकांकियों का संविधान रंगमंचीय है तथा उन्हें सरलता से अभिनीत किया जा सकता है'''तात्पर्य यह है कि भट्टजी के एकांकी जहाँ ज्ञान-बहुल हैं, और मानव जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहु-व्यापी अंग-उपागों का गहन विश्लेषण भी करते हैं, भूत, भविष्यत्, वर्तमान के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि, मानव के विकास में चेतना का अन्तर्दर्शी विवेचन, उनके इस साहित्य का रूप है। मालूम होता है, जैसे भट्टजी के द्वारा गीति, कविता, कथानक की प्रौढ़ता, समय की अन्तरंग दृष्टि, ऐतिहासिक ऊहापोह, जीवन-कल्याण की सभी भावनाओं का उनके नाटकों के प्रकटीकरण हुआ है।' (हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास; पृष्ठ १६३)

श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र पाश्चात्य एकांकियों एवं एकांकीकारों की शैली का हिन्दी में पूर्ण विकास करने की दृष्टि से बहुत विख्यात हैं। उनका प्रथम एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना', सन् १६३६ में प्रकाशित हुआ था जिस पर बर्नार्ड शा के 'कैन्डिडा' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् 'पतिता, (१६३४), 'एक साम्यहीन साम्यवादी' (१६३४), 'प्रतिभा का विवाह' (१६३६), 'रहस्य रोमांच : लाटरी' (१६३५), 'मृत्यु' (१६३६), आदि प्रकाशित हुए जो पाश्चात्य प्रभाव से युक्त हैं। उनकी प्रौढ़ रचनाओं में 'सवा आठ बजे', 'आदमखोर' (१६३८), 'इंसपेक्टर-जनरल' (१६४०), 'रोशनी और आग' (१६४१), 'फोटोग्राफर के सामने (१६४५), तांबे के कीड़े' (१६४६), 'इतिहास की कैंचुल' (१६४८), 'आजादी की नींद' (१६४८), 'सींकों की गाड़ी' (१६५०) आदि उल्लेखनीय हैं। आपने ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर 'सिकन्दर' (१६५०), 'अकबर' (१६५०) और 'चंगेज खाँ' की भी रचना की है।

आपने सामाजिक रूढ़ियों, विवाह-वैषम्य, विभिन्न मनोवृत्तियों एवं मानसिक प्रवृत्तियों के चित्रण को ही अपनी कला का लक्ष्य बनाया है। उनके एकांकियों का मूल केन्द्र काम-चेतन तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का भावात्मक चित्रण है। 'हिन्दू समाज के कठोर नियंत्रण, रूढ़ियों एवं पाखण्ड में आधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक-युवतियों की वासना अनियंत्रित रूप से भड़ककर विकृत हो चुकी है, जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ रही है, वैसे-वैसे शिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मध्यवर्ग की सेक्स भावना ग्रन्थियां जटिलतर होती जा रही हैं। इस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं से परिपूर्ण समस्याओं में भुवनेश्वर ऐसे उलझ गए हैं कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि ये एकांकी भारत के लिए हैं या पश्चिमी प्रदेशों के विकसित समाज के लिए। उन्मुक्त प्रेम, वैवाहिक वैषम्य, बाहर से सुसंस्कृत किन्तु अन्दर से अनेक जटिलताओं के पुलिंद पात्र प्रारम्भिक एकांकियों को कुछ कृत्रिम और अस्वाभाविक बनाते हैं।' फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकांकी के विविध तत्त्वों के विकास, उसकी शिल्प-विधि के प्रयोग एवं शैली की कलात्मकता की दृष्टि से उनके एकांकियों का बहुत महत्त्व है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सामयिक आदि सभी विषयों पर कलम उठाई है। उनके नाटकों एवं एकांकियों की संख्या सौ से भी ऊपर है। आपके कुछ एकांकी ये हैं—(१) ऐतिहासिक—बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन ? नानक की नमाज, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, परमहंस का पत्नीप्रेम आदि (२) सामाजिक समस्या प्रधान—स्पर्धा, मानवमन, मैत्री, हंगर-स्ट्राइक, ईद और होली, जाति-उत्थान, वह मरा क्यों ? आदि (३) राजनैतिक—सच्चा कांग्रेसी कौन ? (४) पौराणिक—कृषि-यज्ञ आदि। सेठजी का दृष्टिकोण आदर्शवादी एवं सुधारवादी है, अतः उनमें समस्याओं का चित्रण प्रचारात्मक ढंग से होता है। कला की सूक्ष्मता के स्थान पर उनमें विचारों की प्रौढ़ता अधिक

है। कहीं-कहीं मनोरंजन की मात्रा उनमें न्यूनातिन्यून रह जाती है। उनकी शैली सरल एवं रोचक है।

श्री जगदीशचन्द्र मायुर का प्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर आपके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए—भोर का तारा (१९३७), कलिंग-विजय, (१९३७), रीढ़ की हड्डी (१९३९), मकड़ी का जाला (१९४१), खंडहर (१९५३), खिड़की की राह (१९४९), घोंसले (१९५०), कबूतर-खाना (१९५१), भाषण (१९५२), ओ मेरे सपने (१९५३), शारदीय (१९५५), बंदी (१९५५) आदि। माथुरजी के प्राय: सभी एकांकी रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल हैं। आपने यथार्थवादी शैली में विभिन्न समस्याओं का न केवल चित्रण किया है, अपितु उनका मौलिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। हास्य और व्यंग का पुट उनके एकांकियों में मिलता है। वस्तुत: उनकी रचनाओं में विचार, अनुभूति, प्रचार और कला तथा ज्ञान और मनोरंजन दोनों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी अंग्रेजी-एकांकी साहित्य की शान-गरिमा को लेकर हिन्दी में अवतीर्ण हुए। भुवनेश्वरप्रसादजी पाश्चात्य प्रभाव को भली प्रकार पचा नहीं पाए थे, किन्तु द्विवेदीजी ऐसा कर पाये हैं। आपके प्रमुख एकांकी ये हैं—सोहाग-बिन्दी, वह फिर आयी थी, पर्दे का अपर पार्श्व, शर्माजी, दूसरा उपाय ही क्या है, सर्वस्व-समर्पण, कामरेड गोष्ठी, परीक्षा, रपट, रिहर्सल, धरती माता आदि। आपने प्राय: सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। यौन-आकर्षण, प्रेम-वैषम्य, अनमेल-विवाह आदि से उत्पन्न होनेवाली मानसिक जटिलताओं का सूक्ष्म विश्लेषण इनके साहित्य में मिलता है। एकांकी के शिल्प और कला का विकास भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी एकांकी का विकास बड़ी द्रुत गति से हुआ है। डॉ० जयनाथ 'नलिन', प्रभाकर माचवे, भगवतीचरण वर्मा, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, सत्येन्द्र शरत, रेवतीशरण शर्मा, विमला लूथरा; चिरंजीत; देवराज दिनेश, राजीव सक्सेना प्रभृति ने शताधिक सफल एकांकियों की रचना की है। इनके कथानक में विविधता का पर्याप्त समावेश दृष्टिगत होता है। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक, धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक सभी विषयों पर एकांकी लिखे गए हैं। समकालीन समस्याओं पर भी लेखकों ने एकांकियों द्वारा प्रकाश डाला है। टैकनीक की दृष्टि से भी वे रंगमंच के और अधिक निकट आ रहे हैं। अब प्रारम्भिक पूर्वकथा नहीं दी जाती, पात्र स्वयं अपना परिचय देते हैं, रंगमंच की सूचनाएँ पर्याप्त होती हैं, संगीत का बहुत कम प्रयोग होता है। हर प्रकार की अस्वाभाविकता से बचने और भाषा, संवाद आदि सभी क्षेत्रों में स्वाभाविकता की रक्षा के प्रयत्न में आज एकांकी विविधता, कलात्मकता और प्रौढ़ता सभी दृष्टियों से उन्नति कर रहा है।

रेडियो नाटक को हम एकांकी का रूप मानते हैं। यद्यपि टेकनीक मंचीय एकांकी से भिन्न होती है। रेडियो एकांकी के चार भेद किये जा सकते हैं—१. आदर्शवादी जिससे वर्तमान सामाजिक विषमताओं से मुक्ति और नई ग्रामीण अर्थव्यवस्था के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। २. समाजवादी यथार्थवाद—जिसमें व्यक्ति और समाज की समस्याओं का यथार्थ चित्रण होता है। ३. मनोविश्लेषणात्मक—जिसमें अवचेतन मन की उलझी संवेदनाओं और कुंठाओं के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। ४. ऐतिहासिक—जिसमें अतीत की ऐतिहासिक, पौराणिक या धार्मिक परिस्थिति एवं वातावरण से सम्बन्धित कथा-वस्तु को लिया जाता है। रेडियो प्रहसन और झलकियाँ जहाँ एक ओर हमारा मनोरंजन करती हैं वहाँ वे समाज के गले-सड़े अंगों पर व्यंग कर उनके प्रति हमारा आक्रोश और विक्षोभ भी जागृत करती हैं। सारांश यह है कि नवीन एकांकी केवल मनोरंजन की वस्तु ही नहीं हैं, वे गम्भीर सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का समाधान तथा नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। हिंदी एकांकियों ने अनेक, अछूते विषयों, नई समस्याओं तथा नवीन दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का एकांकी-साहित्य आज पर्याप्त उन्नत दशा में है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त व्यापक, विचारों की दृष्टि से गंभीर एवं शैली की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या प्रस्तुत हुई है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक जीवन के प्रायः सभी पक्षों एवं उसकी समस्याओं का अंकन भी इनमें हुआ है। एकांकी के प्रायः सभी प्रचलित भेदोपभेदों, यथा—ध्वनि रूपक, संगीत रूपक, रेडियो प्रहसन या झलकी, मोनोलॉग या स्वगत नाट्य, आदि का भी विकास इसमें दृष्टिगोचर होता है। अतः हिन्दी-एकांकी साहित्य की प्रगति को संतोषजनक कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि विद्वान् पाठकों एवं समीक्षकों द्वारा एकांकीकारों को अपेक्षित प्रोत्साहन प्रायः नहीं दिया गया है। आज जितनी चर्चा कहानी एवं कविता की होती है, उतनी एकांकियों की नहीं होती, जबकि अपनी उपलब्धियों की दृष्टि से यह इनकी अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं है। आशा है, आलोचकगण इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व पर ध्यान देंगे।

:: चालीस ::

हिंदी आलोचना : स्वरूप और विकास

'आलोचना' शब्द 'लोच्' धातु से बना है, 'लोच्' का अर्थ है—देखना। अतः आलोचना का अर्थ है 'देखना'। किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचना करना और उनके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए डॉ० गुलाबरायजी लिखते हैं कि—"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।"

विभिन्न दृष्टिकोणों, प्रयोजनों एवं पद्धतियों की दृष्टि से आलोचना के मूलतः दो भेद किए जा सकते हैं—(२) साहित्यिक समीक्षा एवं (२) वैज्ञानिक समीक्षा। साहित्यिक समीक्षा में समीक्षक का लक्ष्य व्यक्तिगत (Subjective) दृष्टि से कृति के सम्बन्ध में निजी अनुभूतियों, धारणाओं एवं मूल्यों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत करने का होता है, जबकि वैज्ञानिक समीक्षा में वस्तुगत (Objective) दृष्टि से कृति का प्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णय देने का होता है। वैज्ञानिक समीक्षा में शैली या पद्धति भी भावात्मक न होकर विचारात्मक होती है। वस्तुतः साहित्यिक समीक्षा जहाँ कला या साहित्य की कोटि में आती है, वहाँ वैज्ञानिक समीक्षा विज्ञान या अनुसंधान की श्रेणी में रखी जा सकती है। इनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद होते हैं—ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। ऐतिहासिक में जहाँ इतिहास के उद्‌भव एवं विकास की व्याख्या की जाती है, वहाँ सैद्धान्तिक में सिद्धान्तों एवं मूल्यों की स्थापना की जाती है। व्यावहारिक समीक्षा में पूर्व निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर कृति का विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। समीक्षक के द्वारा प्रयुक्त दृष्टिकोण के आधार पर इन सबके तीन-तीन उपभेद और किए जा सकते हैं—(१) शास्त्रीय (२) मनोविश्लेषणात्मक (३) समाजवादी। इसमें क्रमशः परम्परागत साहित्य-शास्त्र, आधुनिक मनोविज्ञान

एवं मनोविश्लेषण, समाजवादी या प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। इसी प्रकार समीक्षा के दो निम्नस्तरीय भेद और भी हैं—(१) भावाभिव्यंजक (२) पत्रकारक (पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाले रोचक परिचय)। वस्तुतः ये दोनों भेद शुद्ध समीक्षा के अन्तर्गत नहीं आते, अतः इन्हें समीक्षाभास ही मानना चाहिए। इस प्रकार समीक्षा के अनेक भेद प्रचलित हैं।

भारतीय साहित्य में आलोचना का विकास

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ जिसे 'काव्य-शास्त्र' या 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से पुकारा जाता रहा है। उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीनतम रचना भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' है जिसमें साहित्य के मानदण्ड के रूप में 'रस-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की गई। साहित्य का मूल तत्व भाव है; रस-सिद्धान्त भी भाव और भावनाओं के उद्वेलन की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करता हुआ साहित्य की विषय-वस्तु का वर्गीकरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य में भाव तत्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान करके रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने एक उचित दिशा में काव्य-शास्त्र को आगे बढ़ाया। भरत के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने रस-सिद्धान्त के विभिन्न अस्पष्ट स्थलों की विस्तृत व्याख्या की, विशेषतः रस-निष्पत्ति की समस्या को लेकर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनय गुप्त, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अपने-अपने स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर भामह, उद्भट, दण्डी आदि आचार्यों ने रस के स्थान पर काव्य की आत्मा के रूप में 'अलंकार' की प्रतिष्ठा की। अलंकार के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ बहुत व्यापक थीं, वे उसे 'सौन्दर्य' के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण करते थे। परवर्ती युग में वामन के द्वारा 'रीति-सम्प्रदाय' की कुन्तक के द्वारा 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' की तथा आनन्द-वर्द्धनाचार्य द्वारा 'ध्वनि सम्प्रदाय' की प्रतिष्ठा हुई, जिन्होंने क्रमशः रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को महत्त्वपूर्ण मानते हुए 'औचित्य सम्प्रदाय' की स्थापना की। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि व्याख्याताओं ने क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी का विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति-साहित्य में आलोचना का पर्याप्त विकास हुआ, किन्तु यह आलोचना सिद्धान्त-स्थापना तक ही सीमित है, उसका व्यवहार रूप उपलब्ध नहीं होता। जितना श्रम नए-नए सिद्धान्तों की स्थापना के लिए किया गया, उतना संभवतः उनके प्रयोग में नहीं किया गया। आधुनिक युग की भाँति हमें कहीं भी किसी पूरे ग्रन्थ या किसी कवि की आलोचना स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में नहीं मिलती। बात यह है कि हमारे यहाँ आलोचना की निर्णयात्मक पद्धति

का प्रचलन रहा, विभिन्न विद्यालयों गोष्ठियों एवं राजदरबारों में केवल मौखिक रूप से इस बात की चर्चा होती रही थी कि अमुक रचना में यह दोष है, अमुक में यह गुण है, उनका लिखित विवेचन नही होता था। हाँ, कुछ काव्य-शास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों के 'काव्यदोष' प्रकरण में अवश्य पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्यकारों की खबर अप्रत्यक्ष रूप में ली है। आलोचना के कुछ अन्य रूपों, जैसे टीकाओं, व्याख्याओं आदि के लिखने का अवश्य संस्कृत में प्रचार रहा।

हिन्दी में समीक्षा का विकास

संस्कृत की काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्रारम्भिक सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ सिद्धांत-विवेचन के उद्देश्य से न लिखे जाकर भक्ति या शृङ्गार अथवा काव्य-रचना की प्रेरणा से रचित हुए। सूरदास की 'साहित्य-लहरी,' एवं नन्ददास की 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद का प्रतिपादन संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ है, किन्तु उनका लक्ष्य नायिका-भेद को समझाना न होकर अपने आराध्य कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में योग देना है। अकबर के कुछ दरबारी कवियों—करणेश, रहीम, गोपा, भूपति आदि द्वाने भी काव्य-विवेचन की अपेक्षा रसिकता का पोषण अधिक किया था। सत्रहवी शताब्दी के मध्य में केशवदास ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की रचना की जिसका उद्देश्य काव्य शास्त्र के सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का परिचय कराना था, इनकी रचना ही प्रवीण राय को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के निमित्त हुई थी। अतः केशवदास के विवेचन में भले ही प्रौढ़ता न मिलती हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा उन्होंने विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा से किया था। केशवदास की परम्परा का विकास परवर्ती युग के कवियों न किया, जिन्हें हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता अनेक कवियों ने काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का प्रतिपादन किया, जिनमें आचार्यत्व की झलक मिलती है। (२) रस और नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थों के रचयिता—इस वर्ग के कवियों का लक्ष्य आचार्यत्व कम था, मनोरंजन के निमित्त काव्यशास्त्र की आड़ में कामुकता और रसिकता को प्रवाहित करना अधिक था। (३) अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—कुछ कवियों ने केवल अलंकारों का प्रतिपादन किया है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों के अलंकार-ज्ञान के निमित्त काव्यमय शैली में 'पाठ्य-पुस्तकों' का निर्माण करना था। उस युग में मुद्रण यंत्र का अभाव था, अतः किसी एक ही पुस्तक का सर्वत्र प्रचार नहीं हो पाता था, विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों की रचना होती थी। (४) कवियों ने केवल नख-शिख एवं षड्ऋतु-वर्णन को लेकर काव्य ग्रन्थों की रचना की। इनमें भी विशुद्ध रसिकता का उद्रेक मिलता है।

इस प्रकार मध्यकाल में काव्य-शास्त्रीय एवं अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों में ही समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु इनका महत्व अधिक नहीं है।

एक तो इनका आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है, जिनका ब्रज-भाषा-पद्य में अनुवाद कर देना ही इनका लक्ष्य रहा है। इनमें मौलिकता नहीं मिलती। दूसरे, इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गम्भीरता या स्पष्टता का अभाव है और तीसरे, इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

वस्तुतः मध्यकालीन ग्रन्थों का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा हमारा साहित्य-शास्त्र संस्कृत काव्य-शास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित रह सका—संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा अशुद्ध, अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रचलित रह सकी। हाँ, इनकी एक देन और भी है—इन ग्रन्थों में विभिन्न अंगों के सरस उदाहरण भी भारी संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से ये संस्कृत काव्य-शास्त्र से भी आगे बढ़ जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समीक्षा का विकास

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक विराट् साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के सभी उपेक्षित अंगों का विकास किया था, अतः आलोचना-साहित्य भी उनके युग-परिवर्तनकारी करों के स्पर्श से वंचित कैसे रह सकता था। यदि संस्कृत के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' लिखा, तो आधुनिक हिन्दी के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' की रचना की। यह दुर्भाग्य की बात है कि डा० श्यामसुन्दरदासजी की यह धारणा बन गई थी कि 'नाटक' स्वयं भारतेन्दु द्वारा रचित नहीं है, जिसके कारण यह ग्रन्थ अभी तक उपेक्षित-सो रहा। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि ग्रन्थ की भाषा भारतेन्दु के अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती, किन्तु उनका यह तर्क समीचीन नहीं। विषय के अनुरूप लेखक की शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना का है, अतः नाटक की भाषा-शैली से इसमें अन्तर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की 'भूमिका' और 'समर्पण' में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट रूप में लिखा है—'आशा है सज्जन-गण मात्र गुणग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे।' इस ग्रन्थ को भारतेन्दुजी ने अपने इष्टदेव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है—'नाथ ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्य जीवन का अंतिम अंक हो चुकता···नहीं तो यह ग्रन्थ प्रकाश भी न होने पाता···जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना आवश्यक है। अतएव अपनाए हुए की वस्तु समझकर अंगीकार कीजिए !' सब कुछ होने पर भी डा० श्यामसुन्दरदास ने किसी अन्य का रचित घोषित क्यों किया, यह समझ में नहीं आता। एक बात अवश्य है कि स्वयं डा० श्यामसुन्दरदास ने भी नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'रूपक-रहस्य' लिखा था। हो सकता है 'रूपक-रहस्य' के महत्व को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह रहस्य खड़ा किया हो।

भारतेन्दु के 'नाटक' का प्रकाशन सन् १८८३ ई० हुआ था। यह ग्रन्थ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य

समीक्षा साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किये गये हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ओर वे नाटक के भेदों का विवेचन करते हुए अपने युग के सभी नाटकों-कठपुतलियों के खेलों, बाजीगरों के तमाशों, पारसियों के नाटकों आदि पर दृष्टिपात करते हैं, दूसरी ओर वे अपने युग का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—'नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्ति-संगत बोध नहीं होता।' नाटक की अर्थ-प्रकृतियों, संधियों आदि रूढ़ियों के सम्बन्ध में वे घोषणा करते हैं 'संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटकों में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है। इस प्रकार की उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि भारतेन्दुजी में केवल अनुवाद करने की ही क्षमता नहीं थी, वे प्राचीन नाट्य-शास्त्र को नया रूप देने में भी पूर्णतः समर्थ थे, भले ही 'रूपक-रहस्य' के लेखक महोदय को यह मौलिकता अरुचिकर प्रतीत हो।

इस ग्रन्थ में सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन के अनन्तर संस्कृत, हिन्दी और यूरोप के नाटक-साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा अपने समकालीन नाटकों की यत्र-तत्र समीक्षा की गई है। उनकी समीक्षा के व्यावहारिक रूप में कहीं-कहीं तीखी व्यंग्यात्मकता के भी दर्शन होते हैं। जैसे वे पारसी नाटकों की आलोचना करते हुए लिखते हैं—'काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रख-कर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाये अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।

भारतेन्दु की 'नाटक' रचना के साथ-साथ ही चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'बंग-विजेता' पुस्तकों की समालोचना विस्तृत रूप में की तथा दूसरी ओर बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना की। भारतेन्दु के द्वारा प्रवर्तित समालोचना के कार्य को आगे बढ़ाने का श्रेय इन्हीं दोनों लेखकों को हैं। 'संयोगिता-स्वयंवर' लाला श्रीनिवासदासजी द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटक था। अतः कहना चाहिए कि सैद्धान्तिक समीक्षा की भाँति व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी प्राथमिकता नाटक को ही मिली। भट्टजी एवं प्रेमघनजी की आलो-चनाओं में समीक्षा का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं उनमें तीक्ष्ण

व्यंग्यात्मकता भी आ गई है—"नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए।" भट्टजी की शैली में भावात्मकता, आत्मानुभूति एवं लेखक को सीधा सम्बोधित करने की प्रवृत्ति भी मिलती है—"लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे ? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया !...कृपा करके विचारी निरपराधिनी कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजियेगा··· लालाजी ! कभी आपने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।...अहा, तनिक और ज्यादा धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता !" प्रेमघन जी की शैली में भट्ट की-सी सरसता एवं व्यंग्यात्मकता तो नहीं मिलती, किन्तु गम्भीरता उनमें अधिक है।

भारतेन्दु-युग में उपर्युक्त लेखकों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी में व्यावहारिक समीक्षा का विकास होने लगा। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' के संपादक के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में अवतरण हुआ। किन्तु उनके आगमन से पूर्व दो-तीन आलोचनात्मक छोटी पुस्तिकाएँ और भी प्रकाशित हो चुकी थीं—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' (१८९६), अंबिकादत्त व्यास की 'गद्य-काव्य मीमांसा' आदि। द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध-चरित-चर्चा', 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' आदि ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राचीन एवं नवीन कवियों के गुण-दोषों का विवेचन व्यंग्यात्मक शैली में किया। वस्तुतः वे मूलतः एक शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे। उन्होंने अपनी समीक्षाओं के द्वारा हिन्दी-काव्य को शृङ्गारिकता के बल दल से निकालकर उसे देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित कर दिया। ब्रज-भाषा के स्थान पर शुद्ध खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी उन्हें ही है। द्विवेदीजी की शैली में सरलता, सरसता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है।

द्विवेदीजी के अनन्तर हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं (गणेशविहारी मिश्र श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र) का प्रवेश हुआ, जिन्होंने 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु-विनोद' आदि की रचना की। 'हिन्दी-नवरत्न' में कवियों का श्रेणी विभाग करते हुए देव को विहारी से बड़ा सिद्ध किया। उन्होंने विहारी की कविता में अनेक दोष ढूंढ़ निकाले। विहारी पर किये गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'विहारी सतसई की भूमिका' लिखी, जिसमें चमत्कारपूर्ण ढंग से विहारी की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार देव और विहारी को लेकर एक विवाद चल पड़ा। पंडित कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' में दोनों कवियों की कविताओं की तुलना संयत तथा मार्मिक शैली में की।

किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने बिहारी पर गहरे आक्षेप भी किए। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखी, जिसमें पुनः बिहारी को बड़ा सिद्ध किया गया।

इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का प्रचार हो रहा था, जिसके सामने न कोई विशेष आदर्श था और न ही कोई विशेष सिद्धान्त। अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने-अपने ढंग से जिसे चाहें बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा था। किन्तु आचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मान-दण्ड एवं समीक्षा की एक विकसित पद्धति लेकर अवतरित हुए। उन्होंने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्यागकर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति --भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति को साहित्य की कसौटी के रूप में अपनाया। उन्होंने शताब्दियों को प्रचीन रस-सिद्धान्य को नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने काव्य में सौन्दर्य या रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे तत्वों का समन्वय किया, जिससे उनकी आलोचना सामाजिकता से दूर नहीं जा सकी। वे समाज-हितैपिता को साहित्य का साध्य तो नहीं मानते, किन्तु ऐसे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है। वस्तुतः उन्होंने 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' दोनों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित ग्रन्थों में 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'चिंतामणि' आदि उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल जी के आदर्श कवि तुलसीदासजी हैं। उन्होंने जितना अधिक महत्व इन्हें दिया तथा जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इनके काव्य का किया, उतना वे किसी अन्य कवि व उसकी रचनाओं का नहीं कर सके। शुक्ल जी की शैली में सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रौढ़ रचनाओं के द्वारा हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में युग-परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

शुक्ल के ही समकालीन आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन करके उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रथम प्रौढ़ ग्रन्थ 'साहित्यालोचक' बाबू श्यामसुन्दरदास जी के द्वारा प्रस्तुत हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु फिर भी इसका स्थायी महत्व है। बख्शी जी ने 'विश्व-साहित्य' की रचना की, जिसमें विश्व साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल-परवर्ती युग में हिन्दी-समीक्षा का विकास द्रुत गति से हुआ। इस युग के समीक्षात्मक विकास को विभिन्न वर्गों में विभाजित करते हुए इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है—

(क) ऐतिहासिक समीक्षा—इस वर्ग में मुख्यतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० भगीरथप्रसाद मिश्र प्रभृति आते हैं। आचार्य द्विवेदी ने

अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' आदि ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नूतन आलोक प्रसारित करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएँ स्थापित कीं। विशेषतः संत-साहित्य एवं वैष्णव भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक नये तथ्यों का उद्‌घाटन किया। उनके अन्य समीक्षात्मक ग्रन्थ - 'सूरसाहित्य', 'कबीर' आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं जो कि व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्तिकाल का विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया है तथा अनेक कवियों का मूल्यांकन साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। डा० भगीरथप्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' के द्वारा हिन्दी के इतिहास को स्पष्ट किया है। इनके अतिरिक्त डा० श्री कृष्णलाल एवं डा० केसरी नारायण शुक्ल, ने भी आधुनिक काल का स्पष्टीकरण किया है।

(ख) **सैद्धान्तिक समीक्षा**—इस वर्ग में मुख्यतः डा० गुलावराय, डा० नगेन्द्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रभृति आते हैं। डा० गुलावराय ने 'सिद्धांत और अध्याय', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि ग्रन्थों में भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों के द्वारा साहित्य-सिद्धांतों का विवेचन किया है। डा०नगेन्द्र इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के वास्तविक उत्तराधिकारी सिद्ध होते हैं, उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', 'रस-सिद्धान्त', 'काव्य-बिम्ब', 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' जैसे ग्रन्थों के द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को निकट लाने का प्रयास करते हुए हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त आधार प्रदान किया है। उन्होंने एक ओर तो संस्कृत की आचार्य परम्परा को तथा दूसरी ओर ग्रीक-चिन्तन-परम्परा को हिन्दी की धरती पर अवतरित करने में भागीरथ प्रयास किया है, जिस पर हिन्दी समीक्षा गर्व कर सकती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' में तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय साहित्य', 'रस-विमर्श', आदि में भारतीय सिद्धांतों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में डा० रामलाल सिंह का 'समीक्षा-दर्शन', डा० सत्यदेव चौधरी का 'रीति-कालीन आचार्य', डा० कृष्णदेव झारी का 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत' भी उल्लेखनीय हैं। इसके द्वारा भारतीय सिद्धांन्तों का पुनर्विवेचन नूतन दृष्टि से हुआ है।

(ग) **व्यावहारिक समीक्षा** - इस वर्ग में शुक्लोत्तर समीक्षाओं में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शती', 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न', 'जयशंकर' 'प्रसाद', 'सूरदास' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। वस्तुतः छायावादी रचनाओं का सर्वप्रथम सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य वाजपेयी को है। उपन्यासकार प्रेमचन्द की सीमाओं की ओर भी सर्वप्रथम संकेत करने का साहस आपने ही किया। स्वातंत्र्यो-

नए युग में प्रयोगवादियों के साथ संघर्ष करते हुए उन्हें नयी कविता की ओर अग्रसर करने का श्रेय भी उन्हें दिया जा सकता है। वस्तुतः वे अपने युग के सजग समीक्षक थे।

शुक्ल परम्परा के अन्य समीक्षकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० विनय मोहन शर्मा, डा० सत्येन्द्र, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', डा० त्रिगुणायत का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी प्रौढ़ समीक्षात्मक कृतियों द्वारा अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डा० शम्भूनाथ सिंह, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने भी इस क्षेत्र में योग दिया है।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करने वाले आलोचकों में डा० देवराज उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने अपने 'हिन्दी काव्य-साहित्य और मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कथा-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों की आलोचना प्रस्तुत की है, जिनमें डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, डा० शिवदान सिंह चौहान का नाम उल्लेखनीय है।

(घ) वैज्ञानिक समीक्षा—हिन्दी समीक्षा की विगत दशाब्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना है। इसमें समीक्षक भारतीय एवं पाश्चात्य प्राचीन एवं नवीन मानदंडों को संशोधित एवं समन्वित करता हुआ, तटस्थ व संतुलित दृष्टि से विषय-वस्तु का विवेचन-विश्लेषण व मूल्यांकन करता है। साहित्य के विभिन्न तत्वों, उसकी प्रक्रियाओं व समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिए इसमें सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण की भी सहायता ली जाती है। वस्तुतः इसमें साहित्य-सिद्धान्तों को व विभिन्न रचनाओं से सम्बन्धित निष्कर्षों को सार्वदेशिक या यूनिवर्सल रूप देने की चेष्टा की जाती है, इसलिए उसमें शैली की भावुकता एवं काल्पनिकता या रंगीनी की अपेक्षा निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर अधिक बल दिया जाता है।

वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के उन्नायकों में डा० माताप्रसाद गुप्त का नाम सर्वोपरि है जिन्होंने एक ओर तो अपने 'तुलसीदास' में तुलसी-साहित्य का संतुलित विवेचन प्रस्तुत करके तथा दूसरी ओर 'बीसलदेव रासो', 'पद्मावत', 'चाँदायन', 'मृगावती', 'कबीर-ग्रन्थावली' आदि का पाठ-शोधन करके वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया। तदनन्तर डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के द्वारा वैज्ञानिक शोध-पद्धति को अग्रसर किया। इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक शोधकर्त्ताओं ने विभिन्न साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विश्लेषण व मूल्यांकन में वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया है—इसमें डा० भगीरथ मिश्र, डा० कृष्णलाल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० सावित्री सिन्हा, डा० सरनाम सिंह, डा० सत्येन्द्र, डा० भोलानाथ तिवारी, डा० हीरालाल माहेश्वरी, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति को सम्यक् रूप में प्रतिष्ठित करने का एक विनम्र प्रयास प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के द्वारा भी हुआ है। उसने अपने 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' तथा 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन' में साहित्य-सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप देने की तथा 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में साहित्येतिहास लेखन के विकासवादी सिद्धान्तों की स्थापना की चेष्टा की है। इसी प्रकार 'बिहारी-सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा' व 'महादेवी : नया मूल्यांकन' में विवेच्य वस्तु की तटस्थ एवं संतुलित दृष्टि से विवेचना का प्रयास किया गया है। ये प्रयास कहाँ तक सफल हैं इसका निर्णय तो विद्वान् पाठक ही करेंगे, हमारा लक्ष्य तो यहाँ केवल सूचना देना मात्र है।

आधुनिक साहित्य और नयी कविता के आलोचकों में डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० नामवर सिंह, डा० जगदीश गुप्त, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रभृति के नाम महत्वपूर्ण हैं। डा० मदान ने प्रेमचन्द से लेकर आज तक के कथा-साहित्य का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अनेक नवीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है। डा० नामवर सिंह ने अपनी नवीनतम कृति 'कविता के नये प्रतिमान' में समीक्षा के आधुनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इस प्रकार अन्य आलोचकों ने भी नये साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

इधर हिन्दी में पत्रकारिता के स्तर की एकांगी, व्यक्तिगत, रोचक, किन्तु असंतुलित समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं, जो वस्तु की समीक्षा तो कम करती है, किन्तु चौंकाती अधिक हैं।

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा का विकास विभिन्न क्षेत्रों में नये-नये रूपों में हो रहा है'। 'साहित्य-संदेश', 'आलोचना', 'माध्यम', 'लहर', 'कल्पना', 'नयी-धारा' आदि पत्रिकाओं ने भी इसके विकास में पर्याप्त योग दिया है। वस्तुत हिन्दी-समीक्षा आज प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़ है। फिर भी यह एक कटु सत्य है कि हिन्दी के आलोचक या तो प्राचीन संस्कृत काव्य-शास्त्र के तत्वों का उपयोग करते रहे हैं या पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों, मूल्यों एवं विचारों से प्रभावित रहे हैं। तथाकथित नये समीक्षक प्राय: पाश्चात्य समीक्षा की नूतन प्रवृत्तियों के ही अनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रश्न है—हिन्दी का आलोचक कोई नया दृष्टिकोण, विचार या सिद्धान्त क्यों नहीं दे पाता? उसकी दृष्टि एवं पद्धति दोनों ही उधार ली हुई क्यों हैं? कदाचित् यह हमारी मानसिक गुलामी का परिचायक है। फिर भी नूतन सिद्धान्तों का सर्वथा अभाव भी नहीं है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर 'आकर्षण शक्ति सिद्धान्त' एवं 'साहित्य के विकासवादी सूत्रों' की स्थापना मौलिक रूप में हुई है, जो केवल हिन्दी की अपनी उपलब्धि है, यह दूसरी बात है कि आज भी हम अपनी मौलिक उपलब्धियों की अपेक्षा पश्चिम की अनुकृतियों का अधिक आदर करते हैं। आशा है कि भविष्य में यह स्थिति नहीं रहेगी।

: इकतालीस :

रहस्यवाद और हिन्दी काव्य

'रहस्य' का अर्थ है—छिपी हुई बात, अतः रहस्यवाद का अर्थ हुआ, वह वाद (विचार-धारा) जिसका मूलाधार छिपा हुआ है, अज्ञात है। विश्व का सबसे बड़ा रहस्य वह परम तत्व या परमेश्वर है, जिसने इस विश्व का निर्माण किया, जो इसके पालन-पोषण एवं संहार में प्रवृत्त है तथा जिसे जानने, देखने व प्राप्त करने का प्रयत्न सहस्र-ब्दियों से असंख्य दार्शनिक, साधक, भक्त एवं महात्मा-गण करते आ रहे हैं, किन्तु फिर भी वह अज्ञेय है, अदृश्य है और अगम्य है। रहस्यवाद का सम्बन्ध विश्व की इस रहस्यमयी शक्ति से है। जब मानव-आत्मा उस शक्ति तक पहुँचने का प्रयास करती हुई विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करती है और उन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर देती है तो एक ऐसे भाव-समूह का संचयन हो जाता है, जिसे साहित्यिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' कहते हैं। इस 'रहस्यवाद' को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाओं के प्रकाश की रंग-बिरंगी किरणें विकीर्ण की हैं, जिनसे रहस्यवाद चाहे द्योतित हो पाता हो या नहीं, किन्तु पाठकों की दृष्टि में चकाचौंध अवश्य उत्पन्न हो जाती है। यह दोष विद्वानों का नहीं, स्वयं रहस्यवाद का ही है। और तो और स्वयं रहस्यवादी भी इसे स्पष्ट करने में सफल नहीं हुए है। जिस कबीर ने अपनी वाणी के तीखे एवं नुकीले बाणों से काशी के पण्डितों को वाग्युद्ध में परास्त कर दिया था, वही जब रहस्य की व्याख्या में प्रवृत्त होता है तो एक भोले शिशु की भाँति तुतलाने लगता है, वह 'रहस्य-शक्ति' की—'कहिबे कूँ शोभा नहीं, देख्या ही परमाण' कहकर, 'रहस्य-गाथा' को 'अकथ कहानी प्रेम की' बताकर और रहस्यानुभूति को 'गूंगे का गुड़' मानकर मौन हो जाता है।

आधुनिक युग के रहस्यवादी (या रहस्यवादी कहे जाने वाले) कवियों ने भी या तो रहस्यवाद की व्याख्या करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है और यदि उन्होंने ऐसा करने का प्रयत्न किया भी है, तो उनकी व्याख्या अपने-आपमें एक रहस्यवाद

बन गई है। जहाँ प्रसाद ने 'हे अनन्त रमणीय! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता !" (कामायनी) कहकर अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली, वहाँ महादेवी ने परिभाषा के नाम पर ऐसी कहानी छेड़ दी, जो केवल रहस्यवादियों को ही समझ में आ सकती है—"जब प्रकृति की अनेकरूपता, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोलने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन में और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।" यहाँ रहस्यवाद को 'दूसरा सोपान' बताया गया है, किन्तु हमारी समझ में तो यही नहीं आया कि इस चक्रव्यूह का प्रथम सोपान ही कहाँ से आरम्भ होता है।

कविता, नाटक, आलोचना, इतिहास आदि सभी में गति वाले डा० रामकुमार वर्मा ने भी 'रहस्यवाद' के रहस्योद्घाटन का प्रयास करते हुए लिखा है—"रहस्य-वाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।" वह 'अन्त-र्निहित प्रवृत्ति' क्या है और यह दिव्य और अलौकिक 'शक्ति' से अपना सम्बन्ध क्यों जोड़ना चाहती है—इन प्रश्नों का उत्तर संभवतः इन पंक्तियों में न मिल सकेगा। हमारे और भी कई आलोचकों ने इसके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखा है—"चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'रहस्यवाद' को 'हृदय की दिव्य अनुभूति' बताकर इसे स्पष्ट किया है तो डॉ० त्रिगुणायत ने 'रहस्य अनुभूतियों' से रहस्यवाद की सृष्टि बताकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी रहस्यमयी वाणी का प्रयोग करते हुए लिखा है—"रहस्य-वाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उनमें लक्षित होनेवाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बद्ध रहती है।"

रहस्यवाद की उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी वाद को समझने के लिए 'परि' को छोड़कर केवल 'भाषा' का ही

आश्रय ग्रहण करें तो अधिक अच्छा होगा। किन्तु साधारण भाषा में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में आत्मा और परमात्मा के प्रेम की व्यंजना को 'रहस्यवाद' कहते हैं।

रहस्यवाद के प्रमुख लक्षण

रहस्यवाद के तीन प्रमुख लक्षण ये हैं—(१) अद्वैतवादी विचारधारा की स्वीकृति—अर्थात् रहस्यवादी कवि चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का माननेवाला क्यों न हो, किन्तु मूलतः उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि आत्मा और परमात्मा अद्वैत (एक) है। (२) परम सत्ता से रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति—प्रत्येक अद्वैतवादी दार्शनिक आत्मा और परमात्मा की एकता को स्वीकार तो करता है, किन्तु उसकी भावात्मक अनुभूति भी उसे हो, यह आवश्यक नहीं; जबकि रहस्यवादी के लिए इस ऐक्य सम्बन्ध की रागात्मक अनुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। (३) भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति—हमारे कितने ही साधकों ने अपने जीवन में अद्वैत-सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त की है, किन्तु उन सबको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते। अनुभूतियों का प्रकाशन हँसकर, रोकर, नाचकर या गाकर—विविध प्रकार से किया जा सकता है, किन्तु रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्हीं अनुभूतियों का समावेश किया जाता है जो भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती हैं।

किसी भी साहित्य को 'रहस्यवादी' घोषित करने के लिए उसमें उपर्युक्त तीनों लक्षणों का मिलना आवश्यक है, किन्तु कई बार देखा जाता है कि इनमें से किसी एक के अभाव में भी रहस्यवाद की कल्पना कर ली जाती है। जैसे, कबीर की निम्नांकित पंक्तियों को रहस्यवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जाता है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जल ही समाना, यह तत कथौ ग्यानी॥

यहाँ अद्वैत का सिद्धान्त कोरा प्रतिपादन है—'यह तत्त कथौ ग्यानी' से स्पष्ट है कि यहाँ 'तत्त्व-कथन' या तत्त्व का विवेचन मात्र किया गया है, अनुभूति की तरलता इन पंक्तियों में नहीं है, अतः इसमें अद्वैतवाद ही है, रहस्यवाद नहीं। अद्वैतवाद की ऐसी सोदाहरण व्याख्याएँ गद्य के अनेक दार्शनिकों और भक्तों ने की हैं, किन्तु उन सबको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते हैं।

इसी प्रकार तुलसी, मीरा, सूर आदि भक्त-कवियों में आलौकिक के प्रति प्रेम; काव्यमय व्यंजना—ये दो लक्षण तो मिलते हैं, किन्तु उनमें अद्वैत की मान्यता का अभाव होता है, अतः उन्हें भी रहस्यवादी नहीं कह सकते, कुछ लोग मीरा के मिलन को आत्मा और परमात्मा का मिलन समझकर उसे रहस्यवादी बता देते हैं, किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सभी भक्त कवियों की भाँति मीरा अपने आलौकिक प्रभु से मिलना चाहती हैं, वे उनमें मिलकर अद्वैत हो जाना नहीं चाहतीं। भक्त कवि अपने आराध्य से केवल 'दर्शन' की याचना करता है—'दर्शन' के लिए

'द्रष्टा' और 'दृश्य'—दो की उपस्थिति अनिवार्य है, अतः उनमें अद्वैत भावना के विकास की सम्भावना नहीं रहती।

रहस्यवाद के भेदोपभेद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के कई भेद किए हैं। पाश्चात्य विद्वान् स्पर्जन ने रहस्यवाद के चार भेद बताए हैं—(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद, (२) दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद, (३) धर्म और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद और (४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद। इसी प्रकार रामचन्द्र शुक्ल ने भी दो प्रकार के रहस्यवाद का उल्लेख किया है—(१) साधनात्मक रहस्यवाद और (२) भावात्मक रहस्यवाद। कुछ अन्य आलोचकों ने एक 'साहित्यिक रहस्यवाद' की चर्चा की है। हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी भेद अप्राकृतिक और अनावश्यक हैं। रहस्यवाद में अलौकिक प्रेम और अद्वैत दर्शन की सत्ता अनिवार्य रूप से रहती है, अतः प्रेम संबंधी रहस्यवाद और दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद—दोनों को एक दूसरे से भिन्न बताना उचित नहीं। कोरे धर्म, दर्शन या कोरी उपासना या साधना से भी रहस्यवाद का विकास हो सकता है, अतः धार्मिक, दार्शनिक, उपासनात्मक या साधनात्मक भेद भी भावात्मक रहस्यवाद से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार रागात्मकता या प्रणय में ही भावात्मकता एवं साहित्यिकता का भी समावेश हो जाता है। अस्तु उपर्युक्त भेद, भेद न होकर एक ही रहस्यवाद के विभिन्न अंग हैं, जो समन्वित रूप में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

हाँ, रहस्यवादी कवियों के अवश्य हम दो भेद कर सकते हैं। एक तो वे जो अपने वास्तविक जीवन में पूर्णतः साधक या उपासक होते हैं, जो अपनी साधना के बल पर परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करते हैं और उसे स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। दूसरे वे हैं जो प्रत्यक्ष जीवन में तो सांसारिकता में मग्न होते हैं, किन्तु विश्राम की कुछ घड़ियों में कल्पना या चिंतन के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ कवि अपने लौकिक प्रेम को भी अलौकिकता का आवरण डालकर व्यक्त करते हैं, अतः ये भी दूसरी कोटि में आते हैं। इन दोनों प्रकार के कवियों को क्रमशः यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी कहा जा सकता है। प्राचीन संत कवि—कबीर, दादू आदि यथार्थ रहस्यवादी थे, जबकि प्रसाद, पंत, निराला आदि काल्पनिक रहस्यवादी। सच्चे रहस्यवादी जीवन के अन्त तक रहस्यवादी रहते हैं, किन्तु काल्पनिक रहस्यवादिता का रंग समय के साथ फीका पड़ जाता है।

रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाएँ

कोई भी रहस्यवादी अपने लक्ष्य तक एकाएक नहीं पहुँच जाता। पहले उसे ईश्वर की सत्ता का विश्वास व आभास होता है, तदनन्तर वह उसकी ओर आकर्षित होता है। धीरे-धीरे यह आकर्षण विरह का रूप धारण कर लेता है और अन्त में साधक को अद्वैत स्थिति—मिलन—का अनुभव प्राप्त होता है। इस तथ्य को

ध्यान में रखते हुए रहस्यवाद की मुख्यतः चार अवस्थाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। पहली अवस्था में साधक की परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वह प्रकृति और जगत् के रूप-सौन्दर्य एवं क्रिया-व्यापारों के मूल में छिपी हुई किसी अलौकिक शक्ति को जानने का प्रयत्न करने लगता है। दूसरी अवस्था में आत्म-चिंतन, दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन या गुरु के उपदेश से उसका परम सत्ता तथा उससे आत्मा के अद्वैत सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर वह परमात्मा के प्रति गहरे आकर्षण, प्रेम व विरह का अनुभव करने लगता है, जिसे तीसरी अवस्था कह सकते हैं। चौथी अवस्था में रहस्यवादी परम तत्त्व का साक्षात्कार अपने हृदय में करने लगता है। इस प्रकार से चार अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं, किन्तु ध्यान रहे, अवस्थाओं के इस वर्गीकरण को सर्वथा अपरिवर्तनीय नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति के कारण इनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी हो सकता है और यह भी सम्भव है कि वह एक अवस्था को पार किए विना ही दूसरी अवस्था प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, हम कबीर में प्रथम अवस्था—जिज्ञासा की स्थिति का आभास नहीं पाते; गुरु के उपदेश से उनकी साधना का आरम्भ ही दृढ़ अस्तिकता से होता है।

भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास

यद्यपि रहस्यवाद का पूर्ण रूप बहुत बाद में विकसित हुआ है, किन्तु उसके कुछ तत्त्व हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ—ऋग्वेद में भी उपलब्ध हो जाते हैं। रहस्यवाद की मूल वृत्ति—जिज्ञासा का विकास प्राचीन वैदिक ऋचा में भी उसी प्रकार मिलता है जैसा कि आज के युग में सम्भव है। सृष्टि की लीला से चमत्कृत होकर वह पूछ बैठता है—

"को श्रद्धावेद ! क इह प्रवोचत्; कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ?
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाया, को वेद यत आवभूव !
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अंग वेद व्यदि वा न वेद।

(ऋग्वेद १०।१२६।६-७)

अर्थात्—कौन ठीक-ठीक जानता है ? कौन यह सच-सच बता सकता है कि इस सृष्टि का उद्भव कहाँ हुआ, कैसे हुआ, और कब हुआ ! सृष्टि का निर्माण स्वतः ही हुआ या किसी ने किया ! यह सब कुछ वह अन्तरिक्षवासी ही जानता है या वह भी जानता है या नहीं—किसे पता !

यहाँ हमें प्रारम्भिक जिज्ञासा ही मिलती है, किन्तु आगे चलकर उपनिषद् ग्रन्थों में हमें उस अद्वैत का प्रतिपादन मिलता है, जो रहस्यवाद का मूलाधार है। छांदोग्य उपनिषद् में आत्मा और परमात्मा की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि" (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है !) एक अन्य उपनिषद् में लिखा है—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (वह अन्य है, मैं अन्य हूँ—जो वह जानता है वह कुछ नहीं जानता) वस्तुतः उपनिषदों में

अद्वैत ज्ञान का पूर्ण विकास मिलता है, किन्तु उसकी वह भावमय अनुभूति नहीं मिलती, जिसे रहस्यवाद कह सकते हैं।

परवर्ती धार्मिक साहित्य में क्रमशः बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया। भक्ति-सूत्र और पौराणिक ग्रन्थों में अलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम-भावना का तो विकास हुआ, किन्तु रहस्यवाद का मूलाधार-- अद्वैत विचार ही लुप्त हो गया। भक्ति के लिए एक का महत् और दूसरे का लघु होना आवश्यक है अतः ऐसी स्थिति में उपनिषदों की अद्वैत मूलक चिन्तन धारा का प्रचार शिथिल हो जाना स्वाभाविक था। आठवीं-नवीं शती में शंकराचार्य ने पुनः अद्वैतवाद का उद्धार किया, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि का आविष्कार करके अद्वैतवाद का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अतः शुद्ध भारतीय-परम्परा में पन्द्रहवीं शती तक अद्वैतवाद उस स्थिति तक नहीं पहुँच सका जिससे वह रहस्य का रूप धारण कर पाता। इस सम्बन्ध में प्रायः सिद्धों एवं नाथपंथियों का उल्लेख किया जाता है, किन्तु हमारी दृष्टि में दोनों ही रहस्य से शून्य हैं। सिद्धों की साधना-पद्धति में कुछ रहस्य अवश्य था; नारी या साधिका के स्थूल शरीर को ही वे अपनी साधना का सबसे बड़ा साधन समझते थे; उनमें अद्वैतावस्था भी मिलती है, किन्तु वह पुरुष और नारी की शारीरिक अद्वैतावस्था है, आत्मा और परमात्मा से उसका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता; अतः उसे 'रहस्यवाद' नहीं 'मुक्तिवाद' कहना चाहिए। नाथ-पंथियों में अवश्य आध्यात्मिक एकता का निदर्शन हुआ है, किन्तु उनकी इस एकता का साधन भावना न होकर योग-साधना है। भावात्मक अनुभूति के बिना किसी भी अद्वैत साधना को रहस्यवाद का नाम नहीं दिया जा सकता।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में भारतीय संतों द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्त्तन मुख्यतः दो धार्मिक सम्प्रदायों के योग से हुआ —एक था नाथ-पन्थी सम्प्रदाय और दूसरा वैष्णवभक्ति सम्प्रदाय। संत लोग एक ओर तो नाथ-पंथियों के निर्गुण की उपासना स्वीकार करते थे, किन्तु हठ योग की साधना-पद्धति से बचना चाहते थे, दूसरी ओर वे भक्ति-आन्दोलन की भावात्मकता को ग्रहण करना चाहते थे, पर वे उसके सगुणवाद से दूर रहे। इस प्रकार नाथ-पन्थियों का निर्गुण वैष्णव-भक्ति के भक्तिवाद से मिश्रित होकर रहस्यवाद का आधार बन गया। नामदेव, कबीर, दादू आदि संतों में हमें यह रूप दृष्टिगोचर होता है। हमारे अनेक विद्वानों की मान्यता है कि संतों का रहस्यवाद सूफी मत का प्रभाव है, किन्तु इसका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। नामदेव और कबीर ने नाथ-पन्थ के प्रायः सभी पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण किया है, तथा वैष्णव-भक्ति आन्दोलन के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, किन्तु सूफी मत के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं मिलती। हाँ, कहीं-कहीं सूफी मत का खण्डन करने के लिए उसकी चर्चा अवश्य की है, जिसका कोई महत्व नहीं है। अपनी प्रणय-विह्वल अवस्था में कबीर सर्वत्र हरि, गोविन्द राम आदि का ही उच्चारण करते हैं,

यद्यपि ये उन्हें सगुण अर्थ में ग्रहण नहीं करते। इसके अतिरिक्त सन्तों की प्रणय भावना के स्वरूप में भी सूफियों की भावना से गहरा अन्तर है। सूफी परमात्मा को प्रेयसी के रूप में ग्रहण करते हैं, जबकि सन्त उसे पति के रूप में स्वीकार करते हैं। सूफी मार्गानुयायियों की विरह-व्यंजना में मार काट, हृदय के घाव, रक्त के आंसुओं आदि की चर्चा के कारण वीभत्सता मिलती है, जिसका भारतीय सन्तों में अभाव है। दार्शनिक दृष्टि से भी सूफी मत के मूल में सर्वात्मवाद है, जबकि सन्तों की भावना अद्वैतवाद पर आश्रित है। सन्तों ने सूफियों के शैतान को न लेकर वेदान्त के मायावाद को ग्रहण किया है। अतः जहाँ तक दार्शनिक मान्यताओं, प्रेमपद्धति, रूपकों एवं प्रतीकों का प्रयोग और भाषा एवं शब्दावली के क्षेत्र की बात है, सन्तों का रहस्यवाद सूफी मत से सम्बन्धित नहीं है। बाकी जहाँ तक कोरी कल्पना पर आधारित मान्यताओं की बात है, सूफी मत से प्रभावित होने की तो बात ही क्या, कबीर, दादू आदि को सूफी ही मान लिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवि

वैसे तो हिन्दी साहित्य में विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसी, मीरा, मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि कवियों की कृतियों में किसी-न-किसी परिमाण में रहस्यवादी पंक्तियाँ ढूंढ़ निकाली गई हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि विद्यापति, तुलसी, मीरा, गुप्त को रहस्यवादी कहना अनुचित है। हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादियों में सामान्यतः कबीर, जायसी, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की ही चर्चा की जाती है, अतः हम इन पर ही विचार करेंगे।

हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि होने का गौरव महात्मा कबीर को प्राप्त है। यद्यपि उनकी काव्य-धारा पर 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' का लेबिल लगाकर यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी गई है कि वे ज्ञानमार्गी थे, जबकि वास्तव में वे प्रेम-मार्ग के दृढ़ पथिक थे। प्रेम के समक्ष ज्ञान की हेयता का प्रतिपादन उन्होंने बारम्बार किया है—'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय!' प्रेम को जीवन में वे इतना अधिक महत्व प्रदान करते हैं कि उसकी तुलना में प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं—

सीस काटि पासंग किया जीव सर भरि लीन्ह।
जाहि भावै सो आइलयो, प्रेम हाट हम कीन्ह॥

किन्तु कबीर का यह प्रेम अलौकिक प्रेम था—आत्मा और परमात्मा का अद्वैत-मूलक प्रेम था, जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इस प्रेम के दोनों पक्ष—विरह और मिलन—उनके काव्य में मिलते हैं। पहले विरह की की व्यंजना देखिए—

बिरहनि ऊभी पन्थ सिरि, पन्थी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

× × ×

चोट सतांणी विरह की, सब तन जर-जर होइ ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ ।।
× × ×
आंखड़ियां झांई पड़ी; पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़िया छाला पड़्या; राम पुकारि-पुकारि ।।
× × ×
आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझ बुलाइ ।
जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ-तपाइ ।।

इन पंक्तियों में वियोग-वेदना की तीव्रतम अवस्था का अनुभव झलकता है। कबीर जैसा अक्खड़ साधु भी प्रणय की तीखी चोट मे घायल होकर किसी विरह-विधुरा बाला की भांति दीन, असहाय और व्याकुल हो उठता है। उनकी आत्मा जल-वियुक्त मछली की भांति तड़पने लगती है, किन्तु अन्त में उन मिलन की घड़ियों का भी प्रवेश होता है, जब कि किसी अज्ञात-यौवना मुग्धा की भांति उनकी आत्मा सोचने लगती है—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग ।
क्या जाणों उस पीव सूं कैसा रहसी रंग ।।

और अन्त में उन्हें परम सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है, उनकी आत्मा इस अवसर पर आह्लादित होकर नाच उठती है, झूम उठती है :—

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।
× × ×
बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये । भाग बड़े घर बैठे आये ।
मंगलचार मांही मन राखौं । राम रसाइण रसना चाखौं ।।
× × ×
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां ।
सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ।।

मिलन की इन मधुरतम घड़ियों का आख्यान उन्होंने शत-शत शब्दों में किया है, किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास नहीं होता कि अपने हृदयस्थ उल्लास को व्यक्त करने में सफल हो सके हैं। रहस्यानुभूति के आस्वादन के सम्बन्ध में उन्हें अन्ततः यही स्वीकार करना पड़ता है कि वह बताने की या बता सकने की बात नहीं है। वह तो गूंगे के गुड़ का स्वाद है।

कुछ आलोचकों ने कबीर के रहस्यवादी रूप का मूल्यांकन करते हुए उसे यौगिक शब्दावली, खण्डन-मण्डन, जटिलता, दुरूहता आदि से ग्रसित बताया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर साहित्य में कुछ अंश ऐसे भी हैं, जिनपर ये आक्षेप लागू होते हैं, विशेषतः जहां उन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, वहां ऐसा हो गया है, किन्तु रहस्यानुभूति सम्बन्धी पंक्तियां इन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। विरह-

वेदना से त्रस्त कबीर खण्डन-मण्डन, नाथ-पंथ और योग इन सबको भूल गए हैं, मिलन की वेला में भी उनकी आत्मा केवल उस अलौकिक प्रियतम से ही बातचीत करने में लीन है। इस क्षेत्र में हमें किसी भी प्रकार की अस्पष्टता या जटिलता नहीं मिलती। किसी कवि का मूल्यांकन करते समय उसके अनुभूति-पक्ष को लेना चाहिए, न कि विचार-पक्ष को। वस्तुतः रहस्यवादी के रूप में कबीर की महानता असंदिग्ध है, अतुल्य है।

जायसी के 'पद्मावत' को आलोचकों ने सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित करते हुए रत्नसेन को आत्मा का तथा पद्मावती को परमात्मा का प्रतीक बताया है—किन्तु यह ठीक नहीं। जायसी ने कुंजी स्वयं दी है, उसके अनुसार रत्नसेन 'मन' पद्मावती 'बुद्धि' और नागमती 'दुनिया, धन्धा' है—'तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।...नागमती दुनिया धन्धा।' यह भी आश्चर्य की बात है कि नागमती (जो कि दुनिया-धन्धा है) की उक्तियों में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति ढूँढी गई है। वस्तुतः पद्मावत पर सूफी मत को बलात् आरोपित किया गया है, जिसके फल-स्वरूप इसके रूपक में अनेक असंगतियाँ दृष्टिगोचर होनी स्वाभाविक हैं। जब इन असंगतियों का निराकरण नहीं हो सका, तो अब यह कहा जाने लगा है कि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला अंश ही प्रक्षिप्त है। वास्तव में रूपक में कोई असंगति नहीं, इसकी पूरी व्याख्या हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में कर चुके हैं। हम अपने अनुसंधान से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पद्मावत का सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं है। जायसी ने अपने रूपक में मन (रत्नसेन) का पहले गुरु (तोता) की सहायता से बुद्धि या ज्ञान (पद्मिनी) को उपलब्ध करना, तथा फिर ज्ञान की सहायता से शैतान की माया के जाल (अला-उद्दीन का जाल) को काटकर मोक्ष प्राप्त करने (बन्धनमोक्ष अध्याय) का प्रतिपादन किया है। इस रूपक में प्रेम का कोई उल्लेख नहीं है, यह विशुद्ध ज्ञान-साधना से सम्बन्ध रखता है। अतः हमारी दृष्टि में 'पद्मावतकार' को रहस्यवादी बताना भ्रान्ति मात्र है। नागमती की विरह-व्यंजना में जिस ढंग से रहस्यवाद सिद्ध किया जाता है, उस ढंग से विद्यापति एवं सूर की गोपिकाओं, तथा देव, बिहारी, पद्माकर की नायिकाओं की उक्तियों में भी सिद्ध किया जा सकता है और उस स्थिति में इन सभी कवियों को रहस्यवादी स्वीकार करना होगा। अस्तु, इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

आधुनिक युगीन रहस्यवादी कवियों में श्री जयशंकर प्रसाद सर्वप्रथम उल्लेख-नीय हैं। जैसा कि हमने 'छायावाद' लेख में बताया है—सभी छायावादी कवियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति गौण रूप में मिलती है। इनका रहस्यवाद वास्तविक न होकर काल्पनिक है अर्थात् इन्होंने अपनी लौकिक अनुभूतियों को अलौकिक रूप में व्यक्त किया है, जिस प्रकार कबीर ने अलौकिक प्रणय को लौकिक रूपकों में स्पष्ट किया था। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यह है कि जिन रचनाओं—प्रेम-पथिक, आँसू आदि—में

प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की व्यंजना की थी उन्हें ही दूसरे संस्करण में अलौकिकता से आवृत कर दिया। खैर, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रेम चाहे लौकिक हो या अलौकिक इसमें विशेष अन्तर नहीं है; कला के लिए दोनों का मूल्य समान है, यदि प्रभाव की दृष्टि से दोनों का स्तर समान हो ! अतः देखना यह है कि प्रसाद अपने इस अलौकिक प्रेम को (चाहे वह काल्पनिक ही हो) कितना अनुभूतिगम्य बना सके है, उसमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति कितनी है। कहना न होगा इस दृष्टि से प्रसाद अधिक सफल नहीं हैं। वे लौकिक और अलौकिक के बीच ही इस भाँति उलझे रहे कि वे किसी भी एक को चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचा सके। 'प्रेम-पथिक', 'आँसू', 'झरना' और 'लहर' के गीतों की लौकिकता पर अलौकिकता का झीना आवरण पड़ा रहता है, दूसरी ओर अलौकिकता भी अनुभूतियों के अभाव में भावात्मकता से युक्त नहीं हो पाई। प्रायः वे प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन' करते ही दिखाई पड़ते हैं—

हम हों सुमन की सेज पर या कंटकों की आड़ में।
पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में"

एक सच्चे रहस्यवादी को ऐसी याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अद्वैतवादी के लिए परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है, अतः हृदय की आड़ में छिपे रहने के लिए प्रार्थना करना अनावश्यक है। वह तो सदैव छिपा हुआ है ही—हमारे अनुराग में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि उसे अनुभव कर सकें।

'लहर' में अवश्य कवि एक गीत में शक्ति-भावना से थोड़ा ऊपर उठ पाया

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है, न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र !
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं !
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं !

× × ×

कुछ भी न बो अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।

इन पंक्तियों में 'लौकिक प्रेम' का आभास ही अधिक मिलता है; रहस्यवाद के लिए आवश्यक अद्वैत स्थिति का अनुभव इनमें नहीं है। 'औरों के प्रति प्रेम' की चर्चा करने की रहस्यवादी को क्या आवश्यकता पड़ गई ?

'कामायिनी' में रहस्यवाद, समरसतावाद, श्रद्धावाद, आनन्दवाद, आदि-आदि अनेक वाद एकत्रित हो गए हैं, अतः पर्याप्त स्थान के अभाव में सबको संकुचित होकर बैठना पड़ा है। निम्नांकित पंक्तियों में आत्मा और परमात्मा की एकता देखी जा सकती है—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं !
तुम सब मेरे अवयव हो, जिनमें कुछ नहीं कमी है।

ध्यान रहे, यहाँ आत्माओं को परमात्मा का अवयव ही बताया गया है—यह धारणा अद्वैतवाद की अपेक्षा विशिष्टाद्वैतवाद के अंशांशी-भाव के अधिक निकट पड़ती है। अतः हमारी दृष्टि में प्रसाद के काव्य में आत्मा और परमात्मा की एकता पर आधारित रहस्यवाद कम है, लौकिक और अलौकिक प्रेम के मिश्रण की अस्पष्टता से उद्भूत रहस्यवाद अधिक है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व अद्वैतवादी दर्शन का गहरा मन्थन कर लिया था, अतः उसका प्रतिपादन इन्होंने अनेक स्थानों पर किया है—

'व्यष्टि और समष्टि में नहीं है भेद
भेद आ जाता भ्रम,
माया जिसे कहते हैं!
जिस प्रकाश के बल से
× × ×
सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो;
उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई!,'

यहाँ अद्वैत मत की व्याख्या की गई है, उसकी अनुभूति का यहाँ अभाव है, अतः वह रहस्यवाद की पूर्व अवस्था मात्र ही है। आगे चलकर उनमें रहस्य-भावना का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। "तुम तुंग हिमालय शृंग, मैं चंचल-गति सुरसरिता" कहकर वे अलौकिक के साथ अपना निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। उनके मस्तिष्क की दार्शनिकता, हृदय की वेदना और जीवन की अस्त-व्यस्तता ने मिलकर निराला के रहस्यवादी स्वरों को और भी अधिक तीव्रता प्रदान कर दी। उनके स्वरों की शुष्कता, कठोरता एवं जटिलता के बीच स्पष्ट कोमल मधुरता का उन्मेष हो उठा। नीचे की पंक्तियों में उनका हृदयस्पर्शी उल्लास द्रष्टव्य है—

हमें जाना जग के उस पार जहाँ नयनों से नयन मिलें,
ज्योति के रूप सहस्र खिलें सदा ही बहती नव रस धार!
वहीं जाना इस जग के पार!!

इसमें संदेह नहीं कि यहाँ कवि की रहस्य-पथ पर अग्रसर होने की लालसा भलीभाँति व्यक्त हुई है। उनकी यह लालसा कहाँ तक पूरी हुई है, इसका कोई पता नहीं चलता। सुना है कि आगे चलकर उन्होंने अपना मार्ग बदल लिया, जिससे रहस्यवाद के स्थान पर किसी अन्य वाद में पहुँच गए।

प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त की रहस्यभावना उनके कोमल व्यक्तित्व की देन है। जन-सम्पर्क से दूर रहकर प्रकृति माँ की गोद में मुँह छुपानेवाली भोली बालिका का किसी काल्पनिक लोक की ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो अज्ञात लोक में बैठा हुआ कोई अपरिचित उसे आमन्त्रित कर रहा है।

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में संसार चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार विचरते हैं जब स्वप्न अजान !
न जाने नक्षत्रों से कौन ? निमन्त्रण देता मुझको मौन !!

कवि उस अज्ञात-लोक की तैयारी करने लगा, किन्तु 'पल्लव' की प्रकृति ने उसे जाने को आज्ञा नहीं दी और जब आगे उसे ऐसा करने का मौका मिला तो वह 'गुंजन' के मधुर स्वप्नों में लीन होकर किसी 'भावी पत्नी की प्रतीक्षा' में डूब गया; और जब उसकी चेतना पुनः लौटी तो उसे पता चला कि पिछले युग का—जिसमें कि वह अज्ञात लोक की बातें सोचा करता था – अब अन्त हो चुका है। अतः 'युग-वाणी' में प्रवाहित होता हुआ रहस्य-लोक के स्थान पर गाँव की दुनिया—'ग्राम्या—' में पहुँच गया। पन्त के रहस्यवादी जीवन की यही है छोटी-सी गाथा, जो 'वीणा' और 'गुंजन' में बिखरी पड़ी है।

रहस्यवाद के पथ पर एकांत पथिक की भाँति निरन्तर अग्रसर होनेवाली कवयित्री हिन्दी को महादेवी के रूप में प्राप्त हुई है। यद्यपि उनका अधिकांश जीवन अध्यापन-कार्य में बीतता था, जिससे वे साहित्य-साधना के लिए रात-दिन के चौबीस घंटों में से कुछ ही क्षण निकाल पाती थीं, किन्तु फिर भी वे एक युग से एक ही क्षेत्र में अखंड साधना करती रहीं—यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। महादेवी में नारी हृदय की सहज करुणा, उपनिषदों का अद्वैत-ज्ञान, एकाकी जीवन की अनुभूति और सांसारिक वेदनाओं का अनुभव आदि सभी कुछ है, अतः वे रहस्य-गीतियों की सृष्टि में सफल हो सकी हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का आरम्भ उस दिन से होता है जब—

इन ललचाई पलकों पर जब पहरा था व्रीड़ा का !
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का !!

× × ×

गई वह अधरों की मुस्कान मुझे मधुमय पीड़ा में बोर !
गए तब से कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण !!

अस्तु, यह इतिहास बहुत लम्बा है। इस लम्बी अवधि में उन्होंने कितनी बार दीपक जलाए, कितनी बार उनमें स्नेह उँडेला और फिर कितनी बार उन्हें बुझा देने के लिए विवश हुई हैं, उसे कोई नहीं जानता। बीच-बीच में कई ऐसे अवसर भी आए हैं जबकि उन्हें अनुभव हुआ कि उनका चिर-प्रतीक्षित बहुत समीप आ गया है, उनके दर्शन अब होनेवाले ही हैं; किन्तु दीपक के प्रकाश में वे साक्षात्कार करना पसन्द नहीं करतीं। वैसे देखा जाय तो प्रथम बार भेंट में ऐसा संकोच होना प्रत्येक नारी के लिए स्वाभाविक भी है। अतः वे अपने दीपक को ही नहीं, सभी प्रकाश-पुंज को बुझा देती हैं—

हे नभ की दीपावलियो ! तुम पल भर को बुझ जाना !
मेरे प्रियतम को भाता है, तम के परदे में आना !

स्वयं देवीजी को ही नहीं, उनके प्रियतम को भी अंधेरा पसंद है। आलोचकों ने इस अंधकार-स्नेही प्रियतम को पक्षी-विशेष की उपमा दी है—हमारी दृष्टि में ऐसा करना उचित नहीं है।

महादेवीजी ने विरह का भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें एक विचित्रता मिलती है। जहाँ कबीर विरह की चोट से घायल हो जाते हैं, वहाँ ये उसमें माधुर्य की अनुभूति प्राप्त करती हैं—

विरह का दुःख आज देखा मिलन के मधु पल सरीखा।
दुख सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ न सीखा!!

विरह और मिलन का भेद कवयित्री नहीं कर सकती, यह एक विचित्र बात है। जो कहता है कि मैं रात-दिन में कोई अन्तर नहीं देखता—समझना चाहिए कि कुछ भी नहीं देखता। ठीक उसी प्रकार जिन्हें विरह और मिलन की अनुभूति में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, समझना चाहिए कि उन्हें किसी की भी अनुभूति नहीं। अन्यथा कबीर ने कहा था—"मारणहारा जांणि है, कै जिहि लागी सोइ" ठीक ही है। जिन्हें विरह की चोट लगी ही नही है, वह उसका अन्तर कैसे जान सकते हैं।

वस्तुतः महादेवीजी का रहस्यवाद मंद-मंद गति से आगे बढ़ रहा है; भले ही वे अधिक प्रगति न कर सकी, किन्तु इससे हिन्दी रहस्यवाद का क्षेत्र बिलकुल सूना होने से तो बचा हुआ है। उनके दीप का प्रकाश चाहे मंद ही हो, फिर भी वे अपनी साधना में लीन तो हैं—यह कम महत्व की बात नहीं है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हिन्दी के रहस्यवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं :—

(१) **अद्वैतवादी मान्यता**—यद्यपि रहस्यवाद से सम्बन्ध रखनेवाले कई दार्शनिक सम्प्रदाय हैं—जैसे सूफियों का सर्वात्मवाद, प्लेटो का प्रतिबिम्बवाद, अंग्रेजी के कवियों का प्रकृति-दर्शन आदि—किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी मुख्यतः अद्वैत दर्शन से ही सम्बन्धित हैं।

(२) **दाम्पत्य-प्रेम-पद्धति**—रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेयसी-प्रियतम, सखी-सखा आदि विभिन्न रूपक अपनाए जाते हैं। हिन्दी में कबीर से लेकर महादेवी तक—प्रायः सभी ने अलौकिक प्रभु को पति रूप में स्वीकार करते हुए अपनी आत्मा को पत्नी रूप में प्रस्तुत किया है।

(३) **प्रेम में स्वच्छता एवं पवित्रता**—दाम्पत्य का रूपक अपनाते हुए भी हिन्दी कवियों ने उसमें स्थूल-मिलन के दृश्य या जुगुप्सोत्पादक क्रिया-कलापों, जैसे—रक्त के आँसू बहाना, हृदय के घाव का बहना आदि—का चित्रण नहीं किया। कबीर मिलन की घड़ियों का वर्णन करते हैं, किन्तु वे अश्लीलता एवं नग्नता में प्रवृत्त नहीं होते।

(४) **दैन्य एवं आत्म-समर्पण की भावना**—यद्यपि रहस्यवाद के क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की समानता में विश्वास किया जाता है, अतः भक्तों की भाँति रहस्यवादी साधक में दीनता या लघुता का भाव उदित होना स्वाभाविक नहीं; किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में यह प्रवृत्ति मिलती है। कबीर जैसा अक्खड़, शुष्क और कठोर साधक भी प्रभु के सम्मुख दीन-सा बन जाता है—

ना कुछ किया न कर सका, न करणै जोग शरीर ॥
जो कुछ किया सो हरि किया है, ता तें भया कबीर ॥

× × ×

कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हां। सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा ॥

यही नहीं, वे दीनता के प्रवाह में अपने आपको राम का कुत्ता तक कह बैठते हैं—

कबीर कुतिया राम का, मुतियां मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाउं ॥

आधुनिक कवि प्रसाद भी प्रियतम से दैन्य-पूर्ण शब्दों में याचना करते हैं—

करुणा-निधे, यह करुण क्रन्दन भी जरा सुन लीजिए।
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिए ॥

× × ×

हम हैं तुम्हारे, इसलिए फिर भी दया के पात्र हैं ॥

—कानन कुसुम

और रौद्र-रूप-धारी निराला भी प्रियतम के द्वार पर पहुँचकर किसी कोमल-किशोरी बाला के स्वर में बोलते हैं—

"बन्द तुम्हारा द्वार
मेरे सुहाग शृङ्गार,
द्वार यह खोलो
सुनो भी मेरी करुण-पुकार
जरा कुछ बोलो।"

प्रश्न है, हमारे कवियों में इस प्रवृत्ति का विकास क्यों मिलता है? जो लोग हर बात को राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध करने के आदी हैं, वे चट उत्तर दे देंगे—भारत गुलाम था, गुलाम देश के कवियों में दीनता न आयेगी तो और क्या आयेगी। पर वास्तविकता यह नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं; एक तो वैष्णव भक्ति का प्रभाव और दूसरा भारतीय दाम्पत्य-भावना जिसमें पति को पूज्य माना जाता है। तीसरी बात और भी है—प्रेम के विकास से अहं का विगलन हो जाता है, अतः दैन्य का संचार होना स्वाभाविक है।

(५) **प्रतीकात्मकता**—रहस्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए साधारण शब्दावली से काम नहीं चलता, अतः प्रायः सभी कवियों ने किसी-न-किसी मात्रा में प्रतीकों का प्रयोग किया है।

(६) मुक्तक गीति-काव्य—रहस्यवाद में आत्म-निवेदन तथा व्यक्तिवाद अनुभूतियों का प्रकाशन होता है, अतः इसके लिए प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक-गीति-शैली का ही प्रयोग उपयुक्त रहता है। कबीर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी प्रभृति सभी कवियों ने इसी शैली को अपनाया है।

उपसंहार

अन्त में हम कहेंगे कि हिन्दी में रहस्यवाद की व्यंजना अत्यन्त व्यापक रूप में हुई है। यद्यपि आधुनिक कवियों को अनुभूति के अभाव में कबीर की-सी सफलता नहीं मिली; फिर भी प्रेम के स्वच्छ एवं पवित्र रूप के चित्रण की दृष्टि से वे बधाई के पात्र हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि साहित्य और समाज की दृष्टि से रहस्यवादी काव्य का क्या मूल्य है? आधुनिक अति यथार्थवादी दृष्टिकोण से रहस्यवादी काव्य का विशेष महत्व नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जिस अनुभूति ने कबीर जैसे शुष्क तार्किक को भावनाओं से विह्वल बना दिया, वह काव्य के क्षेत्र में उपेक्षणीय कैसे हो सकती है? हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक रहस्यवादी रचना में अनुभूति की सच्चाई होनी आवश्यक है। कोरी कल्पना पर खड़े किए गये महल या छन्द-रूप में प्रस्तुत की गई अनुभूतियाँ हृदय को प्रभावित नहीं कर पातीं। अतः लौकिकता के भय से ही कृत्रिम अलौकिकता धारण करना उचित प्रतीत नहीं होता।

मानव जाति के छोटे-छोटे समूहों को रहस्यवादी साहित्य भले ही कोई बड़ा सन्देश न दे पाए, किन्तु जहाँ तक अखिल मानव-समाज का प्रश्न है, वह सभी आत्माओं को एक ही सत्ता से सम्बन्धित करके अखंड एकता का सन्देश तो देता ही है। विश्व-हित, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-प्रेम का आदर्श कितनी सत्यता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है, उतना सम्भवतः कोई और नहीं। आज भले ही इसकी धारा मंद हो गई है, किन्तु यदि विश्वात्मा की सत्ता का विश्वास साहित्यकार में बना रहा तो अवश्य ही उसे रहस्य-लोक की शान्ति-प्रदायिनी छाया में विश्राम के कुछ क्षण ढूंढ़ने होंगे।

:: बयालीस ::

छायावाद और हिन्दी-काव्य

हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८ ई०) के आस-पास एक विशेष काव्य-धारा का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई है। यह नामकरण किस आधार पर तथा किसके द्वारा किया गया; इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। जहाँ तक 'छाया' और 'वाद' का सम्बन्ध है, 'छायावाद' काव्य के स्वरूप या उसके लक्षणों से इनका कोई मेल नहीं है। आचार्य शुक्ल का विश्वास था कि बंगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को छायावाद कहा जाता था, अतः हिन्दी में भी इस प्रकार की कविताओं का नाम छायावाद चल पड़ा, किन्तु हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि बंगला में 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं। हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाओं—'श्री शारदा' और 'सरस्वती'—में क्रमशः सन् १६२० और १६२१ में मुकुटधर पांडेय और श्री सुशीलकुमार द्वारा दो लेख 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे; अतः कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन् १६२० से या उससे पूर्व से होने लग गया था। सम्भव है कि श्री मुकुटधर पांडेय ने ही इनका सर्वप्रथम आविष्कार किया हो। यह भी ध्यान रहे कि पांडेय जी ने इसका प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप में—छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए किया था, किन्तु आगे चलकर वही नाम स्वीकृत हो गया। स्वयं छायावादी कवियों ने इस विशेषण को बड़े प्रेम से स्वीकार किया है; एक ओर श्री जयशंकर प्रसाद लिखते हैं—"मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है, वैसे ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से पानी की तरह आन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया···कान्तिमय होती है।" दूसरी ओर महादेवीजी भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती हैं—'सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव

अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।" प्रसाद और महादेवी की इन उक्तियों में कोई तर्क नहीं है—प्रसाद जिन गुणों का आख्यान कर रहे हैं, उनके आधार पर तो इस कविता का नाम 'प्रकाश', 'चमक' या 'कान्ति' होना चाहिए था, या महादेवी द्वारा परिगणित विशेषता को लेकर इसे अनुभूति, भावुकता आदि किसी नाम से पुकारा जाना चाहिए था, किन्तु वास्तविकता यह है कि नामकरण के सम्बन्ध में पूर्वजों के आगे किसी का वश नहीं चलता। कविता की तो बात ही क्या, स्वयं कवियों को भी कुछ ऐसे नाम विरासत में मिले हैं कि उन्हें 'उपनाम' ढूंढने को विवश होना पड़ा है। अतः छायावाद' नाम को लेकर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है।

परिभाषाएँ और स्वरूप

छायावाद का नामकरण भले ही बिना सोचे समझे कर दिया गया हो, किन्तु परिभाषाओं की दृष्टि से यह बड़ा सौभाग्यशाली है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'छायावाद' की इतनी अधिक और विचित्र परिभाषाएँ दी हैं कि उन्हें पढ़कर चाहे छायावाद समझ में आवे, या न आवे पाठक के मस्तिष्क पर अवश्य छायावाद छा जाता है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद का स्पष्टीकरण करते हुए लिए लिखा है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद, शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" डा० रामकुमार वर्मा ने भी शुक्लजी की ही भाँति छायावाद को रहस्यवाद का अभिन्न रूप स्वीकार करते हुए लिखा है—"परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" श्रीरामकृष्ण शुक्ल एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद और रहस्यवाद को सर्वथा अभिन्न तो नहीं माना, किन्तु दोनों में चचेरे भाइयों का-सा सम्बन्ध अवश्य स्थापित कर दिया है। श्रीरामकृष्ण जी के शब्दों में—'छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का; ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्ति की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।" अतः कहना चाहिए कि दोनों में लौकिक और अलौकिक, व्यक्त और अव्यक्त, स्पष्ट और अस्पष्ट, ज्ञात और अज्ञात तथा छाया और रहस्य का ही अंतर है। दूसरी ओर शान्तिप्रिय द्विवेदी भी मानते हैं—"छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" अतः दोनों में गहरा सम्बन्ध ही स्वतः सिद्ध हो गया।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने भाव-लोक की प्रगति के तीन चरण माने हैं, प्रथम वस्तुवाद, द्वितीय छायावाद और तृतीय रहस्यवाद, अतः उनके शब्दों में "यह (छायावाद) वस्तुवाद व रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।" डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद को एक

जीवन-सहचरी की कल्पना समाई थी, जो जीवन के हर क्षेत्र में उनका साथ दे सके। और इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि बिना माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किए ही इस कल्पित सहचरी की खोज में प्रवृत्त भी हो जाती थी। किसी प्रकार वे कोई ऐसा आधार प्राप्त कर लेते थे, जिसके समीप बैठकर वे अपने स्वप्नों को साकार कर सकें, जिसे हृदय देकर वे अपनी प्रेम करने की चाह पूरी कर सकें। किन्तु अपने इस मधुर सम्बन्ध को स्थायी दाम्पत्य में परिणत करने के लिए जब वे समाज से 'ग्रन्थि-बन्धन' की प्रार्थना करते तो उन्हें पता चलता कि उनके मार्ग में जाति-पाँति, कुल-गोत्र, मान-मर्यादा आदि की ऐसी चट्टानें डटी हुई हैं, जिन्हें तोड़कर आगे बढ़ना उनके बस की बात नहीं। फल यह होता था कि उनके प्रेम और विवाह के विदेशी स्वप्न स्वदेशी समाज की रूढ़ियों से टकराकर चकनाचूर हो जाते थे। चाहे 'प्रेम-पथिक' का नायक हो या 'ग्रन्थि', उच्छ्वास', 'आँसू' आदि का असफल प्रेमी हो, उसके स्वर में हमें सर्वत्र इसी निराशा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। हो सकता है, यह निराशा, व्यथा या वेदना कवियों के वैयक्तिक जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध न हो, किन्तु उसमें उस युग के सामान्य सुशिक्षित वर्ग के हृदय की विवश वेदना का विस्फोट अवश्य है। वस्तुतः छायावादी अतृप्ति, कुण्ठा एवं निराशा के मूल में समाज की यही परिस्थिति कार्य कर रही है, इसका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं।

पाश्चात्य साहित्य ने भी हमारे छायावादी काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। विशेषतः अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म का तो छायावाद के कवियों पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। रोमांटिसिज्म या स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तन अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज के काव्य-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' (**Lyrical Ballads**) के प्रकाशन की तिथि सन् १७६८ से माना गया है। इसके प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, कूपर आदि हैं, जिन्होने प्राचीन काव्य-शास्त्र की पद्धतियों, समाज के रूढ़िवादी दृष्टिकोण एवं धर्म-वेत्ताओं की अति संकुचित मान्यताओं का विरोध करते हुए सरल-स्वाभाविक काव्य-पद्धति, स्वच्छन्द वैयक्तिक प्रेम-मूलक दृष्टिकोण एवं व्यापक मानववाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन सुन्दर, मधुर गीतियों में निःसंकोच रूप से किया। उन्होंने सौन्दर्य के स्थूल उपकरणों के स्थान पर उसके सूक्ष्म गुणों तथा प्रकृति के चेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु अतिवैयक्तिकता, स्वच्छन्दता एवं कोमल मधुर अनुभूतियों का परिणाम जीवन में सुखद नहीं होता; इस प्रकार के व्यक्ति अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के साथ समझौता कर पाने में असमर्थ रहते हैं; उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनका सामना न करने के कारण वे असफल, निराशावादी या रहस्यवादी हो जाते हैं। छायावादी कवियों की परिस्थितियाँ और उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी कवियों से मिलता-जुलता है, अतः उनसे प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद की प्रायः

सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यापक मानववाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता का आभास, सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों की पूजा, प्रकृति में चेतना का आरोप, गीति शैली आदि—हिन्दी के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं। अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से बँगला के कवि पहले ही प्रभावित हो चुके थे, अतः हिन्दी के कवियों को भी ऐसा करने में कोई विशेष संकोच नहीं हुआ।

अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से हिन्दी के छायावाद की इस गहरी समानता को देखते हुए कुछ आलोचकों ने इसे रोमांटिसिजम का ही हिन्दी संस्करण सिद्ध किया था। इन आलोचकों में एक डॉ० नगेन्द्र भी थे, किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया। वे लिखते हैं—"दूसरी भ्रांति उन आलोचकों की फैलाई है, जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं हूँ—केवल बाह्य समय के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं। इसमें संदेह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार आपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चित ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।" (आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ; पृ० १४) यहाँ डाक्टर साहब ने दोनों में जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह केवल देश काल, मूलाधार एवं गुणों की मात्रा का है, दोनों के परिमाणों में या दोनों की प्रवृत्तियों में कोई भेद वे नहीं दिखा सके। साथ ही उन्होंने 'असफल सत्याग्रह' के प्रभाव को भी आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं, चाहे हमारे सत्याग्रह प्रारंभ में असफल होते रहे हों, किन्तु इससे भारतीय जनता में कोई स्थायी निराशा नहीं आ पाई, अन्यथा न तो साइमन कमीशन-बहिष्कार व नमक कानून-भंग जैसी घटनाएँ होतीं और न ही स्वातंत्र्य-आन्दोलन आगे बढ़ता। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि रोमांटिसिजम इंगलैण्ड में पनपा और राज्य-क्रांति हुई फ्रांस में, अतः यदि फ्रांस की क्रांति इंगलैण्ड को प्रभावित कर सकती है, तो इंगलैण्ड का काव्य भारत को क्यों नहीं प्रभावित कर सकता? हमारी दृष्टि में छायावादी निराशा का सम्बन्ध तत्कालीन राजनीति से स्थापित करना वैसे ही है, जैसा कि प्रयोगवादी कवियों की वैयक्तिकता को पिछले चुनावों में जनसंघ की पराजय का प्रभाव बताना है।

यदि हम देश-काल की स्थूल सीमाओं को भूलकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें

तो रोमांटिसिज्स और छायावाद के मूलाधारों—दोनों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में भी गहरा साम्य दृष्टिगोचर होगा। रोमांटिसिज्म के अभ्युत्थान से पूर्व अंग्रेजी कविता में भी अनैतिकता, सुधारवाद एवं शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था, उसी प्रकार हिन्दी में भी द्विवेदी युग में यही परिस्थिति थी, जिसका विरोध छायावादी कवियों ने किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने इंगलैण्ड के कवियों को वैयक्तिक स्वतंत्रता का संदेश दिया, तो दूसरी ओर 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया। रोमांटिक युग के युवकों की सौन्दर्य और प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाओं एवं सामाजिक मान्यताओं का अंकुश लगा हुआ था तो छायावादी युग के प्रेमियों पर हिन्दू समाज की रूढ़ियों का नियन्त्रण था। रोमांटिक कवि दैनिक जीवन की असंगतियों, विषमताओं एवं कटुता से त्राण प्रकृति एवं अध्यात्म में ढूँढ़ने को विवश हुए थे, तो हिन्दी कवियों को भी इससे बढ़कर और कोई आश्रय प्राप्त नहीं था। अतः मूलाधार की दृष्टि से भी दोनों में गहरा साम्य है। हाँ हम इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। इंगलैण्ड के एक जन्मजात क्रिश्चियन में और भारतीय ईसाई में जितना अन्तर होता है, उससे कहीं अधिक अन्तर रोमांटिसिज्म और छायावाद में है।

छायावाद का प्रवर्त्तन

छायावाद के प्रवर्त्तन काल एवं प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। आचार्य शुक्ल का मत है – "हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तक इन्हीं को—विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को समझना चाहिये।" ऐसा शुक्लजी ने अभिव्यंजना की एक विशेष शैली को ही 'छायावाद' मानकर लिखा है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने इस मत का खंडन करते हुए लिखा है—'छायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल एवं मनगढ़न्त है।···प्रसादजी अविवादास्पद रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३-१४ के आसपास 'इन्दु' में प्रतिमास उनकी जिस ढंग की कविताएँ निकलती थीं, (जो बाद में 'कानन-कुसुम' के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुईं) वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्र में युग विवर्तन की सूचक थीं।" श्री विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे ने छायावाद का प्रारम्भ तो सन् १९१२ ई० से ही माना है, किन्तु इसके प्रवर्त्तन का श्रेय वे माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' को देना चाहते हैं। उधर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है—'साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य शैली का वास्तविक अभ्युदय सन् १९२० के पश्चात् पन्त की 'उच्छ्वास' नाम की काव्य-पुस्तिका के साथ माना जा सकता है।" हमारे दृष्टिकोण से मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और माखनलाल चतुर्वेदी में छायावाद की प्रवृत्ति गौण रूप से मिलती है, समग्र रूप

से उन्हें छायावादी नहीं कहा जा सकता; ऐसी स्थिति में किसी अ-छायावादी को छायावाद का प्रवर्तक मानना अवास्तविक है। छायावाद का प्रवर्तक अवश्य ही छायावादी होना चाहिये —चाहे वह प्रसाद हो या पन्त। पन्तजी की अपेक्षा प्रसादजी काव्य क्षेत्र में पहले आये तथा 'झरना' की भूमिका में प्रकाशक की ओर से भी एक वक्तव्य है —"जिस शैली की कविता को हिन्दी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ। इस दृष्टि से यह संग्रह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।' —अब तक किसी कवि ने प्रकाशक के वक्तव्य का खंडन नहीं किया है, अतः प्रसाद के 'झरना' (सन् १६१८, से ही छायावाद का प्रारंभ मानना चाहिये, किन्तु यह ध्यान रहे, प्रसाद की कुछ कविताएँ इससे पूर्व भी पत्र-पत्रिकाओं में छप गई थीं, जिनमें छायावादी शैली का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इन रचनाओं का प्रकाशन काल सन् १६०६ से १६१७ है, अत. छायावाद का उद्भवकाल और पीछे तक ले जाया जा सकता है। प्रसाद का 'कानन-कुसुम' पुस्तक के रूप में 'झरना' के पश्चात् प्रकाशित हुआ, जबकि उसमें संगृहीत रचनाएँ 'झरना' से पूर्व ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए छायावाद का आरम्भ प्रसाद की स्फुट कविताओं (पत्रिकाओं में प्रकाशित, से (लगभग सन् १६१५ ई० से) ही मानना उचित होगा।

छायावाद के प्रमुख कवि और उनका काव्य

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भ सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा हैं। श्री जयशंकर प्रसाद प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे, किन्तु १६१३-१४ से वे खड़ी बोली में लिखने लग गये। उनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ ये हैं—चित्राधार, प्रेम-पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्व, कानन-कुसुम, झरना, आँसू, लहर, कामायनी। उनकी अन्तिम काव्य-रचना 'कामायनी' सन् १६३६ में रचित हुई थी। इन रचनाओं में से चित्राधार, करुणालय और महाराणा का महत्व को छोड़कर शेष सभी छायावाद की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। वैसे गौण रूप से इनमें भी छायावाद की कुछ विशेषताएँ मिलती है। 'प्रेम पथिक' एक लघु प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें एक असफल प्रेम की कहानी नायक के मुंह से कहलाई गई है ! अनुभूतियों से परिपूर्ण होने के कारण यह रचना अत्यन्त मार्मिक बन गई। जब नायिका का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो निराश प्रेमी के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे :

किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री झनकार
जो नौबतखाने में बजती थी, अपनी गहरी धुन में—
छोटा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदयकुसुम का किसे सुनाई पड़ता है !

'कानन-कुसुम', 'झरना' और 'लहर' प्रसाद की स्फुट कविताओ के संग्रह हैं, जिनमें विषय की दृष्टि से चार प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—

(१) लौकिक प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन, (२) लौकिक प्रेम की व्यंजना (३) प्रकृति एवं नारी सौंदर्य का चित्रण और (४) अतीत भारत की किसी घटना का वर्णन। 'आंसू' उनका 'विरह-गीत' है। आगे चलकर, 'कामायनी' में इन सभी प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप में प्रवन्ध-शैली में हुआ है। मानव-हृदय की प्रवृत्तियों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण, प्रकृति एवं नारी-सौन्दर्य के सजीव अंकन, प्रणय, और विरह की धार्मिक व्यंजना, ज्ञान-कर्म और इच्छा के समन्वय के मंगलकारी सन्देश और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से 'कामायनी' अनुपम है। वस्तुतः मुक्तक-शैली को छोड़कर छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियां 'कामायनी' में उपलब्ध होती हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कामायनी की प्रबन्धात्मकता पर भी छायावाद की मुक्तकता पूरी तरह छाई हुई है। वस्तुतः प्रसाद छायावाद के प्रवर्त्तक के रूप में ही नहीं, उसके नेता और प्रौढ़तम कवि के रूप में भी सर्वश्रेष्ठ छायावादी कवि हैं।

छायावाद के क्षेत्र में पंत और निराला साथ-साथ ही आये। पन्तजी की रचनाओं का प्रकाशन-क्रम यह हैं—वीणा (१९१८), ग्रन्थि (१९२०), पल्लव (१९१८-२४), गुंजन (१९१९-३२), युगान्त (१९३४-३६), युग-वाणी (१९३६-३९), ग्राम्या (१९३९-४०), स्वर्ण किरण (१९४७), स्वर्ण धूलि (१९४७), युगान्तर (१९-४८), उत्तरा (१९४९), रजत-शिखर (१९५१), शिल्पी (१९५२), और अतिमा (१९५५)। पंत जी सन् १९३८ के लगभग छायावादी से प्रगतिवादी बन गये, इस युग से पूर्व की रचनाओं में ही छायावादी प्रवृत्तियां मिलती हैं। वीणा, पल्लव और गुंजन में उनकी स्फुट कविताएँ संगृहीत हैं। 'वीणा' में रहस्य की प्रवृत्ति अधिक है, 'पल्लव' में निराशा और प्रकृति-चित्रण की तथा 'गुंजन' में नारी-सौन्दर्य एवं मानव-वाद की। 'ग्रन्थि' एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें, असफल प्रेम की कहानी कही गई है। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' की भाँति 'ग्रन्थि' की नायिका का विवाह भी किसी अन्य से हो जाता है। मार्मिकता की दृष्टि से यह रचना 'प्रेम-पथिक' से आगे बढ़ जाती है। 'युगान्त' में आकर पंत के छायावादी युग का अन्त हो जाता है। प्रकृति एवं नारी सौन्दर्य के चित्रण व शैली की कोमलता की दृष्टि से पंत का स्थान छायावादी कवियों में सबसे ऊँचा माना जा सकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने कविताएँ लिखना सन् १९१५ से ही आरम्भ कर दिया था, किन्तु उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'परिमल' सन् १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। उनके अन्य काव्य-ग्रन्थ 'अनामिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'देवता', 'नये पत्ते', 'अर्चना', 'आराधना' आदि हैं। निरालाजी भी 'तुलसीदास' काव्य के अनन्तर प्रगतिवाद से प्रभावित हो गये थे, अतः उनके परवर्ती ग्रन्थों में छायावाद लुप्त है। निराला जी की रचनाओं में वैसे तो छायावाद की भी प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं, किन्तु उसे अद्वैत दर्शन की सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान करके रहस्य-युक्त बनाने का श्रेय सर्वाधिक 'निराला' जी को है। निरालाजी की शैली में अस्पष्टता

एवं कठोरता अन्य कवियों से अधिक है।

महादेवी छायावाद के क्षेत्र में सबसे पीछे आईं, किन्तु उसका सबसे अधिक साथ भी उन्होंने ही दिया। उनकी कविताओं के संग्रह—'नीहार', रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीपशिखा' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुए हैं। उनके सभी संग्रहों की मूल प्रकृति प्रायः एक है—पंत और निराला की भाँति उनकी राह में नये-नये मोड़ परिवर्तन नहीं आते। उनके काव्य में छायावादी शैली की सभी प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से उनमें छायावाद से रहस्यवाद अधिक है। नारी होने कारण वे प्रकृति के मानवी रूप से वैसा स्वच्छन्द-व्यवहार नहीं कर सकीं, जैसा निराला और पंत ने किया है। लौकिक प्रणय और स्थूल सौन्दर्य के चित्रण में भी उन्हें संकोच होना स्वाभाविक था, अतः छायावाद के विभिन्न विषयों में उनके पास अलौकिक प्रेम, विरह और रुदन ही शेष रह गया।

उपर्युक्त चार प्रमुख कवियों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, मोहनलाल महतो आदि का छायावाद के साथ नाम लिया जाता है, किन्तु इनमें छायावाद की प्रवृत्तियाँ आंशिक रूप में ही मिलती हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

छायावादी काव्य में मिलनेवाली प्रवृत्तियों को हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) विषयगत, (ख) विचारगत और (ग) शैलीगत। इनमें से प्रत्येक का परिचय यहाँ अलग-अलग दिया जाता है।

(क) विषयगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी कवियों ने मूलतः सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना की, जिसे हम तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं - (१) नारी-सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण, (२) प्रकृति-सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना और (३) अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद का निरूपण। नारी-सौन्दर्य और प्रेम—दोनों शृंगार रस के ही अंग हैं, अतः एक दूसरे के पूरक हैं। यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहे तो प्रथम शृङ्गार रस का आलम्बन है तथा द्वितीय उसका स्थायी भाव। छायावादी कवियों ने नारी को उसके प्रेयसी रूप में ग्रहण किया, जो हृदय और यौवन की सम्पूर्ण विभूतियों से परिपूर्ण है तथा जो धरती के यथार्थ सौन्दर्य एवं स्वर्ग की काल्पनिक सुषमा से सुसज्जित है। विवाहबन्धन में न पड़ने के कारण एक ओर तो वह लाज, उमंग और उत्साह से भरपूर है, दूसरी ओर वह स्वकीया-परकीया के पचड़े से भी दूर है। प्रसाद, पंत और निराला के काव्य में इसी प्रेयसी के सौन्दर्य के शत-शत चित्र अंकित हैं। कामायनी की श्रद्धा का सौन्दर्य-चित्रण द्रष्टव्य है—

> **नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।**
> **खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग॥**

छायावादी कवियों ने सौन्दर्य के स्थूल-चित्रण की अपेक्षा उसके सूक्ष्म प्रभाव का ही अंकन किया है। उसमें अश्लीलता, नग्नता एवं स्थूलता प्रायः न के बराबर है।

प्रेम के क्षेत्र में छायावादी कवि किसी प्रकार की रूढ़ि मर्यादा या नियम-बद्धता को स्वीकार नहीं करते। 'निराला' ने 'प्रेयसी' में प्रेम का आदर्श स्थापित करते हुए लिखा है—

दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप,
भिन्न धर्म भाव, पर केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।

(अनामिका, ५८)

इनके प्रेम की दूसरी विशेषता है, वैयक्तिकता। हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती शृङ्गारी कवियों ने प्रेम का वर्णन किया, किन्तु स्वच्छन्द प्रेम-मार्गी कवियों को छोड़कर सबने किसी राधा, पद्मिनी, उर्मिला आदि को ही माध्यम बनाया, जबकि छायावादियों ने निजी प्रेमानुभूतियों की व्यंजना की। उनके प्रेम की तीसरी विशेषता सूक्ष्मता है। इन्होंने शृङ्गार के स्थूल क्रिया-व्यापारों की अपेक्षा उनकी सूक्ष्म भाव-दशाओं का उद्‌घाटन अधिक किया। चौथी विशेषता—इनकी प्रणय-गाथा का अन्त असफलता एवं निराशा में होता है। प्रेम निरूपण के क्षेत्र में इन्हें सबसे अधिक सफलता विरहानुभूतियों की ही व्यंजना में मिली है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥
सब अतीत में लीन हो चलीं आशा, मधु अभिलाषाएँ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं॥

—प्रसाद

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
'विरह' अहह, कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा!!

—पन्त

एक बार यदि अजान के अन्तर से उठ आ जातीं तुम!
एक बार भी प्राणों की तम-छाया में आ कह जातीं तुम!
सत्य हृदय का अपना हाल!
कैसा था अतीत यह, अब बीत रहा है कैसा काल!
मैं न कभी कुछ कहता, बस तुम्हें देखता रहता!

—निराला

उपर्युक्त विरह-वर्णन वेदनानुभूतियों से ओत-प्रोत है। विरही हृदय की पीड़ा स्वतः ही मुखरित हो रही है; उनकी नाप-जोख करने के लिए शारीरिक दुर्बलता, क्षीणता या व्याधि का उल्लेख यहाँ नहीं! प्रेमी और प्रेमिका—दोनों में से किसी के भी स्थूल अंगों या बाह्य चेष्टाओं का निरूपण किए बिना ही हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को साकार रूप में प्रस्तुत कर देना छायावादी कला का सबसे बड़ा जादू है।

प्रकृति के सौंदर्य और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियों की शृंगारिकता का दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप में भी नारी का रूप देखते हैं; उसकी छवि में किसी प्रेयसी के सौंदर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं, उसकी चाल-ढाल में किसी नवयौवना की चेष्टाओं का प्रतिबिम्ब पाते हैं, उसके पत्तों की मर्मर या फूलों की गुनगुनाहट में उन्हें किसी बाला-किशोरी के मधुर-आलाप या अर्द्ध-स्फुट हास्य की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है! ऐसी स्थिति में भला यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि वे नारी से-नहीं—प्रकृति से प्रेम करते हैं! हाँ, प्रकृति से प्रेम का नाटक अवश्य वे खेलते हैं और कभी उसे प्रसन्न करने के लिए नारी को ठुकराने का अभिनय भी करते हैं, किन्तु अन्त में उनकी कलई खुल जाती है। जिस प्रकार स्वर्ग के रंगमंच पर उर्वशी नाटक के नायक को अपने प्रेमी के नाम से सम्बोधित कर बैठती है या अपनी पत्नी से कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करते समय मतिराम के मुँह से अचानक ही किसी और तिय का नाम निकल पड़ा था, वैसी ही भूल छायावादी कवियों से भी हो जाती है। जिस पन्त ने कभी प्रकृति के माया जाल को किसी बाला के बालजाल से बढ़कर बताया था, वही आगे चलकर 'भावी-पत्नी' के स्वप्नों में लीन हो गया। निराला की 'जूही की कली' को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण मानें, किन्तु हमारी दृष्टि में तो वह पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है; उनका भौंरा कोई और नहीं, वे कन्दर्प देव ही हैं, जो छायावादी कवियों के हृदय में सोए हुए थे और 'जूही की कली' किसी जीती जागती रति देवी की प्रतिच्छाया मात्र है—

सोती थी
जाने कैसे प्रिय आगमन वह
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़
जैसे हिंडोल!

—जूही की कली

इस दृश्य को 'प्रकृति-चित्रण' बताना अपनी आँखों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रकृति का मानवीकरण—अपितु 'नारीकरण' करने में इन्होंने अपनी काव्य-कुशलता का अच्छा परिचय दिया।

अब लीजिए, इनके प्रेम के तीसरे रूप— अलौकिक प्रेम को। पहले इन्होंने प्रकृति की ओट में शृङ्गार-क्रीड़ा की, जब इससे भी इनका काम नहीं चला तो वे अध्यात्म की चद्दर ओढ़कर रहस्यवादी बन गए और कबीर, दादू आदि की पंक्ति में आ बैठे। इनका यह रहस्यवाद कितना कृत्रिम एवं बलात् आरोपित है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'प्रेम पथिक', 'आँसू', आदि—जिनमें प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की थी, उनके नये-संस्करणों में दस-बीस पंक्तियाँ घटा बढ़ाकर उन्हें अलौकिक प्रेममय बना डाला। यदि इसी तरह किसी को रहस्यवादी बनाना

हो तो फिर घनानन्द, बोधा, आलम आदि को भी रहस्यवादी, बनाया जा सकता है। रहस्यवादी कवि लौकिकता से अलौकिकता की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, किन्तु पन्त और निराला की जीवनी का क्रम उलटा है। 'वीणा' में पन्त रहस्यवादी थे, 'गुंजन' में 'पत्नी' या 'प्रेयसी' वादी और 'युगान्त' के बाद स्थूल भौतिकवादी बन गए। यही बात निराला में मिलती है। यह ठीक है कि इन्होंने अद्वैतवादी ग्रन्थों का अध्ययन करके उनसे 'ज्ञान-तत्व' भी बटोरा किन्तु उसे वे अपनी अनुभूति का विषय नहीं बना सके। ध्यान रहे, 'अद्वैतवाद' का कोरा ज्ञान रहस्यवाद नहीं है और न ही अद्वैतवाद को पद्यबद्ध कर देना रहस्यवाद है अपितु रहस्यवाद तो हृदय की एक ऐसी अनुभूति है, जिसको प्राप्त करने के अनन्तर भौतिक जगत् की कोई इच्छा, आकांक्षा या लालसा शेष नहीं रह जाती। सच्चा रहस्यवादी कवि 'गुंजन' के कवि की भाँति घर बसाने के लिए भावी-पत्नी की प्रतीक्षा में नहीं बैठता, अपितु कबीर की भाँति उसकी आत्मा स्वयं ही किसी अलौकिक की दुलहनियाँ बनकर नाच उठती है; झूम उठती है!

शायद कहा जाय कि इनकी अलौकिक वासना का उन्नयन आगे चलकर आध्यात्मिक प्रेम से हो गया, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कामायनीकार प्रसाद तक में रहस्यवाद की कोई अनुभूति नहीं मिलती है। यही कारण है कि 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग, जिसमें रहस्य-दर्शन का चित्रण है, शुष्क, नीरस, एवं अनुभूति शून्य हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में 'प्रसाद' से जब आत्म-कथा लिखने के लिए कहा गया था तो उन्होंने उत्तर में कहा था—

यह विडंबना ! अरी सरलते,
तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवंचना
औरों को दिखलाऊँ मैं।
× × ×
मिला कहाँ वह सुख जिसका
मैं स्वप्न देखकर जाग गया!
आलिंगन में आते-आते
मुस्काकर जो भाग गया!
× × ×
उसकी स्मृति पाथेय बनी है
थके पथिक की पंथा की।

—(लहर)

कोई भी रहस्यवादी कवि अपने 'दिव्य प्रेम' को अपनी भूल बनाकर या 'आराध्य की लीला' को 'प्रवंचना' कहकर अपमानित नहीं करता। रहस्यवादी के जीवन में पहले वियोग आता है और फिर संयोग—किन्तु यहाँ विपरीत बात है:

रहस्य-पथ का पथिक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसका उत्साह बढ़ता जाता है; वह अपने आपको 'थका हुआ पथिक' अनुभव नहीं करता वस्तुतः इन कवियों के 'आलिंगन में आते-आते मुस्कराकर भाग जानेवाला' कोई इस धरती का ही जीव है।

हाँ, रहस्य-साधना के क्षेत्र में महादेवी अवश्य दृढ़तापूर्वक मग्न रहीं। रहस्यवाद के कई स्तर होते हैं—प्रथम अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण, द्वितीय उसके प्रति दृढ़ानुराग, तृतीय विरहानुभूति और चतुर्थ मिलन का आनन्द। उन्होंने अपने हृदय की बात पूर्णतः खोलकर नहीं सुनाई है, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ कहना तो अपराध होगा, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि अभी वे रहस्यवाद के प्रथम स्तर के आगे नहीं बढ़ी हैं। कबीर और दादू की-सी तीक्ष्ण विरहानुभूतियाँ उन्हें अभी तक प्राप्त नहीं हुईं, इसीलिए वे विरह के एक क्षण के लिए तृषित हैं। प्रेम जितना गहरा होगा, विरह उतना ही अधिक वेदनापूर्ण और दुःसह्य प्रतीत होगा। महादेवी को तो अभी विरह और मिलन का ही अन्तर ज्ञात नहीं है—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
दुःख सुख में कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा॥

(आधुनिक कवि, पृ० ६८)

ध्यान रहे, विरह की घड़ियों में कबीर जैसे अक्खड़ साधक का हृदय भी हाहाकार कर उठा था, उनके रोम-रोम से वेदना फूट पड़ी थी, जिसे सहन करने की अपेक्षा उन्होंने मृत्यु का आलिंगन कर लेना श्रेयस्कर समझा था—"या विरहिणि को मीच दे या आपा दिखलाय। आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाय!!'—अतः आश्चर्य है कि महादेवी में ऐसी कठोरता कहाँ से आ गई कि विरह में वे तनिक भी दुःख अनुभव नहीं करतीं। महादेवी के श्रद्धालु भक्त कह सकते हैं कि भारतीय नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक सहनशील होती है, महादेवी नारी हैं जबकि कबीर पुरुष थे—किन्तु उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि नारी एक कवयित्री पहले भी हो चुकी है, जो अलौकिक प्रेम में महादेवी से पीछे नहीं थी और जिसने कहा था—

हेरी मैं तो प्रेम दिवांणी!
मेरा दरद न जाणै कोय!!
× × ×
घायल की गति घायल जाणै!
जे किण घायल होय!!

वस्तुतः मीरा का कहना ठीक था—जो घायल हो, वही घायल के दर्द को समझ सकता है, किन्तु केवल घायलपन का अभिनय करनेवाले पात्रों के लिए दर्द और दर्द का न होना—दोनों एक जैसे हैं।

(ख) विचारगत प्रवृत्तियाँ—छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियाँ सामान्यतः ये

हैं —(१) दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद, (२) धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों एवं वाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानव-हितवाद, (३) समाज के क्षेत्र में समन्वयवाद, (४) राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व-शान्ति का समर्थन,(५) गार्हस्थ्य, पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में हृदयवाद या प्रेमपूर्ण व्यवहार, साहित्य के क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौन्दर्यवाद। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी कवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श, व्यापक एवं सूक्ष्म गुणों को अधिक महत्व देते हैं। प्रसाद की 'कामायनी', पंत के 'गुंजन' और निराला के 'परिमल' के कुछ स्थलों में उनका विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

(१) अद्वैतवाद—

तुम तुंग हिमालय शृंग,
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त-कामिनी कविता॥

—निराला

(२) व्यापक मानवतावाद—

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ।

—प्रसाद

(३) समन्वय—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा पूरी क्यों हो मन की!
दोनों मिल एक न हो सके,
यही विडम्बना है जीवन की॥

—प्रसाद

(४) प्रेम और सहानुभूति का सन्देश—

तप रे मधुर मधुर मन
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल!
× × ×
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन!

—पंत

छायावादी कवियों ने विचारों की अभिव्यक्ति शुष्क ढंग से की है, उस अभिव्यक्ति के पीछे अनुभूति की गहरी तरलता नहीं मिलती, जिससे वे पाठक के हृदय को

कम प्रभावित कर पाते हैं। कविता में विचार भावों में घुले-मिले हुए होने चाहिए, किन्तु छायावादी कवियों में अलग-अलग बिखरे से पड़े हैं। कहीं-कहीं अति विचारात्मकता के कारण छायावाद में शुष्कता, जटिलता एवं अस्पष्टता भी आ गई है।

(ग) शैलीगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी शैली की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) मुक्तक गीत-शैली, (२) प्रतीकात्मकता, (३) प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग, जैसे मानवीकरण, विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय आदि, (४) कोमल-कान्त, संस्कृतमय शब्दावली। गीति-शैली के सभी प्रमुख तत्त्व—वैयक्तिकता, भावात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कोमलता आदि—इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। प्रतीकों के द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की मार्मिकता में अभिवृद्धि की है, जैसे 'यह पतझड़ मधुवन भी हो, शूलों का दर्शन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो।' यहाँ पतझड़; मधुवन, शूल, कलियाँ आदि जीवन के विभिन्न रूपों व अंगों के प्रतीक हैं। मूर्त्त को अमूर्त रूप में तथा अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मूर्त के लिए अमूर्त उपमान—	'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।'
अमूर्त के लिए मूर्त उपमान—	'कीर्ति किरन सी नाच रही है।'
विशेषण-विपर्यय—	तुम्हारी आँखों का बचपन, खेलता जब अल्हड़ खेल।
विरोधाभास—	'शीतल ज्वाला में जलता हूँ'
रूपकातिशयोक्ति—	बाँधा था विधु को किसने, इन काली जन्जीरों से।
कोमल-कान्त पदावली	मृदु मन्द मन्द मंथर-मंथर। लघु तरिणी हंसिनी सी सुन्दर तिर रही खोल पालों के पर।

वस्तुतः छायावादी कवियों के कारण हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। छायावादी शैली की चित्रात्मकता, लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता की प्रशंसा आचार्य शुक्ल जैसे विरोधी आलोचकों ने भी की है।

छायावादी काव्य में कुछ शैलीगत दोष भी मिलते हैं, जैसे अशुद्ध प्रयोग, अस्पष्टता, कल्पना की क्लिष्टता, उपमानों का अस्वाभाविक प्रयोग आदि। इससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है, तथा जन-साधारण इस काव्य के आस्वादन से वंचित रहता है।

उपसंहार

कहते हैं कि अब 'छायावाद का पतन' हो गया। बड़े-बड़े आलोचकों ने इसकी घोषणा गम्भीर पुस्तकें लिखकर की है। प्रसाद की मृत्यु के पश्चात् ऐसा कोई दृढ़ व्यक्ति छायावाद के पास नहीं रह गया, जो इसके नेतृत्व को सँभाल सकता। 'निराला'

विदा हो गए और पंत ने भी धर्म-परिवर्तन—या कहिए वाद' परिवर्तन—कर लिया। महादेवी जैसी अबला सिवा करुण-गीतियां लिखने के और कर ही क्या सकती थीं। वे भी औरों के स्वर में स्वर मिलाकर कहने लग गईं—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" दूसरी ओर मृत्यु से पूर्व पंतजी की मान्यता थी कि "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था···।" आश्चर्य है कि छायावाद के व्यापक आदर्शवाद, मानवतावाद एवं कलावाद बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही पुराने और फीके पड़ गये। क्या आज मनुष्य स्थूल भौतिकता; वैज्ञानिकता और तार्किकता के तीक्ष्ण वाणों से विद्ध नहीं है ? क्या प्रतिस्पर्धा; घृणा और हिंसा के बादल अब छिन्न-भिन्न हो गए हैं ? विश्व-शान्ति का स्वप्न पूरा हो गया है ? यदि नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हैं कि छायावादी आदर्श भविष्य के लिए उपयोगी नहीं थे, नवीन नहीं थे।

हमारा तो यह विश्वास है कि सौन्दर्य और प्रेम की जिस अक्षय-निधि को लेकर छायावाद चला था, वह किसी एक युग, एक देश या एक वाद की सम्पत्ति नहीं है। कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक सभी महान् कलाकारों ने इसी अमर सम्पदा के संचयन में अपनी प्रतिभा का प्रतिफलन किया है। आज कालिदास या शेक्सपीयर नहीं हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी यह दी हुई सम्पदा भी महत्वहीन हो गई। व्यापक मानवता का आदर्श किसी भी युग और किसी भी देश में फीका नहीं पड़ सकता। गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, कबीर, नानक, रवीन्द्र, भारतेन्दु और गांधी ने विश्व-प्रेम की जो ज्योति समय-समय पर जलाई है, उसका प्रकाश मानवता के किसी स्तर पर अमंद, अनावश्यक एवं अनुपयोगी नहीं हो सकता।

भले ही छायावादी इस धरती पर रमे हों, किन्तु व्यापक आदर्शों एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को लेकर चलनेवाला छायावाद अब भी अजर है, अमर है !! हां, कामायनीकार के शब्दों में हम आज के भूले-भटके छायावादियों से इतना अवश्य कहेंगे—

"हार बैठे जीवन का दांव,
जीतते जिसको मर कर वीर।"

: तेंतालीस :

प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य

'प्रगति' शब्द का अर्थ है—चलना, आगे बढ़ना, अतः प्रगतिवाद का शाब्दिक अर्थ हुआ—वह वाद जो आगे बढ़ने में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से इसका अर्थ बहुत व्यापक है, किन्तु आधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग एक विशेष विचार-धारा के लिए ही रूढ़ हो गया है। यह विशेष विचारधारा है—मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुकूल साहित्यिक विचारधारा। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार करनेवाला या साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति में योग देनेवाला साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य कहलाता है। ध्यान रहे, 'प्रगति वाद' से एक मिलता-जुलता शब्द—'प्रगतिशील'—भी हिन्दी में प्रचलित है, किन्तु दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। जहाँ 'प्रगतिवाद' सर्वथा मार्क्सवाद से बँधा हुआ है, वहाँ 'प्रगतिशील' उससे स्वतंत्र है। समाज की प्रगति के कई मार्ग हो सकते हैं। प्रगतिवादी केवल साम्यवादी मार्ग को ही अपनाने के लिए विवश है, जब कि 'प्रगति शील' किसी भी वाद-विशेष से आबद्ध नहीं होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रगतिवादी विचारधारा का मूला धार मार्क्सवाद या साम्यवाद है, अतः इसका भी थोड़ा परिचय यहाँ दे देना आवश्यक है। इस वाद के प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) थे। मार्क्सवादी विचारधारा को मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (२) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त और (३) मानव सभ्यता के विकास की व्याख्या। इनमें से हम प्रत्येक को अलग-अलग ले सकते हैं—

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—प्रायः सभी धर्मों के आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी अलौकिक या आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा हुई, जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है; किन्तु कार्ल मार्क्स की मान्यता के अनुसार संसार की 'उत्पत्ति' नहीं हुई, अपितु उसका धीरे-धीरे 'विकास' हुआ। मार्क्स से पूर्व डारविन विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्यक् रूप से कर चुके थे।

यह विकास किसके द्वारा हुआ ? क्या किसी आध्यात्मिक शक्ति ने इस विकास में योग दिया ? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का उत्तर है—आध्यात्मिक शक्ति ने नहीं, अपितु भौतिक जगत् स्वयं ही इस विकास का कारण है। मार्क्सवाद आत्मा, परमात्मा,

स्वर्ग, नरक तथा मृत्यु के बाद के जीवन आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। मानव-हृदय या दूसरे प्राणियों में हम जिस चेतना का अनुभव करते हैं, वह हमारे स्थूल तत्त्वों पर ही आधारित है; उसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक रूप नहीं है।

भौतिक विकासवाद को परिचालित करनेवाली प्रवृत्ति का नाम द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक का अर्थ है संघर्ष से ही विकास होता है। दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति या वस्तु विकसित होती है, आगे चलकर तीसरी को चौथी वस्तु से संघर्ष करना पड़ता है और उससे पाँचवीं का उद्भव या विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत् में नई वस्तुओं नये-नये, रूपों, नई-नई शक्तियों और सत्ताओं का विकास होता रहता है। ध्यान रहे, प्रत्येक नई विकसित वस्तु को मार्क्स ने प्रथम दो से अधिक उच्चतर, श्रेष्ठतर माना है। इस प्रकार 'द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद' का अर्थ हुआ, दो शक्तियों के पारस्परिक द्वन्द्व से भौतिक जगत् का विकास होता है। यों कहिए कि दो भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से ही सृष्टि का विकास होता है।

(ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त—किसी भी वस्तु का मूल्य किस प्रकार बढ़ जाता है, इसकी व्याख्या करते हुए कार्ल मार्क्स ने उत्पत्ति के चार अंग निर्धारित किए—(१) मूल पदार्थ, (२) स्थूल-साधन, (३) श्रमिक का श्रम, और (४) मूल्य-वृद्धि। उदाहरण के लिए पांच रुपये की कपास को जब कात-बुनकर कपड़े के थान में परिवर्तित कर लिया जाता है, तो उसी थान का मूल्य पचीस रुपये से अधिक हो जाता है। अस्तु, यहां वीस रुपये की मूल्य वृद्धि हुई। यहाँ स्थूल-साधन अर्थात् कपड़े बुनने के यन्त्रादि की घिसाई की कीमत के लिए लगभग एक रुपया और कम कर दें तो वास्तविक लाभ १६ रुपया हुआ। यह सारा लाभ श्रमिक के श्रम पर निर्भर है। अतः श्रमिक को ही मिलना चाहिए किन्तु पूंजीवादी युग में मिल-मालिक ही इसका अधिकांश हड़प कर लेता है। इससे समाज में दो वर्गों का विकास हुआ—एक जो श्रमिक हैं, दूसरे श्रमिकों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं। मार्क्सवादी शब्दावली में किसान मजदूर (श्रमिक) 'शोषित' हैं. और मालिक, जागीरदार, पूंजीपति आदि 'शोषक' हैं।

(ग) विश्व सभ्यता के विकास की नई व्याख्या—विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखनेवाले लेखकों ने प्रायः मानव जाति को राष्ट्र वर्ण या जाति के आधार पर वर्गीकृत किया है, किन्तु मार्क्स दुनिया के सब मनुष्यों को—चाहे वे किसी भी देश या जाति से सम्बन्धित हों—दो जातियां या वर्ग मानते हैं—(१) शोषक वर्ग और (२) शोषित वर्ग। मानव-सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो के संघर्ष की ही कहानी है। इस कहानी को भी चार युगों में बांटा जा सकता है—पहला युग दास प्रथा का युग था, जबकि श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन—इन चारों पर मालिक (शोषक) का अधिकार था। आगे चलकर दूसरा युग सामन्ती प्रथा का आया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्व-

तन्त्रता मिल गई, किन्तु शेष तीनों बातों पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा है। जहाँ दास-प्रथा के युग में श्रमिक को वैयक्तिक मामलों में कोई स्वतन्त्रता नहीं थी, वहाँ सामन्तवादी युग में उसे यह प्राप्त हो गई। अतः नई व्यवस्था पहली व्यवस्था से अच्छी थी। तीसरा युग पूँजीवादी व्यवस्था का आया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व एवं उसके श्रम पर मजदूर का अधिकार हो गया, किन्तु शेष दो पर पूंजीपति का अधिकार रहा। अर्थात् सामन्तवादी युग की भाँति पूँजीवादी युग में कोई किसी से बलात् श्रम नहीं करवा सकता। मजदूर अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे अपने श्रम को वेच सकता है। अतः दूसरी व्यवस्था से तीसरी व्यवस्था अच्छी है। किन्तु फिर भी मजदूरों को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उत्पादन के साधनों पर उनका अधिकार हो। यह व्यवस्था एक ऐसे समाज में ही संभव है, जहाँ मजदूरों की सत्ता हो। अस्तु, कार्ल मार्क्स का लक्ष्य उस चौथी व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था —को स्थापित करना था, जिसमें मजदूरों की प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिले।

इस प्रकार मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वह हिंसात्मक क्रांति का भी समर्थन करता है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य भी साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करना तथा शोषित वर्ग को क्रांति के लिए, शोषक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करना है।

प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

अस्तु, दर्शन में जो द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है, राजनीति में जो साम्यवाद है, वही साहित्य में प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रचार सर्वप्रथम यूरोप के विभिन्न देशों में हुआ, तदनन्तर एशिया के कुछ भागों में। प्रगतिवाद का सम्बन्ध केवल हिन्दी से ही नहीं, विश्व की विभिन्न भाषाओं से है, अतः हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर विचार करने से पूर्व विभिन्न देशों के प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

(क) धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध—समाज में वर्ग-चेतना उत्पन्न करने तथा शोषित वर्ग को संघर्ष के लिए तैयार करने के लिए सर्वप्रथम ईश्वर, धर्म, परलोक एवं भाग्य सम्बन्धी विचारों का उन्मूलन करना आवश्यक है। जब तक एक मजदूर ईश्वरवादी, धर्म-परायण, परलोक में विश्वास रखनेवाला तथा भाग्यवादी होगा, वह हिंसात्मक क्रांति के लिए तैयार नहीं होगा। शोषक वर्ग इन्हीं अध्यात्मवादी मान्यताओं के बल पर शोषित वर्ग पर अत्याचार करता है। अतः प्रगतिवादी कलाकार 'ईश्वर असफल हो गया है', 'धर्म अफीम का नशा है' जैसी घोषणाएँ कला के माध्यम से घोषित करता है।

(ख) पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार—पूँजीपति वर्ग के प्रति घृणा

उत्पन्न करने के लिए प्रगतिवादी कलाकार उसके घृणित रूप का चित्रण करता है। प्राय: सभी प्रगतिवादी रचनाओं में एक पूंजीपति को घोर 'स्वार्थी, कपटी, क्रूर एवं निर्दयी' के रूप में चित्रित किया जाता है।

(ग) **शोषित वर्ग के जीवन की दीनता एवं कटुता का चित्रण**—पूंजीपतियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के साथ-साथ प्रगतिवादी साहित्यकार किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के निमित्त उनकी दयनीय दशा का चित्रण करता हुआ दोनों वर्गों के जीवन की विषमता का उद्घाटन करता है।

(घ) **नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण**—प्रगतिवारी कलाकार नारी के रूप-वैभव को कल्पना की आँखों से नहीं देखता, न तो वह उसके सौन्दर्य को स्वर्ग का जादू समझता है और न ही उसकी पूजा करना आवश्यक मानता है। वस्तुत: उसके लिए नारी केवल नारी है, जो पुरुष की ही भाँति स्थूल सृष्टि का एक अंग है। वह उसके सूक्ष्म गुणों की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। वह महलों में सुरक्षित राजकुमारियों की अपेक्षा खेत-खलिहानों में कार्य करने-वाली स्वस्थ कृषक-बालाओं एवं मजदूरनियों के चित्रण में अधिक प्रवृत्त होता है। यथार्थवाद के नाम पर कहीं-कहीं इन कवियों ने पुरुष नारी सम्बन्धी गोपनीय व्यापारों को भी नग्न रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

(ङ) **सरल शैली**—प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य उच्च-वर्ग के सुशिक्षित पाठक नहीं हैं, अपितु वह जन साधारण के लिए काव्य की रचना करता है, अत: उसमें जन-भाषा एवं सरल शैली का प्रयोग होना स्वाभाविक है। साहित्य की प्राचीन रूढ़ियों—छंद-अलंकारों आदि—का भी प्रगतिवाद में निर्वाह नहीं किया जाता।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता

'प्रगतिवादी' साहित्य के संकुचित रूप का आविर्भाव कार्लमार्क्स के पश्चात् १९वीं-२०वीं शती में हुआ, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे पूर्व साहित्य में प्रगतिशीलता के तत्त्व थे ही नहीं। अन्य देशों के साहित्य के बारे में तो हम अधिक नहीं जानते, किन्तु जहां तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है, हमें उसमें प्रगति-शीलता के पर्याप्त तत्त्व मिलते है। यदि प्रगतिशीलता का अर्थ समाज के निम्न, उपेक्षित वर्ग से सहानुभूति दिखाना है, तो सम्भवत: संस्कृत में 'मिट्टी की गाड़ी' का रचयिता नाटककार शूद्रक भारत का पहला प्रगतिशील साहित्यकार है। उसने अपने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में तत्कालीन आदर्शों के विरुद्ध उच्चकुलीन नायक-नायिका के स्थान पर 'चारुदत्त' नामक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए दिखाया है कि राजाओं, न्यायाधीशों एवं अन्य उच्चवर्ग के लोगों की अपेक्षा मानवता की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग कहीं अधिक महान् हैं। क्या एक चोर जो किसी प्रकार धनी वर्ग का थोड़ा-सा पैसा चुरा लेने में समर्थ होता है; सचमुच घृणा का पात्र है? क्या समाज की परिस्थितियां ही उसे चोरी करने के लिए बाध्य नहीं करतीं? क्या अपने रुपए-पैसे के मद में विभोर रहने वाले

धनिक पुत्रों एवं सत्ता के गर्वोन्माद से ग्रस्त राजश्यालक की अपेक्षा वह गरीब चारुदत्त अधिक महान् नहीं है, जो ऋण-भार से दबा हुआ होने पर भी अन्य लोगों की सहायता करता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर शूद्रक ने प्रगतिशील दृष्टिकोण से दिया है। खेद है कि संस्कृत-नाटक-साहित्य में शूद्रक की परम्परा का विकास अधिक नहीं हो सका।

भारतीय साहित्य में यथार्थवादी या प्रगतिशील काव्य की सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्त्तन हाल की 'गाथा-सप्तशती' से हुआ। इस ग्रन्थ में उच्च वर्ग के भोग-विलास के स्थान पर श्रमिक लोगों के जीवन की अनुभूतियों का प्रकाशन स्वाभाविक शैली में हुआ है। आगे चलकर 'अमरुक-शतक' भर्तृहरि के 'श्रृंगार-शतक', गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' में भी इसी परम्परा का विकास हुआ। अमरुक ने तो अपने 'शतक' में एक ऐसे स्थूल भौतिकवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जो सम्भवतः आधुनिक आलोचक को आश्चर्यान्वित कर दे। अमरुक धरती के सौन्दर्य पर ऐसे मुग्ध हैं कि उन्होंने देवताओं को मूढ़ घोषित कर दिया। भला धरती पर सुन्दरियों के अधरामृत के होते हुए भी समुद्र-मंथन की क्या आवश्यकता थी ? अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य में भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि उसमें विलासिता का रंग अधिक है।

प्राचीन रूढ़ियों एवं उच्च वर्ग के विरोध की दृष्टि से हिन्दी का समस्त सन्त-साहित्य प्रगतिशीलता से ओत-प्रोत है। क्या भाव, क्या विचार एवं क्या भाषा—सभी दृष्टिकोणों से कबीर ने साहित्य में जो मौलिकता प्रस्तुत की है, वह प्रगतिशीलता का ही दूसरा रूप है। संस्कृत के विद्वानों की नगरी में रहकर भी 'संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर' की घोषणा करनेवाले कबीर की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। कुछ विद्वान् तुलसी को भी प्रगतिशील मानते हैं। किन्तु हमारे विचार से उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी अधिक था, यथार्थवादी कम; वे प्राचीनता के समर्थक अधिक थे, नवीनता के कम, वे क्रान्ति की अपेक्षा समन्वय को, समानता की अपेक्षा ऊँच-नीच की विषमता को अधिक पसन्द करते थे, करुण-रस की दो-चार पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें 'प्रगतिशील' सिद्ध करना कठिन है। तुलसी की महानता आदर्शवादी के रूप में ही अधिक है और यदि वे यथार्थवादी प्रगतिशील न भी सिद्ध होते हों, तो भी उनकी इस महानता में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी ने सर्वाधिक यथार्थवादिता का परिचय दिया है। उन्होंने घर-मन्दिरों, हाट, खेत-खलिहानों में मिलनेवाले रूपों का उद्घाटन निःसंकोच रूप में किया है। किन्तु केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही इन्हें पूर्ण प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। सच्ची प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास हिन्दी साहित्य में सर्व-प्रथम भारतेन्दु-युगीन साहित्य में ही उपलब्ध होता है। समाज, राजनीति, साहित्य एवं भाषा—सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व उनके अनुयायी पूरे प्रगतिशील थे। उन्होंने सरलतम भाषा में प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का व्यंग्यात्मक

शैली में चित्रण किया तथा साथ ही विदेशी साम्राज्य की दूषित प्रवृत्तियों पर भी तीखा प्रहार किया।

किसानों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने व सुधारात्मक प्रवृत्तियों की दृष्टि से द्विवेदी युगीन साहित्य में भी प्रगतिशीलता के कुछ तत्त्व स्वीकार किए जा सकते हैं। छायावादी युग में कविता वैयक्तिक प्रवृत्तियों से बहुत अधिक आच्छन्न हो गई, किन्तु इसी युग में उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी के द्वारा सच्ची प्रगतिशीलता का निरूपण हुआ। आगे चलकर तो प्रगतिवाद युग की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में ही प्रस्फुटित हो गया।

हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य

ऊपर हमने प्रगतिशील साहित्य पर संकेतात्मक ढंग से प्रकाश डाला है। विशुद्ध 'प्रगतिवादी चेतना' का प्रस्फुटन हिन्दी में सन् १९३६ ई० के लगभग हुआ। इस वर्ष लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई, जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता मुंशी प्रेमचन्द ने की। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास होने लगा। अनेक प्रमुख छायावादी कवि—पंत, निराला, नरेन्द्र आदि प्रगतिवादी बन गए। पन्तजी ने अपनी नवीन रचनाओं में धरती के निम्न एवं उपेक्षित वर्ग का चित्रण निरलंकृत शैली में किया। जो कवि छायावादी युग में कल्पना के पंखों पर सवार होकर आध्यात्मिक लोक में विचरण करते थे, वे ही अब दूसरों को अपनी दृष्टि धरती तक ही सीमित रखने की शिक्षा देने लगे—

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु नीलिमा गहन गगन ? निस्पन्द, शून्य निर्जन, निःस्वन
देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य प्रसू को !

दूसरी ओर 'निराला' ने जन-साधारण के दुख-सुख का चित्रण अपनी रचनाओं में किया। उनकी 'भिखारी' कविता में इसी प्रवृत्ति का पता चलता है। फिर भी 'निराला' प्रगतिशील ही रहे, मार्क्सवाद के पिछलग्गू वे नहीं बने। 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, 'अंचल', नवीन, सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा आदि कवियों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए काव्य-रचना की। विषमता का चित्रण करते हुए दिनकर ने सशक्त भाषा में लिखा—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र बच्चे भूखे तड़पाते हैं।
माँ की हड्डी से ठिठुर चिपक जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मिल-मालिक तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

कुछ अन्य प्रगतिवादी कवियों की भी कुछ पंक्तियाँ नमूने के रूप में देखी जा सकती हैं :

बर्लिन अब नजदीक है;
फासिस्तों की काल-रात्रि में घोर घटा घिर आई।
चली लाल सेना ज्यों सावन में चलती पुरवाई॥

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

इन खलिहानों में गूंज रही, किन अपमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचों ने, पिटती देखी घर की नारी॥
युग-युग के अत्याचारों की, आकृतियाँ जीवन के तल में,
घिर-घिर कर पुंजीभूत हुईं, ज्यों रजनी की छाया-छल में!

—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

दुनिया के मजदूर भाइयो, सुन लो एक हमारी बात।
सिर्फ एकता में ही बसता, इस दुनिया के सुख का राज॥

—चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

है जीने का अधिकार नहीं, हमको किस्मत की मर्जी पर।
जड़ रूढ़िवाद के शव को जो जीवित कहता है, वाह आज!

—नरेन्द्र शर्मा

उपर्युक्त अंशों में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिपादन अधिक है, उनकी अनुभूति कम, जिससे इन रचनाओं में रागात्मकता नहीं आ सकी।

कथा साहित्य के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा आदि लेखकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनके साहित्य में जहाँ यथार्थवादी ढंग से समाज की विभिन्न परिस्थितियों का अंकन हुआ है, वहाँ नग्न-अश्लीलता का भी चित्रण पर्याप्त मिलता है। सांकृत्यायनजी की 'वोल्गा से गंगा', यशपालजी की 'प्रतिष्ठा का बोझ' और 'धर्म-रक्षा', नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची' जैसी रचनाओं में जुगुप्सोत्पादक कामुकता की अभिव्यक्ति हुई है।

आलोचकों में भी एक वर्ग ऐसा है जिसे प्रगतिवादी कह सकते हैं। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय आदि प्रमुख हैं। इन आलोचकों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रगतिवादी आलोचना अधिक विकसित नहीं हो सकी। साथ ही इनके दृष्टिकोण में एक गम्भीर आलोचक की सी सुदृढ़ता, परिपक्वता एवं उच्चता नहीं मिलती, फिर भी इनका अपना विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की न्यूनतायें

हिन्दी में प्रगतिवाद का प्रचार जितनी शीघ्रता से हुआ, उतनी स्थिरता वह प्राप्त नहीं कर सका। लगभग बीस वर्ष की अवधि में भी वह ऐसी कोई विशिष्ट रचना नहीं दे सका, जिसे हम 'कामायनी' या 'गोदान' के स्तर पर रख सकें। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना किसी भी क्षेत्र में उनकी कोई ऐसी देन नहीं है, जिसे

हम अविस्मरणीय कह सकें। इस असफलता के कई कारण हैं। एक तो प्रगतिवाद की मूल सैद्धान्तिक न्यूनता ही यह है कि वह आध्यात्मिकता का पूर्ण तिरस्कार करता है। भारत जैसे देश में आध्यात्मिकता का बहिष्कार एकाएक कर देना बहुत कठिन है। दूसरे, जैसा कि मार्क्स ने स्वयं कहा था, कोई भी व्यवस्था या पद्धति अन्तिम नहीं होती, एक के बाद एक अच्छी व्यवस्था या पद्धति का विकास होता रहता है, अतः यह बात साम्यवादी व्यवस्था पर भी लागू होती है। किसी युग में साम्यवादी व्यवस्था सबसे अच्छी मानी जा सकती थी, किन्तु अब वह अपूर्ण सिद्ध हो गई है। आज का मानव उससे भी कोई अच्छी व्यवस्था चाहता है, जिसमें एकांगी स्थूलता एवं भौतिकता न होकर उसमें सूक्ष्मता एवं आध्यात्मिकता का भी मिश्रण हो। पंत जी जैसे कवि मार्क्सवाद की इस एकांगिता से ही ऊबकर लौट आये। तीसरे, जो लक्ष्य मार्क्सवादी विचारों का है—समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना—उसी लक्ष्य की ओर कांग्रेस सरकार भी धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है, अतः ऐसी स्थिति में भारत में मार्क्सवाद का प्रभाव न्यून हो जाना स्वाभाविक था। चौथे, हमारे कवि व साहित्यकार प्रगतिवादी विचारधारा को पूरी तरह पचा नहीं पाए, वे उसे अपनी बुद्धि का ही विषय बना सके, हृदय की वस्तु नहीं बना पाये, फलतः उनकी रचनाओं में शुष्क विचार मिलते हैं, अनुभूति की तरलता का अभाव है। सच्ची बात तो यह है कि हमारे अधिकांश साहित्यकार जो प्रगतिवादी वर्ग के नेता माने जाते हैं, स्वयं किसी पूंजीपति से कम नहीं हैं। पहाड़ियों के वैभवपूर्ण वातावरण में बैठकर निश्चिन्तता से मजदूरों के दुःख-दर्द के गीत लिखे जा सकते हैं, किन्तु उनमें अनुभूति की सजीवता आ जाय, यह आवश्यक नहीं। फलतः प्रगतिवादी साहित्य हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करता। पांचवें, हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी कथाकारों को कुछ ऐसा मति-भ्रम हो गया है कि नग्न-चित्रण को ही सच्चा मार्क्सवाद समझने लग गए इससे उन लेखकों की प्रतिष्ठा को तो ठेस पहुँची ही, प्रगतिवाद को भी धक्का लगा। छठे, स्वयं प्रगतिवादी आलोचकों में परस्पर मतभेद बढ़ जाने से भी इस क्षेत्र के लेखकों को पर्याप्त उत्साह नहीं मिला। सातवें, शैली एवं भाषा की दृष्टि से प्रगतिवादी काव्य का स्तर बहुत नीचे गिर गया। इन सब कारणों से प्रगतिवाद हिन्दी में अधिक नहीं जम सका। वस्तुतः जैसी सच्ची लगन एवं सामर्थ्य किसी नयी प्रवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अपेक्षित है, उसका प्रगतिवादियों में अभाव है।

उपसंहार

अस्तु, प्रगतिवाद हिन्दी में अधिक फल-फूल नहीं सका, किन्तु इसकी जड़ें अब भी जमी हैं। चाहे स्वयं प्रगतिवाद ने कोई विशेष महत्वपूर्ण रचना न दी हो, किन्तु इसके प्रभाव से प्रायः सभी वर्गों के साहित्यकारों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुआ है। नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचकों ने भी आलोचना के कई दृष्टिकोणों में समाजवादी दृष्टिकोण को भी स्थान देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। भले ही हम मार्क्स की विचारधारा से शत-प्रतिशत न सहमत हों, किन्तु इतना तो सभी स्वीकार

करते हैं कि श्रमिक वर्ग को पूरा पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए, उनकी स्थिति में पूर्णतः सुधार होना होना ही चाहिए; चाहे मजदूरों की गरीबी अमीरों में न बाँटी जाय, किन्तु अमीरों की अमीरी तो मजदूरों में बाँटनी ही चाहिए। यदि इस परिस्थिति के निर्माण में, श्रमिक वर्ग के अभ्युत्थान में तथा समाज को सुखी बनाने में प्रगतिवादी साहित्य कुछ भी मदद दे सके, तो यह उसकी एक बड़ी भारी सेवा होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि जब तक प्रगतिवादी साहित्य विचारों के शुष्क संकलन से बच कर भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं हो जाता, तब तक वह जन-समूह को प्रभावित करने के अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता।

: चौवालीस :

प्रयोगवाद और नयी कविता

सन् १९४३ ई० में अज्ञेय के नेतृत्व में हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक नये आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे अब तक विभिन्न संज्ञाएँ 'प्रयोगवाद', 'प्रपद्यवाद', 'नयी कविता' आदि— प्रदान की गई हैं। ये इसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं दिशाओं को सूचित करती हैं; यथा—प्रारम्भ में जबकि कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गयी थी तो इसे 'प्रयोगवाद' कहा गया। इसी आन्दोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रयोग किया। दूसरी ओर डॉ० जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया। संप्रति 'नयी कविता' नाम का ही अधिक प्रचलन है, किन्तु इसे भी एक अस्थायी नाम ही मानना चाहिए। जिस प्रकार नवविवाहिता को घर में कुछ समय तक 'नयी बहू' कहा जाता है, पर आगे चलकर वह नयी बहू भी किसी अन्य को 'नयी बहू' कहने लगती है, वैसी ही स्थिति 'नयी कविता' की है। पिछले युगों में खड़ीबोली कविता तथा छायावादी कविता को भी क्रमशः 'नयी धारा' और 'नयी कविता' कहा जाता रहा है, अतः यह नाम किसी विशिष्टता का सूचक नहीं है।

हमारे विचार से इस काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियां—व्यक्तिवाद एवं यथार्थवाद को ध्यान में रखते हुए इसे 'व्यक्तिपरक यथार्थवाद' की संज्ञा देना उचित होगा। पर उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से इसे और भी संक्षिप्त रूप देने के लिए 'अतियथार्थवाद' भी कहा जा सकता है। वस्तुतः पाश्चात्य साहित्य में भी इस प्रवृत्ति को इसी नाम से—Surrealism (अतियथार्थवाद)—पुकारा गया है, अतः इस दृष्टि से इसे 'अतियथार्थवाद' कहा जाय तो सार्थक सिद्ध होगा।

विकास क्रम—इस अतियथार्थवादी आन्दोलन का प्रवर्त्तन सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार-सप्तक' (१९४३) के प्रकाशन के द्वारा हुआ। आगे चलकर 'अज्ञेय' ने क्रमशः 'दूसरा सप्तक' (१९५१) और 'तीसरा सप्तक' (१९५९) भी संपादित एवं प्रकाशित किया। इन तीनों सप्तकों में सात-सात कवियों की रचनाएँ संकलित हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है—

(क) 'तार सप्तक'—१. अज्ञेय, २. गजानन माधव 'मुक्तिबोध', ३. गिरिजाकुमार माथुर, ४. प्रभाकर माचवे, ५. नेमिचन्द्र जैन, ६. भारत भूषण अग्रवाल, ७. रामविलास शर्मा।

(ख) 'दूसरा सप्तक'—१. भवानीप्रसाद मिश्र, २. शकुन्त माथुर, ३. हरिनारायण व्यास, ४. शमशेर बहादुर सिंह, ५. नरेशकुमार मेहता, ६. रघुवीर सहाय, ७. धर्मवीर भारती।

(ग) 'तीसरा सप्तक'—१. प्रयागनारायण त्रिपाठी; २. कीर्ति चौधरी, ३. मदन वात्स्यायन, ४. केदारनाथ सिंह, ५. कुँवरनारायण, ६. विजयदेव नारायण साही, ७. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

इन सप्तकों में केवल इन्हीं कवियों को क्यों स्थान दिया गया—इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'अज्ञेय' ने मुख्यतः दो बातें कही हैं, एक तो उन्होंने ऐसे कवियों को लिया है, जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग संग्रह निकाल सके। दूसरे 'उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं है। अभी राही हैं।' इसके अतिरिक्त एक तीसरी बात और भी थी, जिसका उल्लेख स्वयं 'अज्ञेय' ने नहीं किया। वह यह कि जिन कवियों ने अज्ञेय का पिछलग्गू बनना स्वीकार किया, वे ही इसमें स्थान पा सके। जिन्होंने बाद में नेतृत्व अस्वीकार कर दिया, उनका नाम आगे चल कर कवियों की सूची में से काट दिया। 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने इसी कोटि के कवियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—'कम से कम एक ने तो न केवल एलान करके कविता छोड़ दी, बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये।' यह विचित्र बात है कि पहले 'तार-सप्तक' के चुने हुए सात कवियों में से अनेक 'दूसरे सप्तक' के प्रकाशन से पहले ही कवि से आलोचक बन गये! इससे एक ओर जहाँ सप्तक के कवियों के कवित्व की अस्थिरता और क्षणभंगुरता सिद्ध होती है, वहीं सम्पादक की अदूरदर्शिता भी प्रमाणित होती है। वस्तुतः जिन व्यक्तियों को अज्ञेय ने ही 'कवि-रूप' में प्रतिष्ठित किया था, वे तभी तक इस पद पर रह सकते थे जब तक कि अज्ञेय के अनुयायी रहते। ज्यों ही उन्होंने अज्ञेय का नेतृत्व अस्वीकार किया, अज्ञेय ने उन्हें 'अकवि' घोषित कर दिया। अतः हमारे विचार से अज्ञेय के उपर्युक्त एलान का वास्तविक अर्थ इस प्रकार लिया जाना चाहिए—'कम से कम एक ने एलान करके हमारा नेतृत्व छोड़ दिया है तथा हमारे ऐसे आलोचक हो गए हैं कि हमें साहित्य के क्षेत्र से खदेड़ देने पर ही तुल गए हैं।'

अज्ञेय के प्रयासों से प्रेरित होकर नलिनविलोचन शर्मा तथा जगदीश गुप्त भी इस क्षेत्र में अवतरित हुए। नलिनविलोचन शर्मा ने अपने दो साथियों—केसरी कुमार और नरेश—को मिलाकर 'नकेनवाद' (तीनों व्यक्तियों के नाम के प्रथम

अक्षरों के आधार पर) की स्थापना की, जिसे दूसरा नाम—'प्रपद्यवाद' भी दिया। प्रपद्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में केसरीकुमार ने इसके विभिन्न सूत्रों की भी चर्चा की, जिनमें से कुछ ये हैं :

(१) प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।
(२) प्रपद्यवाद के लिए किसी शास्त्र के द्वारा निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।
(३) प्रपद्यवाद पूर्ववर्तियों की महान् परिपाटियों को निष्प्राण मानता है।
(४) प्रपद्यवाद प्रयोग को साधना ही नहीं, साध्य मानता है।
(५) प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित मानता है।

वस्तुतः नकेनवादियों का यह 'प्रपद्यवाद', अज्ञेय के 'प्रयोगवाद' की स्पर्द्धा में खड़ा किया गया आन्दोलन था, जो परम्परा का विरोध करने, नूतनता की दुहाई देने, तथा प्रयोग पर बल देने की दृष्टि से भी आगे था। इसने सिद्ध कर दिया कि असली प्रयोगवाद तो प्रपद्यवाद ही है, क्योंकि यह प्रयोग को ही साध्य मानता है, केवल साधन नहीं।

सन् १९५४ से डॉ० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता' शीर्षक के अनेक अर्द्ध-वार्षिक संकलन प्रकाशित करवाए, जिनमें कई नये कवियों को प्रकाश में लाने के साथ-साथ नयी कविता के विभिन्न पक्षों पर भी विचार-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रकार अब नयी कविता का नेतृत्व केवल अज्ञेय के हाथ में ही नहीं रह गया, और भी लोग उनकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हो गए हैं। अज्ञेय ने अपने प्रतिस्पर्द्धियों को 'नकलची' घोषित करते हुए 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में उनकी तीव्र भर्त्सना की है—"पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ, उन्हें पहचानने में फिर समय की लम्बी दूरी अपेक्षित हुई है।...पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असली को नकली न माना जाय।" इसी प्रकार जो कवि सप्तकों का आश्रय लिये बिना या अज्ञेय की स्वीकृति पाये बिना ही नये कवियों की पंक्ति में आ बैठे हैं, उनके सम्बन्ध में भी वे लिखते हैं—"नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नये कवियों के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।"

अस्तु, नयी कविता का अब तक का इतिहास देखने से कई बातें स्पष्ट होती हैं; यथा—(१) इस धारा का प्रवर्तन किसी गम्भीर लक्ष्य को सामने रखकर नहीं, अपितु नेतृत्व की भूख को शान्त करने के लिए हुआ था, तथा आगे चलकर इस नेतृत्व को लेकर भी इनमें पारस्परिक मतभेद होते रहे। (२) नयी कविता की प्रतिष्ठा [illegible] के आधार पर हुई है। इसके उन्नायकों ने जानबूझकर ऐसे वक्तव्य दिये जिनसे वे चर्चा (या कुचर्चा) के विषय बने। लोगों के द्वारा की गई चर्चा,

निन्दा या भर्त्सना को ही उन्होंने अपनी सफलता का आधार माना। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' जहां 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं —'आलोचकों द्वारा उसकी इतनी चर्चा हुई है कि उसे सप्तक के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।'—वहाँ जगदीश गुप्त भी लिखते हैं—'नयी कविता' के प्रथम अंक की काफी गहरी प्रतिक्रिया हुई है।'''और कुछ नहीं तो कम से कम इन सबके कारण 'नयी कविता' की बहुत सी प्रतियाँ बिक गईं।'

हमारे विचार से उत्तेजनात्मक बातें कहकर चर्चा का विषय बन जाना, गुट-बन्दियों के बल पर येन-केन-प्रकारेण अपनी रचनाओं को छपवाकर बेच डालना तथा पारस्परिक समझौते के आधार पर पारस्परिक मान्यता प्राप्त कर लेना; ये सब प्रयास संगठन-शक्ति एवं पत्रकारिता की कुशलता को तो प्रमाणित करते हैं किन्तु उन्हें साहित्यिक उपलब्धि के रूप में तो उसी अवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब कि वे पाठकों को साहित्यिक आस्वादन प्रदान कर सकें। अपनी रचनाओं की नीरसता को छिपाने के लिए पाठकों को अनुभूतिशून्य घोषित करते हुए उन्हें कविता पढ़ने के लिए अयोग्य घोषित कर देना, 'नाच न जाने, आँगन टेढ़ा' वाली कहावत को ही सार्थक करता है।

पूर्व-परम्परा और प्रेरणा-स्रोत—हिन्दी की काव्य-धारा यूरोप के अनेक आधुनिक काव्य सम्प्रदायों एवं काव्येतर सिद्धान्तों से प्रेरित एवं प्रभावित है, जिनमें प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद आदि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) प्रतीकवाद—प्रतीकवाद की स्थापना फ्रान्स के कुछ तरुण लेखकों एवं कवियों द्वारा १८८५ ई० में 'फिगारो' (Figaro) पत्रिका के माध्यम से हुई। इसके उन्नायकों में बोदेलेअर (Baudelaire), आर्थर रिम्बो (Arthur Rimbau), वरलेन (Verlaine), मलार्मे (Mallarme), पाल वेलरी (Paul Valary), आदि प्रमुख थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में 'प्रतीकवाद' (Symbolism) किसी निश्चित अर्थ का सूचक नहीं था। तथा इसके अलग-अलग कवियों में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ लक्षित होती थी। इसीलिए इसके एक नेता वेलरी (Valary) ने प्रतीक-वादी आन्दोलन को 'Intention of several groups of poets' कवियों के विभिन्न वर्गों का विचार मात्र माना है तथा ब्रुक्स महोदय ने इसे 'a bundle of tendencies not all of them very closely related' (परस्पर-असंबद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) मात्र घोषित किया। प्रतीकवादी आन्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक कवि का अपना-अपना मत था, फिर भी उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में एक संगठित प्रयास किया।

'प्रतीकवाद' की परिभाषा करते हुए शिप्ले महोदय ने लिखा है कि यह एक संदर्भ के यथार्थ को उसके अनुरूप दूसरे संदर्भ के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है।

इसने साहित्य को केन्द्र बनाया। इसका आरम्भ १६२७ ई० के आस-पास से माना जा सकता है, जबकि आन्द्रे ब्रेटन (Andre Bretan) नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने अपने मित्र 'फिलिप सोपोल्ट' (Philipe Soupault) की सहायता से सम्मोहन अवस्था (Hypnosis) में सामूहिक रूप से काव्य-रचना के प्रयोग किए। इसके अनन्तर आन्द्रे ब्रेटन ने १६२४ में अपना प्रयोग-सम्बन्धी घोषणा-पत्र प्रकाशित करते हुए बताया कि किस प्रकार अचेतन की सहायता से काव्य-रचना के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं।

अति यथार्थवाद के विकास-काल को सामान्यतः तीन खण्डों में बाँटा जाता है : (१) प्रारम्भ काल—१६२०-२४ ई०, जबकि विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग होते रहे। (२) मध्यकाल—१६२४ से १६३० तक, इस काल में अति यथार्थवादियों ने एक ओर तो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया तथा दूसरी ओर विशुद्ध स्वच्छन्द रूप से अनियंत्रित रूप में—काव्य-रचना के प्रयोग करते रहे। (३) उत्तर काल—१६३० के बाद; धीरे-धीरे अतियथार्थवाद मार्क्सवाद से अलग हो गया और काव्य-प्रयोगों में विशुद्ध अचेतन के स्थान पर चेतन-स्तर की भी थोड़ी-बहुत सहायता ली जाने लगी। इस युग में काव्य-रचना के एक 'Parano'c Method' (बौद्धिक उन्माद की पद्धति) का भी आविष्कार किया गया, जिसके अनुसार काव्य-रचना के क्षणों में कवि अपने मन को इस प्रकार उन्मत्त बना देने का प्रयास करता है कि जिससे वह विषय-वस्तु को नये रूप में देख सके।

अस्तु अति यथार्थवादियों ने जहाँ उन्मुक्त एवं विक्षिप्त रूप में काव्य-रचना के प्रयोग करके नयी रचना-पद्धति का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी क्रांति की। इन्होंने चेतन मन के स्थान पर अचेतन स्तर की सामग्री को प्रस्तुत करते हुए कुंठाओं, वासनाओं, भावनाओं एवं असामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति निर्द्वन्द्व रूप में की। साथ ही उन्होंने फ्रायडवादी विचारों का अनुसरण करते हुए समाज एवं संस्कृति-विरोधी भावनाओं को भी व्यक्त किया। अंग्रेजी में इनकी कविताओं के संग्रह 'New verse' या 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुए।

अति यथार्थवादियों के मूल प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(क) वास्तविकता या यथार्थ के स्वीकृत मानदंडों एवं सीमाओं को अस्वीकारना। (ख) काव्य में अब तक अप्रयुक्त सामग्री को प्रयुक्त करना। (ग) चेतन और अचेतन स्तर के मानसिक संस्कारों में सम्बन्ध स्थापित करना। (घ) बिना किसी बाह्य प्रभाव के उन्मुक्त रूप में सामग्री को प्रस्तुत करना। (ङ) जिस प्रकार अचेतन मन में सामग्री अव्यवस्थित एवं क्रम-शून्य रूप में स्थित है, उसी प्रकार काव्य-रचनाओं में भी अचेतन की वस्तु को प्रस्तुत करना, जिससे उसे अचेतन मन का सही प्रतिरूप कहा जा सके। (च) मन की कुंठाओं एवं वर्जनाओं को मुक्ति प्रदान करके अचेतन का विकास करना। इन तथ्यों को देखते हुए अति यथार्थवाद को फ्रायडवादी वाद भी कहा जा सकता है।

(ङ) अस्तित्ववादी दर्शन—अस्तित्ववाद (Existentialism) यूरोप की सर्वाधिक व्यक्तिवादी, आत्मोन्मुखी, अराजकतावादी और सामाजिक दार्शनिक विचारधारा है, जिसका विकास सोरेन किर्कगार्ड (Soren Kirkeguard 1813-1855), एफ० नीत्शे (F. Nietzsche : 1844-1900), मार्टिन हेडगर (Martin Heidgger : 1899) तथा जे० पी० सार्त्र (J. P. Sartre; 1905) जैसे स्वच्छन्द चिन्तकों द्वारा हुआ। यद्यपि इसकी भी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं, किन्तु सामान्यतः सभी अस्तित्ववादी तीन सामान्य मूल्यों (तत्वों) को स्वीकार करते हैं[1]—(१) दुःख और पीड़ा अस्तित्व की अनुभूति का अनिवार्य आधार है, अर्थात् दुःखी और पीड़ित हुए बिना हम अपने अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकते। (२) दुःख और पीड़ा से मुक्ति पाने का सबसे बड़ा उपाय यही है कि हम उसे स्वीकार कर लें। (३) मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि जिसमें उसकी सारी शक्तियाँ लग जाएँ तथा वह अपनी संवेदनाओं को गंभीरतम रूप में संवेदित कर सके। इसके लिए उसे खतरनाक परिस्थितियों का सामना करना चाहिए।

अस्तित्ववाद के व्याख्याता सार्त्र ने अस्तित्व की अनुभूति को ही जीवन का चरम सत्य मानते हुए बताया है कि मनुष्य अपनी रुचि के चुनाव में, अपने निर्णयों में पूर्ण स्वतन्त्र है, अपने किसी भी कार्य के लिए वह अन्य सत्ता या सामाजिक संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

अस्तित्ववाद अतीत और भविष्य के स्थान पर केवल वर्तमान में विश्वास करता है। वह वर्तमान क्षण की अनुभूति को भविष्य की कल्पनाओं से अधिक महत्व देता है। वह परम्परागत चिंतन, सामाजिक मूल्यों, नैतिक विचारों को ही नहीं वैज्ञानिक तर्कप्रणाली को भी अस्वीकार्य मानता है।

अस्तु, अस्तित्ववादी साहित्यकारों के अनुसार पात्रों की महानता, उदात्तता आदि कोई महत्व नहीं रखती। स्वयं सार्त्र ने अपने कथा-साहित्य एवं नाटकों में मानव के अत्यधिक कुरूप, बीभत्स, भयानक, हीन एवं तुच्छ रूप का चित्रण किया है। उनके नायक प्रायः बर्बर, कायर, नपुंसक एवं अधम श्रेणी के पात्र है। वस्तुतः वे साहित्य में महान मानव के स्थान पर लघु मानव की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।

कुरूप एवं अशोभनीय पक्षों का भी स्वागत किया जा सकता है, यदि उनके पीछे प्रेरणाएँ और प्रयोजन शुभ हों। किन्तु अस्तित्ववाद मनुष्य में केवल निराशा एवं आकांक्षा-शून्यता की भावना उत्पन्न करना चाहता है, जो मानव-हित की दृष्टि से घातक है। इसीलिए यह वाद बावजूद अपने प्रचार के लोकप्रिय नहीं हो सका।

(च) फ्रायडवादी मनोविश्लेषण—प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिग्मंड फ्रायड (१८५६-१९३९) के अनुसार कला-सर्जन के मूल में कलाकार की दमित वासनाओं एवं कुंठित काम प्रवृत्ति का योग रहता है। कलाकार अपनी कामवासना को समाज के भय से अथवा अन्य कारणों से सामान्य जीवन में व्यक्त नहीं कर पाता; वही वासना

१. Existentialism : Robert G. Olson.

या तो यौनविकृतियों तथा मानसिक रोगों के रूप में व्यक्त होती है, या स्वप्न और कला के माध्यम से। पर कला में दमित वासनाएँ अपने प्रकृत रूप में व्यक्त न होकर उदात्त (Sublimated) रूप में ही व्यक्त होती हैं, अर्थात् कला के माध्यम से कलाकार अपनी दमित वासनाओं एवं कुंठाओं का उदात्तीकरण करके एक प्रकार से उनकी विकृतियों से मुक्ति पाता है। ऐसी स्थिति में कला में यौन अंगों, वासनाओं एवं कुंठाओं का चित्रण होना स्वाभाविक माना गया है।

विभिन्न संप्रदायों से गृहीत प्रभाव—उपर्युक्त सम्प्रदायों से हिन्दी की नयी कविता ने अनेक प्रकार के प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ग्रहण किए हैं। अप्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य यह है कि सभी नये कवियों ने इन सम्प्रदायों का अध्ययन स्वयं नहीं किया, अपितु कुछ पथ-प्रदर्शकों ने अंग्रेजी की कविताओं के माध्यम से ही ये प्रभाव जाने या अनजाने में ग्रहण किए हैं, अतः इस प्रकार के प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप में गृहीत मानना उचित होगा। नयी कविता के उन्नायकों ने पाश्चात्य काव्य-सम्प्रदायों की न केवल काव्यमय प्रवृत्तियों का अनुसरण किया है, अपितु उनकी संगठन-पद्धति, प्रचार-पद्धति एवं नारेबाजी आदि का भी अनुकरण किया है। अतः इन प्रभावों को हम यहाँ दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बाह्य प्रभाव और (२) आन्तरिक प्रभाव। इन दोनों का विश्लेषण अलग-अलग किया जाता है :

(क) बाह्य प्रभाव

(अ) जिस प्रकार प्रतीकवादियों तथा बिम्बवादियों ने समय-समय पर अपने गुट बनाकर योजना-बद्ध एवं संगठित रूप में अपने काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना की, इसी प्रकार प्रयोगवाद एवं नकेनवाद की स्थापना की गई।

(आ) जिस प्रकार प्रतीकवाद में सम्मिलित होनेवाले कवियों ने अपने पारस्परिक मतभेद को स्वीकार करते हुए अपने गुट को 'Intention of several groups of poets' (विभिन्न वर्गों के कवियों का विचार) तथा a bundle of tendencies not all of them very closely related (परस्पर असम्बद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) घोषित किया, लगभग उन्हीं शब्दों में अज्ञेय ने अपने 'तार-सप्तक' की भूमिका में घोषित किया—"इनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं—अभी राही नहीं, राहों के अन्वेषी हैं।"

चलकर 'नयी कविता' नाम स्वीकार कर लिया।

(उ) पाश्चात्य साहित्य के इन आन्दोलनों ने अपनी 'कुचर्चा' को ही अपनी 'ख्याति' मानते हुए ऐसे उत्तेजनात्मक वक्तव्य दिये, जिससे कि उनकी अधिक से अधिक प्रतिक्रिया हो, लगभग ऐसा ही लक्ष्य प्रयोगवाद ने भी रखा है।

आन्तरिक प्रभाव

(अ) प्रतीकवादियों की भाँति हिन्दी के नये कवियों ने परम्परागत भाषा को मृत एवं प्रभावशून्य घोषित करते हुए नये प्रतीकों का प्रयोग अस्पष्ट एवं असंबद्ध रूप में किया।

(आ) प्रतीकवादियों की वैयक्तिकता, असामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, आदि की उन प्रवृत्तियों को, जिनके कारण वे 'क्षयोन्मुखी' (Decadents) कहलाए, हिन्दी के इन कवियों ने भी प्रश्रय दिया।

(इ) प्रतीकवादियों के द्वारा कृत्रिम रूप में प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके काव्य में अस्पष्टता, दुरूहता एवं क्लिष्टता मिलती है, जिसे उन्होंने दोष के स्थान पर गुण सिद्ध किया, यह बात हिन्दी के इन कवियों पर लागू होती है।

(ई) बिम्बवादियों ने जिस प्रकार नये विषयों, नई वस्तु, नये रूपों, नयी शैली और नयी भाषा को अपना लक्ष्य घोषित किया, वैसी ही घोषणा हिन्दी के नये कवियों ने की है।

(उ) बिम्बवादियों ने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण एवं बिम्बों के यथार्थ विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कृतियाँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ बन गईं। यह बात इन पर भी लागू होती है।

(ऊ) बिम्बवादियों ने विषय-वस्तु की प्रायः उपेक्षा की तथा दैनिक जीवन की अति साधारण बातों को कविता में स्थान दिया, इस प्रवृत्ति को हिन्दी कवियों ने भी अपनाया है।

(ए) दादावादियों ने परम्परागत संस्कृति एवं सभ्यता का जैसा विरोध किया वह हिन्दी के नये कवियों में भी मिलता है।

(ऐ) अति यथार्थवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी के नये कवियों में ज्यों की त्यों मिलती हैं :

१. अचेतन की कुण्ठाओं को व्यक्त करने का लक्ष्य सामने रखकर काव्य सम्बन्धी प्रयोग करना।

२. फ्रायडवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए कुण्ठाओं, वासनाओं, गुह्य भावनाओं को काव्य में व्यक्त करना।

३. वास्तविकता एवं यथार्थ के स्वीकृत आयामों को अस्वीकार करना।

४. अब तक अप्रयुक्त सामग्री को पहली बार काव्य में प्रयुक्त करने का दावा करना।

५. कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व (व्यक्तिगत कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं) से मुक्ति पाने का।

(अ) अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव से हिन्दी कविता में क्षणवाद, निराशावाद, लघु मानव की प्रतिष्ठा, आकांक्षा-शून्यता की प्रवृत्तियाँ आई हैं।

(आ) फ्रायडवाद की कतिपय प्रवृत्तियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरिक्त 'फ्री एसोसियेशन' की पद्धति भी फ्रायडवाद की देन है। इस पद्धति के अनुसार मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को सम्मोहित या अर्द्धनिद्रित अवस्था में लाकर उससे उन सभी विचारों को, उसी क्रम से, निर्बाध रूप में व्यक्त करने के लिए कहा जाता है, जिस क्रम से वे उनके मस्तिष्क में उठे हों। इस प्रकार रोगी की दमित वासनाओं एवं ग्रन्थियों का पता लगाया जाता है। कवियों ने भी इस पद्धति का प्रयोग काव्य-रचना में किया है। यहाँ इस प्रकार की एक कविता का उदाहरण प्रस्तुत है :

'आह; सारी रात
चाय रख दो कागजों पर,
या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी,
ई ईश्वर, उ उल्लू
चल हट बेटा।'

—राधाकान्त भारती

गई है। उर्दू में भी यह चीज आई थी, मगर मजाज, साहिर, सरदार, मखदूम, कैफी और जोश की कविताओं ने उसे बिल्कुल दबा दिया। बस रुझान में 'सिम्बोलिज्म' और 'फार्मेलिज्म' (प्रतीकवाद और रूप प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएँ हैं। यूरोप में ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके थे, हिन्दी में इनका युग आना बाकी था, तो आया।'[1]

तीसरे 'सप्तक' के कवि केदारनाथ सिंह ने भी आधुनिक कविता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है - "फिर धीरे-धीरे अंग्रेजी की आधुनिक कविता का सौन्दर्य भी मेरे निकट खुलने लगा और उसके माध्यम से कुछ अन्य भाषाओं की कविताओं से परिचय हुआ। आज वहाँ आकर मन टिक गया है, जहाँ से कालिदास, सूर, बोदलेयर, निराला, ऑडेन, डिलन टामस और जीवनानन्ददास समान रूप से प्रिय लगते हैं।'[2]

अस्तु, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस कविता का मूल स्रोत आधुनिक अंग्रेजी कविता है, उसी के माध्यम से यूरोप के विभिन्न कला-सम्प्रदायों एवं काव्य-सम्प्रदायों, दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विचारों का प्रभाव हिन्दी के नये कवियों तक पहुँचा है, यह दूसरी बात है कि सभी नये कवियों ने यह प्रभाव सीधे अंग्रेजी से ग्रहण न करके अपने पथ-प्रदर्शक हिन्दी कवियों के माध्यम से ग्रहण किया हो तथा उन्हें इस तथ्य का पता भी न हो।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

इस वाद से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन मुख्यतः दो वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) बाह्य प्रवृत्तियाँ और (२) आन्तरिक प्रवृत्तियाँ। इन दोनों को यहाँ क्रमशः लिया जाता है :

(क) बाह्य प्रवृत्तियाँ

जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, नये कवियों ने अपनी चर्चा को ही अपना प्रचार, कुख्याति को ही अपनी प्रसिद्धि एवं स्वयं को अच्छे या बुरे रूप में स्थापित कर देना ही अपने कवि-कर्म का लक्ष्य माना है, अतः उन्होंने अपनी कविताओं के साथ प्राय ऐसे ऊहात्मक वक्तव्य दिये हैं, जो पाठकों में गहरी प्रतिक्रिया या उत्तेजना पैदा कर सकें। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(अ) "मैं कविता क्यों लिखता हूँ—मैंने कविता क्यों लिखी? कहूँ कि किसी लाचारी से ही लिखी।...मैं कविता न लिखता यदि हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित कवियों में एक भी ऐसा होता जिसकी कविताओं में कवि का एक व्यापक-जीवन-दर्शन मिलता, (यदि) आज के गण्य मान्य आलोचकों में एक भी आलोचक ऐसा होता, जिसने प्रयोगवादी या नयी कविता के बारे में एक भी समझदारी की बात कही होती (यदि) हिन्दी का एक भी जागरूक पाठक ऐसा होता जिसने हिन्दी की

१. 'नया हिन्दी काव्य' डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृ० २०४।

२. 'तीसरा सप्तक', पृ० १८६।

वर्तमान विभूतियों की नयी लिखी जानेवाली रचनाओं पर घोर असंतोष न प्रकट किया होता।" (तीसरा सप्तक' : पृष्ठ २००)।

यह वक्तव्य सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का है। इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कवि ने कविता की प्रेरणा से कविता नहीं लिखी, अपितु हिन्दी में एक भी दार्शनिक कवि, एक भी समझदार आलोचक और एक भी जागरूक पाठक न होने की विवशता के कारण लिखी। पर सवाल यह है कि जब आलोचक और पाठक 'वर्तमान विभूतियों' की पूर्व रचित कविताओं को ही नहीं समझ पा रहे हैं, तो आपके कविता लिखने मात्र से उनमें 'समझ' कहाँ से आ जायेगी? उनका तर्क वैसा ही है, जैसा कि यह कहना कि मैं रोटी इसलिए बना रहा हूं, क्योंकि कोई भी रोटी नहीं खाता, किसी को भी रोटी खाने की इच्छा नहीं। फिर भी वह 'व्यापक दर्शन' कौन सा है, जिसका प्रचार अब तक एक भी हिन्दी कवि ने नहीं किया— इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, पर उनकी कविताओं से शायद इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त वक्तव्य के बाद प्रस्तुत की गई उनकी प्रतिनिधि कविताओं में से एक निम्नलिखित है :

मैं डरी-डरी सी, चले नहीं जाना बालम !
बेले की पहले ये कलियां खिल जाने दो,
× × ×
इस नीम की ओट से ऊपर उठने दो चंदा,
घर के आंगन में तनिक रोशनी आने दो
कर लेने दो तुम मुझको बन्द कपाट जरा,
कमरे के दीपक को पहले सो जाने दो,
तुम चले नहीं जाना बालम।

(तीसरा सप्तक; पृ० २३६)

सक्सेना ने हिन्दी में जिस व्यापक दर्शन के अभाव की शिकायत की है, उसी की पूर्ति उन्होंने कदाचित् इस कविता में की है। पर उन्हें पता नहीं कि इस प्रकार का दर्शन उन्हें [illegible] सस्ती फिल्मों के गानों में तथा उनके आस पास की गलियों में भी देखने को मिल सकता था। हाँ, 'प्रतिष्ठित कवियों' में से अवश्य किसी ने इस प्रकार के 'दर्शन' को प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की, अन्यथा वे 'प्रतिष्ठित' नहीं हो पाते।

(ग) "[illegible] से लेकर [illegible] तक, [illegible] भावना से लेकर सामाजिक [illegible], [illegible] से लेकर [illegible], [illegible] से लेकर [illegible] के [illegible] तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी 'वाद' की कविता का न हुआ।' ([illegible] : तीसरा सप्तक; पृ० ११६)

[illegible] प्रयोग [illegible] हुआ था ('उठा' [illegible], '[illegible]' [illegible] है, 'न हुआ' के स्थान पर 'नहीं हुआ' होता

चाहिए था) पर्याप्त रोचक है। हम मानते हैं कि अब तक किसी भी वाद की कविता ने गधे को देवताओं की परम्परा में स्थान नहीं दिया और न ही 'नग्न यौन भावना के चित्रण' में तथा 'अनुत्तेजित चित्रण' में वैसा विस्तार किया है, जैसा कि वात्स्यायन जी तथा उनके बन्धुओं ने किया है।

(ई) 'अपनी रचनाओं की व्याख्या आजकल प्रायः सभी लेखक करने लगे हैं। पहले युगों में ऐसी बात नहीं थी। इस दृष्टि से हमारे साहित्य ने बड़ी प्रगति की है। (कीर्ति चौधरी; 'तीसरा सप्तक' पृष्ठ ६५)

चौधरीजी को शायद मालूम नहीं कि पहले ऐसी अस्पष्ट रचनाएँ नहीं लिखी जाती थीं, जिनकी व्याख्या स्वयं लेखकों (कवियों) को करनी पड़े, अन्यथा इसे वे 'प्रगति' के स्थान पर 'दुर्गति' ही मानती।

खैर! इस प्रकार के वक्तव्यों की बहुत बड़ी संख्या है, जो वक्ताओं के बौद्धिक एवं नैतिक स्तर के साथ-साथ उनके भाषा-ज्ञान के स्तर पर भी प्रकाश डालती है। जिस प्रकार कोई गंजा यह वक्तव्य दे कि दुनिया में उसकी तथा उसके जैसे कुछ व्यक्तियों की ही खोपड़ी सबसे अधिक सुन्दर है, क्योंकि उस पर कोई बाल नहीं है, उसी प्रकार के हास्यास्पद वक्तव्य देते हुए इन कवियों ने भी नये 'दर्शन', नये सौन्दर्य शास्त्र एवं नये काव्य की प्रतिष्ठा का दावा किया है। पर दुर्भाग्य यह है कि इनके समर्थक आलोचकों एवं मित्रों ने भी इन्हें इस हास्यास्पद स्थिति से अवगत कराने के स्थान पर दुनिया के शेष सब लोगों को नासमझ घोषित कर दिया है। अभी १९६३ में प्रकाशित एक वक्तव्य में प्रो० कुमार 'विमल' ने घोषित किया है कि हिन्दी के 'नब्बे प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता में सौन्दर्य को समझने की बुद्धि नहीं है।[1] प्रश्न है, बाकी दस प्रतिशत कौन से लोग हैं—इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया, पर समझना चाहिए कि इसमें स्वयं नये कवि एवं उनके नये आलोचक ही आते हैं। यदि दुनिया के पागलों से पूछा जाय, तो वे भी यही कहेंगे कि पागलखाने के बाहर रहनेवाले सब लोग मूर्ख हैं, क्योंकि वे उनके प्रलाप का अर्थ नहीं समझते। यदि बाकी सभी लोग मूर्ख हैं तो उन्हें वे अपने महान् काव्य को समझाने की इतनी चिन्ता क्यों करते हैं? क्यों न ये समझदार आपस में एक दूसरे की रचनाएँ सुनकर, समझकर एवं प्रशंसा करके सन्तुष्ट हो लेते?

(ख) आन्तरिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी की इन नयी कविताओं में सामान्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :

(अ) **घोर वैयक्तिकता**—'नयी कविता' का प्रमुख लक्ष्य निजी मान्यताओं, विचारधाराओं एवं अनुभूति का प्रकाशन करना है। वैयक्तिकता की यह प्रवृत्ति रीतिकाल के स्वच्छन्द शृंगारी कवियों में भी विकसित हुई थी, किन्तु उन्होंने

१. नयी कविता, नयी आलोचना और कला; पृ० १७।

वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना इस प्रकार की जिससे वह प्रत्येक पाठक के हृदय को आन्दोलित कर सके; किन्तु इन कवियों में यह बात नहीं मिलती। कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए देखिए—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ,
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान-पान
साधारण वस्त्र-वास
× × ×
तब मैं एकाग्र मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विशिष्ट श्रेय मिला !

—भारत भूषण

यह रचना भारत भूषणजी के द्वारा रचित है; इसमें 'आत्म-विज्ञापन' किया गया है; भावनाओं के स्थान पर कवि ने अपनी महानता का विज्ञापन किया है। 'साधारण खान-पान' होते हुए भी उसने परीक्षाओं में विशिष्ट सफलता प्राप्त की— इसी तथ्य का निदर्शन है !! हमें कवि के साथ पूरी सहानुभूति है। साधारण खान-पान से ही कवि ने ऐसी सफलता प्राप्त कर ली, यदि उसे असाधारण खान-पान मिलता तो न जाने उसकी प्रतिभा का क्या हाल होता ! भारत-सरकार और जनता को चाहिए कि वह ऐसी महान् प्रतिभाओं के आत्म-विज्ञापन पर ध्यान दे।

(अ) दूषित वृत्तियों का नग्नरूप में चित्रण जिन वृत्तियों को अश्लील, असामाजिक एवं अस्वस्थ कहकर समाज और साहित्य में दमन किया जाता रहा है, उन्हीं को उभार कर प्रस्तुत करने में नये कवि गौरव का अनुभव करते हैं। अपनी अतृप्त कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं का प्रकाशन वे निःसंकोच रूप में करते हैं।

"मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है।
× × ×
पास घर आये तो
दिन भर का थका जिया मचल-मचल जाये !"

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

इसी प्रकार श्रीमती शकुन्तला माथुर ने 'सुहाग-वेला' में जो 'लपक-झपक' दिखाई है, वह भी द्रष्टव्य है—

'चली आई बेला सुहागिन पायल पहने

बाणविद्ध हरिणी सी
बाँहों में लिपट जाने की
उलझने की, लिपट जाने की,
मोती की लड़ी समान...।"

यहाँ कवयित्री ने सुहागिन की अनुभूति की तुलना 'बाणविद्ध हरिणी' से की है, जो पाठक के मन में करुणा ही उत्पन्न कर सकती है, उल्लास नहीं, जबकि कवयित्री का लक्ष्य यहाँ सुहागिन के उल्लास को व्यक्त करना था।

(इ) निराशावादिता—नये कवि को न तो अतीत से ही प्रेरणा मिलती है और न ही वह भविष्य की आशा-आकांक्षाओं से उल्लसित है। उसकी दृष्टि केवल वर्तमान तक सीमित है, अतः ऐसी स्थिति में उसका क्षणवादी, निराशावादी और विनाशात्मक प्रवृत्तियों में लीन हो जाना स्वाभाविक है। उनकी स्थिति उस व्यक्ति की भाँति है जिसे यह विश्वास हो कि अगले क्षण प्रलय होनेवाली है, अतः वे वर्तमान क्षण में ही कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें।
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल को वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

—मुद्राराक्षस

(ई) बौद्धिकता एवं शुष्कता नये कवि अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना कम करते हैं, अपने मस्तिष्क को कुरेद-कुरेदकर उसमें से कविता को बाहर खींच लाने का प्रयास अधिक करते हैं। वस्तुतः उनमें रागात्मकता की अपेक्षा विचारात्मकता अपितु अस्पष्ट विचारात्मकता अधिक होती है। नयी कविता के अनुयायियों का दावा है कि बौद्धिकता में भी एक रस होता है, बौद्धिक युग में बौद्धिकता से पाठक का हृदय आप्लावित नहीं हो सकता, इस तथ्य को ये कवि भी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही उनका कहना है कि कविता का उद्देश्य ही मस्तिष्क को कुरेदना है। निस्संदेह नयी कविता इस उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्णतः समर्थ है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अंतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूं!
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित सांचे में ढाल दूं!
निजी जो कुछ है अस्वीकृत कर दूं!
संबोधन के सर्ग को उपसंहृत कर दूं!
आत्मा को न मानूं
तुम्हें न पहचानूं

तुम्हारी दीवारों को फिर शून्य से उठाता हूँ
तभी
हाँ
शायद तभी···।

—[illegible]

ये पंक्तियाँ अपनी अस्पष्टता के कारण पाठक के मस्तिष्क को उलझाने में पूर्णतः समर्थ हैं, अतः इनकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है।

(उ) भदेस का चित्रण—नये कवियों ने अपनी असंयत सौन्दर्य-चेतना एवं विकृत रुचि के कारण कुरूप, असुन्दर एवं भद्दे दृश्यों का भी चित्रण प्रस्तुत किया है; यथा—

'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्यधन गदहा।'

—अज्ञेय

लगता है, कोई ठौर नहीं...
आज का मनुष्य,
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ - भ्रूणपुत्र!

—राजेन्द्रकिशोर[1]

मुहब्बत एक गिरे हुए गर्भ के बच्चे सी होती है।
चाहत वह, मजबूरी हो सकती है,
जिसे मरीज खाँस कर थूक न सके।

—मुद्राराक्षस[2]

वस्तुतः यह प्रवृत्ति अंग्रेजी की आधुनिक कविताओं में भी मिलती है, जिसका अंधानुकरण करने का प्रयास किया गया है। बी० पी० बागची ने अंग्रेजी कविता की इस आधुनिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह इन कवियों पर भी लागू होता है —"The modern poets have taught us to seek beauty in places where we would not have expected it, even in things which we used to consider dirty and ugly[3] (आधुनिक कवियों ने हमें उन स्थानों में भी सौन्दर्य खोजने की शिक्षा दी है, जहाँ सामान्यतः सौन्दर्य की आशा नहीं की जाती; यहाँ तक कि गंदे और भद्दे समझे जाने वाले विषयों में भी।)

(ऊ) साधारण विषय का चयन—नये कवि के पास कहने के लिए कोई बड़ी बात या कोई विशेष विषय नहीं है। अपने आस-पास की साधारण वस्तुओं—जैसे,

---

१-३. नयी कविता और उसका मूल्यांकन : सुरेशचन्द्र सहल, पृ० १५८-१६०।

चूड़ी का टुकड़ा, चाय की प्यालियाँ, बाटा की चप्पल, साइकिल, फ़ौन लेदर, कुत्ता, वेटिंगरूम, होटल, दाल, तेल नोन, लकड़ी आदि — को लेकर इधर-उधर की कुछ कह देता है, वह उनके लिए कविता बन जाता है—

बैठ कर ब्लेड से नाखून काटें,
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की
खाली जगह छाँटें,
सर खुजलायें, जम्हुआयें,
कभी धूप में आयें
कभी छाँह में जायें।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

दिन मर गया है, मैं भी मर गया हूँ;
हींग और हल्दी से वासित मेरी बीवी मगर अभी जिंदा है !
और उसके पेट में कुछ और नयी जिन्दगी है,
मेरी कोट फटा है उसने ही सिया है।

—अनन्त कुमार 'पाषाण'[1]

यदि इस प्रकार की उक्तियों को 'कविता' का नाम दिया जा सकता है, तो निस्संदेह हर एक व्यक्ति को 'कवि' कहा जा सकता है। यदि किसी घर के कोने में या किसी गली के बीच कोई टेप-रिकार्डर लगा दिया जाय तो ऐसी हजारों कविताएँ रोज तैयार हो सकती हैं। बच्चों की रफ कापियों मे; या हमारी रोजाना की डायरियों में ऐसी उक्तियाँ मिल जायेंगी। यही कारण है कि एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नयी कविता की भरपूर निन्दा करनेवाली कई सदस्याओं ने स्वयं नयी कविता लिखकर कापियाँ भर डाली थीं।' ('तीसरा सप्तक', पृ० ६४) हमारा विचार है कि ऐसी स्थिति में अब कविता का अकाल नही रहेगा तथा कवियों की संख्या उतनी ही बताई जा सकेगी, जितनी कि जन-संख्या है।

(ए) व्यंग्य एवं कटूक्ति—नये कवियों ने कहीं-कहीं आधुनिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यंग्य करने का प्रयास किया है, किन्तु व्यंग्य के लिए जिस मानसिक संतुलन की अपेक्षा है; उसका प्रायः नये कवियों में अभाव है, इससे उनकी उक्तियाँ सफल व्यंग्य बनने के स्थान पर प्रभाव-शून्य कटूक्तियाँ बन जाती हैं, यथा —

'साँप ! तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया,
फिर कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया ?'

—अज्ञेय

१. वही पृ० १६१।

यहाँ कवि मानकर चलता है कि आधुनिक मनुष्य साँप से भी अधिक विषैला है, साँप तो बेचारा निर्दोष प्राणी था—फिर उसने इतना जहर कहाँ से सीख लिया? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह नगर में रहा हो! पर कवि की इस भावना के साथ सामान्य पाठक का तादात्म्य स्थापित नहीं होता, अतः इसमें अपेक्षित संप्रेषणीयता का अभाव है।

(ऐ) असम्बद्ध प्रलाप—मनोविश्लेषण चिकित्सा प्रणाली में रोगी के द्वारा निद्रित या अनिद्रित अवस्था में कहे गए असम्बद्ध उद्गारों का अध्ययन करके उसकी कुण्ठाओं का पता लगाया जाता है तथा इस पद्धति को 'उन्मुक्त साहचर्य' (Free Association) की पद्धति कहते हैं। नयी कविता में इस पद्धति का उपयोग करते हुए असम्बद्ध प्रलाप प्रस्तुत किये गए हैं, यथा—

आह, सारी रात
चाय रख दो कागजों पर
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
ई, ईश्वर, उ, उल्लू
चल हट बेटा

—राधाकान्त भारती

(ओ) शैलीगत प्रवृत्तियाँ—नये कवियों ने नूतन प्रयोगों को अपना लक्ष्य मानते हुए अपनी कविता में नये बिम्बों, नये प्रतीकों, नये उपमानों, मुक्त छंदों और नयी शब्दावली का प्रयोग किया है। परम्परागत प्रतीकों एवं उपमानों के स्थान पर उन्होंने आधुनिक युग के उपकरणों—विशेषतः वैज्ञानिक साधनों—की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. नये प्रतीक—'प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया।'

२. नये उपमान—आपरेशन थियेटर सी,
'जो हर काम करते हुए भी चुप है।'
या—'बिजली के स्टोव सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है।'

३. नये बिम्ब—'कोठरी में दीप की लौ सेंकती ठंडा अंधेरा'
'बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।'

४. नये शब्द—(क) बोल-चाल के शब्द : मटियाली, फफूंद, ललोई, दुधारू, भुनगे, अंदेशे, बिटिया, ठहराव आदि।
(ख) विदेशी शब्द : क्रूसेड, टाउन, क्यूब, आटोग्राफ, नार्सिसस, लाओकून, फीनिक्स, आदि।
(ग) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग—निर्व्याख्या, विश्ववत्, अस्मिता, ईप्सा, विलन्न, समवाय, विकीरित, इयत्ता, विपर्यास, पारमिता आदि।

कवियों की शिल्पविधि और शैली में अनेक महत्त्वपूर्ण दोष हैं; जिनकी

विस्तृत चर्चा डा० कैलाश वाजपेयी ने अपने शोध-प्रबन्ध में की है; यहाँ उनका संकेत मात्र किया जाता है—[1]

१. नवीनता के नाम पर अकाव्यात्मक तत्त्वों को स्थान देना।

२. नवीनता के अत्यधिक आग्रह के कारण बेढंगी उपमाओं, अनगढ़ शब्दों, असंबद्ध पदों का और अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग करना; जैसे—

(क) मस्तक इतना खाली-खाली;
लगता जैसे हो कोई सड़ा हुआ नारियल।

—धर्मवीर भारती

(ख) एक दिन होगी प्रलय भी
मत रहेगी झोंपड़ी।

—भवानीप्रसाद मिश्र

(ग) तू उमड़ चढ़ वक्ष में अपने गगन को घेरे।

—कुंवरनारायण

यहाँ तीनों उदाहरण क्रमशः बेढंगी उपमा एवं अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं।

३. विषय-वस्तु में शृंखला एवं रागात्मक-सामंजस्य का अभाव।

४. क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

५. अशोभन उत्प्रेक्षा का प्रयोग।

६. क्रिया-पदों और विशेषणों का मनमाना प्रयोग।

७. अश्लील एवं अरुचिकर दृश्यों का अंकन।

८. कविता के नाम पर कहीं-कहीं शब्दों का खिलवाड़ करना, यथा—

ए + क	= क
एक + वियोग	= कवि
एक + वियोग + तान	= कविता

वस्तुतः हमारे काव्य-शास्त्र में काव्यगत दोषों के जितने भेद बताये गये हैं, उन सभी के सुन्दर एवं उपयुक्त उदाहरण नयी कविता में मिल जाते हैं, अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि एक ऐसा नया सौन्दर्य शास्त्र तैयार किया जाय जिससे सभी दोषों को गुण सिद्ध किया जा सके, सौभाग्य से नये कवि, कवि होने के साथ-साथ व्याख्याता एवं आलोचक भी हैं तथा आवश्यकता की पूर्ति में भी पूरी शक्ति से लगे हुए हैं, अतः आशा की जा सकती है कि भविष्य में ये दोष काव्य के गुण मान लिये जायेंगे।

उपलब्धियाँ और अभाव—अपने बीस-बाईस वर्ष के जीवन में इस अतियथार्थवादी हिन्दी कविता ने हमें क्या दिया है, यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो दो बातें

१. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : डॉ० कैलाश वाजपेयी, पृ० ३०५, ३११।

स्पष्ट रूप से ही नहीं आ गया है, एक ओर उसने कविता और [illegible] के अन्तर को इतना कम कर दिया है कि अब हर [illegible] [illegible] बन सकता है। दूसरे, अब हिन्दी में [illegible] भी यह मानते हैं कि [illegible] की किसी भी धारा से पीछे नहीं है, उसका भी दृष्टिकोण आधुनिकतम एवं नवीनतम है। पर इस कविता का दुर्भाग्य यही है कि अभी तक हिन्दी में ऐसे पाठक उत्पन्न नहीं हुए, जो कि इसका आस्वादन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पीछे कहा गया है, एक नए आलोचक ने बताया है कि 'हिन्दी के नये कविता पाठकों' में नयी कविता को समझने की दृष्टि एवं बुद्धि नहीं है। हिन्दी के पाठकों में एकाएक बुद्धि का यह अभाव कैसे आ गया, इसका स्पष्ट उत्तर तो आज तक किसी भी नव कविता के आलोचक ने नहीं दिया, पर सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि नयी कविता के लिये 'आधुनिक बोध' (Modern Sensibility) चाहिए। यह आधुनिक बोध क्या है? तथा नये कवियों को ही यह बोध कहां से प्राप्त हो गया, भारत की शेष जनता इस बोध से क्यों वंचित है—इसका रहस्य अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ। सामान्यतः अंग्रेजी की आधुनिक कविता के अध्ययन, अस्तित्ववादी दर्शन, फ्रायडवादी मनोविज्ञान के प्रभाव से रुचि का—या काव्य-रुचि का—इतना विकृत हो जाना कि वह यौन भावनाओं के नग्न चित्रण, कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति, निराशा एवं शून्यता की अनुभूति एवं अश्लील, अस्वस्थ एवं भोंड़े दृश्यों में ही रुचि लेने लग जाय, इसी को 'आधुनिक बोध' कहते हैं। 'बीरबल-विनोद' में एक किस्सा है कि एक बार बीरबल ने शर्त रखी थी कि जो अपनी नाक कटायेगा, उसे ही स्वर्ग दिखाई देगा; कुछ ऐसी ही शर्त नयी कविता के आस्वादन की है।

पर हमें यहाँ इस तथ्य को न भूलना चाहिए कि जिस 'आधुनिक बोध'—पर हम इतना गर्व कर रहे हैं, वह पश्चिम के एक वर्ग-विशेष की निराशावादिता एवं क्षयोन्मुखता की देन है। पश्चिम के समाज-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वानों ने इसे एकस्वर से सभ्यता एवं संस्कृति की पतनोन्मुखता एवं ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना है। नये काव्य में घोर व्यक्तिवाद, निराशावाद, भोगवाद एवं उच्छृङ्खलतावाद की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, वह न प्रतिभा के वैशिष्ट्य की सूचक है, न कला के सौन्दर्य की और न ही समाज-हित की। उसका कथ्य छिछला है और कथन-विधि अस्पष्ट, भोंड़ी एवं कला-शून्य है। इसलिए प्रसिद्ध जर्मन समाज-शास्त्री ओस्वाल्ड स्पैंग्लर ने अपनी विश्व-विख्यात कृति 'The Decline of West' (पश्चिम का पतन) में आधुनिक कला की रुग्णावस्था एवं ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए आज की कलाबाजी को 'फरेब' और 'मक्कारी' तथा आज के कलाकारों को 'Industrious Cobblers' और 'Noisy fools' की संज्ञा दी है।[1] इसी प्रकार सी० डी० लेविस ने जो स्वयं अंग्रेजी के आधुनिक कवि एवं आलोचकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उन तथ्यों का विवेचन एवं स्पष्टीकरण किया है जिनके कारण नये कवियों की कविताएँ सामाजिक के द्वारा

1. The Decline of West : Oswald Spengler, 1959, P. 299.

आदृत नहीं हो सकीं। उनके विचार से अंग्रेजी की आधुनिक कविता में, विशेषतः बिम्बवादियों की कविता में ये दोष हैं[1] —(१) आधुनिक युग परिवर्तनशील है, अतः आधुनिक बिम्बों का प्रभाव भी क्षणभंगुर है। (२) नये बिम्ब एवं उपमान रागात्मक संपर्कों से शून्य होने के कारण काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में असफल सिद्ध होते हैं। (३) नया कवि परंपरागत शैलियों का एकाएक तिरस्कार करके एकमात्र बिम्ब-सिद्धान्त का ही अन्धानुयायी हो गया है। (४) जिन बिम्बों का नया कवि प्रयोग करता है, वे जनसामान्य की कल्पना से बहुत दूर के होते हैं। (५) नये कवियों के बिम्ब किसी एक अनुभूति एवं भावना में अनुस्यूत न होने के कारण कोई स्पष्ट, व्यवस्थित एवं सुसम्बन्धित प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। (६) नये कवियों ने विषय को सर्वथा गौण कर दिया है। इस प्रकार नयी कविता पाठकों के लिए अस्पष्ट, असंवेद्य एवं प्रभावशून्य हो गई है। अतः कवियों का अपनी त्रुटियों एवं अपूर्णता के लिए पाठक को दोष देना वैसा ही है, जैसा कि एक अकुशल कारीगर का अपने औजारों में मीनमेख निकालना।

यदि आधुनिक कवि ने उपर्युक्त दोषों को दूर नहीं किया तो वर्तमान समाज में उसकी क्या स्थिति हो जायगी, इसकी कल्पना करते हुए लेविस महोदय ने लिखा है—
Can he (modern poet) survive in the modern world, except as a kind of village idiot tolerated but ignored talking to himself hanging around the pub and petrol pumps, his head whirled with broken images, mimicking the movements of a life in which he has no part ?[2]

अर्थात् वह (नया कवि) आधुनिक दुनियाँ के केवल उस देहाती मूर्ख की भाँति ही जीवित रह सकता है, जिसे उपेक्षापूर्वक सहन कर लिया जाता है तथा जो स्वयं जीवन से दूर रहकर दूसरों की गतिविधियों की नकलें उतारता हुआ, अपने दिमाग में चक्कर काटते हुए टूटे-फूटे बिम्बों को लिये हुए, अपने-आपसे बातें करते हुए सराय और पेट्रोल पम्प के चारों ओर चक्कर काटता रहता है!

उपर्युक्त सभी बातें हिन्दी की नयी कविता एवं उनके रचयिताओं पर भी लागू होती हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह प्रभृति आलोचकों ने नयी कविता का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इसकी विभिन्न त्रुटियों एवं न्यूनताओं पर प्रकाश डाला है। आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि इनमें अनेक रचनाएँ भौंडे-व्यंग्य की सृष्टि करती हैं, उनमें अर्थ-परम्परा का निर्वाह नहीं होता, पूरी रचना पढ़ लेने पर भी भावान्विति का बोध नहीं होता तथा इसकी विषय-वस्तु भी सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती। साथ ही साथ इनमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक

1. The Poetic Image : C. D. Lewis, p. 105
2. The Poetic Image : C. D. Lewis, P. 110

स्पष्ट रूप से ही कही जा सकती हैं, एक तो इसने कविता और अकविता के अन्तर को इतना कम कर दिया है कि अब हर व्यक्ति कवि होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। दूसरे, अब हिन्दी के साहित्यकार भी कह सकते हैं कि आधुनिकता में वे यूरोप की किसी भी धारा से पीछे नहीं हैं, उनका भी दृष्टिकोण आधुनिकतम या नवीनतम है। पर इस कविता का दुर्भाग्य यही है कि अभी तक हिन्दी में ऐसे पाठक उत्पन्न नहीं हुए, जो कि इनका आस्वादन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पीछे कहा गया है, एक नए आलोचक ने बताया है कि 'हिन्दी के नब्बे प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता को समझने की दृष्टि एवं बुद्धि नहीं है। हिन्दी के पाठकों में एकाएक बुद्धि का यह अकाल कैसे आ गया, इसका स्पष्ट उत्तर तो आज तक किसी भी नये कवि या नये आलोचक ने नहीं दिया, पर सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि नयी कविता के लिये 'आधुनिक बोध' (**Modern Sensibility**) चाहिए। यह आधुनिक बोध क्या है ? तथा नये कवियों को ही यह बोध कहाँ से प्राप्त हो गया, भारत की शेष जनता उस बोध से क्यों वंचित है—इसका रहस्य अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ। सामान्यतः अंग्रेजी की आधुनिक कविता के अध्ययन, अस्तित्ववादी दर्शन, फ्रायडवादी मनोविज्ञान के प्रभाव से रुचि का—या काव्य-रुचि का—इतना विकृत हो जाना कि वह यौन वासनाओं के नग्न चित्रण, कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति, निराशा एवं शून्यता की अनुभूति एवं अश्लील, अस्वस्थ एवं भौंड़े दृश्यों में ही रुचि लेने लग जाय, इसी को 'आधुनिक बोध' कहते हैं। 'बीरबल-विनोद' में एक किस्सा है कि एक बार बीरबल ने शर्त रखी थी कि जो अपनी नाक कटायेगा, उसे ही स्वर्ग दिखाई देगा; कुछ ऐसी ही शर्त नयी कविता के आस्वादन की है।

पर हमें यहाँ इस तथ्य को न भूलना चाहिए कि जिस 'आधुनिक बोध'—पर हम इतना गर्व कर रहे हैं, वह पश्चिम के एक वर्ग-विशेष की निराशावादिता एवं क्षयोन्मुखता की देन है। पश्चिम के समाज-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वानों ने इसे एकस्वर से सभ्यता एवं संस्कृति की पतनोन्मुखता एवं ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना है। नये काव्य में घोर व्यक्तिवाद, निराशावाद, भोगवाद एवं उच्छृङ्खलतावाद की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, वह न प्रतिभा के वैशिष्ट्य की सूचक है, न कला के सौन्दर्य की और न ही समाज-हित की। उसका कथ्य छिछला है और कथन-विधि अस्पष्ट, भौंड़ी एवं कला-शून्य है। इसलिए प्रसिद्ध जर्मन समाज-शास्त्री ओस्वाल्ड स्पैंगलर ने अपनी विश्व-विख्यात कृति '**The Decline of West**' (पश्चिम का पतन) में आधुनिक कला की रुग्णावस्था एवं ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए आज की कलाबाजी को 'फरेब' और 'मक्कारी' तथा आज के कलाकारों को '**Industrious Cobblers**' और '**Noisy fools**' की संज्ञा दी है।[1] इसी प्रकार सी० डी० लेविस ने जो स्वयं अंग्रेजी के आधुनिक कवि एवं आलोचकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उन तथ्यों का विवेचन एवं स्पष्टीकरण किया है जिनके कारण नये कवियों की कविताएँ सामाजिक के द्वारा

1. The Decline of West : Oswald Spengler, 1959, P. 299.

आदृत नहीं हो सकीं। उनके विचार से अंग्रेजी की आधुनिक कविता में, विशेषतः बिम्बवादियों की कविता में ये दोष हैं[1]—(१) आधुनिक युग परिवर्तनशील है, अतः आधुनिक बिम्बों का प्रभाव भी क्षणभंगुर है। (२) नये बिम्ब एवं उपमान रागात्मक संपर्कों से शून्य होने के कारण कात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में असफल सिद्ध होते हैं। (३) नया कवि परंपरागत शैलियों का एकाएक तिरस्कार करके एकमात्र बिम्ब-सिद्धान्त का ही अन्धानुयायी हो गया है। (४) जिन बिम्बों का नया कवि प्रयोग करता है, वे जनसामान्य की कल्पना से बहुत दूर के होते हैं। (५) नये कवियों के बिम्ब किसी एक अनुभूति एवं भावना में अनुस्यूत न होने के कारण कोई स्पष्ट, व्यवस्थित एवं सुसम्बन्धित प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। (६) नये कवियों ने विषय को सर्वथा गौण कर दिया है। इस प्रकार नयी कविता पाठकों के लिए अस्पष्ट, असंवेद्य एवं प्रभावशून्य हो गई है। अतः कवियों का अपनी त्रुटियों एवं अपूर्णता के लिए पाठक को दोष देना वैसा ही है, जैसा कि एक अकुशल कारीगर का अपने औजारों में मीनमेख निकालना।

यदि आधुनिक कवि ने उपर्युक्त दोषों को दूर नहीं किया तो वर्तमान समाज में उसकी क्या स्थिति हो जायगी, इसकी कल्पना करते हुए लेविस महोदय ने लिखा है—
Can he (modern poet) survive in the modern world, except as a kind of village idiot tolerated but ignored talking to himself hanging around the pub and petrol pumps, his head whirled with broken images, mimicking the movements of a life in which he has no part ?[2]

अर्थात् वह (नया कवि) आधुनिक दुनियाँ के केवल उस देहाती मूर्ख की भाँति ही जीवित रह सकता है, जिसे उपेक्षापूर्वक सहन कर लिया जाता है तथा जो स्वयं जीवन से दूर रहकर दूसरों की गतिविधियों की नकलें उतारता हुआ, अपने दिमाग में चक्कर काटते हुए टूटे-फूटे बिम्बों को लिये हुए, अपने-आपसे बातें करते हुए सराय और पेट्रोल पम्प के चारों ओर चक्कर काटता रहता है !

उपर्युक्त सभी बातें हिन्दी की नयी कविता एवं उसके रचयिताओं पर भी लागू होती हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह प्रभृति आलोचकों ने नयी कविता का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इसकी विभिन्न त्रुटियों एवं न्यूनताओं पर प्रकाश डाला है। आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि इनमें अनेक रचनाएँ भौंडे-व्यंग्य की सृष्टि करती हैं, उनमें अर्थ-परम्परा का निर्वाह नहीं होता, पूरी रचना पढ़ लेने पर भी भावान्विति का बोध नहीं होता तथा इसकी विषय-वस्तु भी सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती। साथ ही साथ इनमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक

1. The Poetic Image : C, D. Lewis, p. 105
2. The Poetic Image : C. D. Lewis, P. 110

दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता का भी अभाव है। डा० नगेन्द्र ने नयी कविता की दुरूहता का विश्लेषण करते हुए इसके पाँच कारण बताये हैं—(१) भाव तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत सम्बन्ध होना। (२) साधारणीकरण का त्याग। (३) उपचेतन मन के अनुभव-खण्डों का यथावत् चित्रण। (४) भाषा का एकान्त एवं अनर्गल प्रयोग। (५) नूतनता का सर्वग्राही मोह। नये कवि आलोचकों की आलोचनाओं से लाभ उठाने के स्थान पर किस प्रकार प्रत्यारोप करते हैं, इस प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक शैली में विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करके भी पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके। जहाँ किसी आलोचक ने नयी कविता के सिलसिले में 'रस' की चर्चा की कि नये कवि दल-बल सहित अपने-अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं का अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जाएँगे। तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं। या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहाँ भाग खड़ा हो जहाँ रस-मर्मज्ञ पाठक एवं श्रोता हों, या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे—'मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिये, प्रयोगवाद एक नया सौन्दर्य-शास्त्र लेकर आया है।' (समालोचक, अगस्त १९५९)।

इस प्रकार शिवदानसिंह चौहान ने भी इन कवियों की विभिन्न प्रचारात्मक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्भीकतापूर्वक कहा है—प्रयोगवादी कवि अभिजात वर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं, जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृङ्खल और दायित्वहीन हैं, दूसरी ओर वर्तमान पूँजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास की आशंका से संत्रस्त और उद्भ्रान्त भी हैं। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के लिए 'प्रयोग' के वकील, आलोचकों, संपादकों और अध्यापकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है, जो उक्तिवैचित्र्य, शब्दचयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारणतया प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती हैं? तुम इसे अनर्गल प्रलाप कहते हो? तो तुम निश्चय ही रूढ़िग्रन्थी हो, समय से पिछड़े हुए हो, तुम्हारी रुचि का आधुनिक संस्कार नहीं हुआ, तुम मतवादी, पूर्वग्रहों से ग्रस्त हो।' (काव्य-धारा, पृ० १, ५, २०६-७)

वस्तुतः इस प्रकार के तर्कों से अपने युग के पाठकों एवं आलोचकों का मुँह बंद किया जा सकता है, किन्तु उनकी मान्यता एवं प्रशंसा तो तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि मानवीय भावनाओं को आन्दोलित करनेवाली सच्ची कविताएँ लिखी जायँ। हमें यह समझ लेना चाहिये कि आधुनिकतम या नवीनतम का अर्थ सर्वोत्तम

नहीं है; उदाहरण के लिए नवीन शोध से ऐसे रोगाणुओं एवं बीमारियों का भी पता चला है कि जिन्हें आधुनिकतम कहा जा सकता है किन्तु केवल इसी विशेषता के कारण हम उन्हें अपनाने के लिए तैयार न होंगे। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता अपना क्रोड़ में नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ-साथ ऐसी प्रवृत्तियों को भी जन्म दे रही है, जो अस्वस्थ, अनैतिक एवं मानवघाती हैं। अतः पश्चिम की प्रत्येक आधुनिक प्रवृत्ति का अंधानुकरण करना केवल प्रतिभाशून्य नकलचियों एवं बौद्धिक गुलामों का ही काम है। समझदार व्यक्ति पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन की देन में से केवल उतना ही स्वीकार करता है, जितना कि उपयोगी स्वस्थ, शुभ और सुन्दर हो, शेष को वह ठुकरा देता है।

विभिन्न आलोचकों के प्रभाव से अब नये कवियों में से कुछ लोग अपनी न्यूनताओं एवं त्रुटियों को समझने लग गये हैं। श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी ने 'तीसरे सप्तक' में इसी स्थिति का परिचय देते हुए ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है—'मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज बकवास हैं। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना, शब्दों को तोड़-मरोड़ देना, कोलन, डैश उक्ति-चिह्न और कोष्ठकों को निरर्थक ढंग से बैठा देना, मनमाने तौर पर लय को बदल देना, बिना आत्मसात् किये नयी उपमा, उत्प्रेक्षाओं या बिम्बों को परेशान पाठकों के सम्मुख ढकेल देना—ये तथा इसी प्रकार के अनेक दोष आज की अनेक कविताओं में दिखाई देते हैं। (तीसरा सप्तक, पृ० २४)

श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी 'तीसरे सप्तक' के शीर्षस्थ कवि हैं, अतः उनका यह वक्तव्य पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यदि अन्य कवि भी आत्मनिरीक्षण की इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करें, वे 'नयी कविता' नहीं, केवल 'कविता' लिखने की चेष्टा करें तथा पश्चिम के अंधानुकरण के स्थान पर निजी अनुभूतियों पर विश्वास करें तो अवश्य ही तथा कथित 'नयी कविता' 'सच्ची कविता' का रूप प्राप्त कर सकती है।

इधर 'नयी कविता' के और भी कई विद्रूपों का आविर्भाव हुआ है—जिसमें अकविता, ठोस कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सुवादी कविता, भूखी पीढ़ी की कविता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विकासवाद के नियम के अनुसार जब कोई परम्परा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचकर ह्रासोन्मुखी होने लगती है तो उसके आधारभूत तत्त्व क्षीण हो जाते हैं और उसका रूप अनेक कृत्रिम रूपों में विभक्त हो जाता है यहाँ तक कि उसके मूल स्वरूप को पहचानना भी कठिन हो जाता है। प्रति दशाब्दी के बाद बदलनेवाले कविता के ये नये-नये रूप, उसके सहज स्वाभाविक तत्त्वों के स्थान पर विजातीय एवं विरोधी तत्त्वों की प्रतिष्ठा तथा उसकी आत्मघाती समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ क्या यह सूचित नहीं कर रही हैं कि कविता अपनी प्रौढ़ावस्था से आगे बढ़ कर उस अवस्था के समीप पहुँच गई है, जिसे हम जीर्ण जरावस्था कहते हैं! ऐसी स्थिति में स्वस्थ, सबल एवं सुन्दर कविता की आशा करना दुराशा मात्र ही है।

:: पैंतालिस ::

यथार्थवाद और हिन्दी-काव्य

'यथार्थवाद' का शाब्दिक अर्थ है—जो वस्तु जैसी हो, उसे उसी अर्थ में ग्र करना। दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में वह वि दृष्टिकोण, जो सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल को, काल्पनिक की अपेक्षा वास्तविक भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को, सुन्दर के स्थान पर कुरूप को, आदर्श के स्थान यथार्थ को ग्रहण करता है—यथार्थवादी दृष्टिकोण कहलाता है। दर्शन के क्षेत्र जहाँ एक आदर्शवादी किसी अप्रत्यक्ष सत्ता, अलौकिक शक्ति, सूक्ष्म जगत् और मर त्तर जीवन के अस्तित्व में विश्वास करता है, वहाँ यथार्थवादी स्थूल, भौतिक एवं प्र जगत् में ही जीवन की इतिश्री मानता है, भारतीय और अभारतीय—सभी द निकों में आदर्शवादी और यथार्थवादी—दोनों दृष्टिकोण मिलते हैं। जहाँ ह उपनिषद्कारों ने और पाश्चात्य विद्वान प्लेटो ने स्थूल जगत् को मिथ्या बताते सूक्ष्म आध्यात्मिक लोक को ही सत्य घोषित किया, वहाँ भारतीय जैन, सांख्य, यं न्यायादि दर्शनों में तथा पश्चिम के भौतिक विकासवाद में यथार्थवादी दृष्टिकोण अनुसार भौतिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी प्रत्येक धर्म और दर्शन में आ का थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य होता है, किन्तु इसके विपरीत विज्ञान और मनोवि में विशुद्ध यथार्थवादिता का बोलबाला होता है। राजनीति के क्षेत्र में आदर्श यथार्थ दोनों को स्थान प्राप्त है। जहाँ गाँधी जी का 'राम-राज्य' आदर्शवादिता प्रतीक है, वहाँ मार्क्स की साम्यवादी व्यवस्था विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण को ले चलती है। सौंदर्य-शास्त्र के क्षेत्र में दोनों वर्गों के विद्वान् मिलते हैं। आदर्शव चिन्तक सौन्दर्य को विषयगत न मानकर विषयीगत मानते हैं। यथार्थवादी वि वस्तु की स्थूल विशेषताओं में सौन्दर्य के उपादानों की खोज करते हैं। आदर्शव आलोचकों ने सौन्दर्य पर सामाजिकता, नैतिकता एवं उपयोगिता का अंकुश लग तो यथार्थवादियों ने उसे वैयक्तिकता, उच्छृंखलता एवं कलात्मकता के उन्मुक्त प्रां में खेलने की पूरी छूट दी।

साहित्य के क्षेत्र में भी दोनों दृष्टिकोणों का विकास हुआ है। जहाँ आ वादी आदर्श व्यक्तियों के आदर्श क्रिया-कलापों एवं उच्च भावनाओं ताएँ लिखी शैली में करता है, वहाँ यथार्थवादी मानव-जीवन की वास्तविक (अर्थ सर्वोत्तम

चित्रण सहज-स्वाभाविक माध्यम से प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम दोनों में से किसे ग्रहण करें। आदर्शवादी साहित्य को अधिक सम्मानित करें या यथार्थवादी को? इसी प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि साहित्य की साहित्यिकता किस पर निर्भर है—आदर्श पर या यथार्थ पर? साहित्य के मूल तत्त्व चार माने गये हैं—भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली। इनमें से भाव और कल्पना का सम्बन्ध आदर्श से है, जब कि शेष दो का यथार्थ से। कोई भी साहित्यकार चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, बिना कल्पना के पंखों पर सवार हुए भाव-जगत् का भ्रमण नहीं कर सकता। अतः किसी-न-किसी स्तर पर यथार्थवादी साहित्यकार को भी आदर्शवादिता से सम्बन्धित तत्त्वों का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर कोरे आदर्शों की सृष्टि करनेवाला साहित्य, जो मानव को देवता के रूप में उपस्थित करता है, धरती को स्वर्ग में परिणत कर देता है, वह अस्वाभाविकता और असाधारणता से इस प्रकार युक्त हो जाता है कि उसका साधारणीकरण होना ही असम्भव हो जाता है। अतः साहित्यकार का मार्ग आदर्श और यथार्थ की पटरियों को छूते हुए आगे बढ़ता है। जो इनमें से एक की उपेक्षा कर देता है, वह एकांगी हो जाता है। किसी एक को ही आधार मानकर रचित साहित्य भी 'साहित्य' तो कहलाता है, किन्तु उसकी स्थिति उस व्यक्ति की भाँति रहती है, जो एक पैर के अभाव में पंगु हो गया हो—जीवित वह रहता है, किन्तु उसकी गति में तीव्रता और संतुलन नहीं रहता।

काव्य में दोनों का उचित समन्वय हो—यह भी एक आदर्श है; यथार्थ यह है कि ऐसा हो नहीं पाता। कवि को निजी दृष्टिकोण और परिस्थितियों के प्रभाव से किसी एक की ओर झुक जाना पड़ता है। यद्यपि थोड़ी बहुत आदर्शवादिता और यथार्थवादिता प्रत्येक काव्य में उपलब्ध होगी, किन्तु उनमें प्रमुखता किसी एक की ही रहती है। अतः इसी आधार पर साहित्य को दो वर्गों—(१) आदर्शवादी और (२) यथार्थवादी—में विभाजित किया जा सकता है।

यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

किसी भी रचना को 'आदर्शवादी' श्रेणी में रखा जाय या यथार्थवाद की कोटि में इसका निर्णय करने के लिए उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना आवश्यक है। हमारे दृष्टिकोण से एक यथार्थवादी रचना में सामान्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ होती हैं—

(क) यथार्थवादी कलाकार—'जीवन क्या है?' का उत्तर देता है। 'वह क्या होना चाहिए?' की समस्या में नहीं पड़ता।

(ख) यथार्थवादी रचना में अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का चित्रण अधिक होता है।

(ग) यथार्थवादी रचना में जीवन की असंगतियों, कटुताओं एवं विषमताओं का चित्रण होता है।

(घ) यथार्थवादी रचना में परिस्थितियों का मानव पर प्रभाव बताया जाता

है, जबकि आदर्शवादी मानव परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ङ) यथार्थवादी केवल समस्या प्रस्तुत करता है, उसका समाधान आदर्शवादी करता है।

(च) यथार्थवादी में वैयक्तिकता अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी में सामाजिकता।

(छ) यथार्थवादी शैली में स्वाभाविकता, तीव्रता, व्यंग्यात्मकता अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी में काल्पनिकता, शिथिलता और कोमलता का वेग होता है।

(ज) यथार्थवादी साहित्य में रौद्र, वीभत्स एवं शृंगार की अभिव्यक्ति अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी में करुण, वीर और शान्त की।

ये प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप में ही बताई गई हैं, किन्तु अनेक स्थानों पर इनका अपवाद भी मिलता है। ऐसी स्थिति से प्रवृत्तियों की बहुलता के आधार पर दोनों का निर्णय करना उचित होगा।

भारतीय साहित्य में यथार्थवाद

प्रायः सर्वसाधारण की धारणा है कि प्राचीन भारतीय जीवन एवं साहित्य में आदर्शोन्मुखता की ही प्रधानता रही है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। जहाँ रामायण युगीन समाज में हम आदर्श के लिए यथार्थ की बलि होती देखते हैं, वहाँ महाभारतीय जीवन में यथार्थ की पूर्ति के निमित्त आदर्शों का पतन दृष्टिगोचर होता है। समाज की मर्यादाएँ क्या हैं—आदर्श क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर महाभारतीय नेताओं ने यथार्थवादी ढंग से दिया है। युधिष्ठिर ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि समाज की मर्यादाएँ एवं नियम देश-काल सापेक्ष हैं, अतः उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। महाभारत की अनेक घटनाओं में भी हम आदर्शवादिता के विरुद्ध कूटनीति व कपट-कौशल का प्रयोग देखते हैं। महाभारत-परवर्ती युग में भी इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का पर्याप्त विकास हुआ था, जिसका प्रमाण कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' व वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में मिलता है। प्राचीन आदर्श के विपरीत कौटिल्य स्त्रियों के लिए आवश्यकतानुसार अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने व अन्य पुरुषों से विवाह करने की अनुमति देता है। कामसूत्रकार मनोरंजन निमित्त परकीयाओं व वेश्याओं तक से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने का समर्थन करता है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने नाटक की नायिकाओं की सूची में परकीया को भी स्थान दिया है। वस्तुतः ये उदाहरण इस तथ्य के द्योतक हैं कि प्रथम-द्वितीय शती तक भारतीय समाज के दृष्टिकोण में पर्याप्त यथार्थवादिता आ गई थी जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना आवश्यक था।

उन्होंने 'कुमार-संभव' में शिव-पार्वती के प्रथम समागम का वर्णन यथार्थानुमोदित शैली में किया, यद्यपि इसके लिए उन्हें लोकापवाद का भी कम सामना नहीं करना पड़ा। आगे चलकर शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में एक वेश्या-पुत्री को नायिका का पद देकर तथा चोर-जुआरियों के जीवन का चित्रण सहानुभूति से करके अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। संस्कृत के अन्य नाटकों में भी यथार्थवादिता का आग्रह इतना अधिक है कि उन्होंने निम्न-वर्ग के पात्रों के सम्भाषण में प्राकृत भाषा तक का प्रयोग किया है।

साहित्य में संस्कृत के स्थान पर जब प्राकृत की प्रतिष्ठा हुई तो यथार्थवादी-प्रवृत्ति का और भी अधिक विकास हुआ। हाल की 'गाथा-सप्तशती' विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण से रचित है। इसमें रचयिता ने स्वर्ग या मोक्ष प्रदान करने का आडम्बर न रचकर अपना उद्देश्य—पाठकों को काम-कला की व्यावहारिक शिक्षा देना—रूप में स्वीकार कर लिया है। इस ग्रन्थ में देवताओं के स्थान पर जन-साधारण को, अलौकिक क्रिया-कलापों के स्थान पर दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को, नैतिकता में छुपी हुई आकांक्षाओं के स्थान पर मानव-हृदय की सहज-स्वाभाविक वृत्तियों के चित्रण को प्रमुखता प्राप्त हुई है। प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों का निरूपण 'गाथा-सप्तशती' में अत्यन्त स्वाभाविक शैली में हुआ है। यहाँ प्रणयोद्भव के लिए कल्पना के बड़े-बड़े करतब नहीं दिखाए जाते और न ही मानवेतर प्राणियों को प्रेम-सन्देश पहुँचाने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन की आयोजना भी यहाँ नहीं। कोई अहीर कुल की बाला अपनी मौसी के यहाँ आई हुई है, वह गाँव के सब लोगों के मुँह से एक विशेष युवक की ही बार-बार चर्चा सुनकर उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। प्रेम का अंकुर इसी आकर्षण में निहित है, कवि इसी तथ्य को व्यंजित करता है—

उसी की कथाएँ होती हैं; विकसती हैं, फिर उसी तक समाप्त होती हैं!
क्या मैं यह समझ लूँ, मौसी! कि वही एक युवक है इस गाँव में!!

(अनुवाद)

'गाथा-सप्तशती' का नायक व्यभिचारी है, अतः उसकी विवाहिता पत्नी का दुःखी रहना स्वाभाविक है। हाल ने इस उपेक्षित पत्नी की व्यथा का चित्रण मार्मिक शब्दों में किया है—जब उसका पति उसके सम्मुख अपनी किसी प्रेमिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है तो वह उत्तर देती है—"सचमुच ही वह सुन्दर, रूप-गुण-शील है और यह भी मानती हूँ कि हम में कोई भी गुण नहीं, पर क्या जो उसके समान सुन्दर नहीं, उसे मर ही जाना चाहिए।" वस्तुतः गाथा-सप्तशती इस प्रकार की यथार्थपूर्ण उक्तियों से भरी हुई है।

(ग) आगे चलकर 'अमरुक-शतक', 'शृंगार-शतक', 'गोवर्द्धन-सप्तशती', 'चोर-
का चित्रण होता है। मुक्तक रचनाओं ने गाथा-सप्तशती को यथार्थवादी परम्परा को
(घ) यथार्थवादी

आगे बढ़ाया। यही परम्परा अपभ्रंश मुक्तककारों में होती हुई हिन्दी के मुक्तक कवियों—देव, बिहारी, पद्माकर आदि तक पहुँची, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। उपर्युक्त पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत के नाटक एवं मुक्तक साहित्य में यथार्थवादिता को पर्याप्त प्रश्रय मिला है।

हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक काल से ही उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्फुरण मिलता है। अमीर खुसरो, विद्यापति, नरपति नाल्हि आदि कवि राज्याश्रित थे, जिनका उद्देश्य शिक्षा देना न होकर मनोरंजन करना था, अतः उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का मिलना स्वाभाविक है। खुसरो की निम्नांकित पंक्तियों में यथार्थवादिता का ही रंग दृष्टिगोचर होता है—

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

× × ×

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाम।
फँसे गर दीनी वकस मोरी माल॥

× × ×

सखि! पिया को जो मैं न देखूँ,
तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ।

यहाँ सौन्दर्य और यौवन की तरंगों का चित्रण उद्दाम रूप में है, किसी प्रकार की आदर्शवादिता या नैतिकता का नियंत्रण इन पर दृष्टगोचर नहीं होता।

प्रणय के उन्मुक्त कवि विद्यापति से तो किसी आदर्श की आशा करना ही व्यर्थ है। सौन्दर्य की प्रथम झलक देखकर ही उनकी समस्त आदर्शवादिता मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है, और फिर जब हृदय में प्रेम का महोदधि उछलने लगता है तो समाज के सारे रीति-नियम उसमें डूब जाते हैं, उन्हीं के शब्दों में—

मनमथि मदन महोदधि उछलल
बूड़ल कुल मरजादे!!

प्रेम और धर्म में से किसे स्वीकार करना चाहिए—एक आदर्शवादी इसके उत्तर में कहेगा कि धर्म की रक्षा के लिए प्रणय का गला घोंट देना उचित है, किन्तु यथार्थवादी कवि विद्यापति अपनी प्रणय-विह्वल नायिकाओं को सलाह देते हुए प्रेम को 'नीलमणि हार' तथा धर्म को काँच या शीशे के सदृश बताते है—

कुलवति धरम काँच समतूल। मदन दलाल भेल अनुकूल॥
आनल बेचि नीलमनि हार। से तुहु पंहिरबि करि अभिसार॥

आदर्शवादियों के प्रेम का अन्त भी आदर्शमय होता है, या तो प्रेमी-प्रेमिका अनेक कठिनाइयों के अनन्तर एक सूत्र में बँधने में सफल हो जाते हैं, [illegible] स्वप्नों की पूर्ति के निमित्त प्राणों की वलि दे देते हैं; किन्तु वि[illegible] के प्रति सहानु[illegible] में यह कुछ नहीं होता। रस-लोलुप नायक-भ्रमर कुछ दिनों [illegible] स्वीकार करते हुए पूछते

विमुख हो जाता है और अर्द्ध-विकसित म्लान कलिका सी नायिका के पास केवल वेदना, निराशा, ग्लानि और अमर्ष से परिपूर्ण कुछ दाहक-स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं। वह सोचती है :—

कुल-कामिनि छलौं, कुलटा भए गेलौं तिन कर वचन लोभाई।
अपने कर हम मूंड मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई॥
चोर रमनि जनि मन मन रोअई अम्बर बदन छिपाई।
दीपक लो सलभ जनि धाएल से फल भुजइत धाई॥

अपने विगत प्रेम पर किया गया यह पश्चात्ताप कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

'बीसलदेव रासो' सामन्तवादी व्यवस्था में जकड़ी हुई पराधीन नारी की यथार्थ गाथा है। वह प्रेयसी या पत्नी न होकर अपने पति की दासी-मात्र है। यही कारण है कि बीसलदेव की इस गर्वोक्ति का—मेरे समान और राजा कौन है? मेरे यहाँ नमक की खान है!"—सीधा और स्पष्ट उत्तर देने-मात्र के अपराध में उसकी रानी को बारह वर्ष वियोग का दण्ड भुगतना पड़ता है। नारी-जीवन के प्रति कवि की सहानुभूति रानी राजमती के शब्दों में व्यक्त हुई है—

त्रिय जनम काँई दियो हो महेस। अवर जनम थारै घणां हो नरेस॥

मध्यकालीन भारत की नारी मनुष्य-जीवन की अपेक्षा वन की काली कोयल, जंगल की हरिणी या घर की गाय का जन्म प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर समझती है—पशु-पक्षियों का जीवन मानव के लिए स्पृहणीय बन गया है। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह तथ्य वास्तविकता पर आधारित है।

मध्यकालीन हिन्दी कवि

मध्यकालीन भक्त कवियों का दृष्टिकोण आदर्शवादी था, किन्तु उन्होंने उसमें यथार्थ का भी कहीं-कहीं समन्वय किया है। विशेषतः सूरदास के काव्य में यथार्थ चित्रण सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। उनके कृष्ण अवतार-पुरुष होते हुए भी साधारण बालक की भाँति माँ से चोटी बढ़ाने की बात पूछते हैं। गोपी-जीवन के विभिन्न दृश्यों में तत्कालीन ग्रामीण जीवन की झाँकी मिलती है। इसी प्रकार गोपियों की विरहाग्नि की व्यंजना में भी सर्वथा यथार्थात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। उद्धव ज्ञान की जिस गठरी को लेकर गोकुल पहुँचे थे, वह आदर्शवादिता का ही दूसरा रूप था; उसे ठुकरा कर मानो सूर ने आदर्शवादिता को ठुकरा दिया हो। गोपियाँ यह नहीं कहतीं कि उद्धव के ज्ञान का आदर्श मिथ्या है, अपितु उनका निवेदन तो यह है कि वह उनके वश की बात नहीं है—

मधुकर, मन नांही दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस॥

और गोपियों की इस विवशता में सूर का यथार्थवाद मुखरित है।

'पंचासिका' आदि छोड़कर रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में तो यथार्थवाद अपनी परम

आगे बढ़ाया। यही परम्परा अपभ्रंश मुक्तककारों में होती हुई हिन्दी के मुक्तक कवियों—देव, बिहारी, पद्माकर आदि तक पहुँची, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। उपर्युक्त पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत के नाटक एवं मुक्तक साहित्य में यथार्थवादिता को पर्याप्त प्रश्रय मिला है।

हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक काल से ही उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्फुरण मिलता है। अमीर खुसरो, विद्यापति, नरपति नाल्हि आदि कवि राज्याश्रित थे, जिनका उद्देश्य शिक्षा देना न होकर मनोरंजन करना था, अतः उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का मिलना स्वाभाविक है। खुसरो की निम्नांकित पंक्तियों में यथार्थवादिता का ही रंग दृष्टिगोचर होता है—

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥
× × ×
मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाम।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥
× × ×
सखि! पिया को जो मैं न देखूँ,
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।

यहाँ सौन्दर्य और यौवन की तरंगों का चित्रण उद्दाम रूप में है, किसी प्रकार की आदर्शवादिता या नैतिकता का नियंत्रण इन पर दृष्टगोचर नहीं होता।

प्रणय के उन्मुक्त कवि विद्यापति से तो किसी आदर्श की आशा करना ही व्यर्थ है। सौन्दर्य की प्रथम झलक देखकर ही उनकी समस्त आदर्शवादिता मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है, और फिर जब हृदय में प्रेम का महोदधि उछलने लगता है तो समाज के सारे रीति-नियम उसमें डूब जाते हैं, उन्हीं के शब्दों में—

मनमधि मदन महोदधि उछलल
बूड़ल कुल मरजादे !!

प्रेम और धर्म में से किसे स्वीकार करना चाहिए—एक आदर्शवादी इसके उत्तर में कहेगा कि धर्म की रक्षा के लिए प्रणय का गला घोंट देना उचित है, किन्तु यथार्थवादी कवि विद्यापति अपनी प्रणय-विह्वल नायिकाओं को सलाह देते हुए प्रेम को 'नीलमणि हार' तथा धर्म को काँच या शीशे के सदृश बताते है—

कुलवति धरम काँच समतूल। मदन दलाल भेल अनुकूल॥
आनल बेचि नीलमनि हार। से तुहू पंहिरवि करि अभिसार॥

आदर्शवादियों के प्रेम का अन्त भी आदर्शमय होता है, या तो प्रेमी-प्रेमिका अनेक कठिनाइयों के अनन्तर एक सूत्र में बँधने में सफल हो जाते हैं ...वों के प्रति दोनों ... स्वप्नों की पूर्ति के निमित्त प्राणों की बलि दे देते हैं; कि... का स्वीकार ...पति के प्रणय-... में यह कुछ नहीं होता। रस-लोलुप नायक-भ्रमर कु... ...त होकर उ... के रस-पान के अन...

विमुख हो जाता है और अर्द्ध-विकसित म्लान कलिका सी नायिका के पास केवल वेदना, निराशा, ग्लानि और अमर्ष से परिपूर्ण कुछ दाहक-स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं। वह सोचती है :—

फुल-कामिनि छलो, फुलटा भए गेलौ तिन कर वचन लोभाई।
अपने कर हम मूंड़ मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई॥
चोर रमनि जनि मन मन रोअई अम्बर वदन छिपाई।
दीपक लो सलम जनि धाएल से फल भुजइत चाई॥

अपने विगत प्रेम पर किया गया यह पश्चात्ताप कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

'बीसलदेव रासो' सामन्तवादी व्यवस्था में जकड़ी हुई पराधीन नारी की यथार्थ गाथा है। वह प्रेयसी या पत्नी न होकर अपने पति की दासी-मात्र है। यही कारण है कि बीसलदेव की उस गर्वोक्ति का—मेरे समान और राजा कौन है? मेरे यहाँ नमक की खान है!"—सीधा और स्पष्ट उत्तर देने-मात्र के अपराध में उसकी रानी को बारह वर्ष वियोग का दण्ड भुगतना पड़ता है। नारी-जीवन के प्रति कवि की सहानुभूति रानी राजमती के शब्दों में व्यक्त हुई है—

त्रिय जनम काँई दियो हो महेस। अवर जनम थारै घणां हो नरेस॥

मध्यकालीन भारत की नारी मनुष्य-जीवन की अपेक्षा वन की काली कोयल, जंगल की हरिणी या घर की गाय का जन्म प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर समझती है—पशु-पक्षियों का जीवन मानव के लिए स्पृहणीय बन गया है। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह तथ्य वास्तविकता पर आधारित है।

मध्यकालीन हिन्दी कवि

मध्यकालीन भक्त कवियों का दृष्टिकोण आदर्शवादी था, किन्तु उन्होंने उसमें यथार्थ का भी कहीं-कहीं समन्वय किया है। विशेषतः सूरदास के काव्य में यथार्थ चित्रण सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। उनके कृष्ण अवतार-पुरुष होते हुए भी साधारण बालक की भाँति माँ से चोटी बढ़ाने की बात पूछते हैं। गोपी-जीवन के विभिन्न दृश्यों में तत्कालीन ग्रामीण जीवन की झाँकी मिलती है। इसी प्रकार गोपियों की विरहाग्नि की व्यंजना में भी सर्वथा यथार्थात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। उद्धव ज्ञान की जिस गठरी को लेकर गोकुल पहुँचे थे, वह आदर्शवादिता का ही दूसरा रूप था; उसे ठुकरा कर मानो सूर ने आदर्शवादिता को ठुकरा दिया हो। गोपियाँ यह नहीं कहतीं कि उद्धव के ज्ञान का आदर्श मिथ्या है, अपितु उनका निवेदन तो यह है कि वह उनके वश की बात नहीं है—

मधुकर, मन नांही दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस॥

गोपियों की इस विवशता में सूर का यथार्थवाद मुखरित है।

आगे चलकर रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में तो यथार्थवाद अपनी चरम

सीमा तक पहुँचा हुआ है। वे सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध परकीया की गुप्त क्रीड़ाओं का चित्रण रुचिपूर्वक करते हैं, अभिसारिकाओं की छद्म-लीला के वर्णन में वे नीति और नियम को भुला बैठते हैं, और इतना ही नहीं, वे सिद्धान्त रूप में भी स्वीकार कर लेते हैं :—

कौन गनै, पुर बन नगर, कामिनि एकै रीत !
देखत हरै विवेक लो, चित्त हरै करि प्रीति ॥ —देव

इन शृङ्गारी कवियों में यथार्थवादिता का आग्रह सबसे अधिक बिहारी में मिलता है। एक ओर तो वे शृङ्गारिकता को ही जीवन का चरम लक्ष्य घोषित कर देते हैं—"तन्त्री नाद, कवित्त, रस, सरस राग, रति रंग"—दूसरी ओर आदर्शवादिता की डींग हांकने को वे ललकारते हैं—

इक भीजे, चहलैं परै, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै, वै नै चढ़ती बार ॥

प्रेम के क्षेत्र में नीति-नियम और मर्यादाओं का उल्लंघन हो जाता है, इस कटु यथार्थ को वे निःसंकोच रूप में स्वीकार कर लेते हैं—

क्यौं बसियै, क्यौं निबहियै, नीति-नेह-पुर नांहि।

× × ×

किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को देखकर मन को वश में रखना चाहिए, उसे कुपथ पर नहीं जाने देना चाहिए, आदर्शवादियों की इस सीख से बिहारी भी परिचित हैं, किन्तु—

गनतु न मनु पथु-अपथु, लखि बिथुरे-सुधरे बार ॥

कदाचित् ऐसे कुपथ-गामियों को 'निर्लज्ज' घोषित किया जायगा, पर बिहारी पहले ही अपनी निर्लज्जता स्वीकार कर लेते हैं—

फिरि-फिरि चितु उतहीं रहतु, टूटी लाज की नाव ॥

सौन्दर्य क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भी बिहारी ने यथार्थवादी ढंग से दिया है—

समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूपु न कोइ ॥
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥

यह तो सिद्धान्त की बात हुई। व्यावहारिक दृष्टि से भी बिहारी ने अपने युग के उन दृश्यों का अंकन किया है, जिन्हें एक आदर्शवादी सर्वथा उपेक्षित कर देता। देवर-भाभी के गुप्त सम्बन्ध, पड़ोसी एवं पड़ोसिनों की व्यभिचारिता, मन्दिरों के कथा-वाचकों एवं श्रद्धालु महिलाओं के दुराचार, ठगों, वैद्यों एवं ज्योतिषियों आदि का चित्रण बिहारी ने निःसंकोच रूप में किया है। वस्तुतः बिहारी को रीतिकाल का सबसे बड़ा यथार्थवादी कवि कहा जा सकता है।

आधुनिक युग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी था, अर्थात् उन्होंने यथार्थ का चित्रण तो किया है, किन्तु उसमें रस लेते हुए नहीं, अपितु उसे

व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। तत्कालीन भारत की दुर्दशा, विदेशी शासकों का शोषण, सरकारी कर्मचारियों के अनाचार, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों आदि का नग्न चित्रण, भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों द्वारा भरपूर हुआ है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु की कुछ कह-मुकरनियाँ देखिये—

भीतर भीतर सब रस चूसे। हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसे।
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन, नहीं अंग्रेज॥
× × ×
इनकी, उनकी खिदमत करो; रुपया देते देते मरो।
तब आवे मोहि करन खराब, क्यों सखि साजन, नहीं खिताब॥

द्विवेदी युग और छायावाद युग मे कवियो का दृष्टिकोण आदर्शात्मक ही रहा यद्यपि दोनो की आदर्शवादिता मे सूक्ष्म अन्तर था। द्विवेदी युग की आदर्शवादिता धर्म और संस्कृति के स्थूल रूप को ग्रहण करके आगे बढ़ी थी, जबकि छायावादी कवियों ने आध्यात्मिकता और दर्शन के सूक्ष्म तत्वों को अपनाया, किन्तु यथार्थवादिता का सर्वथा अभाव दोनो मे ही नही। जहाँ गुप्त जी की 'भारत-भारती' में यथार्थ का चित्रण हुआ है, वहाँ छायावादियो के असफल प्रणय की परिणति में तत्कालीन समाज की वास्तविकता निहित है। आगे चलकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में तो यथार्थवाद को ही लक्ष्य मानकर चला गया है, अत उनमे इसका चित्रण अत्यधिक मात्रा में मिलना स्वाभाविक है। प्रगतिवादियो ने जहाँ समाज की यथार्थ परिस्थितियों के अंकन का प्रयास किया है, वहाँ प्रयोगवादियों ने व्यक्ति की यथार्थ अनुभूतियों का। इसका विवेचन पीछे दो निबन्धो में किया जा चुका है (देखिये— 'प्रगतिवाद और हिन्दी काव्य' तथा 'प्रयोगवाद और नई कविता' शीर्षक निबन्ध)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-कविता का कोई भी युग ऐसा नही है जिसमें यथार्थ को स्थान न मिला हो। वस्तुत. हिन्दी-काव्य में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का ही अधिक बोलबाला रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिस्थिति-भेद से इस यथार्थ के रूप विभिन्न रहे है। जहाँ रीतिकाल मे दाम्पत्य-जीवन एवं समाज की शृंगारिक प्रवृत्तियो का यथार्थ चित्रण रुचिपूर्वक हुआ, वहाँ भारतेन्दु युग मे समाज की व्यापक परिस्थितियो का अंकन व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से हुआ है। प्रगतिवाद इस दृष्टि से भारतेन्दु युग की यथार्थवादिता के निकट है, जबकि प्रयोगवादी रीतिकालीन वैयक्तिक शृंगारिकता से भी आगे बढ़े हुए है। अस्तु, यथार्थ यथार्थ ही है, उससे आदर्श की आशा रखना दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी।

●

:: छियालिस ::

प्रतीकवाद और हिन्दी-काव्य

श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'प्रामाणिक हिन्दी (शब्द) कोश' में 'प्रतीक' शब्द के ये अर्थ दिये हैं-- (१) चिह्न, लक्षण निशान, (२) मुख मुँह, (३) आकृति या रूप या सूरत, (४) किसी के स्थान पर या बदले में रखी हुई या काम आनेवाली वस्तु, (५) प्रतिमा, मूर्ति, (६) वह जो किसी समष्टि के प्रतिनिधि के रूप में और उसकी सब बातों का सूचक या प्रतिनिधि हो (सिम्बल Symbol)। अर्थों की यह विविधता ही 'प्रतीक' शब्द की व्यापकता सिद्ध करती है। हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न प्रकार से होता हैं। हमारे सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन में हमारे गौरव का सूचक कोई रंग, आकृति या चिह्न प्रतीक कहलाता है, जैसे किसी संस्था का व्यापारिक चिह्न, किसी समाज की कोई मुद्रा या किसी राष्ट्र की ध्वजा-पताका, कोई रंग या आकार। धार्मिक क्षेत्र में पत्थर या धातु-मूर्तियाँ किसी परम सत्ता के प्रतीक के रूप में पूजी जाती हैं। इसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में किसी भाव या विचार का प्रतिनिधित्व करने वाले शब्द 'प्रतीक' कहलाते हैं। वैसे तो हमारी भाषा का प्रतीक शब्द ही सामान्यत: प्रतीक है। हम 'गाय' को 'गाय' क्यों कहते हैं? इसलिए कि इस ध्वनि को हमने पशु-विशेष का प्रतीक मान लिया है। दूसरी भाषाओं में 'गाय' को 'गाय' न कहकर और कुछ कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने किसी दूसरी ध्वनि को प्रतीक माना है। इस स्थिति में तो भाषा का प्रत्येक शब्द प्रतीक सिद्ध होता है, किन्तु प्रतीकवाद का सम्बन्ध इस रूप से नहीं है। वस्तुत: किसी भी शब्द के प्रचलित अभिधेय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी जब उसके द्वारा किसी अन्य अर्थ की सूचना दी जाय तो उसे प्रतीक कहते हैं। यदि किसी मृत शरीर को देखकर कहा जाय कि "पक्षी उड़ गया, खाली पिंजड़ा पड़ा है।" तो यहाँ पक्षी प्राणों का प्रतीक तथा पिंजरा शरीर का प्रतीक कहलाएगा।

प्रश्न है प्रतीकों का काव्य या साहित्य में प्रयोग क्यों किया जाता है? इसका उत्तर है कि काव्य में उन सभी साधनों का प्रयोग किया जाता है, जो हमारी भावनाओं को अधिक स्पष्टता से; अधिक प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहायक हो

सकें। काव्य में विभिन्न अलंकारों का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है—यह दूसरी बात है कि कुछ कवि चमत्कार-प्रदर्शन के लिए भी ऐसा करते हैं किन्तु अलंकारों का मूल लक्ष्य तो भावाभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाना ही है। इसी प्रकार प्रतीकात्मकता का भी उद्देश्य है। प्रतीकों के प्रयोग से मुख्यतः इन लक्ष्यों की पूर्ति होती है—(१) सूक्ष्म भाव, विचार या कल्पना को स्थूल रूप में प्रस्तुत करना। इससे अगोचर रूप में सहायता मिलती है। जैसे'''निराशा' को 'अंधकार' का प्रतीक बतलाना, या 'ज्ञान' को 'प्रकाश' का (२) अपरिचित वस्तु का परिचय किसी परिचित आधार पर देना। इससे पाठक सुगमतापूर्वक अपरिचित का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसे, तुलसीदासजी ज्ञान और भक्ति का भेद बताते हुए एक को 'दीपक' के रूप में और दूसरी को 'चिन्तामणि' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। (३) अप्रस्तुत का वर्णन करके पाठक के हृदय में प्रस्तुत के विषय में जिज्ञासा जागृत करना, जैसे कबीर का यह कथन—'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।' (४) विषय-वस्तु की व्यंजना अभिधा में न करके ध्वनि या व्यंग्य रूप में करना; जैसे, बिहारी के इस दोहे—'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल' में कमल की कली अस्फुट-यौवना बाला का प्रतीक है। (५) एक ही शब्द, काव्य, प्रसंग, कहानी या काव्य के द्वारा दो विषयों का प्रतिपादन एक साथ करना; जैसे पद्मावत और कामायनी में रत्नसेन-पद्मिनी या मनु-श्रद्धा के प्रतीकार्थों के द्वारा लौकिक और आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ की गई है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रतीकों का प्रयोग उस समय ही किया जाता है, जबकि व्यक्ति भावाभिव्यक्ति में सर्वथा असमर्थ हो जाता है या भाषा की अभिधा शक्ति कुंठित हो जाती है। हमारी दृष्टि में यह विचार ठीक नहीं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार अलंकारों के प्रयोग के बिना भाषा का काम चल सकता है, वैसे ही प्रतीकों के प्रयोग के बिना चल सकता है; किन्तु भावाभिव्यक्ति को और अधिक स्पष्ट, आकर्षक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए ही अलंकारों और प्रतीकों का प्रयोग होना चाहिए। ध्यान रहे प्रतीकों का प्रयोग या अस्पष्ट रूप में प्रयोग भाषा को दुर्बोध्य एवं अभिव्यक्ति को अस्पष्ट भी बना देता है।

प्रतीक और अलंकार

यहाँ हमें प्रतीक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह जान लेना चाहिए कि अलंकारों और प्रतीकों में क्या अन्तर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, प्रतीकों के प्रयोग का लक्ष्य भी वही है, जो अलंकारों के प्रयोग का है। प्रतीक का स्वरूप भी हमारे अन्योक्ति अलंकार से गहारा मिलता-जुलता है। प्रतीक का प्रयोग मूल वस्तु, भाव या विचार के रूप-साम्य, क्रिया-साम्य या प्रभाव-साम्य के आधार पर किया जाता है, यही बात निरंग रूपक, अन्योक्ति और समासोक्ति अलंकारों में मिलती है। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ पंक्तियाँ देखिए'''

(१) माली आवत देखि कै कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बारि॥ —कबीर

(२) नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल ॥ —बिहारी
(३) कहाँ छिपा ए चांद हमारा ।
जेहि बिनु रैनि जगत अँधियारा । —जायसी
(४) कँवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ ।
कबहुँ बेलि फिर पलुहै, जों पिय सींचै आइ ॥ —जायसी
(५) सो दिल्ली अस निबहुर देसू ।
केहि पूछहुँ को कहैं सन्देसू ॥ —जायसी
(६) उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ।
बेधि रहा सगरौं संसारा । —जायसी

यहाँ पहले दोहे में 'माली' मृत्यु का प्रतीक है तथा दोनों में क्रिया-साम्य है। दूसरे दोहे में मधु, पराग एवं विकासहीन कलिका अविकसित-यौवन वाला का प्रतीक है, दोनों में गुण-साम्य है। तीसरे में चाँद भी प्रिय का प्रतीक है, तथा दोनों में प्रभाव-साम्य है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी कमल-वेलि, दिल्ली, बाण आदि क्रमशः नायिका, परलोक एवं तरुणियों की प्रतीक हैं। किन्तु प्रतीक में और इन अलंकारों में थोड़ा-सा अन्तर है। उपर्युक्त अलंकारों—अन्योक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति आदि में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ चमत्कारपूर्ण हैं, जबकि प्रतीकात्मकता में कभी-कभी केवल अप्रस्तुत अर्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। अतः भले ही प्रतीक को इनमें से किसी प्रचलित अलंकार का पूरा पर्यायवाची न मानें, किन्तु उसे एक स्वतन्त्र अलंकार—जिसमें उपमेय का वर्णन उपमान के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि जिससे उपमेय का उल्लेख बिल्कुल नहीं हो—कहा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत-हिन्दी के निरंग रूपक, समासोक्ति आदि में जिसे उपमा कहते हैं, वही 'प्रतीक' का पर्यायवाची है, केवल उसके वर्णन की पद्धति में थोड़ा अन्तर होता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं कि जिससे प्रतीक एक प्रकार का अलंकार नहीं माना जाय।

प्रतीकवाद का आविर्भाव और विकास

जिस प्रकार भारत के कुछ काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि में से प्रत्येक को काव्यगत सौन्दर्य का मूलाधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया, वैसे ही यूरोप के कुछ विद्वानों ने प्रतीकों के प्रयोग—काव्य-सौन्दर्य को समस्त महत्त्व प्रदान करने का प्रयास किया। फ्रांस के एक प्रसिद्ध-कवि जीन मोर आज ने अपनी पत्रिका 'फिगारो' के १८ सितम्बर, सन् १८८६ के अंक में सर्वप्रथम 'प्रतीकवाद' की घोषणा की। इसकी स्थापना तत्कालीन साहित्य में प्रचलित प्राकृतवाद (Naturalism) के विरोध में हुई। प्राकृतवाद के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की समस्त प्रतिक्रियाएँ इन्द्रिय-जन्य हैं। फलतः प्राकृतवाद में अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता की, आदर्श के स्थान पर यथार्थ की, सौन्दर्य के स्थान पर कुरूपता की

और अलंकारिकता के स्थान पर स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा की गई। प्राकृतवाद का प्रमुख उन्नायक फ्रेंच उपन्यासकार एमिली जोला (१८४०-१९०२) माना जाता है। प्राकृतवादी लेखक अपनी समस्त अनुभूतियों तथा मान्यताओं को बिना किसी बन्धन तथा सामाजिक नियमों को मानते हुए प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करने लगे। इस प्रकार प्राकृतवाद के विरोध में प्रतीकवादियों ने काव्य में आध्यात्मिकता, अलौकिकता, अलंकारिता एवं अस्पष्ट अभिव्यक्ति पर बल दिया।

कवि जीन मोरे की प्रतीकवाद-सम्बन्धी घोषणा के कुछ समय पश्चात् इसका प्रचार विभिन्न क्षेत्रों में हो गया। श्री अलबर्ट ऑरिएंट महोदय ने सन् १८९१ में एक लेख प्रकाशित करके प्रतीकवाद की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप में की। उन्होंने बताया कि प्रतीकवादी दृष्टिकोण में प्रत्येक कलाकृति में ये विशेषताएँ होनी चाहिए —(१) वह भावात्मक हो, क्योंकि कला का लक्ष्य भावों की व्यंजना करना है। (२) भावों को स्थूल रूप और आकार प्रदान करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग आवश्यक है। (३) वह संश्लेषणात्मक हो। (४) विषयी-परक हो अर्थात् उसमें कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता प्राप्त हो। (५) वह अलंकृत हो या उसमें अलंकारिता हो। काव्य के अतिरिक्त चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रतीकवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रसार में रहस्यवादी विचार-धारा ने भी पर्याप्त योग दिया। प्रतीकवादी आन्दोलन से यूरोप के अनेक प्रमुख कवि, लेखक एवं आलोचक प्रभावित हुए, जिनमें कीट्स, जेम्स ज्वायस, गर्ट्रून स्टीन, वेलेरी, रिल्के, ह्विटमैन, अलेक्जेण्डर ब्लॉक, सैण्टबर्ग आदि का नाम लिया जाता है।

प्रतीकवादी विचारधारा

श्री राजनारायण बिसारिया ने अपने एक लेख 'प्रतीकवाद की स्थापना' (आलोचना, अंक ६) में प्रतीकवादी विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार ऐसे सभी भाव, जो कि हमारे हृदय में उठते है, प्रत्येक अनुभव जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माध्यम से हमें मिलते है, और प्रत्येक क्षण, जो कि हमारी मानस्-चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झंकृत कर जाते हैं, एक दूसरे से सटे रहकर भी विलग, इतने अछूते, इतने गतिशील और इतने अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उन्हें यथावत् पकड़ पाती है और न स्मरण-शक्ति ही उनके वास्तविक रूप को सहेजकर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार अपने इन अनुभवों को अपने दृष्टिकोण की विशिष्टता से देखता और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रंग-प्रकाश की नियोजना करता है।" उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रतीकवाद का प्रयोजन हमारी अस्पष्ट एवं अनिर्दिष्ट भावनाओं एवं अनुभूतियों को निजी दृष्टिकोण में चित्रित करना है। एक कवि की अनुभूति में दूसरे कवि की अनुभूति से सूक्ष्म अन्तर रहता है अतः सभी कवि एक जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते, अतः अपने-अपने दृष्टिकोण से नये-नये प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। प्रतीकवादी केवल विचारों या भावों की अभिव्यक्ति करके ही सन्तुष्ट

नहीं हो जाता, अपितु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनियों, अनुभूतियों, सुगन्धियों आदि को व्यक्त करता है। उन्होंने अन्तर्मन की सूक्ष्म स्मृतियों, ध्वनियों-प्रतिध्वनियों और रहस्यपूर्ण संकेतों पर कविताएँ लिखीं।

प्रतीकवादी काव्य का विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण और उनकी शैली — प्रतीकात्मकता—की अस्वाभाविकता, कृत्रिमता एवं नवीनता के कारण उसमें अस्वाभाविकता और अस्पष्टता, का आना स्वाभाविक था, किन्तु इस वाद के समर्थकों ने अस्पष्टता को काव्य का एक गुण माना है। इस सम्बन्ध में मलार्मे का कथन है "कविता का आनन्द तभी मिलता है जबकि हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोडा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं, परन्तु स्पष्ट रूप में वर्णन कर देने से कविता का तीन-चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस्-चेतना को वही प्रिय है, जो संकेत करता हो सचेत करता हो!"

सम्भवतः प्रतीकवादी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना के महत्त्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, किन्तु वे अपने लक्ष्य से भटक गए। लाक्षणिकता और व्यंग्यात्मकता के स्थान पर उन्होंने दुर्बोधता एवं अस्पष्टता को अपना लिया।

पाश्चात्य प्रतीकवाद के गुण-दोष

काव्य में प्रतीकों महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता—वे साहित्य-कार जो कि प्रतीकवाद के अनुयायी नहीं थे, उन्होंने भी अपनी रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग किया है। सामान्य रूप से प्रतीकों का प्रयोग प्रायः सभी देशों के सभी युगों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र हुआ है, किन्तु काव्य के अन्य गुणों की अपेक्षा प्रतीकात्मकता को ही सर्वोतम स्थान-प्रदान करने का श्रेय पाश्चात्य प्रतीक-वादियों को ही है। प्रतीकों के महत्त्व की तथा उनके प्रयोग की जैसी सूक्ष्म व्याख्या इस वाद के अनुयायियों द्वारा हुई है, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती है।

प्रतीकवाद के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि इसने प्राकृतवादियों एवं यथार्थवादियों के आन्दोलन का दृढता से सामना किया। जहाँ प्राकृतवादियों ने काव्य में से अलंकारिता का पूर्णतः निष्कासन कर दिया था, वहाँ इन्होंने अलंकारिता—प्रतीकात्मकता—को ही काव्य का सर्वोच्च गुण सिद्ध किया। दूसरे, प्रतीकवादियों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाकर काव्य को गम्भीर स्वरूप प्रदान किया। तीसरे, उन्होंने साहित्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। चौथे, उन्होंने शैली और अभिव्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोगों के द्वारा कविता को रूढ़िग्रस्त भाषा से मुक्त किया। पांचवें, उन्होंने काव्य और संगीत में सामंजस्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्य को राजनीति के प्रभाव से बचाया। किन्तु प्रतीकवाद में दोष भी कम नहीं हैं। अन्ततः प्रतीकात्मकता एक अलंकार ही है, उसे आवश्यकता से अधिक महत्व देना अनुचित है। प्रतीकात्मकता अभिव्यक्ति का साधन-मात्र है, साध्य नहीं, किन्तु प्रतीकवादियों ने उसे साध्य ही मान लिया। स्पष्ट अभिव्यक्ति के नाम पर इन्होंने ऐसे प्रतीकों का समर्थन किया जो कि कविता और चित्र को अस्पष्ट

एवं दुर्बोध बना देते हैं। कला के सहज-स्वाभाविक रूप के स्थान पर उसे कृत्रिम एवं जटिल रूप से आच्छादित कर दिया गया। प्रतीकात्मकता एक शैली है, उसे भाव-पक्ष से अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए था। प्रतीकवादियों के प्रभाव से काव्य-कला की भांति चित्रकला में भी अस्पष्टता एवं दुर्बोधता का प्रचार हुआ। अतः प्रतीकवाद की इस अतिवादिता का समर्थन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। काव्य में केवल प्रतीक ही नहीं, अन्य अलंकारों का प्रयोग भी एक सीमा तक एवं साधन रूप में ही होना चाहिए। सभी स्थानों पर प्रतीकों की भाषा में बोलना पशु-पक्षियों की वाणी में बातचीत करने के तुल्य है।

भारतीय काव्य में प्रतीकात्मकता

भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग चिरकाल से होता रहा है, किन्तु पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भांति उनमें अस्वाभाविकता एवं अतिवादिता को स्थान नहीं दिया गया। वैदिक साहित्य में जीव और ब्रह्म की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की गई है— 'दो पक्षी मित्रता के साथ एक (जीव) वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं। उनमें से एक सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता है, जबकि दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता, आगे चलकर संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। महाकवि कालिदास ने तरंगों से उद्वेलित सरिताओं को मद-विह्वल कामिनियों के प्रतीकार्थ में, पर्वतों को पृथ्वी-रूपी नारी के उन्नत स्तनों के रूप में, लता और विटप के मिलन को प्रेयसी-प्रिय के मिलन के सदृश चित्रित किया है। दूसरी ओर प्राकृत और अपभ्रंश के जैन एवं बौद्ध कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से ही उपदेश देने की शैली का आविष्कार किया। यही शैली सिद्ध और नाथपंथी कवियों में होती हुई हिन्दी के सन्त कवियों तक पहुँची। महात्मा कबीर ने यौगिक शब्दों एवं नाथ-पंथी साधना-पद्धतियों को सहज भक्तिभावना के विभिन्न अंगों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। कबीर की उलटबांसियों और सूर के कूटपदों में प्रतीकात्मकता का ही विशेष ढंग से प्रयोग है। उधर प्रेमाख्यानक कवियों ने तो पूरे-के-पूरे काव्य प्रतीकों के आधार पर निर्मित किए। पद्मावत में रत्नसेन मन का, तोता गुरु का तथा पद्मिनी बुद्धि का प्रतीक है— इस बात का उल्लेख कवि ने स्पष्ट रूप में किया है। मध्यकालीन शृङ्गारी कवियों ने भी यत्र-तत्र अन्योक्ति के रूप में प्रतीकों की आयोजना की है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य और प्रतीकवाद

प्राचीन हिन्दी-काव्य में तो प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से ही हुआ है, किन्तु आधुनिक छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में तो इसका प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि इन्हें 'प्रतीकवाद' तक की संज्ञा देने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ छायावादी कवियों की प्रतीक-योजना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला। —प्रसाद

झर गयी कली !
निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव-नव लहरों से; मिलना था;
निज सुख-दुख सहज बदलना था;
रे गेह छोड़ वह बह निकली !

—पंत

आग हूँ; जिससे ढुलकते बिन्दु हिम-जल के
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पांवड़े पल के।
× × ×
नील घन भी हूँ सुनहरी दामिनी भी हूँ।

—महादेवी

उपर्युक्त अंशों में प्रतीकों का प्रयोग अतिशय मात्रा में हुआ है। वस्तुतः छायावादी काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रकृति के उपादानों को प्रतीक बनाकर की गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता प्रतीकात्मकता को ही मानते हुए लिखा था—"हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ है, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" प्रतीकवाद की अन्य अनेक प्रवृत्तियाँ भी छायावादी काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति छायावादी कवियों ने भी स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की, यथार्थ के स्थान पर आदर्श, की लौकिक के स्थान पर अलौकिक की, प्रत्यक्ष के स्थान पर अप्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा की। प्रतीकवादियों की दोनों प्रमुख विशेषताएँ—रहस्यवृत्ति एवं अस्पष्टता—छायावादियों में मिलती हैं। दोनों ही छन्दों के स्थान पर लय और संगीत के सामंजस्य पर बल देते हैं; दोनों ही कला में सौन्दर्य को महत्त्व देते हैं और दोनों ही साहित्य को राजनीति से दूर रखते हैं। अतः यदि छायावादी काव्य को 'प्रतीकवादी' कह दिया जाय तो किसी सीमा तक अनुचित नहीं होगा। किन्तु स्वयं छायावादी कवियों ने प्रतीकात्मकता को ही काव्य का सर्वप्रमुख गुण घोषित करके प्रतीकवादियों में अपना नाम नहीं लिखवाया, अतः उन्हें प्रतीकवादी संज्ञा से विभूषित करना व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं रहेगा।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने हिन्दी के प्रयोगवादियों को छद्मवेशी प्रतीकवादी बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों के द्वारा अपनी दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी उनमें पाश्चात्य प्रतीकवाद की मूल भावना नहीं मिलती। जैसा कि स्वयं अज्ञेय ने

स्वीकार किया है—"आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"—प्रयोगवादियों की कविता में यौन-प्रतीकों की प्रचुरता है। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की सी रहस्यवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, रोमांच, रोमांच का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का आग्रह इनमें नहीं मिलता। प्रतीकवादियों ने बुद्धि का तिरस्कार किया था, जब कि इन्होंने इलियट के प्रभाव से बौद्धिकता को काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रतीकात्मकता और प्रतीकवाद में जो अन्तर है, वही प्रयोगवाद और प्रतीकवाद में है। श्री रामनारायण के शब्दों में "प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूंढ़ने की बात कही है। परन्तु फ्रेंच कवियों के प्रतीक-सम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे थे, अज्ञेय में यह बात नहीं है।"

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी कविता में प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति और भी तेजी से बढ़ रही है। विशेषतः नई कविता के क्षेत्र में अनेक व्यक्तियों ने फ्रायडियन प्रतीकों का प्रयोग बिना सोचे-समझे किया है, जिससे उनकी रचनाएँ अस्पष्ट, दुरूह एवं जटिल बन गई हैं। वस्तुतः इन कविताओं में प्रतीकात्मक शब्द उस बन्द ताले के समान हैं, जिसकी कुंजी कवि की जेब में रहती है—कवि महोदय जब कुंजी निकाल कर दे देते हैं, तो ताला खुल जाता है, वरना अर्थ का इन्तजार कीजिए !

हमारे विचार से प्रतीकों का ऐसा प्रयोग, जहाँ वह प्रेषणीयता के साधक के स्थान पर बाधक बन जाता है, उचित नहीं कहा जा सकता। आशा है, हमारे कवि-गण इस ओर ध्यान देंगे।



: सैंतालिस :

अस्तित्ववाद और नयी कविता

प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक सकारात्मक (Positive) वस्तु के साथ किसी न किसी नकारात्मक (Negative) वस्तु का द्वन्द्व चलता रहता है जिसके परिणामस्वरूप एक नयी वस्तु का आविर्भाव या विकास होता है, जो प्रथम दोनों की स्थानापन्न होती है। इस सिद्धान्त को हीगल ने दर्शन की शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए कहा था कि प्रत्येक वाद (thesis) के साथ किसी प्रतिवाद (Antithesis) का संघर्ष होता है। जिससे एक नये समवाद (Synthesis) का विकास होता है जो कि प्रथम दोनों का समन्वित रूप होता है। 'अस्तित्ववाद' भी कदाचित् इसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम है। जब उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के आविष्कारों एवं सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण मानव-जीवन पर वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा, जिसके सम्मुख व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतन्त्रता उपेक्षित होने लगी, तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे वाद का विकास हुआ, जो कि व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व देता हुआ वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है। यही वाद दर्शन एवं कला के क्षेत्र में 'अस्तित्ववाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रवर्तक

अस्तित्ववादी विचारों के मूल प्रवर्तक एक डेनिश विद्वान् सारन कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५) थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना डेनिश भाषा में की थी। आगे चलकर प्रथम महायुद्ध के आस-पास उनके ग्रन्थों का अनुवाद जर्मन भाषा में हुआ तथा इसी समय इनका प्रचलन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आरम्भ हुआ। विशेषत: जर्मनी एवं फ्रांस के अनेक चिन्तकों एवं साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी विचारों को अपनाते हुए उनकी अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्याएँ की। इन विद्वानों में जर्मनी के फ्रेडरिक नीत्शे (१८४४-१९००), मार्टिन हेड्गर (१८८९—, कार्ल जेस्पर्स (१८८३—), तथा फ्रांस के गब्रियल मार्सल (१८८९—), ज्यां पाल सार्त्र (१९०५—) व आल्बेयर कामू (१९-१३-१९६०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों के भी आस्था की दृष्टि

से दो वर्ग किए जा सकते हैं—एक आस्तिक विचारकों का वर्ग एवं दूसरा नास्तिकों का। प्रथम वर्ग में कीर्केगार्ड एवं मार्सेल को तथा शेष सभी को द्वितीय वर्ग में स्थान दिया जा सकता है। वस्तुत: अस्तित्ववादी विचारकों में संप्रति सर्वाधिक महत्व जे० पी० सार्त्र का ही स्वीकार किया जाता है, तथा उन्हीं की व्याख्याओं को इस वाद की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में ग्रहण किया जाता है, अतः हम भी यहाँ अस्तित्ववाद के विवेचन में इन्हीं के मतों को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ेंगे।

अस्तित्ववाद की आधारभूत धारणाएँ

अस्तित्ववादी विचारधारा का आधारभूत शब्द 'अस्तित्व' है, जो अंग्रेजी के 'Existence' का पर्याय है। इस वाद के अनुयायी विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्व देते हैं - इसी से वे अस्तित्ववादी कहलाते हैं। परम्परागत विचारधारा के अनुसार सृष्टि में पहले विचार (Idea) का उदय हुआ, फिर उसके अनुसार वस्तु का आविर्भाव हुआ - प्लेटो इसी विचार-धारा को मानते थे। इसी से उन्हें विचारवादी या तत्त्ववादी (Idealist) कहा जाता है। मध्यकाल में भी तत्त्व या सार (Essence) को पदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया, जबकि अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। संक्षेप में परम्परागत आदर्शवादियों के अनुसार, विचार, तत्त्व, सार, सिद्धान्त या सामान्य निष्कर्ष ही सर्वांगीण सत्य एवं शाश्वत सत्ता के प्रतिनिधि हैं, जबकि भौतिक पदार्थों एवं विशिष्ट प्राणियों की सत्ता (= अस्तित्व) क्षण-भंगुर होने के कारण मिथ्या है। अस्तित्ववादी इस धारणा का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि जब वस्तु ही नहीं तो उसका विचार या सार कैसे संभव है? पहले वस्तु का अस्तित्व होगा तदनन्तर उसके सम्बन्ध में विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण होगा। वस्तुतः सारे विचार या सिद्धान्त व्यक्ति के चिन्तन के परिणाम हैं, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ एवं प्राणी तो चिन्तन-मनन करते नहीं—अतः कहना चाहिए कि पहले चिन्तन करनेवाला मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तथा उसके पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। अतः व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है जबकि विचार या सिद्धान्त गौण है।

व्यक्ति के अस्तित्व को ही प्रमुखता देने के अतिरिक्त अस्तित्ववादियों की 'अस्तित्व' के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ और भी हैं। एक तो जैसा कि उपर्युक्त धारणा से सूचित होता है, उनकी सामान्य विचारों, तत्त्वों या सिद्धान्तों या नियमों में कोई आस्था नहीं है। उनके विचार से प्रत्येक सिद्धान्त व्यक्ति की अपनी दृष्टि की उपज है, अतः वह व्यक्ति-सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में किसी भी सिद्धान्त को सर्वांगीण सार्वभौम या सार्वजनिक नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में उसके विचार से हर व्यक्ति को अपना सिद्धान्त स्वयं खोजना या बनाना चाहिए, दूसरों द्वारा प्रतिपादित या निर्मित सिद्धान्तों को स्वीकार करना उसके लिए आवश्यक नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्ववादी के लिए सभी परम्परागत सामाजिक, नैतिक, शास्त्रीय एवं

वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो कि व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध हैं, अमान्य एवं अव्यावहारिक सिद्ध हो जाते हैं। दूसरे, वह व्यक्ति के अस्तित्व को भी स्वयं व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर मानता है। यह कहना कि व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता एवं परिस्थितियों पर अथवा उसके पूर्व कर्म फल पर आधारित है उसकी दृष्टि में उचित नहीं। उसके विचार से प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति अपने लिए जो चुनता है, वही उसे मिलता है या यों कहिये कि व्यक्ति जैसा अपने को बनाना चाहता है, वैसा ही वह बनता है। अतः कोई व्यक्ति क्या बनता है या क्या नहीं—यह उसी की अपनी पसन्द पर निर्भर है। यह कहना कि परिस्थितियों और भाग्य ने उसे बना दिया है, अस्तित्ववादी के अनुसार ठीक नहीं। परिस्थितियों के बन्धन को स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की ही इच्छा पर निर्भर है—अतः परिस्थितियों के अनुसार ढल जाने के लिये स्वयं व्यक्ति ही उत्तरदायी है। एक व्यक्ति परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देता है, इसका अर्थ यह है कि उसने परिस्थितियों की देन को स्वीकार कर लिया है या यों कहिए कि उसने परिस्थितियों के अनुसार ही अपने भाग्य का चुनाव किया, जबकि वह दूसरे प्रकार का चुनाव करने के लिये भी स्वतन्त्र था। अस्तु, प्रत्येक स्थिति में यह व्यक्ति का ही चुनाव है कि परिस्थितियों के अनुकूल बनता है या प्रतिकूल—इसके लिए किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह व्यक्ति के हाथ में है कि वह जो चाहे बन सके? क्या वह जैसा चुनता है, वैसा ही बन सकता है? क्या यह ठीक नहीं है कि एक व्यक्ति जो कि बहुत बड़ा अधिकारी बनना चाहता है, कहीं क्लर्क बनने को मजबूर होता है? इन प्रश्नों का अस्तित्ववादी के पास एक ही उत्तर है कि यदि तुम जो चाहो, वह नहीं बनते हो तो कुछ और बनना क्यों स्वीकार करते हो! हम अपने दुख, संकट या मृत्यु के भय के कारण ही तो अप्रिय या अवांछित को स्वीकार करने को विवश होते हैं। पर यदि हम दुःख एवं मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार कर लें तो यह भय कहाँ रह जाता है? दूसरे, शब्दों में हम जो चाहें, वह नहीं बन सके तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दुःख—यहाँ तक कि मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहें। यदि हम इतने साहसी हो सकते हैं तो फिर हमें कोई नहीं झुका सकता। सच पूछें तो अस्तित्ववादी के अनुसार व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध दुःख या त्रास की स्थिति में ही होता है, अतः उसे इस स्थिति का स्वागत करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचलकर तथा परिस्थितियों के सम्मुख नत मस्तक होकर प्राप्त किये गये सुख की अपेक्षा उस दुःख—या मृत्यु का कारण भी श्रेयस्कर है, जो चयन की स्वतन्त्रता, या निजी इच्छाओं व वैयक्तिक स्वच्छन्दता की सुरक्षा करते हुए प्राप्त हो। वस्तुतः आत्म-स्वातन्त्र्य की रक्षा के हित प्राप्त दुःख, चाहे वह कितना ही दारुण क्यों न हो, दासता एवं परतन्त्रता की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना अच्छा होता है—यह अस्तित्ववादियों का अटल विश्वास है।

इस प्रकार, अस्तित्ववादी के लिए अपना अस्तित्व, वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं निजी लक्ष्य या चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुःख या वेदना का भोग भी रुचिकर है। इस वेदना के भोग के बिना न तो व्यक्ति को अपनी सत्ता का बोध होता है और न ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सफल हो सकता है। सच्चा अस्तित्व उसी व्यक्ति का है, जो परिस्थितियों को कुचलता हुआ अपने द्वारा चुनी हुई दिशा में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है पर ऐसा वही कर सकता है, जो वेदना के भोग को स्वीकार करता है, अतः वेदना का भोग अस्तित्ववाद का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है, जिस पर अस्तित्व-बोध का प्रथम सिद्धान्त निर्भर है।

धर्म और अध्यात्म के प्रति दृष्टिकोण

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, अस्तित्ववादियों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग आस्तिक होने के कारण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है, जबकि दूसरा वर्ग नास्तिक है तथा वह ईश्वर, धर्म, अध्यात्म आदि का पूर्णतः विरोध करता है। वस्तुतः प्रमुखता दूसरे वर्ग की ही है। अधिकांश अस्तित्ववादियों के अनुसार ईश्वर व्यक्ति के मन की कल्पना मात्र है, जिस प्रकार धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक सिद्धान्तों एवं विचारों की कल्पना अपनी निजी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार कर ली है, उसी प्रकार उनकी रक्षा के लिए ईश्वर, धर्म एवं अध्यात्म की सृष्टि कर डाली है। कुछ लोग नास्तिक होते हुए भी नैतिक एवं चारित्रिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, किन्तु अस्तित्ववादी इस स्थिति को भी पसन्द नहीं करते। वस्तुतः अस्तित्ववादियों का विरोध ईश्वर से कम एवं धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों एवं नियमों से अधिक है, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। ईश्वर, परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूर्वजन्म, भाग्य, कर्म-फल आदि से सम्बन्धित विचार-तत्त्व इस बात के द्योतक हैं कि मनुष्य का भाग्य, किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है या यों कहिए कि व्यक्ति किसी पूर्व निर्धारित तत्त्व या व्यवस्था पर निर्भर है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र चुनाव या स्वेच्छा के अनुसार आगे बढ़ने की छूट कहाँ रह जायगी? इसीलिए वे इन सभी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्त्वों का विरोध करते हैं। दास्ताएव्स्की ने कहा था—"यदि ईश्वर के अस्तित्व को मिटा दें तो फिर सब कुछ (करना) संभव है।" इसी कथन का अनुमोदन करते हुए जे० पी० सार्त्र ने लिखा है—

"Indeed, everything is permissible if God does not exist and as a result man is forlon, because neither within him nor without does he find anything to cling to. If existence really does precede essence there is no explaining things away by reference to a fixed and given human nature. In other words. there is no determinism man is free, man is freedom. On the other hand, if God does not exist; we find no values or commands to turn to which legitimize our

conduct" (Existentialism and Human Emotions : Pages 22-23) अर्थात् "वस्तुतः यदि ईश्वर का अस्तित्व न हो (न माना जाय) तो सब कुछ सम्भव है, क्योंकि (उस स्थिति में) मनुष्य निराश्रित होकर किसी भी आन्तरिक या बाह्य वस्तु से नहीं बँध सकेगा। यदि 'अस्तित्व' सचमुच 'सार-तत्त्व' का पूर्ववर्ती है तो फिर किसी भी पूर्वप्रदत्त या निर्धारित मानव प्रकृति के आधार पर वस्तुओं की व्याख्या अपेक्षित नहीं। दूसरे शब्दों में मनुष्य के लिए कुछ भी पूर्वनिर्धारित नहीं है. वह स्वतन्त्र है, उसे स्वतन्त्रता है। साथ ही, यदि ईश्वर का अस्तित्व न रहे तो ऐसा कोई मूल्य या आदेश भी न रहेगा जिसे मानना या जिसके अनुसार अपने चरित्र को अनुशासित करना आवश्यक ही है।"

वस्तुतः अस्तित्ववादियों का झगड़ा ईश्वर से इतना नहीं है, जितना कि उन आस्थाओं, विश्वासों, धारणाओं एवं नीति नियमों से है, जो ईश्वर के कारण बने हुए हैं। यदि ईश्वर मनुष्य के व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप न करे तो उसे भी बने रहने की छूट देने के लिए अस्तित्ववादी तैयार हैं, इसीलिए सार्त्र ने एक स्थान पर लिखा है—"अस्तित्ववाद इतना नास्तिक नहीं है कि वह ईश्वर का विरोध करने में ही अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहे, अपितु वह तो इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता है कि अगर ईश्वर है भी तो उससे मनुष्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।" इस प्रकार हम देखते है कि अस्तित्ववादी उस ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, जो व्यक्ति की स्वच्छन्दता एवं आत्मनिर्भरता में बाधक बनता है। ईश्वर से सम्बन्धित अन्य पारलौकिक एवं आध्यात्मिक धारणाओं को भी अस्वीकार करने का मूल कारण यही है।

ज्ञान विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण

ईश्वर, धर्म और अध्यात्म की ही भाँति ज्ञान विज्ञान के प्रति भी अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण विरोधमूलक है। हेडेगर की मान्यता है कि प्राकृतिक जगत् के बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्ति के आन्तरिक अनुभवों का अधिक महत्त्व है, अतः हमें प्रकृति के बौद्धिक या वैज्ञानिक अध्ययन से अपना ध्यान हटा लेना चाहिए। गैब्रियल ने भी तथ्यों एवं विचारों के सामान्यीकरण एवं सिद्धान्त-स्थापन की प्रक्रिया का घोर विरोध किया है। उसके विचार से संसार में सारे झगड़ों की जड़ विभिन्न सिद्धान्त, मत, संप्रदाय एवं वाद हैं। यदि आज हम अपने शब्द-कोष में से 'प्रजातन्त्रवाद', 'साम्यवाद', 'समाजवाद', 'पूंजीवाद' आदि शब्दों को निकाल दें, तो विश्व-युद्ध की आशंका कम हो सकती है। अतः उसके विचार से आज के मानव को वैज्ञानिक विवेचन एवं सैद्धान्तीकरण से बचना चाहिए।

वस्तुतः बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता से अस्तित्ववादियों के विरोध का मूल कारण यही नहीं है कि इससे संघर्ष, युद्ध एवं अशान्ति का जन्म होता है, अपितु यह है कि इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की व्यक्ति के लिए कोई उपयोगिता या महत्ता नहीं है। संघर्षों

संकटों एवं युद्धों से अस्तित्ववादी घृणा नहीं करता, अपितु उन्हें पसन्द करता है, क्योंकि इन्हीं से तो संत्रास की वह स्थिति उत्पन्न होती है, जो कि व्यक्ति के अस्तित्व-बोध एवं उसकी सार्थकता सिद्धि में सहायक सिद्ध होती है। अतः हमें इस भ्रम में न पड़ना चाहिए कि अस्तित्ववादी संघर्षों या युद्धों के भय से विज्ञान का विरोध करता है। वास्तव में इस विरोध का मूल कारण यह है कि वह बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को व्यक्ति के लिए अनावश्यक समझता है। उसकी दृष्टि में इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन. मनोविज्ञान आदि की जानकारी का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इससे व्यक्ति के अस्तित्व-बोध में कोई सहायता नहीं मिलती। जानने की वस्तु व्यक्ति के लिए एक ही है—यह मानव-स्थिति (Human Condition) जिससे अस्तित्वबोध में सहायता मिले। पर इस स्थिति का ज्ञान, बुद्धि या तर्क द्वारा नहीं, अपितु घोर वेदना के द्वारा प्राप्त आन्तरिक सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन और विज्ञान की प्रचलित अध्ययन-पद्धतियाँ अस्तित्ववादी की दृष्टि में बेकार हैं।

बौद्धिक विवेचन एवं वैज्ञानिक नियमों का विरोध एक अन्य दृष्टि से भी किया जाता है। बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता के क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को समान रूप में ग्रहण करते हुए उनके बारे में सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं जो व्यक्ति की वैयक्तिकता के स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द निर्णय के विरुद्ध पड़ते हैं। अस्तित्ववादी प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करता है अत. उस पर समूह के सामान्य निष्कर्षों को लागू करना अन्याय है। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि एक प्रेमी निराश होकर हतोत्साह या पलायनवादी बन जाता है। इसका तात्पर्य हुआ कि सभी एक जैसा व्यवहार करते हैं। जबकि अस्तित्ववादी के अनुसार हर प्रेमी पर निराशा की प्रक्रिया अलग-अलग हो सकती है—होनी चाहिए। इस प्रकार किसी भी प्रकार का सामान्य नियम या निष्कर्ष वैज्ञानिकता का विरोधी सिद्ध होता है! दूसरी ओर अस्तित्ववादी विचार, प्रत्यय, पूर्वनिर्धारण, सामान्यीकरण, सिद्धान्त-स्थापन, नियम-निर्धारण, संविधान-निर्माण, अनुशासन आदि का जन्मजात शत्रु है, क्योंकि उसका पहला सूत्र ही अस्तित्व को सत्य एवं तत्त्व को मिथ्या मानता है।

अस्तु, श्री राबर्ट जी० आलसन महोदय के शब्दों में कहा जा सकता है—
"In sum the proper object of human concern for existentialists is not God, abstract ideas, laws of nature, or empirical knowledge of human beings; what man should strive to know is the human condition And by an understanding of the human condition the existentialists do not mean knowledge of human history, of man's natural and scial environment or of the so-called laws of human behaviour. An understanding of the human condition is rather

a knowledge of certain general traits of human existence which remain the same in all ages, of man's contingency, particularity, and freedom, of man's fundamental aspirations and of the basic ways in which the individual can relate to the world and to other human beings." (An Introduction to Existentialism, Page 9) अर्थात् समग्र रूप में अस्तित्ववादी के लिए मानव-रुचि का उपयुक्त विषय ईश्वर, सूक्ष्म विचार, प्राकृतिक नियम या मनुष्य सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान नहीं है, अपितु उसकी दृष्टि में मनुष्य के जानने की वस्तु है—मानव-स्थिति ! मानव-स्थितियों के बोध से अस्तित्ववादी का आशय मानव-व्यवहार की पद्धतियों के ज्ञान से नहीं है, अपितु मानव स्थिति के बोध से उसका अभिप्राय मानव के अस्तित्व सम्बन्धी उन सामान्य लक्षणों से है, जो सभी युगों में एक जैसे रहते हैं; या फिर उसकी उस अनिश्चितता, विशिष्टता व स्वतन्त्रता तथा उन मूलभूत आकांक्षाओं व सम्बन्धों के ज्ञान से है, जो व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों व दुनिया से जोड़ते हैं।'

मानव-मूल्य एवं जीवन-दर्शन

परम्परागत विचारों के अनुसार सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य मूलत· वैभव एवं सम्मान प्राप्त करना होता है तथा साथ ही दूसरों को सुख पहुँचाना भी व्यक्ति के लिए आदर्श माना जाता है। मानव जाति के इतिहास में जिन महान् चिन्तकों, साधकों एवं समाज-सेवियों को प्रतिष्ठा प्राप्त है, उन सब ने किसी न किसी रूप में मानव को सुखी बनाने का प्रयास किया था इसलिए कहा जा सकता है कि व्यक्ति एवं समाज को सुखी बनाना ही अब तक महान् पुरुषों का मूल लक्ष्य रहा है तथा किसी भी व्यक्ति के क्रिया-कलापों के मूल्यांकन का आधार भी एक सीमा तक यही रहा कि उसने मानवता को सुखी एवं समृद्ध बनाने या ऊँचा उठाने में कितना योग दिया है। पर अस्तित्ववादी इन लक्ष्यों एवं मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। उसके विचार में सुख की लालसा या धारणा ही मिथ्या है। मनुष्य चाहे कितनी ही उन्नति और सुधार क्यों न कर ले, वह कभी पूर्णतः सुखी नहीं हो सकता। व्यक्ति की कोई भी उपलब्धि, समाज का कोई भी सुधार, राजनीति का कोई भी तन्त्र, नैतिकता का कोई भी आदर्श और विज्ञान का कोई भी अविष्कार मानवता को पूर्ण सुखी नहीं बना सकता, वस्तुतः पूर्णतः संतुष्ट और सुखी होना मानव की प्रकृति में ही नहीं है, अतः कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य है, तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता। या तो वह मनुष्यता को त्यागे या फिर सुखी होने की आशा को।

अस्तित्ववादी दूसरे विकल्प को स्वीकार करता है। इसीलिए उसकी दृष्टि में मानव-जीवन को सुखी बनाने के सभी वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रयास निरर्थक हैं। साथ ही इसी दृष्टि से व्यक्तियों या तथाकथित 'महापुरुषों' का मूल्यांकन करना भी व्यर्थ है, सच पूछें तो उसकी दृष्टि से आज तक कोई भी मानव को सुखी बनाने

में सफल सिद्ध नहीं हो सका ? ऐसी स्थिति में इस प्रकार के प्रयासों, कार्यों एवं उनके मूल्यांकन का क्या मूल्य है !

यहाँ कहा जा सकता है कि मानव-हितैषियों एवं समाज-सुधारकों को अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता भले ही न मिली हो, पर उसकी प्रेरणाओं, प्रयोजनों एवं प्रयासों की महानता के आधार पर तो उनका महत्व स्वीकार किया जाना चाहिए। पर अस्तित्ववाद इसे स्वीकार नहीं करता। उसके विचारानुसार एक तो प्रत्येक मानवतावादी समाज सुधारक ने किसी न किसी सिद्धान्त, नियम या व्यवस्था का आविष्कार करके मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम कर देने का अपराध किया है—अच्छा होता कि वे यह सब कुछ न करते। दूसरे, उनकी महानता को मानने का अर्थ है दूसरे व्यक्तियों की महत्ता को कम करना; व्यक्ति पर व्यक्ति की प्रभुता को स्वीकार करना—यह स्थिति भी अस्तित्ववादी के लिए असह्य है। अतः किसी दृष्टि से वह न तो अतीत के समाज-सुधारकों की देन स्वीकारने के लिए प्रस्तुत है और न ही भविष्य में स्वयं को इस खोटे धन्धे में डालने को उत्सुक है !! यदि उसका वश चले तो वह इन सभी तथाकथित मानव-हितैषियों एवं समाज-सेवकों को धरती से परे धकेलकर इसे एक ऐसी साफ-सुथरी एवं स्वतंत्र भूमि का रूप दे दे, जिसमें हर व्यक्ति को अपनी मनचाही करने की पूरी छूट हो; हर कार्य के लिए स्वच्छन्दता हो और कहीं भी किसी को टोकनेवाला न हो ! हो सकता है इसका परिणाम अव्यवस्था, अशान्ति, संघर्ष एवं मृत्यु हो—पर इसकी क्या चिन्ता है ! मृत्यु तो अन्ततः होनी ही है; क्यों न डरकर अन्त में मरने के स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता से जीते हुए साहसपूर्वक उसका वरण करें !! मृत्यु हमें आकर आक्रांत करे, इससे अच्छा यह है कि हम स्वयं जाकर मृत्यु का सामना करें !! उस स्थिति में हम दावा कर सकेंगे कि हम मृत्यु के द्वारा मारे नहीं गए, अपितु हमने स्वेच्छा से मृत्यु का वरण किया है ! वस्तुतः इस प्रकार का मरना भी हमारी वैयक्तिक स्वच्छन्दता का प्रमाण होगा—और सच पूछें तो अस्तित्ववादी की दृष्टि से इस वैयक्तिक स्वच्छन्दता से बढ़कर जीवन का और कोई मूल्य नहीं है।

अस्तु, मानव जाति की सेवा, समाज-सुधार या राजनीतिक परिवर्तन से प्राप्त होनेवाले सुखों में अस्तित्ववादी का कोई विश्वास नहीं है। इसकी अपेक्षा वह दुख और अवसाद को जीवन के अनिवार्य एवं काम्य तत्वों के रूप में स्वीकार करता है। दुःख को विवशता के रूप में नहीं, अपितु एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना उसकी दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि दुख में ही व्यक्ति की अन्तश्चेतना का पूर्ण जागरण होता है, उसी में उसकी सारी शक्तियों का उद्बोधन, अभिव्यंजन एवं अभियोजन होता है तथा वही तो स्थिति है, जिसमें व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध होता है यथा यदि आप मेरा हाथ बिना मुझे पीड़ा पहुँचाए, उसे चेतना-शून्य करके काट देंगे तो मुझे क्या पता चलेगा कि मेरा हाथ कट रहा है, जब कि दूसरी स्थिति में यह अनुभव होने पर कि मेरा हाथ कट रहा है, मुझे अपने अस्तित्व का बोध होगा। इतना

ही नहीं, वेदना जितनी गहरी होगी, अस्तित्व का बोध भी उतना ही गम्भीर होगा। अतः पीड़ा (anguish) इनके यहाँ एक महत्वपूर्ण मूल्य या वांछनीय तत्व के रूप में स्वीकृत है। इस पीड़ा के आधार पर इनका पीड़ा-दर्शन आधारित है जिसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्वीकार की जाती हैं—(१) पीड़ा या संत्रास को मनुष्य के लिए अनिवार्य मानना चाहिए। (२) पीड़ा या संत्रास के भय को हृदय से निकाल देना चाहिए—उससे पूर्ण मुक्ति पा लेनी चाहिए। (३) पीड़ा या संत्रास के प्रति अपनी चेतना को सदा जागरूक रखते हुए अपनी समग्र शक्तियों के उद्‌बोधन एवं उपयोग के द्वारा अपने अस्तित्व को सार्थक करना चाहिए। संक्षेप में पीड़ा ही अस्तित्व-बोध की साधिका है।

यदि स्थिति ऐसी ही है तो क्यों न अस्तित्ववादी सीधे यंत्रणा-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते? यंत्रणा प्राप्ति के लिए तो किसी बड़े साधन की आवश्यकता नहीं – एक छोटी सी आलपिन या वह भी न मिले तो सूखी घास की एक तिनका भी पर्याप्त है, फिर वे किस बात की प्रतीक्षा में हैं? इसका उत्तर यह है कि पीड़ा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका साध्य तो कुछ और है, जिसे उनके चरम सत्य या सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वैसे विभिन्न अस्तित्ववादियों में इसके सम्बन्ध में किंचित् मतभेद भी है, पर सामान्यतः कहा जा सकता है कि चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) अथवा व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छंदता ही उनका सबसे बड़ा मूल्य है। इसी को वे जीवन का सार या अस्तित्व का आधार मानते हैं। जिसे चयन की पूर्ण स्वच्छन्दता है—या यों कहिए कि जो स्वेच्छानुसार परम्पराओं, मर्यादाओं, परिस्थितियों एवं नियमों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ अपने जीवन का मार्ग स्वयं चुनता है तथा इस मार्ग को अपनाने के बदले में प्राप्त सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष भोगता है, वही सच्चा अस्तित्ववादी है। अपने या दूसरों के सुखों की चिन्ता करना व्यर्थ है।

चयन की स्वच्छन्दता प्रायः उन्मुक्त भोग एवं अनियमित क्रिया-कलापों में ही व्यक्त होती है, अतः कुछ विचारकों के अनुसार वैयक्तिक प्रेम एवं सृजनात्मक चेष्टा को भी अस्तित्ववादी मूल्यों के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए, पर वस्तुतः ये दोनों प्रवृत्तियाँ चयन की स्वच्छन्दता के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। वैयक्तिक प्रेम ही एकमात्र चयन की वस्तु है, या सभी के लिए सर्वोपरि तत्व है, ऐसा आग्रह अस्तित्ववादी नहीं करता। अतः सारांश में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चयन की स्वतंत्रता या वैयक्तिक स्वच्छन्दता ही अस्तित्ववाद का सर्वोपरि मूल्य या अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का मूलाधार है; अन्य सब धारणाएँ—अस्तित्व-बोध, नास्तिकता, विज्ञान-विरोधिता, पीड़ा की महत्ता आदि इसी की पूरक एवं साधिका मात्र है।

हिन्दी की नयी कविता और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ

अस्तित्ववाद के प्रचारकों ने साहित्य के विभिन्न रूपों – मुख्यतः उपन्यास-कहानी आदि—के माध्यम से अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। इसका प्रत्यक्ष

या अप्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के नये कवियों पर भी पड़ा। हिन्दी का साहित्यकार, भले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया हो, पर मानसिक दृष्टि से अभी पश्चिम का गुलाम ही है। उसके पास अपनी दृष्टि, अपने चिन्तन एवं अपने आदर्शों का अभाव है, पर फिर भी विश्व के बहुचर्चित साहित्यकारों की श्रेणी में अपने को प्रतिष्ठित देखने की आकांक्षा से भी वह पीड़ित है। वैयक्तिकता एवं आत्मीयता को छोड़कर दूसरों के अन्धानुकरण द्वारा अपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति हीनता की ग्रन्थि का द्योतक है; यह प्रवृत्ति भले ही उसे दूसरों की दृष्टि में ऊँचा न उठाए, किन्तु वह इसके द्वारा आत्म-तुष्टि तो प्राप्त करता ही है। अपने साहब के उतारे हुए सूट को पहनकर एक चपरासी भले ही दफ्तर में साहब का-सा सम्मान न पा सके, पर साहब की सी ऐक्टिंग करके घर में तो रोब जमा ही सकता है। यही स्थिति हिन्दी के कतिपय नये साहित्यकारों की है।

अस्तु, इसी अनुकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी की नयी कविता में भी अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों का प्रतिफलन दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कतिपय प्रवृत्तियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) अनास्था—अस्तित्ववाद के अनुसार ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सामाजिक मूल्यों आदि से सम्बन्धित सभी परम्परागत धाराएँ अस्वीकार्य हैं, अत: वह अनास्था-मूलक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। हिन्दी के नये कवियों में से भी अनेक ने इसी अनास्थामूलक स्वर को अभिव्यक्ति दी है—

(क) मेरे जन्म से पहले मर गई थी,
देवताओं की बूढ़ी दुनिया।

—अशोक वाजपेयी

(ख) जिनको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया,
वंचक है।

— धर्मवीर भारती

इसी अनास्था के कारण ही भारतभूषण अग्रवाल को सभी परम्परागत पथ अंधकार की ओर ले जाने वाले दृष्टिगोचर होते हैं—

जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अँधियारे में।
प्राणों के पंथी
सहमे सिमटे बैठे हैं गलियारे में।

वस्तुतः इन कवियों ने अनास्था की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की है, अतीत की परम्पराओं के प्रति विद्रोह एवं सामाजिक मर्यादाओं के प्रति वितृष्णा का भाव भी इसी अनास्था का सूचक है—

दीवार दरारें पड़ती जाती हैं इनमें
दीवार दरारें बढ़ती जाती हैं इसमें
× × ×
दीवार भला कब तक रह पायेगी रक्षित
यह पानी नभ से नहीं धरा से आता है !

—दुष्यन्तकुमार

यहाँ दीवार परम्परा का प्रतीक है, जिसे गिरा देने के लिए कवि उत्सुक है। अग्रांकित पंक्तियों में सामाजिक मर्यादाओं एवं नैतिक बन्धनों से अवरुद्ध जीवन के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए अनास्थामूलक दृष्टि का परिचय दिया गया है—

अवरुद्ध आज जीवन-प्रवाह
जड़ता की जंजीरों में जकड़ा भीत हृदय
हिमशीत मृत्यु के क्षुण्ण स्पर्श से
आज बना निर्जीव।

—भारतभूषण अग्रवाल

(२) अस्तित्व-बोध—अस्तित्ववादी के अनुसार व्यक्ति चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) का वरण करके ही अपना अस्तित्व सिद्ध कर पाता है। दूसरे शब्दों में वह धर्म, समाज एवं परम्परा द्वारा अनुमोदित एवं आरोपित पथ को त्याग करके स्वेच्छा का जीवन अपनाता है—यही 'अस्तित्व-बोध' है ! अस्तित्व-बोध जीवन भर बनी रहनेवाली स्थिति नहीं है, अपितु वह तो क्षणविशेष पर आधारित है, क्योंकि अस्तित्ववादी के लिए स्वेच्छापूर्वक जिया हुआ या भोगा हुआ एक क्षण परतंत्रता के सौ वर्षों से अधिक महत्वपूर्ण है, इसीलिए गुरुवर अज्ञेय अपने शिष्यों के साथ ऋषि अगस्त्य का रूप धारण करते हुए क्षण-विशेष के समुद्र का आचमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

एक क्षण होने का
अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण !
होने के सत्य का
सत्य के साक्षात का
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखण्ड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं !

इसी क्षण-विशेष के अस्तित्व-बोध को सार्त्र आदि ने व्यक्ति का विस्तार या मनुष्य का मुक्ति-लाभ या मुक्ति-बोध कहा है। सार्त्र की इसी विचारगंगा को हिन्दी-पद्य की धरती पर अवतरित करते हुए अज्ञेयजी अपने भगीरथ-प्रयास का परिचय देते हैं—

केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध

मुक्ति का
सीमा-हीन खुलेपन का !

अज्ञेय की उपर्युक्त उक्तियों में सार्त्र, कामू आदि के शब्दों की अनुगूंज इतनी स्पष्ट है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अज्ञेय ने अस्तित्ववाद की शब्दावली को भलीभांति रटकर के ही इन पंक्तियों का निर्माण किया था। फिर भी अपनी मौलिकता सिद्ध करने के लिए ये कवि अपने-आपको अस्तित्ववाद से प्रभावित न मानें तो इसे शुद्ध मिथ्यावाद ही कहना पड़ेगा।

(३) वैयक्तिकता की स्थापना—व्यक्ति-स्वच्छन्दता का प्रतिपादन होने के कारण अस्तित्ववादी स्वयं को समाज की विकासोन्मुख धारा के प्रवाह से अलग रखता है यह सभ्यता एवं संस्कृति की गतिशील धारा के प्रवाह में योग देने की अपेक्षा उसके मार्ग का बाधक द्वीप बनना अधिक अच्छा समझता है; इसीलिए अज्ञेय स्वयं को 'द्वीप' के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

किन्तु
हम हैं द्वीप
हम धारा नहीं है।
स्थिर समर्पण है हमारा,
हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किंतु हम बहते नहीं हैं,
क्योंकि बहना रेत होना है।

—'नदी के द्वीप'

इसी प्रकार भारतभूषण अग्रवाल अपने व्यक्तित्व को मनचाहा रूप देने की घोषणा करते हुए उग्र व्यक्तिवाद की स्थापना करते हैं—

मैं नहीं हूं कागज की लुग्दी
या कि निरा पिण्ड प्लास्टिक का
मिट्टी का लौंदा नहीं,
नहीं गले रांगे की धार हूं,
जिसे तुम सांचे में ढाल दो
मनमाना रूप दो, मनमानी चाल दो !

(४) पीड़ा की स्वीकृति—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, अस्तित्ववाद में व्यक्ति-स्वच्छन्दता का जितना महत्त्व है; उतना ही पीड़ा की स्वीकृति का है, क्योंकि स्वच्छन्दता के लिए—मनमानी करने के लिए उसका परिणाम भुगतना आवश्यक है। इसलिए व्यक्तिगत जीवन में भले ही हिन्दी के ये कवि पीड़ा न भोगकर ऊँचे-ऊँचे पदों, भारी वेतन एवं येन-केन-प्राप्त पुरस्कारों का उपयोग करें, किन्तु कविता में तो उन्होंने वेदना-वाद को स्वीकृति देकर अपनी सामयिकता एवं समकालीनता को प्रमाणित कर ही दिया है। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

वहन करो
ओ मन ! वहन करो पीड़ा !
यह अंकुर है उस विशाल वेदना का,
तुम में भी जन्मजात
आत्मजा है स्वीकार करो
आंचल से 'ढंक' कर रक्षण दो !
वहन करो, वहन करो पीड़ा !
सृष्टि प्रिया पीड़ा है कल्पवृक्ष,
दान समक्ष,
शीश झुका स्वीकारो
ओ मन ! करपात्री स्वीकारो
मधुकरि स्वीकारो
वहन करो, वहन करो पीड़ा !

—नरेश मेहता

पीड़ा सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्यान में कई वातें परस्पर-विरुद्ध कही गयी हैं—(१) पीड़ा को इसलिए सहन करो क्योंकि वह जन्मजात है; जन्म से तुम्हारे साथ है ! (२) पीड़ा को इसलिए सहन करो कि तुम्हारी आत्मजा (बेटी) है ! इसलिए उसकी माँ बनकर आंचल में ढंककर उसे बचाओ !—हम 'माँ' इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि बेचारे पिता के पास तो 'आंचल' होगा नहीं ! (३) पीड़ा सारी सृष्टि की प्रिया है, यह कल्पवृक्ष है—मनचाही मुरादें पूरी करने वाली है ! (४) वह भीख है—इसलिए उसे शीश झुकाकर स्वीकार करो !!

अवश्य ही यहाँ चारों वातों में परस्पर कोई तुक नहीं है ! भला जन्म के साथ अवतरित होनेवाली पीड़ा बेटी कैसे बन सकती है, और फिर बेटी से वह प्रिया कैसे बन गई ! और जो जन्म से साथ थी, आत्मजा थी, प्रिया थी, वह एकाएक भीख कैसे बन गई ? फिर भीख को शीश झुकाकर स्वीकारने की क्या आवश्यकता पड़ गई ?···भला भीख को भी कोई शीश झुकाता है ! ! हाँ, देनेवाले को भले ही कोई झुकाए ! पर यहाँ पीड़ा भीख देने वाली बन गई है ?

शायद ये सारी बातें हिन्दी के साधारण पाठक की समझ में न आएँ ! पर इसमें बेचारे कवि का भी क्या दोष है ? उसके अस्तित्ववादी गुरुओं ने जो बातें अलग-अलग संदर्भों में कही थीं; उन्हीं सबको इकट्ठी करके पद्य रूप दे दिया गया है । क्या यह कम उपलब्धि है कि कीर्केगार्ड, जैस्पर्स, हेड्गर एवं सार्त्र ने वेदना के सम्बन्ध में जो अलग-अलग मत दिये थे; वे सब मेहता जी की कृपा से हिन्दी के पाठक को एक ही जगह एकत्रित मिल गये !! हिन्दी के कवि की तर्कशून्यता की न सही उसकी ईमानदारी की तो दाद दी ही जा सकती है ! किस ईमानदारी से उसने सारे अस्तित्ववाद का सार एक ही कविता में प्रस्तुत कर दिया है ।

कुछ अन्य कवियों ने भी सार्त्र के वेदना सम्बन्धी विचार को मूल रू
प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ भारतभूषण अग्रवाल की कुछ पंि
उद्धृत हैं—

चुक गया जब नेह, बाती जर गई
मत करो चीत्कार
पगले !

× × ×

प्रज्जवलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लौ उठा !

× × ×

मुक्ति का बस है यही पथ एक !

अवश्य ही यहाँ सार्त्र के ही उद्घोष को कि वेदना की पूर्ण स्वीकृति ही अ
स्वबोध या व्यक्ति की मुक्ति का एकमात्र उपाय है—ही प्रतिध्वनित किया गया
फिर भी यह पूर्वोक्त उद्धरण की भाँति तर्क बुद्धि एवं अनुभूति से शून्य नहीं
वस्तुतः कवि ने यहाँ कुछ कहा है, वह स्वानुभूति से परिपूर्ण है जिससे प्रम
होता है, उसने सार्त्र के शब्दों को केवल रटा नहीं है, उन्हें समझा भी है।

अन्त में वेदना के सम्बन्ध में दीक्षा-गुरु का प्रवचन भी सुनने योग्य है—

दुःख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें !

इस उक्ति को पढ़कर हमें सुकरात का एक कथन याद आ गया—उसने
था, जब ईश्वर धरती के प्राणियों को कुछ कहना चाहता है तो वह कवि के म
से बोलता है। श्री अज्ञेय के बारे में भी हम कह सकते हैं कि कामू के प्रेत
सार्त्र की आत्मा को जब भारतीय पाठकों के लिए कुछ कहना होता है तो वे
जी के कन-कंठों का माध्यम अपनाते हैं। अतः उपर्युक्त पंक्तियों की प्रशंसा मे
सभी सार्त्र-भक्तों की ओर से उन्हें साधुवाद देते हुए कह सकते हैं—"धन्य है !
धन्य है ! ! यही महर्षि सार्त्र ने कहा था, यही आप कह रहे हैं ! ! ! धन्य हैं
धन्य हैं हम ! ! और धन्य है भारत की यह राष्ट्रभाषा, जो गुरुवर सार्त्र के
वचनों से पवित्र हुई ! ! !"

(५) भोग, प्यार, निराशा और मृत्यु—ये सभी तत्त्व अस्तित्ववादी प्रव
के विकास क्रम को सूचित करते हैं। व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता या स्वच्छन्दता का उ
प्रायः भोग और प्यार में करता है, उसका परिणाम निराशा और मृत्यु में होत

यह ध्यान रहे कि इनका भोग और प्यार वस्तुतः शुद्ध शारीरिक विलास का द्योतक है, जो असंयमित एवं अनियंत्रित होने के कारण निराशा और मृत्यु में परिणत होकर ही समाप्त होता है। अतः इन सभी तत्त्वों की व्यंजना हिन्दी के नये कवियों में भी उपलब्ध होती है—

(क) उन्मुक्त भोग :

आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय,
जिसकी जिन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य
कितना सुखी है वह
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य !

कुँवरनारायण

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इनके जीवन के तीन महान् आयाम ये तीन आशय ही है ! इनके जीवन का आशय ही तीन आयामों की पूर्ति तक सीमित है। सचमुच ये भाग्यशाली हैं—जीवन के शेष सारे उतरदायित्वों और क्रिया-कलापों से मुक्ति पाकर केवल तीन सुखागारों में ही अपने जीवन को समेट लिया ! ! क्या आप नहीं मानते कि उनका भाग्य सचमुच ईर्ष्या के योग्य नहीं है ! और सच पूछें तो इन तीन आशयों में से भी मुख्य एक ही रह गया है—शेष दो तो वैसे ही हैं !

कुँवरनारायण के ही स्वर में स्वर मिलाती हुई कुमारी (?) शान्ता सिन्हा उन्मुक्त भोग का खुला निमन्त्रण देती हुई दिखाई पड़ती हैं—

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अब जवान हैं।
आओ दोस्तो और साथियो
आओ मेरे झंडे के नीचे,
उंगलियों से कह दो
आज रियायत न करें तनिक भी
किन्तु पेश आयें
मुनासिब बेरहमी से !

सिन्हाजी की इन उक्तियों के सम्बन्ध में क्या कहें ! अवश्य ही उनका निमन्त्रण अनेक साथियों को आकर्षक एवं आह्लादक प्रतीत हुआ होगा, यह दूसरी बात है कि उसमें कौमार्य की शिष्टता, नारीत्व के संकोच एवं काव्यत्व की आभा का सर्वथा अभाव है।

यही उन्मुक्त भोग आगे चलकर निराशा, आत्म-ग्लानि एवं जीवन की निरर्थकता के बोध में परिणत हो जाता है—

हम में से किसी के पास टार्च नहीं है
और अँधेरे में
हम सभी गिरफ्तार हो गये हैं।

या

लगता है सारा अस्तित्व किसी झूठ पर
टिका हुआ, जाता है आप ही बिखर-बिखर
केवल रण अर्थहीन—साँसों के क्षीण स्वर !

और अन्त में उदित होता है आत्म-लघुता का यह भाव—

हम सब के दामन पर दाग है !
हम सब की आत्मा में झूठ
हम सब के माथे पर शर्म,
हम सब के हाथों में टूटी तलवारें !

—धर्मवीर भारती

ऐसी स्थिति में आत्म-तोष के लिए वे 'पराजय' को ही, जीत से बढ़कर और पलायन को ही संघर्ष से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने लग जायें तो क्या आश्चर्य। देखिए—

लड़ता ही क्या है चरित्र ? क्या जय ही ?
धैर्य पराजय में यह भी गौरव है !

—अज्ञेय

सचमुच गौरव है ! अब अज्ञेय जी को चाहिए कि दुनिया का इतिहास नये सिरे से लिखें और उनमें हारे हुए व्यक्तियों व भगोड़े सैनिकों की गुण-गाथा का अंकन करें। सचमुच यह अज्ञेय जी की सर्वथा नूतन उपलब्धि सिद्ध होगी !

उपसंहार

अंत में हम अस्तित्ववादी विचारकों एवं कवियों के सम्बन्ध में क्या लिखें। जैसा कि स्पेंगलर ने अपने ग्रन्थ The Decline of West (पश्चिम का पतन) में प्रतिपादित किया है—जब कोई सभ्यता अपने मरणोन्मुखी बिन्दु पर पहुँच जाती है तो उसमें इसी प्रकार की सर्वथा वैयक्तिक; आत्मघाती, उच्छृंखल एवं विलासिता की प्रवृत्तियाँ उन्मीलित होने लगती है। आसुरी सभ्यता, देव-सभ्यता, महाभारतीय आर्यों की सभ्यता, उत्तर-बौद्ध युग की भारतीय सभ्यता, हिन्दू-साम्राज्य के पतन से पूर्व की राजपूती सभ्यता, औरंगजेब परवर्ती मुगल सभ्यता—इस तथ्य को प्रमाणित करती है। अस्तु, यदि हमने अपने को संयमित न किया तो वर्तमान सभ्यता का भी नाश संभव है। विनाश से बच भी सकते है, पर यदि समय की गति को समझें तो ही। जो अतीत और वर्तमान से सारे सम्बन्धों को तोड़कर वैयक्तिकता के उन्माद से ग्रस्त हैं, उन्हे भला कौन समझा-बुझा सकता है ! ऐसी स्थिति में विजय चौहान के शब्दों में ही उनकी स्थिति को समझा जा सकता है—

हम हैं नये नकोर कवि
हम लघु मानव हैं !
हमारे पुरखे भीमकाय थे
लेकिन हम किसी को अपना पुरखा नहीं मानते !
हम एडिपस हैं
पितृघाती हैं
हमारा कोई अतीत नहीं,
कोई भविष्य नहीं,
हम क्षणवादी हैं
हमारी आंखों में मायोपिया है !
मोतियाबिन्द है
लेकिन हम आपरेशन नहीं कराएँगे
दुनिया को हमारी नजर के दायरे में सिकुड़ना पड़ेगा !

उपर्युक्त पंक्तियाँ नये कवियों के जीवन-दर्शन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं तथा यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह जीवन-दर्शन अस्तित्ववादी धारणाओं पर ही आधारित है ! अस्तित्ववादियों की सीमित वैयक्तिकता, उच्छृंखलता, स्वतन्त्रता, अतीत एवं भविष्य की अस्वीकृति एवं दृष्टि की संकीर्णता ने सचमुच आज के व्यक्ति को एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से वह न पीछे लौट सकता है और न ही आगे बढ़ सकता है। अतीत की सम्पदा को उसने ठुकरा दिया है, भविष्य की कल्पना को वह स्वीकार नहीं करता तथा वर्तमान उसका सिकुड़कर इतना छोटा हो गया है कि उसे 'क्षण' कहना पर्याप्त होगा। फिर भी दुर्भाग्य यह है कि वह अपनी सीमाओं को मानने को तैयार नहीं है, अपितु वह अपनी सीमित दृष्टि के अनुसार दुनिया को ही छोटी कर देना चाहता है। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक भी है—यदि चक्षुविहीन व्यक्ति सारे संसार को प्रकाश-शून्य घोषित करते हुए सूर्य, चाँद और नक्षत्रों को व्यर्थ घोषित करे तो इसमें क्या आश्चर्य है !

: : अड़तालिस : :

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही पुराना है, जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास प्राचीन है। प्रकृति-माँ की गोद में ही प्रथम मानव-शिशु ने आँखें खोली थीं, उसी की क्रोड़ में खेलकर वह बड़ा हुआ और अन्त में उसी के आलिंगन में आबद्ध होकर वह चिर-निद्रा में सोता रहा। प्रकृति के अद्भुत क्रिया-कलापों से उसकी हृदयस्थ भावनाओं—भय, विस्मय, प्रेम आदि—का स्फुरण हुआ; उसी की नियमितता को देखकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की बुद्धि का विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति और मानव का सम्बन्ध स्थायी है, चिरन्तन है। सत् रूपी प्रकृति, चित्-रूपी जीव और आनन्द-रूपी परम-तत्त्व—तीनों ही मिलकर सच्चिदानन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, तीनों ही दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसे जीवन में आगे बढ़ाती है।

मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, प्रकृति मानव-हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रही है। न जाने हमारे कितने ही कवियों को अब तक प्रकृति से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती रही है। आदिकवि ने प्रकृति के दो सजीव प्राणियों में से एक का वध देख कर इतने आँसू बहाये कि उनसे कितने ही भूर्जपत्र गीले हो गये और वे आज भी गीले हैं। आषाढ़ के प्रथम बादलों को देखकर कवि-कुल-शिरोमणि कालिदास तो इतने भावाभिभूत हो गये कि उनकी अनुभूतियाँ 'मेघदूत' का रूप धारण करके बरस पड़ीं। हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपनी विरह गाथा सुनाने के लिये प्रकृति की ओट बार-बार ली है। आधुनिक कवियों में भी अनेक को काव्य-रचना की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत ही नहीं, सौन्दर्य का अक्षय भंडार, कल्पना का अद्भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर, विचारों की अटूट शृंखला भी रही है।

प्रकृति-चित्रण के प्रकार

काव्य में प्रकृति का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है। हिन्दी के एक विद्वान् ने इसके निम्नांकित ११ भेद गिनाये हैं—(१) आलम्बन रूप में, (२) मानवीकरण के रूप में (३) पृष्ठभूमि के रूप में (४) उद्दीपन रूप में, (५) प्रतीकात्मक रूप में, (६) बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में, (७) उपदेशिका के रूप में, (८) अलंकार दर्शन के रूप में, (६) दूतिका के रूप में, (१०) रहस्यात्मक रूप में, (११) मानवीकरण के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिगणन केवल संख्या विस्तार के निमित्त ही किया गया है। "पृष्ठभूमि के रूप में जिसके अन्तर्गत प्रकृति कहीं अनुकूल बनकर आती है और कहीं प्रतिकूल"—इसमें और 'उद्दीपन रूप में' कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार 'दूतिका' का रूप भी मानवीकरण में समाविष्ट हो जाता है। मानवीकरण को भी दो बार गिना दिया गया है। वस्तुत: उपर्युक्त भेदों का समाहार निम्नांकित में ही हो जाता है :—

१. आलम्बन रूप—जहाँ कवि स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति-वर्णन के उद्देश्य से ही कर रहा हो, वह आलम्बन रूप कहलाता है।

२. उद्दीपन रूप—जहाँ कवि के मूल-भाव का आलम्बन तो कोई और होता है, किन्तु प्रकृति से वातावरण के द्वारा उस भाव को उत्तेजित करने में सहायता ली जाती है, उसे उद्दीपन रूप कहते हैं। जैसे चाँदनी रात के प्रभाव से विरहिणियों की वियोग वेदना का बढ़ जाना दिखाया जाता है।

३. उपमान रूप—मूल विषय को स्पष्ट करने के लिए कविगण प्रकृति के उपादानों से उनका सादृश्य या वैषम्य प्रदर्शित करते हैं; जैसे "उसका मुख चन्द्र-सा है।" यहाँ चंद्र उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है। विभिन्न अलंकारों में इन उपमानों का प्रयोग कई प्रकार से होता है, अत: उसके अनुसार उपमान रूप के भी अनेक रूपभेद किये जा सकते हैं, जैसे—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि।

४. मानवीकरण रूप—जहाँ प्रकृति को सजीव रूप में उपस्थित करते हुए उसे मानवी रूप प्रदान कर दिया जाता है, उसे ही मानवीकरण रूप कहते हैं, जैसे—चाँदनी को लक्ष्य करके कहना—"हे शुभ-वसना! तुम किसे देखकर मुस्करा रही हो?" वस्तुत: मानवीकरण रूपकातिशयोक्ति का ही एक भेद है।

५. प्रतीक रूप—कवि अपने भावों को स्पष्ट रूप में न बताकर उन्हें प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित करता है, जैसे—'निराशा' के लिए 'अन्धकार' का, दु:ख के लिये 'रात्रि' का, सुख के लिए 'दिन' का प्रयोग।

६. अन्योक्ति या व्यंग्योक्ति के रूप में—कई बार कविता में किसी विचार को प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त न करके प्रकृति के क्रिया-कलापों के माध्यम से ध्वनित किया जाता है। जैसे—

अन्योक्ति

माली आवत देखि कै कलियाँ करें पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये कालि हमारी बार॥

अन्योक्ति—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौनु हवाल।

सामान्य रूप से उपर्युक्त छह भेद ही प्रचलित हैं, किन्तु वैसे हमारे काव्य-शास्त्र में जितने अर्थालंकार हैं, प्रायः सभी में प्रतीक का प्रयोग हो सकता है।

भारतीय काव्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा

विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य—ऋग्वेद—से ही हमें प्रकृति-चित्रण की सुदृढ़ परम्परा प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ में उषा, सूर्य, मरुत, इन्द्र आदि को अलौकिक शक्तियों के रूप में स्वीकार करते हुए, उनके मानवी क्रिया-कलापों का चित्रण किया गया है। उषा की कल्पना एक कुमारी बाला के रूप में करते हुए सूर्य को उसका प्रेमी बताया गया—"हे प्रकाशवती उषा ! तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अपने प्रियतम सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मित-वदना युवती की भाँति अपने वक्ष-प्रदेश को निरावृत करती हो। इसी प्रकार पुरूरवा को छोड़कर जाती हुई कान्तिमती उर्वशी के सौन्दर्य को भी मेघों को चीरकर जाती हुई बिजली के सदृश बताया गया है। मंडूक सूक्त में वर्षा के आगमन और मेंढकों पर उनके आह्लादकारी प्रभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है—"जल की बूँदों से प्रसन्न होकर क्रीड़ा-मग्न मेंढक एक-दूसरे को बधाई-सी देते प्रतीत होते हैं। वर्षा हो जाने पर चितकबरे रंग वाला मेंढक पीले मेंढक के साथ उछल-उछलकर उसके स्वर में स्वर मिलाता है।" (ऋग्वेद ७।१०३।४) "एक मेंढक दूसरे मेंढक की टर्राहट को इस प्रकार दोहराता है जैसे गुरु के शब्दों को शिष्य दोहराता है।" कहना न होगा कि इन पंक्तियों में वैदिक ऋषि के प्रकृति से निकट सम्बन्ध की व्यंजना सम्यक् रूप में हुई है।

आदिकवि—वाल्मीकि—प्रकृति के रोमांचकारी प्रभाव से पूर्णतः परिचित थे। मानवीय भावनाओं के उद्दीपन के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर लिया है। बालकाण्ड में कौशिक ऋषि के संयम को भंग करने की योजना बनाता हुआ इन्द्र रंभा से कहता है—

मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम्।
कोकिल हृदयग्राही माधवे रुचिर द्रुमे।
अहं कन्दर्प सहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः।
त्वं हि रूपं। बहुगुणं कृत्वा परमं भास्वरम्।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम्।

अर्थात्, हे रम्भे ! डरो मत ! तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा, मेरी आज्ञा मानो। वसन्त काल में किसी मनोहर वृक्ष पर सुन्दर कोकिल बनकर कामदेव के साथ मैं तुम्हारे निकट ही स्थित होऊँगा। तुम जरा अपने रूप को सजाकर तपस्वी के मन को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करना।

उद्दीपन के अतिरिक्त रूप-सौन्दर्य की साज-सज्जा (अलंकार) के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग वाल्मीकि रामायण में हुआ है। राजा कुशनाभ की युवती कन्याओं के सौन्दर्य को प्राकृतिक वैभव से सम्पन्न करते हुए लिखा गया है—"रूप-यौवन-सम्पन्न वे कन्याएँ अलंकृत होकर उपवन में गईं। वर्षा-काल की विद्युत् के समान वे प्रतीत होती थीं।...अपने अपूर्व रूप से सजी हुई वे सर्वांग सुन्दरियाँ वाटिका में आकर ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों मेघ से छिपी हुई तारिकाएँ हों।"

(बालकाण्ड, सर्ग ३२)

महाभारत में आकर प्रकृति की अनुपम सौन्दर्य-श्री में और भी अधिक अभिवृद्धि हुई है। इसके शकुन्तलोपाख्यान में कण्व-ऋषि के आश्रम का एक संश्लिष्ट-चित्रण द्रष्टव्य है—"वह वन पुष्पों से युक्त और वृक्षों से सुशोभित था। उसमें अत्यन्त सुखकारी हरी-हरी घास लहरा रही थी। अनेक सुन्दर पक्षियों के कलरव तथा कोयलों की कूक और झिल्ली की झंकार से वह गुंजरित हो रहा था।" (आदि पर्व—७०, ४, ५, ६)। इसी प्रकार उपमान रूप में वर्णन का एक उदाहरण देखिए—अद्भुत सौन्दर्य भार से लदी हुई बाला सुन्दरी तप्ता के रूप-वैभव की व्यंजना करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—"वह या तो लक्ष्मी है अथवा सूर्य से झड़कर पड़ी हुई उसकी कान्ति है : अंगों की द्युति की दृष्टि से वह रवि की शिखा-तुल्य और निर्मल सौन्दर्य की दृष्टि से चन्द्ररेखातुल्य प्रतीत होती है। पर्वत-प्रदेश पर स्थित यह श्याम-वर्ण नेत्रोंवाली कन्या स्वर्ण की प्रतिमातुल्य प्रतीत होती है।" (आदि पर्व, अध्याय १७३)

परवर्ती संस्कृत साहित्य में तो प्रकृति का चित्रण इतनी मात्रा में हुआ है कि हमें सर्वत्र प्रकृति-सौन्दर्य की ही माया का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति-चित्रण का कोई ऐसा रूप नहीं, जो संस्कृत के काव्य-भण्डार में उपलब्ध नहीं होता। प्रायः आधुनिक आलोचक मानवीकरण की शैली को पाश्चात्य साहित्य की देन बताते हैं, किन्तु कालिदास, दंडी और हर्ष की रचनाओं में प्रकृति के मानवी रूप के शत-शत उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं। 'मेघदूत' में गंभीर नदी को किसी मद-विह्वला नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी काम-चेष्टाओं का निरूपण किया गया है, जो मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है। "ऋतु-संहार' में शरद् का चित्रण एक नववधू के रूप में किया गया है—"काश के (श्वेत) वस्त्रों से सुसज्जित, परिपक्व धानों से ललित छरहरे शरीर वाली खिले हुए कमल (सदृश) मुखवाली यह शरद सुन्दरी, नूपुर ध्वनि के तुल्य मन्दोन्मत्त हंसों के कलरव का शब्द करती हुई किसी नव वधू के समान आ रही है।" आगे चलकर भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों ने प्रकृति का चित्रण इतने परिमाण में किया कि यह महाकाव्य के एक आवश्यक लक्षण के रूप में स्वीकार कर लिया गया। 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' जैसी गद्य रचनाएँ भी प्रकृति-सौन्दर्य से भरपूर हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश के जैन कवियों ने प्रकृति-वर्णन का चित्रण पर्याप्त मात्रा

में किया है, किन्तु उनमें संस्कृत-कवियों की ही उक्तियों का पिष्टपेषण अधिक है, मौलिकता कम है, हाँ अपभ्रंश के परवर्ती युग में अब्दुर्रहमान एवं बब्बर जैसे कवियों ने उद्दीपन रूप में प्रकृति के कई चित्र उपस्थित किए हैं। विभिन्न ऋतुओं में 'सन्देश-रासक' की विरहिणी नायिका की दशा अत्यन्त असह्य हो जाती है। पथिक को सन्देश देती हुई वह कहती है—"(वर्षा ऋतु में) अम्बर में चारों ओर काले बादल छाये हुए हैं। काली घटाओं की घरघराहट जोर से उठती है। नभ-मार्ग में विद्युत तड़कती है। मेंढकों की कठोर टर्राहट सहन नहीं हो पाती। धरती पर निरन्तर मूसलाधार वर्षा होती रहती है। पथिक! बताओ, शिखर-स्थित कोयल के मीठे स्वर की चोट को कैसे सहन करूँ!!" दूसरी ओर महाकवि बब्बर की पति-वियुक्ता नायिका ग्रीष्म के दाह से क्षुब्ध होकर किसी के शीतल-स्पर्श की कामना व्यक्त करती है—

तरुण-तरणि तवइ धरणि, पवण वटइ खरा,
लग णाहि जल वड मरुथल, जण-जियण-हरा।
दिसइ चलइ हिअअ दुलइ हम, इकलि वहू,
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ! मण इछइ कहू!
(हिन्दी काव्य-धारा। पृ० ३१८)

—युवा सूर्य धरती को तपा रहा है। तेज पवन चल रहा है। इस मरुस्थल में कहीं जल का पता नहीं है। लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है। दिशाओं की वायु चल रही है। उनसे मेरा हृदय हुल रहा है। घर में पिया नहीं है और मैं अकेली वधू हूँ। हे पथिक! मन किसी को चाहता है!—

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि वैदिक युग से लेकर अपभ्रंश युग तक के साहित्य में प्रकृति रानी की सत्ता अखंड रूप से बनी हुई है। वह नाना रूपों में अवतरित होकर मानवीय अनुभूतियों के साथ अभिनय करती रही है। कहीं वह सौन्दर्य की सहायिका और साधिका रूप में दृष्टिगोचर होती है तो कहीं स्वयं ही सौन्दर्य का आगार बन गई है। दार्शनिकों ने इस शत-शत रूपा प्रकृति को माया की संज्ञा देकर उचित ही किया।

हिन्दी काव्य में प्रकृति

हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रायः उद्दीपन और उपमान रूप में हुआ है। रासो ग्रन्थों के रचयिताओं ने जहाँ सौन्दर्य निरूपण के लिए प्रकृति से उपमान ग्रहण किए हैं, वहाँ संयोग-वियोग की अनुभूतियों के उद्दीपन के रूप में विभिन्न ऋतुओं का वर्णन भी किया है। 'बीसलदेव रासो' की नायिका की विरहाग्नि भादों की झड़ियों से और भी प्रदीप्त हो उठती है—

भादवउ बरसई छइ मगहर गम्भीर। जल-थल महीयल सहू भर्‌या नीर।
जाणे सरवर उलटइ। एक अंधारी बीजखी बाया।
सूनी सेज बिदेश पिया। दोई दुख नाल्ह क्युं सहहणा जाई।

भला, एक दुःख हो सहन किया जा सकता है, किन्तु प्रकृति के मादक वैभव ने तो विरहणी वाला के शोक-संताप को द्विगुणित कर दिया है।

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने तो प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। नारी के रूप-वैभव को प्रकृति के अंगराग से सुसज्जित करने की कला में जैसी दक्षता विद्यापति को प्राप्त है, वैसी संभवतः किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हुई। वे विभिन्न प्रकृति को विभिन्न अलंकारों के रूप में प्रयुक्त करते हैं—

पीन पयोधर दूबरि गता, मेरु उपजल कनक-लता
× × ×
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन, काजर रंजति भेला !
कनक-कमल माझ काल भुजंगिनी, श्री युत खंजन खेला !

इसी प्रकार प्रकृति-प्रयोग के अन्य प्रकार भी देखिए—

उद्दीपन रूप में—

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर बन, कोकिल पंचम गावे रे !
मलयानिल हिम सिखर सिधारल, पिया निज देश न आवे रे !

अन्योक्ति रूप में—

कंटक माझ कुसुम परगास, भमर विकल नही आवए पास।
भमरा मेल धुरए रब राम, तोहे बिबु मालति नहि बिसराम ॥

प्रतीक रूप में—

कौन कुबुधि लुटु मदन-भंडार
× × ×
हाव-हाय सम्भु भगन भए गेल
× × ×
सांझ क बेरि उगल नव ससधर
भरत बिवित सविताहु !

इसके अतिरिक्त मानवीकरण का भी विद्यापति में अभाव नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियां देखिए—

माइ हे सीत वसंत बिबाद, कओन विचारब जय अवसाद !
दुहु दिसि मधथ दिवाकर भेल, वुजबर कोकिल साखी देल !!
× × ×
बादी तह प्रतिवादी भीत !
सिसिर विन्दु ही अन्तर सीत !!

यहाँ वसन्त और शीत को क्रमशः वादी और प्रतिवादी के रूप में उपस्थित किया है तथा अन्त में वसन्त की जीत दिखाई गई है।

प्रकृति की माया समझने वाले संत और भक्त कवियों ने भी उसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कबीर ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है—

जैसे जलहि तरंग तरंगिनी ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर सुख सागर हँसहि हंसहि हंस मिलावहिंगे॥

संसार की नश्वरता का प्रतिपादन भी ये अन्योक्तियों के द्वारा करते हैं—

माली आवत देखि के कलियाँ करें पुकार॥
फूले फूले चुन लिये कालि हमारी बार॥

साधना-जन्य अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए भी प्रकृति की लीला से बढ़कर और कोई रूपक कबीर को दृष्टिगोचर नहीं होता—

अंतर कँवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ।
मन भँवरा तहाँ लुबुधिया, जाणैगा जन कोइ॥

वस्तुतः प्रकृति के संयोग से कबीर ने शुष्क-से-शुष्क विचार को सरलता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति को स्पष्टता प्रदान कर दी है।

महाकवि जायसी ने प्रकृति को उद्दीपन, उपमान, प्रतीक आदि रूपों में प्रयुक्त किया है। पावस ऋतु के मादक प्रभाव की व्यंजना द्रष्टव्य है—

"रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
कोकिल बैन, पांति बग छूटी। धनि निसरी जेउं बीर बहूटी॥
चमक बिज्जु, बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती, पिय संग निस जागै। गरजै चमकै चौंकि कंठ लागै॥
सीतल बूंद, ऊँच चौवारा। हरियर सब देखिय संसारा॥
भर भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी॥
मंदिर सून प्रिय अनतै बसा। सेज नाग भै धँ धँ डसा॥

इसी प्रकार रानी पद्मिनी के सौन्दर्य-चित्रण में प्रकृति के उपादानों का प्रयोग भरपूर किया गया है—

भँवर केस, वह मालति रानी। विसहर लुरहिं लेहिं अरधानी॥
बेनि छोरि झारु जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥

प्रेम-निरूपण में भी जायसी ने प्रकृति के क्रिया-कलापों को सादृश्य-रूप में प्रस्तुत किया है—

फूल-फूल पूछौं, जो पहुँचौं ओहि केत!
तन निछावर कै मिलौं, ज्यों मधुकरजिव देत!!
+ + +
हौं रे पथिक पखेरू, जेहि वन मोर निबाहु!
खेलि चला तेहि वन कहँ, तुम अपने घर जाहु!

कहना न होगा कि यहाँ प्रेमी के लिए 'मधुकर' और 'पक्षी' का रूपक भावनाओं के उत्कर्ष में गहरा योग देता है। भक्ति-काल के अन्य कवियों ने भी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के वैभव को साधन रूप में स्वीकार किया है। तुलसी ने इष्टदेव की साज-सज्जा में प्रचलित उपमानों की झड़ी बार-बार लगाई है तथा वियोगी राम पर वर्षा, शरद् आदि का प्रभाव भी यथास्थान अंकित किया है। कृष्ण-

भक्त कवियों के आराध्य देव की तो क्रीड़ा-स्थली ही प्रकृति की रंगभूमि थी, अतः उनके काव्य में इसकी छवि सर्वत्र दृष्टिगोचर हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यहाँ हम 'सूर-सागर' से कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत करके संतोष लेंगे—

केकी-कोक, कपोत और खग, करत कुलाहल भारी !
मानहुँ लै-लै नाउं परस्पर, देत दिवावत गारी !!
कुंज-कुंज प्रति कोकिल कूजति, अति रस विमल बढ़ी !
मनु कुल-बधु निलय भई गृह-गृह गावति अटनि चढ़ी !
प्रफुलित लता जहाँ जहँ देखत तहां-तहां अलि जात !
मानहुँ छिट सबहिनि अवलोकत, पारस गनिका गात !

यहाँ सामूहिक गाली-गलौज, युवतियों के निर्लज्ज आलाप और रसिकों की छेड़-छाड़ का आयोजन प्रकृति की ओट में किया गया है, कवि ने दृश्य को मादक बनाते हुए भी उसे अश्लीलता से बचा लिया है।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण

रीतिकाल का प्रमुख विषय शृंगार-चित्रण होने के कारण इस युग में प्रकृति-चित्रण को और भी अधिक प्रश्रय मिलना स्वाभाविक है। विहारी, सेनापति, देव, पद्माकर आदि कवियों ने प्रकृति को अनेक प्रकार से चित्रित किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

लपटी पहुप पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायुगति मन्द।
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं ह्वै, वा जमना के तीर।

—विहारी

भौंरन को गुंजन विहार वन कुंजन में, मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै 'पद्माकर' गुमान हूँ ते मान हूँ प्राण हू तें प्यारो मन-भावनो लगत है।
मोरन को सोर धन-घोर चहुँ ओरन, हिंडोरन को वृन्द छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में, सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है।

—पद्माकर

इसी प्रकार 'ग्वाल' कवि का वसन्त वर्णन देखिए—

सरसी के खेत की विछायत बनी तामें खरी चाँदनी बसन्ती रति कंत की।
सोने के पलंग पर वसन वसन्ती साज, सोन जूहि माला हालें हिया हुलसन्त की।

+ + +

राग में वसन्त वाग-वाग में फूलो, त्याग में वसन्त क्या वहार है वसन्त की।

ध्यान रहे, वहाँ प्रकृति-वर्णन—या कहिए, ऋतु-वर्णन किया गया है, किन्तु स्वाभाविकता का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। सोचिए, सरसों के खेत में सोने का पलँग कहाँ से आवेगा ?

आधुनिक युग

आधुनिक युगीन हिन्दी-काव्य में प्रकृति की छटा का चित्रण पर्याप्त सूक्ष्मता, सरसता एवं विशदता से हुआ है। विशेषतः छायावादी काव्य तो प्रकृति के वैभव में इतना अधिक रंजित है कि कुछ विद्वानों ने प्रकृति-वर्णन के विशेष प्रकार को ही छायावाद समझ लिया था। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

स्वतंत्र रूप में—

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।

—प्रसाद

मानवीकरण—

पगली, हाँ सम्हाल ले तेरा, छूट पड़ा कैसे अंचल।
देख बिखरती मणिराजी, अरी उठा ओ बेसुध चंचल॥

—प्रसाद

× × ×

सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रणय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥

—प्रसाद

अरे, कौन तुम दमयंती सी हो तरु के नीचे सोई।
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया, क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई॥

—पंत

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह संध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे, धीरे, धीरे॥

—निराला

प्रतीक रूप में—

नयन में जिनके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ।
किसी शूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ!!

—महादेवी वर्मा

उपमान रूप में—

नील परिधान बीच सुकुमार, खिल रहा मृदुल अधखिला अंग॥
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

—प्रसाद

यहाँ हम और अधिक उदाहरण न देकर इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि

आधुनिक काव्य में प्रकृति और मानव दोनों एकाकार हो गये हैं। प्रकृति में मानव के तथा मानव में प्रकृति के रूप-वैभव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रकृति आधुनिक कवियों का कथ्य है, कथन है और कथन का साधक है। ब्रह्म के विराट् रूप का प्रतिपादन करना हो; या जीवन-दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाना हो अथवा अपने किसी गुप्त प्रेम के किसी गोपनीय तथ्य की व्यंजना करनी हो, हमारे काव्य-रचयिताओं ने प्रकृति को सहायता के लिए आमंत्रित किया है।

अस्तु, हिन्दी कवियों के प्रकृति-प्रेम का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि उन्होंने प्रकृति के वैभव के समक्ष युवती बालाओं के मन-मोहक सौन्दर्य तक को ठुकरा दिया—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन!!

—पंत

: उनचास :

हिन्दी-काव्य में नारी (नायिका) रूप

यदि हम एक ऐसे विषय की खोज करें जिसका प्रयोग विश्व-काल में सर्वाधिक हुआ, तो वह विषय हमारे अनुमान से नारी-वर्णन ही सिद्ध होगा। विश्व-काव्य का सर्व प्रचलित रस-रसराज शृंगार है, तो नारी उसी रसराज के प्राणों की आधार है। नारी की विमोहिनी शक्ति युग-युग से काव्य-जगत पर एकछत्र शासन करती रही है और संभवत: भविष्य में भी करती रहेगी। वैदिक साहित्य में उसके रूप वैभव के उन्मादक प्रभाव की अभिव्यक्ति उस उर्वशी के रूप में हुई है, जिसके वियोग में पुरूरवा ने अपने आपको हिंस्र भेड़ियों के सम्मुख डालकर आत्महत्या करने की सोची थी। रामायण में उसके सौन्दर्य की दीप्ति जनक-तनया के रूप में हुई है, जिसकी प्राप्ति के लिए दूर-दूर के नरेश धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे। महाभारत में उसने उस द्रौपदी का रूप धारण किया, जिसके एक कटु हास्य ने अठारह अक्षौहिणी योद्धाओं के नाश का बीज बो दिया। आगे चलकर संस्कृत नाटक-साहित्य में उसने वासवदत्ता, शकुन्तला, वसन्तसेना, मालती, रत्नावली, दमयन्ती आदि के विभिन्न रूपों में अपने सौन्दर्य के जादू एवं भाव-भंगिमाओं की शक्ति का परिचय दिया। गद्य-साहित्य में एक ओर संसार की समस्त साधना, पवित्रता एवं दिव्यता को लेकर वह महाश्वेता और कादम्बरी के रूप में अवतरित हुई, तो दूसरी ओर उससे 'दशकुमार चरित' की काम-मंजरी के रूप में विश्व की समस्त कुटिलता का भी प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया। साहित्य में नारी के इन अनन्त रूपों, उसके अद्भुत प्रभाव और उसकी अपार शक्ति को देखते हुए कामायनीकार के शब्दों में यही स्वीकार करना पड़ता है—

हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता !

सम्भवत: नारी-रूप की इसी विचित्रता को देखकर हमारे काव्य-शास्त्रियों के हृदय में उसका विश्लेषण करने की भावना प्रस्फुटित हुई। भरत-मुनि ने सर्व-प्रथम उसे नायिका-पद से विभूषित करते हुए गुण-शील के आधार पर उसके विभिन्न रूपों का आख्यान किया, जो परवर्ती युग में इतना लोकप्रिय विषय सिद्ध हुआ कि धनंजय, विश्वनाथ, भानुदत्त आदि ने अपने ग्रन्थों में सबसे अधिक विस्तार नायिका-भेद को

आधुनिक काव्य में प्रकृति और मानव दोनों एकाकार हो गये हैं। प्रकृति में मानव के तथा मानव में प्रकृति के रूप-वैभव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रकृति आधुनिक कवियों का कथ्य है, कथन है और कथन का साधक है। ब्रह्म के विराट् रूप का प्रतिपादन करना हो; या जीवन-दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाना हो अथवा अपने किसी गुप्त प्रेम के किसी गोपनीय तथ्य की व्यंजना करनी हो, हमारे काव्य-रचयिताओं ने प्रकृति को सहायता के लिए आमंत्रित किया है।

अस्तु, हिन्दी कवियों के प्रकृति-प्रेम का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि उन्होंने प्रकृति के वैभव के समक्ष युवती बालाओं के मन-मोहक सौन्दर्य तक को ठुकरा दिया—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन!!

—पंत

: उपक्रम :

हिन्दी-काव्य में नारी (नायिका) [illegible]

यदि हम [illegible] विश्व की [illegible] [illegible] जिस [illegible] प्रादुर्भाव [illegible] सिद्ध हुआ, तो वह [illegible] अनुराग में नारी [illegible] का सर्व प्रचलित [illegible] है, जो [illegible] है। नारी की [illegible] शक्ति युग-युग से [illegible] रही है और संभवतः भविष्य में भी [illegible]। वैदिक [illegible] के उन्मादक प्रणय की अभिव्यक्ति [illegible] पुरूरवा ने अपने [illegible] थी। रामायण में उसके सौन्दर्य की [illegible] प्राप्ति के लिए दूर-दूर के [illegible] उस द्रौपदी का रूप धारण किया, [illegible] योद्धाओं के नाश का बीज बो दिया। [illegible] वासवदत्ता, शकुन्तला, वसन्तसेना, मालती, रत्नावली, [illegible] आदि के विविध रूपों में अपने सौन्दर्य के जादू एवं भाव-भंगिमाओं की [illegible]। [illegible] साहित्य में एक ओर शृंगार की [illegible] महाश्वेता और कादम्बरी के रूप में [illegible] चरित' की काम-मंजरी के रूप में [illegible] लतापूर्वक किया। साहित्य में नारी के इस प्रकार [illegible] उसकी अपार शक्ति को देखते हुए कामायनीकार [illegible] पड़ता है—

> हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता !

संभवतः नारी-रूप की इसी विविधता को देखकर हमारे [illegible] के हृदय में उसका विश्लेषण करने की भावना प्रस्फुटित हुई। भरतमुनि [illegible] उसे नायिका-पद से विभूषित करते हुए गुण-शील के आधार पर [illegible] का आख्यान किया, जो परवर्ती युग में इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि [illegible], विश्वनाथ, भानुदत्त आदि ने अपने ग्रन्थों में सबसे अधिक विस्तार [illegible] को

ही दिया है, आगे चलकर हिन्दी के कवियों ने भी उसके 'नखशिख' एवं विभिन्न रूपों को लेकर स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की। नायिका के इतने भेद किए गए कि उनकी संख्या दो हजार से भी ऊपर पहुँच गई; अतः नायिका-भेद निरूपण को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्य और कवि दोनों के लिए ही नारी-रूप की मीमांसा एक प्रिय विषय रहा है।

उपर्युक्त निष्कर्ष से एक भ्रान्ति पैदा हो जाने की सम्भावना है। इससे यह धारणा बनती है कि भारतीय साहित्य में नारी को बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ है भारतीय समाज में नारी को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त होगा; क्योंकि साहित्य समाज का ही प्रतिविम्ब माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक युगीन भारतीय नारी को समाज और साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, किन्तु परवर्ती युगों में स्थिति इसके ठीक विपरीत रही। वैदिक युग की सहचरी रामायण युग में "छायेव अनुगता सदा" (छाया की भाँति अनुचरी) हो गई। पुरुषोत्तम राम ने उसकी स्थिति सुधारने के लिए एक पत्नीव्रत का आदर्श स्थापित किया था, पर निरंकुश पुरुष वर्ग को वह स्वीकार्य नहीं हुआ। महाभारत-युग में आकर तो उसका मूल्य एक चल सम्पत्ति जितना ही रह गया; शल्य उसे बहिन के रूप में बेच सकता है; गांधार-नरेश द्रव्य के लोभ से उसे किसी चक्षुहीन की पत्नी बनने को विवश कर सकता है; पांडु जैसे पुरुषत्वहीन पति की आज्ञा से वह दुराचार करने को विवश हो सकती है; भीष्म उसका अपने भाइयों के लिए अपहरण कर सकता है; भाइयों की सहमति से वह पांच पतियों की सह-भोग्या बन सकती है; आवश्यकता पड़ने पर उसे जुए के दांव पर लगाया जा सकता है और जरासंध जैसे शासक के संग्रहालय में वह चिड़ियों की भाँति रहकर अन्त में किसी अन्य विजेता की सम्पत्ति बन सकती है। वस्तुतः इस युग में भारतीय नारी के निजी व्यक्तित्व, निजी आदर्श और निजी लक्ष्य सदा के लिए पुरुष के चरणों पर कुंठित हो गए। आगे चलकर बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा आदि के प्रचलन ने तो उसे उस निर्जीव यन्त्र का रूप दे दिया, जो पुरुष के मनोरंजन एवं वंश-वृद्धि का साधन-मात्र है।

भारतीय साहित्य में भी नारी के सामान्य रूप का ही विवेचन, विश्लेषण एवं चित्रण अधिक हुआ है, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता का विकास प्रायः नहीं मिलता। विशेषतः हिन्दी काव्य में तो हम उसे व्यक्ति की अपेक्षा जाति के रूप में ही अधिक पाते हैं। उसके अंग-प्रत्यंगों के स्थूल रूप की व्याख्या किसी मशीन के निर्जीव पुर्जों की भाँति ही बारम्बार हुई है, उसकी सूक्ष्म चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का अंकन प्रायः नहीं के बराबर है। अतः विभिन्न कवियों के नारी-रूपों में भेद करना कुछ कठिन है, किन्तु फिर भी निजी दृष्टिकोण एवं देश-काल के अनुसार उसमें परस्पर थोड़ा अन्तर अवश्य मिलता है।

वैसे हिन्दी में राधा, पद्मावती, राजमती, नागमती, उर्मिला, यशोधरा, अज्ञातनामा 'प्रेयसी' आदि अनेक नायिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु उनमें सर्वाधिक

चित्रण कृष्ण की बाल-सहेली वृषभानुजा राधा का ही हुआ है। अकेले 'राधा' नाम में विद्यापति से लेकर हरिऔध तक अनेक कवियों की अनेक नायिकाओं का समाहार हो जाता है। विद्यापति, सूर, नन्ददास, बिहारी, देव, पद्माकर, भारतेन्दु आदि न जाने कितने कवियों ने उसका चित्रण किया है, फिर भी उसका रूप नवीन है, उसकी आभा अम्लान है और उसका अनुराग अखण्ड है। अतः हम सबसे पहले हिन्दी-काव्य की प्रतिनिधि नारी के रूप में राधा के ही विभिन्न रूपों का परिचय देना उचित समझते हैं।

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के प्रथम दर्शन काव्य-मंच पर हम उस समय प्राप्त करते हैं, जबकि वह वय:संधि की अवस्था को पार कर रही थी। उसकी इस अवस्था का चित्रण कवि ने रुचिपूर्वक किया है—

> खने-खन नयन कोर अनुसरई, खने-खन वसन धूलि तन भरई।
> खने-खन दसन छटा छुट हास, खने-खन अधर आगे कर बास॥
> चउंकि चले खने-खन चलु मन्द, मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।
> हिरदय मुकुल हेरि-हेरि थोर, खने आंचल दए खने होए भोर॥

धीरे-धीरे वह उस यौवन में प्रवेश करती है जो सौन्दर्य, मद, अल्हड़ता एवं उच्छृङ्खलता से भरपूर है। प्रणय-भावनाओं का प्रवेश भी उसके जीवन में होता है, किन्तु शीतल मन्द समीर की भाँति चुपचाप नहीं, अपितु तूफान की तीव्रगति से अट्टहास करते हुए। उसके धार्मिक विश्वास, सामाजिक अंकुश एवं पारिवारिक नियंत्रण उस तूफ़ान के प्रथम झोंकों में क्षत-विक्षत हो जाते हैं। संसार का कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, जो इस प्रणय-विभोर नारी को अपने पथ से विचलित कर सके। अन्य नायिकाओं की भाँति वह अपने प्रणय को गुप्त रखना नहीं जानती; वह उसकी घोषणा स्पष्ट रूप में कर देती है—

> सामर सुन्दर ए बाट आएल, ते मोरि लागलि आँखि

प्रियतम से संकेत-स्थल पर मिलने की प्रतिज्ञा को पूरी करने में वह किसी से भय नहीं खाती—

> घर गुरुजन डर न मानब, बचन चूकब नाहि।

किन्तु उसके साहस की विलक्षणता का परिचय तो तब मिलता है, जबकि जेठ के मध्याह्न में वह कड़कड़ाती हुई धूप, धधकती हुई जमीन और घृणा व ईर्ष्या से जलती समाज की आँखों की कोई परवाह न कर मनोरथ-पूर्ति के लिए आगे बढ़ ही जाती है—

> तपन के ताप तपत भेल महीतल तातल बालू दहन समाना।
> चढ़ल, मनोरथ भामिनी चलु पथ, ताप तपत नहीं जाना॥

अर्थात् सूर्य की तपन के ताप से महीतल तप्त हो रहा है, गरम बालू आग के समान जल रही है किन्तु नायिका अपने मनोरथ रूपी रथ पर चढ़कर चल पड़ी,

जलनका उसे कोई पता नहीं। विद्यापति की राधा का दुर्भाग्य यह है कि उसका यह अपूर्व साहस भी प्रणय-स्वप्नों को चिरस्थायी बनाने में सफल नहीं हो सका। कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर भ्रमरराज किसी अन्य कलिका की ओर आकर्षित हो जाते हैं और अभागी नायिका के पास केवल निराशा, वेदना और ग्लानि की पूँजी शेष रह जाती है, अर्थात्—

कुल कामिनी छलौं कुलटा भए गेलौं, तिन कर वचन लोभाई !
अपने कर हम, मूँड मूँडाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई !!

"कुल-कामिनी थी, अब कुलटा हो गई हूँ। उसके वचनों से लुभाकर मैंने अपने हाथ से ही अपना सिर मूँड लिया ! हाय ! कन्हैया से प्रेम करके..." वस्तुतः विद्यापति की नायिका यहाँ एक उच्छृङ्खल प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है, जिसे नायक की वंचकता के कारण अन्त में निराश होना पड़ता है।

सूरदास की राधा

सूरदास की राधा काव्य-मंच पर यौवन की सौन्दर्य-श्री से लदकर एकाएक उपस्थित नहीं हो जाती, अपितु उसका सर्वांगीण विकास धीरे-धीरे होता है। उसका प्रणय भी विद्युत की भाँति उदित होकर विलीन नहीं हो जाता, अपितु वह साहचर्य के योग से धीरे-धीरे विकसित होता है। उसके माता-पिता के लिए कृष्ण अपरिचित नहीं है, अतः उसका कृष्ण से मिलन अबाध गति से चलता रहता है। वस्तुतः इन परिस्थितियों में विकसित प्रेम में समुद्र की-सी गहराई तो होती है, किन्तु उसमें वे उत्ताल तरंगें नहीं होतीं, जो एक बार में ही हृदय को आत्म-समर्पण के लिए विवश कर दे; उसकी गति में वह अधीरता भी नहीं कि राह में आने वाली प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक बाधा को कुचलती हुई वह आगे बढ़ जाए। वियोग में भी राधा का हृदय दीपक की लौ की भाँति मंद-मंद गति से धधकता है; यही कारण है कि जहाँ विद्यापति की राधा प्रिय-मिलन के लिए स्वर्ग तक की दौड़ लगाने के लिए तैयार है, वहाँ सूरदास की राधा दो-चार कोस की दूरी को भी लाँघ पाने में असमर्थ है। किन्तु जहाँ विद्यापति की नायिका का हृदय बरसाती नाले की भाँति उफनकर शीघ्र ही सूख जाता है, वहाँ सूर की राधा का प्रणय उसके समस्त जीवन की गुप्त निधि बनकर हृदय की गहराई में बैठ जाता है।

रीतिबद्ध कवियों की नायिका

रीतिबद्ध शृङ्गार कवियों की नायिका का कोई एक रूप नहीं है। आवश्यकतानुसार वह प्रेयसी भी है और पत्नी भी है, स्वकीया भी और परकीया भी। वस्तुतः नारी के सभी रूपों और सभी अवस्थाओं में उसका चित्रण हुआ है। स्वकीया के रूप में उसे एक रसिक, रूप-लोभी, शठ नायक पति के रूप में प्राप्त होता है; यौवन

एवं सौंदर्य के प्रथम प्रकाश में वह उसके रूप वैभव का माधुर्य लूटता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी द्युति मंद पड़ती जाती है, नायक किसी और का बन जाता है। फलतः विवश पराधीन नारी को - पत्नी को — अपने हाथ की चूड़ियों (सौभाग्य-चिन्ह) पर ही संतोष करना पड़ता है।

दूसरे रूप में वह विवाहिता परकीया है—अतः उसे प्रेयसी न कहकर व्यभिचारिणी कहना उपयुक्त होगा। उसका व्यभिचार रूपी प्रेमी भी स्थायी नहीं होता था, कुछ दिनों तक संकेत स्थलों पर पहुँचने वाली परकीया को अंत में विप्रलब्धा—वंचिता—बनने को विवश होना पड़ता था। वस्तुतः पुरुष वर्ग की विलासिता के कारण पत्नी और प्रेयसी दोनों रूपों में उसकी स्थिति विषम थी। यह भी एक ध्यान देने की बात है कि रीति कालीन काव्य में अविवाहिता प्रेयसियों के प्रेम के चित्रण का अभाव है—संभवतः इसका कारण बाल-विवाह का प्रचलन है।

द्विवेदीयुगीन राधा

द्विवेदीयुगीन राधा समाज-सेविका के सब गुणों से सम्पन्न होकर उपस्थित होती है। वह अपने व्यक्तिगत प्रेम को विश्व-हित के लिए बलि दे देती है किन्तु अनुकूल वातावरण एवं घटनाओं के अभाव में; अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विकास असंगत है। द्विवेदी युग के कवियों ने गांधी-युग के आदर्शों को महाभारत युग की नारी पर थोपने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

प्रेमाख्यानकों की नायिका

राधा के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य जगत् की अन्य नायिकाओं में प्रेमाख्यानों की नायिकाओं—पद्मावती, मधुमालती, हंसावती, इन्द्रावती आदि—का महत्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक राधा की अपेक्षा प्रेमाख्यानों की प्रेयसियाँ अधिक सौभाग्यशालिनी है। वे पुरुष को अनायास ही—विवाह के केवल एक धागे की कीमत पर या दूतिकाओं द्वारा भेजे गए एक सन्देश के बल पर ही—प्राप्त नहीं हो जातीं, उनकी प्राप्ति के लिए नायक को प्राणों की बाजी भी लगानी पड़ती है, अतः इतने प्रयत्न से प्राप्त सुन्दरी को नायक एकाएक नहीं त्याग सकता। अस्तु, वे अपने जीवन के अन्त तक अपने प्रिय का सान्निध्य और प्रेम प्राप्त करती रहती हैं।

जहाँ अन्य भारतीय काव्यों में पुरुष को नारी से अधिक कामुक एवं विलासी प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ नायक से अधिक कामवती दृष्टिगोचर होती हैं। जायसी की पद्मावती के प्रेम के मूल में भावना की अपेक्षा वासना की प्रेरणा अधिक है।

सुनु हीरामन कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
देस-देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥
जोबन मोर भयउ जल गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥
× × ×

जोबन अस मैमन्त न कोई। नवै हस्ति जो आंकुस होई॥
कँवल भँवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै॥

'पद्मावती' के प्रेम में हृदय का आवेग कम है, यौवन का ज्वार अधिक; उसमें मन की प्यास की अपेक्षा शरीर की तपन बुझाने की लालसा ही अधिक व्यंजित हुई है।

अस्तु, प्रारम्भ में ये नायिकाएँ कामोन्माद, रूप-गर्व एवं स्वार्थपरता से ग्रस्त दिखाई पड़ती हैं, किन्तु आगे चलकर नायक के त्याग एवं बलिदान से इनमें भी सच्चे प्रेम का विकास हो जाता है।

'रासो' काव्य की राधा

पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो आदि काव्यों की नायिकाएँ सामन्तवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। वे अपने यौवन एवं सौंदर्य की प्रसिद्धि के बल पर किसी नरेश या राजकुमार के लोभ की वस्तु बन जाती हैं। वे किसी प्रकार—युद्ध या बलात् अपहरण के द्वारा—उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। रंगमहलों में पहुँचकर उसका जीवन, सामन्त की इच्छाओं का अनुवर्ती बन जाता है। जब तक उनमें यौवन का आकर्षण रहता है, उनके जीवन में चाँदनी रातें रहती हैं, किन्तु नायक के दूसरा विवाह कर लेते ही या प्रौढ़ावस्था के साथ इनका भाग्य-दीपक बुझ जाता है।

अपने रण-बाँकुरे पति के हृदय पर चिर अधिकार पाने की कल्पना तो वे कर ही नहीं सकती; अपने सौन्दर्य यौवन, अनुनय-विनय तथा चाटुकारिता के बल पर रंगमहल की अनेक सपत्नियों के बीच-यदा-कदा उसका रात्रि भर के लिए सहवास प्राप्त कर लेना ही इनके लिए बहुत है। हाँ, यदि अपनी अल्हड़ता के कारण वे कभी अपने शेखी बघारने वाले योद्धा पति के सम्मान में कोई चूक कर बैठती हैं, या उसकी किसी डींग का खंडन कर बैठती है, तो बीसलदेव की पत्नी राजमती की भाँति उन्हें इसका कड़ा दंड—दीर्घ वियोग—भी सहन करना पड़ता है।

वस्तुत. जायसी के बादल के शब्दों में—इन सामन्त पतियों के लिए नारी का मूल्य तलवार के एक वार से अधिक नहीं है।

स्वच्छन्द प्रेमी कवियों की नायिका

मध्यकालीन स्वच्छन्द प्रेमी कवियों घनानन्द, बोधा आदि से लेकर आधुनिक युगीन छायावादी कवियों का नायिका के प्रति लगभग एक-सा ही दृष्टिकोण है; दोनों युगों के ही कवियों ने नायिका के व्यक्तित्व के सूक्ष्म गुणों को अधिक महत्व दिया है—

लाजनि लपेटी, चितवनि भेद भाय भरी,
लसति ललित लाल चख तिरछानि में॥
छवि को सदन गोरी वदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में।
+ + +
अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनों रूप अबै धर च्वै॥
+ + +

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै लड़कीली बानि आनि उर में अरति है।
वहै गति लैन औ बजावनि ललित बैन, वहै हँसि दैनि हियरा ते न टरति है।

—घनानन्द

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कवि ने नायिका के रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के समय उसके शरीर के स्थूल अवयवों की विशालता या गुरुता या परिमाण प्रस्तुत नहीं किया है, यहाँ तक कि जिन अंगों का अन्य शृङ्गारी कवि बारम्बार उल्लेख करके अपनी कामुकता का परिचय देते हैं, उनका यहाँ संकेत भी नहीं है। अस्तु, प्रेम की इसी स्वच्छन्दता के कारण इस प्रेमिका का अत्यन्त सूक्ष्म, निर्मल एवं मनोमुग्धकारी रूप में चित्रण हुआ। उसे अपने प्रेमी से पूरा सम्मान एवं पूरा प्रेम प्राप्त होता है। यद्यपि समाज की बाधाओं के कारण वह प्रणय में सफल नहीं हो पाती, किन्तु उसे कम-से-कम यह संतोष अवश्य रहता है कि कोई उसकी याद में तड़प रहा है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी काव्य में नारी के रूप-वैभव की अभिव्यक्ति तो पर्याप्त मात्रा में हुई है, किन्तु उसके व्यक्ति का समुचित विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि विद्यापति, सूर, देव, पद्माकर, हरिऔध आदि के द्वारा चित्रित राधा के विभिन्न रूपों, जायसी की पद्मावती, नरपति नाल्ह की राजमती या घनानन्द की 'सुजान' आदि के रूप में हमें विभिन्न युग के विभिन्न वर्गों के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का बोध हो जाता है। इन रूपों के आधार पर तत्कालीन समाज की परिस्थितियों की एवं तत्कालीन नारी की अवस्था को समझने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

: पचास :

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता की भावना

हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाव-विवेचन के अन्तर्गत राष्ट्रीयता जैसे किसी भाव का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु विगत इतिहास से सिद्ध है कि राष्ट्रीयता भी एक प्रबल भाव है। अपने ही देश में हमने अनेक युवकों एवं महापुरुषों को राष्ट्रीयता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व समर्पित करते देखा है। इसकी प्रबलता तो इसी से सिद्ध है कि कई बार राष्ट्रीयता की प्रेरणा के सम्मुख अन्य स्थायीभाव—वात्सल्य, रति, शोक आदि—फीके पड़ गए हैं। स्वातंत्र्य-आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों का अपने दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन को ठुकराकर राष्ट्रीयता की आग में कूद पड़ना यही सिद्ध करता है कि राष्ट्रीयता का भाव सभी अन्य प्रमुख भावों से ऊपर उठ जाने की भी क्षमता से युक्त है, फिर भी हमारे सामने दो प्रश्न हैं—एक तो यह है कि ऐसे सबल भाव का प्राचीन आचार्यों ने उल्लेख क्यों नहीं किया, और दूसरे, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनका स्वरूप क्या है या यों कहिए कि इसे किस रस में स्थान देना उचित है? हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता का अन्वेषण करने से पूर्व इन दो पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करते हुए उन्हें मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) स्थायीभाव या भावना और (२) संचारी भाव। स्थायीभावों के अन्तर्गत—नौ, दस या ग्यारह—भावों की चर्चा की गई है उनमें 'राष्ट्रीयता' का नाम नहीं आता। इसके दो कारण हैं—एक तो हमारे आचार्यों ने स्थायी भाव के अन्तर्गत चिरन्तन भावनाओं का ही उल्लेख किया है, जिनका मानव-हृदय की मूल प्रवृत्तियों से गहरा सम्बन्ध है। 'राष्ट्रीयता' सर्वकालीन और सार्वलौकिक भाव नहीं है, अत: उसका उल्लेख न होना स्वाभाविक ही था। दूसरे, हमारी प्राचीन संस्कृति में राष्ट्रीय एकता की भावना आधुनिक राष्ट्रीयता के रूप में प्राय: अविकसित रही, अत: उसकी कल्पना करना संभव नहीं था। राष्ट्रीयता भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमाओं पर अवलम्बित तथा विश्व-बन्धुत्व की व्यापक भावना से संकीर्ण होती है, जबकि भारतीय संस्कृति में मानव-समूहों को धर्म, जाति, समाज और मानवीय गुणों की दृष्टि से ही देखा जा रहा है। मानव

जाति के विभिन्न वर्गों को आर्य और अनार्य, धर्मात्मा और पापी, हिन्दू और अहिन्दू, ब्राह्मण और अब्राह्मण के दृष्टिकोण से तो देखा, किन्तु भारतीय और अभारतीय के दृष्टिकोण की प्रायः उपेक्षा की। इस दृष्टिकोण के अविकसित रहने का कारण हमारी भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों में ढूंढा जा सकता है। राष्ट्रीयता की भावना का विकास प्रायः छोटे-छोटे राज्यों में अधिक शीघ्रता से होता है जिनमें धर्म, संस्कृति एवं भाषा की एकता हो। या जिन देशों के निवासियों को सामूहिक रूप से विदेशों की सत्ता का सामना करना पड़ता है, वहाँ भी राष्ट्रीयता का भाव विकसित हो जाता है। ये दोनों ही बातें भारत पर लागू नहीं होतीं। हाँ, मुसलमानी राज्य और अंग्रेजी शासन के दिनों में अवश्य हमें किसी विधर्मी या विदेशी सत्ता की अधीनता का अनुभव सामूहिक रूप से हुआ, अतः कुछ काल के लिए हममें राष्ट्रीयता का संचार हुआ, जो कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रायः विलुप्त-सा हो गया। ध्यान रहे, राष्ट्रीयता का स्फुरण प्रायः ऐसे ही अवसरों पर होता है, जबकि समस्त राष्ट्र का सामूहिक रूप से किसी अन्य राष्ट्र से संघर्ष हो। यदि आज हमारा पाकिस्तान या चीन से युद्ध छिड़ जाता है तो निश्चित रूप से हमारे हृदय में राष्ट्रीयता की लहर उद्वेलित होने लगेगी।

यद्यपि राष्ट्रीयता का रूप सभी देशों और सभी कालों में एक-जैसा नहीं रहा है, किन्तु इससे मिलती-जुलती भावना प्रायः सभी जातियों के इतिहास में मिलती है। आर्य जाति की रक्षा के लिए रावण के विरुद्ध राम के द्वारा किया गया युद्ध, या सोमनाथ की रक्षा के लिए उत्तरी भारत के अनेक प्रमुख क्षत्रिय-नरेशों द्वारा किया गया युद्ध, या चित्तौड़गढ़ के मान के लिए किए गए 'जौहर व्रत', या महाराणा प्रताप की अकबर के आगे सिर न झुकाने की प्रतिज्ञा, या गुरु तेगबहादुर का हिन्दू धर्म के लिए दिया 'शीशदान', या वीर हकीकतराय का जीते-जी दीवार में चुना जाना स्वीकार किया जाना—ये सब घटनाएँ उसी व्यापक भावना से अनुप्राणित हैं; जिसे हम चाहे जाति-रक्षा की भावना कहें या धर्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा की भावना किन्तु, उसका मूल रूप सर्वत्र एक ही है।

'राष्ट्रीयता' को हम किस रस में स्थान दें? राष्ट्रीयता का अर्थ देश-प्रेम भी किया गया है, अतः कदाचित् कुछ विद्वान इसे रति भाव से सम्बन्धित मानें। अपने देश की दुर्दशा को देखकर भी राष्ट्रीयता का संचार होता है, अतः उसे 'करुणा' से भी सम्बन्धित बताया जा सकता है। देश-प्रेम के लिए संघर्ष और युद्ध भी किया जाता है, अतः इसे वीर-रस में स्थान देने की बात भी सोची जा सकती है। देश के सुधार के लिए क्रान्ति का—इन्कलाब जिन्दाबाद—का आह्वान भी किया जाता है, अतः इसे 'रौद्र-रस' में स्थान देना भी उचित है। देश-प्रेम से अभिभूत व्यक्ति अपने देश पर अत्याचार करने वाले विदेशियों को घृणा की दृष्टि से देखता है; अतः इसे घृणा या जुगुप्सा के आधार पर विकसित होने वाले भाव बीभत्स में भी स्थान देने की कल्पना की जा सकती है। अपने देश पर भारी विपत्ति की आशंका से भय का भी संचार

सम्भव है, अतः भयानकरस से भी इसका सम्बन्ध है। भारत माता की पूजा करने वाले देशभक्तों को ध्यान में रखते हुए इसे 'भक्ति-रस' का भी दूसरा रूप बताया जा सकता है। इस प्रकार प्रायः सभी रसों से इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, जो इसकी व्यापकता को सूचित करता है, किन्तु हमारी मूल समस्या का समाधान इनसे नहीं होता।

हमारे विचार से राष्ट्रीयता के मूल में आत्म-गौरव एवं जाति की रक्षा के उत्साह का भाव रहता है, अतः इसे 'वीर रस' के अन्तर्गत लिया जाना चाहिए। वीर रस के प्रायः सभी संचारियों और अनुभावों का विकास राष्ट्रीयता में भी होता है—अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता वीर रस का ही एक रूप है।

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं, एक तो विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों और उनके वंशजों के अत्याचार के विरुद्ध और दूसरा ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया के रूप में। हमारे प्राचीन काव्य (आदिकाल से रीतिकाल तक) में पहला रूप उपलब्ध होता है, जबकि आधुनिक काव्य में दूसरा। यहाँ क्रमशः दोनों पर प्रकाश डाला जाता है।

(क) प्राचीन हिन्दी काव्य—हिन्दी की अनेक आरम्भिक एवं मध्यकालीन रचनाओं में वीर रस का चित्रण तो पर्याप्त मात्रा में हुआ है, किन्तु उसमें राष्ट्रीयता का व्यापक भाव सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। महाकवि चन्द बरदायी के काव्य-पृथ्वीराज रासो—में विभिन्न युद्धों का आयोजन व्यक्तिगत द्वेष के आधार पर होता है, अतः उसमें राष्ट्रीयता का विकास नहीं मिलता। हाँ, केवल जाति-गौरव के रूप में उसकी व्यंजना अवश्य उसमें यत्र तत्र मिलती है।

'करतार हथ्य तलवार दिय, इह सु तत्त रजपूत कर।

अर्थात् करतार ने हाथ में तलवार दी है और यही राजपूत के लिए तत्व है।

या—"कहै राज प्रथिराज, मरन छत्रिय सत निद्धि।"

× × ×

राजपूत मरन संसार घर............

× × ×

वस्तुतः रासो का रचयिता राजपूती गौरव से अधिक ऊँचा नहीं उठ पाता। उसकी दृष्टि इतनी अधिक संकुचित है कि पृथ्वीराज और गोरी के संघर्ष को भी जातीय या राष्ट्रीय संघर्ष के रूप में नहीं देख पाता।

मध्यकाल में राजस्थान के अनेक डिंगल कवियों ने जातीय गौरव से अनुप्राणित मुक्तक छन्दों की रचना की है। उस युग में समस्त हिन्दू गौरव के प्रतिनिधि एवं प्रतीक महाराणा प्रताप थे। इन कवियों ने इसी महापुरुष को आलम्बन बनाकर काव्य-रचना की है। बीकानेर के महाराजा पृथ्वीराज ने व्यक्तिगत रूप से अकबर की प्रभुसत्ता को मान्यता दे दी थी, किन्तु उनकी दृष्टि में जब तक महाराणा प्रताप स्वतन्त्र थे, हिन्दू गौरव की पताका मुक्त रूप से फहरा रही थी। जब उन्होंने

सुना कि महाराणा प्रताप भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर रहे है तो उन्हें लगा, मानों हिन्दू-गौरव का सूर्य अस्त हो रहा है, अतः इस अवसर पर उन्होंने महाराणा प्रताप को लिखा—

पटकूं मूंछां पाण कै पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक।

अर्थात् हिन्दू-गौरव अकबर के आगे नत-मस्तक हो गया है, यह सोचकर अपनी मूँछें नीची कर लूं या अपने तन में कटारी भोंक लूं। दीवान (महाराणा की उपाधि)! इन दो में से एक बात लिख दीजिए।

विदेशी विधर्मियों के वंशजों के आगे सिर न झुकानेवाली राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रहरी महाराणा प्रताप के यशोगान में इन राजस्थानी कवियों की वाणी मुक्त रूप से फूट पड़ी है। अकबर के दरबारी होते हुए भी प्रताप का यशोगान करना इनकी साहसशीलता का परिचायक है। श्री पृथ्वीराज राठोर ने अपने अनेक दोहों में अभारतीय सत्ता के प्रतीक अकबर की निन्दा और प्रताप के गुणों की प्रशंसा बारम्बार की है—

अकबरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी।
माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणै सांप।।

या

जासी हाट बात रहसी जग, अकबर ठग जासी एकार!
है राख्यो खत्री धर्म राणै सारा ले बरतो संसार!!

पृथ्वीराज की भांति डिंगल के अन्य प्रसिद्ध कवि दुरसाजी ने भी प्रताप की प्रशंसा में अनेक मार्मिक दोहों की रचना करके अपने जातीय प्रेम का परिचय दिया है—

अकबर गरब न आंण, हिंदू सह चाकर हुआ!
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहडै।
अकबर पत्थर अनेक, कै भूपत भेला किया।
हाथ न लागो हेक, पारस राण प्रताप सो।
अकबर समन्द अथाह, तिहूं डूबा हिंदू तुरक।
मेवाड़ो तिण मांह पोयणा फूल प्रताप सो।।

कहा जाता है कि महाराणा प्रताप के देहावसान का समाचार दुरसाजी ने उस समय सुना, जबकि वे अकबर के दरबार में थे। उक्त अवसर पर भरे दरबार में प्रताप की गौरव-गाथा का गुण-गान करते हुए दुरसाजी ने यह छप्पय कहा—

अस लगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गो आड़ा गवड़ाय, जिको बहतो धुर वामी।
नवरोजे नह गयो न गो आतसां नवल्ली।
न गो झरोखां हेठ, जेथ दुनियाणा दहल्ली।।

गहलोत राण जीती गयो, दसण मूंद रसना डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तों मृत साह प्रताप सी।

भले ही आज का आलोचक प्रताप के इस यशोगान को राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत न माने, किन्तु इसमें उस जातीय गौरव की व्यंजना अवश्य मिलती है, जो कि राष्ट्रीयता का प्राण है। ध्यान देने की बात यह है कि वैभव एवं ऐश्वर्य के दाता अकबर को छोड़कर जंगलों में भटकनेवाले प्रताप की प्रशंसा उन्होंने किसी व्यक्तिगत लाभ की आशा से नहीं की। यदि उनमें जातीयता की व्यापक भावना न होती, तो सम्राट अकबर के विरोधी के लिए ऐसे प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग असम्भव होता।

मध्यकाल में महाराणा प्रताप के अनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता के संरक्षक छत्रपति शिवाजी एवं महाराणा छत्रसाल रहे। इन दोनों महापुरुषों को आलम्बन मानकर महाकवि भूषण ने ओजस्वी काव्य की रचना की। कुछ विद्वानों के विचार से भूषण ने मुस्लिम जाति के लोगों के लिए हलके शब्दों का प्रयोग किया है, अतः उनमें राष्ट्रीय भावना का स्फुरण नहीं माना जा सकता, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उस युग में औरंगजेब के अत्याचारों के कारण देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता दुखी हो रही थी—हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति खतरे में पड़ गई थी, ऐसी स्थिति में शिवाजी ने जो कार्य किया वह राष्ट्रीय महत्व का था। दूसरे, महाकवि भूषण शिवा जी की प्रशंसा उनके व्यक्तिगत वैभव के आधार पर नही करते, अपितु उन्होंने उन्हें राष्ट्र के रूप में चित्रित किया है—

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे, राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की कांधे में जनेऊ राख्यो, मालाराखी गर में।
मी ड राखे मुगल, मरोड़िराखे पातसाह, बैरी पीसि राखे दरवान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज, देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो गर में।

यह भी ध्यान रहे भूषण ने प्रारम्भिक मुगल शासकों की प्रशंसा भी की है—

बब्बर अकब्बर हुमाऊँ हद्द बांध गये दो में एक करी न कुरान-वेद ढब की।

डॉ० विमलकुमार जैन ने लिखा है—"भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे, वरन् औरंगजेब के विरोधी थे, जिसने अपने पूर्वजों के बनाये हुए सुन्दर मार्ग को छोड़कर हिन्दुओं पर आपत्तियों के पहाड़ ढा दिए थे।···भूषण जाति द्वेष के शिकार नहीं थे, वरन् एक सच्चे राष्ट्र-भक्त थे।" (हि० सा० रत्नाकर, पृ० १७६)

मध्यकाल में इन कवियों के अतिरिक्त गोरेलाल, सूर्यमल मिश्र, जोधराज आदि ने भी वीर-भावनाओं की व्यंजना की है, जिसमें यत्र-तत्र आत्म-गौरव एवं जातीयता का स्फुरण भी दृष्टिगोचर होता है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता

आधुनिक हिन्दी-काव्य का तो विकास ही उस समय हुआ, जबकि समूचे राष्ट्र में ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था, अतः आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता की व्यंजना होना स्वाभाविक था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अन्य कवियों ने राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारत की जनता

को जागृत करने का प्रयत्न किया है। भारतेन्दु की कुछ कविताओं में तो राष्ट्रीयता का स्वर बहुत तेज हो गया। अंग्रेजों की अफगान-विजय पर उन्होंने 'विजय-वल्लरी' कविता लिखी, जिसमें विदेशी शासकों की आलोचना स्पष्ट रूप से की गई है—

ह्वैको डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल युद्ध अकाल॥
स्वत्व सत्व सहबाद दूर रहि सक्रिय तमाशा।
जग देखिये जाहि ताहि मिलि कीजै आशा॥

भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्होंने अपने देश के सब धर्म-सम्प्रदायों, सभी भाषाओं और सभी वर्गों के साथ प्रेम प्रदर्शित किया है। साथ ही उन्होंने स्वदेशी भाषा, स्वदेशी वस्त्रों और स्वराज्य का समर्थन भी बारम्बार किया है। इस सम्बन्ध में हमने विस्तृत रूप से चर्चा इसी पुस्तक के एक निबन्ध 'भारतेन्दु काव्य-साधना' में की है।

द्विवेदी युग के अनेक कवियों ने राष्ट्रीयता की भावना व्यंजित की है, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान और सोहनलाल द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। गुप्तजी की राष्ट्रीयता का मार्मिक रूप 'भारत-भारती' में दृष्टिगोचर होता है। उसकी यह प्रारम्भिक पंक्ति—"हम कौन थे, क्या हो गए··· आओ विचारें हम सभी।" ही पाठक के हृदय में राष्ट्रीयता का संचार कर देती है। इसके अतिरिक्त गुप्तजी ने अपने काव्य-ग्रन्थों में भारत के प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदायों को सहानुभूतिपूर्वक स्थान दिया है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी में राष्ट्रीयता का स्वरूप अंग्रेज शासकों के प्रति विद्रोह रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा अनेक युवकों को राष्ट्र के लिए आत्म-बलिदान की प्रेरणा दी है। उनकी 'जवानी' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए,—

द्वार बलि का खोल चल भूडोल कर दें, एक हिमगिरि एक सिर का मोल कर दें!
मसल कर अपने इरादों सी उठाकर, दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें!
रक्त है? या नसों में क्षुद्र पानी, जाँच कर तू सीस दे देकर जवानी!

यद्यपि यहाँ केवल शौर्य भाव की व्यंजना है, किन्तु इसका लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता होने के कारण इसे राष्ट्रीयता का ही अंग मान सकते हैं।

'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।' जैसी ओजपूर्ण कविताओं की रचना करनेवाली प्रसिद्ध कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान ने अपने गीतों में युवकों को स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने का आह्वान किया है। वे बहिन के रूप में अपने देश के भाइयों को चुनौती देती हुई कहती हैं—

आते हो भाई! पुनः पूछती हूँ—विषमता के बंधन की है लाज तुमको?
तो बंदी बनो, देखो बन्धन है कैसा, चुनौती यह राखी की है आज तुमको॥

इसी प्रकार "पुरस्कार कैसा?" कविता में वे लिखती हैं—

आज तुम्हारी लाली से माँ के मस्तक पर हो लाली।
काली जंजीरें टूटें, काली जमुना में हो लाली॥
जो स्वतन्त्र होने को हैं पावन बुलार उन हाथों का।
स्वीकृत है, माँ की वेदी पर पुरस्कार उन हाथों का॥

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने गांधीवाद और राष्ट्रीयता का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है। 'भैरवी" में वे एक ओर तो भारत के अतीत गौरव का स्मरण करते हैं और दूसरी ओर अपने देशवासियों को जागृति का संदेश देते हैं—

भूल गए क्या रामराज्य वह जहाँ सभी को सुख था अपना।

× × ×

जागो हिन्दू मुगल मरहठे, जागो मेरे भारतवासी।
जननी की जंजीरें बजतीं जाग रहे कड़ियों के छाले।
सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोने वाले॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के कवियों ने देश-प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक कविताओं में की है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि सन् १९२० से लेकर १९४७ तक के स्वातंत्र्य-आदोलन की पूरी झलक हिन्दी के किसी प्रबन्ध-काव्य में बलिदान की तुलना में हमारे कवियों की रचनाएँ हलकी ही पड़ती हैं। गुप्त, प्रसाद, पंत और निराला जैसे कवियों ने अनेक युवकों को फाँसी के तख्ते पर झूलते देखकर उसका स्पष्ट रूप से चित्रण अपने काव्य में नहीं किया। विशेषत: छायावादी कवि तो राष्ट्रीय आन्दोलन से प्राय: विमुख से ही रहे।

अब जबकि हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया है तो राष्ट्रीयता की भावना का मंद पड़ जाना स्वाभाविक है। यह हमारे कवियों का कर्तव्य है कि जन-मानस में राष्ट्रीय भावों का स्फुरण करके उन्हें नव-निर्माण की ओर अग्रसर करें।

:: इक्यावन ::

हिन्दी-साहित्य में हास्य-रस

जीवन और साहित्य में हास्य के उपयोग और महत्त्व को अनेक स्वदेशी और विदेशी लेखकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। डॉ० गुलाबराय ने एक स्थान पर लिखा है—"जो मनुष्य अपने जीवन में कभी नहीं हँसा, उसके लिए रंभा-शुक-संवाद की शब्दावली में कहना पड़ेगा —'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्'। वह मनुष्य नहीं, पुच्छ-विषाण-हीन द्विपद पशु है, क्योंकि हँसना मनुष्य का विशेषाधिकार है। हिन्दी में हास्य रस पर शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने हास्य की उपमा लवण से देते हुए लिखा है—"हँसना मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है। भोजन में विविध भाँति के व्यंजनों का समावेश होने पर भी यदि उसमें लवण का अभाव हो, तो सारा भोजन लावण्यहीन फीका बन जाता है; उसी प्रकार जीवन में समस्त वैभव के होते हुए भी यदि हँसी का अभाव हो तो जीवन भारस्वरूप बन जाता है।" हमारे विचार से हास्य को लवण की भाँति बताकर उसके साथ पूरा न्याय नहीं किया गया। लवण से कई बार तिक्तता भी आ जाती है जबकि हास्य तो मिश्री की भाँति माधुर्यपूर्ण स्वाद का दाता सिद्ध होता है।

हास्य के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में अनेक उपयोगी गुणों का विकास होता है। सबसे पूर्व शरीर-विज्ञान की दृष्टि से सोचें तो यह स्वास्थ्य को सुधारने वाला सिद्ध होता है। श्री केलकर के शब्दों में 'जिस समय मनुष्य नहीं हँसता, उस समय श्वासोच्छ्वास की क्रिया सीधी और शांत रीति से होती है और हँसने के समय उसमें एकदम व्यत्यय हो जाता है। परन्तु उस व्यत्यय का परिणाम श्वासोच्छ्वास की इन्द्रियों और शरीर के रक्त-प्रवाह पर अच्छा होता है।" डॉ० चतुर्वेदी ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है कि यदि संसार के लोगों को यह बात अच्छी तरह से मालूम हो जाय कि हास्य का हमारे स्वास्थ्य पर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है, तो फिर आधे से अधिक डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों आदि के लिए मक्खियाँ मारने के सिवा और कोई काम ही न रह जाय। हास्य वास्तव में प्रकृति की सबसे बड़ी पुष्टई है। हास्य से बढ़कर बल-वर्द्धक और उत्साह वर्द्धक और कोई चीज हो ही नहीं सकती। हास्य से हमारे शरीर में नवीन जीवन और नवीन बल का संचार होता है और हमारे आरोग्य

की वृद्धि होती है। (हिन्दी साहित्य में हास्य रस; पृ० १३) हास्य-प्रिय व्यक्तियों के स्वभाव में एक ओर कोमलता और सरलता आती है तो दूसरी ओर उनमें कष्ट-सहन की क्षमता का भी विकास होता है। कार्लाइल (Caryle) ने एक स्थान पर लिखा है कि—अर्थात् जिस व्यक्ति ने एक बार सच्चे हृदय से खुलकर हँस लिया, वह कदापि अत्यन्त बुरा नहीं हो सकता। प्रसन्न-चित्त व्यक्तियों के हृदय में कोई बुराई नहीं रह सकती।

समाज की बुराइयों एवं त्रुटियों के निराकरण में भी हास्य एक अत्यन्त उपयोगी तत्त्व सिद्ध होता है। जाने हम अपनी कितनी बुराइयों को समाज की हँसी से बचने के लिए छिपाते हैं। समाज की अनेक असंगतियों पर हास्य का भय अप्रत्यक्ष रूप से रोक लगाए रखता है। हिन्दी के प्रसिद्ध हास्य-लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने हास्य के इस महत्त्व पर हास्यमयी शैली में अपने हास्योत्पादक विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"यह वह अधिकार है, जो वड़े-वड़ों के मिजाज चुटकियों में ठीक कर देता है। यह वह कोड़ा है जो मनुष्य को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नहीं, धर्म और समाज का भी सुधारनेवाला है तो यही है···। स्पेन के सरवैन्टीज ने क्विकजोट की रचना करके यूरोप-भर के खुदाई फौजदारों की हस्ती मिटा दी। इंगलैण्ड के शेक्सपीयर ने अपने शाइलॉक द्वारा सूदखोरों की हुलिया विगाड़ दी। फ्रांस के मौलियर ने अपने पंके मरफूरिये नामक चरित्रों से तत्वज्ञानियों की खिल्ली उड़वाकर अरिस्टॉटिल से मतभेद रखनेवालों को फांसी के तख्ते पर से उतार लिया।" (हास्य रस, पृ० १२)

जिस हास्य रस का व्यक्ति के जीवन एवं समाज के विकास में इतना उपयोग है उसका महत्व साहित्य में भी न्यून किस प्रकार हो सकता है। क्या कला की दृष्टि से और क्या उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य में हास्य का महत्व अनुपमेय है ? हास्य लेखकों की महत्ता पर विचार करते हुए पाश्चात्य लेखक थैकरे ने लिखा—"हास्य प्रिय लेखक आप में प्रीति, अनुकम्पा एवं कृपा के भावों को जागृत करके उनको उचित दिशा की ओर प्रवाहित करता है। असत्य, दंभ तथा कृत्रिमता के प्रति घृणा और दरिद्र, दलित और दु:खी कमजोर, पुरुषों के प्रति कोमल भावों को उदय करने में सहायक होता है। हास्य-प्रिय साहित्यकार निश्चित रूप से ही उदारशील होते हैं। वह तुरन्त ही सुख-दुख से प्रवाहित हो जाते हैं वे अपने निकटवर्ती लोगों के स्वभाव को भली-भाँति समझने लगते हैं, एवं उनके हास्य, प्रेम, विनोद और अश्रुओं से सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं।" वस्तुतः हास्य व्यक्ति, जीवन और समाज में आनन्द का संचार करने के साथ-साथ उसमें स्वस्थ, नैतिक एवं उपयोगी भावनाओं को भी विकसित करता है।

हास्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

हास्य की उत्पत्ति एवं उसके प्रेरक तत्वों पर हॉब्स, हरबर्ट स्पेन्सर, बर्गसाँ, मैक्डूगल, फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने सूक्ष्म रूप से विचार किया है। हॉब्स महोदय के विचारानुसार हँसी अपने गौरव की अनुभूति से उद्भूत प्रसन्नता का प्रकाशन है। जब हम दूसरों की मूर्खता को देखते हैं तो उससे हमारी अपनी महत्ता का बोध होता है—इसी से हमें हँसी आ जाती है। यह मत भ्रांतिमूलक है। कई बार मनुष्य स्वयं अपनी भूल पर हँस पड़ता है, अत: ऐसी स्थिति में हॉब्स (Hobbes) के मत को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? स्पेन्सर ने असंगति के निरीक्षण को हास्य का प्रेरक माना है। किन्तु सभी असंगतियाँ हास्य की सृष्टि में असमर्थ होती हैं अतः इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। हैनरी बर्गसाँ ने हास्य के तीन कारण बताए हैं (१) हास्य के आलम्बन का समाज-प्रिय न होना, (२) आलंबन की अचेतना या असावधानी और (३) आलम्बन की अस्वाभाविक क्रियाएँ। मैक्डूगल ने हँसी को अति दुख से बचानेवाली एक स्वाभाविक वृत्ति बताया है। फ्रायड ने सभी वृत्तियों का मूल काम को बताया है, अतः हास्य को भी उन्होंने इसी से सम्बन्धित माना है। डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में हास्य के आलंबन में इन पाँच रूपों का उल्लेख किया है – (१) शारीरिक गुण, (२) मानसिक गुण, (३) घटना, कार्य-कलाप, (४) रहन-सहन, (५) शब्दावली डॉ० चतुर्वेदी का यह विश्लेषण अस्पष्ट-सा है। शारीरिक गुण, मानसिक गुण, के आलम्बन में कौन-सी विशेषता होती है—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। हमारे विचार से हास्य के आलम्बन में स्वाभाविकता, असंगति एवं विद्रूपता का एक ऐसा मधुर समन्वय होता है कि वह न तो इतना तीखा होता है कि उससे अनिष्ट की आशंका हो जाय और न ही इतना कोमल होता है कि वह करुणोत्पादक हो। उदाहरण के लिए यदि एक भिखारी ने अपनी देह को शीत से बचाने के लिए अस्त-व्यस्त कपड़े पहन रखे हों, तो उससे हास्य का उद्रेक न होकर करुणा की उत्पत्ति होगी, जबकि एक धनी पुरुष ने यदि कोट उलटा पहन रखा हो तो वह हास्योद्रेक का कारण हो सकता है। हास्य के स्वरूप की मीमांसा विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने भी की है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

हास्य रस की शास्त्रीय मीमांसा

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरतमुनि ने चार रसों को प्रमुख माना है—शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स। उन्होंने इन रसों से ही क्रमशः चार अन्य रसों की उत्पत्ति मानी है—हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक। इस प्रकार भरत-मुनि के विचारानुसार हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से हुई। आगे चलकर अग्निपुराण के रचयिता ने भी भरत का ही समर्थन किया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने हास्य को एक स्वतन्त्र रस स्वीकार किया है, जो उचित है। विभिन्न आचार्यों ने हास्य के

स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) भरतमुनि—भरत के विचारानुसार दूसरों की चेष्टा के अनुकरण से 'हास' उत्पन्न होता है—"स्मितहासविहसितैरभिनेय:" (ना० शा० ७।१०)

(२) अभिनव गुप्त—अभिनव गुप्त ने हास्य के विभावों के मूल में अनौचित्य को कारण रूप में स्वीकार किया है—"अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ संभाव्यते।"

(३) धनंजय—धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में हास्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—"विकृताकृति वाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा। हास: स्यात्परिपोषऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृति: स्मृत:॥"—चतुर्थ प्रकाश। ५७। अर्थात् स्वयं या दूसरे के आधार पर वाणी तथा वेष में विकार देखकर हास की उत्पत्ति होती है। हास के इस स्थायी भाव का परिपोष हास्य रस कहलाता है। इस हास्य रस की तीन प्रकृतियाँ या तीन भेद होते हैं।

(४) विश्वनाथ—विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में हास्य के सम्बन्ध में लिखा है—"विकृताकारवाग्वेषचेष्टादे: कुहकाद्भवेत्। हास्यो हासस्थायिभाव: श्वेत: प्रमथदैवत:।" अर्थात् विकृत आकार, वाणी, वेश तथा चेष्टा आदि के नाट्यों से हास्य रस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव हास है, वर्ण शुक्ल और अधिष्ठातृदेवता प्रमथ (शिवगण) हैं।

उपर्युक्त अंशों से स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने हास्य के मूल में मुख्यत: अनुकृति एवं विकृति ही स्वीकार किया है।

हास्य रस के भेद

धनंजय ने हास्य की तीन प्रकृतियाँ—ज्येष्ठ, मध्यम और अधम—मानते हुए उसके छ: भेद बताए हैं—(१) स्मित हास्य वह है जहाँ खाली नेत्र ही विकसित हों। (२) हसित वह हैं जहाँ दाँत कुछ दिखाई दें। (३) मधुर स्वर में हँसना विहसित कहलाता है। (४) सिर को हिलाकर हँसना अल्पहसित कहलाता है। (५) आँखों में आँसू भर आवें, इस प्रकार हँसना अल्पहसित होता है और (६) अंगों को फेंककर हँसना अतिहसित कहलाता है। इनमें दो-दो प्रकार के हसित क्रमश: ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने इस विभाजन को स्वीकार किया है, किन्तु हिन्दी के आचार्य केशवदास ने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए इन चार भेदों का उल्लेख किया है—(१) मन्दहास, (२) कलहास, (३) अतिहास और (४) परिहास।

भारतीय आचार्यों ने हास्य रस के भेदोपभेदों का उल्लेख हास्य के आश्रय को ध्यान में रखकर किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने हास्य के प्रभाव की दृष्टि से ये पाँच भेद किए हैं—(१) स्मित (Humour), (२) वाग् वैदग्ध (Wit), (३) व्यंग्य (Satire), (४) वक्रोक्ति (Irony), और (५) प्रहसन (Farce),। इन भेदोपभेदों के विस्तृत परिचय के लिए डॉ० चतुर्वेदी का शोध-प्रबन्ध—"हिन्दी साहित्य में हास्य रस" पठनीय है।

हास्य का रस-राजत्व

शृंगार के रस-राजत्व से आकर्षित होकर विभिन्न विद्वानों ने भी अपने-अपने प्रिय रसों को इस पद का अधिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हास्य रस के समर्थकों ने भी ऐसा किया है, जिनमें दो नाम उल्लेखनीय हैं—(१) श्री केलकर, (२) श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी। हमारी समझ में हास्य को रस-राज सिद्ध करने का प्रयास बाल-शिशु को सम्राट पद पर प्रतिष्ठित करने के तुल्य है। शृंगार को रस-राज की पदवी मुख्यत: उसकी इन तीन विशेषताओं के कारण प्राप्त है—एक तो उसका आधार वह काम-प्रवृत्ति है, जिसका उन्मेष एवं विकास पशु-पक्षियों तक में भी पाया जाता है। दूसरे, शृंगार रस में सभी संचारी भावों का समन्वय प्रसंगानुकूल हो सकता है। तीसरे, शृंगार रस का प्रत्येक अवयव—आलम्बन की कोई चेष्टा, आश्रय की कोई उक्ति, संचारी भाव की एक लहर और भाव-दशा की कोई एक परिस्थिति भी पाठक के हृदय को आकर्षित एवं तन्मय करने में समर्थ है। ये विशेषताएँ हास्य रस में कहाँ? हास्य का संचार केवल मनुष्यों तक सीमित है, इसे तो हास्य रस के समर्थकों ने भी स्वीकार किया है। डॉ० बरसानेलाल का यह तर्क "शृंगार रस का आनन्द लेनेवाली इन्द्रियाँ पशुओं में भी पाई जाती हैं, लेकिन हास्य का सम्बन्ध मन से तथा बुद्धि से है"—इसके क्षेत्र की संकुचितता ही सिद्ध करता है। हास्य के संचारी भावों की संख्या भी बहुत सीमित है तथा हास्य में केवल विषय-वस्तु या आलम्बन से सम्बन्धित बातें ही रस-संचार की क्षमता रखती हैं, शृंगार की भाँति आश्रय की नहीं। उदाहरण के लिए हास्य के आश्रय का निम्नांकित वर्णन भावोत्पादन की क्षमता से शून्य है—

(१) विवशन ब्रज वनितान के सखि मोहन मुसुकाय।
चीर चोरि सुकदम्ब पै, कछुक रहे मुसिक्याय॥
(२) हँसने लगे तब हरि अहा, पूर्णेन्दु-सा मुख खिल गया!
हँसना उसी में भीम, अर्जुन, सात्यकि का मिल गया॥

ध्यान रहे, ये उदाहरण डॉ० चतुर्वेदी द्वारा हास्य के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने के लिए दिए गए हैं, फिर भी इनमें रस का संचार नहीं मिलता।

वस्तुत: भावनाओं की व्यापकता एवं गम्भीरता की दृष्टि से हास्य में वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं कि जिससे उसे रस-राज की पदवी दी जा सके।

भारतीय साहित्य में हास्य की परम्परा

यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में शृंगार, वीर एवं करुण रस की ही प्रमुखता है; किन्तु हास्य-रस का भी सर्वथा अभाव नहीं है। ऋग्वेद के जुआरियों सम्बन्धी अंश में तथा मंडूक सूक्त में किंचित् हास्य की आयोजना हुई है। वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में भी परिस्थिति जन्य हास्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। आगे चलकर संस्कृत के नाटक-रचयिताओं ने तो हास्य की सर्जना के लिए एक विशेष पात्र -विदूषक—की ही कल्पना कर डाली। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अनेक स्थलों

पर हास्य रस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। विशेषतः शर्विलक नामक ब्राह्मण-जातीय चोर के प्रसंग में उत्कृष्ट हास्य की आयोजना हुई है। नाटकों के अतिरिक्त गद्य-काव्यों, पंचतंत्र एवं हितोपदेश जैसी कथाओं एवं मुक्तक रचनाओं में भी हास्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। यहाँ उदाहरण के लिए हास्यपूर्ण सुभाषित उद्धृत किये जाते हैं—

(क) सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते,
कन्या राशि-स्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः।

दामाद दसवाँ ग्रह है। वह सदा वक्र और क्रूर रहता है। सदा पूजा चाहता है और सदा कन्या राशि पर स्थित रहता है।

(ख) आकुंच्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या।
मंत्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैं पवित्रैः।
तार स्वनं प्रततथूत्मदात्प्रहारम्।
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।

विष्णुशर्मा नामक किसी दुराचारी विद्वान् ब्राह्मण की दिल्लगी उड़ाता हुआ कोई कहता है—"देखिए, कैसे मजे की बात है, विष्णुशर्मा 'हाय हाय' करके रोते हुए कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पवित्र किया हुआ जल छिड़का गया था, उसी संस्कृत मस्तक पर वेश्या ने अपने अपवित्र हाथों से तड़ातड़ चपत लगाए।"

(ग) लेखनोमित इतो विलोकयन् कुत्र कुत्र न जगाम पद्मभूः।
तां पुन श्रवणसीमसंगता प्राप्य नम्रवदनः स्मितं दधौ।

अर्थात् कलम तो कान पर रखी हुई थी और उसे इधर-उधर खूब ढूंढ़ा, अंत में वह कान पर ही मिली। यह देखकर उसे हँसी आई और उसने सिर नीचे कर लिया।

आरम्भिक एवं मध्यकालीन हिन्दी काव्य में हास्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल एवं मध्यकाल में सामान्यतः वीर, शृंगार एवं भक्ति की ही प्रधानता रही, किन्तु आंशिक रूप में यत्र-तत्र हास्य के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। महाकवि चंदबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में अन्य भावों के साथ साथ हास्य की भी व्यंजना हुई है। जब चंदबरदायी पृथ्वीराज के विरोधी जयचन्द के दरबार में गये तो वहाँ जयचन्द ने व्यंग्यपूर्वक कहा—

मुँह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द।
बन उजार पशु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द॥

अर्थात् मुँह का दरिद्री और तुच्छ शरीर पानेवाला परन्तु जंगलराव की सीमा में रहनेवाला और वन उजाड़नेवाला पशु बरद क्यों दुबला हो गया है? चन्द ने इसका उत्तर दिया—

चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मंड्यो, जास जानयो सबर बर।
केइक तकि गहि पात केइ गहि डारि मूर तरु।
केइक दंत तुछ त्रिन्न गये दस दिसनि भाजि डर॥

गुल तोकत बिन अधिरिन भयौ मान सबर घर मरद्दिया।
प्रथिराज पतन पट्टौ जु घर, घुर यों दुब्बरो बरद्दिया ॥

"चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, जिसे अपने से श्रेष्ठ समझा और बलवान् देखा, उसके साथ युद्ध किया। शत्रुओं में से किसी ने पत्ते पकड़ लिए, किसी ने डालें, जड़ें और वृक्ष पकड़ लिये, किसी ने दाँतों में तिनके दबाकर अपना दैन्य प्रदर्शित किया और अनेक मारे भय के दसों दिशाओं में भाग गये। भूलोक में उस दिन बड़ा ही आश्चर्य माना गया, जबकि श्रेष्ठों और सबलों का मान-मर्दन हुआ। इस प्रकार पृथ्वीराज के शत्रुओं ने घर (तृण आदि) दाँतों तले दबाने के लिए खोद डाले और बरद्दिया (बैल) दुबला हो गया।" इस उत्तर में वाग्वैदग्ध्य का अच्छा नमूना मिलता है।

बीसलदेव रासो में भी व्यंग्य का एक तीखा उदाहरण उपलब्ध होता है। राजा बीसलदेव अपनी साँभर झील पर गर्व करता हुआ कहता है—

गरब करि ऊभौ छइ साँभर्यो राव। मो सरीखा नहीं अवर भुवाल ॥
म्हां घरि साँभर उगहइ। चिहु दिस थाण जैसलमेर ॥
लाख तुरी पाखर पड़इ। राणिकउ थानिक गढ़ अजमेर ॥

साँभर के राजा ने गर्वपूर्वक खड़े होकर कहा—"मेरे समान कोई और भूपति नहीं। मेरे घर में साँभर (नमक) उत्पन्न होता है। चारों ओर मेरे लाखों घोड़ों की पाखर पड़ती है—जैसलमेर तक। मेरी राजधानी अजमेरगढ़ है।' इसके उत्तर में राजमती कहती है—

गरबि न बोलो हो साँभर्या राव। तो सरीखा घणा और भुवाल ॥
एक उड़ीसा को धणो। वचन हमारइ तूं मानु जु मनि ॥
ज्यूं थारइ साँभर उगहइ। राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान ॥

"हे साँभर-नरेश! गर्व से मत बोलो। तेरे समान और बहुत से राजा हैं। तुम चाहे मेरी बात मानों या न मानों—एक उड़ीसा-नरेश भी है। जिस प्रकार तेरे यहाँ नमक उत्पन्न होता है, वैसे ही उसके (उड़ीसा-नरेश के) यहाँ हीरों की खान है।" यह उत्तर किंचित कटु हो जाने के कारण उच्च कोटि के हास्य का तो उदाहरण नहीं है, किन्तु घमंडी नरेश की उक्ति का मुंह-तोड़ उत्तर होने के कारण पाठक के हृदय को थोड़ा गुदगुदाता अवश्य है।

भक्तिकाल के विभिन्न कवियों ने विरोधी पक्ष का खंडन करते समय हास्य, उपहास, व्यंग्य एवं कटूक्तियों का प्रयोग किया है। महात्मा कबीर ने हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बाह्याडम्बरों की आलोचना व्यंग्यपूर्ण शैली में की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

न जाने तेरा साहिब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहरा है।
चिउंटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है ॥

पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहेब लखता है॥
ऊँचा नीचा महल बनाया, गहिरी नेंव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है॥

× × ×

हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हार जैसे को तैसा है॥

कहीं-कहीं कबीर का व्यंग्य कटुता की चरम सीमा तक पहुँच जाता है—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
तातें या चाकी भली पीस खाय संसार॥

वस्तुतः कबीर के काव्य में व्यंग्य और कटु उक्तियों के अनेक प्रभावशाली उदाहरण विद्यमान है।

सगुण भक्त कवियों में महाकवि सूरदास ही ऐसे हैं, जिन्होंने हास्य और व्यंग्य का सफल प्रयोग किया है। बालकृष्ण के भोलेपन का चित्रण करते समय उन्होंने कई ऐसी उक्तियाँ कही है, जो अनायास ही हृदय में हास्य की हलकी लहर उद्वेलित कर देती है, जैसे—"मैया मेरी कबहुँ बढ़ेगी चोटी ? किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।" या "मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो। मोसों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो।···तू मोही को मारन सीखी दाऊ कबहुँ न खीझै। मोहन को मुख रिस समेत लखि, सुनि-सुनि जसुमति रीझै।" एक अन्य स्थल पर कृष्ण के वाग्-वैदग्ध्य का भी सुन्दर उदाहरण मिलता है। जब कृष्ण दही खाते हुए पकड़े जाते हैं तो वे उत्तर देते हैं —

मैं जान्यो ये घर अपनो है याँ धोखे मैं आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

कृष्ण और गोपियों की प्रारम्भिक छेड़छाड़ में भी सूर ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों का प्रयोग किया है। एक स्थान पर कृष्ण का उपहास करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

तुम कमरी के ओढ़नहारे, पीताम्बर नहिं छाजत।
सूरदास कारे तनु ऊपर कारी कमरी भ्राजत॥

कभी-कभी वाद विवाद अधिक बढ़ जाता है तो कृष्ण आक्षेप करते हैं—"सूर कहा ए हमको जानै. छाछिहि बेचनहारी।" इसके उत्तर में चतुर गोपियाँ उनका सारा इतिहास खोल देती हैं—

यह जानति तुम नंद महर सुत।
धेनु दुहत तुमको हम देखति, जबहिं जात खरिकहि उत।
चोरी करत रहो पुनि जानति घर-घर ढूंढत भांडे॥

आगे चलकर भ्रमरगीत प्रसंगों (उद्धव-गोपी-संवाद) में सूर ने अनेक हास्य-व्यंग्यमय पदों की रचना की है। उद्धव के द्वारा दिये जानेवाले योग-साधना के संदेश को गोपियाँ घाटे का सौदा बताती हुई कहती हैं —

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यापार तिहारो ऊधो ऐसोई फिरि जैहै॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै॥
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै॥
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहै॥
सूरदास प्रभु गुनहिं छाँड़िकै को निर्गुन निरबैहै॥

इसी प्रकार वे स्वयं उद्धव का उपहास करती हुई कहती हैं—

आए जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँडे।
× × ×
कहो, मधुप, कैसे समायेंगे एक म्यान दो खाँडे।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँडे॥
× × ×

जब उद्धव अपने निर्गुण की प्रशंसा करते हैं तो गोपियाँ अपनी व्यंग्योक्तियों के द्वारा उनका मुँह बन्द कर देती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर कहु समझाय सौंह दे, बूझति साँच न हाँसी॥
× × ×
ऊधौ जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाये, तुम हो बीच भुलाने॥

भक्तकवि तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरित-मानस' और 'कवितावली' में अनेक स्थलों पर हास्य रस की योजना की है। मुख्यतः मानस में 'परशुराम-लक्ष्मण-संवाद' व 'अंगद-रावण-संवाद' में हास्य के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। परशुराम की दम्भपूर्ण उक्तियों के उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं—

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना।
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे॥
छुअत टूट रघुपतिहि न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥

यहाँ 'जीर्ण धनुष' का उपहास करके परशुराम के क्रोध को और भी अधिक प्रज्ज्वलित कर दिया है, किन्तु, पाठकों के लिए तो ये पंक्तियाँ हास्योत्पादक ही सिद्ध होती हैं। इसी प्रसंग में आगे चलकर वाग्-वैदग्ध्य एवं व्यंग्योक्तियों का प्रयोग उप-लब्ध होता है—

लखन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहिं अछत को बरनै पारा॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भांति बहु बरनी॥
× × ×
कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा॥
माता पितहिं उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गए व्याज बड़ बाढ़ा॥

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य का उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान है।

अकबर के दरबारी कवियों में महाकवि रहीम ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों की रचना की है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय॥
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

रीतिकाल के अनेक कवियों ने भी शृङ्गार के बीच-बीच में यत्र-तत्र हास्य-रस का निरूपण किया है। बिहारी के निम्नांकित दोहों में हास्य की अस्फुट व्यंजना हुई है—

बहु धन लै अहसानु कै, पार देत सराहि।
बैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि॥
कन दैबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहचटैं लगि लग्यौ माँगनु सबु जगु आनि॥

बिहारी के उपर्युक्त दोहों में हास्य के साथ-साथ शृङ्गारिकता और रसिकता की भी झलक विद्यमान है, अतः उनसे विशुद्ध हास्य की सृष्टि नहीं होती, किन्तु बिहारी की कुछ उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता दृष्टिगोचर होती है—

चल्यौ जाइ ह्यां को करै हाथिनु को व्योपार।
नहिं जानतु, इहि पुर बसैं, धोबी ओड कुंभार॥
× × ×
वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई-गाँव गुलाब॥
× × ×
नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥

बिहारी की व्यंग्योक्तियों की सफलता इसी से सिद्ध है कि उनकी तीक्ष्णता ने महाराज जयसिंह के जीवन की गति को परिवर्तित कर दिया था।

रीतिकाल के कुछ अन्य कवियों ने भी हास्य-रसमय कुछ छन्द मुक्त शैली में लिखे हैं, जिनमें अलीमुहीब खाँ 'प्रीतम', सूरन कवि, फेरन कवि, बेनी आदि उल्लेखनीय हैं। श्री प्रीतमजी ने 'खटमल बाइसी' में खटमलों को आलम्बन बना काव्य-रचना की है।

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
सांपन पै गयो, ते पताल ठौरि पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत है सीस पर,
बैदन पै गयो, काहू दारू न बताई है॥
तब हहराय हम हरि के निकट गये,
हरि मोसों कहि तेरो मति भूल छाई है।
कोऊ न उपाय, भटकत जानि डोलै, सुन,
खाट के नगर मांहि खटमल की बुहाई है॥

यहाँ हास्य की आलोचना विशुद्ध हास्य के उद्देश्य से की गई है। किसी व्यक्ति, पात्र या विचारा-धारा पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति इन पंक्तियों में नहीं मिलती। एक ऐसा ही विशुद्ध हास्य का उदाहरण सूरन कवि की कविता में देखिए—

चार बिध भाई भैया षट्मुख राते देखि,
आसन में राखे बस बास जाको अचलै।
भूतन के छैया आस-पास के रखैया,
और काली के नचैया हू के ध्यान हू ते न चलै।
बैल बाघ बाहन बसन को गयन्द खालै,
भांग को धतूरे को पसारि देत अंचलै।
घर को हवाल यह शंकर की बाल कहै,
लाज रहै कैसे, पूत मोदक को मचलै॥

यहाँ कवि ने देवताओं के घर की भी दरिद्रता का वर्णन नग्न रूप में करके अपनी अद्भुत प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। प्रगतिवादी आलोचकों को चाहिए कि ऐसे महाकवि को अपने सर्वोच्च कवियों की सूची में स्थान प्रदान करके प्रगतिवाद का उद्भव रीतिकाल से ही सिद्ध कर दें।

रीतिकाल के कुछ कवियों ने कंजूसों की दानशीलता का भी अपने काव्य में रोचक ढंग से वर्णन किया है। उस क्षेत्र में कविवर बेनी वन्दीजन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने हास्य-रस के अनेक 'भंडौवे' लिखे, जिनका संग्रह 'भंडौवा-संग्रह' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। यहाँ एक छन्द देखिए—

चींटी की चलावैं को? मूसा के मुख आपु जाय,
स्वांस की पवन लागे कोसन भगत है॥
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारबो सुगत है॥
ऐसो आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में भी हास्य रस का सर्वथा अभाव नहीं है। इतना अवश्य है कि इस युग में प्रायः सोद्देश्य हास्य की रचना बहुत कम मिलती है।

आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के प्रवर्त्तक श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं रसिक एवं छैल प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। प्रायः उन्होंने समाज-सुधार और देश के उत्थान के उद्देश्य से ही अपने युग के विभिन्न दूषित तत्वों का उपहास किया। लोगों में अंग्रेजों के प्रति उपेक्षा का भाव जागृत करने के लिए उन्होंने कह-मुकरनियाँ लिखीं, जिनमें अंग्रेज, अंग्रेजी पुलिस आदि का उपहास किया गया—

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेज॥
सब गुरुजन को बुरो बतावैं, अपनी खिचड़ी आप पकावैं।
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेजी॥
रूप दिखावत सरवस लूटै, फंदे में जो पड़े नहिं छूटै।
कपट कटारी हिय में हुलिस, क्यों सखि सज्जन नहिं पुलिस॥

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों ने भी पर्याप्त मात्रा में हास्य-व्यंग्य की सृष्टि की है। इनमें प्रतापनारायण मिश्र; बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री मिश्रजी ने हिन्दुओं की अनेक दुर्बलताओं पर निर्मम प्रहार किया है। यहाँ उनका अशिक्षा पर तीखा व्यंग्य देखिए—

पोथी केहि के घर ते आवें, कबहूँ सपन्यों देखा नाहिं।
रिगबिद, जुजबिद, साम, अथरबन सुनियत आल्ह खंड के माहिं॥

× × ×

मरत मरत दयानन्द मरिगै हिन्दू रहे आयु तरु सोय।
पूत बियाहैं पाँच बरस कों, गहने धरत फिरैं घरबार॥
रुपया फेंरैं जल्लादन पर, घर भरि देय पतुरिया क्यार।
वेद मगैवे के चन्दा की सुनतैं, नाम सूखि जिउ जाय॥

श्री बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी व्यंग्योक्तियों द्वारा विदेशी शासन की अच्छी खबर ली है। उनके समय में लार्ड कर्जन ने दिल्ली में बड़ा भारी दरबार किया था। उसमें देश के धन का अपव्यय होते देखकर गुप्तजी ने 'टेसू' लिखा—

अब के टेसू रंग रंगीले, अब के टेसू छैल छबीले।
होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौंक पड़ा संसार॥
शोर पड़ा दुनिया में भारी, दिल्ली में है बड़ी तयारी।
देश-देश के राजा आवैं, खेमे डेरे साथ उठावैं॥
घर दर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तयार।
हाथी घोड़े भीड़ भड़ाका, देखें सब घर फूंक तमाशा॥

इसी युग में एक अन्य व्यंग्य-लेखक पं० शिवनाथ शर्मा हुए। उन्होंने 'मिस्टर व्यास की कथा' 'तर्ज खुशामद या वशीकरण विधि' आदि कविताओं में विदेशी शासकों की 'जी-हुजूरी' करनेवालों की खिल्ली उड़ाई है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

देखते साहब को हो जावे खड़ा;
टोप जूता फेंक के होवे बड़ा,
+ + +
फिर कहे, आदाब करता है गुलाम।
चुप रहे गोया लगी मुँह में लगाम॥
फिर अगर साहब कहे, सब चैन है?
तो कहे; सब चैन है, सब चैन है!!

आगे चलकर द्विवेदी-युग के कवियों ने भी किंचित् मात्रा में हास्य रस की रचनाएँ कीं। इनमें महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कल्लू अल्हैत' के नाम से रचित 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' कविता उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त नाथूराम शर्मा 'शंकर', ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कुछ हास्य-प्रधान कविताएँ लिखी थीं। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की सी सफलता द्विवेदी-युग के कवियों को नहीं मिली।

छायावादी युग में प्रेम और विरह-वर्णन की ही प्रमुखता रही। सौन्दर्य के इन कोमल उपासकों के चेहरे पर निराशा, विषाद एवं अवसाद की ही झलक सर्वत्र व्याप्त रहती थी, अतः इनसे हँसने-मुस्कराने की आशा करना व्यर्थ है। फिर भी निराला का 'कुकुरमुत्ता' इसका अपवाद है। इसके व्यंग्य के सम्बन्ध में डा० चतुर्वेदी का मत है—"कुकुरमुत्ता एक दुधारी तलवार है। इसका व्यंग्य दो तरफ है। पहली ओर का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। (जो धनी-मानी पूँजीपतियों की ओर है) दूसरी ओर साम्यवादी नवयुवकों के स्वभाव की अशिष्टता तथा अहंकार पर व्यंग्य किया गया है।"

छायावाद-परवर्ती कवियों में पं० हरिशंकर शर्मा अपने हास्य-व्यंग्य के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अनेक हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ लिखी हैं। उन्होंने आधुनिक नेताओं की वास्तविक तस्वीर खींचते हुए लिखा है।

मिली है जनता रूपी गाय, बड़ी भोली-भाली है हाय।
दुहा करता हूँ मैं दिन-रात, न कपिला कभी उठाती लात।

हास्य रस के दूसरे प्रसिद्ध कवि 'बेढब बनारसी' हैं : उन्होंने अपनी 'बेढब की बहक' की भूमिका में घोषित किया है—"जैसे कुछ लोग कला कला के लिए दुहाई देते हैं, मैं विनोद के लिए लिखता हूँ।" उन्होंने आधुनिक युवकों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हुए लिखा है—

नजाकत औरतों सी बाल लम्बे, साफ मूँछे हैं।
नए फैशन के लोगों की अजब सूरत जनानी है।

इसी प्रकार आधुनिक साहित्यकारों के सम्बन्ध में 'वेढव' जी की उक्ति सुनिए—

पढ़ के दर्जा तीन तक वे बन गए साहित्यकार।
और मम्मट से वह अपने को समझते कम नहीं।

कान्तानाथ पांडे 'चोंच' ने भी आधुनिक समाज की कुरीतियों पर अपनी कलम की नोक चलाई है। उनका एक दोहा देखिए—

चंदा और पत्र ग्रहण की, जब लग मन में खान।
पटवारी और पंत हैं दोनों एक समान॥

हिन्दी काव्य में 'पत्नीवाद' के प्रवर्त्तक श्री गोपालप्रसाद व्यास की रचनाओं में हास्य-व्यंग्य की सुन्दर छटा दर्शनीय है। उन्होंने 'अजी सुनो', 'मेरी पत्नी' आदि काव्य-संग्रह प्रकाशित करवाए हैं। वे अपने ही बारे में लिखते हैं—

आखिर हिन्दी का लेखक था, हो गई जरा सी वाह-वाह,
दो चार किताबें छपीं कि बस, गुब्बारे जैसा फूल गया॥

इधर 'रमई काका' ने अवधी भाषा में अनेक व्यंग्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त कुंजविहारी पांडे, वंशीधर शुक्ल, श्रीनारायण चतुर्वेदी, दिनकर, बरसानेलाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने भी हिन्दी के हास्य-व्यंग्यपूर्ण काव्य में अभिवृद्धि की है।

हिन्दी नाटक साहित्य में हास्य रस

हिन्दी में विशुद्ध गद्यमय नाटक की परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। इस युग के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने प्रहसनों के द्वारा तत्कालीन समाज की बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अँधेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'प्रेम-योगिनी' आदि नाटक लिखे, जो कि हास्य और व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक रूपक', बालकृष्ण भट्ट ने 'जैसा का वैसा परिणाम', राधाचरण गोस्वामी ने 'भंग-तरंग'-'तन मन धन श्री गुसाईंजी के अर्पन' आदि प्रहसनों की रचना की। इन प्रहसनों में सर्वत्र सोद्देश्य हास्य-व्यंग्य की आयोजना की गई।

द्विवेदी-युग के हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक रचयिताओं में श्री बदरीनाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'लबड़ धौं धौं', 'विवाह-विज्ञापन', 'मिस अमरीकन' आदि प्रहसनों की रचना की। उनके अतिरिक्त श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने 'उलट-फेर', 'मरदानी औरत', 'साहित्य का सपूत' 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन' आदि प्रहसन लिखे। इनके सम्बन्ध में एक आलोचक की सम्मति है—'प्रायः अपनी रचनाओं में वे ऐसे चरित-नायक की कल्पना करते हैं, जो अक्ल के बोझ से हैरान हैं, पात्र कोई काम करेंगे तो ऊट पटांग; हर जगह मार अथवा गाली खाएँगे।" दूसरी ओर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं—'हमारी समझ में श्रीवास्तवजी का हास्य-उच्च कोटि का नहीं जिसकी आशा इनसे की जाती है; इसे तो लट्ठमार मजाक कहना ज्यादा उचित होगा।" पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'उजबक', 'चार बेचारे' आदि नाटक लिखे।

द्विवेदी-युग के अनन्तर नाटक-रचयिताओं में हास्य रस की दृष्टि से पं० हरिशंकर शर्मा और श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शर्माजी ने 'बिरादरी विभ्राट', 'पाखंड प्रदर्शन'' 'स्वर्ग की सीधी सड़क', 'बुढ़उ का ब्याह' आदि प्रहसन लिखे, जिनका नामकरण ही मूल प्रवृत्ति का द्योतक है। अश्क ने 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में स्वरचित सात प्रहसनों का संग्रह किया है। अश्क जी की रचनाओं में समाज की विभिन्न असंगतियों पर सीधा व्यंग्य मिलता है। वस्तुतः हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक एकांकियों के रचयिताओं में अश्क जी का बहुत ऊँचा स्थान है। इनके अतिरिक्त देवराज 'दिनेश', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', रामसरन शर्मा आदि लेखकों ने भी सुन्दर हास्य-व्यंग्यपूर्ण एकांकी लिखे हैं।

कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य

हिन्दी के कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग बहुत कम हुआ है। फिर भी श्री जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी, कान्तानाथ पांडे 'चोंच', निराला, जयनाथ 'नलिन', यशपाल, अमृतलाल नागर, शरदचन्द्र जोशी, शारदाप्रसाद वर्मा 'भुशुंडि', सरयू पंडा गौड़, मिलिंद, राधाकृष्ण, बरसानेलाल चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद आदि लेखकों ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में हास्यरस की सृष्टि की है। इनमें से कुछ लेखकों की व्यंग्यमय शैली के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

"अए ऐसे अक्ल के अन्धे पंडितो, तुम अपने ही हाथ से अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारते हो और इसके साथ सिर्फ अपनी बेवकूफी की वजह से बेचारी निर्दोष संस्कृत की जड़ खोदते चले जाते हो।" —जी० पी० श्रीवास्तव

"सज्जनो। अंग्रेज अवतारी जीव हैं। हम पशु थे, उन्होंने हमें मनुष्य बनाया। हमें बड़ों के पैर छूने की गन्दी आदत थी; उन्होंने हमें 'गुड मार्निंग' करना सिखाया।" —अन्नपूर्णानन्द वर्मा

"यह मजनू की तस्वीर है। पसली की हड्डियाँ ऐसी दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे एक्स-रे का चित्र।" गप हाँकने की हिन्दी कहानी-लेखकों की पैदाइशी आदत संख्या में कम न होगी। —बेढब बनारसी

हिन्दी निबन्ध साहित्य में हास्य-रस

भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी प्रमुख निबन्ध-लेखकों ने अपनी रचनाओं में हास्य-व्यंग्य का पुट दिया है। भारतेन्दु के निबन्धों में 'आप ही तो हैं', 'कंकड़-स्तोत्र', 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' आदि व्यंग्यपूर्ण हैं। बालकृष्ण भट्ट ने अनेक हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्ध लिखे जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—"पुरुष अहेर की स्त्रियाँ अहेर हैं"—"ईश्वर क्या ही ठठोली है।" "नाक निगोड़ी भी बुरी बला है" आदि। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तथा बालमुकुन्द गुप्त ने भी इस क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त की। गोस्वामीजी की 'यमलोक यात्रा' तथा गुप्तजी के 'शिव-शंभू के चिट्ठे' अपने ढंग की अपूर्व रचनाएँ हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्ध-लेखकों में बाबू गुलाबराय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर हरिशंकर शर्मा, रुद्रदत्त शर्मा, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, 'चोंच', गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी आदि ने हास्य व्यंग्यपूर्ण शैली में अनेक निबन्ध लिखे। इन सबकी रचनाओं का अलग-अलग परिचय देना यहाँ संभव नहीं। इनके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं चुटीले व्यंग्य के दर्शन होते हैं। यहाँ हमारे कुछ प्रमुख निबन्ध-लेखकों की व्यंग्यपूर्ण शैली के दो-चार नमूने प्रस्तुत हैं—

"साहब, प्रथम प्रश्न सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या है? यदि गो की पूँछ को पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की है? मुझे याद आया कि साहब मजिस्ट्रेट की मेम को एक कुत्ता मैंने दान दिया था, जब गौ यहाँ साक्षात् आ जाती है तो क्या प्रदत्त कुत्ता न आएगा?"

—राधाचरण गोस्वामी

"आप माई लार्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है?"

—बालमुकुन्द गुप्त

"सच पूछिए तो शुरू शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना हँसाना तब शुरू हुआ होगा, जब उसने कुछ पूँजी इकट्ठी कर ली होगी।"

उपसंहार

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि सामान्यतः हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि—में हास्य-व्यंग्य का विकास समुचित रूप में हुआ है। फिर भी जितना विकास नाटक और कविता के क्षेत्र में हुआ है, उतना अन्य क्षेत्रों में नहीं हुआ। अन्य रसों की तुलना में हिन्दी का हास्य रसात्मक साहित्य अब भी मात्रा एवं गुण की दृष्टि से बहुत हलका है। उच्च कोटि का हास्य हिन्दी में बहुत कम मिलता है। पिछले कुछ दशकों से तो कुछ लेखकों एवं कवियों को छोड़कर हमारे साहित्य में हास्य की उपेक्षा-सी ही की जा रही है। हाँ, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ अपने हास्य विशेषांकों द्वारा रस के रचयिताओं को थोड़ा प्रोत्साहन दे रही हैं, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। आशा है। भविष्य में जीवन, समाज और साहित्य में इसके महत्त्व को समझते हुए हमारे साहित्यकार इस ओर भी आवश्यक ध्यान देंगे।

:: बावन ::

हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
निकलकर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान ॥

साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रस शृङ्गार है और उस शृङ्गार का भी परिष्कृत रूप विरह वर्णन में मिलता है । शृङ्गार के संयोग पक्ष में तो बाह्य चेष्टाओं और काम क्रीड़ाओं की ही अधिकता होती है, हृदय की सूक्ष्म भाव-वृत्तियों का प्रकाशन तथा अहं, वासना और काम से मुक्त प्रेम के शुद्ध रूप का प्रकटीकरण वियोग पक्ष में ही होता है । हमारे आचार्यों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए वियोग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है । सामान्यतः वियोग के चार रूप एवं दस काम-दशाएँ स्वीकार की जाती हैं । चार रूप ये हैं—(१)प्रथमानुराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण । आधुनिक दृष्टिकोण से इन चार रूपों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—नायक और नायिका के प्रारम्भिक प्रेम को 'प्रथमानुराग' कहते हैं । इस स्थिति में नायक और नायिका एक-दूसरे से मिल नहीं पाते अतः उनके विरह में प्रेम की इस नवीन अनुभूति का उल्लास एवं मिलन-सुख की मधुर कल्पनाएँ ही अधिक होती हैं । इसमें विरह-वेदना की वह गम्भीरता नहीं होती, जो कि अन्य कोटि के विरह में पाई जाती है । नायिका के रुष्ट हो जाने पर दोनों के मिलन-सुख में जो अन्तर आ जाता है उसी को मान-विरह कहा गया है । व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि जब नायक या नायिका में से कोई एक रुष्ट होकर या अप्रसन्नता के कारण थोड़े समय के लिए विमुख हो जाता है, तो दूसरे को जिस वेदना की अनुभूति होती है, वही मान-जन्य विरह है । संस्कृत व हिन्दी के कुछ कवियों ने मान के अन्तर्गत केवल नायिका के ही रुष्ट होने का वर्णन किया है, नायक की अनुभूतियों की उन्होंने उपेक्षा की है जो उचित नहीं । नायक या नायिका के दूर चले जाने पर जिस विरह की अनुभूति होती है उसे 'प्रवास' की कोटि में रखा गया है । नायक-नायिका में से किसी की मृत्यु हो जाने के कारण जिस शोक की अनुभूति होती है, उसे 'करुण' की संज्ञा दी गई है । वस्तुतः इस प्रकार के शोक को या करुण भाव को शृङ्गार रस से भिन्न करुण रस में ही स्थान दिया जाना चाहिए ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे आचार्यों ने विरह की काम-दशाएँ (प्रेम-दशाएँ) भी मानी हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) संज्वर, (९) जड़ता और (१०) मरण। हमारे विचार से इन दशाओं का सम्बन्ध क्रमश: चारों प्रकार के विरह से है। प्रथमानुराग में नायक नायिका के हृदय में एक-दूसरे की प्राप्ति की इच्छा रहती है तथा वे एक-दूसरे का चिन्तन करते रहते हैं; इसी को अभिलाषा और चिन्ता कहा गया है; 'मान' का सम्बन्ध मुख्यत: स्मृति और गुण-कथन से है। यद्यपि नायक-नायिका में से कोई एक विमुख हो जाता है, किन्तु फिर भी दूसरा गुणों की स्मृति के कारण बेसुध रहता है। 'प्रवास' की स्थिति में उद्वेग, प्रलाप, उन्माद आदि दशाओं का विकास होना स्वाभाविक है। शेष तीन दशाएँ · संज्वर, जड़ता और मरण—ऐसी भयंकर स्थिति में ही विकसित होती हैं, जबकि—प्रेमी-प्रेमिका में से किसी एक का देहान्त हो गया हो या उनके पुनर्मिलन की कोई आशा न रही हो। वस्तुत: उच्च कोटि के विरह में इनमें से मरण को छोड़कर अन्य सभी दशाओं का विकास स्वाभाविक रूप से मिलता है।

पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में विरह-वर्णन

भारत की ही नहीं—विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद है। इसके दसवें मण्डल में ९५वें सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का संवाद वर्णित है, जो कि विरह-वेदना की उक्तियों से भरपूर है। राजा पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी किसी बात पर रुष्ट होकर उसे छोड़कर चली जाती है। पुरूरवा उसके विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर उसे ढूंढ़ता हुआ मानसरोवर के तट पर पहुँचता है, जहाँ उर्वशी अपनी सखियों के साथ आमोद-प्रमोद में व्यस्त मिलती है। 'हे निष्ठुर ! ठहर ! ठहर !" इन शब्दों से अपनी बात आरम्भ करता हुआ पुरूरवा अपने विरह-व्यथित हृदय की दशा का अत्यन्त करुणोत्पादक शब्दों में वर्णन करता है—

> हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
> न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥

"अर्थात हे निष्ठुर ! ठहर ! ठहर ! आ, हम अपने परस्पर दृढ़ सम्बन्ध बनाए रखने की प्रतिज्ञा को पूरी करें। जिन बातों के विषय में हम कभी साथ बैठकर सोचा करते थे, उन्हें पूरी करें, अन्यथा हमारा जीवन सुखी नहीं रहेगा।"

जब उर्वशी पर पुरूरवा के इन शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो वह विरह-वेदनापूर्ण हृदय की अवस्था का चित्रण करता हुआ कहता है—"तेरे विरह में मेरा मन युद्ध में नहीं लगता। मैं अब इतना असमर्थ हूँ कि विजय प्राप्ति के लिए शत्रुओं पर बाण भी नहीं चला सकता। अब शत्रुओं से भूमि, धन आदि छीनकर

उनका उपयोग भी नहीं कर पाता। मेरे उस सिंहनाद को, जिसे सुनकर शत्रु कांप जाते थे, अब कोई नहीं सुनता।"

पुरूरवा के इन शब्दों का भी निष्ठुर, अल्हड़, मद-विभोर सुन्दरी उर्वशी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह गर्व और तिरस्कार से ओत-प्रोत शब्दों में उत्तर देती हुई कहती है--"पुरूरवा ! क्या रखा है तुम्हारी बातों में। जिस प्रकार सूर्य सदा उषा के पीछे पीछे दौड़ता रहता है, उसी प्रकार तुम भी सदा मेरे पीछे पड़े रहते हो, पर मैं वायु के समान हूं, मुझे कौन वश में कर सकता है।"

अंत में पुरूरवा हताश होकर कहता है—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥

अर्थात् "हे उर्वशी ! तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकूंगा। मैं किसी दूर देश में जाकर अपने शरीर का आवरण हीन करके हिंसक पशुओं के आगे लेट जाऊंगा। बलवान भेड़िए मेरे शरीर को चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।" आश्चर्य है कि प्रेमी की मृत्यु के इस करुण दृश्य की कल्पना से भी उस स्वर्गीय सुन्दरी का हृदय नहीं पसीजता। वस्तुतः यह प्रणय-संवाद मान-जन्य विरह का सुन्दर उदाहरण है। इसमें पुरूरवा की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में हुई है।

आगे चलकर रामायण और महाभारत के प्रासंगिक प्रेमाख्यान में विरह की व्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट शैली में हुई है। विशेषतः महाभारत के राजा संवरण एवं कुमारी तप्ता के प्रणयाख्यान और नल-दमयन्ती-प्रेमाख्यान में विरह की विभिन्न अवस्थाओं का निदर्शन अत्यन्त सुन्दर रूप में हुआ है। नल-दमयन्ती-आख्यान में विरह के चारों रूपों--पूर्वानुराग, संयोग, वियोग एवं पुनर्मिलन का चित्रण प्रभावोत्पादक शब्दों में मिलता है। आदि से लेकर अन्त तक यह आख्यान कामुकता की पंकिल भूमि से असंपृक्त रहता है, उसमें शारीरिक चंचलता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। प्रेमी और प्रेमिका का हृदयस्थ प्रेम परिस्थितियों की कठोरता एवं दुर्भाग्य की आंच में तपकर, निखरकर अपने विशुद्धतम रूप को प्राप्त कर लेता है। आंसुओं से परिपूर्ण यह विरह-वर्णन पाठक के हृदय को करुणार्द्र कर देता है।

कालिदास के 'कुमार-सम्भव' में पूर्वानुराग का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। उनका 'मेघदूत' तो वियोगी हृदय का ही संदेश है। आलोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है, किन्तु हमारी दृष्टि से इसमें कामुकता का मिश्रण अत्यधिक मात्रा में है। यक्ष के संदेश में प्रणय-वेदना के स्थान पर सम्भोग-आकांक्षा के ही दर्शन होते हैं। स्वयं कवि ने यह कहकर कि "ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः" अर्थात् नग्न-जघना वालाओं के स्वाद से परिचित होकर कौन उन्हें छोड़ सकता है—अपनी काम-लोलुपता को स्वीकार कर लिया है।

संस्कृत के नाटक-साहित्य में विरह-वेदना का प्रकाशन अत्यन्त मनोरम ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'मालती-माधव' है। इसमें विरह की विभिन्न भाव-दशाओं का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया गया है। प्रेमी के

दर्शनों के लिए उत्कंठित, आतुर, विह्वल मालती की चंचल दशा, प्रेमी की अनुपस्थिति में उसकी बेसुध अवस्था, उसके वियोग में बिच्छू-दंश-सदृश निरन्तर बढ़ती हुई वेदना, धूमरहित अग्नि की भाँति हृदय का भीतर-ही-भीतर धधकना एवं विषम ज्वर की भाँति अंग-प्रत्यंग का पीड़ित होना अत्यन्त ही मार्मिक विधि से व्यंजित किया गया है।

यह विह्वल दशा सुकुमारी बालाओं की ही नहीं, सिंह का सामना कर सकने में समर्थ शूरवीर नायक माधव की भी हो जाती है। मालती की स्नेहसिक्त दृष्टि के प्रथम बार से ही आहत माधव अपनी दशा बताता हुआ कहता है—"वह लज्जा के कारण अपने नेत्रों को कुछ झुकाती थी, पर दूसरे ही क्षण मुझे देखने की इच्छा से उन्हें फिर घुमा लेती थी, उसके विकसित नेत्र स्नेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उसकी पुतलियों से हृदय का आनन्द टपक रहा था। हाय! उस चितवन ने मेरे अभागे हृदय को चुरा लिया, तोड़ दिया, पी लिया और इतना ही नहीं—वह निकालकर अपने साथ भी ले गई।" वस्तुतः यहाँ पूर्वानुराग की व्यंजना अत्यन्त सरस मार्मिक शब्दों में हुई। भवभूति का 'उत्तर रामचरित' भी विरह-व्यंजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

संस्कृत के गद्य-काव्य—वासवदत्ता, दशकुमार चरित, कादम्बरी आदि से प्रेम और विरह का भव्य स्वरूप उपलब्ध होता है। इनमें सर्वोत्कृष्ट 'कादम्बरी' है। इसमें दो प्रेम कथानकों को गूँथकर एक साथ उपस्थित किया गया है। पहले की नायिका है—महाश्वेता और दूसरे की कादम्बरी। दोनों के नायक क्रमशः पुंडरीक और चंद्रापीड हैं, जो पूर्वानुराग की असह्य वेदना से छटपटाकर प्राण त्याग देते हैं, किन्तु दोनों नायिकाएँ अपने अपूर्व धैर्य एवं तपस्या के बल पर उनके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करती हुई अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती हैं। कादम्बरी के ये प्रेमाख्यान संस्कृत के समस्त प्रेमाख्यानों से विचित्र हैं। विरह-वेदना से प्राणान्त हो जाने की घटना भी संस्कृत-साहित्य में पहली बार यहीं मिलती है।

संस्कृत की विरह-वर्णन-परम्परा का विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के काव्यों में हुआ। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' में विरह-वर्णन अनेक गाथाओं में हुआ। विरहिणी की दुर्दशा का निरूपण करते हुये गाथा-सप्तशतीकार ने लिखा है—"क्षण में ताप, क्षण में पसीना, क्षण में ठिठुरन, क्षण में रोमांच! हाय यह प्रिय-विरह सन्निपात रोग की तरह दुसह्य है।" प्रिय-विरह-वेदना की अधिकता दिखाते हुए वज्जालग्ग के रचयिता ने लिखा है—"हे पथिक, इस तालाब का पानी मत पीओ, इसमें प्रोषित-भर्तृका वधू ने स्नान किया है, उसकी विरहाग्नि से इसका पानी तप गया है।" अपभ्रंश के मुक्तक-काव्यों में भी विरहानुभूति की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है। विशेषतः 'संदेश रासक' तो विशुद्ध विरह-सम्बन्धी काव्य है। इसमें नायिका किसी पथिक के हाथ अपने प्रवासी प्रिय को सन्देश भेजती है। उसका संदेश उपालम्भ, खेद, वेदना, अमर्ष आदि अनेक भावनाओं से युक्त है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

संदेसडउ सवित्थरउ पर मइ कहण न जाइ।
जो कालंगुलि मूंदडउ सो बाहडी समाइ॥

कहव पहिय ! किरण णहउ कहिसु कि कहिय-मण।
जिण किय एह अवत्थ णेहरह-रहिय मण॥
× × ×
जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया।
अत्थलोहि अकयत्थि इक्कल्लिय मिल्हिया॥

अर्थात् मेरा संदेश विस्तृत है और कहने में आता नहीं। जो मुद्रिका कनिष्ठिका में पहनने की थी, वह बांह में आने लगी है।···हे पथिक ! क्या कहूँ और क्या न कहूँ···मना ! जिस स्नेहहीन ने मेरी यह दशा कर दी उसे क्या कहा जाय ! ·· उस अर्थलोभी, आततायी ने उस विरह कुहरे में मुझ अकेली को छोड़ दिया है।

आगे चलकर अपनी दुःखपूर्ण स्थिति का वर्णन करती हुई वह विरहिणी कहती है—

जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहउ अंगु; होइ आभंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु, जिणिवि पुणु मिट्टियइ,
पिय विरत्तु हुई चित्त, पहिया ! किम वट्टियइ॥

अर्थात् यदि वस्त्र अपना रंग छोड़ दे तो पुनः रंगा जा सकता है। यदि शरीर चिकनाई-रहित हो जाय तो उसे पुनः चिकना किया जा सकता है। यदि धन हार जाय तो उसे पुनः जीतकर प्राप्त किया जा सकता है। पर हे पथिक ! जब प्रिय का चित्त विरक्त हो जाय तो उसे पुनः किस प्रकार लौटाया जाय !

इन उक्तियों की सरलता के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। ये उक्तियां किसी भी सहृदय को भाव-विभोर करने में समर्थ हैं।

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक कवियों में महाकवि विद्यापति अपने सौन्दर्य-प्रेम एवं विरह के गीतों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य में पूर्वानुराग एवं विरह की विभिन्न अनुभूतियां का चित्रण अत्यन्त मार्मिक रूप में हुआ है। प्रेम की प्रारंभिक अवस्था में नायकराज की क्या दशा होई है, यह द्रष्टव्य है—

पथ गति पेखल मो राधा !
तखनुक भाव परान पए पीड़लि,
रहल कुमुद निधि साधा !!

अर्थात् मैंने राधा को राह के मध्य में देखा। उसी क्षण से मेरे प्राण ही घायल हो गए। उसी समय से उस कुमुद-निधि की साध बनी हुई है।

राधा के प्रेम में कृष्ण की विह्वलता का चित्रण भी देखिए—

आसाये मन्दिर निसि गमावए, सुख न सूत संयान !
जखन जतए जाहि निहारिए, ताहि ताहि तोहि भान !!

नायक की भांति नायिका की विरह-व्यथा की व्यंजना भी विद्यापति ने की है। उनकी विरहिणियों को अवस्था के अनुसार दो श्रेणियों में बांट सकते हैं—(१)

नववयस्क तरुणियाँ और (२) प्रौढ़ाएँ। प्रथम श्रेणी की वियोगिनियों में वासना-पूर्ति की लिप्सा अधिक है तथा उनमें प्रणय-जन्य वेदना का अभाव है। देखिए—

कत दिन पिय मोर पूछत बात। कबहुँ पयोधर देइब हाथ॥
कत दिन लेइ बैठाइब कोर। कत दिन मनोरथ पूरब मोर॥

इसी प्रकार एक अन्य युवती को भी प्रियतम के प्रवास का उतना अधिक दुःख नहीं, जितना उसे अपने यौवन के व्यर्थ बीत जाने का है—

अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।
इह नव जौवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेहे॥

अर्थात् जब सूर्य के ताप से अंकुर जल जायगा तो फिर मेघ की वर्षा से क्या होगा! यदि इस नवयौवन को विरह में खो दिया तो फिर उस प्रिय के घर आने पर क्या होगा?

किन्तु दूसरी श्रेणी की प्रौढ़ा नायिकाएँ ऐसा नहीं सोचतीं। उनमें यौवन की चंचलता एवं वासना के वेग के स्थान पर प्रणय की गंभीरता मिलती है। अतः वे पति के स्थूल मिलन की अपेक्षा, उसके स्नेह की अधिक इच्छुक हैं—

सब कर पहु परदेश बसि सजनी, आएल सुमिरि सिनेह!
अमर एहन पति निरदय सजनि, नहि मन बढ़ाए नेह!!

यहाँ नायिका को पति के न आने का उतना खेद नहीं है, जितना कि उनके प्रेम-शून्य हो जाने का है। आगे चलकर यही नायिका अपनी विरह-वेदना की अपेक्षा प्रिय के मंगल को अधिक महत्त्व देती है—

माधव हमरो रहल दुर देश, केओ न कहे सखि कुशल सनेस!
जुग-जुग जिवथु बसथु लख कोस, हम अभाग, हुनक नहि दोस!!

वस्तुतः यहाँ भावना का ऐसा उत्कर्ष दिखाई पड़ता है जिससे नायिका के अहं, स्वार्थ एवं काम का सर्वथा विगलन हो जाता है तथा उसका प्रणय विशुद्ध प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

कबीर की विरहानुभूतियाँ

काल-क्रमानुसार विद्यापति के अनन्तर हिन्दी के दूसरे महाकवि कबीर आते हैं। यद्यपि उनके प्रणय का आलम्बन अलौकिक है, किन्तु उन्होंने जिन अनुभूतियों की व्यंजना की है, वे स्वरूप एवं तीव्रता की दृष्टि से लौकिक विरह के तुल्य ही हैं। यही कारण है कि साधारण पाठक भी उनकी काव्य-वस्तु से साधारणीकरण कर पाता है। अतः हम उनकी अनुभूतियों को विरह-वर्णन में स्थान दे सकते हैं।

कबीर की आत्मा परमात्मा के मिलन के लिए उत्सुक हो जाती है तो उसकी वही अवस्था हो जाती है, जो लौकिक क्षेत्र में प्रेमी की पूर्वानुराग में होती है—

कब देखूँ मेरे राम सनेही, जा बिन दुख पावे मेरी देही!
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी, कबरे मिलहुगे अन्तरजामी!!

आत्मा की यह मिलनाकांक्षा धीरे-धीरे बढ़ती हुई तीव्र वेदना का रूप धारण कर लेती है। वह अपने हृदय के वेग पर संयम रखने में असमर्थ हो जाती है और अपने प्रिय को पुकार-पुकारकर बुलाने लगती है—

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिनु दुखिया देह रे।
× × ×
एकमेक ह्वै सेज न सोवे, तब लग कैसा नेह रे।
अन्न न भावै, नींद न आवे, ग्रिह बन धरे न धीर रे।
बाल्हा आव हमारे गेह रे······।

कबीर की विरह-व्यंजना में विभिन्न संचारी भावों का चित्रण भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हो गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

औत्सुक्य— बिरहन ऊभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाय।
एक सबद कह पीव का, कबरे मिलैंगे आइ॥
विवशता— आइ सकौं न तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाय।
जियरा यौंही; लेहुगे, बिरह तपाइ-तपाइ॥
कै बिरहिणी कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाइ।

कबीर जैसा अक्खड़ भी विरह-वेदना से पीड़ित होकर दैन्य से ओत-प्रोत हो जाता है। वह जन-जन के सामने हाथ फैलाने लगता है—

है कोई ऐसा पर उपकारी, सूं कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जिय जाय रे॥

वे दूसरों की स्थिति से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं—

सुखिया सब संसार, खाय अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै॥

कबीर के उद्‌गार बताते हैं कि विरह चाहे लौकिक हो या अलौकिक, उसकी वेदना असह्य होती है। आधुनिक युग की कुछ कवयित्रियाँ भले ही बिरह से प्यार करने की बात कहें, किन्तु जिन्हें इसकी सच्ची अनुभूति है, वे तो इसके नाम से ही काँप उठते हैं।

मीरा का विरह-वर्णन

कबीर की ही भाँति प्रेम-दीवानी मीरा ने अपने हृदय के उद्‌गारों को मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त किया है। अपने 'गिरधर गोपाल' के विरह में भावाभिभूत होकर उन्होंने शत-शत गीतियों की रचना की है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हेरि मैं तो दरद दिवाणी होइ।
दरद न जाणें मेरो कोइ।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ॥

सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विध होइ।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होइ।
× × ×
रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच डुलावै।
× × ×
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वेदन कूण बुतावै।
विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर-लहर जिव जावै॥
× × ×
मीरां कहै बीती सोइ जानै मरण जीवण उन हाथ!

मीरा की इन पंक्तियों में विरह-वेदना की ऐसी गंभीरता मिलती है, जो बरबस ही पाठक के हृदय को भावोद्वेलित करने में समर्थ है। लौकिक प्रेम की वासना के कर्दम के अभाव में उनका वेदना-स्वरूप और भी अधिक दिव्य और पवित्र हो रहा है।

सूर का विरह-वर्णन

महाकवि सूरदास ने कृष्ण और गोपियों के माध्यम से विरहानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त सरस रूप में की है। वियोग की आशंका-मात्र से प्रेम-विवश गोप-बाला राधा के हृदय की क्या दशा हो जाती है, इसका चित्रण देखिए—

सुने हैं श्याम मधुपुरी जात!
सकुचति कह न सकत काहू सों गुप्त हृदय की बात!
शंकित बचन अनागत कोऊ कहि जु गई अधरात!!
× × ×
सूर श्याम संग तें बिछुरत हैं कब ऐहैं कुशलात!!

और जब विदाई की घड़ियाँ उपस्थित होती हैं, तो प्रेमिका का हृदय सौ-सौ धाराओं में बह निकलता है—

हौं सांवरे के संग जैहौं।
होनी होइ सु होई उभै लै यश, अपयश काहू न डरैहौं।
कहा रिझाइ करैगो कोऊ जों रोकिहैं प्राण ताहि दैहौं॥
× × ×

जब प्रियतम विदा हो जाते हैं, तो वियोगिनी बाला के हृदय में क्षोभ, पश्चात्ताप एवं निराशा की एक करुण झांकी अवशिष्ट रह जाती है—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो!
भयो कठोर वज्र तें भारी, रहि कै पापी कहा कियो!!
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसर तेहि न पियो!
मन सुधि गई संभारित पूरो दांव अक्रूर दियो!

कछु न सुहाइ गई सुधि तब ते, भवन काज को नेम लियो ।
निशि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरियो तऊ न जात जियो !!

सूरदास के विरह-वर्णन में प्रायः सभी सम्बन्धित संचारियों का चित्रण भी स्वाभाविक रूप में हुआ है ! एक ओर प्रिय की स्मृति—"इहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवते"—से हृदय संवेदनशील हो उठता है तो दूसरी ओर मथुरा के द्रुमों को देख-कर उनके सौभाग्य के प्रति सहज स्वाभाविक ईर्ष्या—"मधुरा के द्रुम देखियत न्यारे, जहाँ श्याम हमारे प्रीतम चितवन मोहनहारे"— उद्भूत हो जाती है, कभी बरसात में पपीहा की पिउ-पिउ सुनकर प्रेमिका का हृदय उद्वेग और अमर्ष से उद्वेलित हो उठता है –"हौं तो मोहन के बिरह जरी रे, तू कत जारत रे पापी पपीहा पिउ-पिउ अधराति पुकारत !" तो दूसरी ओर वह 'मति' का आश्रय लेकर अपने हृदय को समझाने का प्रयास करती है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो !
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो !!

वस्तुतः सूरदास जी का काव्य विरह-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है ; आचार्य शुक्ल का यह कहना कि इस क्षेत्र में उन्होंने कुछ भी शेष नहीं छोड़ा, बिलकुल सत्य है ।

जायसी का विरह वर्णन

जायसी ने तो अपने काव्य में विरहानुभूतियों की व्यंजना एक ऐसी उत्कृष्ट अत्युक्तिपूर्ण काव्य शैली में की है कि उसके विद्वानों को अलौकिकता का भ्रम हो गया । पूर्वानुराग और वियोग का चित्रण जायसी ने पूरे विस्तार से किया है । उन्होंने विरहानुभूतियों की व्यंजना के लिए मुख्यतः दो पात्रों को माध्यम बनाया है । पहला है रत्नसेन और दूसरी नागमती । यहाँ पहले रत्नसेन के पूर्वानुराग की दशा देखिए—

फूल फूल फिर पूछों, जो पहुँचौं आहि केत ।
तन निछावर कै मिलों, ज्यों मधुकर जिउ देत !

और फिर इसका विकास—

तजा राज राजा भा जोगी । और किंगरी कर गहेउ बियोगी ।
तन बिसंभर मन बाउर रटा । अरुझा प्रेम परी सिर जटा ।।

रत्नसेन की विरह-दशा का निरूपण करते हुए कवि ने विभिन्न अनुभावों और संचारी भावों का आयोजन भी सम्यक् रूप में किया है—

ठांवहि सोवहिं सब चेला । राजा जागै आपु अकेला ।
जेहि के हिये प्रेम रंग जामा । का तेहि भूख नींद बिसरामा ।।

दूसरी ओर नागमती की विरह-व्यंजना भी कवि ने अत्यंत मार्मिक शब्दों में की है । कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत की जाती हैं—

पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग ! !
सो धनि बिरह जरी मुई तेहिक धुआँ हम्ह लाग ।।

जायसी के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नायक और नायिका दोनों में विरह का विकास समुचित रूप में दिखाया है, जिससे उसमें प्रेम की गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत. उनका स्थान विरह वर्णन करनेवाले कवियों में बहुत ऊँचा है।

रीतिकालीन कवियों का विरह-वर्णन

रीतिकालीन श्रृंगारी कवियों को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध और (२) रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियों में प्रेम की अपेक्षा रसिकता का आग्रह होने के कारण उनमें विरह का मार्मिक रूप बहुत कम मिलता है, किन्तु फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है; कुछ छंद देखिए—

(क) पूर्वानुराग—

मूर्ति जो मन-मोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल को बोल सुनै छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी॥

(ख) उपालंभ—

पगन में छाले परे; नाँधिवे को नाले परे,
तऊ लाले। लाले परे राउरे दरस के!!

(ग) मिलनातुरता—

मेरे सुखदाई तेरे देव जु दिखाई नेकु,
ऐरे व्रजभूप; तेरे रूप रस छाकी हौं!!

रीतिकाल में विरह-व्यंजना का सर्वोत्कृष्ट रूप घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान अदि स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी कवियों के काव्य में उपलब्ध होता है। इनके विरह-वर्णन में जो वैयक्तिकता, अनुभूति, स्वाभाविकता एवं गम्भीरता मिलती है, यह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ हमारे कथन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए कुछ छन्द पर्याप्त होंगे—

कहिवे को विथा सुनिवे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है!
अरु पीर घटे तजि धीर सखी। दुःख को नहीं का पै बखानतु है!!

—बोधा

घनआनन्द मीत सुजान बिना सब-सुख साज समाज टरे!
तब हार पहार से लागत है, अब आनि के बीच पहार परे!!

—घनानन्द

× × ×

उन्हीं बिन ज्यों जल मीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी असुवानी रहे।

—रसखाम

वस्तुतः इन कवियों ने किसी अन्य पात्र से विरह-वेदना उधार लेकर काव्य-रचना नहीं की। यह तो उनकी अपनी अनुभूतियों की व्यंजना है, उनकी अपनी आत्मा की सच्ची पुकार है, अतः उसमें वेदना, टीस एवं व्याकुलता का सच्चा रूप मिलना स्वाभाविक है।

आधुनिक कवियों का विरह वर्णन

विरह-वर्णन की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी कवि स्वतंत्र प्रेम-मार्गी कवियों—घनानन्द, बोधा, आलम आदि की परम्परा में आते हैं। भाव, शैली एवं भाषा की दृष्टि से उनका विरह-वर्णन सर्वथा घनानन्द आदि के अनुरूप है।

द्विवेदी-युगीन कवियों ने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण शृङ्गार रस में विरह की व्यंजना प्रचुर मात्रा में की है। 'प्रिय-प्रवास' में 'यशोधरा', 'साकेत' आदि में विरह की व्यंजना प्रचुर मात्रा में हुई है। 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण-विदाई की वेला के समय राधा के हृदय की आशंका का चित्र देखिए—

अयि सखि! अवलोके खिन्नता तू कहेगी,
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं है।
पर हृदय न जाने व्यग्र क्यों हो रहा है?
सब जगत हमें है शून्य होता दीखता!!

'साकेत' की रचना तो विरहिणी उर्मिला के आँसुओं से ही हुई है। स्वयं उर्मिला के ही शब्दों में—

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ दया विचारो।

अति-इतिवृत्तात्मकता के कारण द्विवेदी-युग के विरह-वर्णन में मार्मिकता नहीं आ पाई। इस दृष्टि से छायावादी कवियों का वर्णन सूक्ष्म भावानुभूति से अनुप्राणित सिद्ध होता है। प्रसाद के 'आँसू', पंत की 'ग्रन्थि' और महादेवी की 'यामा' और 'दीप-शिखा' में विरहानुभूतियों की व्यंजना वैयक्तिक अनुभूति के रूप में हुई है। पंत के विरह-कातर हृदय की दशा इन शब्दों में देखिए—

कौन दोषी है, यही तो न्याय है, वह मधुप बिंधकर तड़पता है उधर।
दग्ध चातक तरसता है विश्व का नियम है यह, रो अभागे हृदय रो॥

× × ×

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह! अहह कराहते इस शब्द को।
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा॥

कामायनीकार ने भी विरह की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक शब्दों में की है। अपने अतीत की स्मृतियों से त्रस्त होकर काम पुत्री श्रद्धा सोचती है—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं॥

इन शब्दों में विरह की जैसी गम्भीर वेदना झलकती है, वह बताने की बात नहीं।

कवयित्री महादेवी तो वेदना की ही मानों साक्षात् मूर्ति हैं। उनके काव्य की

प्रत्येक पंक्ति विरहानुभूतियों से उद्वेलित है। विरह की मधुर पीड़ा का संचार उनके जीवन में किस प्रकार हुआ, इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया है—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का॥

किन्तु अन्त में उन्होंने अपनी वेदना पर ऐसी विजय प्राप्त कर ली है कि अब उन्हें विरह में मिलन की, दुःख में सुख की अनुभूति होने लगी है—

विरह का युग आज बीता, मिलन के लघु पल सरीखा।
दुःख सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा॥

प्रगतिवादी कवियों ने यत्र-तत्र विरह का वर्णन किया है, किन्तु उसमें अनुभूति की तरलता, वेदना की गम्भीरता और प्रेम की स्थिरता का अभाव है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

शीतल कर धरती की छाती। नदियाँ सागर में मिल जातीं।
नदियों में जल, जल में लहरें। गलबहियाँ डाले बल खातीं।
भरता जो बाँहों में अपनी। हुआ न तेरा ही कोई।

—नरेन्द्र

यहाँ किसी बाँहों में भरनेवाले का ही अभाव परिलक्षित होता है, किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति प्रणय का स्फुरण नहीं मिलता। इससे शरीर की भूख को शान्त करने की लालसा ही टपकती है, विरह-वेदना की सघनता नहीं।

फिर भी उपर्युक्त विवेचना से एक बात स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य के सभी युगों में विरह का निरूपण किसी-न-किसी रूप में अवश्य हुआ है। उसमें उर्दू फारसी की-सी अत्युक्ति और अस्वाभाविकता नहीं है, अपितु भावना का स्वच्छ, पवित्र रूप दृष्टिगोचर होता है। कोई भी व्यक्ति जो हिन्दी भाषा को समझने की क्षमता रखता है, इस काव्य को पढ़कर गद्गद और भाव-विभोर हो सकता है।

○

हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएँ

:: तिरपन ::

चन्दवरदायी और उनका काव्य

हिन्दी का सर्वाधिक विलक्षण कवि, जिसका अस्तित्व ही संदिग्ध है—महाकवि चन्दवरदायी है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'पृथ्वीराज-रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर गहरा मतभेद मिलता है। कुछ उसे प्रामाणिक मानते हैं, कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक और कुछ सर्वथा अप्रामाणिक। ऐसी स्थिति में उसके रचयिता का अस्तित्व भी धूमिल हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परम्परा के अनुसार वे हिन्दू-कुल के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के सखा, मन्त्री, सेनापति एवं राजकवि थे। उनके सम्बन्ध में इतिहास मौन है, किन्तु उनके ग्रंथ में आये हुए विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका जन्म पृथ्वीराज के साथ ही संवत् ११५१ में लाहौर में हुआ। वे बाल्यकाल से ही सम्राट् के साथ रहने लगे और उनके साथ ही शिक्षा दीक्षा प्राप्त की। षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष; पुराण, नाटक आदि में वे पूर्णतया दीक्षित थे। सभा, युद्ध; आखेट, विवाह, यात्रादि में वे सदैव सम्राट् के साथ रहा करते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को कैद करके गजनी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे। अब तक के रासो का लेखन वे स्वयं कर रहे थे, किन्तु गजनी जाने से पूर्व उन्होंने यह कार्य अपने पुत्र (जल्हन) को सौंप दिया। जल्हन ने उनके अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज।"

गजनी पहुँचकर चन्द ने अपने सम्राट् को मुक्त करवाने की योजना बनाई। एक दिन शहाबुद्दीन की सभा में उन्होंने पृथ्वीराज के लक्ष्य-वेध की प्रशंसा इस ढंग से की कि गोरी के हृदय में पृथ्वीराज के बाण चलाने की कुशलता देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। अस्तु, चन्द के परामर्श के अनुसार इसका आयोजन किया गया। पृथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चलाकर गोरी का वध कर दिया, तदनन्तर चन्द और पृथ्वीराज ने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया। संक्षेप में चन्द के जीवन चरित्र की यही रूप-रेखा है जो रासो के आधार पर तैयार की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें अनेक असंगतियाँ हैं, अतः इसे चन्द का वास्तविक परिचय नहीं कहा जा सकता।

पृथ्वीराज रासो : विभिन्न संस्करण

चन्द की कीर्ति का अक्षय आधार 'पृथ्वीराज रासो' है। इसके कई संस्करण मिलते हैं, जिन्हें मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर और (४) लघुतम रूपान्तर। प्रत्येक रूपान्तर का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है।

(क) बृहत् रूपान्तर—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं तथा इसी के आधार पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७५० के पश्चात् की हैं। वैसे नागरी-प्रचारिणी सभा वाले संस्करण का आधार सं० १६४२ की प्रति को बताया जाता है। इसमें ६९ समय (या सर्ग) हैं तथा १६,३०६ छन्द हैं।

(ख) मध्यम रूपान्तर—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य-सदन, बीकानेर के जैन-ज्ञानभंडार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना था। इसकी छन्द-संख्या सात हजार है तथा इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की हैं।

(ग) लघु रूपान्तर—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में सुरक्षित हैं। यह १९ सर्गों में विभाजित है तथा छन्द-संख्या ३५०० है। इनमें से कुछ प्रतियों के अन्त में निम्नांकित पंक्तियाँ हैं, जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का संकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था—

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्द कृत चन्द्रसिंह उद्धरिय इमि॥

यह संस्करण डॉ० पी० शर्मा द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो गया।

(घ) लघुतम रूपान्तर—यह संस्करण श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा ढूंढ़ा गया था। इनमें अध्यायों का विभाजन नहीं है तथा छन्द संख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

रासो की प्रामाणिकता

प्रारम्भ में रासो को प्रामाणिक माना जाता था। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर ही इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था। फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु इसी बीच सन् १८७५ ई० में डॉ० बूलर को काश्मीर में एक संस्कृत में रचित ग्रन्थ—"पृथ्वीराज विजय महाकाव्य" उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ में वर्णित घटनाएँ शुद्ध हैं। जबकि रासो का वर्णन इसके विपरीत है। ऐसी स्थिति में डॉ० बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह हुआ और उसने उसका प्रकाशन स्थगित करवा दिया। डॉ० बूलर के सन्देहपूर्ण दृष्टिकोण से भारत के कुछ अन्य विद्वानों को

भी प्रेरणा मिली, जिनमें पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उल्लेखनीय हैं। ओझाजी ने रासो पर ऐतिहासिकता की दृष्टि से अनेक आक्षेप किए, जिनमें कुछ ये हैं—

१. रासो में चौहानों की उत्पत्ति, उनके कुल एवं वंश-परम्परा का वर्णन अशुद्ध रूप में किया गया है।

२. पृथ्वीराज के विभिन्न सम्बन्धियों का वर्णन इतिहास-विरुद्ध है।

३. रासो में गुजरात के राजा भीम के हाथों पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के वध की बात कही गई है, जबकि इतिहास के अनुसार भीमदेव अभी बालक ही था।

४. रासो में पृथ्वीराज के ग्यारह वर्ष से लेकर छत्तीस वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी तथा उन्होंने इतने विवाह नहीं किए।

५. रासो में दिये गये सभी सम्वत् अशुद्ध हैं।

६. रासो के अनुसार पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य अपने नाना अनंगपाल के द्वारा प्राप्त हुआ; जबकि इतिहास की मान्यता के अनुसार बीसलदेव ने बहुत पूर्व ही दिल्ली को अपने राज्य में मिला लिया था।

७. रासो में दी हुई संयोगिता-स्वयंवर की कथा भी अनैतिहासिक है।

८. शहाबुद्दीन की मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं गक्खरों के द्वारा हुई थी।

हिन्दी के अनेक विद्वानों ने ओझा जी के आक्षेपों का निराकरण करते हुए रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनमें श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मुनि जिनविजय और डा० दशरथ शर्मा उल्लेखनीय हैं। श्री पंड्याजी ने सन्-संवतों सम्बन्धी आक्षेप का निराकरण करते हुए 'अनंद' संवत् की कल्पना की। उनकी धारणा थी कि रासो में विक्रम संवत् के स्थान पर अनंद संवत् दिए गए हैं, जो लगभग ९० वर्ष पीछे है। मुनि जिन विजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह-की वि० सं० १५२८ की प्रति में से एक प्रबन्ध ढूंढ़ा है, जो रासो का सारांश कहा जा सकता है। इस प्रबन्ध की घटनाएं रासो के इतिवृत्त से बहुत मिलती-जुलती हैं। इस प्रबन्ध में चार छन्द भी उद्धृत किये गये हैं जो किञ्चित् परिवर्तित रूप में रासो के विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध हैं। मुनि जिन विजय ने इस प्रबन्ध की मूल रचना-तिथि सं० १२९० निश्चित की है तथा इसे रासो के आधार पर रचित माना है। ऐसी स्थिति में रासो का रचनाकाल तेरहवीं शती से पूर्व ही होना चाहिए।

रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्तुत्य प्रयत्न डा० दशरथ शर्मा ने किया है। आपने प्रमाणित किया है कि लघुतम संस्करण ही मूल रासो है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के आक्षेप वृहत् संस्करण पर ही लागू होते हैं; लघुतम संस्करण में उन अनैतिहासिक बातों का अभाव है, जो वृहत् संस्करण में मिलती हैं। हां संयोगिता-स्वयंवर, अनंगपाल द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य दिये जाने

एवं गोरी-वधवाली घटनाएँ लघु संस्करण में भी मिलती हैं, किन्तु आपने इनको ऐतिहासिक सिद्ध किया है। 'सुर्जन-चरित' एवं 'पृथ्वीराज-विजय' में भी क्रमशः कांतिमती और तिलोत्तमा नामक राजकुमारियों का वर्णन मिलता है, जो संयोगिता सम्बन्धी विवरण से साम्य रखता है। अत डा० शर्मा का सुझाव है—"जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सब युक्तियाँ हेत्वाभास-मात्र हैं; उस कांतिमती—संयोगिता को हम पृथ्वीराज की प्रेयसी रानी ही मानें तो कोई दोष क्या है?" गोरी-वधवाली घटना का समर्थन भी 'सुर्जन-चरित्र' ग्रन्थ से होता है। साथ ही शर्मा जी ने यह सिद्ध किया है कि मूल रासो अपभ्रंश में लिखा गया था। उन्होंने लघुसंस्करण के कुछ अंशों को थोड़े-से परिवर्तन द्वारा विशुद्ध अपभ्रंश में परिवर्तित करके दिखाया है।

डा० शर्मा के अनुसन्धान के अनन्तर रासो की प्रामाणिकता का विवाद बहुत कुछ मंद पड़ गया था, किन्तु कुछ वर्ष पहले डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुनः इस प्रश्न को उठाया है। आपका विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी सम्वाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर आपने निम्नांकित सर्गों को प्रामाणिक मानने का सुझाव दिया है—(१) आरम्भिक अंश, (२) इंछिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का गांधर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना (४) संयोगिता का विवाह, (५) कैमास-वध, (६) गोरी वध-सम्बन्धी इतिवृत्त। डा० माताप्रसाद गुप्त ने द्विवेदी के मत की आलोचना करते हुए इसे स्वीकार्य नहीं माना है। उनका तर्क है कि प्रक्षेपकारी ने भी शुक-शुकी सम्वाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी सम्भव है प्रक्षिप्त अंश हों।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता से सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। हमारे दृष्टिकोण से रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्य नहीं है तथा वर्तमान संस्करण बहुत कुछ विकृत रूप में मिलते हैं। जैसा कि डा० शर्मा ने सिद्ध किया है, लघुतम संस्करण ही मूल रासो के बहुत कुछ समीप है। हमारे कविगण जानबूझकर चरित-नायक के गौरव की गाथा के लिये ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं, अतः चन्द का भी ऐसा कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शती तक हिन्दी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती, अतः रासो का मूलतः अपभ्रंश में रचा जाना ही अधिक सम्भव है।

रासो का काव्य सौन्दर्य

रासो की ऐतिहासिकता को लेकर जितना विचार-विमर्श हुआ है, उतना उसकी आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में केवल एकमात्र ठोस प्रयत्न डा० विपिनबिहारी द्विवेदी ने किया है। उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध "चन्दवरदायी

और उनका काव्य" की भूमिका में लिखा है—"भले ही कुछ अंशों में अथवा सम्
रूप में रासो जाली सिद्ध हो, परन्तु प्रकाशित रूप में यह जैसा जो कुछ है, हम
सामने है उसकी साहित्यिकता की परख अक्षुण्ण रहेगी।" डा० द्विवेदी के दृष्टिक
से हम भी सहमत हैं—रासो का सम्यक् काव्यात्मक मूल्यांकन होना ही चाहिए। ा
यहाँ कतिपय शीर्षकों में उसकी काव्यात्मकता पर विचार कर सकते हैं।

(क) कथा विस्तार—यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि को त्याग कर काव्यत्व दृष्टि से रासो के इतिवृत्त की समीक्षा करें, तो हमें कवि की अपूर्व कल्पना-शक्ति महत्ता स्वीकार करनी होगी। जिन प्रसंगों की उद्भावना को लेकर इतिहासव रासो पर छींटाकशी करते हैं, वस्तुतः वे ही कवि की काव्य-कुशलता के परिचा हैं। पृथ्वीराज और जयचन्द के विरोध का कारण संयुक्ता का अपहरण चाहे न किन्तु कवि ने रसराज की अभिव्यक्ति के लिए इस बहाने सुन्दर प्रसंग ढूँढ़ निका है। युद्धों के कारण के रूप में किसी प्रेम-प्रसंग की कल्पना करके उन्हें विशुद्ध द्वेष अभिव्यक्ति होने से बचा लिया गया है। पृथ्वीराज का बार-बार गोरी को क्षमा देना भले ही ऐतिहासिक तथ्य न हो, किन्तु इससे नायक के चरित्र की उदारता प्रभाव पाठकों के हृदय पर पूर्णतः अंकित हो जाता है। जब गोरी इस क्षमादान बदला पृथ्वीराज को लौह-शृंखलाओं में जकड़कर चुकाता है, तो पाठक की आ तिलमिला उठती है और उसकी सारी सहानुभूति विजेता गोरी के साथ न रह पराजित पृथ्वीराज के साथ हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वीराज का शब्दवेधी व द्वारा गोरी का वध करके आत्मोत्सर्ग कर देना नायक के चरित्र को बहुत ऊँचा र देता है, जो भारतीय महाकाव्य-परम्परा के लिए आवश्यक है।

(ख) वर्णनात्मकता रासो के रचयिता ने नगर, उपवन, वन, सरोवर, ; सेना, युद्ध आदि के वर्णन में कवि-हृदय का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए युद्ध-क्षेत्र का एक प्रत्यक्ष चित्र देखिए—

'न को हार नह जित्त, रहे रहहि सूर बर।
धर उप्पर भर परत, भति जुद्ध महा भर॥
कहीं कमध, कहीं मध्थ, कहीं कर चरन अन्तबरि।
कहीं कंध बह तेग, कहीं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥

यहाँ केवल स्थिर दृश्य का अंकन हुआ हैं, किन्तु रासो में गतिशील चि का भी अभाव नहीं—

मचं कूह कूहं बहै सार-सारं। चकचक्कें चमक्के करारं सुधारं।
भभक्कें, भभक्कें बहै रत्तधारं सनक्कें सनक्कें बहै बान मारं।
हबक्कें हबक्कें बहै सेल मेलं। हलक्कें हलक्कें मचौ ठेल मेलं॥

यहाँ युद्ध का दृष्टिगोचर रूप ही नहीं उसका श्रुतिगोचर रूप भी स्पष्ट गया है।

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहुँ दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि।

(ग) भाव व्यंजना—रासो में मुख्यतः वीर एवं शृंगार रस की व्यंजना प्रसंगानुसार हुई है। वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की अभिव्यक्ति ओजपूर्ण शैली में की गई है—

उठ्ठिठ पृथ्वीराज बाग लग्ग मनो वीर नट।
कढ़त तेग मनोबेग लगत बीज भट्ट घट्ट।

इसी प्रकार शृंगार रस के आलम्बन—पद्मावती के सौन्दर्य चित्रण में—माधुर्यपूर्ण शैली का प्रयोग हुआ है—

मनहुँ कला ससभान कलासोलह सों बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्नय।
विगसि कमल स्रिग भ्रमर वेनु खंजर म्रिग लुट्टिय।
हीर-कीर अरु बिम्ब, मोती नख-सिख अहि घुट्टिय।
छप्पति गयंद हरि हंस गति, विह बनाय संचै सचिय।
पद्मिनिय रूप पदमावतिय, मनहुँ काम-कामिनी रचिय।

यहाँ कवि नायिका को चन्द्र की सोलह कलाओं से सुसज्जित करके ही संतुष्ट नहीं हो गया है, अपितु बाल्यावस्था में चन्द्रमा द्वारा इसी चन्द्रमुखी के समीप बैठकर रसपान करने की कल्पना ने उसके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है, नायिका के विभिन्न अंगों के संगठन के लिए विधि को न केवल विभिन्न उपादानों को एकत्रित करना पड़ा, अपितु उसे एक खास साँचे का भी प्रयोग करना पड़ा।

महाकवि चन्द ने नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शृंगार रस के अन्य अंगों—वयः संधि, यौवनागम, अनुराग मिलन, संयोगकालीन लज्जा आदि का भी वर्णन पूर्ण तल्लीनता से किया है। संयोगकालीन चेष्टाओं के निरूपण में उन्होंने जैसी सफलता प्राप्त की है, वैसी ही उन्होंने वियोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति में की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बढ़ि वियोग बहु बास, संदिय पूरन मानं
बढ़ि वियोग बहु बास, वृद्ध जोवन सममानं।
बढ़ि वियोग बहु बास, वीन पावस रिति बढ्ढे!
बढ़ि वियोग बहु बास, सज्जिकुल बधु दिन चढ्ढे!!

यहाँ 'बढ़ वियोग बहुवास' की आवृत्ति इस ढंग से की गई है कि उससे वियोगानुभूति की क्रमिक वृद्धि का बोध स्वतः ही हो जाता है। अन्तिम पंक्ति में वियोग की वृद्धि की तुलना दिन चढ़ने पर कुल-वधू की लज्जा से की गई है—एक सूक्ष्म भाव की तुलना अन्य सूक्ष्म भाव से करके कवि ने अपनी पैनी दृष्टि का परिचय दिया है। इसी प्रकार सभी सुख-साधनों के विद्यमान होते हुए भी वियोग में उनका स्वाद किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, उसका अनुभव कवि चन्द की नायिका के मुँह से सुनिए—

वेई आवास जुग्गनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय।
संजोग सर्यपति कंत बिन, मुहि न कछु लागत रलिय।

"वे ही महल हैं, वे ही योगिनीपुर है, वे ही सहचारियों के झुंड हैं, किन्तु एक प्रिय पति के संयोग के अभाव में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

वीर और शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों की भी व्यंजना रासो में प्रसंगानुसार हुई है। विशेषतः हास्य, भयानक और रौद्र का चित्रण तो स्थान-स्थान पर हुआ है। यहाँ व्यंग्यात्मकता का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक बार जयचंद ने व्यंग्यपूर्वक महाकवि चन्दवरदायी से प्रश्न किया—

"मुँह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द।
वन उजार पशु तन चरन, क्यों दुब्बरो बरद्द।"

"मुँह का दरिद्री तुच्छ शरीर पानेवाला और जंगलराव की हद में रहने वाला पशु वरद (श्लेष : बैल या वरदायी) दुबला क्यों हो गया?"

इसका उत्तर चंदवरदायी ने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से देते हुए कहा—

'चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मंड्यो जास जान्यो सबर धर॥
केइक तकि गहि पात, केई गहि डारि मूर तरु।
केइक दंत तुछ त्रिन, गए दस दिसनि भजि डर॥
भुज लोकत दिन अचिरिज भयो, मान सबर बर मरद्दिया।
पृथिराज खलन खद्धो सु पर, सु यो दुब्बरो बरद्दिया।"

इस छन्द का तात्पर्य यह है कि महाराजा पृथ्वीराज के भय से उनके शत्रुओं ने इतने तृण मुँह में लिये कि जिससे बेचारे 'वरद' के खाने के लिए कुछ नहीं बचा। ऐसी स्थिति में उसका दुबला हो जाना स्वाभाविक है। कहना न होगा कि कवि ने इस मनोरंजक प्रसंग की उद्भावना करके हास्य का निरूपण सफलतापूर्वक कर दिया है। वस्तुतः रासोकार में सर्वत्र एक महाकवि की-सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक प्रौढ़ रचना है। कला-पक्ष की दृष्टि से भी उसमें अलंकारों का प्रयोग, भावानुरूप भाषा, छन्दों की विविधता आदि विशेषताएँ मिलती हैं। भाषा की एकरूपता का अभाव उसमें अवश्य है, किन्तु यह दोष इतना बड़ा नहीं कि वह महत्त्व को न्यून कर दे।

कुछ अभाव अवश्य रासो में खटकनेवाले हैं। एक तो कवि ने वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत राग-द्वेष पर आधारित किया है, अतः उसमें महाकाव्य की-सी व्यापकता नहीं आ पाई। उस समय राष्ट्र को जातीय संगठन और एकता की बड़ी आवश्यकता थी, कवि का काम होता है कि वह अपने युग के वातावरण से ऊपर उठकर भविष्य के लिए सन्देश दे, किन्तु रासोकार ऐसा नहीं कर पाया।

इसी प्रकार शृङ्गार रस में भी भाव की गम्भीरता नहीं आ पाई। नित्य नये विवाह रचनेवाले सामन्तों से इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। कवि ने भी

सामंतवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए नारी को भोग की वस्तु मात्र ही माना है; वह उसके हृदय के सूक्ष्म सौन्दर्य के दर्शन नहीं कर सका। अस्तु, इन सब दोषों के होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' एक महाकाव्य है। उसकी महत्ता उसके आकार-प्रकार की विशालता में नहीं, अपितु इस बात में है कि एक तो वह उस युग की रचना है, जबकि हिन्दी अपनी जननी अपभ्रंश की क्रोड़ से बाहर निकलने की अभ्यस्त नहीं हुई थी, दूसरे इसमें वीर-रस का चित्रण उन हाथों से किया गया है, जो तलवार चलाने में उतने ही निपुण थे, जितने कि कलम चलाने में। कलम और तलवार —दोनों के धनी लेखक साहित्य में कभी-कभी अवतीर्ण होते हैं, अतः महाकवि चंद और उनकी रचना का महत्व अक्षुण्ण है।

●

:: चौवन ::

कबीर : चिन्तन और कला

यदि हम एक ऐसा कवि ढूंढ़ने लगें, जिसकी प्रतिभा, बुद्धि और काव्य-शक्ति में अनेक विरोधी तत्वों का आश्चर्यजनक समन्वय हो—जिसने समाज के निम्नतम वर्ग में जन्म लेकर भी उच्चतम वर्ग को अपनी प्रतिभा के बल पर परास्त कर दिया हो, जिसने सर्वथा अशिक्षित होते हुए भी अपने युग के समस्त शिक्षित विद्वानों के मस्तिष्क को अपने तर्क से प्रभावित कर दिया हो और जिसने 'कागद' और 'मसि' न छूकर भी अपनी काव्य रचनाओं द्वारा कोटि कोटि जनता के हृदय में अजस्र भाव-धाराओं को प्रवाहित कर दिया हो···तो हमारा साक्षत्कार महाकवि, महासुधारक और महान् नेता महात्मा कबीर से होगा। कबीर क्या थे? उनका महत्त्व कितना है? उनके काव्य में भावनाओं का अगाध स्रोत किस रूप में प्रवाहित हो रहा है? इन सब प्रश्नों का सम्यक् उत्तर देना किसी भी आलोचक के वश की बात नहीं। कबीर के शब्दों में उसे यही कहना पड़ता है – "कहिये कूं शोभा नहीं, देख्यां ही उनमान।" डॉ० रामकुमार वर्मा जो कि स्वयं भी एक कवि हैं, उनकी महानता के प्रभाव से अभिभूत होकर लिखते हैं—"ऐसी स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाला कलाकार किसी साहित्य-क्षेत्र में नहीं पाया गया। वह किन-किन स्थलों में विहार करता है, कहाँ-कहाँ सोचने के लिए जाता है, किस प्रशान्त वन-भूमि के वातावरण में जाता है, ये सब स्वतन्त्रता के साधन उसी को ज्ञात थे, किसी अन्य को नहीं। उसकी शैली भी इतना अपनापन लिये हुए है कि कोई उसकी नकल भी नहीं कर सकता। अपना विचित्र शब्द-जाल, अपना स्वतन्त्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भावपूर्ण पर-बेढंगे चित्र, ये सभी उसके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब कुछ उसी का था।"

कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने उनकी तुलना महात्मा गांधी से की है। कबीर और महात्मा गांधी दोनों ही अपने-अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हुए हैं। दोनों ने ही प्राचीन धर्म और दर्शन को अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ग्रहण किया है। दोनों ने ही विभिन्न

धर्मों का सम्मान करते हुए उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। दोनों ने ही जीवन के विविध क्षेत्रों—धर्म, समाज और नीति—में अपने युग का नेतृत्व किया है। दोनों ही साधना के क्षेत्र में कठोर और दृढ़ रहे हैं, तो दूसरी ओर उनका हृदय कोमलता से भी युक्त रहा है। फिर भी दोनों में गहरा अन्तर भी मिलता है। कबीर सब कुछ होते हुए भी राजनीति से दूर रहे और महात्मा गांधी जीवन के सभी क्षेत्रों को छूते हुए भी काव्य-कला से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। कबीर का युग ही ऐसा था कि जन-साधारण राजनीति में भाग नहीं ले सकता था; किन्तु यदि गांधी के पास कवि हृदय होता तो वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हो सकते थे—और यह प्रवृत्ति युग के प्रतिकूल नहीं होती। अस्तु, महात्मा कबीर और महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के अन्तर को स्पष्ट करनेवाला सबसे बड़ा तथ्य कबीर का कवि रूप है।

परिस्थितियाँ और प्रेरणा-स्रोत

कबीर का आविर्भाव एक ऐसे युग में हुआ, जबकि सारा राष्ट्र राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो रहा था। "उस समय सारा उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टिकोण में अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३९८ में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नींवें हिला दी थी और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मलिन हो गई थीं। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षाकाल के बादलों की भाँति उठे घुमड़े, गरजे और पानी-पानी होकर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुई और उनके रूपों में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में तुगलक, सैयद और लोदी राजवंश ने उत्तरी भारत पर शासन किया। मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५ ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (१५२६ ई०) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे और उन्होंने अपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले अधिकतर आक्रमण और युद्ध ही किए।" डॉ० रामकुमार वर्मा इस सम्बन्ध में और विचार करते हुए लिखते हैं—"इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी सिमटती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे आकाश की ऊँचाई तक तक खींच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही। कूटनीति, हिंसा; छल, त्रिशूल की भाँति फेंके जाते थे और देश के वक्षःस्थल में चुभकर उसे तड़पा देते थे। श्मशान में घूमते हुए प्रेतों की भाँति दिल्ली के शासक शवों पर बैठकर आनन्द से खिलखिला उठते थे। जब शासकों की सेवा में रहनेवाले हिजड़े और गुलाम भी सिंहासन पर अधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे, तो उनके प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा और स्वामिभक्ति हो सकती थी? इस भाँति शासक वर्ग जनता की सहानुभूति खो चुका था, जनता भी 'कोउ नृप होउ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी।" (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० १२६।

राजनीति की भाँति धर्म की अवस्था विकृत हो रही थी। मुस्लिम आक्रमण-

कारियों की गदा ने हमारे आराध्य देवताओं की मूर्तियों को चकनाचूर करके हमारी परम्परागत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। भारत के प्रायः सभी पूर्ववर्ती धर्म-सम्प्रदाय इस समय अपनी आभा खो बैठे थे। क्या वैदिक, क्या बौद्ध और क्या नाथपंथी योगी—सभी धर्म-सम्प्रदाय अपनी विकृतावस्था को पहुँच चुके थे। हाँ केवल दक्षिण से भक्ति का एक नया स्रोत महाराष्ट्र से होता हुआ अवश्य हिन्दी प्रदेश की ओर प्रवाहित हो रहा था; जिसमें नवीन आध्यात्मिक चेतना का प्रकाश दिखाई पड़ रहा था। कबीर का ध्यान भी इसी ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने उसमें अपना तेज मिलाकर उसे और भी अधिक उज्ज्वल रूप प्रदान कर दिया।

समाज की दशा राजनीति और धर्म से प्रभावित होती है। जबकि इस युग में ये दोनों विकृत हो रहे थे, तो समाज की दशा अविकृत कैसे रह सकती थी? शैव; सिद्ध एवं नाथ-पंथियों ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के प्रति तो सन्देह उत्पन्न कर दिया था, किन्तु किन्तु उसके स्थान पर कोई सुव्यवस्थित रूप उसे वे नहीं प्रदान कर पाये थे। जनता के मानसिक और नैतिक स्तर का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। इसके दो कारण थे—एक तो सारा परम्परागत ज्ञान संस्कृत में संचित था, जबकि जनता में अपभ्रंश का प्रचलन हो रहा था। दूसरे, हिन्दू सम्राटों के पतन के कारण हमारे विभिन्न शिक्षा-केन्द्र नष्ट हो रहे थे। इसके अतिरिक्त मुसलमान शासकों के दरबार में संस्कृत के विद्वानों को कोई सम्मान प्राप्त नहीं था, ऐसी स्थिति में हमारी ज्ञान परम्परा का ह्रास हो जाना स्वाभाविक था।

तत्कालीन युग में नारी की अवस्था तो और भी शोचनीय हो गई थी। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा एवं अशिक्षा के कारण भारतीय नारी व्यक्तित्व-शून्य हो गई थी। एक ओर बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि हो रही थी, तो दूसरी ओर समाज की कामुक प्रवृत्तियों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। स्वयं कबीर का जन्म इसी प्रकार की स्थिति का परिचय देता है। उस युग का समाज किस प्रकार की कुप्रथाओं एवं दूषित रूढ़ियों का दास हो चुका था, इसका परिचय कबीर-काव्य की अनेक पंक्तियों से प्राप्त होता है, देखिए—

> कोई लरिका बेचई, लरिकी बेचै कोइ।
> साझा करै कबीर सिउ, हरि संग बनजि करेइ॥

राजनीति, धर्म और समाज की इन विकृत परिस्थितियों ने कबीर को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। यही कारण है कि उन्होंने अपने युग की प्रायः सभी परम्परागत राजनीति, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को संदेह की दृष्टि से देखते हुए उनकी तीव्र आलोचना की। केवल वैष्णव-भक्ति आन्दोलन की नवीन लहर को छोड़कर कबीर ने किसी भी प्राचीन मतवाद का पूरा समर्थन नहीं किया।

कबीर साहित्य पर बाह्य प्रभाव

कबीर साहित्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न स्रोतों की चर्चा विद्वानों द्वारा की गई है, इनमें कुछ प्रमुख स्रोत ये हैं—

(क) अपभ्रंश का सिद्ध-साहित्य --सिद्ध-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ कबीर-साहित्य में उपलब्ध होती हैं, जैसे परम्परागत वर्ण-व्यवस्था का विरोध, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की बाह्य पद्धतियों का खण्डन, स्वानुभूति की वैयक्तिक शैली में व्यंजना, रूपक, उलटवाँसियों और प्रतीकों का प्रयोग, मुक्तक पद शैली एवं सामान्य लोक-भाषा को अपनाना आदि।

(ख) नाथ-पंथ का प्रभाव तत्कालीन समाज पर नाथ-पंथी योगियों की आश्चर्यजनक पद्धतियों एवं चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव था। कबीर ने इनकी जटिल एवं चमत्कारिक पद्धतियों के स्थान पर जनता में सहज भक्ति योग की प्रतिष्ठा करने के लिए इनके योग-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी षट्-चक्र आदि की नये ढंग से व्यवस्था की। कुछ विद्वान् इन शब्दों के प्रयोग के कारण कबीर को नाथ-पंथ एवं योग मार्ग का समर्थक समझ लेते हैं, जबकि वे वास्तव में ऐसा इनके प्रभाव को न्यून करने के लिए ही करते हैं।

(ग) वैष्णव भक्ति-आन्दोलन—कबीर के आविर्भाव-काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि आचार्यों के द्वारा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्त्तन हो चुका था। स्वयं कबीर भी गुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से कबीर मत और वैष्णव भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु फिर भी इन्होंने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर पर्यायवाची नाम के रूप में—राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने सर्वथा वैष्णव भक्तों के अनुरूप किया है। ध्यान रहे, अल्लाह, खुदा आदि शब्दों का प्रयोग भी कभी-कभी करते हैं, किन्तु ऐसा वे उपदेश देते समय या खण्डन मण्डन के समय में ही करते हैं, प्रेमानुभूति की तन्मयता के क्षणों में तो उनकी वाणी राम हरि गोविन्द का ही स्मरण करती है, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा की गहराई में तो वैष्णव भक्तों के ही आराध्य का नाम छिपा हुआ है; शुष्क मत-प्रतिपादन के समय भले ही वे इस्लाम के शब्दों का प्रयोग कर लें। दूसरे, उनके प्रेम का स्वरूप वैष्णव भक्ति-भावना से गहरा साम्य रखता है। कुछ लोग इसे सूफी मत की देन बताते हैं; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। प्रेम का आधार समानता की भावना होती है, जबकि भक्ति में प्रेम के साथ श्रद्धा का भी मिश्रण होता है। कबीर ने अद्वैतवाद को स्वीकार करते हुए भी अपनी आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा किंचित हीन स्वीकार किया है, जैसे—

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धनि मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥

× × ×

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नांउ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जांउ॥

कबीर ने अपने युग के प्रायः सभी प्रचलित धर्मों का खण्डन किसी-न-किसी

रूप में किया है, किन्तु यही एक ऐसा मत है जिसके प्रति उन्होंने अगाध श्रद्धा दिखाई है—

मेरे संगी दोई जणां, एक वैष्णों एक राम।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम॥
× × ×
वैस्नों की छपरी भली, ना साखत का बड़ गांव।
× × ×
साखत बांभण मत मिलै, वैसनों मिलै चांडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानों मिले गोपाल॥

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि कबीर वैष्णव भक्ति-आंदोलन से अत्यधिक प्रभावित थे।

(घ) महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय—दसवीं शताब्दी के अनन्तर महाराष्ट्र प्रदेश में नाथ सम्प्रदाय के अतिरिक्त महानुभाव सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ, जिनका प्रभाव कबीर पर भी परिलक्षित होता है। इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित सन्त-परम्परा में आगे चलकर नामदेव का आविर्भाव हुआ। उनका जीवन-काल (१२७०-१३५० ई०) कबीर से पूर्ववर्ती रहा है। नामदेव की अनेक प्रवृत्तियों का विकास कबीर में दृष्टिगोचर होता है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने दोनों साहित्यों की विस्तृत रूप में तुलना करते हुए अनेक समानताओं पर प्रकाश डाला है। अद्वैत का समर्थन, गुरु महत्ता, मूर्ति-पूजा पर व्यंग्य, जाति-पांति भेद का विरोध, नाथ-पंथियों की शब्दावली का प्रयोग आदि अनेक प्रवृत्तियां कबीर-साहित्य में नामदेव के अनुरूप ही मिलती हैं।

(ङ) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वान् कबीर की अनेक प्रवृत्तियां—निर्गुणोपासना, वर्ण-व्यवस्था व मूर्ति-पूजा का विरोध आदि—को इस्लाम का प्रभाव बताते हैं, किन्तु ये प्रवृत्तियां पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व ही विकसित हो चुकी थीं। पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पन्थी योगियों ने हिन्दू धर्म की अनेक रीतियों का खण्डन उत्साहपूर्वक किया था। भले ही कबीर ने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियों का खण्डन करते समय इस्लाम के अनुयायियों का-सा उत्साह दिखाया हो, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो उन्होंने नमाज, रोजा आदि की व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साधना के क्षेत्र में इस्लाम के तत्त्व की उपेक्षा की। कबीर-साहित्य के खण्डनात्मक पक्ष में ही इस्लाम का अस्तित्व है, उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से सुसज्जित है। ईश्वर का गुण-गान करते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं—अल्लाह या खुदा का नहीं। संसार की असारता घोषित करते हुए वे अद्वैतवाद और माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाली बहिश्त और आखरी इन्साफ की नहीं, और विधि-निषेधों की चर्चा में में हिन्दू शास्त्रों का आधार ग्रहण करते हैं—कुरान का नहीं। केवल हिन्दू

धर्म की कुछ रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही कबीर को इस्लाम से प्रभावित नहीं माना जा सकता।

(च) **सूफी मत का प्रभाव**—इस्लाम की ही भाँति हमारे विद्वानों ने कबीर पर सूफी प्रभाव की भी कल्पना की है। उनका कहना है कि कबीर ने अपनी साधना-पद्धति में सूफियों के प्रेम-तत्त्व को स्थान दिया। किन्तु इस मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ध्यान रहे, उसी में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने भी प्रेम-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया था। जहाँ कबीर ने वैष्णव मत के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, वहाँ उन्होंने सूफी दरवेशों और शेखों का उपहास किया है—

है कोई दिल दरवेश तेरा,
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि के
जाइ लाहूत पर करै डेरा॥

—कबीर का रहस्यवाद, पृ० १५६

× × ×

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जिनका दिल स्याबित नहीं तिन को कहाँ खुदाई॥

सूफियों का प्रेम समानता की भावना पर आधारित है, किन्तु कबीर से भगवत् प्रेम में श्रद्धा का भी मिश्रण मिलता है। वे अपनी आत्मा को मैली और प्रियतम को पवित्र मानते हैं। दूसरे, सूफी मतानुयायी परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते हैं, जबकि इन्होंने अपने आराध्य को पति के रूप में स्वीकार किया है। तीसरे, कबीर ने अपनी साधना-पद्धति के प्रतिपादन में सूफी शब्दावली का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। अतः कोई भी ऐसा साध्य नहीं मिलता, जिससे कि कबीर के प्रेम-तत्त्व को सूफियों से गृहीत माना जा सके, जबकि इसके विपरीत वैष्णव भक्ति-मार्ग की अनेक विशेषताएँ उनके प्रेम-तत्त्व में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की विचार-धारा, साधना-पद्धति एवं साहित्य-शैली के निर्माण में सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, महाराष्ट्रीय सन्तों एवं वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव ने पर्याप्त योग दिया। उन पर इस्लाम और सूफीमत के प्रभाव को अब तक अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, जो अनुचित है।

कबीर की विचार-धारा

कबीर की विचार-धारा का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—(१) सैद्धान्तिक पक्ष और (२) व्यावहारिक पक्ष। सैद्धान्तिक दृष्टि से कबीर को हम किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं कर सकते। उन्होंने रामानन्द से राम-भक्ति का मंत्र ग्रहण किया था, किन्तु फिर भी उनके राम 'दुष्ट-दलन रघुनाथ' नहीं थे। राम से उनका अभिप्राय कुछ और ही था।—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।" उन्होंने राम को निर्गुण रूप में ग्रहण करते हुए उपदेश दिया—

"निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।" उनकी राम-भावना भारतीय ब्रह्म-भावना से सर्वथा मिलती है। वे मुसलमानों के एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे। उनका निर्गुण सम्बन्धी दृष्टिकोण इस्लाम के अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं—"स्थूल दृष्टि से मूर्ति द्रोही एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजक बहुदेववाद में बहुत बड़ा अन्तर है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें उतना अन्तर नहीं दीख पड़ेगा जितना एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में है, वरन् सारतः वे दोनों एक ही हैं, क्योंकि बहुत-से देवी-देवताओं को अलग-अलग मानना और सब गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर को मानना एक ही बात है। परन्तु ब्रह्मवाद का मूलाधार ही भिन्न है। उसमें लेश-मात्र भी भौतिकवाद नहीं है। एकेश्वरवाद भौतिकवाद है, वह जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों की भिन्न सत्ता मानता है, जबकि ब्रह्मवाद शुद्ध आत्मतत्व अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नहीं मानता। उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है और जड़ जगत भी ब्रह्म है। कबीर में भौतिक या बाह्यार्थवाद कहीं मिलता ही नहीं और आत्मवाद की उन्होंने स्थान-स्थान पर अच्छी झलक दिखाई है।"

जीव; जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर की विचार-धारा अद्वैतमूलक ही है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, उनके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जो कुछ है, ब्रह्म ही है – ब्रह्म ही से सारे संसार की उत्पत्ति होती है और अन्त में वह उसी में लीन हो जाता है—

पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कह्या न जाई॥

सृष्टि और ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने के लिए अद्वैतवादी दो उदाहरण दिया करते हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज में वट का बृहदाकार वृक्ष अंतर्हित रहता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म में अंतर्हित रहती है तथा जिस प्रकार दूध में घी व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है—

खालिक खलक, खलक में खालिक सब जग रह्यो समाई।

जब ब्रह्म अपनी लीला का विस्तार करता है, तो इस नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि होती है, जिसे वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं ही समेट लेता है—

सबमें आप आप सबहिन में, आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै॥

वेदान्त में जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और नाना रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। कबीर कहते है—

खंडित मूल विनास कहो, किम बिगतह कीजै॥
ज्यूं जल में प्रतिब्यंब, त्यूं सकल रामहि जाणिजै॥

कबीर ने वेदान्त से कनक-कुंडल न्याय, जल-तरंग न्याय आदि के आधार पर भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है—

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे ।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माहिं समावहिंगे ॥

× × ×

जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावहिंगे ॥

× × ×

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी ।

संसार के मिथ्यात्व एवं माया-जन्य भ्रम का आख्यान भी कबीर ने अद्वैतवादी विचार-धारा के अनुसार ही किया है । माया की निंदा उन्होंने बारम्बार की है—

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ ।
रामचरन नीकां गहो, जिन जाइ जनम ठगाइ ॥

× × ×

कबीर माया पांपणी, हरि सूं करे हराम ।
मुखि कड़ियाली कुमति की; कहण न देई राम ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की दार्शनिक मान्यताएं अद्वैतवाद के अनुसार हैं, किन्तु फिर भी हम उन्हें पूर्णतः अद्वैतवादी नहीं कह सकते । अद्वैतवाद ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति पर बल देता है; किन्तु कबीरदास ने इनके स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा की, तत्कालीन वैष्णव आचार्यों ने अद्वैत-विरोधी आधारों पर भक्ति की प्रतिष्ठा की थी, जबकि कबीर ने अद्वैत और भक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है । वे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की महत्ता स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं । उनके शब्दों में —'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय । ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय ।' वे अपनी साधना-पद्धति में प्रेम को सर्वोपरि स्थान देते हैं । प्रेम के महत्त्व की उन्होंने व्याख्या अनेक दोहों में की है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहिं ॥
जा घट प्रेम न संचरै सो घट जानु मसान ।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिन प्रान ॥
जहां प्रेम तहँ नेमि नहिं, जहां न बुधि ब्योहार ।
प्रेम मगन जब मन भया; कौन गिनै तिथि वार ।

यह तो हुई कबीर मत के सैद्धान्तिक पक्ष की बात । अब हम उसके व्यवहारिक पक्ष को लेते हैं । 'कबीरदास के युग में धर्म के व्यावहारिक रूप को लेकर ही अनेक दुराचार एवं अत्याचार हो रहे थे । सभी धर्म-सम्प्रदायों की मूल विचार-धारा सामान्यतः एक है । सभी धर्म ईश्वर में विश्वास, प्रभु के गुणागान, सत्य, दया,

परोपकार आदि का समर्थन करते हैं। किन्तु धर्म के बाह्य रूप को, पूजा के विधि-विधानों को लेकर ही विभिन्न-सम्प्रदायों के लोग परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। जब मूल भावना को भूलकर उसके बाह्य रूप को ही सारा महत्त्व दिया जाने लगता है, तो धर्म का नाश होने लगता है। कबीर के युग में ऐसा ही होने लगा था। अतः उन्होंने एक तो धर्म के सच्चे रूप को प्रकट करने के लिए और दूसरे विभिन्न धर्मों के पारस्परिक मतभेद को दूर करने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के विधि-विधानों, कर्म-कांड एवं अन्य विश्वासों की कटु आलोचना की। उनकी इस आलोचना का सारांश निम्नांकित पद में उपलब्ध होता है—

साधो देखो जग बौराना।
साँचि कहौं तो मारन धावैं; झूठे जग पतियाना।
हिन्दु कहत है राम हमारा; मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नहिं जाना॥
बहुत मिले मोहि नेमी धर्मी, प्रात करें असनाना।
आतम छोड़ि पखानें पूजें, थोथा ज्ञाना॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठ, मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ व्रत भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना॥
साखी शब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना।
घर घर मंत्र जो देत फिरत हैं, माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिक्ख सब बूड़े अंतकाल पछिताना॥
× × ×
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह वो झटका मारें, आग दोउ घर लागी॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों की बुराइयों का खंडन निष्पक्ष रूप में किया है। जहाँ उन्होंने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा; तीर्थ, उपवास, छुआछूत का तीव्र विरोध किया है, वहाँ उन्होंने मुसलमानों की नमाज, जीव-हत्या आदि की भर्त्सना की है।

विभिन्न धर्मों की रूढ़ियों का खंडन करते समय कबीर की वाणी का स्वर अत्यन्त तीखा हो गया है—

जो तू बाँभन बाँभनी जाया, तो आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया, तो भीतर खतना क्यों न कराया॥

कबीर ने जहाँ खण्डन किया है, वहाँ धर्म के सत् स्वरूप का मंडन भी किय है मुख्यतः उन्होंने गुरु-भक्ति, ईश्वर-स्मरण, संसार से विरक्ति, कथनानुसार करनी, सुसंगति, प्रेम-महिमा, संयम और सदाचार का प्रतिपादन विधेयात्मक रूप में किया है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

(क) गुरु-भक्ति—

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सईं न जाति।
सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावण हार।

(ख) ईश्वर स्मरण—

कबीर सूता क्या करै, गुण गोविन्द के गाइ।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाइ।
कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ।

(ग) संसार की असारता—

झूंठे सुख को सुख कहैं, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।

(घ) सुसंगति का परिणाम—

कबिरा संगत साध की, ज्यों गंधी को बास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥
मथुरा भावे द्वारिका, भावे जा जगन्नाथ॥
साध संगति हरिभजन बिनु, कछू न आवे हाथ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने धर्म के पवित्र रूप की ही प्रतिष्ठा का प्रयत्न अपने साहित्य के द्वारा किया।

कबीर-काव्य का भाव-पक्ष

कबीर ने प्रायः जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, वे उनकी व्यक्तिगत अनुभूति से समन्वित हैं, अतः उनका प्रतिपादन भावना से युक्त है। दूसरे, उन्होंने अपने वैयक्तिक ईश्वर-प्रेम का निरूपण भी अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उनके इस ईश्वर-प्रेम या रहस्यवाद को किस रस के अन्तर्गत स्थान दें? कबीर ने इसमें पत्नी और पति के रूपक का प्रयोग किया है, अतः काव्यानुभूति की दृष्टि से उनके प्रणय काव्य को उच्चकोटि के शृंगार में स्थान दिया जा सकता है।

कबीर साधना के क्षेत्र में बाला-प्रेयसी का-सा रूप धारण कर लेते है। अपने प्रियतम के विरह में उनका हृदय वेदना से ओत-प्रोत हो जाता है। अपनी इस विरह-वेदना की व्यंजना उन्होंने शत-शत दोहों में की है। ये दोहे अनुभूति से ओत-प्रोत हैं। उनके हृदय की आकुलता का वर्णन देखिए—

आइ न सकौ तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ॥

× × ×

चोट सतांणी विरह की सब तन जरजर होइ।
मारण हारा जाणि है कै जिहि लागी सोइ॥

प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते कबीर की विरहिणी आत्मा शोक-विह्वल हो उठती है। वह उसकी प्रतीक्षा में पथ के किनारे जाकर खड़ी हो जाती है। आने-जाने वाले प्रत्येक पथिक से वह अपने प्रियतम के सम्बन्ध में केवल एक बात पूछती है—केवल एक—"वे कब मिलेंगे?" किन्तु कोई उत्तर नहीं देता। भला विरहिणी अपने मन को किस प्रकार शान्त रखे। उसका हृदय सदैव प्रियतम-दर्शन के लिए तरसता रहता है और मन को जरा भी चैन नहीं मिलता। उनका पथ देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गई और उनका नाम रटते-रटते जिह्वा में छाले पड़ गए। विरह में रोते-रोते आँखें कसैली हो गई है किन्तु लोग समझते हैं कि दुखती है। उन्हें क्या पता कि वह अपने प्रियतम के लिए रात-रात भर रोती रहती है। प्रतीक्षा करते-करते दिन बीत जाता है, रात भी बीत जाती है, किन्तु विरहिणी को उसका प्रियतम नहीं मिलता। उसका हृदय तड़पता ही रह जाता है। विरहिणी सोचती है—इस प्रकार रात-दिन जलते रहने से तो मौत ही अच्छी है, इन्हीं भावों की व्यंजना निम्नांकित दोहे में देखिए—

विरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन को, मन नाहीं विश्राम॥
अंखड़ियां झाई पड़ी पंथ निहारि निहारी।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥
अंखड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जाणै दुखड़ियां।
सांई अपणै कारणै रोइ रोइ रतड़ियां॥

× × ×

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
विरहणि पिव पावै नहीं; जियरा तलपै माइ॥
कै विरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाइ॥

विरह की इस गहरी-वेदना को कौन समझ सकता है। प्रेम-दिवानी मीरा के शब्दों में "घायल की पीड़ा घायल जाणै जे कोई घायल होय।" कबीर की आत्मा भी कुछ ऐसा ही अनुभव करती है—

चोट सतांणी विरह की, सब तन जरजर होइ।
मारण हारा जांणि है, कै जिहि लागी सोइ॥

× × ×

हिरवा भीतरि दौं बलै धुंवां प्रकट न होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ॥

भले ही कबीर की इस विरह-व्यंजना में जायसी जैसी अतिशयोक्तियाँ न हों, किन्तु मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से यह हिन्दी काव्य के किसी भी लौकिक विरह-वर्णन से कम अनुभूतिपूर्ण नहीं है।

विरह की दीर्घ साधना के अनन्तर कबीर के आँगन में अन्त में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूल कर किसी नवीन किशोरी बाला के हृदय की भाँति कोमलता से गद्-गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय की धड़कन दुगनी हो जाती है और घूँघट का पट कुछ आगे खिसका आता है। एक ओर सास का भय, देवरानी की लज्जा और ननदों का उपहास, दूसरी ओर किसी अपरिचित से प्रथम मिलन की अज्ञात आशंकाएँ—इन सबसे उस मुग्धा की जो दशा हो जाती है, वह अवर्णनीय है—

पिया मोरा जागे मैं कैसे सोऊँ री।
पांच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री!!
सास सयानी ननद धोरानी, उन डर डरी पिय सार न जानी री!!
द्वादस ऊपर सेज बिछानी, चढ़ न सकी लजि लजानी री!!

यदि वह अपरिचित सो रहा, तो उसके पार्श्व में जाकर चुपचाप लेट जाना कुछ और बात है, पर उसके जागते समय जाना कुछ और है। इस दूसरी परिस्थिति में नवीना का कार्य बहुत ही दुष्कर होता है। यद्यपि वह आगे बढ़ती है, किन्तु उसका हृदय शंकाकुल हो उठता है—

मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणों उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग॥

और अन्त में मधुर-मिलन के वे क्षण भी आते हैं, जबकि उसकी सारी शंका, सारी लज्जा और सारे तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में वह जाते हैं। यद्यपि वह मुग्धा नायिका की भाँति प्रारम्भ में थोड़ा निषेध करती है—

धीरे पांव धरो पलंगा पर, जावत ननद जिठानी।

किन्तु दूसरे ही क्षण—

जोग जुगत री रंग महल में, प्रिय पाये अनमोल रे॥
कहत कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥
×   ×   ×
कहै कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज बिलछानी।

यद्यपि कबीर की इन अलौकिक अनुभूतियों को शृङ्गार रस की संज्ञा देना उसका खुले शब्दों में अपमान करना है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि कबीर ने साधक कबीर की अनुभूतियों का इतना अधिक साधारणीकरण कर दिया है कि उनकी असाधारणता रसानुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होती। यदि हम एक ऐसा शृंगार

काव्य पढ़ें, जो सौन्दर्य के स्थूल अवयवों एवं मिलन के नग्न दृश्यों से शून्य हो तथा जिसमें कामुकता और अहं और स्वार्थ का सर्वथा विगलन हो गया हो, तो उसकी अनुभूति लगभग वैसी ही होगी, जो कबीर के काव्य से होती है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में, जबकि असामान्य में, अलौकिक लौकिक में, बीभत्स सौन्दर्य में, शोक आनन्द में परिणत हो सकता है, तो अलौकिक प्रेम का परिष्कृत शृंगार में परिवर्तित हो जाना भी स्वाभाविक है, अन्यथा रहस्यवादी साहित्य काव्य न कहलाकर धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जायगा। कहना न होगा कि इस दृष्टि से कबीर का काव्य बहुत कुछ सफल सिद्ध होता है।

कबीर-काव्य का शैली-पक्ष

यद्यपि कबीर ने प्रयत्नपूर्वक अपनी शैली को चमत्कारपूर्ण प्रायः नहीं बनाया है, किन्तु फिर भी अनुभूति के वेग के कारण उनकी शैली में स्वाभाविक रूप से ही प्रभावोत्पादन की क्षमता आ गई है। जहाँ उन्होंने अपने हृदय के प्रणय-रस से ओत-प्रोत काव्य लिखा है, उसका तो कहना ही क्या; संसार की क्षणभंगुरता, लोभ, सत्य और सदाचार के शुष्क विचारों का प्रतिपादन उन्होंने इस ढंग से किया है कि वह पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेता है। वे केवल मस्तिष्क को प्रभावित करनेवाला उपदेश नहीं देते, अपितु उसे एक ऐसा रूप प्रदान कर देते हैं, जो हमारे कल्पना-चक्षुओं का विषय बन सके। वे सीधी-सी बात को भी इस प्रकार कहते हैं कि वह प्रभावोत्पादक बन जाती है। जैसे, संसार की नश्वरता का प्रतिपादन देखिए—

झूंठे सुख को सुख कहैं, मानत है मन मोद।
जगत चवेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

यहाँ अन्तिम पंक्ति में व्यंजना का वैभव दृष्टिगोचर होता है। 'लोभ मत करो', इस शुष्क तथ्य को कबीर इस प्रकार वर्णित करते हैं—

माखी गुड़ में गड़ि रही पंख रही लपटाइ।
ताली पीटै सिर धुनै, मीठै बोइ माइ॥

यहाँ अभिधा में यह नहीं कहा गया कि लोभ बुरा है, अपितु इस सत्य की व्यंजना एक ऐसे दृश्य की आयोजना करके की गई है, जो अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावशाली है।

कबीर के काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। वे शुष्क तथ्यों को उपमानों में लपेटकर प्रस्तुत करते हैं, जिससे उनके आकर्षण में अपार वृद्धि हो जाती है। उन्होंने एक ही तथ्य की व्यंजना के लिए अनेक प्रभावोत्पादक उपमाओं का प्रयोग किया है; जैसे—

१. धन जोबन का गरबु न कीजै, कागद जिउ गलि जाहिगा।
२. पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जाति।
३. ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल।

इन सब पंक्तियों में संसार की नश्वरता का प्रतिपादन विभिन्न उपमानों के

माध्यम से किया गया है। उपमा के अतिरिक्त रूपक और अन्योक्ति का प्रयोग भी कबीर ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। देखिए--

रूपक— यह तन काचा कुंभ है, लिये फिरै था साथ।
टपका लागा फूटिया, कछु नहिं आया हाथ॥

अन्योक्ति— मैं भंवरा तोहि बरजिया, बन-बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से, तड़पि तड़पि जिय देय॥
माली आयत देखि के कलियाँ करैं पुकारि।
फूले फूले चुनि लिये कालिह हमारी बारि॥

यहाँ हमने कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में कबीर-काव्य में सभी अलंकारों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं। सभी अलंकारों का मिल जाना महत्व की बात नहीं है, अपितु महत्त्व की बात यह है कि सभी अलंकार स्वतः ही अत्यंत प्रभावोत्पादक रूप में आये हैं।

कबीर की भाषा-शैली में व्यंजना की प्रौढ़ शक्ति एवं काव्य-गुणों का अक्षय कोष विद्यमान है। यद्यपि उनके विभिन्न शिष्यों के प्रान्त-भेद के कारण उनकी वाणी के विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें भाषा की एकरूपता नहीं मिलती, किन्तु यह कबीर का दोष नहीं है। मूलतः उनकी भाषा में भावों को व्यक्त करने की असाधारण शक्ति है। काव्य-शास्त्र और व्याकरण का अभ्यास किए बिना ही उन्होंने भाषा पर अद्भुत अधिकार प्राप्त कर लिया था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उनकी भाषा के गुणों पर मुग्ध होकर लिखते हैं—'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।" आगे चलकर डॉ० द्विवेदी लिखते हैं—"फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।"

उपसंहार

वस्तुतः कबीर अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनके काव्य में भाव और विचार, तथ्य और कल्पना, भाषा और अलंकार का आश्चर्यजनक रूप में समन्वय हुआ है। उनके महत्व के सम्मुख हिन्दी के बहुत कम कवि ठहर सकते हैं। तुलसीदास महान् कहे जाते हैं, किन्तु उनके पास शिक्षा, ज्ञान और संस्कारों की ऐसी थाती थी, जिसके बल पर आगे बढ़ना अधिक कठिन नहीं था-- पर समाज की एक निम्नतम श्रेणी में जन्म लेकर अक्षर-ज्ञान से सर्वथा शून्य होते हुए भी कबीर भाव, विचार और साधना के जिस ऊँचे स्तर तक पहुँचे, वह अद्भुत है! कृष्ण के परम्परागत रूप को

लेकर नवीन भाव-लहरियों को संचारित कर देना 'सूरसागर' के रचयिता की महान् देन है, किन्तु कबीर की सी तेजस्विता उसमें कहाँ ? हिन्दी के शेष कवियों में तो और है ही कौन, जिसकी तुलना कबीर से की जा सके ? प्रेम-मार्ग के पथिक जायसी दूसरों को ही राम-कहानी सुनाने में लगे रहे, स्वानुभूतियों की वह मार्मिक व्यंजना, जो कबीर में मिलती है, उनमें नहीं मिलती। हाँ, आधुनिक युग के कवियों में प्रसाद अवश्य ऐसे हैं; जिनका स्मरण यहाँ किया जा सकता है। कबीर की तुलना प्रसाद से इसलिए भी उपयुक्त है कि दोनों अपने युग के सबसे बड़े रहस्यवादी कवि माने जाते हैं; किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। कबीर ने अपनी दिव्य अनुभूतियों को सांसारिक शब्दावली में व्यक्त किया था, जबकि प्रसाद ने लौकिक प्रेम को अलौकिकता का आवरण प्रदान किया। कबीर जिस महान् सत्ता के साक्षात्कार से इसी जीवन में तेजोमय हो चुके थे और जिसके प्रकाश के कारण उनके शब्दों में अपूर्व शक्ति आ गई थी, उसका प्रसाद कदाचित् आभास-मात्र ही प्राप्त कर सके।

सुकरात ने एक बार कहा था कि जब परमेश्वर को धरती के जीवों से वार्तालाप करना होता है, तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से बोलता है। वह अपना दिव्य संदेश कवि के दिव्य शब्दों में देता है। सुकरात का यह कथन विश्व के कुछ ही कवियों पर लागू होता है — इन कुछ कवियों में कबीर का स्थान सबसे ऊँचा है।

में नायिका (जो कि परमात्मा की प्रतीक है) के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य का इतने व्यापक रूप में चित्रण किया गया है कि जिसमे किसी 'अनन्त सौन्दर्य-सत्ता' के स्वरूप का आभास होने लगता है। (५) इनमें प्रेम और विरह का ऐसा वर्णन किया गया है कि जिसमें आध्यात्मिकता का दर्शन होने लगता है। अस्तु, जायसी की प्रेम-व्यंजना का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन युक्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा।

१. सूफी मत के प्रचार की युक्ति—यद्यपि हमारे विद्वानों ने इन कवियों की काव्य-रचना का उद्देश्य सूफी-मत का प्रचार बताया है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस परम्परा में अधिकांश कवि ऐसे आते हैं जिनका सूफी मत से कोई सम्बन्ध नहीं था। ईश्वरदास, पुष्कर, सूरदास 'लखनवी', मेघराज साहा, दुःखहरण दास, हेम रत्न-सूरि, नन्ददास, कासीराम, हरसेवक मिश्र आदि कवियों ने भी प्रेमाख्यान लिखे हैं, जो कि हिन्दू थे, अतः इनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की बात ही नहीं उठती। यदि मुसलमान कवियों का उद्देश्य धर्म-प्रचार होता, तो हिन्दी कवि इनका अनुकरण करना तो दूर रहा, इन रचनाओं का डटकर विरोध करते। इसके अतिरिक्त मुसलमान कवियों ने अपनी रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में घोषित किया है। जायसी ने लिखा है—मैंने यह सोचकर काव्य लिखा है कि संसार में मेरा कोई स्मारक चिह्न रह जाय। जो लोग इस कहानी को पढ़ेंगे, वे मुझे भी याद करेंगे—

ओ मै जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
+ + +
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल !

उसमान ने अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए ही चित्रावली की रचना की थी, इसलिए वे अन्य कवियों को चैलेंज देते हैं कि जिसमें उनसे अधिक बुद्धि हो, वे उनसे अच्छी कहानी लिखकर दिखावें—

जाको बुद्धि होइ अधिकाई,
आन कथा एक कहै बनाई॥

साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि मेरी कहानी को बच्चे सुनेंगे तो प्रसन्न होंगे, तरुण सुनेंगे तो उनके मन में काम बढ़ेगा, भोगी-विलास में वृद्धि होगी—

बालक सुनत कान रस लावा।
तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा॥
+ + +
भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा।

इसी प्रकार आलम और नूरमोहम्मद ने भी अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य कामी, रसिक और प्रेमी लोगों की तृप्ति करना बताया है। यूसुफ-जुलेखा के रचयिता निसार ने काव्य-रचना का उद्देश्य पुत्र के देहान्त-शोक को भुलाना, प्रेमियों के प्रेम

रूप का आभास होने लगता है। किन्तु यह युक्ति भी हमें उचित प्रतीत नहीं होती। जहाँ तक नायिकाओं के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, उन्हें हम दोषों—गर्व ईर्ष्या, द्वेष आदि से पूर्णतः समन्वित पाते हैं। यही नहीं, उनका प्रेम भी पूर्णतः कामुकता से ग्रसित है। जायसी की 'पद्मिनी' युवावस्था को प्राप्त होते ही शुक से कहती है—

सुन हीरामन कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई।
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

रत्नसेन ने सिंहलगढ़ में पहुँचने के अनन्तर भी पद्मावती को एक कामवासना एवं भोग-लिप्सा से विह्वल युवती के रूप में देखते हैं—

कंवल भँवर ओही बन पावै, को मिलाइ तन तपनि बुझावै।

× × ×

जोबन गरुअ-अपेल पहारू' सहि न जाइ जोबन कर भारू।
जोबन अस मैमन्त न कोइ, नवै हस्ति जो आंकुस होइ।
जोबन भर भादौं जस गंगा, लहरैं देई समाइ न अंगा।

यहाँ 'तन-तपनि', 'यौवन भार' एवं कामोन्माद का जैसा वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि पद्मिनी का प्रेम सर्वथा लौकिक स्तर का है, उसमें आध्यात्मिकता या अलौकिकता ढूंढ़ने का प्रयत्न अनावश्यक है।

जो विद्वान् इन काव्यों में नायिका के अतिशयोक्तिपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन में विराट् सत्ता के रूप का दर्शन करते हैं, वे यह न भूलें कि इन कवियों ने केवल नायिका के ही सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया है, वे अन्य नायकों के प्रसंग में भी अतिशयोक्त का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए 'पद्मावत में दिल्ली-सुलतान शेरशाह चित्तौड़ के योद्धा बादल की नववधू, सिंहल की वेश्याओं और मदमाती नव सुन्दरियों के रूप में चित्रित निर्जीव तोपों के सौन्दर्य में भी कवि ने वही चमत्कार दिखाया है, जो नायिका पद्मिनी के सौन्दर्य में मिलता है।

५. प्रेम और विरह का व्यापक वर्णन—जैसा कि पीछे कहा गया है, इन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रेम और विरह का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया है। संस्कृत-कवि बाण-भट्ट ने भी अपने प्रेमाख्यान—कादम्बरी—में विरह का इतना व्यापक चित्रण किया है कि उससे नायक की मृत्यु तक हो जाती है। अतः इस अत्युक्ति को ही अलौकिक समझ लेना अनुचित है।

उपर्युक्त युक्तियों पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन काव्यों में सूफी रहस्यवाद की अभिव्यंजना मानना एक भ्रम-मात्र है। यद्यपि हमारे कुछ विद्वानों तथा शोधकर्ताओं ने इन रचनाओं को सूफी रहस्यवाद से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। डॉ० विमलकुमार जैन एक ओर इन आख्यानों को 'सूफी' विशेषण से विभूषित करते हैं तथा दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं—"इसकी (पद्मावत) कथा में जो नख-

उनका नख-शिख-वर्णन एक पूरे सर्ग का रूप ले लेता है। दूसरे; वे अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों का इतना अधिक प्रयोग करते हैं कि उनके वर्णनों में अस्वाभाविकता आ जाती है। इसी अस्वाभाविकता से अलौकिकता का भी भ्रम हो जाता है। तीसरे, वे सौन्दर्य-वर्णन के लिए कथावस्तु के प्रवाह और प्रसंग के औचित्य का भी ध्यान नहीं रखते। चाहे राजकुमारी पद्मिनी हो, सिंहल द्वीप की वेश्याएँ हों या युद्ध में प्रयाण करते हुए बादल की नववधू हो—जहाँ भी उन्हें अवसर मिला, लम्बे-लम्बे वर्णन प्रस्तुत कर दिये। सुन्दरियों के रूप के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए भी वे द्रष्टा के आहत हो जाने, मूच्छित हो जाने या प्राण त्याग देने की कल्पना बारम्बार करते हैं। फिर भी सौन्दर्य की व्यंजना उनके काव्य में वर्णन के रूप में ही अधिक होती है, चित्रण के रूप में कम। एक एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं करता, उनकी अत्युक्तियाँ आश्चर्यजनक होते हुए भी पाठकों के हृदय को तरंगित करने में असमर्थ हैं और उनका विस्तृत वर्णन उबा देने वाला सिद्ध होता है। नारी की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं मधुर भाव-भंगिमाओं का चित्रण भी उनके काव्य में बहुत कम हुआ है।

उद्दीपन (प्रकृति) का वर्णन—शृंगारोद्दीपन के लिए भी जायसी ने ऋतु-वर्णन एवं बारहमासा-कथन की परम्परागत शैलियों का व्यवहार किया है, फिर भी उनकी कुछ निजी विशिष्टताएँ हैं। संयोग में समय शीघ्र बीत जाता है, किन्तु विरह के क्षण लम्बे होते हैं, अतः जायसी ने दोनों के लिए क्रमशः ऋतु-वर्णन और बारह-मासा वर्णन का आयोजन करके सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। यद्यपि-वर्णन-विस्तार एवं अत्युक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में भी कवि का साथ नहीं छोड़तीं; किन्तु फिर भी यहाँ अनुभूतियों के योग से चित्रण पर्याप्त मार्मिक बन गए हैं, चाहे वे वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहे हों या शरद् का, प्रत्येक अवस्था में वे बाह्य प्रकृति के साथ मानवता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानवी क्रिया-कलापों में परिपूर्ण, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक दृश्यों का अंकन करते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिए—

रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सुहावा॥
कोकिल बैन पाँत बग छुटी। धनि निसरि जेउँ बीरबहूटी॥
चमकै बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती पिय संग निसि जागे। गरजे चमकि चौंकि गर लागे॥
सीतल बुन्द ऊँच चौपारा। हरियर सब देखिअ संसारा॥

यहाँ कवि ने पहले पावस की स्थूल विशेषताओं—बाह्य दृश्यों एवं पक्षियों के परिवर्तन का वर्णन कर दिया है। उनके अनन्तर वह पाठक को संयोगियों की सुखानुभूति का आस्वादन कराने के लिए उस रंग-महल में ले जाता है, जहाँ कोई नव-वयस्का अपने प्रियतम के पार्श्व में लेटी हुई बारबार-विद्युत-गर्जना से चौंककर प्रियतम के गले से जुड़ जाती है। कहना न होगा कि युवती बाला की यह भय-

टाँदहि सोवहिं सब चेला, राजा जागै आपु अकेला।
जेहि के हिए प्रेम रंग जामा, का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥

फिर भी जायसी ने हृदयस्थ भावों की व्यंजना के लिए बाह्य अनुभावों का आश्रय बहुत कम लिया है। इसका कारण प्रेम के वियोग-पक्ष की प्रधानता है, क्योंकि स्थूल शारीरिक चेष्टाओं की आयोजना संयोग-पक्ष में ही अधिक उपयुक्त होती है। हाँ, कवि ने वाचिक अनुभावों (उक्तियों) द्वारा प्रणयावस्था का बोध कराने का प्रयत्न बार-बार किया है, जिसमें वे सफल हुए हैं। कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हौं पद्मावति कर भिखमंगा, दिस्टि न आव समुद और गंगा।

× × ×

राजे कहा, दरस जौ पावौं, परबत कहा गगन कहँ धावौं।
जेहि परबत पर दरसन लहना, सिर सों चढ़ौं पाव का कहना ॥

× × ×

जटा छोरि के बार बोहारौं, जेहि पंथ होहि सीस तहँ वारौं।

रत्नसेन की ये उक्तियाँ साहस, उत्साह और त्याग के अपूर्व भावों से मिश्रित हैं। इनमें उनके प्रेम की गम्भीरता का पता चलता है।

पद्मिनी की प्रेमानुभूतियाँ—पद्मिनी में हम प्रेमानुभूतियों का विकास क्रमिक रूप में पाते हैं। प्रारम्भ में वह काम-वेदना से पीड़ित है—

सुनु हीरामन कहौं बुझाई, दिन-दिन मदन सतावै आई।

× × ×

जोबन मोर भयउ जस गंगा, देह देह हम्ह लाग अनंगा ॥

आगे चलकर रत्नसेन के दर्शन के अनन्तर उसकी यह काम-वासना प्रेम में परिणत हो जाती है और जब वह सुनती है कि उसका प्रियतम उसी के लिए सूली पर चढ़ रहा है तो उसके हृदय का अणु-अणु पिघलकर मानवता के रूप में बहने लगता है। उसका सन्देश है—

जनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी,
नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी।

× × ×

जौ रे जियहिं मिलि गर रहहिं, मरहिं तो एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ ॥

उपर्युक्त शब्दों में हम प्रणय-भावना के उस उत्कृष्ट रूप का दर्शन करते हैं, जहाँ प्रेमाश्रयी अपने प्रिय हित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

संयोगानुभूतियाँ—जायसी ने नायक-नायिका की संयोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रथम समागम, हास-परिहास, शतरंज-चौपड़ के मनोरंजन, सुरत एवं सुरतान्त आदि का विस्तृत वर्णन किया है। विवाह के अनन्तर प्रथम रात्रि में प्रिय-

तम के पास जाती हुई पद्मावती की हृदय-दशा का दिग्दर्शन उनके इन शब्दों में मिलता है—

अनचिन्ह पिउ कांपे न माहां, का मैं कहब गहब जब बांहा।

जब रत्नसेन अपने प्रेमपूर्ण शब्दों से उसका भय और दूर कर देता है तो वह भी अपना कृत्रिम भोलापन प्रदर्शित करती हुई अपनी हास-परिहासमयी उक्तियों से छेड़-छाड़ करने लगती है—

अपने मुँह न बड़ाई छाजा, जोगी कतहुँ न होहि नहिं राजा।

× × ×

जोगी भँवर न थिर ये दोउ, केहि आपन भए कहै सो कोऊ॥

संयोग पक्ष के अन्य अंगों व क्रिया-कलापों के वर्णन में भी जायसी ने असंयम से काम लिया है। उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन अत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं अश्लील हो गए हैं।

स्थायी भाव का उत्कर्ष

पद्मावत में प्रेम-भावना के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें नायक और नायिका में प्रेम का विकास एक साथ नहीं होता। दोनों की प्रेमवृत्ति एवं गति में भी पर्याप्त भेद है। रत्नसेन प्रेम के आदर्श स्वरूप को उपस्थित करता है, जबकि पद्मावती ने यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप का शोभमात्र सिद्ध किया है। आदर्श प्रेम का कोई निर्दिष्ट कारण नहीं होता, सम्भवतः इसलिए कवि ने ऐसा दिखाया है। आदर्श प्रेम आरम्भ से अन्त तक एकरस रहता है तथा उसमें साहस और त्याग का पूर्ण समन्वय होता है, ये दोनों विशेषताएँ हम रत्नसेन के प्रेम में पाते हैं।

दूसरी ओर पद्मावती की प्रणय-भावना में हम क्रमिक विकास पाते हैं। परिस्थितियों के अनुसार उसका प्रेम, कामुकता और रसिकता की सीमा को पार करके अपने विशुद्ध एवं गम्भीर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है जो मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से बहुत संगत है। अपने विकास की चरमावस्था में आदर्श प्रेम और यथार्थ प्रेम दोनों एक स्तर पर पहुँच जाते हैं। पद्मावती की प्रणय-भावना अन्त में साहस, त्यागादि के सभी गुणों से समन्वित हो जाती है, जो रत्नसेन में हम प्रारम्भ से ही पाते हैं। अस्तु, कवि ने इसमें नायक और नायिका दोनों के प्रेम को चरमावस्था तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की है।

रत्नसेन और पद्मावती के प्रणय-सम्बन्ध के कारण नागमती का कष्ट-भोग और विवाह के अनन्तर दोनों सपत्नियों की ईर्ष्या, कलह आदि देखकर कदाचित् कुछ लोग उनके प्रेम को अश्रद्धा की दृष्टि से देखें, अतः इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। कवि ने आरम्भ में नागमती को रूप-गर्विता एवं तोते की हत्या में प्रयत्नशील दिखाकर पाठक की सहानुभूति के मार्ग में अवरोधक लगा दिया है। अतः उसके प्रति राजा का निष्ठुर व्यवहार उचित प्रतीत होता है। नागमती का दारुण

विरह अवश्य हृदयद्रावक है, किन्तु रत्नसेन उसका सन्देश प्राप्त होते ही लौट जाता है। सपत्नियों की प्रारम्भिक गृह-कलह भी स्वाभाविक है, जो आगे परिस्थितियों की कठिनता से शान्त हो जाती है। अतः नागमती सम्बन्धी प्रकरण रस-निष्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

वस्तुतः इस काव्य में प्रेम को आदर्श और यथार्थ—दोनों गुणों से समन्वित करते हुए उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचा दिया गया है। भारत की अन्य काव्य-परम्पराओं में यह दोष रहा है कि चाहे लोकापवाद के भय से शकुन्तला को ठुकरा देनेवाला दुष्यन्त हो, भावी आशंकाओं से दमयन्ती को त्याग देनेवाला नल हो; धोबी की उक्ति पर पत्नी को निर्वासित कर देनेवाला राम हो या मथुरा के राज्य-कार्य में व्यस्त होकर बाल-सहचरी राधा को भूल जानेवाला कृष्ण हो अधिकांश प्रेमियों ने जीवन की परिस्थितियों के आगे प्रेम का बलिदान कर दिया है। यह ठीक है कि लोक-धर्म की प्रेरणा से ही कुछ प्रेमियों को ऐसा करना पड़ा होगा, पर क्या अपनी प्रेयसियों का त्याग और निर्वासन करनेवाले प्रेमी दुष्यन्त या राम अपना राज्य-भार अपने छोटे भाइयों या किसी अन्य योग्य व्यक्ति को सौंपकर स्वयं भी अपनी प्राण-प्रियाओं का साथ नहीं दे सकते थे? यदि कृष्ण मथुरा या द्वारिका में सोलह हजार रानियों में गोकुल की एक राधा को स्थान दे देते तो उन्हें कौन रोक सकता था? लोक-धर्म और प्रेम में सच्चा प्रेमी किस मार्ग को अपनाता है, इसका उदाहरण आधुनिक युग में भी अष्टम एडवर्ड ब्रिटिश साम्राज्य को ठुकराकर दे चुके हैं। वस्तुतः जब से भारतीय समाज में नारी के व्यक्तिगत मूल्य का ह्रास हुआ है, पुरुष उसके लिए इतना बड़ा त्याग करना अनावश्यक समझता है। बिना साहस और त्याग के प्रेम पूर्ण गम्भीरता को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

वस्तुतः प्रेम का यह आदर्श भारतीय साहित्य में मुख्यतः इन प्रेमाख्यानों में पूर्ण शब्दों में व्यंजित करने की दृष्टि से जायसी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध होते हैं।

: छप्पन :

सूरदास की भक्ति-भावना

जब एक साहित्य का विद्यार्थी सूरदास की भक्ति-भावना की चर्चा करता है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सूरदास भक्त अधिक थे या कवि अधिक ? दूसरा प्रश्न जो इसी से सम्बन्धित है, यह है, कि किसी के कवित्व का भक्ति-पक्ष से क्या सम्बन्ध है ? कदाचित् इन्हीं प्रश्नों से जुड़ा हुआ एक तीसरा प्रश्न भी है—साहित्यिक दृष्टि से किसी के भक्त होने का क्या महत्व है या यों कहिए कि भक्ति-भावना का काव्य में क्या मूल्य है ? और सम्भवतः यह सारी चर्चा अधूरी रह जायगी, यदि इस बात का समाधान और न कर लिया जाय कि कोई भक्त-कवि काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है ?

जहाँ तक काव्य-रचना का सम्बन्ध है—कविता के क्षेत्र में—सूर भक्त की अपेक्षा कवि ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए तुलसी या कबीर के काव्य से सूर के काव्य का अन्तर देखा जा सकता है। तुलसी को प्रत्येक समय इस बात का ध्यान रहता है कि वे अपने आराध्य-देव का गुण-गान कर रहे हैं, अतः प्रत्येक स्थिति में वे उनके महत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने की चिन्ता में रत रहते हैं। कहीं जब राम कोई ऐसा कार्य कर बैठते हैं, जो सम्भवतः बहुत उच्च कोटि का नहीं हो - या जिससे जन-साधारण की उनके प्रति श्रद्धा-भावना मे कुछ बाधा उपस्थित होने की सम्भावना हो, वहाँ तुलसी सफाई देने का प्रयत्न करते है, किन्तु सूर में ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार तुलसी उन प्रसंगों की भी उपेक्षा कर देते हैं जो भक्ति के प्रतिकूल पड़ते हैं, यथा, राम सीता विवाह के अनन्तर उनके प्रथम मिलन की चर्चा से बचने के लिए तुलसी नववधू को सास के साथ सुला देते हैं। पता नहीं, अयोध्या में नववधू को सास के साथ ही सुलाने का प्रचलन है, या वह तुलसी की कल्पना-शक्ति का आविष्कार है, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कभी-न-कभी तो राम सीता के जीवन में यह प्रसंग आया ही होगा, किन्तु तुलसी की सारी राम कथा में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। जनक-वाटिका में उन्होंने राम-सीता के प्रथम दर्शन-जन्य प्रेम (**Love at first sight**) का निरूपण किया, किन्तु फिर भी उन्होंने उसका समाधान यह कहकर दिया है कि पूर्व जन्म के सम्बन्ध के कारण ही ऐसा हुआ। इसके विपरीत सूरदास निःसंकोच राधा-कृष्ण के प्रेम का विकास दिखाते

हैं, यद्यपि यह सामाजिक आदर्शों या नैतिकता की दृष्टि से राम-सीता के प्रणय की अपेक्षा बहुत हीन कोटि का था । कुछ विद्वान इस अन्तर का कारण दोनों के भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को बताते हैं । उनके विचार से एक की भक्ति वैधी थी, दूसरे की रागानुगा । परन्तु रागानुगा भक्ति भी अन्ततः भक्ति (श्रद्धा+प्रेम) ही होती है, उसका यह तो तात्पर्य नहीं है कि अपने आराध्य को अनैतिकता या उच्छृङ्खलता से ग्रस्त बना दिया जाय । फिर राधा-कृष्ण की लीला के कुछ आध्यात्मिक अर्थ भी प्रचलित थे, जिनके आधार पर सूर अपने आराध्य के चरित्र के महत्व को बनाए रख सकते थे किन्तु—उन्होंने ऐसा नहीं किया । वस्तुतः जहाँ तुलसी ने भक्ति-भाव के लिए काव्यगत स्वाभाविकता का हनन स्थान-स्थान पर किया है, वहाँ सूरदास ने सहज भावाभिव्यक्ति के लिए भक्ति की सीमाओं का भी उल्लंघन निःसंकोच कर दिया ।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से किसी कवि का महत्व इस बात में नहीं है कि वह कितना भक्त था या है, अपितु इस बात में है कि वह अपनी अभिव्यक्ति को कितनी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत कर सका है । हो सकता है, भक्त के रूप में महात्मा गांधी मैथिलीशरण गुप्त से अधिक महान् हों—किन्तु साहित्य में तो गुप्तजी का ही स्थान ऊँचा माना जाएगा । साहित्य में दूसरी भावनाओं की भाँति ही भक्ति भी एक भावना है, अतः चाहे भक्ति हो या रति— हम तो उससे एक ही आशा रखते हैं कि वह अनुभूति की तरलता से इस प्रकार युक्त हो कि उससे पाठक का हृदय रससिक्त हो सके । किसी कवि-हृदय से वंचित भक्त की शुष्क उक्तियों की अपेक्षा काव्य में किसी सहृदय कवि की मार्मिक पंक्तियों का अधिक महत्व है, वे चाहे रति भाव से ही समन्वित क्यों न हों ।

कोई भक्त काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं । एक तो यह कि कोई भी व्यक्ति कोरा भक्त होने के नाते ही काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु साथ में वह कवि भी होता है; अतः उसके हृदय का कवि उसके मन के भक्त को व्यक्त कर देता है । जिस प्रकार प्रत्येक भक्त कवि नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक कवि भी भक्त नहीं होता । कवि क्या लिखता है ? जो उसके हृदय में है, अतः भक्त अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उसी प्रकार काव्य-रचना में प्रवृत्त हो जाता है, जिस प्रकार अन्य कवि होते हैं; किन्तु यह बात सभी भक्त-कवियों पर लागू नहीं होती । कुछ भक्त-कवि ऐसे भी हैं, जिनका उद्देश्य ही निज पंथ का प्रचार करना होता है, किन्तु उन्हें काव्य-रचना में सफलता तभी मिलती है, जब कि उनमें कवित्व की भी क्षमता हो । सूरदास इन दोनों से ही भिन्न थे । यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सूर का अधिकांश काव्य पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा के अनन्तर लिखा गया । इस दीक्षा से पूर्व लिखे गए काव्य में और परवर्ती काव्य में विषय-वस्तु एवं भाव-क्षेत्र की दृष्टि से गहरा अन्तर है । अतः यह मानना ही होगा कि उन्हें मूल प्रेरणा पुष्टि-सम्प्रदाय से मिली, किन्तु उनका लक्ष्य सम्प्रदाय का प्रचार

करना कभी नहीं बना, अब तक उनका कवित्व कोई विषय ढूंढ़ रहा था, पुष्टि-सम्प्रदाय ने उन्हें विषय प्रदान कर दिया। जिस प्रकार एक शिल्पी में भव्य महल के निर्माण की क्षमता तो होती है, किन्तु ईंट-पत्थर और चूने-गारे के अभाव में वह ऐसा नहीं कर पाता, वह सामग्री उपलब्ध होने पर वह एक सुन्दर भवन खड़ा कर देता है; ठीक वैसे ही सूरदास को वल्लभाचार्य से 'कृष्ण-लीला' की सामग्री प्राप्त हुई जिसके बल पर उन्होंने भावनाओं का सागर लहरा दिया। शिल्पी भी दो प्रकार के होते हैं—एक जो भवन बनानेवाले मालिक का ध्यान रखते हुए काम में लगे रहते हैं, किन्तु दूसरे अपनी कला में ही इतने मग्न होते हैं कि उन्हें इस बात का ध्यान भी नहीं रहता कि वे किसके लिए क्यों और कितने वेतन पर भवन-निर्माण कर रहे हैं? सूरदास दूसरी कोटि के काव्य-शिल्पी थे। वे मत, सम्प्रदाय, एवं दर्शन-शास्त्र आदि को काव्य क्षेत्र में भुला बैठे, यहाँ तक कि गुरु की प्रशंसा का एक पद भी उन्होंने अपने साथियों के स्मरण कराने पर ही लिखा।

भक्ति के भेदोपभेद और सूरदास

हमारे मध्यकालीन विद्वानों एवं आचार्यों ने भक्ति के मुख्यतः दो भेद किए हैं - (१) रागानुगा और (२) वैधी। रागानुगा में प्रेम-भाव की प्रधानता मानी गई है; जबकि वैधी में कर्म-काण्ड की। रागानुगा के भी पाँच भेद माने गए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन भेदों के अनुसार कोई भी भक्त अपने आपको भगवान् का दास मानता है; कोई उसे अपना पुत्र मानता है और कोई उसे 'सखा' या 'प्रेयसी' अथवा पति मानकर उपासना करता है; अतः प्रश्न यह है कि सूरदास की भक्ति-भावना को किस भेद के अंतर्गत रखें। उनके काव्य में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य आदि सभी भावों की अभिव्यक्ति हुई है, अतः इस आधार पर क्या उन्हें सभी भेदों के अन्तर्गत रखा जाय?

इस समस्या का समाधान हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में भक्ति और शृंगार के सम्बन्ध पर विचार करते हुए कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि उपर्युक्त भेदोपभेद अप्राकृतिक, अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक हैं। भक्ति के लिए सभी विद्वानों ने श्रद्धा और प्रेम का सम्मिश्रण आवश्यक माना है, इसमें से किसी एक तत्व के भी अभाव में 'भक्ति' का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। सख्य वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में श्रद्धा तत्व का अभाव रहता है, तथा दास्य और शान्त में प्रेम तत्व का, अतः ये सभी भक्ति के मूल स्वरूप को तिरोहित कर देते हैं। 'वात्सल्य' भाव का तो अर्थ और असंगत रूप में किया गया है। जिस प्रकार दास्य भाव का अर्थ अपने आपको भगवान् का दास मानना है, उसी प्रकार 'वात्सल्य' का अर्थ अपने आपको ईश्वर का शिशु मानना होना चाहिए, किन्तु हमारे यहाँ इस क्रम को उलट दिया गया है। क्या एक ही आलम्बन के प्रति वात्सल्य भाव (शिशुवत स्नेह) और श्रद्धा भाव दोनों समान रूप से स्थित रहना मनोविज्ञान की दृष्टि से संभव है? क्या जिसे हम अपना

करना कभी नही बना, अब तक उनका कवित्व कोई विषय ढूंढ रहा था, पुष्टि-सम्प्रदाय ने उन्हे विषय प्रदान कर दिया। जिस प्रकार एक शिल्पी में भव्य महल के निर्माण की क्षमता तो होती है, किन्तु ईंट-पत्थर और चूने-गारे के अभाव में वह ऐसा नही कर पाता, यह सामग्री उपलब्ध होने पर वह एक सुन्दर भवन खड़ा कर देता है; ठीक वैसे ही सूरदास को वल्लभाचार्य से 'कृष्ण-लीला' की सामग्री प्राप्त हुई जिसके बल पर उन्होने भावनाओं का सागर लहरा दिया। शिल्पी भी दो प्रकार के होते है—एक जो भवन बनानेवाले मालिक का ध्यान रखते हुए काम में लगे रहते हैं, किन्तु दूसरे अपनी कला में ही इतने मग्न होते है कि उन्हे इस बात का ध्यान भी नही रहता कि वे किसके लिए क्यों और कितने वेतन पर भवन-निर्माण कर रहे है? सूरदास दूसरी कोटि के काव्य-शिल्पी थे। वे मत, सम्प्रदाय, एवं दर्शन-शास्त्र आदि को काव्य क्षेत्र में भुला बैठे, यहाँ तक कि गुरु की प्रशंसा का एक पद भी उन्होने अपने साथियों के स्मरण कराने पर ही लिखा।

भक्ति के भेदोपभेद और सूरदास

हमारे मध्यकालीन विद्वानों एवं आचार्यों ने भक्ति के मुख्यतः दो भेद किए है - (१) रागानुगा और (२) वैधी। रागानुगा में प्रेम-भाव की प्रधानता मानी गई है; जबकि वैधी में कर्म-काण्ड की। रागानुगा के भी पाँच भेद माने गए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन भेदों के अनुसार कोई भी भक्त अपने आपको भगवान् का दास मानता है; कोई उसे अपना पुत्र मानता है और कोई उसे 'सखा' या 'प्रेयसी' अथवा पति मानकर उपासना करता है; अतः प्रश्न यह है कि सूरदास की भक्ति-भावना को किस भेद के अंतर्गत रखे। उनके काव्य में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य आदि सभी भावों की अभिव्यक्ति हुई है, अतः इस आधार पर क्या उन्हें सभी भेदों के अन्तर्गत रखा जाय?

इस समस्या का समाधान हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में भक्ति और शृंगार के सम्बन्ध पर विचार करते हुए कर चुके है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि उपर्युक्त भेदोपभेद अप्राकृतिक, अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक है। भक्ति के लिए सभी विद्वानों ने श्रद्धा और प्रेम का सम्मिश्रण आवश्यक माना है, इसमें से किसी एक तत्व के भी अभाव में 'भक्ति' का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। सख्य वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में श्रद्धा तत्व का अभाव रहता है, तथा दास्य और शान्त में प्रेम तत्व का, अतः ये सभी भक्ति के मूल स्वरूप को तिरोहित कर देते है। 'वात्सल्य' भाव का तो अर्थ और असंगत रूप में किया गया है। जिस प्रकार दास्य भाव का अर्थ अपने आपको भगवान् का दास मानना है, उसी प्रकार 'वात्सल्य' का अर्थ अपने आपको ईश्वर का शिशु मानना होना चाहिए, किन्तु हमारे यहाँ इस क्रम को उलट दिया गया है। क्या एक ही आलम्बन के प्रति वात्सल्य भाव (शिशुवत स्नेह) और श्रद्धा भाव दोनों समान रूप से स्थित रहना मनोविज्ञान की दृष्टि से संभव है? क्या जिसे हम अपना

कुछ आक्षेप

सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति की तुलना करते हुए प्रायः कहा जाता है कि सूर ने तुलसी की भांति अपनी भक्ति में रूप, शील और गुण तीनों का उचित समन्वय नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आक्षेप ठीक भी है, किन्तु इसका कारण सूरदास के भक्ति-भाव की न्यूनता नहीं, अपितु कृष्ण के परम्परागत रूप का प्रभाव है। हाँ; यदि सूरदास चाहते तो अपने आराध्य के रूप का संस्कार कर सकते थे, किन्तु सच्चा भक्त ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। भक्त के लिए आराध्य के दोष भी गुण बन जाते हैं; अतः दोषों के परिष्कार का वह प्रयत्न नहीं करता। जो व्यक्ति अपने आराध्य के दोषों को सहन नहीं कर सकता, समझना चाहिए, वह उसका भक्त नहीं, अपितु कोरा श्रद्धालु है। जवाहरलाल नेहरू के श्रद्धालु तो असंख्य हैं; किन्तु उनके सच्चे भक्त वे हैं, जो उनकी क्रोधपूर्ण मुद्रा को भी प्यार करते हैं। गांधीजी अर्द्धनग्नावस्था में घूमते-फिरते थे; जो किसी विदेशी की दृष्टि में असभ्यता का चिह्न था, किन्तु अपने देश के भक्तों की दृष्टि में वह भी उनकी महानता का प्रतीक माना जाता था। अस्तु, कृष्ण-चरित्र के दोषों का परिष्कार न करना सूरदास की अतिशय भक्ति को सूचित करता है।

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते हैं कि सूरदास की भक्ति-भावना का स्रोत काव्य-धारा के प्रवाह में इस प्रकार घुल-मिल गया कि उसे अलग करके देखना संभव नहीं। उसमें अलौकिकता और लौकिकता, रागात्मकता और बौद्धिकता, वात्सल्य और माधुर्य सब मिलाकर एकाकार हो गए हैं। राधा-जैसी विरह-विधुरा बाला और कृष्ण जैसे चंचल-किशोर युवक के निर्माण में भक्ति की प्रेरणा अधिक है या कवित्व की, इसका अंतिम उत्तर दे देना कम-से-कम हमारे तो वश की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों की मान्यताओं व आलोचकों के निष्कर्ष पर भी पूरा विश्वास नहीं होता।

ऐसी स्थिति में केवल एक ही बात सूझती है कि हम भी कवीन्द्र रवीन्द्र के स्वर में स्वर मिलाकर उस महान् कवि की अनुपम सृष्टि का रहस्य स्वयं उसी से पूछें—

"सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि !
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि !
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान !
विरह तापित ? हेरी काहार नयान !
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ?"

अर्थात् "हे वैष्णव कवि ! सच बताओ, तुमने यह प्रेम छवि कहाँ से प्राप्त की ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ से सीखा ? किसकी आखें देखकर तुम्हें राधिका की आँसू भरी आँखें याद आ गईं ?"

दो समान रेखाओं में से एक को बड़ी सिद्ध करने का एक तरीका तो यह है कि दूसरी को थोड़ी छोटी कर दीजिए और दूसरा तरीका है प्रथम को बड़ी बना दीजिए। सूरदास ने अपने से प्रभु को बड़ा सिद्ध करने के लिए पुष्टि मार्ग में पूर्व पहला तरीका अपनाया तथा उसके अनन्तर दूसरा। किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही था।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब सूरदास राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण कर रहे हों तो उसे शृंगार रस में लें या भक्ति भाव में ? वह भक्ति की व्यंजना है या रति को ? इसके उत्तर में हम एक छोटा-सा उदाहरण देते हैं। किसी घर का एक पुराना स्वामिभक्त नौकर अपने युवा मालिक के विवाह के अवसर पर मकान की सजावट व अन्य काम-धंधों में उत्साह एवं उल्लासपूर्वक लगा हुआ है, अब इसे क्या कहेंगे ? क्या विवाह की तैयारी को नौकर की रति-भावना से सम्बन्धित मानें या उसकी भक्ति-भावना से ? हमारी दृष्टि में दूसरा उत्तर ही अधिक समीचीन है। ठीक ऐसे ही सूरदास अपने आराध्य के जीवन के सभी अवसरों का चित्रण तल्लीनतापूर्वक करते हैं। अतः जहाँ तक कवि का सम्बन्ध है, 'सूर-सागर' कवि की भक्ति भावना की ही अभिव्यक्ति है, यद्यपि पाठक के दृष्टिकोण से उसमें विभिन्न भावों की सामग्री मिलती है।

सूरदास की भक्ति-भावना का उनके साहित्य पर प्रभाव

जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया है, सूरदास के काव्य का प्रेरक-भाव भक्ति ही है; अतः इसमें कृष्ण के जीवन का चित्रण निःसंकोच रूप से हुआ है। यदि सूरदास किसी साधारण व्यक्ति के चरित्र का वर्णन करते, तो संभव है कि उन अश्लील प्रसंगों को छोड़ जाते, जिनकी चर्चा उन्होंने सूर-सागर में की है, किन्तु अलौकिक प्रभु की सभी लौकिक क्रीड़ाओं को उन्होंने पूज्य दृष्टि से देखते हुए चित्रित किया है। यहाँ तक कि रति, विपरीत रति तक का सश्लिष्ट चित्रण भी 'सूर-सागर' में मिलता है। इस अश्लीलता को उत्तेजित करने वाले कुछ तत्व भी श्रीनाथजी के मंदिर में विद्यमान थे; जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी।

कृष्ण के बाल-वर्णन में कई अस्वाभाविक एवं अलौकिक प्रसंगों का भी वर्णन हुआ है, जो उनकी भक्ति-भावना के ही परिणाम हैं; फिर भी यही अलौकिकता तुलसी के राम की अपेक्षा बहुत कम स्थानों पर है। प्रायः सभी भक्तों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है। अतः गोपियों के द्वारा भ्रमर गीत में सूरदास ने भी ऐसा किया है। किन्तु सूरदास ने यहाँ दर्शन की तार्किकता की अपेक्षा भावना की स्वाभाविकता का ही अधिक प्रयोग किया है।

अस्तु, सब कुछ मिलाकर कह सकते हैं कि सूर-काव्य पर उनके भक्ति भाव का प्रभाव है तो सही; किन्तु बहुत कम है; उन्हें काव्य में प्रवृत्त करनेवाली भक्ति है, किन्तु प्रवृत्त हो जाने के अनन्तर वे भक्ति को कभी-कभी ही याद करते हैं; काव्यत्व उनका साधन से साध्य बन जाता है।

कुछ आक्षेप

सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति की तुलना करते हुए प्राय: कहा जाता है कि सूर ने तुलसी की भांति अपनी भक्ति में रूप, शील और गुण तीनों का उचित समन्वय नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आक्षेप ठीक भी है, किन्तु इसका कारण सूरदास के भक्ति-भाव की न्यूनता नहीं, अपितु कृष्ण के परम्परागत रूप का प्रभाव है। हां; यदि सूरदास चाहते तो अपने आराध्य के रूप का संस्कार कर सकते थे, किन्तु सच्चा भक्त ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। भक्त के लिए आराध्य के दोष भी गुण बन जाते है; अत: दोषों के परिष्कार का वह प्रयत्न नहीं करता। जो व्यक्ति अपने आराध्य के दोषों को सहन नहीं कर सकता, समझना चाहिए, वह उसका भक्त नहीं, अपितु कोरा श्रद्धालु है। जवाहरलाल नेहरू के श्रद्धालु तो असंख्य हैं; किन्तु उनके सच्चे भक्त वे हैं, जो उनकी क्रोधपूर्ण मुद्रा को भी प्यार करते हैं। गाँधीजी अर्द्धनग्नावस्था में घूमते-फिरते थे; जो किसी विदेशी की दृष्टि में असभ्यता का चिह्न था, किन्तु अपने देश के भक्तों की दृष्टि में वह भी उनकी महानता का प्रतीक माना जाता था। अस्तु, कृष्ण-चरित्र के दोषों का परिष्कार न करना सूरदास की अतिशय भक्ति को सूचित करता है।

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते है कि सूरदास की भक्ति-भावना का स्रोत काव्य-धारा के प्रवाह में इस प्रकार घुल-मिल गया कि उसे अलग करके देखना संभव नहीं। उसमें अलौकिकता और लौकिकता, रागात्मकता और बौद्धिकता, वात्सल्य और माधुर्य सब मिलाकर एकाकार हो गए हैं। राधा-जैसी विरह-विधुरा बाला और कृष्ण जैसे चंचल-किशोर युवक के निर्माण में भक्ति की प्रेरणा अधिक है या कवित्व की, इसका अंतिम उत्तर दे देना कम-से-कम हमारे तो वश की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों की मान्यताओं व आलोचकों के निष्कर्ष पर भी पूरा विश्वास नहीं होता।

ऐसी स्थिति में केवल एक ही बात सूझती है कि हम भी कवीन्द्र रवीन्द्र के स्वर में स्वर मिलाकर उस महान् कवि की अनुपम सृष्टि का रहस्य स्वयं उसी से पूछें—

"सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि !
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि !
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान !
विरह तापित ? हेरी काहार नयान !
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ?"

अर्थात् "हे वैष्णव कवि ! सच बताओ, तुमने यह प्रेम छवि कहां से प्राप्त की ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ से सीखा ? किसकी आखें देखकर तुम्हें राधिका की आंसू भरी आँखें याद आ गईं ?"

को ग्रहण कर लेती हैं और जब उसमें भाव, बुद्धि और कल्पना से समन्वित अर्थ सुम्फित हो जाता है तो वही रचना सरस काव्य में परिवर्तित हो जाती है।

कलाओं का मूल समन्वय में है, अतः कलाकार की दृष्टि में भी समन्वयात्मकता का गुण होना आवश्यक है। जिस कलाकार या साहित्यकार में समन्वय की शक्ति जितनी अधिक होगी, वह उतना ही अधिक अपनी रचना को गौरव प्रदान करने में सफल सिद्ध होगा। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर अब तक के सभी महान् कवियों एवं साहित्यकारों में समन्वय की परिणति किसी न किसी रूप में अवश्य दृष्टिगोचर होगी। उनके समन्वय के क्षेत्र एवं उसकी प्रक्रिया में भेद हो सकता है किन्तु उनका लक्ष्य प्रायः समन्वय की साधना ही रहा है। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार जीवन, समाज और समाज के कुछ तत्त्व अनुचित रूप से प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं और कुछ सर्वथा उपेक्षित होने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप विशृंखलता का आविर्भाव हो जाता है। एक सफल चिकित्सक, समाज-सुधारक, राजनीतिक नेता, धर्मोपदेशक एवं साहित्यकार अपने-अपने क्षेत्र में और अपने-अपने ढंग से इस विशृङ्खलता का उपचार करके पुनः सामंजस्य स्थापना का प्रयत्न करता है; किन्तु ध्यान रहे, सभी सामंजस्यवादी सदैव किसी एक ही तत्त्व या किसी एक विचारधारा के समर्थक या पोषक नहीं रहते, युग की मांग के अनुसार वे कभी एक का और कभी दूसरे का समर्थन करते रहते हैं। यही कारण है कि हम एक युग के समन्वयवादी को जिस तत्त्व या विचार का समर्थक पाते हैं, दूसरे युग में उसी का खंडन दूसरे समन्वयवादी को करते देखते हैं। कबीर ने अति भावुकता का खंडन बौद्धिकता की स्थापना के लिए किया था, तो तुलसी ने ज्ञान-मार्गियों की बढ़ी हुई तार्किकता के निराकरण के लिए भावना का समर्थन किया। त्रेतायुग के नेता राम ने जहाँ कर्म के आगे भावना की उपेक्षा की थी, वहाँ, द्वापर के श्रीकृष्ण ने भावना की पवित्रता को कर्म की अपवित्रता से निर्लिप्त घोषित किया। गौतम बुद्ध एवं महात्मा गांधी दोनों के अहिंसक होते हुए भी एक ने भावना-प्रधान युग के लिए नास्तिकवाद का प्रवर्त्तन किया, जबकि दूसरे ने बौद्धिक युग की आवश्यकतानुसार आस्तिकतावादी दृष्टिकोण को अपनाया।

तुलसीदास ने जिस युग में जन्म धारण किया, वह अनेक विशृङ्खलताओं का युग था। राजनीतिक दृष्टि से विदेशी जाति ने भारतीय जनता को पूर्णतः अपने शासन के पंजे में जकड़ लिया था; धर्म की दृष्टि से परम्परागत हिन्दू-धर्म इस्लाम के झंडे के आगे नत-मस्तक-सा हो रहा था; समाज के आदर्श मुल्ला-मौलवियों एवं पण्डितों की परस्पर विरोधी उक्तियों के कारण लुप्तप्राय होते जा रहे थे; पारिवारिक सम्बन्ध एवं दाम्पत्य जीवन की मधुरता भी नैतिकता एवं त्याग के अभाव में दिन-प्रति-दिन-क्षीण एवं शुष्क होती जा रही थी। साहित्य के क्षेत्र में कबीर जैसा प्रतिभाशाली तो कभी-कभी ही अवतरित होता था, किन्तु उनके अनुकरण में कोई भी अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित दो-चार पंक्तियाँ जोड़कर अपने आपको कवि घोषित कर देता था। नई संस्कृति के वैभव ने हमारे प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों को निस्तेज तो

कर दिया, किन्तु वह हमारे हृदय की गहराई में प्रविष्ट नहीं हो सकी। जीवन की यह कितनी बड़ी विडम्बना थी कि हम अपने हृदय के राजा को भूल कर किसी बादशाह के गौरव की बात करते थे, जिन मूर्तियों को श्रद्धा से सिर झुकाते थे, उन्हीं को सन्त-फकीरों के मुँह से 'घर की चक्की' से भी घटिया सुनते थे; जिन्हें 'म्लेच्छ' समझकर छूना भी पाप समझते थे उन्हीं के शाह-शहजादों को कन्याओं का विवाह होते देखते थे और जिस देववाणी के बड़े पंडितों को विद्वान समझते थे, उनके स्थान पर फारसी के ज्ञाताओं को सम्मानित होते देखते थे। अस्तु, राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं, हम सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से भी इतने गिरे हुए असमर्थ हो गए थे कि किसी कट्टर मुस्लिम शासक के एक और प्रबल आघात से हिन्दू जाति धर्म एवं हिन्दू संस्कृति सदैव के लिए इस्लाम में विलीन हो जाती। किन्तु हम देखते हैं कि लगभग एक-डेढ़ शताब्दी पश्चात् ही हिन्दू जाति इतनी सशक्त हो गई थी कि उसने 'चक्रवर्ती सम्राट्' औरंगजेब के दाँत खट्टे कर दिये। कहीं सिक्खों के रूप में, कहीं जाटों के रूप में, कहीं राजपूतों के रूप में और कहीं मराठों के रूप में हिन्दू जाति की शक्ति का विस्फोट होने लगा। इस अल्प काल में यह शक्ति कहाँ से आ गई? क्या इस युग में हिन्दुओं को कोई ऐसी कुनैन या औषधि प्राप्त हुई थी, जिससे उनमें नई शक्ति और नए साहस का संचार हुआ? हाँ, अवश्य ही ऐसा हुआ—अपने धर्म के प्रति श्रद्धा, अपनी संस्कृति के प्रति आस्था और अपने आदर्शों के प्रति विश्वास ने ही हमें वह शक्ति प्रदान की, जिसके बल पर न केवल हमारा अस्तित्व बना रहा, अपितु प्रबल विरोधी शक्ति का भी सामना हम कर सके।

'अपने आदर्शों के प्रति आस्था रखो, अपना आत्म-विश्वास मत खोओ' यह कहना आसान है, किन्तु किसी हारी हुई जाति और पराधीन देश के प्राणों में इस मंत्र को फूंकना बहुत कठिन है, दुष्कर है। किन्तु सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू जाति को कुछ ऐसे लोक-नायक, लोक-नेता प्राप्त हुए, जिन्होंने यह कार्य ऐसी साधना से सम्पादित कर दिया कि स्वदेशी एवं विदेशी शक्तियों को वर्षों बाद पता चला कि कहीं कुछ हो गया है। इन लोक-नायक महापुरुषों और महात्माओं में तुलसी भी एक थे।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आदर्शों की स्थापना के लिए, तुलसी को विभिन्न विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित करना पड़ा। इसके लिए उन्होंने एक ओर प्राचीन को अपनाया और दूसरी ओर उन्हें उसका संस्कार नये ढंग से करना पड़ा। राम-चरित—राम का आदर्श—प्राचीन का प्रतीक है तो उसे जिस वैभव से अभिभूषित किया गया, वह नवीनता की देन है। तुलसी ने एक सुदृढ़ आधार ग्रहण किया, जो जीवन के विविध क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित कर सकने की सामग्री प्रदान कर सके। भारतीय संस्कृति के समस्त इतिहास में पुरुषोत्तम राम का चरित ही ऐसा है, जिसे इस देश के सभी प्रमुख धर्मों एवं आचार्यों ने सहर्ष ग्रहण किया है। इसके प्रति प्राचीन हिन्दू धर्म की आस्था तो चिरकाल से ही रही है, बौद्धों, जैनियों, योगियों,

वैष्णवों और सन्तों की भी श्रद्धा किसी-न-किसी मात्रा में सदा रही है। यही कारण है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी; बँगला, मराठी, कन्नड़ आदि प्रमुख भाषाओं में राम के आदर्श चरित का आख्यान श्रद्धा-पूर्वक हुआ है। कहा जा सकता है कि यदि इस समन्वयवाद का श्रेय राम के चरित को है तो तुलसी की क्या विशेषता रही ? किन्तु ऐसी बात नहीं है। वन में शताधिक जड़ी-बूटियों के विद्यमान रहते हुए भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते, किन्तु एक चतुर वैद्य उनके रहस्य को जान-कर उन्हीं जड़ी-बूटियों से सहस्रों रोगियों का उपचार कर देता है। क्या उस चिकित्सक का महत्त्व इसीलिए गौण हो जायगा कि उसने अपनी शक्ति के बल पर नहीं, अपितु ओषधियों के बल पर उपचार किया ? चिकित्सक की सफलता इसी में है कि उसने सही वक्त पर, रोगी को सही ओषधि दी ! राम का चरित्र सबके लिए खुला था, किन्तु एक तुलसी का ही ध्यान उधर आकृष्ट क्यों हुआ, वे ही उसका रहस्य क्यों समझ सके, अन्य क्यों नहीं ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में तुलसी की महानता छिपी हुई है। साथ में यह भी ध्यान रहे कि उसने रामचरित के पौधे को ज्यों का त्यों काम में नहीं ले लिया; अपितु उसे अनेक द्रव्यों से समन्वित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया, जो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों के लिए 'राम-बाण' बन गया।

सबसे पूर्व हम उनके काव्य-प्रयोजन या काव्य-रचना के उद्देश्य को ही लेते हैं। उस समय दो प्रकार के कवि थे—एक तो वे जो अपने आश्रयदाताओं की ही प्रसन्नता के लिए काव्य रचना करते थे, दूसरे वे जो स्वान्तःसुखाय काव्य रचना करते थे। प्रथम वर्ग के कवियों की रचना में वैयक्तिकता का सर्वथा लोप होता था, तो दूसरे वर्ग की रचना में सामाजिकता का। अन्य युगों और अन्य देशों में भी ऐसी स्थिति रही है, जब कला, या तो कोरी वैयक्तिकता से ग्रसित हो गई है, या कोरी सामाजिकता के कारण शुष्क-सी हो गई है। 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए ?' ये दो विरोधी वाद पाश्चात्य साहित्य में दीर्घकाल तक प्रचलित रहे हैं। इस दृष्टि से तुलसी का काव्य दोनों के बीच उचित समन्वय स्थापित करता है। वे 'स्वान्तः सुखाय' काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु फिर भी वे वैयक्तिकता से ग्रसित नहीं होते। वे 'प्राकृत-जन' का गुण-गान करना हेय समझते हैं, किन्तु फिर भी उनकी रचना जनता की प्राकृत वृत्तियों का परिष्कार करने में समर्थ है।

काव्य की विषय-वस्तु में भी उनका यही समन्वयवादी दृष्टिकोण है। प्रायः साहित्य में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक जीवन की किसी एक समस्या को लेकर काव्य का स्थूल आधार तैयार किया जाता है—किन्तु तुलसी के मानस में इन सभी विषयों का समन्वय इस प्रकार हुआ है कि हम उन्हें एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं कर सकते। राजनीतिक दृष्टि से एक ओर उन्होंने अपने युग की विषम परिस्थितियों की आलोचना की है—

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥

तो दूसरी ओर उन्होने शासक एवं अधिकारियों के कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

× × ×

तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होय।

× × ×

मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान को एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

क्या यह आदर्श यथार्थ में परिणत हो सकता है? क्यों नहीं, 'राम-राज्य' इस प्रश्न का उत्तर है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना।

वस्तुतः आदर्श राम-राज्य की इसी सुन्दर कल्पना ने आधुनिक युगीन ने महात्मा गांधी को मोहित कर लिया था। भले ही हम आज 'प्रजातन्त्रवाद' की र लगाएँ, किन्तु वह 'राम राज्य' की समता करने में असमर्थ है।

समाज के क्षेत्र में तुलसी ने सर्वप्रथम तो दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थिरता ए पवित्रता पर बल दिया। जहाँ वे नारी को उपदेश देते हैं कि वृद्ध, रोगवश, जड़, ध हीन, अंध बधिर, क्रोधी एवं दीन पति का भी अपमान मत करो, वहाँ वे पुरुष लिए एकपत्नीव्रत का आदर्श भी उपस्थित करते हैं। एक ओर पति पत्नी में अनुर हो और दूसरी ओर पत्नी मन-कर्म-वचन से पति के लिए हितकारिणी हो—इस बढ़कर दाम्पत्य जीवन का आदर्श क्या होगा। देखिए—

"एकनारि व्रत रत सब भारी, ते मन-वच-क्रम पति हितकारी।"

जो विद्वान् तुलसी पर नारी वर्ग के प्रति कठोरता का आक्षेप लगाते हैं, वे इ पंक्तियों को न भूलें—

कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥

इससे स्पष्ट है कि वे नारी की अति उच्छृङ्खलता के विरोधी थे, अन्य सामान्य नारी की पराधीनता के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी—तथा वे ना और पुरुष दोनों के चरित्र का उत्थान चाहते हुए दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य स्थ पित करने के पक्षपाती थे।

उस युग में ऐसे भी दम्पति थे, जो अपने सुख-भोग में मग्न होकर परिवार कर्तव्यों की उपेक्षा करते थे। नव-यौवना पत्नी के रूप-वैभव के आकर्षण में पड़ अनेक युवक अपने माता-पिता की सेवा से विरत हो रहे थे। तुलसी ने ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य करके व्यंग्य किया है—

सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं, अबला नव दीख नहीं जब लौं।
ससुरारि पियारी लगी जब तें, रिपु कुटुम्ब भये तब तें॥

× × ×

नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।

साथ ही वे उपदेश देते हैं—

अनुचित उचित विचारि तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥

युवक-वर्ग की अति विलासिता के कारण पारिवारिक स्थिति विषम हो रही थी, तो दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था भंग होने के कारण दिन-प्रति-दिन सामाजिक संगठन में शिथिलता आती जा रही थी —

बरन धरम गयो; आश्रम निवास तज्यो।

× × ×

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि।

× × ×

जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।

तुलसी ने केवल खंडन का ही मार्ग नहीं अपनाया, अपितु वे साथ-साथ आदर्शों की स्थापना के द्वारा मंडन भी करते चलते हैं। राम-चरित्र के द्वारा उन्होंने पति-पत्नी-सम्बन्ध में मधुरता, भाई-भाई में स्नेह, पुत्र के आज्ञा-पालन, विमाताओं के प्रति आदर-भाव आदि के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करके तत्कालीन जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया है। ध्यान रहे, सीता-वनवास की घटना, जो राम के दाम्पत्य-जीवन पर कलंक के समान थी, का वर्णन तुलसी ने नहीं किया है।

अपने युग की विभिन्न दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचार-धाराओं में भी मानस के रचयिता ने सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। मध्य-युग के दो बड़े दार्शनिक वादों-अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में तुलसी ने इतने सुन्दर ढंग से सामंजस्य स्थापित किया है कि मानस में दोनों ही अविरोधी भाव से विद्यमान हैं। यही कारण है कि दोनों वादों के ही अनुयायी मानस में अपने-अपने मतलब की सामग्री प्राप्त कर लेते हैं। यदि महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा मानस में अद्वैतवाद का निरूपण इतनी गम्भीरता से पाते हैं कि उनके मत से 'दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं, तो दूसरी ओर विशिष्टाद्वैतवाद को लेकर चलने वाले भक्ति-पथ के अनुयायी भी उनसे सन्तुष्ट हैं। अद्वैत को माननेवाले ज्ञान-मार्ग का समर्थन करते हैं तथा विशिष्टाद्वैतवादी भक्ति का। तुलसी ने दोनों के समन्वय का ही समर्थन किया है—

भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।

किन्तु एकांगी ज्ञान के विरोध में वे स्पष्ट कहते हैं :—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

अन्ततः तुलसी का झुकाव भक्ति की ओर अधिक है, किन्तु वे भक्ति की

महत्ता का प्रतिपादन ज्ञान-मार्गियों को अप्रसन्न करके नहीं करते; अपितु उनके मार्ग को तलवार की धार पर चलने के समान बताकर उनके महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हैं; केवल जनसाधारण की सरलता एवं सुविधा के नाम पर वे भक्ति का समर्थन करते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।

× × ×

रामभगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।

इसी प्रकार विभिन्न देवताओं की उपासना को लेकर भी हिन्दू धर्म के अनुयायी परस्पर विरोध में संलग्न थे। कोई शिव को सबसे बड़ा देव सिद्ध करता था, कोई शक्ति को और कोई विष्णु को। तुलसी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में सभी प्रमुख देवों की स्तुति करके अपने व्यापक समन्वयवाद का परिचय दिया है। दूसरी ओर वे शैवों और वैष्णवों के पारस्परिक विरोध की भर्त्सना राम के मुंह से करवाते हैं—

सिब द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥

संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

उस युग में नित्य नये-नये पंथों के उद्भव के कारण भी हिन्दू धर्म का विघटन हो रहा था। एक समन्वयवादी कवि इसे कैसे सहन कर सकता था, अतः उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध स्पष्ट रूप में किया है—

"दंभिन निज मत कलपि करि, प्रकट किये बहु पंथ।"

जिस प्रकार उनकी कविता का विचार-पक्ष राजनीति, समाज, धर्म और दर्शन की विभिन्न विरोधी विचार-धाराओं को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही उनके भाव-पक्ष में सभी भावनाओं एवं रसों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। पुष्प-वाटिका-प्रसंग में शृंगार की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति उन्होंने की है, वह क्षणभर के लिए उनके भक्त होने में सन्देह उत्पन्न कर देती है। प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का जैसा सजीव चित्रण तुलसी द्वारा हुआ है, वह कम-से-कम हिन्दी-काव्य के लिए तो अपूर्व है। जनकतनया के सौन्दर्य एवं उसकी चेष्टाओं के निरूपण में उन्होंने जैसी सूक्ष्मता दिखाई है, वह किसी शृंगारी कवि के भी वश की बात नहीं है—

कंकन किंकिनि नुपूर ध्वनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥

मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय करि लीन्हीं॥

× × ×

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रकट देखाई॥

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबि गृहँ दीप सिखा जनु बरई॥

'सुन्दरता को भी सुन्दर करनेवाली' इस राजकुमारी के सौन्दर्य को देखकर भला कौन मुग्ध नहीं होता। अब उसके अनुराग की प्रारम्भिक चेष्टाओं को देखिए—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मनु चीता।

जहँ बिलोक मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी॥

\+ \+ \+

अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

जो कवि शृंगारिकता का ऐसा सरस वर्णन कर सकता है, वही रौद्र, वीर एवं भयानक की सृष्टि में भी पूर्ण सफल हुआ है। उदाहरण के लिए वीर-रस का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

तीखे तुरंग कुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छँटि छैल छबीले।
भारि गुमान जिन्हें मन में कबहूँ न भये रन में तन ढीले॥
तुलसी गज से लखि केहरि लौं, झपटे पटके सब सुर सजीले।
भूमि परे भट घूमि कराहत, हांकि हने हनुमान हठीले॥

वस्तुतः तुलसी ने सभी रसों की आयोजना सफलतापूर्वक करके अपनी अपार समन्वय शक्ति का परिचय दिया है।

काव्य-रसों एवं शैली की दृष्टि से भी तुलसी का साहित्य अपने युग की सभी प्रचलित काव्य-पद्धतियों से समन्वित है। महाकाव्य, मुक्तक, गीति—तीनों रूप का प्रयोग उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। उस युग में पाँच काव्य-शैलियाँ प्रयुक्त होती थीं—(१) वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति (२) कृष्ण-भक्त कवियों की गीति पद्धति, (३) चारणों व भाटों की कवित-सवैया पद्धति, (४) दोहा-पद्धति और (५) प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई पद्धति। तुलसी के काव्य में इन सभी पद्धतियों का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है। इसी प्रकार उनकी शैली में स्वाभाविकता और अलंकृति का सुन्दर समन्वय मिलता है। उस युग में ब्रज और अवधी का साहित्य में प्रयोग होता था; तुलसी ने दोनों का ही प्रयोग पूर्ण अधिकार के साथ किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि तुलसी में समन्वय की अपूर्व क्षमता थी। क्या विचार, क्या भाव और क्या शैली—साहित्य के सभी पक्षों में उनकी अनूठी समन्वय-वादिता दृष्टिगोचर होती है। भारतीय धर्म साधना ने वैदिक युग से लेकर उनके युग तक जो कुछ प्राप्त किया था, उसका सार रूप उनके काव्य में एकत्र है। भारतीय संस्कृति, भारतीय समाज और भारतीय साहित्य का चरम विकसित रूप यदि किसी एक ही रचना में ही देखना हो तो उसका सबसे सुन्दर साधन तुलसी का 'राम-चरित-मानस' है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तुलसी की इस महान् देन को देखते हुए किसी कवि ने ठीक लिखा है—

'कविता करकै तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

:: अट्ठावन ::

मीराँबाई का काव्य : नव मूल्यांकन

यद्यपि हिन्दी की सर्वोच्च महिला कवयित्री— मीराँबाई— के नाम से सम्बन्धित अनेक रचनाएं उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचना 'मीराँबाई की पदावली' ही है।[1] इस 'पदावली' का भी कोई एक प्रामाणिक रूप या संस्करण नहीं मिलता— विभिन्न संकलन-कर्त्ताओं एवं संपादकों ने अपने-अपने ढंग से 'पदावली' का पाठ निर्धारित किया है। इतना ही नहीं, 'पदावली' के विभिन्न संस्करणों के पदों की संख्या एवं नाम में भी परस्पर गहरा अंतर मिलता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि स्वयं मीराँ ने अपने विभिन्न पदों को संगृहीत करके कोई संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु संकलन-कर्त्ताओं ने ही अपने-अपने संकलनों को विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान की हैं। यही कारण है कि मीराँ की पदावली के अनेक संग्रह अलग-अलग नामों से प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ ये हैं[2]—(१) 'मीराँबाई के भजन'—पं० ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र द्वारा संकलित सन् १८९८ ई०। (२) 'मीराँबाई की शब्दावली' वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित। (३) 'मीराँबाई की पदावली'– सं० परशुराम चतुर्वेदी। (४) 'मीराँ-माधुरी'— ब्रजरत्नदास। (५) 'मीराँ और उनकी प्रेमवाणी'— ज्ञानचन्द्र जैन। (६) 'मीराँ-मधुरी'— रामलोचन शर्मा 'कंटक'। (७) 'मीराँ-मंदाकिनी'—नरोत्तमदास स्वामी। (८) 'मीराँ-दर्शन' – मुरलीधर श्रीवास्तव। (९) 'मीरा-पदावली'— विष्णुकुमारी 'मंजु'। (१०) 'मीराँ बृहत् पद-संग्रह' पद्मावती 'शबनम' (११) 'मीराँ-सुधा-सिंधु' स्वामी आनन्द स्वरूप। इनमें से अनेक संग्रह एक-दूसरे पर आधारित है तथा कुछ की भाषा बहुत ही भ्रष्ट है। विशेषत: राजस्थानी भाषा से अनभिज्ञ सम्पादकों ने सम्पादन एवं शोधन के नाम पर मीराँ के पदों को अशुद्ध एवं विकृत रूप प्रदान कर दिया है। अत: मीराँबाई के काव्य का

---

१. मीराँ की अन्य उपलब्ध रचनाएँ (१) गीत गोविन्द की टीका (२) नरसी रो मायेरो (३) सत्यभामाजी नों रूसणों (४) राम सोरठ (?) राग गोविन्द आदि।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य' डा० हीरालाल महेश्वरी, पृ० ३२६।

अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। हमारे देखने में अब तक जो संस्करण आये हैं, उनमें श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं प्रो० नरोत्तमदास स्वामी के द्वारा सम्पादित ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत लेख भी मुख्यतः परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'मीरां की पदावली' पर आधारित है।

'पदावली' की सामान्य पृष्ठभूमि—किसी भी रचना के सर्जनात्मक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विकासवादी दृष्टिकोण[1] के अनुसार मुख्यतः इन तीनों विन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है—(१) पूर्व-परम्परा (२) तत्कालीन वातावरण एवं (३) रचयिता का व्यक्तित्व। यहाँ 'पदावली' के सर्जन-पक्ष की व्याख्या के लिए भी इन तीनों पर क्रमशः विचार करते हुए सर्वप्रथम उसकी पूर्ववर्ती परम्परा पर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि मीरां के जीवन-काल के संबंध में मतैक्य का अभाव है, फिर भी सामान्यतः संवतः १५५५ से १६०३ वि० का समय इसके लिए स्वीकार किया जाता है[2]; इस दृष्टि से वे कबीर-रैदास की परवर्ती एवं सूर-तुलसी की पूर्ववर्ती सिद्ध होती हैं। पदों या गीतों की परम्परा का सूत्रपात हिन्दी में चौदहवीं शताब्दी ईस्वी से भी पूर्व हो चुका था। इस परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में ढूंढा जा सकता है। उन्होंने कदाचित् लोक-गीतों के आधार पर इसे प्रतिष्ठित करते हुए स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। तदनन्तर नाथ-पंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त नामदेव (१२७०-१३५० ई०) ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी पदों की रचना की तथा आगे चल कर हिन्दी के विभिन्न सन्त कवियों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस परम्परा को विकसित किया। कबीर ने अन्य शैलियों के साथ-साथ पद-शैली में भी काव्य-रचना की। मीरां के धर्म-गुरु रैदास भी कबीर के समकालीन माने जाते हैं तथा उन्होंने भी पद-शैली में काव्य-रचना की थी। स्वयं मीरां ने अपने गुरु रूप में रैदास का नाम बार-बार अमित श्रद्धापूर्वक लिया है—अतः कहा जा सकता है कि पद-शैली प्रत्यक्ष रूप में मीरां को अपने गुरु रैदास से मिली थी। मीरां के पदों की न केवल शैली, अपितु विषय-वस्तु एवं भाव-व्यंजना भी सन्तों के प्रभाव से युक्त है, अतः 'मीरां की पदावली' को सन्तों की पद-परम्परा का ही नव विकसित रूप मानना उचित होगा। 'नव विकसित' विशेषण का प्रयोग हम जान बूझकर कर रहे हैं; वह इस बात का सूचक है कि मीरां ने परवर्ती संतों का अन्धानुकरण नहीं किया, अपितु विचार; भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पूर्वपरम्परा को नया मोड़ भी दिया है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जायगा, मीरां सन्तों की शिष्या होती हुई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार सगुण के भक्तों के अधिक समीप पड़ती हैं तथा उनका भाव-पक्ष संतों के भाव-पक्ष की अपेक्षा अधिक अनुभूतिपूर्ण एवं गम्भीर है।

---

१. द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० माहेश्वरी।

उनकी शैली में भी अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सरलता, एवं तरलता दृष्टिगोचर होती है। अतः कहा जा सकता है कि मीरां ने पद-शैली के रूप में पूर्व-परम्परा से जो कुछ ग्रहण किया, उसे नयी वस्तु, नयी अनुभूति एवं शैली के नूतन तत्त्वों द्वारा और अधिक सम्पन्न एवं परिष्कृत किया है। दूसरे शब्दों में, 'मीरां की पदावली' अपनी पूर्व-परम्परा के नूतन विकास की सूचक है; यह मीरां के कवि-व्यक्तित्व की सशक्तता एवं सफलता का प्रमाण है।

तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से 'मीरां की पदावली' पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मीरां उस युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं, जबकि भक्ति आन्दोलन अपने उत्थान की ओर अग्रसर था। यह वही समय था, जबकि नामदेव, कबीर एवं रैदास जैसे संत धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांप्रदायिक भेद-भावों, वर्ण और जाति के स्तरों की भिन्नता एवं बाह्याचारों व कृत्रिम विधि-विधानों की निरर्थकता घोषित कर चुके थे, किन्तु अभी तक सूर-तुलसी की सगुण-लीलाओं के गुण-गान का माधुर्य प्रवाहित नहीं हुआ था। मीरां इन दोनों स्थितियों के मध्य में स्थित हैं - न केवल काल की दृष्टि से, अपितु अपनी बौद्धिकता, भावना एवं क्रिया-कलापों की दृष्टि से भी। जिसे हम 'युग-बोध कहते हैं, वह प्रायः अतीत से कटा हुआ एवं भविष्य से सटा हुआ होता है—उसमें अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का बोध ही अधिक रहता है, किन्तु ऐसा युग-बोध व्यक्ति के दृष्टि-कोण को सीमित एवं संकीर्ण बना देता है। वह अतीत से ग्रहण नहीं कर पाता, भविष्य को कुछ दे नहीं पाता। ऐसे 'युग बोध' की दुहाई देकर हम भले ही अपनी सीमाओं की संकीर्णता एवं अभावों की दुर्बलता को छिपा लें, किन्तु सच्ची प्रतिभा एवं व्यापक दृष्टि का प्रमाण तो उसी बोध में माना जा सकता है, जो अतीत की उपलब्धियों, वर्तमान की गतिविधियों एवं भविष्य की सम्भावनाओं पर आधारित हो। इस प्रकार के व्यापक बोध का प्रमाण मीरां की काव्य-दृष्टि में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन उच्च सामन्तवर्ग में पोषित राजकुमारी होते हुए भी उन्होंने चर्म-कार रैदास की शिष्या बनने में कोई संकोच नहीं किया—महलों और राज-भवनों की सुदृढ़ दीवारें भी उन्हें सन्तों की कुटिया में जाने से नहीं रोक सकीं—यह तथ्य उनके व्यक्तित्व की सबलता का द्योतक है। राज-भवनों की अट्टालिकाओं में रहने-वाली राजकुमारी का शूद्रजातीय संतों के साथ निस्संकोच रूप में मिलना-जुलना सांस्कृतिक परिस्थितियों से एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है। दूसरी ओर संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ भक्तों के सगुण की मधुरता का मेल, खंडन-मंडन की तार्किकता के स्थान पर हृदय के माधुर्य की प्रतिष्ठा का प्रयोग—इस बात का सूचक है कि मीरां ने अपने काव्य में पूर्ववर्ती संतों की उपलब्धियों एवं परवर्ती भक्तों की संभावनाओं के सामंजस्य को प्रस्तुत किया है। 'युग-बोध' 'सीमित युग-बोध' न होकर अतीत और भविष्य से संपुष्ट है। वस्तुतः साहित्यकार की विकसित चेतना ही ऐसा व्यापक बोध प्रस्तुत कर सकती है।

जहाँ तक मीरां के व्यक्तित्व की बात है—उनमें हम अद्‌भुत साहस, अद्‌भुत धैर्य एवं अद्‌भुत सहजता पाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतनी अधिक आस्थावान एवं दृढ़ हैं कि विष पान तक की स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर पाती। पारिवारिक विरोध, सामाजिक भर्त्सना एवं लोक-निन्दा भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को तनिक भी नहीं छू पाती। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा की आवाज को, अपने हृदय के क्रन्दन को, अपने मन के उल्लास को, अपनी भावनाओं के आवेग को और अपनी अनुभूतियों के प्रवाह को निर्बाध रूप में व्यक्त कर पायीं। नारी का नारीत्व उन्हें कृत्रिमता के आवरण को धारण करने के लिए विवश नहीं कर पाता, उच्च कुल की कुलीनता उन्हें गांभीर्य एवं ऐश्वर्य के अनावश्यक भार को ढोने के लिए मजबूर नहीं कर पाती। वे एक ऐसी नारी का आदर्श प्रस्तुत करती हैं, जो पारिवारिक रूढ़ियों एवं सामाजिक सीमाओं का उच्छेदन करते समय एक अद्‌भुत शक्तिशालिनी विद्रोहिणी का रूप धारण कर लेती हैं, जबकि अपने सांवरिया की आराधना के समय, उसके सम्मुख आत्म-निवेदन करते समय प्रेम से विभोर, लाज से गद्‌गद, कोमलता से ओत-प्रोत एवं दैन्यता से द्रवित हो उठती हैं। वे एक ओर समाज को चुनौती देती हुई कहती हैं—

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे
मीरां नाची !

या

माई री मैं तो लीयो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चोड़े लियो री बजता ढोल।

तो दूसरी से वे यह भी स्पष्ट रूप में घोषित करती हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई !

अस्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मीरां के व्यक्तित्व की सबलता, शक्तिमत्ता एवं स्पष्टवादिता ने उनकी वाणी को पर्याप्त शक्ति एवं सहजता प्रदान की है—इसी के बल पर वे अपनी अनुभूतियों को यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकी हैं तथा यही यथार्थता उनकी अभिव्यक्ति का चरम सौन्दर्य है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीरा का काव्य परम्परा से पुष्ट होते हुए भी उसकी रूढ़ियों से जकड़ा हुआ नहीं है, युगीन वातावरण पर आधारित होते हुए भी उसकी सीमाओं से आबद्ध नहीं है तथा उनका व्यक्तित्व राजभवनों में पला हुआ होते हुए भी उसकी औपचारिकताओं एवं कृत्रिमताओंसे मुक्त है। वस्तुतः मीरां की काव्यानुभूति परम्परा, युग एवं व्यक्तित्व के सुन्दर सम्मिश्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह परम्परा का एक नया मोड़, युग का एक व्यापक बोध एवं व्यक्तित्व की एक नूतन सहजता का आदर्श प्रस्तुत करता है, जो समग्र रूप में कवि-प्रतिभा की विकासोन्मुखता का परिचायक है।

'पदावली' का बौद्धिक पक्ष—'पदावली' के बौद्धिक पक्ष पर विचार करने के लिए हमें सर्वप्रथम यह देखना होगा कि मीरां किस धर्म-सम्प्रदाय व दार्शनिक मत की अनुयायी थीं। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। उनके गीतों

में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों एवं दर्शनों का प्रभाव मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होता है; अतः उन्हें किसी एक सम्प्रदाय से सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता। उनके माता-पिता सगुण के उपासक थे तथा इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि मीरां बाल्यकाल में ही कृष्ण की मूर्ति की पूजा करने लग गई थीं—इससे वे सगुण की आराधिका सिद्ध होती है। उनके पदों में भी प्रायः कृष्ण के प्रति ही आत्म निवेदन किया गया है, इससे भी वे कृष्ण-भक्तों की परम्परा मे आती हैं। किन्तु-कृष्ण भक्त मान लेने पर भी एक प्रश्न यह उठता है कि वे कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध किस सम्प्रदाय की अनुयायिनी थीं? कुछ विद्वान् उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय से संबद्ध करना चाहते है, किन्तु यह ठीक नही है। अवश्य ही वल्लभ-सम्प्रदाय से मीरां का थोड़ा सम्पर्क रहा था, किन्तु उन्होंने इनकी दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। वार्ता के अनुसार वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि गोविन्द दुबे मीरां के यहाँ गये थे, किन्तु वे मीरा से अप्रसन्न होकर लौट आये थे तथा मीरां की दी हुई भेंट को अस्वीकार करते हुए कहा था - 'तू तो श्री आचार्य महाप्रभून की नही होत ताते भेंट हाथ से छुवोगी नही।' एक अन्य उल्लेख के अनुसार मीरां स्वयं भी वृन्दावन आई थी, किन्तु वे यहाँ नही ठहरी! इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने मीरां को अपने मत की दीक्षा देने का प्रयास किया था, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नही मिली।

श्री वियोगी हरि के मतानुसार मीरां ने चैतन्य सम्प्रदाय के प्रतिनिधि श्री जीवस्वामी से दीक्षा ली थी। मीरा की भक्ति भावना में प्राप्त माधुर्य भाव चैतन्य मत की विचारधारा के अनुकूल ही है, फिर भी इस बात का कोई दृढ प्रमाण नही मिलता कि मीरां ने चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा ली ही थी।

स्वयं मीरा की पदावली मे गुरु के रूप मे सन्त रैदास का स्मरण बार बार श्रद्धापूर्वक किया गया है·

> गुर मिलिया रदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।
> चोट लगी निज नाम हरि की, म्हांरे हियड़े खटकी॥[1]

दूसरी ओर सन्त रैदास की उपलब्ध जीवनियो मे भी उनकी शिष्याओं में 'चित्तौड़ की झाली रानी' का उल्लेख मिलता है - यद्यपि यह 'झाली रानी' स्वयं मीरां का विशेषण नही माना जाता—पर सम्भव है कि यह मीरां की माता, चाची, या किसी ऐसी निकटस्थ सम्बन्धिनी का सूचक हो, जिसके माध्यम से मीरां का भी रैदासजी से संपर्क हो गया हो। अतः यह सम्भव है कि मीरां को आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि गुरु रैदास से ही हुई हो। मीरां के काव्य पर सन्त मत के प्रभाव को सूचित करनेवाले और भी कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। एक तो उन्होंने अनेक पदों में अपने गुरु को 'जोगी' रूप में सम्बोधित करते हुए उनके प्रति गहरी आसक्ति व्यक्त की है, यथा—'जोगिया जी आवो ने या देस'' 'म्हारा सतगुरु बेगा आज्यो जी', अरज करै मीरां दासी जी, गुरुपद-रज की मैं प्यासी जी', सतगुरु म्हांरी प्रीत निभाज्यो जी'

१. 'मीरां की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी) –पदसंख्या २७, २८, १६६।

आदि। इन पदों में कहीं-कहीं गुरु को ही आराध्यदेव या परमात्मा के समरूप मान लिया गया है। गुरुदेव के लिए जोगी (योगी) विशेषण का प्रयोग किसी नाथ-पंथी योगी की ओर भी संकेत करता है, किन्तु इसके आधार पर यह कहना कठिन है कि उनका नाथ-पंथियों से सम्बन्ध रहा है। नाथ-पंथ के अनेक यौगिक शब्द-- त्रिकुटी, शून्य, सुरत, सुषुम्ना, घट आदि — भी उनके पदों में आये हैं, किन्तु उनका अर्थ योग-परक न लेते हुए प्रेम परक किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ-पंथ का वह प्रभाव मीरां पर संत-मत के माध्यम से ही पड़ा है। संतों ने भी नाथ पंथियों की यौगिक शब्दावली का प्रयोग नूतन अर्थ में किया है, उन्होंने हठयोग के स्थान पर प्रेम के सहज योग की प्रतिष्ठा की है। यही बात मीरां में मिलती है। दूसरे अनेक स्थलों पर मीरां ने ईश्वर के निर्गुण निराकार एवं निरंजन रूप को मान्यता देते हुए आत्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। एक ओर वे कहती हैं— 'जाको नाम निरंजण कहिए ताको ध्यान धरूँगी' तो दूसरी ओर वे स्वयं को आराध्य से अभिन्न भी मानती है —'तुम विच हम विच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।' गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान की चर्चा करती हुई वे सर्वत्र आत्मा के दर्शन की बात कहती हैं—

सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम की किंवारी हो।
सब घट दीसै आत्मा, सबही सूं न्यारी हो॥
दीपक जोऊँ ग्यान का चढूं अगम अटारी हो।
मीरां दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥

मीरां की साधना की एवं उपासना पद्धति में भी संतों की परम्परा के अनुरूप प्रणय और विरह की मात्रा पर्याप्त है—अतः यह कहा जा सकता है कि मीरां पर संत मत की मान्यताओं का प्रभाव कम नहीं है। यह प्रभाव उन पर सन्त रैदास के माध्यम से ही पड़ा हो तो भी आश्चर्य नहीं। यदि स्वयं रैदास का जीवन काल मीरां से थोड़ा पीछे पड़ता हो तो किसी रैदासी सन्त (अर्थात् रैदासजी की शिष्य परम्परा का कोई सन्त) से मीरां का सम्बन्ध माना जा सकता है।

मीरां पर सन्त मत के प्रभाव स्वीकार करते हुए भी हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार के क्षेत्र में मीरां कट्टर नहीं थीं—वस्तुतः उनकी विचारधारा भाव से भिन्न नहीं थी। वे निर्गुण की महत्ता स्वीकार करती हुई भी अपने बचपन के आराध्य कृष्ण को नहीं भूल पाईं—उन पर बाल्यकालीन संस्कार इतने गहरे थे कि वे अपना प्रणय-निवेदन मोरमुकुटधारी गिरिधर को ही करती हैं— निराकार ब्रह्म को नहीं। उनमें सगुण की आस्था और निर्गुण का ज्ञान—दोनों मिश्रित हो गये हैं। सच पूछा जाय तो उनका निर्गुण ब्रह्म सगुण कृष्ण से भिन्न नहीं है।! उनकी भावानुभूति की प्रबल धारा में सगुण एवं निर्गुण का भेद तिरोहित हो जाता है, अतः दर्शन और तर्क की कसौटियां उसके लिए व्यर्थ हैं।

पदावली का भाव पक्ष—'पदावली में मुख्यतः कृष्ण के प्रति प्रणय निवेदन किया गया है, जिसे लौकिक दृष्टि से शृंगार रस में स्थान दिया जा सकता था, किन्तु मीरां का आलम्बन अलौकिक है—अतः यह प्रश्न उठता है कि उसे भक्ति भाव

में स्थान दिया जाए या रहस्यवाद के अन्तर्गत ! 'शक्ति' मूलतः श्रद्धा और प्रेम से समन्वित होती है, उसमें आलम्बन को उच्च एवं महान् तथा स्वयं को दीन व हीन माना जाता है, जबकि मीरां में समता पर आधारित प्रणय की अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से मीरां सगुण भक्तों की अपेक्षा निर्गुण-संतों के अधिक समीप पड़ती हैं। सन्तों के दिव्य-प्रेम को 'रहस्यवाद' ही संज्ञा दी जाती है तथा अनेक आलोचकों ने मीरां को भी रहस्यवादिनी बताया है, किन्तु हमें इसमें एक आपत्ति है--मीरां का आराध्य सगुण कृष्ण है, जबकि रहस्यवाद निर्गुण की मान्यता पर आधारित होता है। अतः मीरां न तो पूर्णतः भक्तों की श्रेणी में आती हैं और न ही संतों की श्रेणी में--उनकी भावना भक्ति और रहस्यवाद के बीच में पड़ती है। रूपगोस्वामी ने भक्ति के विभिन्न भेदोपभेद करते हुए भक्ति के एक ऐसे भेद की प्रतिष्ठा की है, जिसमें आराध्य के प्रति विशुद्ध प्रणय की भावना रहती है, इसे माधुर्यभाव की भक्ति कहा गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति से भक्ति का यह भेद भक्ति के मूल क्षेत्र की सीमाओं से दूर पड़ता है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसे स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इसे हम माधुर्यभाव की भक्ति न कहकर माधुर्य भाव की उपासना कहना पसन्द करेंगे तथा इसे भक्ति का भेद न मानकर उससे पृथक् उपासना-पद्धति के रूप में स्वीकार करेंगे। भावना के आधार पर उपासनाओं के निम्नांकित तीन भेद माने जा सकते हैं—

निर्गुण + प्रणय = रहस्यवाद
सगुण + श्रद्धा + प्रणय = भक्ति-भाव
सगुण + प्रणय = माधुर्य-भाव

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार मीरां की भावना को माधुर्य भाव की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः व्यावहारिक क्षेत्र में पहले से ही मीरां की अनुभूतियों को 'माधुर्य भाव' के नाम से स्मरण करने की परम्परा चली आ रही है, अतः इस दृष्टि से भी यह उचित है।

माधुर्यभाव— मीरां अपने आराध्य देव को अपने प्रेमी ही नहीं, अपितु पति के रूप में स्मरण करती है —

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
× × ×
मैं तो गिरधर के घर जाऊँ
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।।

यहाँ गिरिधर गोपाल के प्रति मीरां ने पूर्ण अनन्यता का भाव व्यक्त किया है—लौकिक दृष्टि से उनके पति कोई और भी थे, किन्तु मीरां उसका स्पष्ट निषेध करती हैं। लौकिक सम्बन्ध एवं लौकिक पति मिथ्या है उसके वास्तविक पति—, सांचो प्रीतम—तो गिरिधर ही हैं। इसीलिए वे निःसंकोच उन्हें बार-बार 'पिया' या पति के रूप में सम्बोधित करती हैं—

पिया बिन रह्योइ न जाइ।

× × ×

पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बहाई।

× × ×

होली पिया बिन लागै खारी।

यद्यपि यहाँ प्रयुक्त 'पिया' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से केवल प्रिय का सूचक है, किन्तु राजस्थानी भाषा में वह पति के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः मीरों का कृष्ण से प्रेयसी-प्रियतम का नहीं, अपितु पत्नी-पति का सम्बन्ध मानना चाहिए।

पति-पत्नी का सम्बन्ध कुछ औपचारिकताओं की अपेक्षा रखता है, किन्तु मीरों के सामने यह समस्या नहीं है। उनके विश्वास के अनुसार वे जन्म-जन्म से कृष्ण की ही प्रेयसी व पत्नी रहती हैं, अतः इस जन्म में भी वे उसी सम्बन्ध का पालन करती हैं—

मेरो उणकी प्रीत पुराणी, उण बिनि पल न रहाऊँ।

× × ×

पूरब जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।

× × ×

पूरब जनम की प्रीत हमारी अब नाहिं जात निवारी।

इसी प्रकार एक अन्य पद में वे अपने आराध्य को 'पूर्व जन्म का साथी' मानती हुई अपने सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाला मानती हैं। सम्भवतः मीरों की उपासना का लक्ष्य न तो स्वर्ग है और न ही मुक्ति। वे केवल अपने प्रियतम का सान्निध्य एवं तादात्म्य ही जन्म-जन्मान्तरों तक चाहती हैं।

रूपासक्ति-जन्य माधुर्य भाव—श्रद्धा या भक्ति का उन्मेष गुणों के चिन्तन के आधार पर होता है, जबकि प्रणय की उत्पत्ति मुख्यतः सौन्दर्याकर्षण या रूपासक्ति के कारण होती है। अन्य कारणों से भी प्रणय उत्पन्न हो सकता है, किन्तु रूप का प्रभाव उसमें गौण नहीं रहता। प्रणय का प्रथम अंकुर तो रूपजन्य प्रभाव से ही प्रस्फुटित होता है, प्रिय के अन्य गुण उस अंकुर को पल्लवित एवं पुष्पित करने में योग भले ही देते हों। मीरों का माधुर्य-भाव भी आराध्य के सौन्दर्याकर्षण पर आधारित है। स्वयं कवयित्री के शब्दों में—

या मोहन के मैं रूप लुभानी,

सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन मन्द मुसकानी।

× × ×

जब से मोहिं नंदनंदन दृष्टि पड़्यो माई।

तब से परलोक कछू न सोहाई

× × ×

आली रे मेरे नैणां बाण पड़ी।

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।

कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी॥

कैसे प्राण पिया बिनि राखूं जीवन मूर जड़ी।
मीरां गिरधर हाथ विकानी, लोग कहैं बिगड़ी ॥

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का आख्यान करते समय मीरां ने न केवल उनके नख-शिख की विशिष्टता का संकेत किया है, अपितु उनकी श्रृंगार-चेष्टाओं (हाव-भाव) —यथा, बांकी चितवन, मंद मुस्कुराहट आदि—का भी निरूपण पूर्ण सरसता से किया है, जो मीरां की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का परिचायक है। श्रृंगारी-साहित्य में नारी के नख-शिख की व्यंजना तो प्रायः मिलती है, किन्तु पुरुष प्रायः उपेक्षित रहा है। पुरुष के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए नारी की आँखें अपेक्षित होती हैं—मीरां के पास ये थीं, इसीलिए वे अपने पदों में स्थान-स्थान पर कृष्ण के सौन्दर्य का निरूपण अत्यन्त शिष्ट एवं शालीन किन्तु अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कर सकी।

मीरां का माधुर्य भाव प्रथम-दृष्टिजन्य प्रणय (love at first sight) के अनुरूप है; इसीलिए वह कहती है—'जब से मुझे नन्द-नन्दन दिखाई पड़ता है तब से लोक-परलोक में कुछ भी नहीं सुहाता !' लौकिक प्रणय की भाँति ही वे अपने माधुर्य भाव को लोभी नेत्रों की विवशता के रूप में स्वीकार करती हैं। उनकी रूपासक्ति ज्यों ज्यों तीव्र एवं गम्भीर होती जाती है; त्यों-त्यों उनकी प्रणय-वेदना भी बढ़ती जाती है, पर फिर भी वे जिस पथ पर आगे बढ़ गई है उससे लौट नहीं पातीं। परिवार और समाज उन्हें इसके लिए लांछित करता है- उन्हें कलंकित और कुलटा घोषित करता है, तथा वे स्वयं भी चाहती हैं कि दुनियां उन्हें ऐसा न कहे, परन्तु इससे क्या होता है। वे अपने वश में नहीं हैं, उनके प्राण अपने हाथ में नहीं हैं, क्योंकि वे तो पहले ही गिरिधर के हाथ बिक चुकी है—उनके शब्दों में—

मैं ठाढ़ी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ।
वदन चंद परकासत हेली, मन्द मन्द मुसकाइ ॥
लोक कुटंबी गरजि बरजहीं, बतियां कहत बनाइ।
चंचल निपट अटक नहि मानत, परहथ गये बिकाइ ॥

जो किसी दूसरे के हाथ बिक चुके हैं, उनके लिए कुटुम्ब, परिवार, समाज और लोक के ये सारे विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं। लोग अच्छा बताएँ या बुरा—यह महत्वशून्य हो जाता है :

भलो कहौ कोइ बुरो कहौ मैं सब लई सीसि चढ़ाइ।
मीरां कहे प्रभु गिरिधर के बिनि, पल भर रह्यो न जाई।

मीरां यहां लोक-मत का तिरस्कार नहीं करती, उसकी उपेक्षा भी नहीं करती, अपितु सबकुछ शिरोधार्य कर लेती है। फिर भी वह लोक-मत के अनुसार चल नहीं पाती—इसलिए कि चलना उनके वश की बात नहीं है ! भला जिस प्रभु के बिना एक क्षण भर भी नहीं रहा जाता उसे वह सदा के लिए कैसे भुला सकती है ? वस्तुतः मीरां की इन उक्तियों में व्यक्तिगत दंभ या अहंकार अथवा साधना का गर्व नहीं है, अपितु प्रणय की गम्भीरता अनुभूतियों से उद्वेलित सहृदयता, विनम्रता एवं विवशता दृष्टिगोचर होती है।

माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता—मीरां के इस माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता का परिचय उनकी विभिन्न भावानुभूतियों या संचारी भावों में मिलता है। वे अपनी प्रणय-वेदना को शत-शत पदों में व्यक्त करती हैं, जिनसे उनकी अनुभूति की तीव्रता एवं गंभीरता का पता चलता है, यथा—

रमैया बिन नींद न आवै
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच डुलावै।
× × ×
होली पिया बिन लागै खारी
सूनो गांव देस सब सूना सूनी सेज अटारी।
× × ×

यहां नींद न आना एवं सर्वत्र शून्यता की प्रतीति होना—ऐसे अनुभव हैं जो प्रणयानुभूतियों की गंभीरता के द्योतक हैं। यह गम्भीरता और भी गंभीर हो उठती है जबकि पपीहा का मीठा स्वर भी उसके हृदय के घाव पर नमक का काम करता हुआ प्रतीत होता है; लगता है, 'पपीहा' 'पिव ! पिव !!' कहकर विरहिणी को प्रिय की याद दिलाता हुआ उसके दग्ध हृदय पर नमक छिड़क रहा है—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितारयो।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकारयो।
दाझ्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ै करवत सारयो॥

विरह-वेदना की चरम स्थिति तो यह है जब स्वयं विरहिणी अनुभव करने लगती है कि वह असह्य व्यथा के कारण पागल हो गई है—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ,
दरद न जाणै मेरो कोइ।
घायल की गति घाइल जाणै
कि जिण लाई होइ॥

प्रायः प्रणय-वेदना के पीड़ितों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे अपनी पीड़ा को *बाँट नहीं पाते ! उनकी पीड़ा को समझने एवं बँटानेवाले लोग इस धरती पर उत्पन्न नहीं होते !* इसीलिए मीरां ने कहा है कि घायल की दशा को घायल ही समझ सकता है, कोई अन्य नहीं ! यही बात प्रेम-मार्ग के अन्य पथिकों ने भी कही है—

कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है।
अरु पीर घटे तजि धीर सखि ! दुःख को नहीं का पै बखानतु है॥
कवि 'बोधा' कहे में सवाद कहा, को हमारी कहो पुनि मानतु है।
हमें पूरी लगी के अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है॥

—बोधा

का कहिए, किहि सों कहिए, तन छीजत है पै महि छीजतु है !

—ठाकुर

मारग प्रेम को को समुझै हरिचन्द यथारथ होत यथा है।
लाभ कछू न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है॥
जानत है जिय मेरी भली विधि और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं ब्रज के सगरे, मोहि नाहक पूछत कौन बिथा है॥
—भारतेन्दु

प्रणय-वेदना की अभिव्यक्ति कई बार प्रिय के प्रति आत्म निवेदन एवं उपालम्भों के रूप में भी की जाती है। मीराँ भी इस पद्धति का अनुसरण करती हुई कहती है —

देखो सइयाँ हरि मन काठ कियो।
आवन कह गयो अजहुँ न आयो, करि करि वचन गयो।
खान-पान सुध बुध सब बिसरी, कैसे करि मैं जियो॥
बचन तुम्हार तुमहीं बिसरे, मन मेरो हर लियो।
'मीराँ' कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनि फाटत हियो॥

उपर्युक्त उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता नहीं है, अपितु अपनी वेदना की अभिव्यंजना सहज स्वाभाविक रूप में है। 'तुम बिन फाटत हियो!' में यह वेदना साकार हो उठती है।

मीराँ ने विभिन्न पर्वों, त्योहारों, ऋतुओं, पत्रों, संदेशों आदि विभिन्न अवसरों व माध्यमों के आश्रय से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन सबको प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी अनुभूतियाँ सर्वत्र सहज स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनके माधुर्य भाव के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप में पाँच बातें कही जा सकती हैं—(१) उनका यह संबंध जन्म-जन्मान्तरों के प्रणय को —पिछले जन्म की प्रीति के विश्वास पर आधारित है। (२) उनका लक्ष्य मिलन है; स्वर्ग और मोक्ष नहीं। (३) उसमें आराध्य को पति रूप में ग्रहण करते हुए स्वकीया भाव को स्थान दिया गया है। (४) उसकी उत्पत्ति सौन्दर्याकर्षण व रूपासक्ति-जन्य है। (५) उसमें स्थूल शारीरिकता व संभोग का अभाव है, विरहानुभूति की ही प्रमुखता है।

काव्य-रूप एवं शैली-पक्ष—काव्य-रूप की दृष्टि से 'मीराँ की 'पदावली' गीति-काव्य के अन्तर्गत आती है। जब हृदय में भावों का ज्वार उमड़ता है; तो उसकी अभिव्यक्ति गीति रूप में होती है। काव्य के अन्य रूपों —प्रबन्ध और मुक्तक—में भी भावात्मकता रहती है, किन्तु उनमें वस्तु, पात्र, विचार आदि तत्त्वों का भी समावेश रहता है, इससे उनमें भावात्मकता का तीव्र आवेग नहीं रहता, जो गीति-काव्य में सम्भव है। मीराँ के पास आत्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—न वे कोई कहानी कहना चाहती थीं, और न ही किसी की महिमा का गान करना उनका लक्ष्य था। किसी मत, सिद्धान्त या संदेश का निरूपण करना भी उनका लक्ष्य नहीं था। वे चाहती थीं केवल अपने घायल हृदय की पीड़ा को व्यक्त करना या अपने साँवलिया से प्रेम, मनुहार, रोष, उपालंभ भरे दो-चार शब्द कहना। इसके लिए सर्वोत्कृष्ट माध्यम गीति का ही हो सकता था, जिसे अपनाकर मीराँ ने अपनी सहजता का परि-

चय दिया। वस्तुतः मीरां ने गीति का माध्यम अपनाया नहीं, अपितु कहना चाहिए कि उनकी विरह वेदना स्वतः ही गीतों के रूप में फूट पड़ी। आधुनिक कवि पंत का यह कथन—'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।'—मीरां पर भली भांति चरितार्थ होता है। उनके गीत उनकी 'आह' से ही प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं।

गीति काव्य के लिए अपेक्षित तत्त्वों में भावानुभूति, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता एवं शैली की कोमलता की गणना की जाती है। मीरां के पदों में ये सभी तत्त्व सहज, स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, भावानुभूति तो उनके गीतों की प्रमुख विशेषता है। भावों में भी प्रेम और प्रेम में भी विरह सर्वाधिक कोमल एवं मधुर माना गया है—मीरां के काव्य में इसी की प्रमुखता है। मीरां अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए न तो जायसी की भांति नागमती का माध्यम अपनाती हैं और न ही सूरदास की भांति गोपियों का आश्रय ग्रहण करती हैं—अपितु वे स्वयं ही प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन के रूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करती हैं, अतः उनकी अभिव्यक्ति में वैयक्तिकता भी सर्वत्र विद्यमान है। उनके गीत संगीत की राग-रागिनियों में बंधे हुए हैं तथा उनमें संक्षिप्तता एवं कोमलता भी यथोचित रूप में दृष्टिगोचर होती है, अतः कहा जा सकता है कि मीरां के काव्य में गीति-काव्य के सभी तत्त्वों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। उन्हें गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। कुछ गीतों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण उनका भाव-पक्ष दब गया है, किन्तु उन्हें अपवाद-रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

शैली के प्रतिमान के रूप में परम्परा से अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि उल्लेखनीय हैं। ये सिद्धांत मूलतः काव्य-शैली के विशिष्ट तत्व को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये थे, किन्तु परवर्ती युग में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रत्येक सिद्धान्त ने अनेक भेदोपभेदों के रूप में अपने क्षेत्र का इतना अधिक विस्तार किया कि जिससे अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्रों का समावेश उसकी अपनी परिधि में हो जाता है। उदाहरण के लिए जिसे अलंकार सिद्धान्त में अन्योक्ति कहा गया है, वही वक्रोक्ति में प्रकरण-वक्रता या ध्वनि-सिद्धान्त में ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित है। अस्तु, इन सिद्धान्तों का क्षेत्र एक-दूसरे से घुल मिल गया है, उनकी सीमाएँ अस्पष्ट हो गई हैं तथा उनका रूप विकृत हो गया है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमने अपने 'प्रबन्ध-साहित्य-विज्ञान' में इनके आधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पांच वर्गों में विभक्त किया है—(१) संयोजनात्मक, (२) विश्लेषणात्मक, (३) विस्थापनात्मक (४) विनिमयात्मक और (५) समन्वयात्मक। वस्तुतः इन पाँचों वर्गों में शैली के सभी परम्परागत एवं आधुनिक तत्त्वों का समावेश निर्दोष रूप में हो जाता है, अतः मीरां के शैली-पक्ष पर विचार करते समय भी शैली के इन नूतन मानदण्डों को ग्रहण करें तो अनुचित

न होगा।

(क) संयोजनात्मक रूप-विधान—तथ्य और कल्पना के मेल को ही संयोजनात्मक रूप-विधान कहा गया है, जिसे परम्परागत काव्य-शास्त्र में सादृश्यमूलक अलंकारों व वाक्य-वक्रता के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इस संयोजन की भी मुख्यतः तीन स्थितियाँ होती हैं—तुलनात्मक संयोजन, आरोपण-मूलक संयोजन और तादात्म्य-मूलक संयोजन। मीरां के काव्य में इन सभी के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

(अ) तुलनात्मक संयोजन :

'पाना ज्यूं पीली पड़ी रे लोग कहैं पिंड रोग।'
'घायल ज्यूं घूमूं सदा री म्हारो बिथा न बूझै कोइ।'

× × ×

जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।

× × ×

'सूनी सेज जहर ज्यूं लागे'

(आ) आरोपण मूलक संयोजन :

'मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई'

(इ) तादात्म्य मूलक संयोजन :

'विरह-व्यथा लायी उर-अन्तर सो तुम बुझावो हो।'
अंसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई।'
'बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।'

उपर्युक्त उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मीरां ने अपनी अनुभूति प्रेरित कल्पना-शक्ति के बल पर प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का मेल (संयोजन) अत्यन्त सुन्दर रूप में किया है।

(ख) विश्लेषणात्मक रूप-विधान—विश्लेषणात्मक रूप-विधान में संयोजनात्मक रूप-विधान की भाँति मूल विषय के साथ बाह्य तत्वों का मेल नहीं होता, अपितु मूल विषय के ही विभिन्न अंगों को प्रत्यक्ष या बिम्ब रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है जिससे उसमें आकर्षण की उद्दीप्ति हो जाती है। मीरां के काव्य में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है—

'मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै॥
कुंडलि की अलक झलक, कपोलन पर छाई।

× × ×

कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टोना।

× × ×

सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा
नटवर प्रभु भेष धरे,- रूप अति विसेखा

यहाँ नख-शिख के विभिन्न अवयवों का चित्रण विश्लेषणात्मक शैली में किया गया है जिससे पाठक को विषय की अनुभूति प्रत्यक्ष—बिम्ब-रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ग) विस्थापनात्मक रूप-विधान—इसमें प्रस्तुत या कथ्य विषय के स्थान पर अप्रस्तुत या अन्य विषय की स्थापना की जाती है। इसी पद्धति को परम्परागत काव्य-शास्त्र में प्रकरण-वक्रता, ध्वनि, प्रतीक आदि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीरां ने इस शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है, फिर भी इसके कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे—

उमग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै, दामिणि छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा-नव धरियां, इन्द्र मिलन के काज।

यहाँ प्रकृति के मिलन के माध्यम से कवयित्री ने निजी आध्यात्मिक मिलन को संकेतित किया है, जो विस्थापनात्मक रूप-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(घ) विनिमयात्मक रूप-विधान—लाक्षणिक प्रयोगों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषय के विभिन्न गुणों में परस्पर विनिमय हो जाता है—इसी को विनिमयात्मक रूप-विधान कहते हैं। परम्परागत वक्रोक्ति एवं विरोधमूलक अलंकार मूलतः इसी क्षेत्र में आते हैं। मीरां की भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट है, अतः उसमें वक्रता का आविर्भाव अपेक्षाकृत कम है, पर कहीं-कहीं अतिशय भावात्मकता में वक्रतापूर्ण प्रयोग भी किए गये हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'बिरहिणी बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक बिरहिणी हम ऐसी देखी, अँसुवन माला पोवै।।
\+ + +
आंगलियारो मूँदड़ो, म्हारे आवण लागो बांहि।
\+ + +
हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणै मेरो कोइ।

इन प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होने के कारण ये हमारे हृदय को छूते हैं, प्रभावित करते हैं तथा रसानुभूति से आप्लावित करते हैं।

(ङ) समन्वयात्मक रूप-विधान—विभिन्न अवयवों की बाह्य एकरूपता के द्वारा समन्वयात्मक रूप-विधान का आयोजन किया जाता है, जिसे परम्परागत शैली में अनुप्रास यमक, आवृत्ति आदि की संज्ञाएँ दी गई है। मीरां के काव्य से इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'समरथ सरण तुम्हारी सइयां, सरब सुधारण काज।
\+ + +
'कोई कहियो रे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।
\+ + –
'घन की धुनि सुनि मोर मगन भया'
\+ + +
कोई कहे छाने, कोई कहे चौड़े, लियो री बजंता ढोल।
कोई कहै मुंहधो, कोई कहै सुंहधो, लियो री तराजू तोल।।

यहाँ क्रमशः व्यंजनों, शब्दों एवं वाक्यांशों की आवृत्ति के द्वारा भावाभिव्यक्ति को आकर्षक रूप दिया गया है, जो कवयित्री की अभिव्यंजना-शक्ति को सूचित करता है।

शैली के उपर्युक्त भेदोपभेदों के साथ-साथ छंद-वैविध्य की दृष्टि से भी मीरां का काव्य सम्पन्न है। जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीरां की पदावली' की भूमिका में स्पष्ट किया है, मीरां ने सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चन्द्रायण आदि छंद का प्रयोग किया है। उनकी भाषा मुख्यतः राजस्थानी है, किन्तु उनके कतिपय पद गुजराती एवं व्रजभाषा में भी मिलते हैं। राजस्थानी से अनभिज्ञ संपादकों ने मीरां की भाषा को तोड़-मरोड़ दिया है, पर इसके लिए मीरां को दोष नहीं दिया जा सकता।

उपसंहार इस प्रकार 'मीरां की पदावली' के विभिन्न पक्षों पर विचार कर लेने के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय-गीत-परम्परा में 'मीरां की पदावली' एक विशिष्ट स्थिति की सूचक है—वह विशिष्ट स्थिति है, जबकि एक नारी-हृदय से प्रणय-वेदना के दिव्य उद्गार सहज स्वाभाविक रूप में फूट पड़े। पुरुष के ओजस्वी स्वर भी गीति के क्षेत्र में आकर कोमल-कान्त पदावली में परिणत हो जाते हैं, फिर नारी के विरह-व्यथित करुण स्वरों की कोमलता का तो कहना ही क्या? हिन्दी की काव्य-परम्परा में मीरां के स्वरों का उद्घोष एक सर्वथा नूतन घटना का द्योतक है, जब कि एक विद्रोहिणी नारी कुल, परिवार, समाज और देश की कृत्रिम दीवारों और मिथ्या-विश्वासों के बंधनों को तोड़ती हुई अपने पवित्र लक्ष्य एवं दिव्य प्रेम की घोषणा डंके की चोट पुकार-पुकारकर करती है! भक्ति-काव्य के क्षेत्र में मीरां सगुण और निर्गुण, भक्ति और रहस्यवाद, श्रद्धा और प्रेम के अन्तर की खाइयों को पाटती हुई माधुर्य भाव के उज्ज्वल मधुर क्षेत्र का अनुसंधान करती है। वे सन्तों और भक्तों की साधना का सर्वस्व ग्रहण करती हुई भी किसी भी सम्प्रदाय की सीमाओं में बंधना अस्वीकार कर देती है। उन्हें न राणा के द्वारा ठुकराई गई भेंट की चिन्ता और न ही वे समाज की फब्तियों और निन्दकों की उक्तियों से त्रस्त होती हैं। वे तो केवल अपने साँवरिया के ध्यान में उसके सम्मुख नृत्य करने में और उसे अपने हृदय की रागिनी सुनाने में लीन है, तन्मय है। वे कविता नहीं लिखतीं, पद नहीं जोड़ती और छन्दों को नहीं गिनती यह सब-कुछ तो स्वतः ही हो जाता है! जिस प्रकार वायु के अबाध कम्पनों से वनवीथिका के पर्ण-समूह स्वतः ही निनादित हो उठते हैं, कुछ उसी प्रकार प्रणयानुभूतियों से द्रवित, विरहानुभूतियों से उच्छ्वसित एवं आनन्दानुभूतियों से तरंगित होकर उनके स्वर विभिन्न राग रागिनियों में फूट पड़े हैं, जिन्हें हम लोग कविता, पद या गीति की संज्ञा देते हैं। अस्तु, मीरां की इन सहज स्वाभाविक दिव्य अनुभूतियों के साथ किसी की क्या तुलना!

:: उनसठ ::

मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी

यद्यपि सृष्टि के आदि काव्य के विषय में आज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि काव्य-रचना का आदिस्वरूप मुक्तक ही रहा होगा; प्रबन्ध शैली का विकास तो उसके अनन्तर न जाने कितने युगों के पश्चात् धीरे-धीरे हुआ होगा। प्रायः असभ्य, अशिक्षित एवं अर्द्ध-विकसित लोग छोटी-छोटी तुकबन्दियों के द्वारा ही अपनी सृजनात्मक वृत्तियों को तुष्ट करते हैं। यही कारण है कि जन-साधारण के द्वारा रचित लोकभाषाओं के साहित्य में मुक्तक की ही प्रधानता मिलती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्तक-काव्य प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा प्राचीन, अधिक स्वाभाविक एवं अधिक लोकप्रिय रहा है। इतना अवश्य है कि मुक्तकों का प्रचलन मौखिक रूप में ही अधिक रहने के कारण उसका अधिकांश नष्ट भी होता रहा है।

विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना 'ऋग्वेद' भी मुक्तक रूप में रचित है। यद्यपि सारा ऋग्वेद विभिन्न मंडलों एवं सूक्तों में संकलित है, किन्तु एक सूक्त का दूसरे सूक्त से कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सूक्त में अनेक ऋचाएँ हैं, जो प्रायः मुक्तक रूप में ही हैं। विषय की दृष्टि से ऋग्वेद के मुक्तक साहित्य को हम मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं (१) स्तुति-काव्य-ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं जैसे "हे प्रकाशमान अग्नि ! देवों को हव्य प्रदान करनेवाले यजमानों को प्रभूत धन-दान करो।" (२) दार्शनिक तथ्य-निरूपणात्मक काव्य—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में दार्शनिक तथ्यों के निरूपण का भी प्रयास किया गया है, जैसे—'दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) मित्रता के साथ एक वृक्ष या शरीर में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा है।" (३) उपदेश मूलक सूक्तियाँ—ऋग्वेद की उपदेशमूलक सूक्तियों का सुन्दर उदाहरण 'दान-स्तुति', 'दक्षिणा' सूक्त आदि में मिलता है—"लोग दक्षिणा देते हैं,

वे स्वर्ग में उच्च आसन पाते हैं। अश्वदाता सूर्य के साथ एक होते हैं।···सभी दीर्घायु होते हैं।" इस प्रकार नीति का उपदेश देते हुए कहा गया है- "जब अपना साथी पास आता है तो मित्र होकर भी जो व्यक्ति उसे अन्न-दान नहीं करता, वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है। उसके पास से चला जाना ही उचित है।" (४) भाव-पूर्ण उक्तियाँ—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में मानवीय भावनाओं की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी मिलती है। एक स्त्री अपनी सपत्नी के प्रति द्वेष प्रकट करती हुई कहती है--'मैं सपत्नी का नाम तक नहीं लेती। सपत्नी सबके लिए अप्रिय है। मैं उससे बहुत दूर रहना चाहती हूँ।"

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेद-वेदांगों में गद्य का प्रयोग अधिक हुआ है, फिर भी उनमें यत्र-तत्र सुन्दर मुक्तक उपलब्ध होते है, जो विषय और शैली की दृष्टि से ऋग्वेद की ही परम्परा में आते हैं।

वैदिक साहित्य की मुक्तक-परम्परा को प्राकृत के कवियों ने आगे बढ़ाया, जबकि संस्कृत के काव्य-रचयिता इसे प्रारम्भ में उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे। पालि की थेरी गाथाओं में धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर रचित अनेक मुक्तक मिलते हैं। जैन कवियों द्वारा अर्द्ध-मागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित जीवन-निर्वाह करने वाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला और स्वार्थ-रहित जीने-वाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।" एक अन्य मुक्तक में कहा गया है—"जैसे बिडाल के निवास-स्थान के समीप चूहों का रहना प्रशस्त नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के मध्य ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं।"

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव स्वतन्त्र दृष्टि से काव्य-रचना करने वाले गाथा-सप्तशतीकार-जैसे कवियों की रचना में मिलता है। गाथा सप्तशती-कार के उल्लेख से सिद्ध है कि उनका लक्ष्य काम-शास्त्र की शिक्षा देना था, अतः उनके काव्य में शृङ्गार रस की प्रधानता होना स्वाभाविक था। मुक्तकों की संख्या के आधार पर नामकरण करने की प्रवृत्ति भी सबसे पूर्व गाथा सप्तशती में ही मिलती है। आगे चलकर प्राकृत एवं संस्कृत के अनेक कवियों ने हाल का अनुकरण करते हुए शृङ्गारी मुक्तकों की रचना की। प्राकृत की 'वज्जालग्गा' तथा, संस्कृत का 'अमरु शतक', 'शृङ्गार-शतक' (भर्तृहरि), 'चौर-पंचाशिका' (बिल्हण), 'आर्या सप्तशती' आदि उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य हैं।

अब तक मुक्तकों में मुख्यतः शृङ्गार, नीति और दर्शन का ही प्रतिपादन होता था, किन्तु अपभ्रंश में वीर रसात्मक मुक्तकों का भी विकास हुआ। 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु' जैसे अनेक दोहे अपभ्रंश में लिखे गये, किन्तु साथ ही शृङ्गार, नीति और उपदेश सम्बन्धी दोहे भी अपभ्रंश में कम नहीं लिखे गए। यहाँ हेमचन्द्राचार्य के 'प्राकृत-व्याकरण' से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पहिआ दिट्ठी गोरडी, दिट्ठी मग्ग निअंत।
अंसुसासेहिं कँचुआ तितुव्वाण करंत॥

"हे पथिक! गोरी देखी! हाँ देखी—मार्ग को देखती हुई आँसुओं तथा साँसों से कंचुकी को गीली सूखी करती हुई।"

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु।
हिअय ठिउ जइ नीसरहि जाणउ मंजु सरोसु॥

"हे मुंज! बाँह छुड़ाकर जा सकते हो! ऐसा ही हो तो इसमें क्या दोष! हृदय में से यदि निकलकर जाओ तो तुम्हें सरोष जानूँ।"

अंगहिं अंगु न मिलिउ, हलि अहरे अहरु न पत्तु।
पिउ जोअन्ति हे मुह कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥

"न अंगों से अंग मिले और न अधरों से अधर! प्रिय का मुख-कमल देखते-देखते ही उस नायिका का सुरत समाप्त हो गया।" कहना न होगा कि उपर्युक्त दोहों में शृङ्गार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों का निरूपण मार्मिक रूप में हुआ है।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

हिन्दी-काव्य में मुक्तक के सभी पूर्व प्रचलित रूपों का विकास सम्यक् रूप में हुआ। जहाँ कबीर, नानक, मलूकदास आदि सन्त कवियों ने तथा सूर, तुलसी, आदि भक्त कवियों ने भक्ति-भाव एवं दर्शन-सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की, वहाँ मध्य-कालीन-रीति-बद्ध कवियों ने शृङ्गार रस से ओत-प्रोत मुक्तक लिखे। रहीम, वृन्द, दीनदयाल, गिरधरदास आदि कवियों ने विशुद्ध नीति-परक मुक्तक लिखे। उधर राजस्थानी कवियों पृथ्वीराज, दुरसा, बाँकीदास आदि ने वीर रस के दोहे लिखे। महाकवि विहारी का सम्बन्ध शृङ्गार रस-सम्बन्धी मुक्तकों से ही अधिक है, अतः यहाँ इन्हीं पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उचित होगा।

हिन्दी के शृङ्गार रस सम्बन्धी मुक्तकों को भी शैली की दृष्टि से मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) बड़े छन्दों कवित्त सवैया आदि में लिखित और (२) दोहे में रचित। विहारी ने अपने काव्य के लिए दोहा शैली को अपनाया।

दोहा शैली का विकास

जैसा ऊपर कहा गया है, विहारी ने अपने काव्य में केवल "दोहा" छन्द का ही प्रयोग किया, अतः इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा। यह आश्चर्य की बात है कि विहारी के विभिन्न आलोचकों ने विहारी की चर्चा करते समय 'दोहे' की व्याख्या भी की है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति अभी अस्पष्ट है। श्री विश्वनाथ मिश्र ने 'दोधक', 'दो पथ'; 'दो गाथा', 'दो सर', 'दोहरा' आदि शब्दों में दोहे की व्युत्पत्ति का रहस्य खोजने का प्रयास किया है, किन्तु वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये। हमारे विचार से दोहा शब्द की व्युत्पत्ति 'द्विपद' से मानी जा सकती है। जैन

कवि पुष्पदन्त ने अपनी कृष्ण-लीला में दो पंक्तियों वाले छन्द विशेष के लिए "दुवई" नाम का प्रयोग किया है, जिसे राहुलजी ने "द्विपदी" का तद्भव माना है। "द्विपदी" से "दुवई" की भाँति ही "द्विपद" से 'दुवअ" की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है। दुवअ से क्रमशः दूआ, दूवा, दुहा व दोहा का विकास हुआ। दोहा छन्द का प्रयोग सर्वाधिक अपभ्रंश के सिद्ध कवियों ने किया है। संस्कृत और प्राकृत में दोहे का प्रयोग का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता। अतः सम्भव है कि दोहे का आविष्कार सर्वप्रथम लोक-काव्य के रचयिताओं के द्वारा ही हुआ हो। लोक-काव्यों में छन्दों का नामकरण प्रायः पदों की संख्या के आधार पर ही होता है। इसका प्रमाण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में देखा जा सकता है। वहाँ मालविका लोक-भाषा का एक गीत गाती है, जिसे चतुष्पदी कहा गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि दोहे का नामकरण भी उसके पदों की संख्या के आधार पर ही—द्विपद—हुआ हो।

हिन्दी काव्य में दोहे का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय अमीर खुसरो को दिया जा सकता है, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनके काव्य की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। अमीर खुसरो के दोहों को अप्रामाणिक मानने की स्थिति में 'ढोला मारू रा दूहा' के रचयिता राजस्थानी कवि कल्लोल ही हिन्दी में दोहा-शैली का प्रयोग करने-वाले सर्वप्रथम कवि कहे जा सकते हैं। कबीर की साखियाँ स्थूल रूप से दोहों के बहुत समीप हैं, यद्यपि उनमें मात्राओं की संख्या में बहुत गड़बड़ मिलती है, जिसका कारण उनका मौखिक रूप में रचित होना ही हो सकता है। कबीर के अनन्तर दादू, सुन्दरदास आदि सन्तों ने दोहों में आध्यात्मिक प्रेम एवं धार्मिक उपदेशों का वर्णन किया है।

बिहारी से पूर्व हिन्दी में अनेक कवि दोहों में शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति कर चुके थे, जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—(१) कृपाराम—हिततरंगिणी, सं० १५९३; (२) मनोहर—स्फुट दोहे, सं० १६२० वि०, (३) रहीम—सतसई, सं० १६६०, (४) मुबारक—अलक-शतक, तिलशतक, सं० १६६०; (५) रसखान—प्रेमवाटिका, सं० १६७१; (६) रस-निधि—रतनहजारा, सं० १६६०-१७१७। इन कवियों ने दोहे में उत्कृष्ट भावों की व्यंजना करके इसकी लोकप्रियता में अभिवृद्धि की।

मुक्तककार के रूप में बिहारी की प्रशंसा विभिन्न आलोचकों ने की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यहाँ तक लिख दिया है—"मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी में अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।" हमारे विचार में बिहारी की कविता में गुणों के साथ साथ अनेक दोष भी विद्यमान हैं, अतः उनका महत्व निर्धारित करने से पूर्व उनके दोनों पक्षों पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना आवश्यक है।

हमारे विचार से किसी भी मुक्तक रचना का मूल्यांकन करते समय मुख्यतः चार बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) कवि ने ऐसे विषयों, प्रसंगों एवं भावनाओं का चुनाव किया हो, जो रसाभिव्यक्ति की क्षमता रखते हों।

(२) कवि की शैली में ऐसी सजीवता एवं मार्मिकता हो कि वह छोटी-से-छोटी बात को भी मार्मिक बना सके।

(३) मुक्तककार में कल्पना की समाहार-शक्ति होनी चाहिए।

(४) भाषा-शैली में समास का गुण होना चाहिए।

(५) कवि को व्यंग्य-प्रयोग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए।

(६) भाषा में कोमलता, सरलता और प्रवाह का गुण होना चाहिए।

(७) शब्द योजना में नाद-सौन्दर्य भी हो तो अच्छा है।

'बिहारी सतसई' में उपर्युक्त विशेषताओं में से अनेक मिलती हैं। उन्होंने मुख्यत: नायक-नायिका के प्रेम एवं शृंगार रस की व्यंजना को अपना लक्ष्य बनाया। मुक्तक में रस के सभी अवयवों की नियोजना एक साथ नहीं हो पाती, अत: उसमें ऐसे ही रसों की व्यंजना हो सकती है, जो सभी अवयवों की अपेक्षा नहीं रखते। शृंगार रस में वह गुण विद्यमान है। प्रेम के क्षेत्र में आलम्बन के सौन्दर्य की एक झलक, उसकी एक चेष्टा या आश्रय की कोई मनोदशा, उसकी एक उक्ति—इनमें से किसी एक के चित्रण से ही पाठक के हृदय को झंकृत किया जा सकता है; अत: शृंगार रस को प्रमुखता प्रदान करके बिहारी ने उचित ही किया। किन्तु साथ ही अनेक विषयों का समन्वय करने की लालसा ने उनके काव्य को अनेक विरोधी भावों से ग्रसित कर दिया। एक दोहे में वे रमणी की मधुर छवि का आस्वादन करते दिखाई देते हैं, तो वे दूसरे में 'तिय-छवि' की घोर भर्त्सना में लीन हो जाते हैं। एक ओर विपरीत रति का चित्रण है दूसरी ओर अद्वैत का प्रतिपादन। कहीं हास्य की हल्की मुस्कान है तो कहीं नीति के कठोर तथ्यों की गम्भीरता। यही कारण है कि बिहारी के काव्य की मूल भाव-धारा अबाध रूप से आगे नहीं बढ़ पाती, वह अनेक स्थानों पर विच्छिन्न होकर सूखती हुई-सी इधर-उधर बँटकर लुप्त हो जाती है।

छोटी-से-छोटी बात को भी मार्मिक बना देने की कला में बिहारी सिद्ध-हस्त हैं। नायिका की साधारण-सी चेष्टा—हाव - को भी बिहारी ने अत्यन्त चित्ताकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है—

भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मोरि-मोरि मुँहु मोरि!
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि॥

इसी प्रकार नायिका की चितवन का चित्रण देखिए—

अनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान॥

यहाँ चितवन की किसी विशेषता के बारे में कुछ न कहकर भी उसे रहस्यमय ढङ्ग से अद्‌भुत आकर्षक रूप प्रदान कर दिया गया है।

कल्पना की समाहार-शक्ति के भी अनेक प्रमाण बिहारी में मिलते हैं; देखिए—

अहे दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकै है छीकै छुये, ऐसे ही रहि नारि॥

यहाँ केवल कुछ संकेतों द्वारा ही पूरे दृश्य का अंकन कर दिया गया है। कवि ने पूरी बात न कहकर केवल कुछ ऐसे ही कथ्यों की ओर संकेत किया है, जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके। एक उदाहरण देखिए—

परतिय दोषु पुराण सुन, लखि मुलकि सुखु दानि !
कसु करि राखि मिश्र हू, मुँहे आई मुसकानि ।।

यहाँ भी कवि ने दो पंक्तियों से ही एक पूरी कहानी कह डाली है। कथावाचक महोदय और उक्त 'सुखदानि' का कोई परिचय दिये बिना ही तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई चर्चा किए बिना ही कवि ने इस विशेष परिस्थिति का चित्रण इस ढङ्ग से किया है कि जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके !

भाषा की समास शक्ति का गुण भी बिहारी-सतसई में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। वे कम-से-कम शब्दों में एक दीर्घ इतिवृत्त, विस्तृत प्रसंग एवं सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं; देखिए –

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै भौंहनु हँसै, देन कहै नट जाइ ।।

चित पितु मारक जोगु गुनि, भयो भयें सुत सोगु ।
फिर हुलस्यो जिय जोइसी समुझे जारज जोगु ।।

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित्त प्रीति ।
परति गाँठि दुर्जन हिये, दई नई यह रीति ।।

व्यंजना का वैभव भी बिहारी सतसई में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी अन्योक्तियों में प्रभावित करने की असाधारण शक्ति विद्यमान है। जयसिंह जैसे शूरवीर नायक के हृदय को भी उन्होंने अपने व्यंग्य के निम्नांकित तीरों से बेधने में सफलता प्राप्त की थी—

नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकासु इहि काल ।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल ।।

\+ + +

स्वारथ, सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंगु विचारि ।
बाज पराये पानि परी तू पच्छीनु न मारि ।।

भाषा में कोमलता, सरसता और नाद सौन्दर्य का गुण भी बिहारी सतसई के कतिपय दोहों में परिलक्षित होता है—

तंत्री-नाद; कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ।।

\+ + +

लाल तिहारे बिरह की अगिनि अनूप अपार ।
सरसै बरसै नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार ।।

\+ + +

रस सिंगार मंजनु किए कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन॥

इस प्रकार बिहारी-सतसई में मुक्तक काव्य के प्रायः सभी गुण ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु साथ ही उसमें अनेक दोष भी विद्यमान हैं। जैसा पहले संकेत किया गया है—एक तो इसमें बेमेल विषयों को एक साथ रख दिया गया है। "करी बिहारी सतसई भरी अनेक संवाद" वाली उक्ति से सिद्ध होता है कि अपनी सतसई को अनेक स्वादों से युक्त करने की लालसा से प्रेरित होकर कवि ने उसमें अनेक विरोधी भावों को प्रस्तुत कर दिया है। दूसरे, कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति कई स्थलों पर गुण की अपेक्षा दुर्गुण अधिक बन गई है—इनके कारण उनके अनेक दोहों के प्रसंग व अर्थ की जानकारी के लिए क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। इसी दुर्बोधता के कारण सतसई के आस्वादन के लिए मस्तिष्क को अच्छा व्यायाम करना पड़ता है। व्यंजना के फेर में पड़कर बिहारी ने कई दोहों को अस्वाभाविकता की अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया। उनकी भाषा में भी सर्वत्र स्वाभाविक प्रवाह नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल ने भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है, उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष में समझना चाहिए...। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में—कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।...मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता है।" आश्चर्य है कि अपने इस निष्कर्ष के बावजूद भी आचार्य शुक्ल ने बिहारी की कविता को मुक्तक काव्य के सर्वगुणों से सम्पन्न बताया है। हमारी दृष्टि में मार्मिकता के अभाव में चाहे वह मुक्तक हो या प्रबन्ध—सच्चे काव्य के गौरव से विभूषित नहीं हो सकता। यदि निष्पक्ष रूप से विचार करें, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि घनानन्द की-सी प्रणय-विह्वलता, देव की-सी भावानुभूति और पद्माकर का-सा युक्ति-माधुर्य बिहारी में नहीं मिलता। हाँ, भाषाभ्यास, विद्वत्ता और पुराने कवियों की उक्तियों का अनुवाद करने की कला की दृष्टि से अवश्य बिहारी एक सफल मुक्तककार हैं। ध्यान रहे, "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" जैसे अनेक दोहे बिहारी की 'मजमून छीनने या चुराने' की ही कला के द्योतक हैं, मौलिकता की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं। फिर भी सभी गुण-दोष का संग्रह एक ही पुस्तक में ढूंढ़ने वाले विद्वानों के लिए 'बिहारी' अत्यन्त उपयोगी रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

:: साठ ::

भारतेन्दु की काव्य-साधना

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्हे दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह 'ग्रीषमें प्यारे हिमन्त" बनाइये॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वि० खंड, पृ० ८६६

जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवतार धारण किया वह हिन्दी भाषा साहित्य के लिए कितना प्रतिकूल था, इसका आभास उपर्युक्त छन्द से मिलता है। यद्यपि अंग्रेजों का शासन काल भारत में बहुत पूर्व फैल चुका था, किन्तु फिर भी भारतीय जनता को आशा थी कि फिरंगी यहाँ अधिक देर नहीं टिकेंगे। पर १८५७ ई० की क्रान्ति की विफलता ने तो इस आशा को भी निराशा में परिणत कर दिया था। इस क्रान्ति से लेकर सन् १८८५ ई० (इंडियन नेशनल कांग्रेस का स्थापना-काल) तक का समय राजनीतिक दृष्टि से भारतीय जनता के लिए घोर निराशा और गहरी सुषुप्ति का युग था, जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना के दर्शन नहीं होते। ऐसी गाढ़ निद्रा में संभव था कि भारतीय जनता नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी सदा के लिए लुट जाती, उसके आदर्शों का पतन हो जाता और वह प्राणविहीन होकर अपना अस्तित्व मिटा देती, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका क्या कारण है?

बात यह है कि इसी युग में दो ऐसी महान् आत्माओं का अवतरण हुआ, जिन्होंने सोती हुई भारतीय जनता के चारों ओर घूमकर पहरा दिया। एक ने उसकी धार्मिक सामाजिक धरोहर की रक्षा की, तो दूसरे ने उसके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गौरव को बचाया। एक ने उसे तर्क के ऐसे तीखे शस्त्र दिए जिनकी सहायता से वह दूसरे धर्मों के विरोधियों से युद्ध कर सकी, तो दूसरे ने उसे वह शक्ति और उत्साह प्रदान किया जिसके बल पर वह आगे बढ़ सकी। एक ने आत्मगौरव को जागृत किया, दूसरे ने उसका ध्यान अपनी हीन अवस्था की ओर आकर्षित किया।

एक ने उसके मस्तिष्क को समृद्ध बनाया तो दूसरे ने उसके हृदय को सशक्त किया। एक ने समाज को नया जीवन प्रदान किया तो दूसरे ने राष्ट्रीय भावों को आन्दोलित किया। कहने की आवश्यकता नहीं—इसमें एक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे तो दूसरे भारत के इन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व और जीवन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक धनाढ्य परिवार में भाद्रपद शुक्ल ५ संवत् १९०७ तदनुसार २ सितम्बर सन् १८५० को और उनका देहावसान ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ में हुआ। उनके पिता बाबू गोपाल राम गिरधर भक्त और साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने 'नहुष-वध' नाटक और कुछ कविताएँ लिखी थीं। हरिश्चन्द्रजी को घर पर ही विभिन्न भाषाओं की शिक्षा प्राप्त हुई थी। ग्यारह वर्ष की आयु से ही वे कविताएं लिखने लग गये थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गये थे। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगला साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों से हुआ। वहाँ से लौटकर उन्होंने नाटक व कविताएँ लिखने के साथ-साथ 'कवि वचन सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का प्रकाशन भी किया। उनकी समस्त रचनाओं की संख्या १७५ के लगभग है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अत्यन्त सरल, विनोदी, स्वाभिमानी एवं उदार स्वभाव के थे। अपनी अति उदारता के कारण ही वे अपने पूर्वजों की सम्पत्ति लुटाकर दरिद्र हो गये। जीवन के अंतिम दिनों तक वे साहित्यकारों कवियों व दीन-दुखियों की सहायता करते रहे। उनके व्यक्तित्व में ऐसी प्रभावशाली शक्ति थी कि वे अपने संपर्क में आने वाले लोगों को मुग्ध कर लेते थे। जहाँ साहित्य के क्षेत्र में वे कवि, नाटककार, इतिहासकार, समालोचक, पत्र-सम्पादक आदि थे तो समाज एवं राजनीति के क्षेत्र में वे एक राष्ट्र-नेता और सच्चे पथ-प्रदर्शक थे। विभिन्न अवसर पर उन्होंने जनता के रोष एवं विरोध की अभिव्यक्ति करके विदेशी सरकार से भी विद्रोह किया था। जब राजा शिवप्रसाद को उनकी चाटुकारिता के बदले में सरकार के द्वारा 'सितारे-हिन्द' की पदवी दी गई तो जनता ने भी अपने प्रिय नेता और साथी को 'भारतेन्दु' विशेषण से विभूषित किया। भारत की जनता उन्हें कितना चाहती थी और वे स्वदेश को कितना चाहते थे, इसका परिचय उसी महाकवि की इन पंक्तियों से मिलेगा—

कहैंगे नैन नीर भरि भरि, पाछे, प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।

अपनी प्रिय जनता के लिए भारतेन्दु जहाँ लखपति से कंगाल हो गये थे, वहाँ उन्होंने अपने नाम को भी घिसकर 'हरिश्चन्द्र' से 'हरिश्चन्द' बना डाला था। वस्तुतः अपने जीवन-काल में ही जैसी लोकप्रियता भारतेन्दु को प्राप्त हुई थी, वैसी सम्भवतः हमारी जानकारी में किसी अन्य हिन्दी कवि को अभी तक प्राप्त नहीं हुई।

भारतेन्दु के काव्य-ग्रंथ

भारतेन्दु के समस्त काव्य-ग्रन्थों का संकलन काशी नागरी प्रचारिणी सभा,

काशी द्वारा 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' दूसरा खण्ड मे हुआ है। उनके काव्य-ग्रन्थों की संख्या ७० है; उन सबका यहाँ परिचय देना तो सम्भव नहीं, अत: हम केवल नामावली प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लेते हैं – (१) भक्त-सर्वस्व (२) प्रेम-मालिका (३) कार्तिक स्नान (४) वैशाख माहात्म्य (५) प्रेम-सरोवर (६) प्रेमाश्रुवर्षण (७) जैन कुतूहल (८) प्रेम-माधुरी (९) प्रेम तरंग (१०) उत्तरार्ध भक्तमाल (११) प्रेम प्रलाप (१२) गीत गोविन्दानन्द (१३) सतसई शृङ्गार (१४) होली (१५) मधु-मुकुल (१६) राग-संग्रह (१७) वर्षा-विनोद (१८) विनय-प्रेम पचासा (१९) फूलों का गुच्छा (२०) प्रेम-फुलवारी (२१) कृष्ण चरित्र (२२) श्री अलवरत वर्णन (२३) श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र (२४) सुमनाञ्जलि (२५) प्रिंस आव् वेल्स के पीड़ित होने पर कविता (२६) श्री जीवन जी महाराज (२७) चतुरंग (२८) देवी छद्म लीला (२९) प्रात-स्मरन मंगल पाठ (३०) दैन्य-प्रलाप (३१) उरेहना (३२) तन्मय-लीला (३३) दान-लीला (३४) रानी छद्म-लीला (३५) संस्कृत-लावनी (३६) बसन्त होली (३७) स्फुट समस्याएँ (३८) मुँह-दिखावनी (३९) उर्दू का स्यापा (४०) प्रबोधिनी (४१) प्रात. समीरन (४२) बकरी-विलाप (४३) स्वरूप चिन्तन (४४) श्री राजकुमार शुभागमन वर्णन (४५) भारत-भिक्षा (४६) श्री पंचमी (४७) श्री सर्वोत्तम स्तोत्र (४८) निवेदन-पंचक (४९) मानसोपायन (५०) प्रात. स्मरण स्तोत्र (५१) हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान (५२) अपवर्गदाष्टक (५३) मनोमुकुलमाला (५४) वेणु-गीति (५५) श्रीनाथ स्तुति (५६) बुध ग्रहन (५७) अपवर्ग पंचक (५८) पुरुषोत्तम-पंचक (५९) भारत-वीरत्व (६०) श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र (६१) श्री राम-लीला (६२) भीष्म स्तवराज (६३) मान-लीला फूल-बुझौवल (६४) बन्दर-सभा (६५) विजय-वल्लरी (६६) विजयिनी-विजय-वैजयन्ती (६७) नये जमाने की मुकरी (६८) जातीय संगीत (६९) रिपनाष्टक (७०) स्फुट कविताएँ।

उपर्युक्त ग्रन्थ-सूची के देखने-मात्र से स्पष्ट होगा कि भारतेन्दु के काव्य का क्षेत्र कितना व्यापक है। उनके काव्य में मुख्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं— (१) भक्ति-भावना एवं धार्मिक उपदेश, (२) सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना, (३) देश-प्रेम की व्यंजना और (४) हास्य और व्यंग्य। इन प्रवृत्तियों पर थोड़ा प्रकाश यहाँ डाला जा रहा है।

(१) भक्ति-भावना—भारतेन्दु के पिता भक्त थे और अपना समय हरि-कीर्तन में बिताते थे। यह भक्ति के संस्कार भारतेन्दु को पैतृक-दाय के रूप में प्राप्त हुए थे। 'भक्त-सर्वस्व', 'कार्तिक-स्नान', 'वैशाख माहात्म्य', 'उत्तरार्ध-भक्तमाल' आदि रचनाएँ विशुद्ध भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने अपने आपको राधा कृष्ण का अनन्य उपासक घोषित किया है—

> [illegible] हो [illegible], [illegible] मुनि [illegible] धन पावो !
> [illegible] पतित [illegible] मुनि के चित्त नचावो ॥
> [illegible] हरिचन्द [illegible] कोऊ [illegible] ताको ।
> [illegible] कोऊ [illegible] नाचो ॥

कार्तिक स्नान

भक्ति-मार्ग का सच्चा पथिक ज्ञान और कर्मकाण्ड की अवहेलना करता है। यही कारण है, भारतेन्दु ने भी संध्या-पूजा, स्नानादि से 'क्षमा' माँगी है—

संध्या जु आपु रहो घर नीको, नहान तुम्हें हैं प्रणाम हमारी।
देवता पित्र छमो मिलि मोहि, अराधना होइ सकै न तुम्हारी॥
वेद पुरान सिधारो तहाँ, 'हरिचन्द' जहाँ तुम्हरी पतियारी।
मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नन्दलला वृषभानु-दुलारी॥

अपने आराध्य देव की विभिन्न लीलाओं का चित्रण उन्होंने प्रीतिपूर्वक किया है। देवी छद्म-लीला, तन्मय लीला आदि में कृष्ण के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत किया गया है। राधा-कृष्ण की छवि को उन्होंने एक भक्त की दृष्टि से देखा है—

नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।
मनमोहन सुन्दर नट-नागर श्री वृषभानु-किशोरी।
कहा कहूँ छवि कहि नहिं आवै वै साँवर यह गोरी।
वे नीलाम्बर सारी पहिने उनकी पीत पिछोरी
एक रूप, एक वेस, एक वय, बरनि सकै कवि को री।
'हरिचंद' दोऊ कुंजन ठाढ़े, हँसत करत चित-चोरी।

× × ×

नैन भरि देखो गोकुल-चंद।
संग सोहत वृष भानु-नंदिनी प्रमुदित आनन्द-कंद।
'हरिचंद' मन लुब्ध मधुप तहँ पीवत रस मकरंद।

उनकी भक्ति-भावना में तन्मयता की चरम स्थिति का भी बोध होता है—

सब ब्रज बरजो, परिजन खीझो, हमरे तो हरि प्रान।
'हरिचंद' हम मगन प्रेम-रस सूझत नाहिन आन॥

भक्ति-भावना को आचार्यों ने दास्य, शान्त, माधुर्य, सख्य, वात्सल्य आदि भेदोपभेदों में विभाजित किया है, किन्तु भारतेन्दु की भक्ति-भावना को हम इनमें से किसी वर्ग में भी सीमित नहीं रख सकते। जहाँ उन्होंने राधा-कृष्ण की लीलाओं के आख्यान में माधुर्य भाव का विकास किया है; वहाँ वे व्यक्तिगत आत्मनिवेदन में अनन्यता का प्रदर्शन करते हैं—

उधारो दीन-बन्धु महराज!
जैसे हैं तैसे तुमरे ही, नाहि और सों काज।
जो बालक कपूत घर जनमत करत अनेक बिगार।
तो माता कहा वाहि न पूछत भोजन समय पुकार।

मध्यकालीन भक्तों की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अपने उद्धार के लिए विभिन्न युक्तियों से काम लेते हैं। कभी वे अपने आराध्य से अनुरोधपूर्वक निवेदन करते हैं तो कभी सूरदास की भाँति उन्हें उबारने का 'चैलेंज' देकर उकसाते हैं—

आजु हम देखत हैं को हारत !
हम अघ करत कि तुम मोहि तारत, को निज बान बिसारत।

× × ×

कहो तुम व्यापक हो कि नांही !
जो तुम व्यापक हो तौ अघ करि क्यों हम नरकहि जाहीं।

साथ ही वे अपने पापों का लेखा भी बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं—

कहो में ठाम न नेकु रही !
गरि गई लिखत-लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही।
चित्रगुप्त हारे अति थकि कै बेसुध गिरे महो।

वस्तुतः भारतेन्दु के काव्य में भक्ति की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास उपलब्ध होता है। यदि उनके शेष काव्य को छोड़कर केवल भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो वे सचमुच एक उच्च कोटि के भक्ति-कवि दिखाई पड़ेंगे।

(२) शृङ्गार भावना – भारतेन्दु की अनेक रचनाओं—प्रेम-सरोवर, प्रेमाश्रु, प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी आदि—में विशुद्ध शृङ्गार-भावना की अभिव्यक्ति हुई है। इससे पूर्व उनका प्रेम-सम्बन्धी आदर्श एवं उसकी महत्त्व-सम्बन्धी विचार-धारा द्रष्टव्य है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥

× × ×

एकंगी बिनु कारने इक रस सदा समान।
पियहि गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान।

प्रेम के इसी उच्च आदर्श को लेकर भारतेन्दु शृङ्गार-वर्णन में प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने प्रेमालम्बन—नायिका सौन्दर्य—का आकलन किया है, किन्तु उसमें स्थूल मांसलता एवं अश्लीलता को प्रमुख स्थान नहीं दिया है। एक वयःसन्धि की अवस्था को प्राप्त बाला की सूक्ष्म चेष्टाओं का चित्रण देखिए—

सिसुताई अजौं न गई तन तें, तऊ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी।
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी।

यहाँ वयःसन्धि की अवस्था में शैशव एवं यौवन के समागम का चित्रण अत्यन्त कलात्मकता-पूर्वक हुआ है। रीतिबद्ध कवियों की भाँति उन्होंने उरोजों की पीनता एवं कटि की क्षीणता का उल्लेख नहीं किया है और न ही उसके अंग-प्रत्यंगों की नाप-जोख की है। फिर भी इस चित्र में ऐसी मादकता आ गई है कि यह अनायास ही पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेता है।

भारतेन्दु की प्रेम-धारा घनानन्द-बोधादि के स्वतन्त्र मार्ग पर प्रवाहित होती है। इस प्रकार के प्रेम में पद-पद पर पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है, किन्तु इससे उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती, अपितु संघर्षों की आग में पड़कर ही सच्चा प्रेम निखरता है; अधिक गंभीर होता है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था भारतेन्दु की नायिका को भी अपनी सखियों का निषेध; कौटुम्बिक जनों का विरोध और समाज के लोगों का उपहास सहन करना पड़ता है, किन्तु उसके प्रेम में कोई न्यूनता नहीं आती। एक ओर वह सखियों से अपनी विवशता प्रकट करती है—

"सजनी मन पास नहीं हमरे,
तुम कौन को का समुझावती हो।"

तो दूसरी ओर वह अपने विरोधियों को स्पष्ट उत्तर दे देती है—

इन नैनन में वह साँवरी मूरति, देखति आनि अरी सों अरी।
अब तो है निबाहिबो याकी भलो, 'हरिचंद' जू प्रीत करी सो करी।
उन खंजन के मद गंजन सों, अँखियाँ ये हमारी लरी सो लरी।
अब लोग चबाव करो तो करो, हम प्रेम के फंद परी सो परी।

भारतेन्दु के प्रेम-वर्णन में यद्यपि कहीं-कहीं संयोग की घड़ियों का भी प्रवेश हुआ किन्तु अधिकता उसमें विरह-वर्णन की है। उन्होंने वियोग की विभिन्न अनुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक शब्दों में की है। प्रियतम के एक ही गाँव में रहते हुए भी प्रेयसी के दर्शनों की लालसा उसे सदा उत्कंठित बनाए रखती है—

एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहो नहिं जानति हैं।
पुनि पाँचवें सातवें आवत-जात की आस न चित्त में आनति हैं।
हम कौन उपाय करें इनको 'हरिचंद' महा हठ ठानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं॥

एक अन्य बाला अपने प्रियतम के दर्शन की लालसा से प्रेरित होकर किसी अपरिचित के द्वारा संदेश भेजती है—

मैं वृषभानुपुरा की निवासिनि मेरी रहै व्रज वीथिन भाँवरी।
एक संदेसो कहौं तुम सों पै सुनो जो करो कुछ ताको उपाव री।
जो 'हरिचंद' जू कुंजन में मिलि जाहो करो लखि कै तुम बावरी।
बूझी है जोने दया करिकै कहियै परसों कब होयगो रावरी॥

इस सन्देश में दैन्य, संकोच, उत्सुकता, उपालंभ, क्षोभ आदि अनेक संचारियों का समन्वय स्वाभाविक रूप में हुआ है। एक ओर तो संदेश-वाहक के प्रति अनुनय है तो दूसरी ओर प्रिय की उपेक्षा का रोग भी हृदय में खटकता-सा प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं विरह-वेदना-विस्तार व्याधि के रूप में होता हुआ 'मरण-दशा' के समीप पहुँच गया है—

व्याकुल हौ तड़पौं बिनु पीतम कोऊ तो नेकु दया उर लाओ।
प्यासी जहौं सब रूप-सुधा बिनु पाहिप पी को पपीहै पिआओ॥

जीअ में होत कहूँ रहि जाय न हा 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे कोऊ हाल तौ जाइ कै मेरो सुनाओ।

यहाँ आशा की सघनता है, अतः उनमें चंचलता की मात्रा अधिक है; किन्तु जीवन की अन्तिम घड़ियों में, जबकि घोर निराशा के कारण हृदय की व्यथा अन्तर की गहराई में छिप जाती है और जब प्रिय-दर्शन की समस्त लालसाएँ सिमटकर प्राणों के भीतर केन्द्रित हो जाती हैं तो इस चंचलता के स्थान पर गम्भीरता आ जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में इसी मनोदशा का उद्‌घाटन हुआ है--

आजु लौं जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कुछ नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं॥

इन शब्दों में प्रिय की उपेक्षा का गहरा क्षोभ विद्यमान है, किन्तु इससे प्रणय में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ पाई है। प्रिय के कारण उसे गहरे सन्ताप का अनुभव करना पड़ा है, किन्तु वह इसका दोष अपने ही भाग्य को देती है। प्रियतम के दिए हुए दारुण दुःख को वह गरल की भाँति चुपचाप पी जाती है। फिर भी उसे किसी प्रकार का 'उराहना' या कोई भी शिकायत नहीं है। वस्तुतः यह प्रेम की वह परम अवस्था है, जबकि अहं और स्वार्थ का पूर्णतः विगलन हो जाता है, और इस स्थिति में; आलम्बन के हर सम्भव व्यवहार से, प्रणयानुभूति में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता। संभवतः इसी विशुद्ध गम्भीर प्रेम के लिए कहा है—

एकंगी बिनु कारने इक रस सदा समान!
पियहिं गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान!!

इसलिए प्रेम-मार्ग के पथिकों को असह्य कष्टों एवं संघर्षों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उनका इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उनके इस दुःख को संसार दुःख नहीं मानता। उन्हें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता, जो उनकी गूढ़ व्यथा को समझ सके। मानो कि इसीलिए सारे संसार में उनके लिए—'कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनति है।" भारतेन्दु की नायिका को भी इसी कठोर परिस्थिति का सामना करना पड़ता है—

सांचो प्रेम को जो मनुहार 'हरिचंद' यथारथ होत यथा है!
[illegible] मे दुकानन मे बदनाम होन को मारो फवा है!
[illegible] जिय देत [illegible] बिधि और उजार सबै बिरथा है!
काहे [illegible] के सादे मोहि नाहक पूछत कौन बिथा है!

भारतेन्दु की इन प्रेमानुभूतियों की स्वाभाविकता, सरलता एवं गम्भीरता है [illegible] घनानन्द को छोड़कर [illegible] घनानन्द की भाषा [illegible] किन्तु भारतेन्दु [illegible]

प्रयोग मिलता है; अतः रसानुभूति की दृष्टि से भारतेन्दु के सवैयों में घनानन्द के कवित्तों से भी अधिक प्रभावोत्पादन की शक्ति है।

देश-प्रेम—भारतेन्दु भक्त थे, शृंगारी थे, किन्तु इन सबसे अधिक वे देश-सेवक थे। जब इस क्षेत्र में वे प्रवेश करते हैं तो उनकी भक्ति-भावना और शृंगारिकता पीछे रह जाती है। राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी जब उन्होंने देखा कि सनातनियों के विद्वेष के कारण जैन भाई रुष्ट हो रहे हैं तो उन्होंने 'जैन कुतूहल" लिखकर जैन तीर्थंकारों की स्तुति की है। जिस कवि ने घोषित किया था—"मेरे तो साधन एक ही है, जग नन्द-लला वृषभानु-दुलारी"—उसी ने राष्ट्रीय एकता के निमित्त अर्हन्त, ऋषभ एवं पार्श्वनाथ की स्तुति के प्रेम-पूर्ण गीत लिखे—

पियारे दूजो को अरहन्त !
पूजा जोग मानि कै जग में जाको पूजें सन्त !!
× × ×
जय जय जयति ऋषभ भगवान।
× × ×
तुमहि तो पार्श्वनाथ हो प्यारे।

इसी प्रकार जब महात्मा दयानन्द विभिन्न धर्मों का खण्डन करते हुए वैदिक धर्म के प्रचार में व्यस्त थे तो भारतेन्दु ने नम्रतापूर्वक उनका विरोध किया। यह विरोध इसलिए नहीं कि वे सनातनी थे, अपितु इसलिए कि इससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँच रहा था। भारत में रहनेवाले सभी धर्मों के अनुयायी अन्ततः भारतीय ही हैं, अतः किस धर्म का खण्डन किया जाय—

खंडन जग में काकों कीजै !
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै !!
तासो बाहर होइ कोऊ जब तब कछु भेद बतावै !!
× × ×
अपुने ही पै क्रोधि बावरे अपुनो काटैं अंग !
'हरीचंद' ऐसे मतवारेन कौ कहा कीजै संग !!

"अपुनो काटै अंग" में कैसी दूरदर्शिता छिपी हुई है। भारतेन्दु ने कांग्रेस की स्थापना से भी वर्षों पूर्व यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि हमने दूसरे धर्मों के खण्डन का मार्ग अपनाया तो यह अपना ही अंग कटाने के समान सिद्ध होगा कि यद्यपि उस युग में पाकिस्तान की कोई कल्पना ही नहीं थी, किन्तु भारतेन्दु इस दुष्परिणाम को भाँप चुके थे। विद्वान भारतेन्दु की राष्ट्रीयता को हिन्दू राष्ट्रीयता तक सीमित मानते हैं।

भारतेन्दु ने सब धर्मों की भाँति राष्ट्र की सब भाषाओं से प्यार किया था। उन्होंने पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू आदि का न केवल अध्ययन किया था, अपितु उसमें सरल काव्य की रचना की थी। आज जबकि हम भाषा-

सम्बन्धी छोटी बातों को लेकर झगड़ रहे हैं, भारतेन्दु के इस व्यापक दृष्टिकोण से लाभ उठा सकते हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

बंगला— निभृत निकुंजे सई ओ बाँशी बाजिल,
पूरित करिया बन भेदिया गगन घन।
× × ×
'हरिश्चन्द्र' श्याम-बाँशी-स्वर कामदेव फाँसी,
कुलवधू सुनिबाई आर्य पथ त्याजिला —भा० ग्रं० २।२१८

पंजाबी— बेदरदाँ वे लड़िये लगी तेड़े नाल।
बेपरवाही वारी जो तू मेरा साहब असी इत्थों विरह-विहाल।
चाहने वाले दी फिकर न बुझ नूँ गल्लों दा ज्वाब न स्वाल।
'हरीचन्द' ततबीर ना सुजदी आशक बेतुल-माल।

राजस्थानी — बिहारी जो कोई छै तम्हारो यहाँ काज।
तुम सौतिन रे मद रा मातया, रंग रंगीला साज।
रन बसे जहाँ वहाँ सिधारो म्हाने तो लागू छै घणी लाज।
'हरिश्चन्द्र' थार चरनन लागूँ छिमा करो महाराज।

भारतेन्दु के देश-प्रेम का दूसरा रूप विदेशी शासकों के विरोध के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। एक ओर उन्होंने स्वदेशवासियों को जगाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर वे अंग्रेज शासकों की कुटिल नीति की भर्त्सना स्थान-स्थान पर करते हैं। उन्होंने लार्ड रिपन [illegible] की स्तुति में "रिपनाष्टक" लिखा था, किन्तु इसी से हिन्दी के कुछ आलोचक उन्हें 'राजभक्त' समझने की भूल कर बैठे हैं। [illegible] कविता [illegible] केवल शीर्षक को ही देखने से—यह कविता राजभक्ति की ओतप्रोत प्रतीत होती है किन्तु इसके भीतर विद्रोह की आग भरी हुई है—

आर्य गगन को का भयो, जो अति प्रफुलित भान।
सबै [illegible] ने आजु क्यों, यह पद नाहिं जान्यो जान।
× × ×
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

और

[illegible]

भारत राज मंझार जो कहुँ काबुल मिलि जाई।
जज्ज कलक्टर होइ हैं हिन्दू नहि तित धाइ॥

अंत में वे अंग्रेजों की नीति का रहस्योद्घाटन करते हुए निर्भीकतापूर्वक घोषित करते हैं --

सब सब लड़वाइ दूर रहि लखिय तमासा।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दीजै आसा॥

वस्तुतः भारतेन्दु ने यहाँ जिस साहस का परिचय दिया है, वह उस युग के लिए आश्चर्य की बात कही जा सकती है। विदेशी शासकों की ऐसी स्पष्ट आलोचना मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि भी, जिन्होंने कि राष्ट्रीय आन्दोलन को अपनी आँखों से देखा था, नहीं कर सके, जबकि उन्हें 'राष्ट्रकवि' की संज्ञा दी जाती है।

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना का प्रकाशन उनके नाटकों में भी गंभीर रूप में हुआ है, जिसकी चर्चा अलग निबन्ध में की जाएगी।

(४) हास्य और व्यंग्य —भारतेन्दु-काव्य में हास्य-व्यंग्य की अभिव्यक्ति भी हुई, किन्तु उनका हास्य प्रायः सोद्देश्य है। 'उर्दू का स्यापा' में उनका हिन्दी-प्रेम छिपा है—

है है उर्दू हाय हाय ! कहाँ सिधारी हाय हाय !
× × ×
चरख-जुवानी हाय हाय। शोखबयानी हाय हाय !!

तत्कालीन 'इन्दर सभा' जैसे निम्नस्तरीय नाटकों का उपहास करते हुए उन्होंने 'बन्दर सभा' की रचना की। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सभा में दोस्तो बन्दर की आमद है;
गधे औ फूलों के अफसर की आमद आमद है।
मरे जो घोड़े तो गदहा या बादशाह बना,
उसी मसीह के पैकर की आमद आमद है।
× × ×
पाजी हूँ मैं कौम का बन्दर मेरा नाम।
बिन फुजूल कूदे फिरे मुझे नहीं आराम॥

उपर्युक्त अंशों में सामान्य हास्य की मात्रा ही अधिक है, उसमें व्यंग्य बहुत कम है, किन्तु 'नये जमाने की मुकरी' में उन्होंने 'अंग्रेज', 'पुलिस', 'खिताब' आदि पर तीखे व्यंग्य किए हैं --

भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेज।
× × ×
कपट कटारी जिय में हुलिस, क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि पुलिस।
× × ×

इनको उनकी खिदमत करो, रुपया देते-देते मरो !
तब आवै मोहिं करन खराब क्यों मखि सज्जन नहीं खिताब !!

भारतेन्दु के हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास उनके नाटकों—'पाखंड विडम्बनम्' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी···' आदि में हुआ है, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जायेगी।

(५) **शैली व भाषा**—भारतेन्दु ने मुख्यतः मुक्तक एवं गीति-शैली का प्रयोग किया है। उनके मुक्तकों में भावात्मकता एवं मार्मिकता विद्यमान है प्रायः इन्होंने कवित्त, सवैये एवं दोहों को अपनाया है। उनके गीतों में गीतिकाव्य के सभी गुण—भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता एवं कोमलता—मिलते हैं; देखिए—

सखी ए नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराए हरि सों जब सों जाई जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।।
मेरी सीख प्रीत सब छांड़ो ऐसे ये निगुरे।
जग खीझ्यो बरज्यो वै ए नहिं हठ सो तनिक मुरे।।
'हरीचन्द' देखत कमलन से विष के बुते छुरे।।

ध्यान रहे, इस गीत का राग सारंग है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने कर दिया।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने कुछ छोटे-छोटे प्रबन्ध गीति भी लिखे हैं, जैसे 'देवी छद्मलीला', 'तन्मयलीला', 'रानी छद्मलीला' आदि।

भारतेन्दु ने यद्यपि खड़ीबोली, उर्दू, बंगला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में काव्य-रचना की है, किन्तु मुख्यतः उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। उनकी भाषा में सरलता, सरसता एवं प्रवाह का गुण विद्यमान है। साथ ही उन्होने भावानुकूल ओज एवं माधुर्य का समावेश भी किया है; जैसे—

उठहु वीर तलवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल जवन-हृदय पर।।
मारू बाजे बजे कहौं धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका शत्रु हृदय लखि लखि थहरवाहीं।।

यहाँ वीर रस के अनुकूल ओजपूर्ण शब्दों का समावेश है। उनकी शैली का माधुर्य पीछे शृङ्गार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयों में देखा जा सकता है।

उपसंहार

भारतेन्दु-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस महाकवि ने भक्ति, शृङ्गार, राष्ट्र प्रेम, हास्य-व्यंग्य आदि विभिन्न भावनाओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। वस्तुतः उनका काव्य किसी-न-किसी रूप में वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, रीति काल और आधुनिक काल—चारों कालों के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—' अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से

एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति झूमते हुए नई भक्तमाल गूंथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है··· प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।"

वस्तुतः भारतेन्दु की समता हिन्दी का कोई कवि नहीं कर सकता। अपने साँवरे के गुणों का गान करनेवाले सूरदास में भावुकता तो थी, किन्तु उनकी दृष्टि एक ही क्षेत्र तक सीमित रही। महाकवि तुलसीदास का काव्य क्षेत्र तो व्यापक था, किन्तु उनका आविर्भाव ही उस युग में हुआ था, जब कि आधुनिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ था। रीतिकालीन कवि भी कोरी शृंगारिकता तक ही सीमित थे। एक सच्चा भक्त, एक सच्चा रसिक और सच्चा राष्ट्र भक्त तथा प्राचीन और नवीन—दोनों युगों का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं, तो वह हमारी दृष्टि में एकमात्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही है।

०

: इकसठ :

भारतेन्दु की नाट्य-कला

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में कुछ नाटक लिखे गए थे, किन्तु उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव था। स्वयं भारतेन्दु ने अपनी प्रथम-नाट्य-रचना 'विद्यासुन्दर' की भूमिका में लिखा है—"विशुद्ध हिन्दी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का 'शकुन्तला' या व्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक नहीं, काव्य है। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराजसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं, यों नाम को तो देव माया प्रपञ्च, समय-सार इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है।" यद्यपि अब इनके अतिरिक्त और भी नाटक मिले है, जिनकी रचना मिथिला में हुई थी, किन्तु यह सब पद्य-प्रधान हैं तथा इनमें नाट्य कला का पूर्ण रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही हिन्दी का प्रथम आधुनिक नाटककार मानना उचित है।

उपर्युक्त स्थिति से कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है-- यह हुआ भी है— कि भारतेन्दु का नाटक साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक साहित्य होने के कारण उसमें नाट्य कला का अविकसित रूप ही मिलता होगा किन्तु ऐसी बात नहीं हैं। भारतेन्दु ने संस्कृत, प्राकृत, बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं के नाटकों का समुचित अध्ययन करके उनसे लाभ उठाया है। उन्होंने केवल नाटकों की रचना ही नहीं की अपितु नाट्य कला के सभी अंगों का विकास भी किया।

नाट्य कला के क्षेत्र में भारतेन्दु के चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं—(१) मौलिक नाटकों के रचयिता, (२) विभिन्न भाषाओं के नाट्य साहित्य के अनुवादक, (३) अभिनेता तथा निर्देशक और (४) नाट्य कला सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचक एवं समकालीन नाटकों के आलोचक। इनमें से प्रत्येक रूप का परिचय यहाँ अलग अलग दिया जाता है।

(१) **मौलिक नाटक**-- भारतेन्दु के द्वारा रचित नौ मौलिक नाटक उपलब्ध

होते हैं, जिनमें विभिन्न रसों की आयोजना हुई है। इन नाटकों की सूची इस प्रकार है—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति प्रेम-जोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी, अन्धेर नगरी चौपट राजा और सती प्रताप।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" एक छोटा-सा प्रहसन है। इसमें धर्म के नाम पर होनेवाले दुराचारों—मद्यपान, मांस-भक्षण, पर-नारी-समागम आदि का उपहास किया गया है तथा अन्त में यम के द्वारा ऐसे दुराचारियों को घोर दण्ड दिलवाया गया है। इसमें पुरोहितों की असद्वृत्तियों पर व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डाला गया है। अपने दुराचारों को शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उचित सिद्ध करनेवाले पंडितों का चित्रण यथार्थ रूप में हुआ है। चित्रगुप्त और यमराज की बातचीत में अंग्रेजी सरकार पर भी छींटाकशी की गई है। जब पूछते हैं—"धर्म और प्रतिष्ठा में क्या सम्बन्ध है?" तो चित्रगुप्त उत्तर देते हैं—"महाराज सरकार अंग्रेज के राज्य में जो लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।" इस प्रकार भारतेन्दु की लेखनी से छोटे-छोटे पंडितों से लेकर बड़े बड़े साम्राज्यों के अधिष्ठाता तक कोई भी नहीं बच सका।

'प्रेम-जोगिनी' चार अंकों की नाटिका है। इसका पहला संस्करण "काशी के छाया-चित्र या दो भले बुरे फोटोग्राफ" के नाम से 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में छपा था। यह हिन्दी का प्रथम यथार्थवादी नाटक है, जिसमें तत्कालीन काशी की सामाजिक स्थिति का चित्रण लेखक ने नग्न रूप में किया है। नाटक के आरम्भ में सूत्रधार के वाक्यों से ही लेखक की उत्कृष्ट राष्ट्रभक्ति का परिचय मिलता है···"क्या इस कमल-वन-रूपी भारत भूमि को दुष्ट गजों ने उनकी (ईश्वर की) इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या जब कादिर, चंगेजखाँ जैसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था?······छि: ! ऐसे निर्दय को भी लोग दया समुद्र किस मुँह से पुकारते हैं?"

ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लेखक ने घोर निराशा के क्षणों में लिखा होगा क्योंकि इसमें लेखक ने अपनी दुःखपूर्ण स्थिति पर करुण शब्दों में प्रकाश डाला है। परिपार्श्वक के मुँह से इन नाटक के सम्बन्ध में कहलवाया गया है—"वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और यह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।" काशी की यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण करते हुए तत्कालीन समाज की दूषित प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। कविता के सम्बन्ध में अर्द्धशिक्षित वर्ग की क्या धारणा थी तथा कवि भारतेन्दु का उनके समाज में कैसा मान था, इसका उत्तर छक्कु की इस उक्ति में द्रष्टव्य है—"अरे कवित्त तो इनके बापो बनावत रहे। कवित्त बनावै से का होवै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगों का थोरै हय, ई भाँटन का काम है।" काशी के मन्दिरों और उनके पंडे-पुजारियों की खुशहाली की चर्चा करते हुए वनितोदास अपने मित्र से कहते हैं—"भाई मन्दिर

में रहे गे स्वर्ग में रहे खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी, से महाराज कब्बों गाड़ा तो पहिरवै न करिये, मलमल नागपुरी ढाँके पहिरियै···ऊपर से ऊ वात का सुख अलगै है।" इस रचना में भारतेन्दुजी ने सर्वत्र पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग किया है, यहाँ तक कि कुछ पात्र मरहठी भाषा में भी बातचीत करते हैं।

"विषस्य विषमौषधम्" एक भाण है। इसमें एक ही पात्र—भंडाचार्य—है जो महाराज मल्हारराव के अंग्रेजों द्वारा पदच्युत कर दिये जाने पर अपने विचारों को भावात्मक शैली में व्यक्त करता है। बीच-बीच में वह आसमान की ओर इस प्रकार देखता जाता है, मानो वह स्वर्गलोक के किसी पात्र से बातचीत कर रहा हो। एक विद्वान् आलोचक ने इस नाटक पर यह दोष लगाया है कि एक देशी नरेश के पदच्युत होने पर भारतेन्दु का हर्ष प्रकट करना राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल है। किन्तु वास्तव में इसमें हर्ष प्रकट नहीं किया गया है, अपितु देशी नरेशों की दुर्दशा पर क्षोभ व्यक्त हुआ है। जो विद्वान् इसे राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल समझते हैं, वे भंडाचार्य के इन उद्गारों को ध्यान् से पढ़ें—"धन्य है ईश्वर! सन् १७१६ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।"

'चन्द्रावली' नाटिका प्रणय और विरह उद्गारों से परिपूर्ण है। चन्द्रावली और ललिता की बात-चीत से प्रणय की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। कामिनी से संवाद जहाँ वासनापूर्ण प्रेम का रूप व्यक्त करते है, वहाँ चन्द्रावली के प्रत्येक शब्द से स्वच्छ, मधुर प्रणय की बूँद टपकती-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार माधुरी के वचनों से भी मानो रस-माधुर्य की वर्षा-सी होती है—"हिंडोरा नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्ति भी झूल रही है।" चन्द्रावली के स्वकथन में हृदय की भावाकुल दशा का चित्रण काव्यात्मक शैली में हुआ है—"नाथ! जहाँ इतने गुण सीखे, वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा। हाय मँझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगने हो। हाय! तड़पें हम और तुम तमाशा देखो।···झूठे! झूठे!! झूठे!!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक! क्यों इतना टोंक हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया!!"

ललित और जोगिन के वेश में कृष्ण का संवाद गद्य और पद्य दोनों के वैभव से युक्त है—

कहाँ तुम्हारो देस है? प्रेम नगर पिय गाँव!
कहा गुरु कहि बोलहीं! प्रेमी मेरो नाँव!
जोग लियो केहि कारनं? अपने पिय के काज!!
मंत्र कौन? पिय नाम इक!
कहा तज्यो? जग लाज!
आसन कित? जित ही रमे?
पंथ कौन? अनुराग?

वस्तुतः यह नाटिका आदि से अन्त तक प्रणयोच्छ्वासों एवं भाव-माधुर्य से ओत-प्रोत है। कविता और नाटक दोनों का आनन्द इसमें एक साथ उपलब्ध होता

आता है, किन्तु इसी कारण से इनमें कुछ दोष भी विद्यमान हैं। कथानक की शिथिलता लम्बे-लम्बे संवाद, कवित्त, सवैयों और पदों का अतिशय प्रयोग इसकी नाटकीयता में बाधक सिद्ध होता है।

'भारत दुर्दशा' को स्वयं लेखक ने 'नाट्य-रासक' या 'लास्य-रूपक' की संज्ञा दी है। इसमें भारत दुर्दैव के द्वारा भारत की धन-सम्पत्ति को लूटने तथा उसे नष्ट कर देने का चित्रण करते हुए उसे दूर भगाने के प्रयत्न पर प्रकाश डाला गया है। भारत दुर्दैव की वेश-भूषा और उनके क्रिया-कलापों का जैसा चित्रण इस नाटक में किया गया है, इससे स्पष्ट है कि वह अंग्रेज शासकों का प्रतीक है। वह स्पष्ट करता है—"हा हा ! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारना चाहते हैं। ह हा ! ह हा !! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो, उसको उतना, बड़ा मेडल और खिताब दो।" अंग्रेजों की शासन-नीति की आलोचना और भी कटु शब्दों में करते हुए 'डिसलॉयल्टी' कहती है—"हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि वचन सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ?··· इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"

तत्कालीन शिक्षित जनता एवं समाज-सुधारकों के मनोभावों पर भी इसमें तीखा व्यंग्य किया गया है। सात सभ्य जिनमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्रीय, एक एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय थे, भारत-दुर्दैव (अर्थात् अंग्रेज) को भगाने के उपायों पर विचार करते हैं। इस सभा के वक्ताओं द्वारा विभिन्न प्रान्तों के लोगों की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है—

बंगाली —"···गवर्नमेंट तो केवल गोल-माल से भय खाता ! और कोई तरह नहीं शोनता !···किन्तु हियाँ, हम देखते हैं कि कोई कुछ नहीं बोलता !" जहाँ बंगाली महोदय गम्भीरतापूर्वक इस समस्या पर विचार करते हैं, वहाँ देशी को इसी बात की चिन्ता है—"क्यों भाई साहब ! इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?" किन्तु इस सभा से एक बात स्पष्ट है कि तत्कालीन राजनीतिक कार्यकर्ताओं (?) पर सरकार का आतंक पूरी तरह छाया हुआ था। १८५७ की असफलता का प्रभाव अभी तक अवशेष था।

वस्तुतः इस रचना में भारतेन्दुजी ने विदेशी शासन के दुष्परिणाम को स्पष्ट करते हुए स्वदेश-वासियों को चेतावनी दी है। नाटक का अन्त जानबूझकर दुःखमय रखा गया है, जिससे कि यह भारतवासियों के हृदय को झकझोर सके।

'भारत-जननी' भी भारत-दुर्दशा की भाँति देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसमें स्वयं भारत-माता रुदन करती हुई करुण स्वर में कहती है—'हाय क्या हुआ ?···वत्स ! कब तक इस प्रकार से तुम निद्रित रहोगे, अब सोने का समय नहीं, एक बेर आँखें खोल भली-भाँति पृथ्वी की दशा को तो देखो।" इस नाटक का अन्त आशापूर्ण शब्दों के साथ हुआ है।

का दिखलाना मुख्य कर्तव्य-कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषय संशोधन आदि।"

यह ग्रन्थ नाट्य-सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र नहीं है। नाट्य-कला-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को लेकर लेखक ने उनकी सोदाहरण व्याख्या की है। संवादों की आयोजना पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं—"ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत की रचना करें कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनी-भाव विडम्बना मात्र है।" आगे वह हृदयस्थ भावों की व्यंजना का एक उदाहरण 'शाकुन्तलम्' से देकर स्पष्ट करते है—"...... इसके बदले कालिदास यदि ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि-जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुन्तला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कवि कुल-मुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव में ही कण्व का शोक वर्णन किया है।"

इसी ग्रन्थ में उन्होने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटक-साहित्य के इतिहास पर भी प्रकाश डाला है। भारतीय नाटकों में उन्होंने संस्कृत और प्राकृत से ५६ नाटकों का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होने अपने युग में रचित हिन्दी नाटकों की भी तालिका प्रस्तुत की है। 'यूरोप में नाटकों का प्रचार' शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने यूनान के प्राचीनतम नाटकों से लेकर इंगलैण्ड के अठारहवीं शती तक के नाटक-साहित्य का संक्षेप में विवेचन किया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ नाटक साहित्य के सैद्धान्तिक एवम् ऐतिहासिक दोनों प्रकार के विवेचन की दृष्टि से भारतेन्दु के व्यापक ज्ञान का परिचायक है।

इसी ग्रन्थ के बीच बीच में उन्होने समकालीन नाटकों की आलोचना की है। तत्कालीन व्यावसायिक नाटकों की अधोगति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और इसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर, मटक-मटक कर नाचने और "पतरी कमर बल खाय" यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।" अस्तु, इस ग्रन्थ के आधार पर भारतेन्दु को नाट्य कला का आचार्य भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी आलोचना के विकास में भारतेन्दु के इस ग्रन्थ की प्रायः चर्चा नहीं की जाती।

उपसंहार

भारतेन्दु की नाट्य-कला के विभिन्न स्वरूपों का एक संक्षिप्त-सा परिचय यहाँ दे दिया गया है—यद्यपि छोटे-से निबन्ध में उनकी कला का समुचित मूल्यांकन

सम्भव नहीं, किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि नाटक कला के क्षेत्र में उनका कार्य अनिवार्य है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, संसार के इतिहास में किसी ऐसे नाटककार का नाम नहीं मिलता, जिसने अकेले ही नाटक की इतनी शैलियों; इतने रूपों और इतने रसों का प्रयोग किया हो, जिसने इतने बहुविध मौलिक नाटक लिखे हों। जिसने पाँच भाषाओं के नाटकों का इतना सफल अनुवाद किया हो, जिसने अभिनय और निर्देशन दोनों में सफलता प्राप्त की हो, जिसने नाट्य कला के सिद्धांतों का विवेचन किया हो और जिसने पूर्व और पश्चिम के नाट्य-साहित्य का इतिहास भी लिखा हो। नाट्य-कला का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जो भारतेन्दु के बहुमुखी व्यक्तित्व के स्पर्श से वंचित रहा हो। उनके नाटक मनोरंजन से यदि भरपूर हैं, रस के माधुर्य से ओत-प्रोत हैं तो साथ ही परिवार, समाज और राष्ट्र को नव-जीवन प्रदान करनेवाली अमृतदायिनी शक्ति भी उनमें विद्यमान है। कला और विचार, सौन्दर्य और उपदेश, भाव और भाषा—इन सबका सुन्दर समन्वय उनके नाटकों में मिलता है। इन सारी विशेषताओं से युक्त, इन सारे रूपों से सुसज्जित लेखक, अनुवादक, अभिनेता, निर्देशक और आलोचक नाटककार भारतेन्दु की तुलना संभवतः विश्व के किसी भी नाटककार से नहीं हो सकती। कालिदास में भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति तो थी, किन्तु समाज की समस्याओं का चित्रण उनमें कहाँ? शेक्सपीयर में मार्मिकता एवं जीवन की अनेकरूपता तो है, अभिनय की कला भी उनके पास है, किन्तु भारतेन्दु के शेष रूप उनमें कहाँ? इब्सन, शा आदि में समस्याओं का चित्रण एवं व्यंग्यात्मकता हैं, किन्तु भारतेन्दु की-सी काव्यात्मकता का उनमें अभाव है।

अस्तु, नाट्य-कला के क्षेत्र में 'भारतेन्दु' भारतेन्दु ही नहीं, पूर्णेन्दु हैं। उनमें कुछ दोष-धब्बे भी हैं, किन्तु वे उनकी सुधा-प्रवाहिनी रश्मियों के तेज-पुंज के समक्ष नगण्य हैं, उपेक्षणीय हैं।



: बासठ :

प्रेमचंद और उनका उपन्यास-साहित्य

एक बार डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—"प्रेमचंदजी हिन्दी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को चंद्रकांता के गर्त से निकालकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू तथा अंग्रेजी उपन्यासों की माँग को तो उन्होंने बिलकुल ही रोक दिया। हिन्दी-साहित्य के उस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी वा हितोपदेश के अनुवादों का लोकप्रिय होना तो सम्भव न था। इसके अतिरिक्त प्रेमचंदजी ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि हटाकर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोगों की नित्य-प्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मजदूर, क्लर्क, दुकानदार, जमींदार, साहूकार, अफसर और पूंजीपतियों से संघर्ष का जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्दजी ने चित्रित किया है, वैसा उससे पहले हिन्दी-साहित्य में कभी नहीं हुआ था।" (हंस : प्रेमचन्द स्मृति अंक, पृष्ठ ८००)

उपर्युक्त उद्धरण से प्रेमचंदजी की महानता का पता स्पष्ट रूप से चलता है। प्रेमचन्दजी के हिन्दी उपन्यास जगत् में अवतीर्ण होने से पूर्व तीन प्रकार की रचनाएँ हो रही थीं—(१) तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास, (२) कामुकतापूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास और (३) जासूसी और साहसपूर्ण उपन्यास। इन तीनों वर्गों का नेतृत्व क्रमश: देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी—ये तीनों लेखक कर रहे थे। इनके अतिरिक्त बँगला, मराठी और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवादकों का भी हिन्दी में बोलबाला था। तत्कालीन उपन्यासों की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए सुयोग्य समालोचक डा० इंद्रनाथ मदान ने एक स्थान पर लिखा है, "हिन्दी की जनता घटनाओं की भूल-भुलैयों से भरे तिलस्मी; ऐयारी अथवा जासूसी उपन्यास पढ़ती थी और उसमें अद्भुत रस प्राप्त करती थी। यह न होता था तो वह रीतिकालीन शृंगारिकता से युक्त सामा-

जिक उपन्यास पढ़ती थी और अपनी सस्ती भावुकता के लिए वहाँ भोजन प्राप्त करती थी। जनता का जो अंग अद्भुत और श्रृंगार के इन उपन्यासों को पसन्द नहीं करता था और जिसमें नैतिकता के प्रति आग्रह था, वह अपने लिए बँगला, मराठी और अंग्रेजी के अनुवादों को ही वरदान समझता था। इस प्रकार हिन्दी पाठक के पास उपन्यास के नाम पर ठोस जीवन के धरातल पर आधारित अपनी कोई वस्तु नहीं थी। केवल नैतिकता की दृष्टि से भी तत्कालीन उपन्यासों का स्तर बहुत नीचा था।" उनमें जिन घटनाओं का वर्णन होता था, वे अलौकिक व अस्वाभाविक होती थीं। पात्र भी किसी काल्पनिक जगत् के होते थे, जिनमें न तो मानवीय रूप की सहज स्वाभाविक रूप-रेखाएँ ही दृष्टिगोचर होती थीं और न ही उनमें उस व्यक्तित्व का विचार हो पाता था जिससे वे सजीव दिखाई पड़ें। कथोपकथन रटे-रटाए व्याख्यानों-जैसा या विद्वानों के शास्त्रार्थ-जैसा होता था, जिसमें संभाषण की-सी स्वाभाविकता का पता पाना कठिन था। देश और काल की परिस्थितियों के चित्रण की बात ही क्या ? औरंगजेब को अपने ड्राइवर के साथ मोटर पर घूमते हुए दिखा देना उस युग के उपन्यासकार के लिए कोई अनोखी बात नहीं थी। रही उद्देश्य की बात—उद्देश्य तो प्राय. सबका एक था; जनता का मनोरंजन करना। वे उपन्यास समय काटने के एक हीन कोटि के साधन मात्र थे, उनमें कलात्मकता एवं सामाजिकता का अभाव था। वस्तुतः प्रेमचन्द के पदार्पण से पूर्व हिन्दी-उपन्यास एक अविकसित कलिका की भाँति अस्फुट एवं चेतनाहीन-सा था, किन्तु दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भाँति प्रेमचन्द की पावन-कला का पुनीत स्पर्श पाकर वह जाग पड़ा, खिल उठा और मुस्कराने लगा।

व्यक्तित्व और जीवन

साहित्य की मूल आत्मा को पहचानने के लिए उनके रचयिता के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन भी अपेक्षित है। मुन्शी प्रेमचन्दजी का जन्म सन् १८८० में लमही नामक गांव में हुआ था। उनके पिता डाकखाने में नौकरी करते थे तथा उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। आठ वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्हें मातृवियोग सहन करना पड़ा। तदनन्तर उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया—फलतः प्रेमचन्दजी सौतेली माँ के व्यवहार की कटुता का अनुभव भी प्राप्त कर सके।

इनके परिवार में उर्दू पढ़ने की प्रथा थी। अतः आरम्भ में इन्हें भी उर्दू की शिक्षा दी गई। आगे चलकर उन्होंने हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त की। इसी बीच उनका विवाह हो गया था। विवाह के कुछ दिनों पश्चात् ही उनके पिता का देहान्त हो गया, अतः उन्हें अध्ययन-काल में पर्याप्त आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कालेज में भी वे प्रविष्ट हुए थे, किन्तु इण्टर की परीक्षा में असफल हो जाने के कारण तथा आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और एक पाठशाला में कार्य करने लग गए। आगे चलकर स्वाध्याय से उन्होंने बी० ए० तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं और डिप्टी इन्स्पेक्टर के पद पर पहुँच गए।

प्रेमचन्दजी को उपन्यास पढ़ने का शौक बाल्यावस्था से ही था। उन्होंने 'मेरी पहली रचना' शीर्षक लेख में अपने अध्ययन की चर्चा करते हुए लिखा है—"दो तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टॉक समाप्त हो गया तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और तिलस्मी ग्रन्थों के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे। एक-एक भाग बड़े सुन्दर रायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।" अध्ययन की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि प्रेमचन्दजी ने छोटी आयु में ही लेखनी ग्रहण कर ली। सन् १९०१ में अर्थात् बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपना पहला उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। सन् १९०२ में उनका पहला तथा १९०४ में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ। दूसरी ओर उनकी कुछ कहानियाँ 'जमाना' (उर्दू) में निकलीं। उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' १९०९ में छपा, जिसमें स्वराज्य की प्रेरणा होने के कारण सरकार ने जब्त कर लिया। आगे चल कर वे हिन्दी में लिखने लग गए।

सरकारी सर्विस में रहते हुए वे स्वतन्त्रतापूर्वक लिख न सकते थे, अतः उन्होने डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पद से त्याग-पत्र देकर चर्खों की दूकान खोल ली। जब इससे काम नहीं चला तो वे एक प्राइवेट स्कूल में हेडमास्टर बन गए। किन्तु परि- स्थितियोंवश वहाँ से भी त्याग-पत्र दे दिया और पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करने लग गए। जीवन के अन्तिम दिनों में वे फिल्म-जगत् में भी गये थे, किन्तु वहाँ के दूषित वातावरण के कारण ठहर नहीं सके।

वस्तुतः प्रेमचन्दजी की जीवन-गाथा गरीबी, संघर्ष और त्याग से भरपूर है। घोर आर्थिक संकटों का सामना करते हुए भी उन्होंने बड़े-से-बड़े आर्थिक लोभ को ठुकरा दिया। एक बार अलवर के राजा साहब ने उन्हें चार सौ रुपये मासिक पर आमन्त्रित किया था, किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हुए उन्होंने उस आमन्त्रण को ठुकरा दिया। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह कितना तीव्र था—यह इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने अपना दूसरा विवाह एक विधवा के साथ किया। प्रेमचन्द के समर्थ आलोचक डॉ इन्द्रनाथ मदान ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है—"प्रेमचन्द इतना सादा जीवन बिताते थे कि कल्पना नहीं कर सकता। वे देहाती किसान के प्रतिरूप थे, जिनमें अहंकार नाम-मात्र को भी नहीं था। जीवन की सभी कटुताएँ सहते हुए भी वे प्रसन्न-चित्त होकर आगे बढ़ते थे, परन्तु देश की दशा से वे सदैव दुखी हुआ करते थे और उसकी मुक्ति का उपाय सोचते- सोचते खो-से जाते। वे देश भक्त थे। समाज-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष के समर्थक न थे। वे सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तानी थे...उनका बाहर-भीतर एक-सा था, कथनी- करनी में भेद करना वे न जानते थे, साहित्य और जीवन दोनों उनके लिए एक-दूसरे के पर्यायवाची थे। इसीलिए यह कहना कि प्रेमचन्द मनुष्य के रूप में साहित्यकार से भी अधिक महान् थे, सोलह आने ठीक है।"

प्रेमचन्द इतने बड़े लेखक होते हुए भी दरिद्रता में जन्मे, दरिद्रता में प

और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए। "उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत में भी मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते : "मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।"—(डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। अस्तु, प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द महान् थे उन्होंने जीवन में वह साधना की थी, जिसने उनके साहित्य को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया।

औपन्यासिक रचनाएँ

प्रेमचन्द का साहित्य जहाँ गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट है, वहाँ परिमाण की दृष्टि से भी भारी है। उनके उपन्यासों की तालिका इस प्रकार है—वरदान (१९०२), प्रतिज्ञा (मूल १९०६), सेवासदन (१९१६), प्रेमाश्रम (१९२२), रंगभूमि (१९२५), गबन (१९३१), कर्मभूमि (१९२२), निर्मला (१९२३), काया कल्प (१९२८), गोदान (१९३६), मंगलसूत्र (अपूर्ण)। इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है—

(१) वरदान—'वरदान' में प्रेम और विवाह की समस्या का चित्रण हुआ है—वृजरानी और प्रताप बचपन से ही साथ-साथ रहे थे, तथा दोनों के विवाह की भी चर्चा होने लग गई थी, किन्तु किसी कारण वृजरानी का विवाह एक डिप्टी के पुत्र कमलाचरण से हो गया। कमलाचरण एक उच्छृङ्खल स्वभाव का युवक था। यद्यपि प्रारम्भ में पति-पत्नी की नहीं बनी, किन्तु वृजरानी के प्रयत्न से कमलाचरण में परिवर्तन आने लगा। अचानक कमलाचरण का देहन्त हो जाता है। प्रताप वृजरानी के विवाह के अनन्तर ही साधु हो गया था। अन्त में सभी प्रमुख पात्र त्याग और संयम का पथ अपनाते हुए देश-सेवा में लग जाते हैं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से वरदान कोई प्रौढ़ रचना नहीं है। इसकी कथा-वस्तु शिथिल है। प्रताप इसका प्रमुख पात्र है और कथानक की प्रगति में योग देता है, किन्तु उसके चरित्र में भी वह महानता नहीं आ पाई, जो उसके लिए अपेक्षित थी। वस्तुतः यह उपन्यास एक प्रेम-कहानी-मात्र है जिसका पर्यवसान देश-प्रेम में हुआ है।

(२) प्रतिज्ञा—प्रोफेसर दीनानाथ और अमृतराय वकील—दोनों गहरे मित्र थे। प्रो० दीनानाथ अभी अविवाहित थे, जबकि अमृतराय विधुर थे। अमृतराय का दूसरा विवाह उनकी कुमारी साली प्रेमा से होने की संभावना थी, क्योंकि दोनों एक दूसरे को चाहते थे तथा प्रेमा के पिता बद्रीप्रसाद का ऐसा ही विचार था। किन्तु इसी बीच एक घटना घटित हुई। एक समाज-सुधारक नेता के व्याख्यान से प्रभावित होकर अमृतराय ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे किसी विधवा से विवाह करेंगे। ऐसी स्थिति में उन्होंने प्रेमा से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। फलतः प्रेमा का विवाह प्रोफेसर दीनानाथ से हो गया।

अमृतराय ने अपना जीवन समाज-सेवा में अर्पित कर दिया और उन्होंने एक वनिताश्रम स्थापित कर दिया। प्रेमा इनके इस त्याग पर मुग्ध थी और वह अपने पति के सम्मुख भी अमृतराय की प्रशंसा किया करती थी। इससे दीनानाथ अपने

मित्र से ईर्ष्या करने लगे। वे स्पष्ट रूप में उनके विरोधी हो गए। किन्तु अन्त में उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर ली और वे अमृतराय को वनिताश्रम के संचालन में यथाशक्ति सहयोग देने लगे। इसमें प्रासंगिक कहानी एक पूर्णा नामक विधवा की भी चलती है। जिसके द्वारा वैधव्य-जीवन की कटुता पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः यह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से लिखित रचना है। अमृतराय का चरित्र अन्त तक आदर्श रहता है। सारा उपन्यास विधवाओं की समस्या पर आधारित है। विधवा-समस्या का हल वनिताश्रम के रूप में दिया गया है।

(३) सेवासदन—'सेवा-सदन' की नायिका सुमन है, जो दारोगा कृष्णचन्द की कन्या थी। दारोगा कृष्णचन्द पहले रिश्वत नहीं लेते थे, किन्तु सुमन के विवाह के लिए उन्होंने ऐसा भी किया, किन्तु वे इस कला में प्रवीण न होने के कारण पकड़े गये और अन्त में उन्हें पांच वर्ष के कारावास का दण्ड प्राप्त हुआ। कृष्णचन्द की पत्नी अपनी लड़कियों—सुमन और शान्ता—को साथ लेकर अपने भाई उमानाथ के यहाँ चली गई। दहेज के अभाव में सुमन का विवाह एक अधेड़ अवस्था के व्यक्ति—गजाधर से कर दिया गया। दोनों में अनवन रहती थी। सुमन के घर के सामने ही भोली नामक वेश्या रहती थी। घर, समाज, मन्दिर एवं विभिन्न उत्सवों पर भोली के आदर-सम्मान को देखकर सुमन बहुत प्रभावित हुई। दूसरी ओर पद-पद पर पति के द्वारा अपमानित होकर वह यह सोचने को विवश हुई कि समाज में पत्नी का अधिक महत्त्व है या वेश्या का। एक बार सुमन गजाधर के मित्र पद्मसिंह के यहाँ किसी उत्सव में गई हुई थी, वहाँ से उसे घर लौटने में रात को बहुत देर हो गई। इस पर गजाधर ने उसे घर से निकाल दिया। यह पद्मसिंह के घर चली गई, किन्तु वे भी उसे अधिक दिन तक नहीं रख सके। अन्त में उसे भोली के यहाँ आश्रय प्राप्त हुआ और उसने वेश्या-जीवन की दीक्षा प्राप्त की।

आगे चलकर सुमन ने वेश्या वृत्ति छोड़कर विधवा आश्रम में आश्रय प्राप्त किया, किन्तु पहले की वेश्या होने के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया। वह अपनी छोटी बहिन शान्ता के पास रहकर पवित्रतापूर्वक जीवन बिताने लगी, किन्तु शान्ता के परिवार के लोग भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। अन्त में उसने एक रात्रि शान्ता का घर छोड़ दिया और स्वामी गजानन्द की कुटिया में आश्रय लिया। वे स्वामी गजानन्द सुमन के पति गजाधर ही थे। दोनों ने मिलकर सेवा सदन की स्थापना की!

इस प्रकार इस कृति में वेश्या-समस्या का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। कोई भी नारी वेश्या बनने को क्यों विवश होती है? और फिर वह वेश्या-जीवन को क्यों नहीं छोड़ पाती? इन प्रश्नों का उत्तर 'सेवा-सदन' में मिलेगा। प्रेमचन्द जी ने इन दोनों ही परिस्थितियों का उत्तरदायित्व समाज पर डाला है। समाज में नारी की प्रतिष्ठा पत्नी की अपेक्षा वेश्या के रूप में अधिक है। पत्नी के रूप में सुमन को जहाँ पद-पद पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, वहाँ वेश्या भोली को बड़े बड़े वकील, प्रोफेसर, सरकारी अफसर उच्च वर्ग के प्रायः सभी लोग सम्मानपूर्वक घर बुलाते हैं। सुमन की अपेक्षा भोली का जीवन अधिक सुखमय एवं ऐश्वर्यपूर्ण है। अतः ऐसी स्थिति में पति द्वारा परित्यक्त, निराश्रित अबला का वेश्यावृत्ति अपना लेना स्वाभाविक है।

दूसरा प्रश्न है—वेश्याओं के सुधार का। इसमें भी हमारा समाज बाधक है। जब सुमन जैसी वेश्याएँ अपनी भूल को सुधारना चाहती हैं तो अपने कुल परिवार एवं समाज से उन्हें कोई सहयोग नहीं मिलता। वेश्यावृत्ति छोड़ देने पर भी समाज में सुमन के लिए कोई स्थान नहीं है यहाँ तक कि विधवाश्रम से भी उसे निकाल दिया जाता है। प्रेमचन्दजी ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए इस स्थिति की नारियों के लिए अलग सेवासदन या सेवाश्रम स्थापित करने का सुझाव दिया है; किन्तु वह सुझाव बहुत उपयोगी नहीं है। पहले तो इतने अधिक सेवा-सदन स्थापित करने ही कठिन हैं, जिनमें सभी वेश्याओं को स्थान दिया जा सके। दूसरे, सेवा-सदन की समस्याएँ समाज से अलग ही रहेंगी। वे समाज में घुल-मिलकर उसका अंग नहीं बन सकेंगी। ऐसी स्थिति में 'सेवा-सदन' ही 'वेश्यालय' बन जाएँ तो क्या आश्चर्य है? वस्तुतः जब तक हमारे समाज की स्थिति और उसका दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक इस समस्या का कोई व्यक्तिगत या सामाजिक हल प्रस्तुत करना कठिन है।

(४) प्रेमाश्रम—'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार के सम्बन्धों का चित्रण करते हुए एक जमींदार परिवार की कहानी प्रस्तुत की गई है। इसका प्रमुख पात्र ज्ञान-शंकर है, जिसकी-जमींदारी में लखनपुर गाँव है। वह अपने चाचा प्रभाशंकर के ही साथ रहता है, क्योंकि अभी उनमें बँटवारा नहीं हुआ था। ज्ञानशंकर के बड़े भाई प्रेमशंकर उच्च-शिक्षा के लिए अमेरिका चले गये थे। ज्ञानशंकर अत्यन्त स्वार्थी, कूटनीतिज्ञ एवं क्रूर व्यक्ति है। वह एक ओर अपने चाचा प्रभाशंकर और अपने बड़े भाई प्रेमशंकर की जमींदारी का हिस्सा हड़प लेना चाहता है, तो दूसरी ओर अपने किसानों से अन्यायपूर्वक अधिक-से-अधिक रकम प्राप्त कर लेना चाहता है। इतना ही नहीं, वह अपने ससुराल की जायदाद व सम्पत्ति के लिए भी प्रयत्न करता है। वह अपनी विधवा साली को प्रेम के डोरे डालकर अपने चंगुल में फँसा लेता है और उसकी जमींदारी को हस्तगत कर लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार सारा उपन्यास ज्ञानशंकर के ही क्रिया-कलापों पर आश्रित है।

प्रभाशंकर पुरानी पीढ़ी में जमींदार के प्रतिनिधि हैं; जो किसानों के साथ सहानुभूति एवं भाईचारे का व्यवहार करते हैं, जबकि ज्ञानशंकर नई पीढ़ी के अत्याचारी जमींदार का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमशंकर अपना सर्वस्व त्याग करके किसानों की सेवा के लिए 'प्रेमाश्रम' स्थापित करते हैं। ज्ञानशंकर का पुत्र मायाशंकर प्रेमचन्दजी के स्वप्नों का जमींदार है, जो कि अपने सारे अधिकार किसानों की सेवा में समर्पित कर देता है। इस प्रकार जमींदार कैसा था? कैसा है? और कैसा होना चाहिए? इन तीनों प्रश्नों के उत्तर क्रमश प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर और मायाशंकर के रूप में प्राप्त होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जमींदार के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इस उपन्यास में हुआ है, वैसा किसी अन्य रचना में मिलना सम्भव नहीं।

(५) रंगभूमि—'रंगभूमि' लगभग एक हजार पृष्ठों का बृहत्काय उपन्यास है। इसमें घटनाओं की ऐसी बहुलता, कथानक की ऐसी विशदता और पात्रों की

ऐसी प्रचुरता मिलती है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। 'गोदान' लिखने से पूर्व प्रेमचन्दजी ने इसे अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना था। इसमें कथा-वस्तु का केन्द्र मुख्यत: एक ईसाई कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब के प्रधान हैं—मि० जान-सेवक जो कि पांडेपुर गाँव में एक सिगरेट का कारखाना स्थापित करना चाहते हैं। इस कारखाने के लिए वे सूरदास की जमीन प्राप्त करना चाहते हैं; किन्तु सूरदास उसे किसी भी मूल्य पर नहीं देना चाहता। सूरदास भीख माँगकर जीवन निर्वाह करता था। किन्तु साथ ही वह गाँव का सबसे अधिक परोपकारी उदार एवं उच्च चरित्र का व्यक्ति था। वह अपनी जमीन गाँव की सेवा के लिए दान करना चाहता था। मि० जान-सेवक बड़े-बड़े अधिकारियों की सहायता से सूरदास की जमीन पर अधिकार प्राप्त कर लेने का प्रयत्न करते हैं। सूरदास अपने अधिकारों के लिए सत्याग्रह और संघर्ष करता हुआ आत्म-बलिदास कर देता है।

दूसरी कथा मि० जान-सेवक की लड़की कुमारी सोफिया से सम्बन्ध रखती है। वह नये विचारों की स्वाभिमानिनी लड़की है। एक बार वह कुँवर विनयसिंह को आग से बचाती हुई घयाल हो जाती है। इस घटना के पश्चात् विनयसिंह और सोफिया परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। उनकी यह प्रेम-कहानी जीवन की अनेक परिस्थितियों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। सोफिया के माता-पिता उसका विवाह मजिस्ट्रेट क्लर्क से करना चाहते हैं। किन्तु सोफिया जीवन-भर विनयसिंह की सहायता करती रहती है और अन्त में विनयसिंह के आत्म-बलिदान के अनन्तर आत्म-हत्या कर लेती है।

वस्तुत: इस उपन्यास का लक्ष्य त्याग, प्रेम और बलिदान के आदर्श को प्रस्फुटित करना है। सूरदास तत्कालीन लोक-नेता महात्मा गांधी की ही प्रतिमूर्ति हैं, जो कि अपने अधिकारों के लिए बड़ी-से-बड़ी शक्ति से भी संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत है त्याग और बलिदान ही उसके सबसे बड़े शस्त्र हैं। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ भी वह शासक वर्ग से कहता है—"...तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतनेवालों का धर्म नही ? तुम्हारा धर्म तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से तो नहीं भागे, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो, हार-हराकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी; अवश्य होगी।" प्रेमचन्दजी की यह भविष्यवाणी २५ वर्ष पश्चात् ही सत्य प्रमाणित हो गई

सोफिया और विनय का प्रेम कुटुम्ब के लोगों, समाज के नियमों एवं धर्म के आदर्शों को समर्पित न होता हुआ भी सच्चा है, पवित्र है और महान् है। दोनों के प्रणय की गम्भीरता एवं पवित्रता के प्रमाण में उनके वे शब्द देखे जा सकते हैं—"तुम मेरे लिए आदर्श हो। तुम्हारे प्रेम का आनन्द मैं कल्पना के द्वारा ही ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। अपने को कहाँ तक गुप्त रखूँगा ? तुम्हें पाकर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे उद्योग और उपासन की कोई वस्तु न रह जायगी।" (विनय) दूसरी ओर सोफिया का विश्वास है—"प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना से ही उसका पोषण होता है, भावना ही से वह जीवित

रहता है और भावना से ही लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफी है।"

(६) कायाकल्प'—'कायाकल्प' में सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलते रहनेवाले प्रेम की एक अद्‌भुत कहानी का वर्णन किया गया है। चक्रधर नामक एक युवक एम० ए० करने के अनन्तर जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवक सिंह की पुत्री मनोरमा के शिक्षक नियुक्त हो जाते हैं। मनोरमा चक्रधर से प्रेम करने लगती है। उधर चक्रधर किसी कार्य से आगरा जाते हैं, जहाँ अहिल्या नामक युवती उनकी ओर आकर्षित होती है। उनका अभिभावक यशोदा-नन्दन चक्रधर का विवाह अहिल्या से निश्चित कर लेता है। आगे चलकर दोनों का विवाह हो जाता है। और उनके एक पुत्र होता है जिसका नाम शखधर रखा गया। मनोरमा की बीमारी का तार पाकर चक्रधर अपने पुत्र व पत्नी के सहित उसके पास पहुँचते हैं। चक्रधर के आने से मनोरमा स्वस्थ होने लगती है।

चक्रधर की पत्नी अहिल्या वस्तुतः जगदीशपुर के राजा की ही लड़की थी, जो बचपन में खो गई थी, इस तथ्य का प्रमाण मिलने पर अहिल्या को राज्य का भाग प्राप्त हो गया। किन्तु राज्य-प्राप्ति के अनन्तर अहिल्या अपने पति और पुत्र की उपेक्षा करने लगी। अन्त में अहिल्या की मृत्यु हो जाती है।

दूसरी कहानी जगदीशपुर की महारानी देवप्रिया से सम्बन्ध रखती है। उनका विवाह महेन्द्रसिंह से हुआ था, किन्तु विवाह की प्रथम रात्रि में ही उनका देहान्त हो जाता है। अगले जन्म में वे ही विक्रमसिंह के रूप में अवतरित हुए और महारानी देवप्रिया से मिले, किन्तु उनका पुनः देहावसान हो गया। इसके अनन्तर वे शंखधर के रूप में अवतरित हुए और चिर-संगिनी देवप्रिया से मिले। इस प्रकार यह उपन्यास अनेक अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं से परिपूर्ण है। इसमें आंशिक रूप से हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या का चित्रण हुआ है। यदि लेखक को पुनर्जन्म की गुत्थी सुलझाने का शौक न होता तो यह उपन्यास भाव, भाषा एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सफल रचना सिद्ध हो सकता था, किन्तु आध्यात्मिक चमत्कारों ने इसके वैभव को श्रीहीन कर दिया है।

(७) गबन—इसमें एक मध्यवर्गीय परिवार की परिस्थितियों का चित्रण यथार्थवादी शैली में हुआ है। रामनाथ एक म्युनिसिपल आफिस का कर्मचारी है। उसका विवाह जालपा से हुआ था। अपनी पत्नी की आभूषण-प्रियता को तुष्ट करने के लिए रामनाथ सरकारी रकम गबन करके उसे चंद्रहार बनवा देता है। आगे चल-कर गिरफ्तारी के भय से वह कलकत्ता भाग जाता है, किन्तु किसी अन्य कारण से वहाँ गिरफ्तार हो जाता है। अन्त में जालपा की सहायता से वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इसमें स्त्रियों के आभूषण-प्रेम एवं मध्यवर्गीय पुरुषों के मिथ्या आत्मदर्शन का दुष्परिणाम दिखाया गया है। डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"समाज के सच झूठ के मान, उसके दिखावे की भावना, उसकी न्याय-भावना का खोखलापन, उसके प्रेम और ईश्वर-विश्वास की खिल्ली जैसी इस उपन्यास में मिलेगी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।"

(८) निर्मला—इस छोटे से उपन्यास में दहेज प्रथा एवं अनमेल विवाह की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। निर्मला की विधवा माँ दहेज देने से असमर्थ होने के कारण उसका विवाह अधेड़ अवस्था के एक विधुर तोताराम से कर देती है। तोताराम की पहली पत्नी से तीन संतानें थीं तथा उनका सबसे बड़ा लड़का निर्मला की आयु का था। अतः तोताराम अपने इस बड़े पुत्र और निर्मला के सम्बन्ध को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इस सन्देहशीलता के परिणाम से अन्त में सारा घर चौपट हो जाता है। निर्मला की मृत्यु के साथ-साथ उपन्यास की समाप्ति हो जाती है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। आदि से अन्त तक वह यथार्थवादी ही रहता है। यहाँ से उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन परिलक्षित होता है।

(९) कर्मभूमि—इसमें हिन्दू मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, किसानों के उत्थान आदि की प्रेरणा दी गई है। इसका नायक अमरकान्त है, जो कि विवाहित होते हुए भी एक मुस्लिम कन्या सकीना से प्रेम करता है। आगे चलकर वह देश-सेवा के कार्य में लग जाता है और सकीना को भी इसकी प्रेरणा देता है। पीड़ितों, दलितों एवं अछूतों के हित के लिए वह कई यातनाएँ भुगतता है। वह एक बार किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व करता है। फलस्वरूप जेल चला जाता है। अमरकान्त के प्रभाव से उसका मित्र सलीम, जो कि आई० सी० एस० होकर उस जिले का अधिकारी बन चुका था, सरकारी सर्विस छोड़कर किसानों की सेवा में लग गया। अन्त में किसानों का आन्दोलन सफल हो गया। गवर्नर ने पाँच व्यक्तियों की कमेटी नियुक्त कर दी; जिसमें अमरकान्त और सलीम भी सम्मिलित थे। इस कमेटी को किसानों की माँगों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार दे दिया गया। वस्तुतः इस उपन्यास में तत्कालीन आन्दोलन की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप में अंकित हुई है।

(१०) गोदान—प्रेमचंदजी का अंतिम उपन्यास 'गोदान' है, जो उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसका नायक होरी है, जो कि भारतीय किसानों का प्रतिनिधि है। उसका पुत्र गोबर भारतीय मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है। होरी जीवन के आरम्भ से लेकर अपनी अन्तिम श्वास तक भरपूर मेहनत करता है, किन्तु फिर भी वह अपने बच्चों का पेट-भर रोटी नहीं खिला सकता। जमींदार, महाजन, पटवारी, पुजारी, पुरोहित, पुलिसवाले आदि-आदि किस प्रकार किसानों के पसीने की कमाई को हड़प कर जाते हैं, इसका सजीव चित्रण होरी की जीवन गाथा में हुआ है। उसके जीवन की एक छोटी-सी आकांक्षा है—अपने द्वार पर गौ बाँधना। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह छल और बल दोनों का प्रयोग करता है, किन्तु वह उसे कभी पूरी नहीं कर पाता। मृत्यु के अनन्तर भी यही आकांक्षा 'गोदान'—ब्राह्मण को गोदान – के रूप में उपस्थित होती है। आगे होरी को वैतरणी पार करने के लिए सवा रुपये की कृत्रिम गौ प्राप्त होती है।

'गोदान' में शोषित वर्ग के जीवन की समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप में किया गया है, किन्तु पूर्ववर्ती उपन्यासों की भाँति इसमें लेखक ने कोई समाधान प्रस्तुत

करने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका नायक भी आदर्श महामानव न होकर एक साधारण किसान है, जिसके व्यक्तित्व और चरित्र में अनेक दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। अस्तु, गोदान में प्रो० मेहता के चरित्र को छोड़कर शेष पात्रों के चित्रण में प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिलती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का दूसरा परिणाम यह है कि उपन्यास की परिणति दुखपूर्ण स्थिति में हुई है। जहाँ पूर्ववर्ती उपन्यासों में जन-आन्दोलन की अन्त में सफलता दिखाई गई है, वहाँ 'गोदान' के मजदूरों को (खन्ना के मिल में काम करनेवाले) पूंजीपति के विरुद्ध संघर्ष में पराजय होती है। अस्तु, 'गोदान' का लेखक 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' के स्थान पर शुद्ध यथार्थवादी रह गया है - हाँ, नग्न यथार्थवादिता से वह अवश्य दूर है।

'गोदान' समाजवादी रचना है या गांधीवादी? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। 'गोदान' के समस्त पात्रों के प्रति लेखक की सहानुभूति है। उसने श्रमिक वर्ग के अधिकारों की वकालत स्थान-स्थान पर की है। किसान-मजदूरों की मेहनत पर पलनेवाले जमींदारों, सूदखोर महाजनों, पण्डे व पुजारियों तथा मिल मालिकों के जीवन की आलोचना प्रेमचन्दजी ने इस रचना में उसी कटुता से की है, जिस कटुता से कोई साम्यवादी या समाजवादी लेखक कर सकता है। गांधीवाद साधनों—सत्याग्रह एवं जन-आन्दोलनों की सफलता में भी उन्हें अब विश्वास नहीं रहा है, अतः ऐसी स्थिति में इसे 'समाजवादी' रचना मान लेना सम्भव है। किन्तु गांधीवादी के कुछ चिन्ह अब भी अवशिष्ट हैं। मि० मेहता की उदारता और उनके प्रभाव से मिस मालती का हृदय-परिवर्तन गांधीवादिता का ही प्रमाण है।

यद्यपि 'गोदान' में कुछ दोष ढूंढ़े जा सकते हैं, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक उत्कृष्ट रचना है। यदि उसे अपने युग का सर्वोत्कृष्ट हिन्दी उपन्यास भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः प्रेमचन्दजी का उपन्यास-साहित्य अपने युग की परिस्थितियों एवं उसकी समस्याओं का सच्चा दर्पण है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में— "अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्दजी से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेंड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वार-वनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैंकरों को, साहस-परायणा चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है, वह गलत नहीं है।" (हिन्दी-साहित्य : पृ० ४३५)

कुछ आलोचक प्रेमचन्दजी की तुलना बँगला के रवीन्द्र और शरत् से करते हुए उन्हें कुछ हीन सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भावों की मार्मिकता एवं कला की सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रेमचन्द इनसे जरा पीछे हैं, किन्तु भारतीयता का जैसा व्यापक स्वरूप, अपने राष्ट्र की समस्याओं का जैसा गम्भीर चित्रण व अपने युग का जैसा सच्चा इतिहास प्रेमचन्द में मिलता है, वह रवि और शरत् में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। जहाँ बंगाली लेखकों की दृष्टि बंगाली समाज तक ही सीमित रही है, वहाँ प्रेमचन्द ने भारत की कोटि-कोटि जनता को एकता का सन्देश दिया है। "वस्तुतः बंग-साहित्य और प्रेमचन्द-साहित्य में वही अन्तर है, जो सूर-साहित्य और तुलसी में है। एक में जीवन के कुछ चुने हुए सरस पक्षों का ही दिग्दर्शन है और दूसरे में सम्पूर्ण जीवन का।"



: तिरसठ :

परम्परा और युग धर्म के संयोजक : मैथिलीशरण गुप्त

विकासवाद के नियमों के अनुसार किसी भी समाज, राष्ट्र या भौतिक सत्ता का विकास परम्परा और युग-धर्म के पारस्परिक संयोजन, एवं संश्लेषण से होता है; जिस प्रकार वृक्ष के आविर्भाव एवं विकास के लिए परम्परा रूपी बीज एवं युग-धर्म की जलवायु अपेक्षित है, वैसे ही समाज और राष्ट्र के विकास के लिए इन दोनों—परम्परा और युग-धर्म—का समन्वय अपेक्षित है। जब-जब हमारी परम्पराएँ युग-धर्म के अनुकूल होती हैं तो वे सहज गति से विकासोन्मुख रहती हैं तथा उनके साथ-साथ समाज का भी विकास होता रहता है, किन्तु जब इन दोनों में समय के प्रभाव से प्रतिकूलता आ जाती है तो समाज के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे समय में कोई महान् पुरुष अवतरित होता है, जो परम्परा को नया रूप प्रदान करके उन्हें युग-धर्म के अनुकूल बनाता है। महापुरुष, महान् चिन्तक और महाकवि परम्परा और युग-धर्म के बीच की खाई को पाटते हुए अपने युग, समाज और राष्ट्र को कोई नई गति प्रदान करते हैं—इसी लिए उन्हें युगावतार कहा जाता है। हमारे विचार से आधुनिक भारत में धर्म के क्षेत्र में विवेकानन्द और अरविन्द ने, राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने तथा साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु और रवीन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त ने परम्पराओं और युग-धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए युगावतार का कार्य किया। यहाँ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर विशेष रूप से विचार करते हुए उपर्युक्त मान्यता को संतुष्ट एवं स्पष्ट किया जाता है।[1]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त (१८८७-१९६४ ई०) के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ ये हैं—'रंग में भंग' (१९०९), 'जयद्रथ वध' (१९१०); 'भारत-भारती' (१९१२), 'किसान' (१९१७), 'शकुन्तला' (१९२३), 'पंचवटी' (१९२५), 'अनघ' (१९२५), 'हिन्दू' (१९२७), 'त्रिपथगा' (१९२८), 'शक्ति' (१९२८), 'गुरुकुल' (१९२९), 'विकट भट' (१९२९), साकेत (१९३२), 'यशोधरा' (१९३३), 'द्वापर' (१९३६), 'सिद्धराज'

विवेच्य विषय पर आने से पूर्व हमें दो बातें भली भाँति कर लेनी चाहिए—(१) मैथिलीशरण गुप्त के समय हमारी परंपराओं का स्वरूप और उनकी स्थिति क्या थी, (२) उस समय की परिस्थितियाँ (युग-धर्म) क्या थीं। यदि आधुनिक युग से तनिक पीछे हटते हुए हम मध्यकालीन भारत की स्थिति पर परम्पराओं की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि वह युग भावात्मकता का युग था। दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी से भारत के राजनीतिक पतन के साथ-साथ मानसिक पतन भी आरम्भ हो गया था और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, तर्क बुद्धि एवं बौद्धिकता से प्रायः शून्य हो गया था और उसका स्थान भावात्मकता ने ग्रहण कर लिया था। ऐसी स्थिति से हमारे सन्तों ने अपनी तर्क-पूर्ण विचारधारा द्वारा भारत की बौद्धिक चेतना को जगाने का प्रयास किया, किन्तु इसमें उन्हें स्थायी सफलता नहीं मिल सकी। इसके विपरीत भक्तकवियों ने युग-मानस के अनुकूल धर्म, दर्शन और सदाचार को एक ऐसा रूप प्रदान किया, जिसे भावात्मक कहा जा सकता है। जिसे 'भक्ति-आन्दोलन' कहा जाता है, वह बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता की प्रतिष्ठा का आन्दोलन था। इस आन्दोलन के द्वारा इतिहास, पुराण, दर्शन, धर्म, नीति, सदाचार आदि सभी को भावात्मकता के रंग मे रँग दिया गया। आधुनिक दृष्टि से इस भावात्मकता को प्रशंसानीय नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस युग की परिस्थितियों को देखते हुए इसी की आवश्यकता थी। कारण यह है कि एक तो उस युग में बौद्धिकता ग्राह्य नहीं थी और दूसरे बौद्धिकता के विधर्मी शासकों के अत्याचारों को सहने, उनसे संघर्ष करने एवं आत्म-त्याग, बलिदान करने की वैसी क्षमता नहीं होती, जैसी कि भावात्मकता में होती है। अस्तु, यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मध्यकाल में भक्तकवियों ने हमारी समस्त परम्पराओं को युग की आवश्यकताओं के अनुरूप भावात्मक रूप प्रदान करके अपने युग और समाज को नई शक्ति और नई गति प्रदान की – भारतीय समाज और संस्कृति को यह उनकी सबसे बड़ी देन मानी जा सकती है।

आधुनिक युग की आवश्यकताएँ मध्य-युग के विपरीत थीं। यह युग भावात्मकता का नहीं – बौद्धिकता का है। अतः अब आवश्यकता इस बात की थी कि जिन परम्पराओं को पहले भावात्मक रूप प्रदान किया गया, अब उन्हें बौद्धिक रूप दिया जाए, अन्यथा उनका लोप हो जाना संभव था। संभवतः कुछ लोग, जो नूतनता के अन्ध-भक्त हैं, परम्पराओं को नया रूप देने की अपेक्षा नई प्रवृत्तियों को अपनाना अधिक उचित समझें, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा सोचना ठीक नहीं। किसी भी समाज और राष्ट्र के लिए परम्पराओं से विच्छिन्न होना वैसा ही है, जैसा कि वृक्ष का जड़ से कटकर अलग हो जाना है। केवल फूल और फल की आकांक्षा रखनेवाला परम्परा रूपी जड़ को अनावश्यक घोषित करता हुआ उसे काट फेंक देने की बात

(१८५६), 'नहुष' (१६४०), 'कुशाल गीत' (१६४२), 'काबा और कर्बला' (१६४२), 'पृथिवी पुत्र' (१६५०), 'प्रदक्षिणा' (१६५०), 'जय भारत' (१६५२) 'विष्णुप्रिया' (१६५७)।

सोच सकता है, किन्तु ऐसा करना दुस्साहस ही सिद्ध होगा। हमारा समस्त भौतिक जीवन जिस प्रकार सूक्ष्म मन के क्रिया-व्यापारों से चालित होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म मन के भी अनेक स्तर हैं, जिन्हें स्थूल रूप से चेतन और अचेतन कहा जा सकता है। हमारा सीधा सम्बन्ध चेतन मन से है, किन्तु चेतन मन की सारी शक्ति अचेतन मन में निहित है। वस्तुतः अचेतन चेतन से हजारों गुना शक्तिशाली है। जहाँ चेतन मन के पास केवल नव अर्जित ज्ञान है, वहाँ अचेतन के पास अतीत की परम्पराओं के वे संस्कार सुरक्षित हैं, जिनके अर्जन में मनुष्य को करोड़ों वर्ष की यात्रा करनी पड़ी। हमारा कोई भी नया ज्ञान या विचार तब तक प्रवृत्ति और भावना का रूप धारण नहीं कर पाता, जब तक कि वह अचेतन की परम्पराओं से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेता। अतः व्यक्ति समाज और राष्ट्र को गति प्रदान करने के लिए परम्पराओं की थाती को सँभाले रखना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा हमारी स्थिति वैसी ही हो जाएगी जैसा कि कोई व्यक्ति एक नई चमकती हुई चवन्नी के लिए—अपने पूर्वजों की समस्त स्वर्ण-मुद्राओं को आज के युग में अप्रचलित मानकर—सौंप दे।

अस्तु आधुनिक युग की समस्या का समाधान परम्पराओं से मुक्ति पाने में नहीं अपितु उन्हें युग-धर्म के अनुरूप नया रूप प्रदान करने में निहित था। जिन परम्पराओं पर मध्यकाल में भावुकता का मुलम्मा चढ़ चुका था, उसे उतारकर अब बौद्धिकता का रंग प्रदान करना वांछनीय था, पुराने सत्य को अब नई भाषा में प्रस्तुत करना था। इस लक्ष्य की आंशिक पूर्ति विभिन्न क्षेत्रों में विवेकानन्द से गांधी तक विभिन्न महापुरुषों द्वारा हो चुकी थी। उनके द्वारा सत्य का अनुवाद नई भाषा में हो चुका था, किन्तु वह भाषा दर्शन की थी, उसकी शैली पद्य की थी, अतः लोक-हृदय में उसकी प्रतिष्ठा भली-भांति नहीं हो पाई थी। विचारक, दार्शनिक और राष्ट्र-नेता की वाणी को जब तक काव्य का आवरण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह हमारे चारों ओर गूंजती हुई भी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँच पाती। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में यह कार्य हिन्दी में मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त द्वारा सम्पन्न हुआ, इसीलिए उन्हें राष्ट्रकवि के पद से भूषित किया जाता है।

आज के बौद्धिक वातावरण में हम मार्मिकता को अपना आदर्श बताने में रामायण-महाभारत को अपनी आस्था का आधार मानने में और इतिहास-पुराण के आत्मबलिदानी पात्रों को अपना प्रेरणा-स्रोत स्वीकार करने में भले ही संकोच करें, किन्तु भारत की बहुसंख्यक जनता के हृदय में आज भी रामायण-महाभारत की कथा और राम-कृष्ण का चरित जिस गहराई से अंकित है, उस गहराई से कोई और कथा और पात्र नहीं है। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा बहु-प्रशंसित अशोक, चाणक्य, अकबर आदि की महानता को हमारी बुद्धि स्वीकार करती है किन्तु हमारे हृदय की प्रवृत्ति एवं भावना का उच्चावेग उस ओर नहीं है। हमारे लोक-हृदय की तन्त्रीं को झंकृत कर देने की जो क्षमता राम-कृष्ण की लीलाओं में है, वह किसी अन्य गाथा में नहीं है। इसलिए भारत का प्रत्येक महाकवि भले ही वह संस्कृत का वाल्मीकि हो, अपभ्रंश का स्वयंभू या हिन्दी का तुलसीदास हो, जब अपना सन्देश

जन-हृदय की गहराई तक पहुँचाना चाहता है, तो वह राम-कृष्ण की ही गाथा का आश्रय लेता है। यही बात मैथिलीशरण गुप्त पर भी लागू होती है। वे चाहते तो शायद नई कथाओं और नए पात्रों की अवतारणा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके काव्य-ग्रन्थ (कुछ अपवादों को छोड़कर) रामायण-महाभारत पर ही आधारित हैं। उन्होंने राम, भरत, लक्ष्मण, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु, द्रौपदी, शकुन्तला, सीता आदि उन्हीं पात्रों की कहानी को पुनः कहा है, जिनकी कथा पहले कई बार कही जा चुकी थी। अवश्य ही इस दृष्टि से उन पर मौलिकता के अभाव का आक्षेप लगाया जा सकता है, उन पर ही नहीं—यह आक्षेप सूर-तुलसी पर भी लगाया जा सकता है, किन्तु हम जानते हैं, इन कवियों का लक्ष्य मौलिकता नहीं, कुछ और था, और उस लक्ष्य की पूर्ति इन पुराने कथानकों द्वारा ही संभव थी, अतः इस आक्षेप का कोई महत्व नहीं है। एक चिकित्सक अर्द्ध-मृत शिशु के बदले नए शिशु की व्यवस्था कर सकता है, किन्तु उसकी सफलता इसमें नहीं समझी जाती, उसकी सफलता मरणोन्मुख शिशु को ही नया जीवन प्रदान करने में है। सूर, तुलसी, गुप्त भी अपने युग के सफल चिकित्सक थे, उन्होंने सर्वथा नूतन की प्रतिभा का सदुपयोग किया और यही श्रेयस्कर भी था।

अस्तु, मैथिलीशरण गुप्त ने सबसे पहला कार्य उन समस्त ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों को नया रूप देने का किया, जो कि भारत की गौरवपूर्ण परम्पराओं के प्रतिनिधि थे तथा जिनका भारतीय लोक मानस में गहरा स्थान था। गुप्तजी के काव्य में किन-किन धार्मिक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व विद्यमान है, इसे स्पष्ट करने के लिए उनके ग्रन्थों की एक वर्गीकृत तालिका यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती है—

१. वैष्णव परम्परा से सम्बन्धित काव्य—

(क) रामायण पर आधारित – साकेत, पंचवटी, प्रदक्षिणा।

(ख) महाभारत पर आश्रित—जयद्रथ-वध, शकुन्तला, सैरन्ध्री; तिलोत्तमा, वन वैभव, वक-संहार, हिडिम्बा, जयभारत, युद्ध आदि।

(ग) भागवत पुराण तथा अन्य पुराणों पर आश्रित—चन्द्रहास, द्वापर, नहुष, पृथिवीपुत्र।

(घ) मध्यकालीन राजपूत-संस्कृति से सम्बन्धित—रंग में भंग, विकटभट, सिद्धराज।

(ङ) मध्यकालीन भक्त-चरित्र—विष्णुप्रिया।

२. बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित—यशोधरा।

३. शक्ति परम्परा से सम्बन्धित—शक्ति।

४. सिक्ख परम्परा से सम्बन्धित—गुरुकुल।

५. मुस्लिम परम्परा से सम्बन्धित—काबा और कर्बला।

६. आधुनिक व्यक्तियों एवं समस्याओं से सम्बन्धित मौलिक (कल्पनाश्रित)

काव्य —भारत-भारती; किसान, अनघ, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, मंगलघट, अर्जन-विसर्जन अजित, अंजलि और अर्घ्य राजा-प्रजा आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण विश्लेषण-से अनेक तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि गुप्तजी के काव्य में भारत की प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। अवश्य ही इनमें वैष्णव-हिन्दू परम्परा को, और उसमें भी महाभारत को प्रमुखता प्राप्त है, किन्तु बौद्ध, शाक्त, सिक्ख, मुस्लिम आदि परम्पराओं को भी प्रतिनिधित्व देकर भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं का अद्यतन विकास प्रस्तुत कर दिया गया है वैष्णव परम्पराओं के अन्तर्गत भी भारतीय इतिहास के प्रायः सभी प्रमुख अध्यायों का दिग्दर्शन करवाया गया है। गुप्तजी स्वयं वैष्णव परम्परा के अनुयायी थे, किन्तु इतर परम्पराओं को भी उन्होंने पूर्ण सहृदयता से स्थान प्रदान करते हुए उसी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया है, जो मध्यकाल में तुलसीदास में दृष्टिगोचर होती है। पर यह प्रयास केवल हिन्दू-संस्कृति के ही विभिन्न पक्षों के समन्वय तक सीमित था; जबकि गुप्तजी हिन्दू-विरोधी संस्कृतियों को भी अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का दृष्टिकोण तुलसीदास की अपेक्षा अधिक व्यापक सिद्ध होता है, किन्तु इस व्यापकता का श्रेय आंशिक रूप में उस युग-धर्म को है, जिसमें गुप्तजी ने साँस ली। दूसरे, गम्भीरता की दृष्टि से तुलसीदास मैथिलीशरण की अपेक्षा बहुत आगे हैं। तुलसीदास का प्रत्येक शब्द उनकी आत्मानुभूति से ओत-प्रोत है। जहाँ उनकी आत्मा साथ नहीं देती, वहाँ वे इसे निःसंकोच रूप में प्रकट भी कर देते हैं, यथा, निर्गुणवादी सन्तों के लिए वे एक स्थान पर अशिष्ट शब्दावली तक का प्रयोग करते हुए लिख देते हैं—'तुलसी अलखहि का लखै, राम नामु जपु नीच'। इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त सबके साथ निर्वाह कर लेते हैं, इस निर्वाह करने में उन्हें कहीं-कहीं अपनी आत्मा की आवाज को भी दबाना पड़ा होगा—ऐसा कहना अनुचित नहीं है।

सांस्कृतिक परम्पराओं के पुनराख्याता के रूप में यहाँ तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त की तुलना करते समय हमें एक बात और न भूल जानी चाहिए। तुलसीदास ने अपने पुनराख्यान में जिस दृष्टि का परिचय दिया, वह उनकी अपनी थी, उन्होंने विभिन्न स्रोतों से सामग्री ग्रहण करते हुए भी अन्त में जो समन्वित रूप उसे प्रदान किया है; वह उनका निजी है, मौलिक है। मध्यकाल में तुलसी के अतिरिक्त और भी कई महान् चिन्तक, संत, भक्त आदि हुए, पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदास का समन्वयवादी दृष्टिकोण इनमें से किसी से ज्यों का त्यों उधार लिया हुआ था : जबकि इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में गुप्तजी ने जिस समन्वयवादिता का परिचय दिया, वह बहुत कुछ युग-नेता महात्मा गांधी से प्रभावित या अनुकूल थी। राम-रहीम की एकता का जो सन्देश गांधी द्वारा अन्य क्षेत्रों में गुंजित हुआ,

उसी की प्रतिध्वनि गुप्तजी के काव्य में मिलती है। अस्तु, तुलसी के संदेश में जहाँ उनके अपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रतिध्वनि है—इसी अन्तर के कारण गुप्तजी में अपने व्याख्यान के प्रति वैसी निष्ठा और गम्भीरता नहीं मिलती-जो तुलसी में है। वस्तुतः तुलसीदास अपने-आपमें लोक नायक थे, जबकि मैथिलीशरण गुप्त किसी लोकनायक के सच्चे अनुयायी। दोनों की स्थिति का यही अन्तर दोनों के व्याख्यानों में प्रतिध्वनित होता है।

गुप्तजी के सामने एक समस्या और थी, जो तुलसी के सामने प्रायः नहीं थी, वह यह कि गुप्तजी के समय में पूर्व-परम्पराओं और युग-धर्म में बहुत बड़ा विरोध उपस्थित हो गया था—दोनों के बीच की खाई बहुत अधिक चौड़ी हो गई थी, जबकि तुलसी के सामने ऐसा नहीं था। तुलसी का कार्य एक ही दिशा की ओर प्रवहमान विभिन्न परम्पराओं में संगति बिठाते हुए उन्हें भावात्मक रूप प्रदान करने का था, जबकि गुप्तजी का लक्ष्य परस्पर विरोधी परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने के साथ-साथ उन्हें नई दिशा—भावात्मकता से बौद्धिकता की दिशा—में अग्रसर करने का था, अतः निःसन्देह गुप्तजी का कार्य अधिक कठिन था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही गुप्तजी की कठिनाइयों और उनकी उपलब्धियों के महत्त्व को समझा जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिए गुप्तजी के द्वारा गृहीत प्रत्येक परम्परा पर अलग-अलग विचार करना ठीक होगा। सर्वप्रथम वैष्णव-परम्परा को लीजिए। इसमें उन्होंने मुख्यतः रामायण, महाभारत, पुराणादि को आधार बनाया; पर यह आधार ही बीसवीं शताब्दी के लिए सन्देहास्पद हो गया था। पौराणिक इतिवृत्त, दैवी आख्यान, अलौकिक कार्य-व्यापार, अवतारवाद आदि पर इस युग के बौद्धिकतापरक आन्दोलनों द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा चुका था। पर फिर भी भारतीय हृदय से रामायण महाभारत एवं पुराण निष्कासित नहीं हुए थे, पर जो हमारे हृदय में था, उसी पर हमारा मस्तिष्क अविश्वास करने लगा था। गुप्तजी ने अपने काव्यों में इस समस्यामूलक स्थिति का समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने पौराणिक आख्यानों के अतिप्राकृत एवं अलौकिक तत्त्वों की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्हें एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो आज के पाठक को स्वीकार्य हो सके। परम्परागत अवतारों और दैवी पात्रों को भी उन्होंने मानवीय औदात्य के गुणों से विभूषित किया जिससे वे हमारे कौतूहल-आश्चर्य के आलम्बन न रहकर श्रद्धा के पात्र बन सकें। इसी प्रकार उनके क्रिया-कलापों और विचारों की भी उन्होंने ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो आधुनिक युग के नैतिक मूल्यों के अनुरूप सिद्ध हो। मध्यकालीन इतिहास के राजपूत वीरों के शौर्य का चित्रण करते समय भी उन्होंने उसे आत्म-गौरव, स्वाभिमान, आत्म-त्याग और बलिदान की भावनाओं से मण्डित किया, अन्य कतिपय इतिहासकारों की भाँति उन्होंने उसे केवल मिथ्याभिमान, दुराग्रह एवं हठवादिता के परिणाम के रूप में ग्रहण नहीं किया। राजपूतों के आत्म-सम्मान की

संकीर्ण भावना को गुप्तजी ने व्यापक रूप में प्रस्तुत किया। अस्तु: रामायण, महाभारत, पुराण, इतिहास आदि के पात्रों को गुप्तजी ने एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो परम्परा से बहुत भिन्न न होते हुए भी युग-धर्म के अनुकूल सिद्ध होता है।

बौद्ध, शाक्त, सि ख, मुस्लिम आदि परम्पराओं के चित्रण में भी गुप्तजी ने व्यापक मानवता एवं चारित्रिक औदात्य को ही अपना दृष्टि-केन्द्र रखा है। किसी भी धर्म से सम्बन्धित चाहे कोई भी अवतार, पैगम्बर, गुरु या नेता हो, वह श्रद्धेय एवं पूज्य है, यदि उसने लोकहित के लिए कोई कार्य किया है या मानवता का कोई ऊँचा आदर्श उसने प्रस्तुत किया है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता या वर्ग-भेद के क्षुद्र भाव गुप्तजी के मार्ग में बाधक नहीं बनते। बुद्धि अतिशयोक्तियों एवं अलौकिकताओं से प्रभावित नहीं होती—वह गुणों की शुद्ध परख, नापतोल एवं महत्त्व के वास्तविक बोध से आह्लादित होती है। आज के बौद्धिक युग को प्रभावित, प्रेरित एवं तरंगित करने के लिए भी इन्हीं गुणों की अपेक्षा है। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की सभी गौरवपूर्ण परम्पराओं का पुनरुत्थान नई भाषा और नयी शैली में किया—उन्होंने अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता की; अत्युक्ति के स्थान पर स्वाभाविकता की, दिव्यता के स्थान पर मानवीयता की, चमत्कार के स्थान पर औदात्य की प्रतिष्ठा करते हुए परम्परा और युग-धर्म के बीच समन्वय स्थापित किया। युग-धर्म के समन्वय के प्रभाव में परम्पराएँ जड़ हो गई होतीं तो परम्पराओं के प्रभाव में युग-धर्म खोखला रहता—गुप्तजी ने दोनों के बीच संगति बिठाकर जो महान् कार्य किया है, उसका महत्त्व हम भविष्य में ही समझ सकेंगे। आज हमारी स्थिति उस कटी हुई पतंग की भाँति है, जो युग-धर्म की हवा में बहुत ऊँचाई पर उड़ती हुई परम्परा की डोरी से मुक्त हो जाने के आनन्द से विह्वल है, पर आनेवाला कल अवश्य हमें इस तथ्य का बोध कराएगा कि परम्पराओं से विच्छिन्न होकर प्राप्त की गई यह ऊँचाई, मुक्ति और प्रगति स्थायी नहीं है। हमारा विश्वास है कि आनेवाले कल की यह स्थिति ही मैथिलीशरण गुप्त की महान् सांस्कृतिक दे- - महत्त्व का सम्यक् बोध करा पाएगी।

:: चौंसठ ::

प्रसाद की काव्य-साधना

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
श्रान्त-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर,
जिसके आगे राह नहीं॥

उपर्युक्त पंक्तियों में महाकवि की उस पवित्र भावना की व्यंजना हुई है, जो व्यक्ति को सदैव आगे बढ़ने की ओर प्रेरित करती है। अपनी काव्य-साधना के पथ पर वे स्वयं तो निरंतर गतिशील रहे ही, अपने युग के अन्य प्रतिभाशाली युवकों को भी उन्होंने गति प्रदान की। प्रसाद जिस राह पर अग्रसर हुए, वह एक ऐसी राह थी, जिसे उस युग के पथ-प्रदर्शकों ने त्याज्य एवं निषिद्ध घोषित कर दिया था और इसी कारण वह प्रायः अवरुद्ध हो चुकी थी, अतः महाकवि प्रसाद को अपनी काव्य-यात्रा के साथ-साथ उसका मार्ग भी स्वयं ही तैयार करना पड़ा।

प्रसाद का पथ सौन्दर्य और प्रेम का पथ था। सौन्दर्याकर्षण और प्रेम--दो ऐसे मदविह्वल गजराज हैं, जो स्वतन्त्र होने पर समाज की चारदीवारियों को तोड़कर उसकी मर्यादा के स्तम्भों को ध्वस्त कर देते हैं, अतः समाज के कर्णधार नैतिकता का अंकुश लगाकर इन्हें बराबर सुनियंत्रित रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। साहित्य-उपवन में भी उन्मत्त प्रेम और नैतिकता की तीक्ष्ण धारा के बीच बराबर संघर्ष होता रहा। किसी युग में प्रेम नैतिकता के बन्धन को छोड़कर आगे बढ़ जाता है, तो किसी युग में नैतिकता प्रेम को अपने सुदृढ़ बन्धन में बांधकर रखने में सफल हुई है, किन्तु अन्तिम पराजय अभी तक किसी ने स्वीकार नहीं की। जहाँ वैदिक युग की उर्वशी प्रेम के समक्ष सामाजिक मर्यादाओं को ठुकरा देती है, वहाँ रामायण का नायक अपने प्रणय-लोक की अधिष्ठात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र आक्षेप से निर्वासित कर देता है। किन्तु नैतिकता का यह प्रभाव चिर-स्थायी नहीं

रह सका; महाभारत-युग में वह पुनः महत्त्वाकांक्षी नरेशों के प्रणय-स्वप्नों से टकराकर क्षत-विक्षत हो गई।

जिस अनार्या शूर्पनखा को ठुकराकर राम ने महायुद्ध स्वीकार किया था, उसी के वंश की हिडिम्बा पर मुग्ध होकर आर्य भीम ने प्राचीन मर्यादाओं का अतिक्रमण कर दिया। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी आदि के जीवन की अनेक घटनाओं में भी सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक प्रेम का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। हिन्दी-काव्य के भी विभिन्न युगों में प्रेम और नैतिकता का उत्थान-पतन दृष्टिगोचर होता है। जहाँ भक्तिकाल का कवि नैतिकता से अनुप्राणित होकर नारी की छाया से भी दूर भागने का आदेश देता है, वहाँ रीति-काल का कवि प्रणय की उपेक्षा करने वालों को पशु-तुल्य घोषित करता है। आगे चलकर आधुनिक युग के आरम्भ में पुनः नैतिकता ने प्रेमियों पर विजय प्राप्त कर ली थी—प्रसाद का आगमन भी ऐसे ही समय में हुआ।

अस्तु, साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराओं से सम्बन्धित हैं, एक है वैयक्तिकता को महत्त्व देनेवाली और दूसरी सामाजिकता को प्रमुख समझनेवाली। जब साहित्य में वैयक्तिकता का उत्थान होता है, तो आत्मानुभूति भावात्मकता, सौन्दर्याकर्षण, प्रणयोन्माद, नवीन प्रयोगों, स्वतन्त्र शैलियों और मुक्तक रूप का विकास होता है और जब सामाजिकता का उत्थान होता है तो बाह्य विषयों का चित्रण इतिवृत्तात्मकता नैतिकता एवं मर्यादा का प्रतिपादन, प्राचीन नियमों का प्रयोग और प्रबन्ध शैली का प्रचलन होता है। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से वैयक्तिकता का उत्थान हितकर नहीं होता, किन्तु साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य के नवीन स्रोतों का विकास प्रायः इसी से होता है। जब सामाजिकता काव्य पर इस प्रकार छा जाती है कि उससे वैयक्तिकता का सर्वथा ह्रास हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में वह काव्य काव्य न रहकर नीति-शास्त्र या उपदेशों का संग्रह-मात्र बन जाता है। द्विवेदी-युग में काव्य इसी स्थिति को पहुँचने लगा था। यदि प्रसाद जैसे व्यक्तित्व ने सुदृढ़तापूर्वक इस अति-सामाजिकता से संघर्ष करके उसे परास्त न किया होता, तो संभव है कि हिन्दी-कविता अब तक 'कोरे समाज-शास्त्र' का रूप धारण कर लेती।

प्रसाद सौन्दर्य और प्रेम के कवि थे, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सर्वथा समाज-विरोधी थे। वे साहित्य-क्षेत्र में वैयक्तिकता के संरक्षक उसी सीमा तक थे; जहाँ तक काव्य-सौन्दर्य के लिए उसकी रक्षा अपेक्षित थी, अन्यथा वे सामाजिकता के भी समर्थक थे। यही नहीं, उनके काव्य में वैयक्तिकता के साथ-साथ गौण रूप में सामाजिकता की प्रवृत्ति भी बराबर विकसित होती चली है। जहाँ उनके भावनापूर्ण गीत वैयक्तिकता से सम्बन्धित हैं, वहाँ 'अयोध्या-उद्धार', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य', 'महाराणा का महत्त्व' आदि इतिवृत्तात्मक कविताएँ उनकी सामाजिकता की सूचक हैं। उनकी अंतिम श्रेष्ठ रचना 'कामायनी' में तो उनकी इन दोनों

प्रवृत्तियों में एक उचित समन्वय स्थापित हो गया है। बात यह है कि 'कामायनी के रचना-काल तक द्विवेदी-युगीन सामाजिकता छायावादी वैयक्तिकता के आगे नत-मस्तक हो चुकी थी, अतः प्रसाद ने दोनों का समझौता करवा देना ही उचित समझा।

काव्य कला का क्रमिक विकास

कहा जाता है कि 'कवि का जन्म होता है— निर्माण नहीं'। बाह्य परिस्थितियाँ कवि की काव्य धारा के दिशा-परिवर्तन में तो सहायक हो सकती हैं, किन्तु काव्य रचना के लिए आवश्यक प्रतिभा एवं भावुकता उसमें जन्मजात होती है। प्रसाद भी जन्मजात-कवि थे। जीवन के प्रथम प्रभात में ही—अन्नप्राशन संस्कार वेला में, अनेक रंग-बिरंगी वस्तुओं में से केवल एक सादी लेखनी को उठाकर ही उन्होंने अपने भावी रूप का स्पष्ट संकेत कर दिया था। नौ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने 'कलाधर' उपनाम से अत्यन्त सरस और मनोहर छंद की रचना की। सत्रह वर्ष की आयु में उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। थोड़े ही दिनों पश्चात् 'कलाधर' की ज्योति 'इंदु' की किरणों के माध्यम से चारों ओर छिटकने लगी। 'इंदु' में प्रकाशित रचनाएँ आगे चलकर 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के रूप में प्रकट हुईं। उनकी समस्त काव्य रचनाओं का कला-क्रमानुसार विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

१. चित्राधार (रचना काल सन् १९०६-८), २. प्रेम पथिक (सर्वप्रथम व्रज भाषा में सन् १९०५ में तथा खड़ीबोली में सन् १९१३ में), ३. करुणालय (१९१३), ४. महाराणा का महत्त्व (१९१४), ५. कानन कुसुम (१९१२ व १९१६), ६. झरना (१९२०), ७. आँसू (१९२५), ८. लहर (१९३१-३२), ९. कामायनी (१९३६)। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(१) चित्राधार—इसमें प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ, जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं संकलित की गई हैं। इसके प्रथम संस्करण में व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली की कविताएँ भी थीं, किन्तु दूसरे संस्करण में केवल व्रजभाषा की ही कविताएँ रखी गईं। विषय वस्तु की दृष्टि से चित्राधार में ये चार प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयों का इतिवृत्तात्मक शैली में वर्णन, (२) प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से चित्रण, (३) प्रेमानुभूतियों की व्यंजना और (४) भक्ति-भावना की अभिव्यंजना। प्रथम अर्थ में 'अयोध्या का उद्धार', 'वन मिलना' और 'प्रेम राज्य' शीर्षक कविताएँ आती हैं, जो कि प्रसाद की ऐतिहासिक बुद्धि, पौराणिक रुचि एवं मौलिक कल्पना की द्योतक हैं। प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं में मानवीकरण की प्रकृति अपने मूल रूप में प्रकट है; देखिए—

भरि अंक अहो तुम भेटति को;
तरु के हिग बाह समेटति को;

× × ×

तुम देखति हो केहि आस भरी ?
नहि बोलत हो तब पास करी ?

यहाँ आलिंगनबद्ध तरु और लता का चित्रण प्रणयी-युग्म के रूप में हुआ है। 'कल्पना सुख', 'विदाई', 'नीरव प्रेम', 'विसर्जन' आदि कविताओं में प्रसाद की प्रणय-भावना का स्फुरण मिलता है। उनका प्रेम कभी विश्व-प्रेम और कभी भक्ति भावना का रूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

(२) प्रेम पथिक यह काव्य पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था, किन्तु आगे चलकर इसे खड़ी बोली में परिवर्तित कर दिया गया। यह एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जो कि प्रणय-भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसकी कथा-वस्तु श्रीधर पाठक द्वारा अनुवादित 'एकान्तवासी योगी' से मिलती-जुलती है। दोनों में ही प्रेमी-प्रेमिका में से एक आश्रयदाता है और दूसरा पथिक। दोनों में ही पथिक अपने निराश-प्रेम की कहानी सुनाता है और अन्त में श्रोता कोई और नहीं, वही व्यक्ति सिद्ध होता है, जिसके लिए पथिक दुखी है।

इस काव्य का एक-एक शब्द अनुभूति से अनुप्राणित है, मानो यह लिखा नहीं गया—कवि के हृदय से स्वतः ही उच्छ्वासित हुआ है। कथा के आरम्भ में ही कवि का हृदय भावोच्छ्वास से उद्वेलित हो उठा है—

शुभ ! अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती हैं !
तो भी वज्रहृदय कर अपना, उसको तुम्हें सुनाता हूँ !!

जब कवि की प्रेयसी का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो उसके हृदय की अवस्था अत्यन्त शोकपूर्ण हो गई—इसका मार्मिक रूप में निरूपण देखिए—

"किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृतन्त्री-झनकार।
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में ॥
कच्चा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है।
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है ॥

और अन्त में—

भग्न हृदय उस गृह से बिछुड़ा जैसे टूटा फल तरु से।

कवि ने प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के अनन्तर इस काव्य को दार्शनिकता से वेष्टित करने का प्रयत्न किया है। वह वैयक्तिक प्रेम से विश्व-प्रेम की ओर अग्रसर होने का सन्देश देता है—

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे ॥

(३) महाराणा का महत्त्व इस छोटे से ऐतिहासिक खण्डकाव्य में महाराणा प्रताप की उदारता का चित्रण किया गया है। एक बार उनकी सेना के लोग एक

मुस्लिम रमणी को बन्दी बना लेते हैं। यद्यपि वह रमणी उसी अब्दुर्रहीम खानखाना की पत्नी थी, जो उन पर आक्रमण करने आया था, पर वे उसे सम्मानपूर्वक लौटा देते हैं। इस प्रबन्ध की शैली में ओज गुण का विकास मिलता है; देखिए—

घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो, तुमुल घात प्रतिघात पवन का हो रहा !
भीमकाय जल-राशि क्षुब्ध हो सामने कर्णधार रक्षित वृहद्‌वय सुनाव को।
छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले, घोर सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है।

(४) कानन कुसुम—'कानन-कुसुम' में सन् १९०९ से १९१७ तक की स्फुट कविताएँ संकलित है। इसकी अधिकांश कविताओं का विषय परम तत्त्व है, कहीं कवि अपने आराध्य की प्रार्थना में लीन है, तो कहीं वह उसके 'करुणकुंज' के वैभव का वर्णन कर रहा है। इनकी 'भीष्म का मध्याह्न', 'रजनी-गंधा', 'सरोज' आदि कविताओं में प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर रूप में हुआ है। मानवीकरण के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 'चित्रकूट', 'श्रीकृष्ण जयन्ती'; 'कुरुक्षेत्र', 'वीर-बालक' आदि में ऐसे ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषयों का निरूपण हुआ है, जिनसे राष्ट्र के गौरव में अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार इसमें प्रसाद-काव्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास दृष्टिगोचर होता है।

(५) झरना—'झरना' के गीतों में प्रसाद की भावनाएँ विभिन्न रूप में बिखरी हुई हैं। एक ओर इसमें प्रकृति की मंजुल मनोहर मूर्ति का चित्रण सजीव रूप में हुआ—

हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा,
अहो प्राण प्यारे, तो कठोरता न कीजिए।
क्रोध से, विषाद से; दया या प्रीति से;
किसी भी बहाने से तो याद कीजिए॥

है, तो दूसरी ओर वह प्रणय की कोमलतम अभिव्यक्ति से भी परिपूर्ण है। साथ ही रहस्यात्मकता का समावेश भी इसमें घुलकर हुआ है। कवि की विभिन्न उक्तियों में अनुभूति की तरलता विद्यमान है—

इन पंक्तियों में अभिव्यक्ति की तरलता है, पर सर्वत्र ही ऐसा नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए 'किरण' में प्रौढ़ छायावादी शैली के कारण थोड़ी जटिलता आ गई है—

सुदिन-मणि वलय विभूषित उषा
सुन्दरी के कर का संकेत।
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम निकेत॥

इस काव्य को प्रथम छायावादी कृति के रूप में स्वीकार किया गया है।

(६) आँसू—'आँसू' एक विरही हृदय के सहज-स्वाभाविक उच्छ्वास के रूप में व्यक्त है। स्थान-स्थान ही रूप-रेखाएँ उसमें स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर नहीं होतीं,

किन्तु फिर भी अतीत की स्मृतियों की अभिव्यंजना इसमें योजना-बद्ध ढंग से हुई है। आरम्भ में कवि पाठक को सम्बोधित करके—"अवकाश भला है किनको सुनने को करुण कथाएँ"—अपनी करुण गाथा सुनाने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करता है, तदनन्तर वह प्रथम दर्शन से लेकर वियोग तक की अनुभूतियों की व्यंजना स्पष्ट रूप से कर देता है। प्रेम की विभिन्न भाव-दशाओं का चित्रण इसमें मार्मिक शब्दों में हुआ है, किन्तु वेदना की एक हल्की-सी छाया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—

मादक थी मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

कवि ने इसके दूसरे संस्करण में थोड़ा परिवर्तन व परिवर्द्धन करके इसमें व्यंजित लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया है, किन्तु फिर भी इसकी लौकिकता के चिह्न पूरी तरह लुप्त नहीं हुए हैं। कवि के 'आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर' भाग जाने वाला प्राणी कोई अलौकिक जगत् का न होकर इस धरती का था, इसका आभास उसकी 'अलकों', 'काली आँखों' 'चाँद से मुख' आदि से हो जाता है। आप भी पहचानिए, निम्नांकित पंक्तियों में किसी नारी का चित्रण है या निर्गुण प्रभु का ?

बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥
काली आँखों में कितनी यौवन की मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

अन्त में कवि का संदेश है—

सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन सा आँसू इस विश्व सदन में॥

(७) लहर 'लहर' में 'आँसू' से 'कामायनी' तक की कविताओं का संग्रह है। 'लहर' तक आते-आते कवि अधिक चिन्तनशील हो गया है। यही कारण है कि इसमें अनुभूति के साथ-साथ चिन्तन की प्रधानता है। एक आलोचक के शब्दों में, इसमें अनुभूति में भी झरना तथा आँसू की अनुभूति से अन्तर है। झरना तथा आँसू की अनुभूति में यौवन का आवेश, आवेग तथा प्रवाह तीव्र है; किन्तु लहर की अनुभूति में गहराई अधिक है। इसमें यौवन का आवेग झंझावात तथा हलचल नहीं, बल्कि एक शान्ति; गहराई तथा उज्ज्वलता है। उनके मस्तिष्क में जो पीड़ा घनीभूत होकर छाई हुई थी, उसके 'आँसू' बनकर बरस जाने से मस्तिष्क धुलकर निर्मल हो गया है और इसी कारण कवि वैयक्तिक धरातल से ऊपर उठकर जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में अधिक गम्भीरता से विचार करने लगा है।" पूर्ववर्ती रचनाओं की भाँति इसमें भी प्रेम, प्रकृति, रहस्य, जीवन-दर्शन और ऐतिहासिक-पौराणिक विषयों का निरूपण हुआ है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—

बौद्धिकता के विपरीत उन्होंने सरल भावात्मकता का संदेश दिया है तथा जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय की आवश्यकता बताई है—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
तीनों मिल एक न हो सके यही विडम्बना है जीवन की॥

वस्तुतः भाव, विचार और शैली तीनों की दृष्टि से कामायनी अनुपम है।

प्रसाद काव्य की प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त रचनाओं के आधार पर प्रसाद-काव्य की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि इसके लिए विस्तृत विवेचन अपेक्षित है, किन्तु हम यहाँ उनका संकेत-मात्र कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। सर्वप्रथम तो प्रसाद काव्य की मूल प्रवृत्ति शृंगारिकता या प्रेम की है। प्रारम्भ में उन्होंने प्रेम का चित्रण प्रकृति और नारी के माध्यम से किया, किन्तु आगे चलकर वे अलौकिकता की ओर उन्मुख हो गए। दूसरे, उन्होंने सौन्दर्य के सूक्ष्म अवयवों का चित्रण व्यंजनात्मक शैली में किया। तीसरे, उन्होंने बाह्य विषयों की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की। चौथे, उन्होंने राष्ट्र के प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के रूप में अतीत का चित्रण किया। पाँचवें, उन्होंने इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा भावात्मकता को अधिक स्थान दिया, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कामायनी में दृष्टिगोचर होता है। छठे, उन्होंने व्यापक मानवता और विश्व-बन्धुत्व का संदेश दिया। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में वे सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो हम पीछे 'छायावाद' निबन्ध में गिना आये हैं।

महत्त्व

आधुनिक हिन्दी कवियों में प्रसाद का स्थान सर्वोच्च है। छायावाद के तो वे प्रवर्तक एवं सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं; अन्य वर्गों के कवि भी उनकी बराबरी करने में असमर्थ हैं। उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी के 'रामचरित मानस' के पश्चात् दूसरा स्थान 'कामायनी' को ही दिया जाता है। वस्तुतः प्रसाद में भावना, विचार और शैली तीनों की पूर्ण प्रौढ़ता मिलती है, जो कि विश्व के बहुत कम कवियों में संभव है। प्रेमी, कवि और दार्शनिक के लक्षणों से सम्पन्न कामायनीकार का व्यक्तित्व और कृतित्व—दोनों अविस्मरणीय हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

:: पैंसठ ::

प्रसाद की नाट्य कला

"नवजागरण के मंगल-प्रभात में भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण प्रकाश का सन्देश देकर अल्पसमय में ही विलीन हो गई। साहित्य में फिर शिथिलता और जड़ता का अन्धकार छा गया यद्यपि अनेक साहित्य-स्रष्टा अपनी प्रतिभा से कुछ-न-कुछ प्रकाश प्रदान करते ही रहे। जागरण की गोद में प्रसादजी अलौकिक प्रतिभा लिये दिव्य प्रकाश-पिण्ड के समान प्रकट हुए। प्रसाद ने साहित्य के हर क्षेत्र के सुदूर कोने तक को प्रकाशित किया। उनका महान् व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में वरदान के समान उदित हुआ। प्रसादजी भारतीय सांस्कृतिक जागरण के देवदूत थे। उनके व्यक्तित्व में बौद्धों की करुणा, आर्यों का आनन्दवाद और ब्राह्मणों का तेज था।" ये शब्द 'हिन्दी नाटककार' रचयिता श्री जयनाथ 'नलिन' के हैं, जिनसे प्रसाद की महानता पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का अवतरण एक महान् घटना थी—जिस प्रकार युगों-युगों के पश्चात कुछ महान् आत्माएँ अवतार धारण कर धरती पर आती हैं, कुछ वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का आगमन एक अवतार-पुरुष का आगमन था। सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी के पश्चात् दो ही महान् प्रतिभाएँ ऐसी दिखाई पड़ती हैं, जिनमें अलौकिक शक्ति का आभास होता है—उनमें एक है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और दूसरी अवतार प्रसाद'।

भारतेन्दु और प्रसाद—दोनों युग-निर्माता साहित्यकार थे। दोनों का जन्म काशी के वैश्य परिवार में हुआ। दोनों के पूर्वज अत्यन्त धनाढ्य थे। दोनों ने पाठ्य-क्रम की सीमाओं में बँधी हुई महाविद्यालयों की नियमित शिक्षा की उपेक्षा करके ज्ञान और साहित्य का अनुशीलन घर पर ही स्वतन्त्रतापूर्वक किया। दोनों के ही व्यक्तित्व में रसिकता और उदारता का गुण प्रमुख रूप में था। दोनों ने ही कविता, नाटक और गद्य पर कलम चलाई। दोनों के ही साहित्य में प्रेम, भक्तिभावना, राष्ट्रीयता और संस्कृति के उद्धार की प्रवृत्ति मिलती है। दोनों ने ही अपने युग के कवियों और नाटककारों का नेतृत्व किया। वस्तुतः इतनी अधिक समानताएँ

मिलती है कि जिन्हें देखकर हमें सन्देह होता है कि कहीं भारतेन्दु की आत्मा ने ही तो अपने अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रसाद के रूप में दूसरा जन्म धारण नहीं कर लिया—पुनर्जन्म की विचारधारा में विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती।

हमारी उपर्युक्त तुलना से एक भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग इससे प्रसाद को भारतेन्दु की परम्परा का ही लेखक और कवि समझने की भूल कर सकते हैं। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। दोनों के साहित्य में अनेक समानताओं के बावजूद भी दोनों की मूल प्रकृति में सूक्ष्म अन्तर है। एक के काव्य में बहिर्मुखी प्रवृत्ति की प्रधानता है, तो दूसरे में अन्तर्मुखी वृत्ति की। एक में हास्य और व्यंग्य की छटा है, तो दूसरे में गम्भीरता और दार्शनिकता का पुट है। एक में क्रान्ति का तीखा स्वर है, तो दूसरे में शान्ति का मधुर सन्देश है। इसका मतलब हुआ - हमारी पुनर्जन्म वाली कल्पना झूठी है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ उत्साही, हास्य-प्रिय और विद्रोही होता है, वहाँ प्रौढ़ावस्था में जाकर वही गम्भीर और शान्त हो जाता है। भारतेन्दु का देहान्त प्रौढ़ावस्था की प्राप्ति से पूर्व ही हो गया था तथा पुनर्जन्म को माननेवाले यह भी मानते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों का विकास दूसरे जन्म में होता है। सम्भव है, भारतेन्दु प्रौढ़ावस्था तक जीवित रहते तो उनके काव्य में वही प्रौढ़ता और गम्भीरता आ जाती, जो हमें प्रसाद के काव्य में मिलती है। खैर पुनर्जन्म वाली बात का साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, अतः हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

जैसा कि पीछे कहा गया है, प्रसादजी ने हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया, जबकि भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण का प्रकाश मन्द पड़ने लग गया था। भारतेन्दु और प्रसाद के रचना-काल के बीच के युग में प्रायः बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद ही अधिक हुआ—मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए और जो लिखे भी गए, उनमें कला का उत्कृष्ट रूप प्राप्त नहीं होता। अनुवादित नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय, रवि बाबू आदि के बँगला नाटकों तथा संस्कृत के 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

प्रसादजी ने नाटकों की रचना एक निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर की थी। वह निश्चित लक्ष्य था—भारतीय संस्कृति के गौरव का आख्यान करना। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है—"प्रसादजी में भारतीय गौरव को प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है, जितनी भारतेन्दु काल में वरन् उससे भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता-मात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे-आगे जैसे समय बढ़ता गया, भारत में एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी।...वह थी सभ्यता की ललकार। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी की व्यवहारशीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने लगे थे। यह भीषण आत्मघात

:: पैंसठ ::

प्रसाद की नाट्य कला

"नवजागरण के मंगल-प्रभात में भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण प्रकाश का सन्देश देकर असमय में ही विलीन हो गई। साहित्य में फिर शिथिलता और जड़ता का अन्धकार छा गया यद्यपि अनेक साहित्य-स्रष्टा अपनी प्रतिभा से कुछ-न-कुछ प्रकाश प्रदान करते ही रहे। जागरण की गोद में प्रसादजी अलौकिक प्रतिभा लिये दिव्य प्रकाश-पिण्ड के समान प्रकट हुए। प्रसाद ने साहित्य के हर क्षेत्र के सुदूर कोने तक को प्रकाशित किया। उनका महान् व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में वरदान के समान उदित हुआ। प्रसादजी भारतीय सांस्कृतिक जागरण के देवदूत थे। उनके व्यक्तित्व में बौद्धों की करुणा, आर्यों का आनन्दवाद और ब्राह्मणों का तेज था।" ये शब्द 'हिन्दी नाटककार' रचयिता श्री जयनाथ 'नलिन' के हैं, जिनसे प्रसाद की महानता पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का अवतरण एक महान् घटना थी—जिस प्रकार युगों-युगों के पश्चात् कुछ महान् आत्माएँ अवतार धारण कर धरती पर आती हैं, कुछ वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का आगमन एक अवतार-पुरुष का आगमन था। सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी के पश्चात् दो ही महान् प्रतिभाएँ ऐसी दिखाई पड़ती हैं, जिनमें अलौकिक शक्ति का आभास होता है—इनमें एक हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और दूसरे जयशंकर प्रसाद'।

भारतेन्दु और प्रसाद—दोनों युग-निर्माता साहित्यकार थे। दोनों का जन्म काशी के वैश्य परिवार में हुआ। दोनों के पूर्वज अत्यन्त धनाढ्य थे। दोनों ने पाठ्य-क्रम की सीमाओं में बँधी हुई महाविद्यालयों की नियमित शिक्षा की उपेक्षा करके भाषा और साहित्य का अनुशीलन घर पर ही स्वतन्त्रतापूर्वक किया। दोनों के ही व्यक्तित्व में रसिकता और उदारता का गुण प्रमुख रूप में था। दोनों ने ही कविता, नाटक और गद्य पर कलम चलाई। दोनों के ही साहित्य में प्रेम, भक्तिभावना, राष्ट्रीयता और संस्कृति के उद्धार की प्रवृत्ति मिलती है। दोनों ने ही अपने युग के कवियों और नाटककारों का नेतृत्व किया। वस्तुतः इतनी अधिक समानताएँ

मिलती है कि जिन्हें देखकर हमें सन्देह होता है कि कहीं भारतेन्दु की आत्मा ने ही तो अपने अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रसाद के रूप में दूसरा जन्म धारण नहीं कर लिया—पुनर्जन्म की विचारधारा में विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती।

हमारी उपर्युक्त तुलना से एक भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग इससे प्रसाद को भारतेन्दु की परम्परा का ही लेखक और कवि समझने की भूल कर सकते हैं। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। दोनों के साहित्य में अनेक समानताओं के बावजूद भी दोनों की मूल प्रकृति में सूक्ष्म अन्तर है। एक के काव्य में बहिर्मुखी प्रवृत्ति की प्रधानता है, तो दूसरे में अन्तर्मुखी वृत्ति की। एक में हास्य और व्यंग्य की छटा है, तो दूसरे में गम्भीरता और दार्शनिकता का पुट है। एक में क्रान्ति का तीखा स्वर है, तो दूसरे में शान्ति का मधुर स्पन्दन है। इसका मतलब हुआ - हमारी पुनर्जन्म वाली कल्पना झूठी है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ उत्साही, हास्य-प्रिय और विद्रोही होता है, वहाँ प्रौढ़ावस्था में आकर वही गम्भीर और शान्त हो जाता है। भारतेन्दु का देहान्त प्रौढ़ावस्था की प्राप्ति से पूर्व ही हो गया था तथा पुनर्जन्म को माननेवाले यह भी मानते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों का विकास दूसरे जन्म में होता है। सम्भव है, भारतेन्दु प्रौढ़ावस्था तक जीवित रहते तो उनके काव्य में वही प्रौढ़ता और गम्भीरता आ जाती, जो हमें प्रसाद के काव्य में मिलती है। खैर पुनर्जन्म वाली बात का साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, अतः हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

जैसा कि पीछे कहा गया है, प्रसादजी ने हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया, जबकि भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण का प्रकाश मन्द पड़ने लग गया था। भारतेन्दु और प्रसाद के रचना-काल के बीच के युग में प्रायः बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद ही अधिक हुआ—मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए और जो लिखे भी गए, उनमें कला का उत्कृष्ट रूप प्राप्त नहीं होता। अनूदित नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय, रवि बाबू आदि के बँगला नाटकों तथा संस्कृत के 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

प्रसादजी ने नाटकों की रचना एक निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर की थी। वह निश्चित लक्ष्य था—भारतीय संस्कृति के गौरव का आख्यान करना। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है—"प्रसादजी में भारतीय गौरव को प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है, जितनी भारतेन्दु काल में वरन् उससे भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता-मात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे-आगे जैसे समय बढ़ता गया, भारत में एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी।...वह थी सभ्यता की ललकार। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी की व्यवहारशीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने लगे थे। यह भीषण आत्मघात

और सेल्यूकस की पुत्री कल्याणी का प्रणय और परिणय दिखाया गया। 'करुणालय' गीति-नाट्य की शैली में लिखा गया है। इसमें हरिश्चन्द्र और शुनः शेप के पौराणिक इतिवृत्त का चित्रण किया गया है। अस्तु, इन प्रारम्भिक रचनाओं से प्रसाद की इतिहास और पुराण में रुचि परिलक्षित होती है। इनमें प्रसाद की कला का अपरिपक्व एवं अस्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद जी के शब्दों में—"वास्तव में इन एकांकी रूपकों में न तो कथानक की ही कोई विशेषता है, न चरित्र-चित्रण की। प्रसिद्ध घटनाओं का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख-मात्र है। कथांश का क्षेत्र इनमें इतना संकुचित है कि उनके नियंत्रण एवं संविधान में लेखक को कितनी कुशलता दिखानी पड़ी है, इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता।"

'राज्यश्री' में इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री के जीवन का चित्रण है। इसमें उसके जीवन की अनेक प्रमुख घटनाओं का अंकन सफलतापूर्वक किया है। नाटक के सभी पात्रों में 'राज्यश्री' का ही व्यक्तित्व सबसे प्रभावशाली दिखाया गया है। नाटक में जिन व्यापक विप्लवों का उल्लेख है, उन सबके मूल में यही राज्यश्री है। सबकी दृष्टि उसी ओर है। "वही एक रूप शिखा है, जिन पर सभी पतंग गिरकर भस्मसात् होते हैं।" सभी घटनाएँ उसी पर आश्रित हैं। ग्रहवर्मा उसी के लिए कहता है।

सबसे यह आनन्द बड़ा है प्रियतमे,
तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें।

उसी सौन्दर्य-राशि को देखकर मालवराज देवगुप्त भी आकर्षित हुआ है। उसकी दृष्टि में राज्यश्री वास्तव में 'विश्व-राज्यश्री' है। मालवराज के सम्मुख केवल एक ही प्रश्न है—'क्या वह मुझे न मिलेगी?' इस प्रश्न का उत्तर भी उसे मिलता है। मृगतृष्णा तुरन्त उत्तर रूप में कहती है—"अवश्य मिलेगी।" इसी मृगतृष्णा के पीछे पड़ा वह अनेक अनर्थ करता है तथा इसको समय-समय पर स्वतः स्वीकार भी करता है। वस्तुतः इस नाटक में राज्यश्री जैसी नारी पात्र को अभूतपूर्व गरिमा प्राप्त हुई है।

'विशाख' की कथा 'राजतरंगिणी' के आरंभिक अंश पर आधारित है। नायक तक्षशिला के विश्वविद्यालय से निकला हुआ नया-नया स्नातक है, जो व्यावहारिक ज्ञान से अभी शून्य है। आगे चलकर वह चन्द्रलेखा नामक युवती का उद्धार करता है और उससे प्रणय करने लगता है। इस प्रकार इसमें प्रेम और संघर्ष का चित्रण ही प्रमुख रूप में हुआ है। वस्तुतः 'राज्यश्री' और 'विशाख' में प्रसाद की नाट्य-कला का प्रारम्भिक विकास ही दृष्टिगोचर होता है। नाटकीय दृष्टि से इसमें पर्याप्त दोष भी विद्यमान हैं। इनका वस्तु-विधान चमत्कार-विहीन है। संवादों में तुकबन्दी का प्रयास झलकता है। चरित्रांकन में प्रौढ़ता का परिचय नहीं मिलता है। प्रसाद की नाट्य-कला का प्रौढ़ स्वरूप 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में उपलब्ध होता है। 'अजातशत्रु' में 'गौतम-बुद्ध' के समकालीन भारत के चारों राज्यों—मगध, कोशल, वत्स और अवन्ती की राजनीतिक अवस्था का चित्रण करते हुए

करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है।"'क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण सन्देह है।'''मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" – (विशाल की भूमिका)। यही कारण है कि प्रसाद के समस्त नाटक 'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर—ऐतिहासिक ही हैं। इन नाटकों में उन्होंने महाभारत युद्ध के पश्चात् से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही युग भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रचार का स्वर्णयुग माना जाता है। बीच में बौद्धकाल, मौर्ययुग और गुप्तकाल अधिक उत्कर्ष के युग माने जाते हैं, अतः इनका चित्रण प्रसाद के नाटकों में अधिक विस्तार से हुआ है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास के स्थूल ढाँचे को ही नहीं अपनाया, उन्होंने उसके सूक्ष्म रूप-रंग को भी भली प्रकार व्यंजित किया है। दूसरे, उन्होंने केवल इतिहासकारों के मुख से सुनी-सुनाई बातों पर ही विश्वास नहीं कर लिया, अपितु स्वतंत्र दृष्टिकोण से सम्बन्धित इतिहास का अनुशीलन ठोस प्रमाणों के आधार पर किया है। उन्होंने नाटकों के लिए प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों से सामग्री उधार नहीं ली, अपितु उन्होंने ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे इतिहासकार भी उनके नाटकों से कुछ सीख सकते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जगन्नाथप्रसाद उनके नाटकों की ऐतिहासिकता पर अभिमत प्रकट करते हुए लिखते हैं —"असुनिश्चित और अनुलिखित भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र बिखरी सामग्रियों को एक सूत्र में पिरोने की तर्क-संगत चेष्टा प्रसाद की उन विशेषताओं में है, जो वर्तमान हिन्दी के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों में भी कम दिखाई देती है। इतिहास का गम्भीर अध्ययन, प्रसंग-परिकल्पना की बुद्धि और उपलब्ध इतिवृत्तों की संगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्भुत क्षमता प्रसाद में दिखाई पड़ती है।"

प्रसाद ने ऐतिहासिकता को अपनाते हुए भी अपने नाटकों को शुष्क इतिवृत्त का रूप नहीं दिया है। उन्होंने कल्पना के उचित समन्वय द्वारा ऐतिहासिक इतिवृत्त को साहित्य का रूप-प्रदान किया है। कल्पना का प्रयोग उनके द्वारा तीन प्रकार से हुआ है—(१) पहले तो इतिहास के भिन्न-भिन्न सूत्रों को मिलाकर उन्हें एक संगठित कथानक का रूप देने में; (२) दूसरे बाह्य घटनाओं के अनुरूप ऐतिहासिक पात्रों की मानसिक दशाओं के चित्रण में; (३) अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि में। इस प्रकार उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का मधुर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

२. प्राचीन संस्कृति का चित्रण—प्रसादजी के नाटकों में केवल राजनीतिक घटनाओं का ही उल्लेख या चित्रण नहीं मिलता, अपितु उनमें सम्बन्धित युग की संस्कृति का चित्रण भी अत्यन्त सजीव रूप में हुआ है। उनके नाटकों में विभिन्न-युगीन धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्मता-

पूर्वक हुआ है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में ब्राह्मणों के आन्तरिक वैमनस्य का चित्रण किया गया है, तो 'अजातशत्रु' में बौद्ध-धर्म की छाप सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वैदिक एवं बौद्ध-धर्म का पारस्परिक संघर्ष भी उनके नाटकों में भली भाँति व्यंजित हुआ है। इसी प्रकार भारतीय समाज की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन भी उनके नाटकों में सफलतापूर्वक कराया गया है। कल्याणी, मणिमाला, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री-जैसे नारी पात्रों के द्वारा तत्कालीन समाज में नारी की स्वतन्त्रता एवं उसकी सम्मानपूर्ण स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-धर्म के प्रभाव से समाज में ब्राह्मण की गिरती हुई दशा का अवलोकन भी प्रसाद के नाटक-साहित्य में भली प्रकार किया जा सकता है। जनमेजय-काल में इनका बड़ा सम्मान था, क्योंकि उस समय भी यज्ञादि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृतियों के आचार्य और मन्त्र-दाता ये ब्राह्मन ही थे। राजवर्ग और प्रजाजन के कल्याणार्थ ही वैदिक कर्म-कांड चलता था और उसका नियामक था ब्राह्मण-वर्ग। इसलिए ये ब्राह्मण शिरःस्थानीय माने जाते थे। यों कभी-कभी उद्धत और क्रोधी प्रकृति के भी ब्राह्मण निकल आते थे, जिनमें दुरभिसंधि और कुचक्र-चालन के दोष भी दिखाई पड़ जाते थे, परन्तु अधिकतर ब्राह्मण सात्विक वृत्ति के ही होते थे, जो अरण्यों में एकान्तवास करते, तपश्चर्या, अग्निहोत्र इत्यादि कामों में निरत रहकर दया, शील, और सत्य का अनुसरण करते थे। आगे चलकर न तो ब्राह्मणों की वह वृत्ति ही रह गई और न उनका वह सम्मान ही रह गया। मौर्यकाल में अन्य प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के कारण इनका महत्त्व और भी गिर गया। यही अवस्था हर्ष के समय तक चली आई।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली एवं अध्ययन-केन्द्रों की स्थिति पर भी प्रसाद ने अपनी कुछ रचनाओं में प्रकाश डाला है। प्रायः राजवर्ग उदारतापूर्वक छात्रों और अध्ययन-केन्द्रों की सहायता करता था। स्थानीय संस्थाओं में शिक्षा समाप्त कर लेने के अनन्तर विद्यार्थी सुदूर के गुरुकुलों में जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इन गुरुकुलों में राजा का शासन नहीं चलता था। उन पर कुलपति का ही पूर्णतः नियंत्रण होता था। इनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध रहता था तथा छात्र अपनी आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार विषयों का चयन कर लेता था। इन गुरुकुलों में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव नहीं होता था। गुरु का शुल्क दक्षिणा या सेवा के रूप में चुकाया जाता था।

प्रसादजी के नाटकों में प्राचीन भारत के कला-प्रेम और कला की उन्नति पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। जनमेजय से लेकर हर्षवर्द्धन तक राजदरबारों में कवियों, चित्रकारों एवं अन्य कलाकारों का पूरा सम्मान दिखाया गया है। उद्यानों की साज-सज्जा, नर्तकों की नृत्य-कला, संगीत, अभिनय आदि का चित्रण भी उनके नाटकों में यत्र-तत्र हुआ है। वस्तुतः उनके नाटक इस दृष्टि से भारत की विभिन्न बहुमुखी संस्कृति के कोश-ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का विकास--प्रसाद के नाटकों की तीसरी प्रमुख विशेषता पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना है। उन्होंने कठोर से कठोर पात्र के हृदय की भी चंचलता एवं दुर्बलता को प्रकाशित करके अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के लिए स्थान बनाया है, विभिन्न पात्रों के हृदय में उन्होंने विभिन्न विरोधी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का संघर्ष सूक्ष्मतापूर्वक प्रदर्शित किया है। उनके अनेक पात्र ऐसी गूढ़ प्रकृति के भी हैं, जो बाहर से कुछ हैं और भीतर से कुछ, ऐसे पात्रों के मन, वचन और कर्म में द्वन्द्वात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है। "इनका समझना सरल नहीं होता। इनके स्थूल, वाह्य और सूक्ष्म अन्तर में बड़ा भेद दिखाई पड़ता है, स्वभाव ही इनका गुप्त और गम्भीर होता है। इनको कुछ बारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं...वे हँसते हुए भी रोते रह सकते हैं और रोते हुए भी हँसते। ऐसे ही लोगों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रासाद प्रकृत रूप में दिखाया जा सकता है।"

डॉ० जगन्नाथप्रसाद

प्रसाद के कुछ पात्रों में बस द्वन्द्वात्मक स्थिति का विकास अधिक विस्तार से हुआ है। बिम्बसार, वासवी, मल्लिका, स्कन्दगुप्त, देवसेना, चाणक्य आदि में द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का गाम्भीर्य अधिक मिलता है। देवसेना को देखकर उसकी संगिनी जयमाला कहती है—"तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है—तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।" इसी प्रकार चाणक्य से कात्यायन कहता है--"तुम हँसो मत चाणक्य तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।" वस्तुतः प्रसाद ने अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के द्वारा पात्रों के व्यक्तित्व में गम्भीरता जटिलता एवं बहुविधता का उन्मेष किया है।

४. **नारी पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान**—हिन्दी नाटक-साहित्य में ही नहीं—समस्त हिन्दी-साहित्य में नारी को जैसा महत्व छायावादी कवियों द्वारा प्राप्त हुआ, वैसा उसे अन्य कवियों द्वारा (स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी कवियों—घनानन्द आदि को छोड़ कर) प्राप्त नहीं हुआ। प्रसाद के छायावादी दृष्टिकोण का प्रभाव उनके नाटक-साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों में नारी के अच्छे और बुरे दोनों रूपों का चित्रण विस्तार से हुआ है। उनके नाटकों में ऐसी देवियाँ भी हैं, जो मनुष्य को देवता में परिवर्तित कर सकें। और ऐसी कुलघातिनी राक्षसियाँ भी, जो इन्सान को हैवान बनाने में सफल हो सकें। किन्तु एक बात सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है कि उनकी नारियाँ पुरुष के पीछे पीछे चलनेवाली निर्जीव कठपुतलियाँ नहीं हैं, उनका अपना व्यक्तितत्व, अपनी बुद्धि और अपना मस्तिष्क है। वे पुरुष की अनुचरी न होकर उसका पथ-प्रदर्शन करती हैं। उनके अनेक नाटकों में शक्ति का प्रमुख केन्द्र कोई-न-कोई नारी पात्र ही है; जैसे कि अजातशत्रु में मल्लिका या स्कन्दगुप्त में देवसेना है। इनके दिव्य प्रभाव से एक ओर सज्जन पुरुषों को त्याग, शौर्य और बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तो दूसरी ओर इनकी कोमल मधुर छाया में आकर

बड़े-बड़े दुष्ट, नृशंस एवं अत्याचारी पुरुष भी पवित्र एवं उदात्त भावनाओं से अभिभूत हो जाते हैं। 'ना... ! तुम केवल श्रद्धा हो।' की उक्ति कामायनी की अपेक्षा प्रसाद के नाटक-साहित्य पर अधिक सफलता से चरितार्थ होती है।

प्रसाद ने नारी पात्रों को इतना अधिक सम्मान क्यों प्रदान किया? इसके उत्तर में अनेक बातें कही जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद ने अपने विभिन्न पात्रों के मुँह से कुछ शब्द कहलाए हैं। 'अजातशत्रु' में दीर्घकारायण ने नारी के महत्त्व की मीमांसा करते हुए कहा है—"स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन हुआ है, जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं, उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो।...मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उनके जीवन का परम ध्येय है, उसका शीतल विश्राम है और वह स्नेह, सेवा, करुणा की मूर्ति तथा सांत्वना का अभय, वरदहस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूप स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।" एक अन्य स्थल पर उसने 'रमणी-रूप' की प्रशंसा में कहा है—"कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है, तो स्त्री करुणा है, जो अंतर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है रमणी का रूप।" प्रसाद ने अपनी इसी धारणा के अनुसार नारी पात्रों को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है।

५. विदूषकों का प्रयोग—यद्यपि प्रसादजी के नाटकों का वातावरण प्रायः गम्भीर ही है, उनमें हास्य के लिए बहुत कम अवकाश है, किन्तु फिर भी उन्होंने प्राचीन परम्परा के अनुसार विदूषकों की सृष्टि की है। ये विदूषक दो प्रकार के हैं—एक तो सामान्य पात्रों के रूप में, जो अपनी विनोदी प्रकृति के कारण नाटक के बीच-बीच में हास्य का संचार कर देते हैं—जैसे महापिंगल, विकट घोष, काश्यप आदि। दूसरे, स्वतन्त्र रूप में विदूषकों की सृष्टि की गई है, जैसे 'अजातशत्रु' में वसंतक एवं 'स्कंदगुप्त' में मुद्गल। इन विदूषकों की प्रकृति भी संस्कृत के नाटकों के विदूषकों से मिलती-जुलती है। वे राजाओं के अन्तरंग सखा के रूप में रहकर उनसे हास-परिहास, आलोचना-प्रत्यालोचना, एवं वाद-विवाद करते रहते हैं। कभी-कभी वे अप्रत्याशित रूप में उनकी अभीष्ट सिद्धि में भी योग देते हैं, तथा समय-समय पर दूतत्व का भी कार्य करते रहते हैं। किन्तु कहीं कहीं प्रसाद के विदूषक प्रभावित भी हो गए हैं— जैसे, ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त में।

६. काव्यात्मकता- प्राचीन भारतीय धारणा के अनुसार नाटक में सभी प्रमुख कलाओं का समन्वय अपेक्षित माना जाता है। अतः उनमें काव्य कला और

गीत काव्य का समन्वित होना भी स्वाभाविक है। किन्तु फिर भी भारतीय नाटकों में गीतों का प्रयोग अल्प मात्रा में ही होता था, जबकि प्रसादजी के नाटकों में इसका प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद इसे पारसी नाटकों का प्रभाव मानते हैं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। प्रसादजी मूलतः कवि थे, अतः उनकी गद्य रचनाओं में भी काव्यत्व बलात् फूट पड़ता है। उनके हृदय का भावोच्छ्वास नाटकों में भी गीतों के रूप में स्फुटित हो गया है। गीतों में ही नहीं, उनके गद्यांशों में भी काव्योचित भावुकता का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है; जैसे—सुवासिनी के इस कथन में द्रष्टव्य है—"अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है। आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

प्रसादजी ने अपने नाटकों में अधिक-से-अधिक गीतों को स्थान देने के लिए ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जिनको गाने का रोग-सा है। वे अवसर-कुअवसर पर, रोने या हँसने की वेला में, प्रसन्नता या शोक को व्यक्त करने के लिए गीतों का आश्रय ग्रहण करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो यह प्रवृत्ति बहुत ही व्यापक रूप धारण कर लेती है। उनमें एक नहीं, अनेक पात्र ऐसे हैं, जो कविता की भाषा में बातचीत करना पसन्द करते हैं—इनमें कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी आदि प्रमुख है। इन गीतों में प्रायः प्रणयोद्गारों की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह।
और किसको देना है हृदय चीन्हने की न तनिक थी चाह।

या—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में
कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप।
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा।
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात।
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।
कौन मधु-मदिरा घोल रहा।

उपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य, यौवन और प्रेम की ही अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु कहीं-कहीं प्रसाद ने उत्साह, रोष आदि भावों की व्यंजना के लिए ओजपूर्ण शैली में भी गीत लिखे हैं—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।

अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न वीर साहसी।
आरति सैन्य सिंधु में सुवाडवाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के गीत नाटक के रंगमंच पर अनुकूल वातावरण सृजन में अच्छा सहयोग देते हैं। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

७. उत्साह प्रेम और वैराग्य का निरूपण—प्रसादजी के नाटकों में मुख्यतः तीन रसों का—वीर, शृंगार और शान्त का चित्रण मिलता है अत उनमें क्रमशः उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण हुआ है। नाटक की मूल समस्या का सम्बन्ध प्रायः वीर रस से होता है, जबकि अवान्तर कथाओं में वे प्रेम की आयोजना करते हैं तथा उसका अन्त शान्त में परिणत कर देते हैं। संघर्ष और युद्ध की जलती हुई भूमि के बीच-बीच में प्रेम की ठंडी छाया का आयोजन करके प्रसाद ने अपने पात्रों और पाठकों के बीच प्रसन्नता का सुन्दर साधन जुटाया है। प्रसाद का प्रेम प्रथम दर्शन से उत्पन्न होनेवाला है। सौन्दर्य, यौवन और भावुकता के भार से अवनत सुन्दरियों से साहसी पराक्रमी वीरों का साक्षात्कार होता है तो उनकी प्रथम दृष्टि से ही उस चिनगारी का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसे 'प्रेम' कहते हैं। यह चिनगारी प्रसाद के अनेक पात्रों के हृदय में प्रस्फुटित होकर आगे चलकर धधकती हुई ज्वाला का रूप धारण कर लेती है। प्रसाद के प्रेमी-युग्म में चन्द्रलेखा-विशाख, वाजिरा-अजातशत्रु, मणिमाला-जनमेजय, विजया-स्कन्दगुप्त, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त, अलका-सिंहरण आदि का प्रेम प्रथम दृष्टि से उत्पन्न प्रेम है।

प्रसाद में प्रेम के और भी अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं केवल वासना और लोभ पर आश्रित प्रेम है, जो कि शीघ्र ही बुदबुद की भाँति प्रस्फुटित होकर विलीन हो जाता है, कहीं वह रूप-सौन्दर्य के उपभोग की लालसा से प्रेरित है, जो विद्युत की भाँति चमककर लुप्त हो जाता है। प्रसाद के प्रेम का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है जो त्याग और बलिदान की भूमि पर धीरे-धीरे विकसित होकर अन्त तक में स्वच्छ पवित्र प्रणय का रूप धारण कर लेता है। दुर्भाग्य से यह प्रेम अन्त तक वियोगमय ही रहता है—नायक-नायिका मिलकर एक होने का सुयोग प्राप्त नहीं करते। नलिनजी के शब्दों में—"वह बचपन का प्रेम बढ़कर उद्दाम वेग धारण करता है और अतृप्ति के झुलसते शिला खंडों से सिर पटक पटककर रह जाता है। बचपन की स्वच्छ गंगाजल-सी क्रीड़ाएँ, जब यौवन की व्याकुल स्मृतियाँ बनती हैं तो हृदय छटपटा उठता है—वह निराश प्रेम सबसे अधिक करुण और बेचैन कर देनेवाला है। जिस प्रेम का बिरवा शैशव से उगते-उगते जवानी तक आते-आते फूलों से लद गया है, वह अतृप्ति की आग में झुलस जाय तो जीवन में एक गहरा अँधेरा न छा

जायगा ?"

कुछ आलोचकों ने प्रसाद के वैराग्य भाव को भी भूल से निराश प्रेम मान लिया है। प्रसाद के कुछ पात्रों को अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति का अवसर प्राप्त होता है, किन्तु वे जान-बूझकर उन्हें ठुकरा देते हैं; इसलिए नहीं कि उनके प्रेम में न्यूनता आ जाती है, अपितु इसलिए कि वे संयोग-सुख की अपेक्षा त्यागपूर्ण विरह को अधिक पसन्द करते हैं। इसका एक उदाहरण स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रेम है। वे अन्त में अवसर प्राप्त होने पर भी संयोग के स्थान पर विरहपूर्ण जीवन को स्वीकार कर लेते हैं। इसे हम 'निराश प्रेम' न कहकर 'वैराग्य भाव' कहेंगे। निराशा वहाँ होती है जहाँ चाहते हुए भी मिलन नहीं हो पाता, जबकि मिलन प्राप्त होते हुए भी उसे न चाहना, वैराग्य है। देवसेना द्वारा स्कन्दगुप्त को कहे गए ये शब्द निराश प्रेम को नहीं, वैराग्य को व्यक्त करते हैं—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही चाहिए। मेरे इस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !" इस प्रेम के सम्बन्ध में नलिनजी की सम्मति है —"ज्यों ही वह पास आता है, आकुल होकर वह यात्री पानी पीने को झुकता है, झरना सूख जाता है।" किन्तु ऐसी बात नहीं है—हमारी दृष्टि में वह झरना सूखता नहीं, अपितु उस पथिक की ही पानी पीने की इच्छा झरने को समीप पाकर शान्त हो जाती है वह झरने का आश्वासन लेने की अपेक्षा उसकी स्मृति में जीवन बिताना ही श्रेयस्कर मान लेता है। प्रसाद के प्रेम पूर्ण नाटकों की यह वैराग्यपूर्ण परिणति दार्शनिक दृष्टि से भले ही उचित हो, किन्तु उसे स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

८. महत् संदेश—प्रसादजी ने आर्य तथा बौद्ध-दर्शनों का गम्भीर अनुशीलन किया था, तथा उन्होंने अपने इस अध्ययन के आधार पर अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण निर्मित कर लिया था, जिसका परिचय उनकी रचनाओं में मिलता है। विशेषतः उन्होंने प्रेम, त्याग, बलिदान, वैराग्य और आध्यात्मिकता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इनके समर्थन में अनेक उक्तियाँ उनके नाटकों में बिखरी पड़ी हैं। जो संदेश उन्होंने कामायनी में पद्यमय शब्दों में दिया है, उसी की अभिव्यक्ति कुछ अधिक स्पष्टता से अपने नाटकों की गद्यमय भाषा में की है। उन्होंने अपनी विचार-धारा में लोक मंगल और विश्व-भावना को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। बौद्ध-दर्शन की करुणा और उसके दुःखवाद का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। नियतिवाद के भी वे समर्थक हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में इसके पक्ष में ही अनेक युक्तियाँ मिल जाती हैं—जैसे, "नियति सम्राटों से भी प्रबल है।" (शकटार), "तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन करने जा रही है।" (सिंहरण) "नियति सुन्दरी की भवों में बल पड़ने लगे हैं। (चाणक्य)।

९. भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय—भारतीय नाटक में 'रस' को प्रमुखता दी जाती है, जबकि पाश्चात्य नाटक में 'द्वन्द' को—प्रसाद ने अपने

नाटकों में इन दोनों का ही समन्वय करके भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में जहाँ वीर और शृंगार की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई, वहाँ द्वन्द्व के भी विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है --जो ये हैं—(१) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच द्वन्द्व या नायक और प्रतिनायक का संघर्ष। (२) एक ही मनुष्य में अनेक वृत्तियों का द्वन्द्व। (३) शुभ और अशुभ विचारों का व्यापक द्वन्द्व। प्रसाद के एक-एक नाटक में अनेक वाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों के अनेक नियमों का उल्लंघन किया है : भारतीय प्रणाली के विरुद्ध उन्होंने मंच पर वध के दृश्यों का आयोजन किया है तथा भरत-वाक्य, पंच-संधि, सुखान्त आदि का निर्वाह नहीं किया तो दूसरी ओर उन्होंने संकलन-त्रय की उपेक्षा करके पाश्चात्य नियमों का उल्लंघन किया है, कहीं-कहीं प्रसाद ने पूर्वी और पश्चिमी नियमों से ऊपर उठ कर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है; जैसे उन्होंने सुखान्त और दुःखान्त—दोनों को ठुकराकर नाटकों की परिणति प्रायः रस में की है। इसी प्रकार उनके नाटकों में नायक का निर्णय करना भी कठिन हो जाता है·—जो उनके नाटकों की एक मौलिक प्रवृत्ति है।

प्रसाद के नाटकों में दोष

प्रसाद के नाटकों में रङ्गमंच की दृष्टि से अनेक दोष भी विद्यमान है। एक तो उनके नाटक बहुत कठिन है। लम्बे-लम्बे संवाद और गीतों की भरमार है। दार्शनिक तत्त्वों की अधिकता के कारण वे सर्वसाधारण की समझ के बाहर है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में भी संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोगाधिक्य के कारण दुर्बोधता आ गई है। वस्तुतः उनके नाटक रङ्गमंच पर देखे जाने की अपेक्षा घर में बैठकर आराम से पढ़े जाने की वस्तु अधिक है। सर्वसाधारण के मनोरञ्जन की अपेक्षा वे विद्वानों के चिन्तन मनन की सामग्री अधिक प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी हम सब स्वीकार करते है कि उनके नाटक-साहित्य का महत्त्व कम नहीं है। वे अभिनीत नही हो सकें तो न सही—सामान्य गद्य-पद्यमय रचना के रूप में भी ये हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। प्रसाद के कवि, कलाकार, नाटककार, दार्शनिक, इतिहासकार, रसिक-प्रेमी आदि सभी रूपों का एकत्र समन्वय उनके नाटकों में ही उपलब्ध होता है। हमारे साहित्य का यही एक ऐसा अंग है, जहाँ सभी प्रकार की रुचि के पाठकों के लिए पर्याप्त सामग्री एक ही साथ उपलब्ध होगी। प्रसाद के नाटक-साहित्य का महत्त्व नाटक-साहित्य के रूप में नहीं, अपितु सम्मान्य चम्पू साहित्य के रूप में सदा अक्षुण्ण रहेगा।

●

:: छाछठ ::

पन्त का प्रकृति-चित्रण

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति की भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन!

ये शब्द हैं प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत के, जिन्होंने प्रकृति के आलिंगन में आबद्ध होकर नारी के रूप-वैभव को भी ठुकरा दिया था। विश्व के न जाने कितने कवियों ने प्रकृति का चित्रण अपने काव्य में किया है, किन्तु प्रकृति के प्रति जैसा गहरा अनुराग इन महाकवि में परिलक्षित हुआ है, वैसा हमें किसी अन्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति उनके लिए काव्य की वस्तु और उनकी साज-सज्जा का साधन ही नहीं, अपितु उनकी काव्य-प्रेरणा का स्रोत भी रही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माञ्चल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्यपट मेरी आँखों के सामने घूमा करता था···और यह शायद पर्वत प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह निश्चल रूप में अवस्थित है।"

प्रकृति की यह प्रेरणा कवि के लिए क्षणिक नहीं रही, अपितु वह उसके कवि-जीवन का अंग बन गई है। कूर्माञ्चल प्रदेश के उस शस्य-श्यामल वातावरण से दूर हुए उन्हें वर्षों बीत गए किन्तु उससे उनके प्रकृति प्रेम में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। इतना अवश्य है कि परिस्थितियों और समय के अनुसार उनके प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा है। 'वीणा' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का क्रमिक अध्ययन हमारे इस कथन की सार्थकता

प्रमाणित करेगा।

प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का क्रमिक विकास

पंत की काव्य-चेतना का प्रकाशन सर्वप्रथम 'वीणा' के सरस, मृदुल, कोमल स्वरों में हुआ। इसके अधिकांश गीतों में प्रकृति-रानी के ही वैभव का गुण-गान हुआ है। कई स्थानों पर उसने प्रकृति को अपनी अध्यापिका मानकर उससे विभिन्न समस्याओं का समाधान माँगा है। प्रकृति के रूप-वैभव और ज्ञान-वैभव की तरंगों में कवि की आत्मा डूबकर लीन हो जाना चाहती है, जिससे कि वह भी प्रकृति-जैसा दिव्य स्वरूप प्राप्त कर सके। 'मानव' जी के शब्दों में—"छाया से वह प्रार्थना करता है कि वह उसका मनस्ताप हरे, अन्धकार से कहता है कि वह उसे रंग-सहित होकर जीवन व्यतीत करना सिखलावे, सरिता से चाहता है कि वह भी उसी के समान गीत गा सके, निर्झर को देखकर उसकी कामना होती है कि वह भी उसी के जैसा आँसुओं का दान दे सके।' वस्तुतः 'वीणा' में कवि की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, आश्चर्य-भावना और लालसा व्यक्त हुई है।

'वीणा' का कवि प्रकृति के रूप वैभव को नारी-सौन्दर्य से बढ़कर मानता है। इसका एक कारण यह भी है कि अभी कवि पंत की आत्मा में यौवन के उस उन्मादी स्वर की झंकार प्रस्फुटित ही नहीं हुई थी, जिसके प्रभाव से बालाओं का सौन्दर्य सौन्दर्य की अनुभूति प्रदान करने लगता है। किन्तु 'ग्रन्थि' में आकर कवि इस अनुभूति को प्राप्त कर लेता है। अतः प्रकृति के प्रति प्रारम्भिक आकर्षण में थोड़ी न्यूनता आ गई। यही कारण है कि 'पल्लव' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम की गहराई के स्थान पर उसका काल्पनिक वर्णन उपलब्ध होता है। अस्तु, 'पल्लव' में प्रकृति का चित्रण विस्तृत रूप में होते हुए भी भावोत्तेजक नहीं है।

'गुंजन' तक आते-आते कवि, जीवन की ओर अधिक उन्मुख हो गया है। अब उसे प्रकृति के वैभव की अपेक्षा युवतियों के रूप सौन्दर्य में अधिक आकर्षण अनुभव होने लगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'गुंजन' में वह प्रकृति को सर्वथा भूल गया है। 'गुंजन' में सर्वत्र प्रकृति विद्यमान है, किन्तु अब वह साध्य न रहकर साधन बन गई है। 'वीणा' में जो प्रकृति 'रानी' थी, वही अब यहाँ किसी रूपसी के आगे नत-मस्तक हो रही है। पहले प्रकृति हँसती थी और नारी चिढ़ती थी, अब नारी हँसती है और प्रकृति ईर्ष्या के कारण लाल हो उठती है—

> तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार लग गई मधु के वन में ज्वाल!
> खड़े किंशुक, अनार, कचनार, लालसा की लौ से उठ लाल!!

जिस नारी को पहले कभी प्रकृति के सम्मुख हेय और तुच्छ घोषित किया था, वही अब कवि को इतनी प्रिय हो गई है कि प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे नारी से उधार लिया हुआ-सा प्रतीत होता है—

> आज गृह, वन उपवन के पास। लोटता राशि-राशि हिम-हास।

खिल उठी आंगन में अवदात । कुन्द कलियों की कोमल पांत ।
मुस्करा दी थीं, बोलो प्राण । मुस्करा दी थीं तुम अनजान ।

'गुंजन' के प्रकृति-वर्णन को आघात पहुँचानेवाली दूसरी प्रवृत्ति उसकी दार्शनिकता की भी है । 'कली', 'एक तारा', 'नौका-विहार' जैसी सुन्दर रचनाओं में भी प्रकृति के उज्ज्वल मुख पर दार्शनिक विचारों की छाया पड़ी हुई है, जिससे उसका सौंदर्य अस्पष्ट और धूमिल हो गया है । कहाँ चाँदनी रात में नदी की सैर और कहाँ कवि का यह 'शाश्वत' सम्बन्धी शुष्क उपदेश —

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम ।
शाश्वत है गति शाश्वत संगम
× × ×
शाश्वत लघु लहरों का विलास ।

'युगान्त में कवि सुन्दर से शिव की ओर अग्रसर हो गया है, अतः अब वह प्रकृति के रूप की अपेक्षा उसके उपयोग को अधिक महत्त्व देने लग गया है । वह संसार की विषमता दूर करने के लिए युग-परिवर्तन की आकांक्षा प्रकट करता है, अतः वह चाहता है कि कोकिल मधुर गानों के स्थान पर पावक-कण बरसा दे जिससे संसार की प्राचीन रूढ़ियां भस्म हो जायें । 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में भी इसी दृष्टिकोण का विकास हुआ है । 'ग्राम्या' में उसने प्रकृति के वैभवपूर्ण अंगों के स्थान पर उसकी दरिद्रावस्था का चित्रण किया है । 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में कवि पुनः यथार्थ से आदर्श की ओर सन्मुख हुआ है, अतः इनमें प्रकृति के विराट् रूप का चित्रण हुआ है, वह उसके बाह्य स्वरूप की अपेक्षा उसकी सूक्ष्म आत्मा के उद्घाटन में प्रवृत्त हुआ है । "एक विलक्षण बात इन रचनाओं में यह पाई जाती है कि यहाँ प्रकृति से अधिक व्यक्ति प्रमुख हो गया है; व्यक्ति जैसे देवता है, प्रकृति उसकी उपासिका मात्र । कहाँ 'वीणा' की यह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति के चरणों में बैठकर शांति प्राप्त करता है और कहाँ 'उत्तरा' की यह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति को अपने चरणों में बिठा लेता है ।"

'अतिमा' में प्रकृति-वर्णन की विभिन्न शैलियों का प्रयोग हुआ है । कुछ रचनाओं में 'पल्लव' और 'गुंजन' के प्रकृति वर्णन से साम्य दृष्टिगोचर होता है तो कुछ में मानवीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । कुछ में उपदेशात्मकता का आग्रह है, तो कुछ में अरविंदवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास । वस्तुतः इसमें प्रकृति का शुद्ध रूप में वर्णन बहुत कम हुआ है ।

इस प्रकार 'वीणा' से लेकर 'अतिमा' तक पंत ने प्रकृति का वर्णन विविध प्रकार से किया है, जिसे निम्नांकित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) आलंबन रूप में—जहाँ प्रकृति विशुद्ध प्रकृति वर्णन के दृष्टिकोण से किया जाता है उसे 'आलम्बन रूप' में लिया जायगा । आलम्बन रूप के अन्तर्गत

भी कई कई शैलियों का व्यवहार किया जाता है जैसे—(क) वस्तु-परिगणन-शैली (ख) संश्लिष्ट चित्रण और (ग) मानवीय रूप में चित्रण। इसमें से प्रत्येक शैली का प्रयोग पंत काव्य में प्रचुर मात्रा में हुआ है। देखिए--

(क) वस्तु-परिगणन शैली--

नव वसन्त की रूप-राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन।
रंग रंग के खिले फलाक्स, वरवीना छपे डियाथस,
नत दृग ऐंटिड्रिनम, तितली सी पेंजी पापी पालस,
हँसमुख कटीटफ्ट, रेशमी चटकीले नशटरशम,
खिली स्वीट पी—एडंडंस, फिल वास्केट औ' ब्लू बैटम।

इस पद से कवि की विदेशी फूलों के सम्बन्ध में जानकारी का तो परिचय मिलता है, किन्तु उनमें काव्यत्व की छाया का अभाव है। संतोष है कि ऐसे 'केटेलॉग' पंत-काव्य में अधिक नहीं मिलते।

(ख) संश्लिष्ट चित्रण—इस क्षेत्र में पंतजी की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। पर्वतीय प्रदेश का चित्रण द्रष्टव्य है--

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बारबार, नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।।

(ग) मानवीय रूप में—प्रकृति का मानवीकरण तो छायावादी कवियों की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। पंत ने भी उसे शत-शत बार मानवी या नारी रूप में चित्रित किया है। कहीं वह उन्हें 'परित्यक्ता' के रूप में विरहिणी-जैसी दिखाई देती है, तो कहीं वह किसी 'रुग्णा जीवन बाला' के रूप में दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए—

जग के दुख दैन्य-शयन पर वह रुग्णा जीवन-बाला।
रे कब से जाग रही वह, आँसू की नीरव माला।।
पीली पड़, निर्बल, कोमल, कृश-देह लता कुम्हलाई।
विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई।।

आश्चर्य है कि कवि ने यहाँ चाँदनी' को ऐसे निराशाजनक रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः यहाँ कवि के दृष्टिकोण में निजी परिस्थितियों का प्रभाव समन्वित है, फिर भी उसके चित्रण में स्वाभाविकता की थोड़ी झलक अवश्य मिलती है।

(२) उद्दीपन रूप में - जहाँ वर्णन तो किसी अन्य आलम्बन का हो रहा हो, किन्तु तत्सम्बन्धी भाव को अधिक पुष्ट करने के निमित्त प्रकृति का प्रयोग किया जाता है, उसे 'उद्दीपन रूप' कहा जाता है। यों कहिए कि कोयलों में रखी हुई आग को सुलगाने में जो उपयोग हवा का होता है, लगभग वैसा ही उपयोग प्रकृति के उद्दीपक रूप का भावनाओं के विकास में होता है। छायावादी कवियों ने उद्दीपन

के रूप में प्रकृति का उपयोग अधिक नहीं किया, किन्तु इसका सर्वथा अभाव नहीं है। पंत की निम्नांकित पंक्तियों में विरह-वेदना का उद्दीपन ऊषा की आशा, संध्या की उदासी, लहरों की अधीरता और सौरभ-समीर की ठंडी साँसों से दिखाया गया है—

कब से विलोकती तुमको, ऊषा के वातायन से।
संध्या उदास फिर जाती, सूने गृह के आँगन से॥
लहरें अधीर सरसी में, तुमको तकतीं उठ उठ कर।
सौरभ समीर रह जाता, प्रेयसि! ठंडी साँसें भर कर॥

ध्यान रहे, यहाँ कवि आश्रय है, उसकी प्रेयसी आलम्बन तथा रति स्थायी-भाव है! ऊषा, संध्या आदि यहाँ उद्दीपन का कार्य सफलतापूर्वक करती है।

वियोग की भाँति मिलन की मधुर वेला में भी कवि को प्रकृति के कण-कण में अपनी भावनाओं का प्रतिविम्ब दृष्टिगोचर होता है। 'प्राण-प्रिया' के सान्निध्य से कवि हृदय ही रोमांचित नहीं हो गया है, अपितु उसे गृह-वन-उपवन में राशि-राशि हास लोटता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रथम समागम की वेला में नववधू की मूकता और लज्जा के भार से उसे सारी प्रकृति मौन-सी, झुकी हुई-सी प्रतीत होती है—

आज छाया चहुँ दिशि चुपचाप, मृदुल मुकुलों का मौनालाप।
रुपहली कलियों से कुछ लाल, लद गई पुलकित पीपल डाल॥
और वह पिक की मर्म पुकार, प्रिये झर झर पड़ती साभार।
लाज से गड़ी न जाओ प्राण, मुस्कराती क्या आज विहान॥

कहना न होगा कि यहाँ कवि की अनुभूति से प्रकृति की चेष्टाएँ मिलकर एकाकार हो गई है। मानों एक-दूसरे के भावोद्दीपन में सहयोग दे रहे हैं।

३. **अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में**—आलम्बन और उद्दीपन के अतिरिक्त काव्य में प्रकृति का उपयोग अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी होता है। कई बार उसे भाव-व्यंजना का साधन बनाया जाता है, तो कई बार अर्थ की स्पष्टता के लिए उसका प्रयोग होता है। माध्यम के रूप में भी प्रकृति-प्रयोग की अनेक शैलियाँ हैं, जिनसे अनेक पंत-काव्य में उपलब्ध होती हैं। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) **उपमान रूप में**—सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होता है। विशेषतः नारी के रूप-वैभव के अंकन के लिए तो आदिकाल से कविगण प्रकृति के ऐश्वर्य को लूटते रहे हैं। पंतजी की 'भावी पत्नी' की भी साज-सज्जा प्रकृति के ही अंगों के द्वारा हुई—

अरुण अधरों की पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम हास।
इंद्रधनुषी पट से ढँक गात, बालविद्युत का पावस-लास॥

यहाँ 'पल्लव', 'इन्द्र-धनुष' 'बाल-विद्युत', 'पावस' आदि का प्रयोग अत्यन्त सुन्दर रूपों में हुआ है।

(ख) **विभिन्न अलंकारों के रूप में**—हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा परिगणित प्रायः सभी अलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। पंतजी ने अनेक अलंकारों में प्रकृति का प्रयोग सहज स्वाभाविक रूप में किया है—

:: सरसठ ::

महादेवी का वेदना-भाव

आधुनिक युगीन-कवयित्री महादेवी के काव्य में वेदना की एक ऐसी धारा सर्वत्र प्रवहमान है, जो कि पाठकों और आलोचकों के लिए एक अस्पष्ट, जटिल एवं दुर्बोध विषय बना हुआ है। हमारे विभिन्न विद्वानों ने इसे समझने और समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु द्रौपदी के चीर की भाँति इसकी दुर्बोधता का वातावरण अधिकाधिक बढ़ता ही गया है। स्वयं कवयित्री ने भी इस पर यत्र-तत्र प्रकाश डालने का प्रयास किया है, किन्तु इससे भी इसकी रहस्यात्मकता का पर्दा विच्छिन्न नहीं हो सका। हमारे विचार से यदि पूर्व-घोषित धारणाओं से बचकर महादेवी के जीवन और काव्य की भावभूमि को ध्यान में रखते हुए इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो इसका किंचित् स्पष्टीकरण संभव है।

'वेदना' के स्वरूप की मीमांसा

महादेवी ने अपने इस 'वेदना-भाव' का 'वेदना', 'पीड़ा' आदि शब्दों में उल्लेख किया है—

मेरी मधुमय पीड़ा को कोई पर ढूंढ़ न पाये।

× × ×

पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में

× × ×

गई वह अधरों की मुस्कान, मुझे मधुमय पीड़ा में बोर

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ भी वेदना या पीड़ा का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसके साथ मधुर विशेषण का प्रयोग भी सर्वत्र हुआ है; जैसे 'मधुमय पीड़ा', 'वेदना के मधुर क्रम' आदि। साधारणतः वेदना या पीड़ा मधुमय नहीं होती; जो मधुमय होता है, उसे वेदना या पीड़ा न कहकर सुख और प्रसन्नता का नाम देना अधिक उचित है। किन्तु एक अनुभूति ऐसी भी होती है जिसमें एक ओर सुख हृदय में

अमित आह्लाद होता है तो दूसरी ओर अत्यधिक पीड़ा भी। उस मीठी और तीखी अनुभूति को 'प्रेम' या 'प्रणय' की संज्ञा दी जाती है। प्रणयानुभूति में मधुरता और वेदना दोनों का अनुभव एक साथ होता है—इसका प्रमाण अनेक प्रेमी-कवियों की वाणी में मिलता है। घनानन्द इसे 'दुहेली दसा' (दोहरी दशा—दुख और सुख की) बताते हुए लिखते हैं --

निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप-ओर,
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
× × ×
विरह समीर झकोरनि अधीर नेह,
नीर भीज्यो जीव, मऊ गुड़ी लौं उड़यो रहै॥

आधुनिक कवि प्रसाद ने प्रेम को 'हलाहल' और 'सुध' दोनों एक साथ बताया है—

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे अब तो सुख से पीते हैं।
विरह सुधा से बचे हुए हैं मरने को हम जीते हैं॥

उर्दू कवि गालिब और मीर ने भी प्रेम को एक मीठी आग या हृदय को कचोटने वाली अस्पष्ट अनुभूति माना है—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफता
एक आग-सी है दिल में हमारे लगी हुई।

—गालिब

इश्को मुहब्बत क्या जानूं, लेकिन इतना मैं जानूं हूं।
अन्दर अन्दर सीने में तेरे दिल को कोई खाता है।

—मीर

एक अंग्रेजी के कवि ने भी प्रेम को आनन्द और वेदना का केन्द्र-स्थान बताया है—

"Love ! what a volume in a word ! An ocean in a tear !
A seventh heaven in a glance ! A whirlwind in a sigh !
The lightning in a touch ! A millennium in a moment !
Whatconcentratedjoy or woe ! In blessd or belighted Love."

कहने का तात्पर्य यह कि कवियों की दुनिया में प्रेम को हर्ष और वेदना-मिश्रित बताने का प्रचलन बराबर रहा है, अतः महादेवी की यह 'मधुर पीड़ा' भी प्रेम की ही पर्यायवाची कही जा सकती है।

महादेवी के इस 'वेदना-भाव' की अन्य विशेषताएँ भी प्रणय-भाव के ही अनुकूल हैं। उस वेदना का उद्भव किसी के 'अधरों की मुस्कान' या किसी भी 'चितवन' से बताया गया है। इसी प्रकार निम्नांकित अंश देखिए—

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा ॥

अनेक आलोचक, जिन्होंने यहाँ 'पीड़ा' शब्द को प्रचलित अर्थ में ग्रहण किया है, इस अंश का अर्थ-स्पष्ट करने में असफल रहे हैं। महादेवी वर्मा के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री विश्वम्भर 'मानव' लिखते हैं—"अन्तिम पीड़ा शब्द का अर्थ है 'पीड़ा-मय हृदय'। जिसके लिए इतनी पीड़ा सही है, उस निष्ठुर के हृदय में भी कभी दर्द उठता है या नहीं यह जानने की कामना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस पीड़ा ने महादेवीजी को उस निष्ठुर से मिलाया है, उसकी प्राप्ति पर वे अपने साथ उपकार करनेवाले को भूल जाएँ, इतनी अकृतज्ञ महादेवीजी नहीं। पर लक्ष्य 'तुम' ही है, पीड़ा नहीं।" मानव जी की यह व्याख्या अनेक असंगतियों के कारण अस्पष्ट है। एक तो यह समझ में नहीं आता कि कोई भी प्रेमिका अपने प्रिय के हृदय में दर्द क्यों देखना चाहेगी? फिर महादेवजी स्थायी पीड़ा को ढूंढ़ने की बात कहती हैं, जबकि 'मानव' जी 'कभी दर्द उठता है या नहीं' यह जानने की 'कामना' कहकर कवयित्री के मूल भाव को ही बदल देते हैं। महादेवीजी स्पष्ट कहती हैं कि 'तुम में ढूंढूंगी पीड़ा"—अर्थात् उनके लिए 'तुम' गौण है, 'पीड़ा' प्रधान; किन्तु इसके विपरीत 'मानव' जी लिखते हैं, 'लक्ष्य तुम ही है पीड़ा नहीं।' व्याख्या में मूल भाव का स्पष्टीकरण किया जाता है, किन्तु मानव जी ने मूल भाव को भी उलट दिया है। वस्तुतः उपर्युक्त अंश में 'पीड़ा' का अर्थ प्रेम या प्रणय है। प्रेम से ही कवयित्री को प्रियतम की प्राप्ति हुई और प्रियतम में भी वह पीड़ा अर्थात् प्रेम ढूंढ़ना चाहती है। प्रेमरहित या प्रणय-विमुख प्रियतम से किसी भी प्रेमिका को आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है, अतः महादेवी का वह कहना कि "तुम में ढूंढूंगी पीड़ा!" ठीक ही है।

महादेवी के इस 'पीड़ा' शब्द के सांकेतिक अर्थ प्रेम को न समझने के कारण कुछ विद्वानों ने उन पर अनेक आक्षेप भी किए हैं। जैनेन्द्रजी कहते हैं—"घायल घाव नहीं चाहता है। मालूम होता है, उनकी गति घायल की है ही नहीं।" श्री सत्यपाल चुघ लिखते हैं—"अवश्य ही वेदना उनको प्रिय भी है और इसका उनके जीवन-दर्शन से अनिवार्य रूप से सम्बन्ध भी है। तो क्या जो बात किसी को प्रिय हो, वही उसका जीवन-दर्शन भी होगी? ऐसा आवश्यक तो नहीं, किन्तु महादेवी जैसी परिपक्व बुद्धिशीला महिला के लिए आवश्यक है क्योंकि हम उनसे किसी सस्ती भावुकता की आशा नहीं कर सकते। और फिर कितनी ही कविताओं में वेदना साध्य बन गई है।" इस गहरी मीमांसा के पश्चात् विद्वान् लेखक इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहा। महादेवी के श्रद्धालु विवेचक श्री विश्वम्भर 'मानव' भी इन आक्षेपों को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"महादेवीजी की पीड़ा-भावना पर एक आक्षेप किया जा सकता है। कितना ही बड़ा साधक हो, उसकी अन्तिम अभिलाषा होती है साध्य से एकाकार होने की। उस दशा में पीड़ा शान्त हो जानी चाहिए। साधन

कितना ही मूल्यवान हो, साध्य का स्थान नहीं ले सकता। यदि सभी प्रेमियों की भाँति महादेवी इस निर्णय पर पहुँची है कि प्रियतम तक पहुँचने का मार्ग पीड़ा के भीतर से गया है—पथ में बिखरा शूल, बुला जाते क्यों दूर अकेले—तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। पर पथ पार कर लेने पर भी काँटों को कलेजे से चिपकाए रखने की, पीड़ा के पल्ले को न छोड़ने की, हठ कैसी है?" यहाँ भी 'मानव' जी के पीड़ा-सम्बन्धी उपर्युक्त समस्त आक्षेप सारहीन हो जाते हैं। भला, कोई भी प्रेयसी-प्रियतम-प्राप्ति के अनन्तर अपने प्रेम को कैसे त्याग सकती है? वही उसका साध्य है।

एक बात और है—कई बार महादेवी अपनी पीड़ा को सुरक्षित रखने के लिए प्रियतम के मिलन तक को ठुकरा देती हैं; ऐसा क्यों? बात यह है कि कवयित्री अद्वैतवाद में विश्वास रखती हुई भी द्वैतवाद की स्थिति - यह द्वैत के मिथ्या आभास—को ही अधिक पसन्द करती है। आत्मा से परमात्मा का अर्थ है—दोनों का एकाकार हो जाना, या आत्मा का निर्वाण या मोक्ष हो जाना। इस अद्वैतावस्था में न कोई प्रेमी रहता है और न प्रेयसी। प्रेम का यह समस्त व्यापार तभी तक चल सकता है, जब तक कि कवयित्री अपनी पृथक् सत्ता—भले ही वह मिथ्या आभास ही क्यों न हो—बनाए रखे। अतः शान्तिपूर्ण निर्माण या मोक्ष की अपेक्षा वह प्रणय-युक्त द्वैत के अनुभव को अधिक पसन्द करती है। यही कारण है कि वह अपने इसी सशरीर जीवन में प्रियतम के दर्शन चाहती है, जिससे कि वह अपनी द्वैत स्थिति के साथ-साथ प्रेम-रस का भी आस्वादन करती रहे—

तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में।

× × ×

शाप मुझे बन जाता वर सा, पतझर मधु का मास अजर सा,
रचती कितने स्वर्ग एक लघु प्राणों के स्पन्दन में।

× × ×

प्रिय! मैं लेती बाँध मुक्ति
सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में।
तुम्हें बाँध पाती सपने में,

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महादेवी ने 'वेदना' या 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग 'प्रणय' के अर्थ में ही किया है, उनके प्रणय में विरह का आधिक्य है, अतः उसे इस संज्ञा से अभिहित करना उचित ही है।

वेदना का जीवन में प्रवेश

महादेवी के जीवन में इस वेदना का प्रवेश या उन्मेष किस प्रकार हुआ इसका वृत्तान्त उन्होंने बार-बार अपने गीतों में बताया है। उस समय कवयित्री एक मुग्धा बाला थी, उसके लाज के बोल अभी तक खुले नहीं थे कि उसी समय किसी

चितवन से आहत होकर वह सदा के लिए पीड़ा या प्रणय के बन्धन में बंध गई—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा जब था व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का।

कुछ स्थानों पर कवयित्री 'चितवन' के स्थान पर उस अदृश्य की मुस्कराहट ाशीभूत होने की बात भी कहती है—

बिछाती थी सपनों के जाल तुम्हारी वह करुणा की कोर,
गई वह अधरों की मुस्कान मुझे मधुमय पीड़ा में बोर।

यह घटना बहुत पुरानी है। तब से न जाने कितने युग बीत गए—

गए तब से युग कितने बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण।

महादेवीजी ने अपनी किशोरावस्था के दिनों में ही इस प्रणय वेदना का ा अलापना आरम्भ कर दिया था, अतः इस घटना को बहुत पुरानी बताना ठीक है।

ना का आलम्बन

महादेवी जी ने अपनी प्रणय-वेदना के आलम्बन का वर्णन सांकेतिक रूप में ेक स्थानों पर किया है। अपनी प्रथम भेंट का चित्रण करते हुए वे लिखती हैं—

झटक जाता था पागल वात, धूलि में तुहिन कणों का हार।
सिखाने जीवन का संगीत, तभी तुम आये थे इस पार।।

उनकी संगीतज्ञता का परिचय अन्य गीतों में भी मिलता है—

मूक प्रणय से, मधुर व्यथा से, स्वप्न लोक—आह्वान।
वे आए चुपचाप सुनाने, तब मधुमय मुरली की तान।।
अलक्षित का कितने चुपचाप सुना अपनी सम्मोहन तान।
दिखाकर माया का साम्राज्य बना डाला इसको अज्ञान।।

'मुरली की तान' का बार-बार उल्लेख हमें बाँसुरी बजाकर गोपियों को ोहित कर लेनेवाले कृष्ण-कन्हैया की याद दिला देता है। यद्यपि महादेवी के आराध्य गुण कृष्ण नहीं हैं, किन्तु फिर भी उनके अवचेतन मन पर उनके कुछ संस्कार वश्य विद्यमान हैं।

अपने इस निर्गुण निराकार प्रियतम की अस्पष्ट-सी झलक कवयित्री प्रकृति के रूप-वैभव में देखती है—

मेघों में विद्युत् सी छवि उनकी बन कर मिट जाती।
आँखों की चित्रपटी में जिसको मैं आंक न पाऊँ।।

कई बार यह निर्गुण ब्रह्म आत्मा के साथ आँख-मिचौनी खेलता हुआ भी दृष्टिगोचर होता है—

मैं फूलों में रोती, वे बालारुण में मुसकाते।
मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवयित्री अपने अलौकिक प्रियतम की प्रतिच्छवि

प्रकृति के सौन्दर्य में देखती है। उन्हें विद्युत् में उनकी छवि, शशि किरणों में उनकी आभा, सागर की तरंगों में उनका श्वासोच्छ्वास, तारकों में उनकी अपलक चितवन का आभास मिलता है।

वेदना भाव का उद्दीपन—प्रकृति

लौकिक शृंगार के क्षेत्र में प्रकृति के उद्दीपन की चर्चा कवियों और आचार्यों द्वारा बराबर होती रही है। महादेवी के अलौकिक प्रेम में भी प्रकृति के विभिन्न अवयवों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। छायावादी कवियों की दृष्टि में तो प्रकृति सजीव मानवी रूप में गोचर होती है, अतः उन्हें उसमें अपनी ही भावनाओं का प्रति रूप दिखाई दे तो स्वाभाविक ही है। महादेवीजी भी प्रकृति के क्रिया-कलापों में अपने प्रणय के स्वप्नों का साक्षात्कार करती हैं--

जिस दिन नीरव तारों से, बोली किरणों की अलकें,
सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

कवयित्री अपनी ही मन : स्थिति के अनुकूल प्रकृति के भी कण-कण में करुणा, वेदना और आँसुओं का दर्शन करती है—

झूम झूम कर मतवाली सी पिये वेदनाओं का प्याला,
प्राणों में रुँधी निःश्वासें आतीं ले मेघों की माला;
उसके रह रह रोने में; मिलकर विद्युत् के खोने में।
धीरे से सूने आँगन में फैला जब जाती हैं रातें,
भर-भर कर ठण्डी साँसों में मोती से आँसू की पाँतें,
उनकी सिहराई कम्पन में किरणों से प्यासे चुम्बन में।

किन्तु विद्युत् और मेघों की यही लीला मिलनाकांक्षाओं की वेला में हर्ष, उल्लास और माधुर्य से विलसित दृष्टिगोचर होती है। कवयित्री के जीवन में आशा और उल्लास का संचार होता है तो उसे मेघ मुस्कराते हुए, जलधर हँसते हुए और विद्युत् प्रणय की सुनहरी पाश के सदृश प्रतीत होती हैं—

मुस्काता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं।
विद्युत् के चल स्वर्ण-पाश में बँध हँस देता रोता जलधर।
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर।
दिन निशा को, देती निशि दिन को
कनक रजत के मधु प्याले हैं॥

वस्तुतः प्रकृति के उद्दीपन रूप की व्यंजना महादेवी ने सफलतापूर्वक की है।

प्रेयसी के अनुभव

यद्यपि महादेवी ने अपनी वेदनानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में की है, किन्तु फिर भी उनके काव्य में विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं सात्विक अनुभवों का चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। देखिए—

अलि कैसे उनको पाऊँ!

वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल जाते।
इन पलकों के बंधन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ॥

× × ×

चुपके से मानस में आ छिपते उच्छ्वासें बन।
जिसमें उसकी साँसों में देखूँ पर रोक न पाऊँ।

किन्तु जैसा कि स्वयं कवयित्री जी ने लिखा है, वे अपने अनुभवों को व्यक्त नही होने देती 'मेरी आहें सोती हैं, इन ओठों की चोटों में'—फिर भी उनके आँसुओ की चर्चा उनके काव्य में प्रायः मिलती है; जैसे—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन आज नयन आते क्यों भर भर!

संचारी भाव एवं विभिन्न भाव-दशायें

महादेवी के वेदना-भाव में, जो कि प्रेम का पर्यायवाची है, दो अन्य भाव सदा-सहचारी रूप में मिश्रित रहते हैं—एक है जगत् के दीन-दुखियों के प्रति करुण भाव और दूसरा निजी वैभव के प्रति निर्वेद का भाव। कुछ गीतों में उन्होंने इन दो भावों का स्वतन्त्र रूप से भी चित्रण किया है। कवयित्री स्वयं विरहिणी हैं, अतः उनका प्रकृति और जगत् के शोकातुर प्राणियों के प्रति संवेदना व्यक्त करना स्वाभाविक है। यद्यपि इस कारण भावना का उनके काव्य के स्थायी भाव—प्रणय भाव—से बिलकुल सीधा सम्बन्ध नही है, किन्तु फिर भी यह उसके विकास में सहायक ही सिद्ध होता है। फूलों के जीवन की दुखमय परिणति को देखकर कवयित्री के अपने हृदय की वेदना जाग्रत हो जाती है—

देकर सौरभ दान पवन से कहते जब मुरझाये फूल,
जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन आँखों में धूल!
'अब इनमें क्या सार, मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार,
मर्मर का रोदन कहता है, "कितना निष्ठुर है संसार।"

वस्तुतः यहाँ 'मर्मर का रोदन' नहीं, स्वयं कवयित्री का हृदय ही इस निष्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

कवयित्री को अपने प्रणय-वेदना से जितना अनुराग है, उतना ही उसे अपने करुणा भाव से स्नेह है। वे इस तथ्य को सपाट रूप में स्वीकार करती हुई लिखती हैं—"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है'''मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सबको बाँटकर—विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" दुख और प्रणय-वेदना—इन दोनों भावों का अन्तर भी उन्होंने स्पष्ट रूप से माना है—"मुझे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतना का

क्रन्दन है।"

'करुण' भाव के अतिरिक्त महादेवी में प्रणय-भाव के अनेक अन्य संचारियों और विभिन्न प्रणय-दशाओं का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। पहले कुछ संचारी भाव देखिए—

गर्व— उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन।
उनमें अनन्त करुणा है, इसमें असीम सूनापन॥

निर्वेद—
चिन्ता क्या है हे निर्मम बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा॥

दैन्य—
सिन्धु को क्या परिचय दें देव ! बिगड़ते बनते वीचि विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद् प्राण तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश॥

इसी प्रकार प्रेम की विभिन्न भाव-दशाओं मिलनाकांक्षा, प्रतीक्षा, अभिसार, मिलन; विरह आदि का निरूपण भी उनके काव्य में हुआ है। उनको प्राप्त करने की आकांक्षा—"अलि कैसे उनको पाऊँ !!" में व्यक्त हुई, तो मिलन के मधुर स्वप्नों की कल्पना करती हुई वे कहती हैं--

अब असीम से हो जायगा, मेरी लघु सीमा का मेल।
देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल॥

मिलन की आशा से उनके हृदय और मन की क्या दशा हो जाती है—देखिए—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन, नयन आते क्यों भर भर।
+ + +
तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन। मेरी पलकों में पग धर धर॥

महादेवी अपने कई गीतों में मिलन की तैयारी करती हुई दिखाई पड़ती हैं, जैसे—

हे नभ की दीपावलियो, तुम पल भर को बुझ जाना।
मेरे प्रियतम को भाता है, तम के पर्दे में आना॥

किन्तु अन्त में वह आता है या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख उनके काव्य में नहीं मिलता। संभवतः उस अलौकिक प्रियतम से जीवन में मिलना संभव भी नहीं। आत्मा शरीर से मुक्त होकर ही परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है, किन्तु उस स्थिति में दोनों का द्वैत-भाव नष्ट हो जायगा और द्वैत नष्ट होते ही प्रेम का आधार समाप्त हो जायगा। इसलिए महादेवी इस प्रेम-शून्य मिलन की अपेक्षा प्रेम युक्त विरह को ही स्वीकार किए हुए हैं—

मिलन का मत नाम ले, विरह में मैं चिर हूँ।"

साधारणीकरण एवं रस-निष्पत्ति

यद्यपि महादेवी के काव्य में रस के सभी प्रमुख अवयव विद्यमान हैं, किन्तु

फिर भी उनके वेदना-भाव (या प्रणय-भाव) के साथ पाठक का पूर्णतः साधारणीकरण नहीं हो पाता। इसका एक कारण तो यह है कि स्वयं कवयित्री में भी अनुभूति की गहराई नहीं मिलती; ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने अधिकांश गीत कल्पना और विचार के आधार पर लिखे हैं। दूसरे, उनका आलम्बन अलौकिक है, जिसका प्रत्यक्ष रूप में साक्षात्कार पाठक नहीं कर पाता, कभी-कभी उनकी मुस्कराहट की बात अवश्य महादेवी के मुँह से सुनने को मिलती है। कबीर ने अपने अलौकिक प्रेम को दाम्पत्य-जीवन के लौकिक रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे पाठक का उनसे तादात्म्य स्थापित हो जाता है, किन्तु महादेवी के काव्य में यह बात नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त महादेवी की शैली में संकेतात्मकता, व्यंग्यात्मकता एवं अस्पष्टता भी आवश्यकता से अधिक है, जिससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है। महादेवी के गीत हमारे हृदय को रस से आप्लावित नहीं कर पाते। हाँ, मस्तिष्क के व्यायाम के लिए वे आधुनिक ढंग के सुन्दर साधन अवश्य हैं। फिर भी इतना स्वीकार करना होगा कि उनके काव्य उपवन में अस्पष्टता की कँटीली झाड़ियों के बीच-बीच में कुछ ऐसी पंक्तियों-रूपी लताएं भी विद्यमान हैं जिनके पुष्प-रस से पाठक का हृदय कुछ क्षणों के लिए भाव विभोर हो जाता है। कह सकते हैं कि उनके काव्य में थोड़ी मात्रा में भाव या अनुभूति, उससे अधिक मात्रा में विचार और सबसे अधिक मात्रा में कल्पना है। अतः उनके काव्य में कविता, दर्शन और चित्रकला तीनों का स्वाद एक ही साथ उपलब्ध हो जाता है, यह दूसरी बात है कि कभी-कभी एक का स्वाद दूसरे के रस में बाधक सिद्ध होता है।[1]

---

1. महादेवी-काव्य की विस्तृत समीक्षा के लिए द्रष्टव्य : 'महादेवी नया मूल्यांकन', शीर्षक लेखक की नयी पुस्तक।

:: अड़सठ ::

दिनकर की उर्वशी : प्रतीक-योजना एवं प्रतिपाद्य

'उर्वशी' महाकवि दिनकर की महत्वपूर्ण काव्य-रचना है, जिसमें कवि ने उर्वशी-पुरूरवा के प्राचीन आख्यान को नयी दृष्टि, नूतन भाव-भूमि एवं आधुनिक विचार-धारा से समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उर्वशी एवं पुरूरवा के प्रेमाख्यान को भारत का ही नहीं विश्व का भी प्राचीनतम उपलब्ध प्रेमाख्यान कहा जा सकता है क्योंकि इसका निरूपण सर्वप्रथम ऋग्वेद के दसवें मंडप में हुआ है तथा ऋग्वेद को विश्व के उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम माना जाता है। इस दृष्टि से यह आख्यान मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के एक अत्यन्त प्राचीन रूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के अनन्तर शतपथ ब्राह्मण पौराणिक ग्रन्थों एवं कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में भी इस आख्यान का निरूपण विभिन्न रूपों में हुआ है। वस्तुतः उर्वशी भारतीय साहित्य का एक ऐसा चरित्र है जिसके दर्शन वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक विभिन्न रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। दिनकर से पूर्व बँगला में रवीन्द्रनाथ भी उर्वशी पर सुन्दर रचना प्रस्तुत कर चुके थे।

दिनकर ने पुरूरवा उर्वशी के आख्यान का एक विशेष उद्देश्य से ग्रहण किया है, जिसका संकेत करते हुए उन्होंने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—"सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।······ मनु और इड़ा का आख्यान तर्क मस्तिष्क विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु पुरूरवा-उर्वशी का आख्यान भावना; हृदय कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु, पुरूरवा-उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का माहात्म्य बताता है।" इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'उर्वशी' के रचयिता के मन में इस आख्यान के पौराणिक इतिवृत्त के भावात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ उसके वैचारिक अर्थ के प्रति भी विशेष आकर्षण रहा है तथा उसने उर्वशी-पुरूरवा के माध्यम से जीवन के भाव-पक्ष, निरुद्देश्य आनन्द एवं कामपक्ष के माहात्म्य को भी व्यंजित किया है। इस दृष्टि से इस काव्य के विभिन्न पात्र

विभिन्न वैचारिक तत्त्वों या सूत्रों के प्रतीक माने जायँ तो अनुचित न होगा। वस्तुतः स्वयं कवि ने भी भूमिका में इन पात्रों के प्रतीकार्थ का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है, जिसके आधार पर इस काव्य के प्रतिपाद्य को भली भाँति समझा जा सकता है।

यद्यपि स्वयं कवि ने उर्वशी-पुरूरवा के आख्यान का मूल प्रतिपाद्य या लक्ष्य 'निरुद्देश्य आनन्द की महिमा' या 'काम-पक्ष का माहात्म्य' ही माना है तथा इन दोनों को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करते हुए इन्हें एक-दूसरे का पर्याय ही बताया है, तथा उसकी पुष्टि आगे चलकर इस बात से भी हो जाती है कि उन्होंने 'उर्वशी' का शब्दार्थ उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना मानते हुए उसे कामनाओं का प्रतीक बताया है तथा पुरूरवा को 'ऐन्द्रिय सुखों से उद्वेलित' व्यक्ति का प्रतीक माना है; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष पात्रों का कोई प्रतीकार्थ नहीं है। हमारे विचार में जहाँ उर्वशी और अन्य अप्सराएँ काम के निरुद्देश्य या स्वच्छन्द रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहाँ पुरूरवा काम या प्रेम के सोद्देश्य रूप को प्रस्तुत करता है। साथ ही पुरूरवा की पत्नी औशीनरी उस मर्यादित एवं समर्पित काम या प्रेम को चरितार्थ करती है जिसे सामान्यतः पातिव्रत धर्म या सतीत्व का आदर्श कहा जाता है तथा च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या पति, पत्नी के आदर्श एवं संतुलित प्रेम को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार 'उर्वशी' के विभिन्न पात्र काम या प्रेम-दर्शन के चार रूपों का प्रतिनिधित्व करते है जिन्हें तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

प्रकार	विशेषता	प्रतिनिधि
१. स्वतंन्त्र या स्वच्छन्द काम (प्रेम)	(क) निरुद्देश्य (ख) विवाह की मर्यादा से रहित (ग) सन्तान-प्राप्ति की भी उपेक्षा (घ) शुद्ध वासना की प्रेरणा से प्रेरित। (ङ) केवल आनन्द लक्ष्य	उर्वशी तथा उसकी सखियाँ। (मुख्यतः रंभा)
२. शुद्ध भावात्मक काम या प्रेम	(अ) उद्देश्य — शारीरिक स्तर से ऊपर मन और आत्मा की तादात्म्य स्थापना। (ब) स्थिर एवं स्थायी भावात्मक सम्बन्ध (ग) प्रेम योग द्वारा देवत्व एवं परमेश्वर की उपलब्धि।	पुरूरवा

३. दाम्पत्य जीवन का एकांगी रूप	(क) सतीत्व के आदर्श से अनुप्राणित। (ख) पति (पुरुष) को अन्य से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता। (ग) सन्तानोत्पत्ति ही लक्ष्य।	औशीनरी
४. दाम्पत्य जीवन का संतुलित या उभयपक्षी रूप	(क) पति के लिए पत्नी ईश्वर द्वारा प्रदत्त वरदान या सिद्धि तथा पत्नी के लिए पति वरदान। (अन्योन्याश्रित प्रेम) (ख) काम, वासना और भोग से ऊपर उठा हुआ शुद्ध एकोन्मुख, आत्मिक एवं स्थायी प्रणय। (ग) आत्म-विकास एवं आदर्श समाज की स्थापना ही लक्ष्य।	च्यवन एवं उनकी पत्नी सुकन्या

इस प्रकार उपर्युक्त चार वर्गों के माध्यम से कवि ने मानव-सभ्यता के इतिहास में प्राप्त चार प्रकार की प्रमुख व्यवस्था पद्धतियों के आधार पर पुरुष-नारी के यौन-सम्बन्धों या काम व प्रणय के स्वरूपों का निरूपण करते हुए काम-दर्शन की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। वैसे देखा जाय तो आज के मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, समाजशास्त्रीय एवं दार्शनिक भी यौन-सम्बन्धों के रूपों पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार करते हुए इनके महत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत कर रहे हैं। मानव-संस्कृति से भावी विकास की दृष्टि से काम या प्रेम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—इस सम्बन्ध में आज के मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं दार्शनिक एकमत नहीं हैं। अतः कहना चाहिए कि काम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—यह प्रश्न आज के मनुष्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है; एक 'यूनिवर्सल' समस्या है, जिसे डा० दिनकर ने काव्यात्मक माध्यम से प्रस्तुत करते हुए इसके सभी पक्षों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है।

डा० दिनकर उपर्युक्त चार पक्षों में से किसका समर्थन करते हैं—या उनके मत में कौन-सा रूप ग्राह्य है— इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें क्रमशः इन चारों रूपों या पक्षों का विश्लेषण 'उर्वशी' के आधार पर करना होगा। सर्वप्रथम हम स्वयं उर्वशी, के द्वारा प्रस्तुत पक्ष को ही लेते हैं।

उर्वशी काम या प्रेम के जिस पक्ष को प्रस्तुत करती है, उसे संक्षेप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' की संज्ञा दी जा सकती है। भारतीय पुराणों के अनुसार उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा थी, तथा अप्सराओं के लिए किसी व्यक्ति से स्थायी सम्बन्ध रखना

आवश्यक नहीं है। इसीलिए वे न तो किसी एक व्यक्ति की पत्नी बनती हैं और न ही वे विवाह एवं दाम्पत्य का बन्धन स्वीकार करती हैं। यह बात न केवल उर्वशी पर अपितु रंभा, मेनका आदि अन्य अप्सराओं पर भी लागू होती है। इस काव्य में भी केवल उर्वशी ही नहीं, रंभा, मेनका, सहजन्या आदि अप्सराएँ भी प्रेम के इसी रूप का प्रतिपादन करती हुई दिखाई पड़ती हैं। विशेषत: रंभा के द्वारा इसकी व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट रूप में हुई है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सहजन्ये ! पर हम परियों का इतना भी रोना क्या !
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या ?
× × ×
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है।
+ + +
नहीं पुण्य ही अलम् वहाँ फल भी जनना होता है।
जो भी करती प्रेम उसे माता बनना होता है।
+ + +
पर माता बनकर नारी क्या क्लेश नहीं सहती है।
तन हो जाता शिथिल, वान में यौवन गल जाता है।

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि इस स्वच्छन्द प्रेम में नर-नारी किसी एक से ही सम्बन्धित नहीं रहते अर्थात् वह स्थिर भावात्मक सम्बन्ध एवं विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता; वह जीवन के किसी स्थायी भाव के रूप में भी विकसित नहीं होता—वह एक क्षणिक क्रीड़ा मात्र होता है; और साथ ही उसमें पुत्रोत्पत्ति के लक्ष्य को भी स्वीकार नहीं किया जाता - इतना ही नहीं संतानोत्पत्ति को तो इसमें बाधा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है; अत: उसे अनावश्यक या त्याज्य कर्म भी घोषित किया गया है।

स्वयं उर्वशी भी उपर्युक्त मान्यताओं से ग्रस्त है; यह दूसरी बात है कि अपनी विवशता के कारण वह पुरूरवा से अपेक्षाकृत दीर्घकालीन सम्बन्ध स्थापित करने एवं सन्तानोत्पत्ति के अनपेक्षित कार्य को सम्पादित करती है। किन्तु यह उसका काम्य नहीं था। आगे चलकर जब वह देखती है कि पुरूरवा स्वयं उसकी भाँति स्वच्छन्द एवं निश्चिन्त रूप में काम-सुख की प्राप्ति में लीन नहीं हो रहा है तथा वह नीति-अनीति, देवत्व-दनुजत्व, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मुक्ति-बन्धन के द्वन्द्व से ग्रस्त है तो उसे वह इन सब विचारों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व रूप में भोग-विलास में डूब जाने का आदेश देती हुई समझाती है—

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव की,
झाँकी तुम में देख मुझे जाने क्यों भय लगता है।
+ + +
डर कर देता उसे नहीं पीने जो रस जीवन का !

उर्वशी चाहती है कि पुरूरवा सारी दुविधाओं को त्याग कर या भूलकर पूर्ण

निश्चिन्तता से जीवन का रस पीने में—छककर पीने में लीन हो जाय। उसे आश्चर्य है कि ऐसे मधुर क्षणों में भी उसका मन और मस्तिष्क अन्यत्र क्यों लगा हुआ है ? सोचने पर उसे ज्ञात होता है कि पुरूरवा केवल रक्त (शरीर) या वासना के ही आवेग में न डूब कर बुद्धि एवं विवेक के जाल में उलझ जाता है। वह विवेक-बुद्धि ही है जो मनुष्य द्वारा निश्चिन्तता से वर्तमान के उपभोग में बाधा डालती हुई उसे अतीत या भविष्य की कल्पनाओं एवं चिन्ताओं की ओर उन्मुख कर देती है। कभी वह सोचता है, वर्तमान नाशवान है, क्षणभंगुर है वह जो कुछ कर रहा है वह अच्छा है या बुरा ? नीतिपूर्ण, या अनीतिपूर्ण, पुण्य है या पाप ? इसका फल शुभ है या अशुभ ? इससे स्वर्ग मिलेगा या नर्क ? इससे मुक्ति एवं ईश्वर की प्राप्ति होगी या नहीं ? इस प्रकार की शंकाओं के कारण ही व्यक्ति निश्शंक रूप से अपने-आपको प्रकृत वासना एवं काम के हवाले नहीं कर पाता। इसीलिए उर्वशी बुद्धि को शंका चिन्ता, भ्रान्ति एवं दुविधा की जननी घोषित करती हुई उसका तिरस्कार करती है। वह उसे 'छली' विशेषण से विभूषित करती हुई रक्त या शारीरिक वासना की भाषा को स्वीकार करने का उपदेश देती है—

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का।
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी।
छली बुद्धि की भांति जिस सुख-दुख से भरे भुवन में ;
पाप दीखता वहां जहां सुन्दरता हुलस रही है।
और पुण्यचय वहां जहां कंकाल कुलिश कांटे हैं।

इस प्रसंग में उर्वशी प्रकृति और परमेश्वर, पाप और पुण्य, स्वर्ग और मुक्ति के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ व्यक्त करतीं है। उनके विचारानुसार प्रकृति से परे या अलग ईश्वर नहीं है—दूसरे शब्दों में भौतिक जगत् ही ईश्वर है। जो व्यक्ति प्रकृति या भौतिक जगत् के नियम स्वीकार करता है वह एक प्रकार से ईश्वर के आदेशों को भी स्वीकार करता है। वासना या सहज प्रवृत्ति (Instincts) मनोविज्ञान के अनुसार मानव की ही नहीं अपितु समस्त जैविक संसार की मूल प्रकृति से सम्बन्धित हैं—अतः प्रकृति का अनुमोदन करती हुई उर्वशी अन्ततः सहज वासनाओं का ही अनुमोदन करती है तथा उनकी अबाध तुष्टि को ईश्वरीय कार्य सिद्ध करती है। विधि-निषेध, पाप-पुण्य, नीति-अनीति के विचार मनुष्य की वासना-पूर्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं—अतः इन्हें वह बुद्धि के द्वारा स्थापित व्यर्थ के बन्धनों के रूप में घोषित करती है। 'मुक्ति' से भी उसका आशय आत्मा की मुक्ति से नहीं अपितु विवेक-बुद्धि द्वारा आरोपित विधि-निषेध के बन्धनों से मुक्ति है—अर्थात् विधि-निषेधों को भूलकर व्यक्ति निर्बल भाव से प्रकृति (सहज प्रवृत्तियों) के भोग में लीन हो जाय; यही जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है, जिसका प्रतिपादन वह अत्यन्त आकर्षक शब्दों में करती है—

मुक्ति खोजते हो ? पर यह तो कहो कि किस बंधन से ?
बन्ध नियम, संयम, निग्रह, शास्त्रों की आज्ञाओं का ?
मोह मात्र ही नहीं, सभी ऐसे विचार बन्धन हैं !

[illegible]

'तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।'

में प्रस्तुत हुआ है तथा आज के अनेक भोगवादी भोग-लोलुप व्यक्ति इसका समर्थन भी करेंगे किन्तु इसकी सीमा वर्तमान तक ही सीमित है। इस दर्शन के अनुसार सारे विधि-निषेधों, नियमों, व्यवस्थाओं, भविष्य की सम्भावनाओं को भूलकर व्यक्ति क्षणिक आनन्द में तो डूब सकता है किन्तु इसका जो मूल्य उसे चुकाना पड़ेगा वह बहुत भारी होगा। यह क्षणिक भोगवाद मानव-सभ्यता को अराजकता, अव्यवस्था, निराशा एवं नाश की स्थिति तक पहुँचाकर उसे शीघ्र ही जड़ प्रकृति का अंग बना देगा—इसमें कोई संदेह नहीं। उर्वशी का यह कथन भी कि 'हम हैं जहाँ-जहाँ जाने की कोई राह नहीं।'—भी यही प्रमाणित करता है कि इस दर्शन में भविष्य के लिए कोई राह या मार्ग नहीं। वस्तुतः इसमें मानव की प्रगति का नहीं दुर्गति—क्षणिक आनन्द के बदले प्राप्त होने वाली स्थायी दुर्गति—का ही संदेश व्यक्त हुआ है। अतः यह संदेश इस लोक के लिए नहीं, परलोक वासियों के लिए या ऐसे लोगों के लिए उपयुक्त है जो कि अपनी प्रगति की अंतिम सीमा तक पहुँचकर भविष्य के लिए गतिशून्य होने का उपक्रम कर रहे हैं।

काम या प्रेम के दूसरे रूप का प्रतिनिधित्व पुरूरवा के द्वारा होता है। प्रेम के इस रूप में शारीरिक सम्बन्धों या यौन सम्बन्धों की सर्वथा उपेक्षा तो नहीं की जाती, किन्तु यही उसका चरम लक्ष्य नहीं होता। इसमें प्रणय-सम्बन्ध का सूत्रपात भले ही काम-वासना एवं सौन्दर्य-लालसा से हो किन्तु वह वहीं तक स्थिर नहीं रहता अपितु उससे ऊपर उठकर क्रमशः शरीर से मन एवं मन से आत्मा के स्तर तक पहुँचने का प्रयास करता है। स्वयं कवि ने भूमिका में इसका संकेत करते हुए लिखा है—'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।...देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग-योग है किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलती है। काम-सुख की

निराकार अंकुरियों का आख्यान मनोविज्ञान उदात्तीकरण की भाषा में करता है। प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है।··· साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकलकर अतीन्द्रिय जगत् में आँख खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरूरवा है।' कवि दिनकर के ये शब्द स्पष्ट रूप में इस तथ्य के द्योतक हैं कि पुरूरवा का प्रेमादर्श उर्वशी के कामादर्श से बहुत भिन्न है, जो उर्वशी के लिए साध्य है, वह पुरूरवा के लिए साधन मात्र है। पुरूरवा के प्रेम-दर्शन की पुष्टि मध्यकालीन योग-मार्ग, सिद्धों की सहज-साधना सन्तों की सहज समाधि एवं आधुनिक मनोविज्ञान के कामवासना के उदात्तीकरण (Sublimation) से करके कवि ने अप्रत्यक्ष रूप में इसी का अनुमोदन किया हो—इसकी संभावना है। किन्तु इसे अंतिम रूप में स्वीकार करने से पूर्व इसका थोड़ा अध्ययन और अपेक्षित है।

काव्य के तृतीय अंक के आरम्भ में ही जब उर्वशी पुरूरवा से उपालंभपूर्ण शब्दों में कहती है कि वह उसे देवताओं से छीनकर या माँगकर क्यों ले आये, क्योंकि पुरूरवा की प्राप्ति के लिए उसे स्वयं धरती पर आने का प्रयास करना पड़ा—तो उत्तर में वह कहता है—

अयश मूल दोनों विकर्म हैं,
हरण हो कि भिक्षाटन !

साथ ही पुरूरवा का एक मंतव्य यह है कि वह केवल उर्वशी के शरीर का ही नहीं उसके हृदय का भी इच्छुक था। शरीर भिक्षा या अपहरण के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है किन्तु प्रेम उससे संभव नहीं—

······क्षत्रिय भी भीख माँगते हैं क्या ?
और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से ?
× × ×

शरीर की प्राप्ति और हृदय की प्राप्ति के सूक्ष्म अन्तर की व्याख्या करता हुआ वह कहता है—

बाहर साँकल नहीं जिसे तू खोल हृदय पा जाये।
इस मंदिर का द्वार सदा अन्तःपुर में खुलता है।

प्रेम की महिमा, सत्यता, एवं दृढ़ता की शक्ति में उसे पूरा विश्वास है। 'जाकर जेहि पर सत्य सनेहु, सो तेहि मिलहि न कछु संदेहु।' में उसकी पूरी आस्था है—

लेकर यह विश्वास प्रीति मेरी यदि मृषा नहीं है।
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा।
× × ×
वह अवश्य ही कर देगा संतप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम बैकुण्ठ लोक को तजकर,
किसी रात निश्चय भूतल पर स्वयं चली जाओगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरूरवा की भावनाएँ शारीरिक क्षुधा, एवं काम-

वासना की अपेक्षा हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों से अधिक अनुप्राणित है। इसीलिए जिस तत्त्व-दर्शन को हम उर्वशी के संदर्भ में 'काम-दर्शन' कहते हैं, उसी को पुरूरवा के संदर्भ में 'प्रेम-दर्शन' कहा जा सकता है।

पुरूरवा का प्रेम-दर्शन विवेक-बुद्धि उदात्त चिन्तन, आस्तिकता, आस्था एवं विराट की महत्ता के बोध से अनुप्राणित है--इसीलिए वह न तो शरीर-सुख की सीमाओं से आबद्ध है और न ही तर्क-वितर्क से शून्य। वह जीवन के केवल एक ही वृत्ति या प्रवृत्ति, या एक ही प्रकार की तृप्ति तक सीमित है। उसका प्रेम निश्चय ही सौन्दर्य की लालसा एवं भोग की आकांक्षा से शून्य नहीं है, तथा कुछ क्षणों के लिए वह सब-कुछ भूलकर इनके प्रवाह में बह भी जाता है, किन्तु फिर भी ये उसके जीवन के स्थायी भाव नहीं बन पाते। उसकी उद्बुद्ध चेतना, विवेक बुद्धि एवं व्यापक अनुभूति उसके व्यक्तित्व को इतनी खुली छूट नहीं देती कि वह अपना सब-कुछ भूलकर सदा के लिए विलास के सागर में निमज्जित हो जाय। इसीलिए उसकी चेतना प्राप्त सौन्दर्य को स्वीकार करती हुई भी उसी से संतुष्ट नहीं हो जाती। उसकी विवेक-बुद्धि ऐन्द्रिय सुख के क्षणों में भी उसे कुछ और सोचने के लिए प्रेरित एवं उत्तेजित कर देती है। किसी परम सत्ता के प्रति आस्था, उसके विराट रूप की अनुभूति उसे यह स्मरण करवाए बिना नहीं रहती कि उर्वशी का सौन्दर्य ही सब-कुछ नहीं है, उससे परे भी, उससे भी अधिक व्यापक, कोई सौन्दर्य है। उर्वशी का सौन्दर्य तो उस विराट सौन्दर्य का एक अंश मात्र है। पुरूरवा के शब्दों में—

तुम अशेष सुन्दर हो, पर हो कोर मात्र ही केवल।
उस विराट छवि की जो घन के नीचे अभी दबी है।

पुरूरवा का यह तर्क-वितर्क और चिन्तन उर्वशी के प्राणों के लिए बोझिल सिद्ध होता है। अवश्य ही यह उसकी निश्चिन्त काम-क्रीड़ा के प्रतिकूल है तथा उनमें अवरोध उपस्थित करता है। वह अपने मोहिनी रूप, कान्त-सम्मत वचन एवं हास-विलास से पुरूरवा को कुछ समय के लिए निरुत्तर एवं मौन कर देती है तथा 'रक्त' (वासना) की महत्ता बुद्धि की हेयता के पाठ से उसे प्रभावित कर देती है, किन्तु फिर भी पुरूरवा की अन्तश्चेतना को पूर्णतः सुषुप्त करने में वह सफल नहीं होती। अवश्य ही रक्त के आवेश के सम्मुख मनुष्य का बुद्धि बल पराजित हो जाता है; वासनाओं के आवेग के सम्मुख कई बार व्यक्ति का विवेक एवं संयम धराशायी हो जाता है—पर क्या यह व्यक्ति की महत्ता का सूचक है? क्या ऐसा होना मानव मन की दुर्बलता और असहायावस्था का सूचक नहीं है? क्या वासना का आवेग हमारी प्रगति में बाधक नहीं बनता? पुरूरवा का दृढ़ विश्वास है कि भले ही वासना का बल हमारी बौद्धिक प्रवृत्तियों को परास्त करने में सफल हो जाय पर फिर भी उत्कृष्ट तो हमारी बुद्धि ही है। उसके शब्दों में—

रक्त बुद्धि से अधिक बली है, अधिक समर्थ, तभी तो,

× × ×

पहुँच नहीं पाते उस अव्यय एक पूर्ण सविता तक।

अस्तु, उर्वशी द्वारा बहु प्रशंसित, बहुमान्य 'रक्तबल' जो कि मनुष्य की वासनाओं भोगलालसाओं का सूचक है, पुरूरवा की दृष्टि में वह मनुष्य की दुर्बलता एवं असफलता का प्रमाण है। इसी रक्तबल (वासना की शक्ति) की बाधा के कारण मनुष्य अपने पवित्र, उदात्त एवं महान लक्ष्य तक पहुँचने में असमर्थ सिद्ध होता है। अतः निश्चय ही यह प्रशंसनीय न होकर निन्दनीय एवं त्याज्य है।

प्रेम के उपर्युक्त दोनों रूप क्रमशः शुद्ध वासना एवं भावना पर आधारित हैं, जो व्यक्ति की स्वेच्छा एवं निजी प्रेरणाओं तक सीमित है, सामाजिक बन्धनों, नियमों एवं मर्यादाओं का उनसे सम्बन्ध नहीं है—अतः उन्हें हम समाज-निरेपक्ष भी कह सकते हैं। मानव सभ्यता के आदिकाल में नारी-पुरुष का सम्बन्ध बहुत कुछ काम और सौन्दर्य की प्रेरणाओं पर ही आधारित रहा होगा—ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों विवाह, परिवार एवं समाज की विभिन्न इकाइयों का संगठन व विकास होता गया त्यों त्यों स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध भी वैवाहिक नियमों व विधि-विधानों से अनुशासित होते गये। 'उर्वशी' में चित्रित प्रेम के शेष दो रूप इसी वैवाहिक रूप की दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के सूचक हैं। पहली स्थिति 'पातिव्रत धर्म' की सूचक है, जिसमें नारी के लिए पति के सभी गुण-दोषों को स्वीकार कर उसे परमेश्वर तक मानना आवश्यक है। इसका प्रतिनिधित्व पुरूरवा की पत्नी औशीनरी करती है। वह अपना तन, मन, धन, जीवन—सब कुछ पूर्ण भाव से पति को समर्पित कर देती है, किन्तु फिर भी पति के तन और मन पर उसका कोई अधिकार नहीं। अपना सब-कुछ देकर पति के रंच मात्र प्रेम के लिए भी वह भिक्षुणी बनी रहती है। वस्तुतः यह स्थिति उस सामन्तवादी व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसमें पुरुष ने स्वच्छन्द विहार के सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में लेकर दाम्पत्य-जीवन के सभी कर्त्तव्यों के पालन का भार नारी को सौंप दिया था। पातिव्रत धर्म के नाम पर नारी को जिस असहाय, दयनीय एवं विवश स्थिति में डाल दिया गया था, उसकी वास्तविकता औशीनरी के शब्दों में व्यक्त हुई है—

> न्योछावर आराध्य चरण पर सखि! तन, मन, जीवन है।
> तब भी तो भिक्षुणी-सदृश जोहा करती हूँ मुख को!
> × × ×
> गृहिणी जाती हार दाँव संपूर्ण समर्पण करके।
> × × ×
> कितना विलक्षण न्याय है!
> कोई न पास उपाय है!
> अवलंब है सबको मगर नारी बहुत असहाय है!!

औशीनरी के उपर्युक्त शब्दों में सामन्तयुगीन परतंत्र नारी की व्यथा अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है। नारी पुरुष के अन्याय से बचना चाहती है किन्तु उसके पास इसका कोई उपाय नहीं है! कदाचित् नारी की इस असहाय स्थिति को ही ध्यान में रखकर महाकवि तुलसी ने कहा था—

कत विधि नारि सृजी जग माहीं !
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं !!

ऐसी स्थिति में नारी (पत्नी) का एक मात्र सम्बल पुत्र (पुत्री?) प्राप्ति ही रह जाता है। पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ही वह जीवन की सार्थकता को प्रमाणित करती है तथा दाम्पत्य जीवन के अभावों की पूर्ति सन्तान के माध्यम द्वारा करती है, पर जहाँ नारी इस संबल की प्राप्ति में भी असफल सिद्ध हो जाती है तो उसका जीवन प्रत्यक्ष ही निरर्थक निस्सार एवं नरक-तुल्य बन जाता है। दुर्भाग्य तो यह है कि इस व्यवस्था में पुत्रोत्पत्ति का सारा उत्तरदायित्व भी पत्नी पर ही थोपा गया है; पुरुष तो सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त है। ऐसी स्थिति पर व्यंग्य करते हुए औशीनरी कहती है—

पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुंज वन में।
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में !!

किन्तु पति के इन सारे अत्याचारों के बावजूद भी पातिव्रत धर्म में पत्नी के लिए पति के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं। पति चाहे कितना ही बुरा या अत्याचारी क्यों न हो—पत्नी का जीवन उसी के जीवन पर निर्भर है। सती-प्रथा के युग में तो पति की मृत्यु का अर्थ पत्नी का भी जीते-जी मर-मरना हो गया था—अतः ऐसी स्थिति में पत्नी पति के सभी दुर्गुणों को स्वीकार करती हुई उसी के जीवन में अपना जीवन अनुभव करे तो स्वाभाविक है। औशीनरी की निम्नांकित उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं -

पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है।
× × ×
प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों !

दाम्पत्य जीवन का यह एकांगी व एकपक्षीय रूप किसी भी स्थिति में प्रशंसनीय, स्वीकार्य एवं ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। कवि दिनकर ने इसका चित्रण कदाचित् इसकी विषमताओं एवं असंगतियों को ही स्पष्ट करने के लिए किया है, उनके स्वर में इसके अनुमोदन या समर्थन का संकेत कहीं भी नहीं मिलता, और न ही मिल सकता है।

दाम्पत्य जीवन का एक अत्यन्त संतुलित एवं आदर्श रूप च्यवन ऋषि एवं उनकी पत्नी सुकन्या के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। च्यवन जहाँ अपनी पत्नी को अपनी समस्त साधना, उपलब्धि, ईश्वर के द्वारा दी गयी सिद्धि के रूप में स्वीकार करते हुए उसे अपने जीवन में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं; वहाँ उनकी पत्नी सुकन्या भी अपने पति को अपने 'परम आराध्य देव' के रूप में स्वीकार करती है। सुकन्या की यह स्वीकृति सामन्त युगीन नारी की भाँति आरोपित स्वीकृति नहीं है, अपितु इसके पीछे यथार्थ की अनुभूति है। पति को सम्पूर्ण रूप में उसके सम्पूर्ण प्रेम को प्राप्त कर लेने के कारण ही सुकन्या ऐसा अनुभव प्राप्त करती है, मानो उसे जीवन में सब-कुछ मिल गया। इसीलिए उसके मन में औशीनरी की सी वेदना, पीड़ा, असंतोष, अशान्ति, विवशता आदि का कोई भाव नहीं है—इतना ही नहीं उसकी उक्तियाँ परिपूर्ण काम एवं पूर्ण संतोष की अनुभूति से ओत-प्रोत प्रतीत होती हैं—

'क्या कुछ मिला नहीं तुझको वनिता महर्षि की होकर ?'

दाम्पत्य जीवन का यह महान् आदर्श पति-पत्नी के पूर्ण समर्पण, गम्भीर एकोन्मुख एवं सच्ची आत्मिक तुष्टता पर आधारित है। प्रेम के जिस रूप को इसमें ग्रहण किया जाता है, वह शरीर के सौन्दर्य एवं यौवन के वसन्त तक ही सीमित नहीं रहता; उसका लक्ष्य एकमात्र भोग ही नहीं रहता और न ही उसका उद्देश्य केवल दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने तक सीमित रहता है, अपितु उसकी सीमाएँ तन और मन के प्रदेशों से आगे बढ़कर आत्म एवं अध्यात्म तक व्याप्त हो जाती हैं; उसका लक्ष्य भोग ही नहीं, योग भी बन जाता है और उसका उद्देश्य लौकिक जीवन के सुखों से भी अधिक उच्च एवं उदात्त सुख—सच्चे आत्मिक एवं आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति बन जाता है। प्रेम के इस स्वरूप में न संतानोत्पत्ति से बाधा उपस्थित होती है और न ही वृद्धावस्था के आगमन से उसका रंग फीका पड़ता है। महर्षि च्यवन के शब्दों में प्रजा-सृष्टि के द्वारा नारी एक ऐसे महान यज्ञ को पूर्ण करती है, जिस पर सृष्टि का समस्त विकास आधारित है। और शिशु ? वह तो सचमुच ईश्वर का ही एक रूप है ! उनके शब्दों में—

'सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या भाग पुरुष का ?
वह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है !
× × ×
सुने ! सदा शिशु के स्वरूप में ईश्वर ही आते हैं !
महापुरुष की ही जननी प्रत्येक जननि होती है !'

इन उक्तियों को पढ़कर सहज ही रंभा का यह कथन याद आ जाता है कि 'पर माता बनकर नारी क्या शेष नहीं रहती है। तन हो जाता शिथिल, दान में यौवन गल जाता है।' कहाँ मातृत्व को अभिशाप मानने वाली अप्सराएँ और कहाँ महर्षि च्यवन जो मातृत्व के कारण ही नारी को वंदनीय मानते हैं ! वस्तुतः स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द काम-धर्म की आराधना करने वाली अप्सराओं की अन्य युक्तियों का भी खंडन महर्षि च्यवन और उनकी पत्नी सुकन्या की उक्तियों द्वारा अप्रत्यक्ष में हो जाता है; यथा—

'जो प्रफुल्ल, घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी !
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को ?
× × ×
यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा ?
× × ×
अप्सरियाँ जो करें किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के,
जीवन का आनन्द-कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।"

वस्तुतः सुकन्या के शब्दों में प्रेम के जिस रूप की व्याख्या हुई है वह एक अत्यन्त उदात्त, गंभीर एवं स्थिर भाव है जो मानवात्मा को सच्ची शान्ति और सच्चा आनन्द प्रदान करता है।

एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते हैं,
दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुए हों।
फिर रह जाता भेद कहाँ शिशिर, घाम, वयस का ?
एक संग हम युवा, संग ही संग वृद्ध होते हैं।
× × ×

प्रेम के इस स्वरूप में जो सुख, शान्ति एवं पवित्रता है, वह अप्सराओं के क्षणिक उन्मुक्त भोग में संभव नहीं— यह निर्णय भी कवि सुकन्या के शब्दों में प्रस्तुत कर देता है—

अप्सरियाँ उद्विग्न भोगतीं रस जिस चिर यौवन का,
जिससे कहीं महत् सुख है जो हमें प्राप्त होता है।
निश्छल शान्त, विनम्र, प्रेममय उर के उत्संग से।

सुकन्या द्वारा प्रतिपादित आदर्श का अनुमोदन चित्रलेखा द्वारा भी हो जाता है—

'सचमुच' यह सुख अप्रमेय है, मन ही नन्दि-निलय है।'

नारी की महत्ता की प्रतिष्ठा इसी आदर्श में होती है—

'नारी को पर्याय बता कर तपःसिद्धि भूमा का,
सचमुच, त्रिया-जाति को ऋषि ने अद्भुत मान दिया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दिनकर ने प्रेम के विभिन्न रूपों की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी अन्ततः इसी रूप का च्यवन एवं सुकन्या द्वारा प्रस्तुत रूप का ही अनुमोदन किया है। इस तथ्य का संकेत उन्होंने भूमिका में भी दे दिया दिया है—"···संन्यास और प्रेम के यौन संतुलन की एक झाँकी महर्षि च्यवन के चरित्र में झलक मारती है। जो नदी पुरुरवा के भीतर बेचैन होकर गरज रही है, वही च्यवन में आकर स्वच्छ, सुस्थिर शीतल और मौन है।" च्यवन और सुकन्या के इस संतुलित दाम्पत्य का समर्थन मनोविज्ञान के आधार पर भी किया गया है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते है कि 'उर्वशी' में चित्रित यौन समस्याओं का काम-प्रेम की समस्याओं का समाधान- आदर्श समाधान च्यवन एवं सुकन्या के संतुलित दाम्पत्य के रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु इस निष्कर्ष को अंतिम रूप देने से पूर्व कुछ अन्य तथ्यों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

उपर्युक्त निष्कर्ष के प्रतिकूल पड़ने वाला सबसे पहला तथ्य तो यह है कि स्वयं कवि ने ही इस समाधान को आदर्श समाधान मानने के सम्बन्ध में शंका प्रकट की, यह भी कहा है कि उसने केवल प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, उत्तर नहीं क्योंकि समाधान देना कवियों का नहीं नेताओं का काम होता है।' दूसरे, अनेक विद्वान आलोचकों ने भी इस रचना को समाधान-शून्य माना हैं। डा० नगेन्द्र ने इस कृति का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया है कि दिनकर द्वंद्व के कवि हैं, समाहिति के कवि नहीं। इसीलिए वे इस काव्य में भी जिस सफलता के साथ द्वन्द्व (समस्या) को प्रस्तुत कर पाये हैं, उतनी सफलता से समाधान को नहीं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में इसका कारण यह है कि द्वन्द्व उनका अनुभूत है, समाधान अनुभूत नहीं है।' इसका

अर्थ यह है कि समाधान इसमें अवश्य है, यह दूसरी बात है कि वह 'द्वन्द्व' जैसा प्रभावशाली न बन पाया हो।

डा० सावित्री सिन्हा ने भी इस प्रसंग पर विचार करते हुए लिखा है—'उर्वशी का दुर्बल पक्ष यह दिखाई देता है कि उसके प्रधान पात्र दर्द-बेचैनी और वासना का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका परिणाम निराशा है और गौण पात्र उन उदात्त मूल्यों और आदर्शों का, जो दिनकर को अपने संस्कारों और परम्परा से मिलते हैं।'

निश्चय ही उर्वशी में यदि कोई समाधान है तो वह उसके गौण पात्रों—च्यवन एवं सुकन्या—द्वारा ही प्रस्तुत हुआ तथा इस स्थिति में उसका महत्व गौण हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि कवि ने प्रमुख पात्रों के माध्यम से समस्या को ही अधिक ज्वलन्त रूप में प्रस्तुत किया है; समाधानों के प्रति उसका विशेष झुकाव या लगाव नहीं है। किन्तु कथा की परिणति इस कथन के विरुद्ध पड़ती है। उर्वशी के पुत्र का सुख से वंचित होना, पुरूरवा का एकांगी भोग और एकांगी संन्यास के द्वन्द्व से ग्रस्त रहना, औशीनरी का दाम्पत्य-सुख से वंचित रहना—प्रेम के तीनों रूपों की असफलता का ही सूचक है, जबकि सुकन्या और च्यवन प्रेम की जिस महत्ता का प्रतिपादन करते हैं, उसे वे अपने जीवन में चरितार्थ भी करते हैं। जहाँ अन्य पात्रों के स्वप्न अंत में खंडित हो जाते हैं, वहाँ इनका स्वप्न साकार हो जाता है। अतः हमारे विचार में 'उर्वशी' के माध्यम से यौन-समस्या का जो समाधान प्रस्तुत हुआ है, वह च्यवन-सुकन्या के इस आदर्श, एकोन्मुखी गंभीर एवं स्थायी प्रेम में ही निहित है, जो नारी-पुरुष के कर्त्तव्य एवं अधिकारों में समता व संतुलन स्थापित करता हुआ, नारी पत्नीत्व एवं मातृत्व—दोनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः प्रेम की जिस उच्चभूमि तक पुरूरवा पहुँचना चाहते थे, तथा भोग और योग, प्रेम और संन्यास में जो समन्वय वे स्थापित करना चाहते थे, वह उनके अतिवादी व एकांगी भोग एवं संन्यास के कारण सुलभ एवं संभव नहीं हो पाया—जब कि सुकन्या एवं च्यवन ने उसे सहज ही प्राप्त कर लिया। वस्तुतः पुरूरवा जैसे व्यक्ति के लिए जो औशीनरी और उर्वशी के रूप में दो अतिवादिताओं—त्याग और भोग की चरम सीमाओं की प्रतीक हैं—से ग्रस्त थे, यह संभव भी नहीं था कि वे जीवन के आदर्श रूप—आदर्श प्रेम को—प्राप्त कर पाते।

●

कविता का मूल्यांकन उपयोगितावादी स्थूल दृष्टिकोण से करते हुए लिखते हैं— "कविता से विश्रान्ति मिलती है, उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने के समय मजदूर आदि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं।" वहाँ आचार्य शुक्ल कविता के सूक्ष्म एवं व्यापक प्रभाव को ध्यान में रखते हुए उसके एक ऐसे व्यापक प्रयोजन की चर्चा करते हैं, जिससे एक ओर कविता उपयोगितावाद के संकीर्ण घेरे से मुक्त होती है। दूसरी ओर वह लोक-मंगल की साधना में भी योग देनेवाली सिद्ध होती है। उनके विचारानुसार काव्य के द्वारा हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे हृदय पर बौद्धिकता, कृत्रिमता और संकीर्णता का आवरण पड़ता जा रहा है; कविता इस आवरण को छिन्न-भिन्न करके हमारे वास्तविक स्वरूप की रक्षा करती है। अतः यह धारणा कि सभ्यता और विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ कविता क्षीण होती जायेगी, मिथ्या है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायेगा।" कविता के भविष्य के बारे में शुक्लजी का दृष्टिकोण आशा और विश्वास से ओत-प्रोत है : "मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में यह किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रसार अवश्य रहेगा।"

जो लोग कविता का लक्ष्य हल्के स्तर का मनोरंजन या मनबहलाव मात्र मानते हैं, उनसे भी आचार्य शुक्ल का गहरा मतभेद था। वे अपने विरोधियों की धारणा का खंडन करते हुए जोरदार शब्दों में लिखते हैं—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय, तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत-से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं।" पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में काव्य-प्रयोजन के प्रश्न को लेकर भारी वाद-विवाद हुआ है। कुछ लोगों ने कविता को कविता के लिए घोषित करते हुए उसे लोक-विरोधी रूप प्रदान कर दिया, तो कुछ ने उसे नीति, सदाचार और उपयोगिता की संकीर्ण सीमाओं में इस तरह आबद्ध कर दिया कि उसका जीवन ही समाप्त हो गया। आचार्य शुक्ल ने इन दोनों दृष्टिकोणों की अतिवादिता से बचकर एक ऐसा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया, जिससे कि कविता में काव्यत्व और लोक-हित —दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

बिहारी-सतसई, सूरदास आदि दूसरे वर्ग में। इस वर्गीकरण के द्वारा आचार्य शुक्ल लोक-हित के लिए किए जानेवाले संघर्ष चित्रण का काव्य में अधिक महत्त्व सिद्ध करना चाहते थे। दूसरे, इससे वे कर्म-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना चाहते थे और तीसरे, वे मूल-भाव की व्यापकता के आधार पर रसानुभूति की व्यापकता का निर्णय करना चाहते थे। अतः उनके विचार से क्रोध, घृणा आदि भाव भी रसानुभूति की दृष्टि से रति, करुणा आदि कोमल भावों जैसे ही प्रभावशाली हैं, यदि उनका आधार व्यापक हो।

कविता में प्रकृति के स्वतन्त्र रूप में चित्रण के भी आचार्य शुक्ल बड़े समर्थक थे। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि सच्चे कवि को प्रकृति के सभी रूपों का चित्रण मार्मिक रूप में करना चाहिए। "जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसाद के सौरभ-संचार; मकरन्दलोलुप, मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु मंडित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त-विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्भ से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण हर प्रकार के रूप में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं।"

काव्य के विभिन्न रूपों में से शुक्लजी को प्रबन्ध रूप अधिक प्रिय था। प्रबन्ध का क्षेत्र व्यापक होता है और उसमें जीवन और जगत् के विविध चित्र आ जाते हैं—कर्म-सौन्दर्य की भी व्यंजना अधिक विस्तार से हो जाती है। इसलिए शुक्लजी ने प्रबन्धकार कवियों को अन्यों से अधिक महत्त्व प्रदान किया। कबीर से जायसी को या सूरदास से तुलसीदास को प्रबन्ध लेखन के कारण ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है।

काव्य की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने चार विशेषताओं का चित्रण किया है। एक तो कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए। सूक्ष्म विषयों का भी चित्रण काव्य में स्थूल रूप में किया जाना चाहिए, जिससे कि वे पाठक के हृदय को प्रभावित कर सकें। "अगोचर बातों या भावनाओं को भी जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा, 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसन्द करेगी।" (चिन्तामणि, पृ० १७५)

काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता यह मानी गई है कि उसमें सामान्य जाति-सूचक शब्दों के स्थान पर विशेष स्वरूप के कार्य को सूचित करनेवाले शब्द अधिक रहते हैं। जैसे कि किसी ने कहा—"ईश्वर सब प्राणियों का पालन करता है।" यहाँ प्राणी शब्द जातिवाचक है। यदि इसके स्थान पर कहा जाय कि ईश्वर चींटी से लेकर हाथी तक सबका पालन करता है तो वह विशेष प्राणी सूचक कहलाएगा।

उनके व्यक्तित्व पर अधिक प्रकाश डाला है। शताब्दियों प्राचीन कवियों के व्यक्तित्व को उनके काव्य के आधार पर खोज निकालना बुद्धि की सूक्ष्मता का प्रमाण है। इतना ही नहीं, वे एक कवि के व्यक्तित्व की उनसे साम्य रखने वाले दूसरे कवि के व्यक्तित्व से भी तुलना करते हुए उसकी आंतरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण बड़ी बारीकी से करते हैं। जैसे, जायसी पर विचार करते हुए वे उनकी तुलना कबीर से करते हैं--"सच्चे भक्त का प्रधान गुण दैन्य उनमें पूरा-पूरा था। कबीरदास के समान उन्होंने अपने को सबसे अधिक पहुँचा हुआ कहीं नहीं कहा। कबीर ने तो जहाँ तक कह डाला कि इस चादर को सुर, नर, मुनि सबने ओढ़कर मैला कर दिया, पर मैंने "ज्यों की त्यों धर दीनीं चदरिया।" इस प्रकार की गर्वोक्तियों से जायसी बहुत दूर थे। उनके भगवत्प्रेम-पूर्ण मानस में अहंकार के लिए कहीं जगह न थी। उनका औदार्य वह प्रच्छन्न औद्धत्य न था, जो किसी धर्म के चिढ़ाने के काम में आ सके।' उनकी यह उदारता थी जिसमें कट्टरपन को भी चोट नहीं पहुँच सकती थी।" इसी प्रकार तुलसी के व्यक्तित्व पर विचार करते समय उन्हें महाकवि मिल्टन का स्मरण हो आता है—"भूत-प्रेत पूजनेवालों की गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसे किसी दुष्कर्म से होती है—फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दर्जे को नहीं पहुँचती है, जिसके जोश में अंग्रेज कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को जबरदस्ती खींचकर शैतान की फौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दर्जे को भी नहीं पहुँची है, जो दूसरे धर्मों की उपासना पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को गुनाहों की फिरहिस्त में दर्ज करती है।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल काव्य-रचयिताओं के व्यक्तित्व का भी विश्लेषण उतनी ही रुचि से करते थे, जितनी रुचि से उनकी रचनाओं का करते थे।

काव्य में निहित विचार-धारा के स्पष्टीकरण के लिए वे उससे सम्बन्धित मत, संप्रदाय या वाद का पूरा परिचय प्रस्तुत करते है। 'पद्मावत' की समीक्षा के अंतर्गत उन्होंने सूफीमत और सिद्धान्तों का तथा रहस्यवाद का विस्तृत रूप में परिचय दिया है। इसी प्रकार तुलसी और सूरदास-सम्बन्धी आलोचनाओं, भक्ति-पद्धति, भक्ति के उद्भव और विकास आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की गई है। इस क्षेत्र में भी वे एक की विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए दूसरे से तुलना करते हुए चलते हैं।

विभिन्न कवियों की भाव-व्यंजना पर विचार करते समय वे दो शैलियों का अनुगमन करते हैं, एक तो शास्त्रीय ढंग से प्रमुख भावों का उदाहरण-सहित निर्देश कर देना और दूसरी, भाव की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसे हृदयस्पर्शी रूप में विस्तृत कर देना। जायसी की विवेचना में "पात्रों द्वारा भाव-व्यंजना" शीर्षक के अन्तर्गत शास्त्रीय शैली का प्रयोग किया गया है, जैसा कि सूरदास के भ्रमर-गीत-सार की भूमिका में व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। व्याख्यात्मक शैली में आलोचक की सहृदयता की व्यंजना मिलती है—"यशोदा नन्द से कहती है—नन्द ! ब्रज लीजे ठोंकि बजाय। देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी, जहँ गोकुल के राय !"

'ठाँकि बजाय'; में कितनी व्यंजना है। तुम अपना व्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है।"

भाव-पक्ष एवं विचार-धारा के अनन्तर आचार्य शुक्ल रचना-शैली पर विचार करते हैं। जैसे, प्रबन्ध काव्यों की समीक्षा के समय वे उनके प्रबन्धत्व की परीक्षा भली भाँति करते हैं। प्रबन्ध-काव्य के सम्बन्ध में वे चार बातों पर विशेष रूप से विचार करते हैं—इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार, वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद। इतिवृत्त के अन्तर्गत वे कथावस्तु के संगठन, सम्बन्ध-निर्वाह, मार्मिक स्थलों के चुनाव आदि पर भी ध्यान देना आवश्यक समझते हैं। रचना की भाषा-शैली पर विचार करते समय वे अलंकार-विधान, उक्ति वैचित्र्य, भाषा-विचार सम्बन्धी विशेषताओं पर विशेष रूप से ध्यान देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष उसके सैद्धान्तिक पक्ष से भी अधिक व्यापक एवं विविधतापूर्ण है। वे काव्य-रचना से सम्बन्धित प्रायः सभी बातों एवं उनके सभी अंगों व तत्त्वों का विश्लेषण बारीकी से करते हैं।

समीक्षा में प्रयुक्त भाषा-शैली

आचार्य शुक्ल ने अपने समीक्षात्मक ग्रन्थों में अत्यन्त गंभीर, परिष्कृत, साहित्यिक एवं प्रभावोत्पादक भाषा-शैली का प्रयोग किया है। वे जिस तथ्य या विचार का प्रतिपादन करते हैं, उसका भली-भाँति स्पष्टीकरण करने के अनन्तर ही आगे बढ़ते हैं। भाषा में गंभीरता होते हुए भी उसमें शुष्कता या क्लिष्टता नहीं आ पाई, अपितु उनकी सहृदयता के कारण वह बीच-बीच में पर्याप्त सरस एवं भावपूर्ण हो गई है। जैसे 'कविता क्या है?' में प्रकृति पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो।" कहीं-कहीं भावात्मकता एवं सरसता के कारण उनकी समीक्षात्मक पंक्तियाँ कविता का-सा रूप धारण कर लेती हैं। भारतेन्दु की प्रशंसा करते समय उनका आलोचक हृदय कवि की भाँति गद्‌गद् हो जाता है और उनकी कलम में कविता-सी बहने लगती है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंग-देश के मधुसूदन दत्त और हेम चन्द्र की श्रेणी में; एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए भक्तमाला गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बगुला-भक्तों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे।"

उनकी समीक्षाओं में कहीं-कहीं हास्य और व्यंग्य का पुट भी मिलता है: जैसे, जायसी के विरह-वर्णन पर विचार करते समय वे लिखते हैं—"एक कविजी ने लिखा है—छाजर दे नहिं, ऐसी सुहागिनि! आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।" यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी

हेंसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।" इसी प्रकार बिहारी के विरह-वर्णन का उपहास करते हुए वे लिखते हैं—"बिहारी की नायिका इतनी क्षीण हो गई है कि जब साँस खींचती है, तब उसके झोंके से चार कदम पीछे हट जाती है और जब साँस निकालती है, तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की-सी दशा उसकी रहती है।"

उपर्युक्त गुणों के कारण उनकी शैली में सरसता और रोचकता आ गई है।

महत्त्व

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति में आलोचकों ने अनेक दोष ढूँढ़े हैं—जैसे कुछ विशेष कवियों, काव्य-रूपों और सम्प्रदायों को विशेष महत्त्व देना—फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। उनसे पूर्व हिन्दी-समीक्षा का स्वरूप प्रायः अविकसित एवं एकांगी था। या तो आलोचक संस्कृत के काव्य-शास्त्रों के आधार पर गुण-दोष दिखाने का कार्य करते थे, या दो कवियों की तुलना करके छोटे-बड़े के विवाद में उलझे रहते थे। साहित्य का मूल्यांकन या तो उपयोगितावादी दृष्टिकोण से होता था, या फिर छिछली उक्तियों को लेकर प्रशंसा के पुल बाँधे जाते थे। आचार्य शुक्ल ने स्वदेशी और विदेशी सिद्धान्तों का सार लेकर हिन्दी-समीक्षा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ स्वरूप प्रदान किया। एक ओर उन्होंने कलावाद और लोक-हित में सामंजस्य प्रस्तुत किया, तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के भाव पक्ष, विचार-पक्ष एवं शैली-पक्ष पर समन्वित रूप से विचार किया। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य-रचना को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि कवि का व्यक्तित्व उपेक्षित रह जाता था; किन्तु आचार्य शुक्ल ने कवि और काव्य दोनों की समुचित रूप से व्याख्या करने की प्रणाली को जन्म दिया।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने जहाँ सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में काव्य के सूक्ष्म सौन्दर्य का उद्घाटन करके एक व्यापक रूप प्रदान किया, वहाँ उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में युग, इतिहास, परम्परा, दर्शन, मत-सम्प्रदाय; भाव विचार, शैली; अलंकार आदि को स्थान देकर अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया। उनकी समीक्षा विचारों की दृष्टि से जितनी प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही अभिव्यक्ति—शैली-पक्ष की दृष्टि से सरस, रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई समीक्षक दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि आचार्य शुक्ल की तुलना की जा सके। डॉ० श्यामसुन्दरदासजी बड़े विद्वान् थे, किन्तु जैसी मौलिकता एवं प्रतिभा आचार्य शुक्ल में मिलती है, वह उनमें कहाँ! आचार्य हजारीप्रसादजी प्राचीन साहित्य और संस्कृति के ज्ञान की दृष्टि से आचार्य शुक्ल से बहुत आगे हैं तथा अपने इस बल पर उन्होंने शुक्ल जी की इतिहास सम्बन्धी अनेक धारणाओं का खण्डन भी सफलतापूर्वक किया है किन्तु सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में वे शुक्लजी की भाँति अपने युग का नेतृत्व नहीं कर पाते।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का गम्भीर अनुशीलन करके व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया तथा वे इस क्षेत्र

ही किसी के महत्व को हम अधिक या न्यून कह सकते है। हमारा लक्ष्य केवल यह उपर्युक्त परिस्थितियों के सन्दर्भ में इतिहासकार द्विवेदी के योग-दान का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना मात्र है।

दृष्टिकोण की नूतनता

साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य द्विवेदी के योग-दान को हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) दृष्टिकोण की नवीनता (२) विभिन्न काव्यधाराओं के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध मे प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण एवं तत्सम्बन्धी नये तथ्यों का निदर्शन और (३) प्राचीन काव्य का नया मूल्याकन। इनमें से प्रत्येक पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी नया दृष्टिकोण लेकर अवतरित हुए। जहाँ पूर्ववर्ती इतिहासकार विभिन्न काव्यधाराओं के विकास पर विचार करते समय मुख्यत. तत्कालीन वातावरण पर ही ध्यान देते थे, उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती परम्पराओ की प्रायः उपेक्षा कर देते थे, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती परम्पराओं एवं तत्कालीन वातावरण दोनों पर बराबर ध्यान दिया। वैज्ञानिक विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार परम्परा और वातावरण दोनों का महत्व है—आचार्य द्विवेदी ने भी इसी का अनुगमन किया। फलस्वरूप उन्होंने हिन्दी-साहित्य को इस्लाम प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई जाति की कुण्ठा के रूप में न देखकर उसे पूर्ववर्ती परम्पराओं के सहज विकसित रूप में देखा। आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती विद्वानों के दृष्टिकोण का तीव्र विरोध करते हुए लिखा है—"मैं इन दोनों बातो का प्रतिवाद करता हूँ। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नही रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" उन्होंने पूर्ववर्ती धर्मसम्प्रदायों एवं साहित्यिक परम्पराओं के विश्लेषण के द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा—"इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय सन् ईसवी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहां तक कि अन्त में जाकर लोकमत में पुन-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पण्डितों के ऊँचे शासन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप मे हुई। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगे के सहस्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें; स्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भाव से बाधा-ग्रस्त और विछिन्न है, उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ठ ८-१०) यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य द्विवेदी का यह दृष्टिकोण नहीं नया, वहीं अवश्य एक वैज्ञानिक भी था। हिन्दी साहित्य की नवीन व्याख्या एवं उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए इसी दृष्टिकोण की अपेक्षा थी। इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण

हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्य-धाराओं के विकास की परम्परा ऊपर से देखने पर आठ-नौ सौ वर्ष से अधिक पुरानी प्रतीत नहीं होती, किन्तु यदि हम उसके मूल उत्स का अनुसंधान करें, तो हमें बहुत पीछे लौटना पड़ेगा। भक्ति-काल की अनेक काव्य-धाराएँ तो वैदिक-युग से लेकर दसवीं शती तक के भारतीय साहित्य की अनेक दीर्घ परम्पराओं के प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। अतः उन्हें समझने के लिए केवल हिन्दी-साहित्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है—पूर्ववर्ती भाषाओं के साहित्य का अध्ययन भी अपेक्षित है। आचार्य द्विवेदी इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त समर्थ हैं। इसलिए वे हिन्दी की अनेक काव्य-धाराओं के उद्गम-स्रोतों के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण करने में तथा उनके उद्भव की नई व्याख्या करने में सफल हो सके। विशेषतः आदि-काल और भक्ति-काल की काव्य-धाराओं के विकास पर उन्होंने बहुत कुछ नये ढंग से विचार किया है।

आदिकालीन एवं भक्तिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती विद्वानों की धाराएँ संक्षेप में इस प्रकार थीं—(१) अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं का साहित्य हिन्दू राजत्वकाल में सर्वथा उपेक्षित था, मुसलमानों के आगमन से लोकभाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हुई। (२) आदिकाल एवं भक्तिकाल की विभिन्न काव्य-धाराएँ मुसलमानी प्रभाव से विकसित धाराएँ हैं। आचार्य द्विवेदी ने सबल तर्कों एवं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इन धारणाओं को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध किया। अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट किया कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व भी हिन्दू राजाओं के दरबार में उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था, यह दूसरी बात है कि संस्कृत का महत्त्व इनसे अधिक समझा जाता था। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने राजशेखर एवं भोज के ग्रन्थों के कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे भली-भाँति स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों को राज-दरबारों में निश्चित स्थान प्राप्त था। वे लिखते हैं—"संस्कृत का आदर इस देश में हमेशा से ही रहा है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानों के आगमन के पहले अपभ्रंश या लोकभाषा का स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था।...मेरी दृष्टि में सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासन के प्रभाव से अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश की कविताएँ संस्कृत के समान ही आदर पाती थीं।'

इसी प्रकार उन्होंने इन युगों की काव्य-धाराओं को भी मुख्यतः छः अंगों में विभाजित करते हुए उन्हें अपभ्रंश काव्य से ही विकसित सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानतः छह अंग थे—डिंगल कवियों की गाथाएँ, निर्गुणियों की वाणियाँ, कृष्ण-भक्त या रागानुगा मार्ग के साधनों के पद, रामभक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कविताएँ, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों

के रोमांस और रीतिकाव्य। हम इन छहों धाराओं की आलोचना अलग-अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धाराएँ अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।"

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्य-काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण चेतना भक्ति की है—इसे प्रायः सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है; किन्तु यह भक्ति की चेतना किस प्रकार आई, क्यों आई—इसका सम्यक् समाधान पूर्ववर्ती इतिहासकार नहीं कर पाये थे। डाक्टर ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने जहाँ इसे ईसाइत का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पराजित हिन्दुओं की निराशा में इसका प्रेरणा-स्रोत ढूंढ़ा। आचार्य द्विवेदी ने इन दोनों ही मतों का खंडन करते हुए स्पष्ट रूप में दक्षिण के परम्परागत वैष्णव मतदान से सम्बन्धित किया। उनके शब्दों में—"लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते, उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया।...स्वयं डा० ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन भाव में जुट गए।" असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है।"

भक्ति-आन्दोलन की ही भाँति सन्त मत और सन्त साहित्य को भी इस्लाम प्रेरित मान लिया गया था, जबकि आचार्य द्विवेदी ने इसका सम्बन्ध भारतीय पर-म्परा से स्थापित किया। वे स्वीकार करते हैं कि सन्त कवि जन्म से मुसलमान थे, फिर भी उनका दृष्टिकोण; उनके संस्कार, उनकी विचारधारा, साधना-पद्धति एवं अभिव्यंजना-शैली विशुद्ध भारतीय थी। जो लोग इन्हें इस्लाम से प्रेरित मानते थे, उनका कहना था कि इन्होंने वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद एवं मूर्ति-पूजा आदि का विरोध इस्लाम के अनुसार ही किया है। पर आचार्य द्विवेदी ने इसके प्रतिवाद में पूर्ववर्ती सिद्धों की वाणियों से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिनसे पता चलता है कि सन्तों की ये प्रवृत्तियाँ सिद्धों में भी थीं। वस्तुतः क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द और खंडन-मंडन की पद्धति - इन सभी के आधार पर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दी का सन्त-काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, उसे इस्लाम से प्रेरित मानने की आवश्यकता नहीं।

तथाकथित सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को भी हमारे अनेक विद्वानों ने फारसी मसनवियों की अनुकृतियों के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदी ने इन प्रबन्ध-काव्यों की अभिव्यंजना-शैली एवं इनकी कथानक-रूढ़ियों की सूक्ष्म छानबीन करते हुए प्रमाणित किया है कि ये आख्यान भी भारतीय साहित्य की परम्परा से सर्वथा अवि-च्छिन्न नहीं हैं। उन्होंने अपने मत को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"कुछ लोगों का भ्रम है कि पद्मावत आदि में दोहे और चौपाइयों में प्रबन्ध काव्य लिखने की जो प्रथा है, वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमात्मक है। वज्रयान के सिद्धों में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में दो-दो चार-

चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है ।...इस प्रकार वह पद्धति अर्थात् कड़वक के बाद छेदात्मक उल्लाला या कव्य छन्द देकर धारावाहिक रूप से प्रबन्ध काव्य लिखना सूफी कवियों की ईजाद नहीं है ।" इसी प्रकार "अधिकांश कवियों के काव्यों का मूल आधार लोक कथाएँ हैं ।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी काव्य की अनेक धाराओं के उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित मतों का खंडन करते हुए अपनी नई स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं; जो कि आज प्रायः सर्वमान्य हो चुकी हैं। काव्य-धाराओं के अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न काव्य-रचनाओं के मूल उत्सों के सम्बन्ध में भी नया प्रकाश डाला है, जैसे कि पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता, पद्मावत आदि के सम्बन्ध में। अस्तु, इस सम्बन्ध में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नया मूल्यांकन

इतिहासकार जहाँ एक ओर परम्पराओं के मूल-उत्सों और उनके प्रेरणा स्रोतों को खोजता हुआ उनके विकास को स्पष्ट करता है, वहाँ वह उन्हें काल-विशेष की पृष्ठ-भूमि में रखकर उनका मूल्यांकन भी करता है। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के समय समीक्षक को विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। जब तब वह प्राचीन युग के सांस्कृतिक वातावरण, उस युग की लोक-चेतना एवं मनोवृत्तियों को भली-भाँति हृदयंगम नहीं कर लेता, तब तक वह उसे सम्यक रूप से समझने एवं समझाने में सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में वह उस साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। आचार्य द्विवेदी इस दृष्टि से प्राचीन हिन्दी-काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समीक्षक सिद्ध होते हैं। प्राचीन भाषाओं एवं साहित्य के ज्ञान के कारण वे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की उन कृतियों को जिन्हें पूर्ववर्ती विद्वान असाहित्यिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ मात्र घोषित कर चुके थे पुनः साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में सफल हो सके। आचार्य शुक्ल का यह एक विचित्र दृष्टिकोण था कि एक ओर वे तुलसी, सूर की रचनाओं को उत्कृष्ट साहित्य की कोटि में रखते थे, तो दूसरी ओर वे जैन मुनियों, सिद्धों नाथ-पंथियों के साहित्य को 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' मानते थे। अवश्य ही इनके काव्य में साम्प्रदायिक शिक्षा है -जैसे कि तुलसी के काव्य में भक्ति का उपदेश है, किन्तु इसी से हम इन्हें काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते। इसमें धार्मिक उपदेश केवल मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन के बल पर नहीं दिया गया है, अपितु उसके पीछे हृदय की भी अनुभूति है। जैन कवियों ने तो न केवल धर्म सम्बन्धी अनुभूतियों का; अपितु प्रेम, करुणा, शौर्य जैसे लौकिक भावों एवं सांसारिक प्रसंगों का भी निरूपण उत्कृष्ट काव्यात्मक शैली में किया है। अतः यदि इस साहित्य को साहित्य के क्षेत्र से पृथक् किया जाए, तो फिर भक्तिकाल का सारा साहित्य असाहित्यिक माना जायगा। आचार्य द्विवेदी ने जैन-सिद्ध कवियों के साहित्य को अपने सन्तुलित दृष्टिकोण से देखते हुए स्पष्ट रूप में उनकी साहित्यिकता का समर्थन किया है। वे लिखते हैं-- "ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है, उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक

[illegible] का पूरा प्रभाव है। धर्म यहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उनसे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमे धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित; मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई है, निस्सदेह उत्तम काव्य है।... यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएं साहित्य में विवेच्य नहीं है। कभी कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया गया। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती।" (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११)

सन्तो एवं भक्तो के साहित्य के सम्यक मूल्यांकन के लिए उनकी परम्पराओं, साधना-पद्धतियों उनके जीवन-दृष्टिकोण एवं भीतरी साम्प्रदायिक वातावरण का ज्ञान अपेक्षित था। इनके अभाव में उनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती थी और वस्तुत ऐसा हुआ भी। सन्तों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावलियों को देख कर एक ओर कुछ विद्वानों ने उन्हे कृष्ण-साधना मे प्रवृत्त नाथ-पंथी योगियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया, तो दूसरी ओर कुछ लोगों ने उन्हे ज्ञान मार्गी मानकर उनकी काव्य धारा को 'ज्ञानाश्रयी-शाखा' कहा। वस्तुतः ये दोनों ही बाते भ्रामक थी। कबीर आदि ने सिद्धों और योगियो की शब्दावली का प्रयोग नये अर्थों मे किया था जिससे उनका मूल अर्थ ही बदल जाता है। जनता के हृदय मे जो शब्द अन्ध-विश्वास एवं रूढ़ि के रूप मे गहराई से पैठ गये थे, उन्हे निकाल फेंकना एकाएक सम्भव नहीं था। अत सन्तो ने उन्ही शब्दो मे ऐसा अर्थ भरा जिससे कि अन्ध-विश्वासो के स्थान पर सच्चे ज्ञान की प्रतिष्ठा हो सके। पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार जनता यदि 'गगन मारकर' 'योग-समाधि' लगाने मे विश्वास रखती थी, तो सन्तों ने उनके स्थान पर [illegible] (तृष्णाओं) को मारकर प्रेम-समाधि या सहज समाधि लगाने का उपदेश दिया। इस प्रकार यदि हम सन्तो की शब्दावली के सूक्ष्म [illegible] तो ज्ञात होगा कि उन्होंने अपने काव्य मे योग की जटिल साधनाओं [illegible] नहीं अपितु [illegible] प्रेम की सहज साधना का ही प्रतिपादन किया है। जो सन्त-[illegible] की गहराई में न उतर कर ऊपर से ही झांककर चले जाते है, वे भले ही इस [illegible] समझ सकें। इसी प्रकार सन्तो ने पोथियों के ज्ञान की अपेक्षा प्रेम के [illegible] अधिक [illegible] किया है। उन्होंने बार-बार घोषित [illegible] पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय ढाई आखर प्रेम का; [illegible] उन्होंने इसकी घोषणा की है, अपितु इसी मार्ग पर [illegible] कबीर की विरहिणी को, प्रिय के वियोग [illegible], और प्रिय का साक्षात्कार हो जाने पर प्रेम ने [illegible] सन्तों की अनपढ़ और [illegible] 'ज्ञानाश्रयी' कहना, न केवल उनका अपमान है अपितु [illegible] है। [illegible] द्विवेदी [illegible] विद्वानों की

उपर्युक्त दोनों ही भ्रान्तियों का निराकरण दृढ़तापूर्वक किया है। सन्तों की साधना-पद्धति एवं शब्दावली के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर आदि ने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थीं, फिर भी कबीर की साधना वही नहीं थी, जो इन योगियों या सहजयानियों की थी। कबीर आदि ने योगियों और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनके सहज-शून्य, षट्-चक्र, समाधि, इडा, पिंगला आदि भी सहज यानियों और योगियों के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी।"

(हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ५४)

सन्तों को प्रेममार्गी न मानकर ज्ञानमार्गी मानने की बात का भी खण्डन करते हुए उन्होंने कहा—"प्रेम पर इन सन्तों ने इतना अधिक जोर दिया है कि शक्ति के बिना भगवान् को भी अपूर्ण बताया है।...यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जायगा तो उक्त बात अबोध्य हो जायगी। जिन पण्डितों ने इन सन्तों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे सचमुच चक्कर में पड़ गए हैं और तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह कहने को बाध्य हुए हैं कि न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी।"

(वही पृष्ठ ४६)

कुछ आलोचकों ने सन्त कवियों के शास्त्रीय-ज्ञान पर भी संदेह प्रकट करते हुए उन्हें उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण से देखा है। वे सोचते हैं, शायद सन्तकवि शास्त्र-निष्णात होते तो साहित्य की या समाज की अधिक सेवा कर सकते थे। किन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है—शास्त्रीय ज्ञान से मुक्त होने के कारण ही वे परम्परागत रूढ़ियों को अधिक मुक्त या स्वतन्त्र दृष्टि से देख सके। निश्चित ही वे शास्त्रों में पारंगत नहीं थे, किन्तु इससे साहित्य को हानि नहीं, लाभ ही हुआ है। यह दूसरा दृष्टिकोण आचार्य द्विवेदी का है। वे अपने इस नूतन-दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्र ज्ञान-हीन, सुनी सुनाई बातों को गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उनकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाय तो शास्त्र-ज्ञान तत्त्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महा-पुरुषों का शास्त्रीय तर्क जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"

(हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४२)

सन्त-काव्य की विषय-वस्तु की भाँति उसकी भाषा शैली के भी अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर आचार्य द्विवेदी ने नया प्रकाश डाला है। जहाँ पहले कबीर आदि की भाषा को केवल विभिन्न प्रान्तीय शब्दों के मिश्रण के कारण, 'सधुक्कड़ी'

कह दिया गया था, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने उसमें अन्तर्निहित अभिव्यंजना-शक्ति एवं उसके सूक्ष्म रूप-वैभव का उद्घाटन करते हुए, उसे साहित्य के इतिहास में महत्त्व-पूर्ण स्थान दिलाया। उनके विचार से इस 'सधुक्कड़ी भाषा' या 'खिचड़ी भाषा' में ही अभिव्यंजना की ऐसी सहजता, शक्ति-मत्ता एवं प्रभावोत्पादकता छिपी हुई है कि जिसके बल पर उसके प्रयोक्ता को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा जा सकता है। सन्तों की शैली के इस सबल पक्ष को अब प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी ने केवल हिन्दी साहित्य के इति-हास का विभिन्न काव्य-धाराओं के उद्गम-स्रोतों एवं उद्भव को स्पष्ट करने में योग दिया है, अपितु विभिन्न वर्गों की भी नई व्याख्या और नये मूल्यांकन के कार्य को आगे बढ़ाया है। जहाँ उन्होंने प्रारम्भिक लोक-भाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि, उसके प्रेरणा-स्रोतों एवं उसके अन्तर्निहित साहित्यिक-तत्त्वों का उद्घाटन स्पष्ट रूप में किया है, वहाँ उन्होंने नाथ-पन्थी योगियों की साधना-पद्धति, सन्तों की अनुभूति एवं भक्त कवियों की भक्ति-भावना का भी विवेचन एवं विश्लेषण नूतन ढंग से किया है। यहाँ हम उनके वैष्णव-भक्ति सम्बन्धी विवेचन की मौलिकता पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सके, किन्तु संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आदिकालीन साहित्य की सूक्ष्म विशेषताओं एवं मध्यकाल की विभिन्न काव्य-धाराओं के विभिन्न पक्षों पर—उनसे सम्बन्धित धर्म-सम्प्रदायों, उनके प्रेरक पूर्ववर्ती ग्रन्थों, उनकी साधना पद्धतियों, उनकी भाव-भूमियों एवं उनकी अभिव्यंजना-शैलियों का—जितनी गहराई से आचार्य द्विवेदी ने विचार किया है तथा जितनी स्पष्टता से वे उसे समझ सके एवं समझा सके हैं, वह अपूर्व है। वस्तुतः हिन्दी के सन्त-काव्य भक्ति-काव्य के लिए ऐसे ही विद्वान् की अपेक्षा थी, जो कि अपनी धर्म-परम्पराओं के ज्ञान, सन्त-स्वभाव एवं भक्त-हृदय के बल पर भक्तियुगीन साहित्य के रचयिताओं के हृदय से तादात्म्य स्थापित करता हुआ उनके मन की बात हमें बता सके। इस अपेक्षा की पूर्ति बहुत-कुछ आचार्य द्विवेदी के द्वारा हुई है—'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से लेकर 'सन्तों का सूक्ष्म-वेद' तक उनकी रचनाएँ हमारे कथन को प्रमाणित करती हैं। इतिहासकार के रूप में उन्होंने उसकी बाह्य काल-सरणियों एवं उसके स्थूल ढाँचे में भले ही कोई परिवर्तन न किया हो, किन्तु उसकी आधारभूत परम्पराओं, उनके अन्तर्हित तत्त्वों एवं उसके विकास की सूक्ष्म रेखाओं का उन्होंने अत्यधिक परिवर्तन एवं संशोधन करते हुए उसे नया रूप एवं वैभव प्रदान किया है—इसमें कोई सन्देह नहीं।